ओ३म्

सांख्य दर्शन का इतिहास

सांख्य विषयक बहिरंगपरीक्षात्मक मौलिक ग्रन्थ

विद्याभास्कर, वेदरत्न, न्याय-वैशेषिक,
सांख्य-योग तीर्थ, वेदान्ताचार्य शास्त्रशेवधि

आचार्य उदयवीर शास्त्री

भारतीय दर्शनों में सांख्य दर्शन का महत्त्व अद्वितीय है। न केवल अपनी अत्यन्त प्राचीनता के कारण ही, न केवल भारतीय वाङ्मय और विचारधारा पर अपने विस्तृत और अमिट प्रभाव के कारण ही, किन्तु वास्तविक अर्थों में किसी भी दार्शनिक प्रस्थान के लिये आवश्यक गहरी आध्यात्मिक दृष्टि के कारण भी इसका महत्त्व स्पष्ट है।

सांख्य के प्रवर्त्तक कपिल के लिए "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति" [श्वे. उ. ५/२] जैसा वर्णन स्पष्टतः उस दर्शन की अति प्राचीनता को सिद्ध करता है।

प्रस्तुत पुस्तक में सांख्य साहित्य के क्रमिक इतिहास की दृष्टि से लेखक ने अपने विचारों का विद्वत्तापूर्ण शैली से निरूपण किया है। ग्रन्थ की उपयोगिता और उपादेयता असंदिग्ध है।

...लय
...आदि

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित हैं। इस तिथि सहित ३०वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

* ओ३म् *

उदयवीर शास्त्री ग्रन्थावली

७

सांख्यदर्शन का इतिहास

[सांख्य-विषयक बहिरंग परीक्षात्मक मौलिक ग्रन्थ]

विद्याभास्कर, वेदरत्न
उदयवीर शास्त्री
न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य, विद्यावाचस्पति, शास्त्रशेवधि

भूमिका-लेखक
वासुदेवशरण अग्रवाल

प्राक्कथन-लेखक
मंगलदेव शास्त्री

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६

हमारे यहाँ से प्रकाशित लेखक द्वारा प्रणीत ग्रंथ

१. न्यायदर्शन भाष्य
२. वैशेषिकदर्शन भाष्य
३. सांख्यदर्शन भाष्य
४. योगदर्शन भाष्य
५. मीमांसादर्शन भाष्य (प्रथम खंड)
६. ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन भाष्य)
७. सांख्यदर्शन का इतिहास
८. सांख्य सिद्धान्त
९. प्राचीन सांख्य-संदर्भ
१०. वेदान्तदर्शन का इतिहास
११. वीर तरंगिणी (विभिन्न विषयों पर लेख)

ग्रन्थावली के ११ खण्डों का मूल्य २०००-००

मूल्य २५०-००

प्रकाशक :
विजय कुमार
गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क,
दिल्ली-११०००६

संस्करण : १९९१

मुद्रक :
गायत्री ऑफसेट प्रेस,
नौएडा

द्वितीय-संस्करण-आमुख

प्रस्तुत 'सांख्यदर्शन का इतिहास' ग्रन्थ अपने प्रारम्भिक काल से ही अनेक भयावह संत्रासकारी बाधाओं को सहन करता हुआ इस अवसर तक आ पहुँचा है, जब उसका परिशोधित एवं परिवर्द्धित नवीन संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

जिस समय लाहौर में रहते यह ग्रन्थ लिखा जा रहा था, सन् १९४२ से ४७ तक, तब योरुप में द्वितीय महायुद्ध चल रहा था। उसके अनन्तर देश में सहसा पूर्ण स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के लिए तीव्र आँधियाँ चलने लगीं। परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ, पंजाब दो भागों में बाँटा गया। लाहौर दूसरे भाग में रह गया, हमें बलात् लाहौर छोड़कर इधर आना पड़ा। पुष्कल लिखित साहित्य तथा विशाल पुस्तकालय आदि सब उधर छूट गया। किसी तरह भाग्य से प्रस्तुत इतिहास-ग्रन्थ की पाण्डुलिपि मेरे झोले में लाहौर छोड़ते समय साथ आ गई।

देश में उभरे बवण्डर के शान्त होने पर सन् १९५० में इस ग्रन्थ का मुद्रण हो सका। उस समय आज की अपेक्षा सस्ता होने पर भी बाज़ार में कागज़ का प्राय: अभाव था। ग्रन्थ न्यूज़ प्रिन्ट पर छापा गया। ग़नीमत यही रही कि ग्रन्थ प्रकाशित हो गया, इससे अपरिमित सन्तोष का अनुभव होना स्वाभाविक था। माता-पिता को पुत्र-प्राप्ति से जो सुख-सन्तोष का अनुभव होता है, उससे कहीं अधिक मात्रा में लेखक को अपनी रचना के प्रकाशन से होता है। यद्यपि लेखक का एक ग्रन्थ—कौटलीय अर्थशास्त्र का हिन्दी रूपान्तर प्रथम प्रकाशित हो चुका था, पर मौलिक रचना के रूप में यह प्रकाशन पहला ग्रन्थ था।

बाधाओं का सिलसिला अभी समाप्त नहीं हुआ था। ग्रन्थ का लेखक भी जीवन के उस लम्बे भाग में (सन् १९२५ से—जब से यह ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया था, सन् ५० तक—जब यह प्रकाशित हो गया था) तीन वर्ष से अधिक कहीं एक जगह टिककर न रह सका। जीवन के इस भाग की कहानी विविध उपप्लवों से पूरित है।

उन दिनों यह लेखक लगभग तीन वर्ष पहले से 'सादुल संस्कृत विद्यापीठ, बीकानेर' में प्रधानाचार्य-पद पर सेवारत था। वहाँ से अवकाश प्राप्त होने पर सन् १९५८ के नवम्बर मास में गाजियाबाद आकर रहने लगा।

ज्ञान-सागर अथाह गहन-गम्भीर है। जिन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों-मुनियों ने

सृष्टि के अज्ञेय रहस्यपूर्ण तत्त्वों को खोजकर उनके वास्तविक तथ्य स्वरूप को जनता के अभ्युदय और निःश्रेयस के लिए शब्दों में बाँधकर प्रस्तुत किया, सामाजिक सुख-सुविधाओं का परित्याग एवं विविध शास्त्रीय कष्टकाकीर्ण मार्ग की सब बाधाओं को पराहत कर प्रशस्त किया, इतनी लम्बी परम्परा में जिन आचार्य महानुभावों ने हम तक इसे पहुँचाया, वे सभी उदात्त जन सदा-सदा के लिए हमारे अभिनन्दनीय, अर्हणीय हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ लम्बे अध्ययन-चिन्तन का परिणाम है। किसी भी तरह के पूर्वाग्रह का परित्याग कर शास्त्रीय पर्यालोचन से जो परिणाम सामने आये हैं, उनको यथावस्थित रूप में—बिना किसी लाग-लपेट व कल्पना-जाल के—सीधे-साधारण पदों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कल्पना-सरिता के आवर्त्त में फँसाये हुए ऐतिहासिक तथ्यों को भँवर से निकालकर समान समुचित स्तर पर प्रस्थापित करने का यह लघुतर प्रयास है। इस क्षेत्र में जो महान् कार्य अभी तक हुआ है, उसमें भारतीय इतिवृत्त के आधारों की प्रायः उपेक्षा की गई है; तथापि उन विचारों को योजनाबद्ध प्रयत्नपूर्वक सामने लाने तथा महत्त्व देने की चेष्टा निरन्तर चलती रही है, जो भारतीय इतिवृत्त के विषय में पाश्चात्य लेखकों ने प्रस्तुत किये हैं। साहित्य-क्षेत्र में यह अन्याय्य स्थिति भारतीय संस्कृति की प्रत्येक शाखा के लिए हानिकर है। बुद्धिजीवी भारतीय का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह इसकी सचाई को जानने-समझने और उसके प्रसार में निरन्तर प्रयाशशील बना रहे। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी भावना से कतिपय साहित्य-क्षेत्रीय तथ्यों को उभारने का आंशिक प्रयास हुआ है।

बुद्धिजीवी उदात्त वर्ग की नई पीढ़ी में—अपनी अतिसीमित जानकारी के अनुसार यह कहना अवसरप्राप्त न होगा कि—बहुत कम महानुभाव ऐसे हैं, जो अपनी प्रतिभा और शास्त्रीय वैदुषी का इस दिशा में उपयोग कर रहे हों। अभी तक ऐसे एक ही व्यक्ति का नाम रह-रहकर मेरे सामने आता है। वह है वाराणसी-निवासी, डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन के प्रारम्भ में डॉ० भट्टाचार्य ने कुछ सुझाव भेजे थे। इस संस्करण में उनका यथास्थान उपयोग किया गया है। आगे भी उनके निर्देशानुसार सुझावों की आशा थी, परन्तु फिर कोई सूचना उनकी ओर से नहीं मिली।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय ऐसा है, जिसमें आलोचना-प्रत्यालोचना की पग-पग पर अपेक्षा रहती है। उसी की छलनी में वस्तुतत्त्व को छानकर स्पष्ट किया जाता है। इसमें अनेक अतीत व विद्यमान विद्वानों के लेख चर्चा के लक्ष्य बने हैं। इसका पूर्ण प्रयास किया गया है कि 'चर्चा-प्रसंगों' में किसी प्रकार की कटुता या अवांछनीयता न आने पाये। व्यक्तिगत व्यंग्य की यथासम्भव अवहेलना की गई है। मुख्य रूप से सैद्धान्तिक विवेचना को ही लक्ष्य रक्खा है। फिर भी सब चर्चित विद्वानों से विनम्रतापूर्वक क्षमा का प्रार्थी हूँ, यदि किसी के लिए किन्हीं ऐसे पदों का प्रयोग हो

गया हो, जिनसे उनकी आत्मा में किसी प्रकार के क्लेश का अनुभव हो।

ग्रन्थ के प्रथम संस्करण की भाषा अधिक बिखरी हुई-सी थी। इस प्रकार के ग्रन्थ का लेखन उस समय प्रथम प्रयास था, कुछ आयु के उद्दाम यौवन की प्रखरता का भी प्रभाव था; भर्तृहरि के शब्दों में—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित् किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतम्,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

वह जमाना श्लोक के पूर्वार्द्ध का था, अब इस ८५ वर्ष की आयु में उत्तरार्द्ध का समझना चाहिए। इसी के अनुसार प्रस्तुत संस्करण में आयु की प्रतिस्पर्धा करती हुई भाषा भी लुढ़क गई है। पर प्रतिपाद्य सिद्धान्त प्रायः अटूट रहे हैं। विद्वानों से निवेदन है, रचना को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ें; अपने अमोल सुझाव देने का अनुग्रह करें! उनका सादर यथास्थान उपयोग किया जाएगा।

तात्पर्यटीका के अन्तिम पदों द्वारा[1] वाचस्पति मिश्र की अभ्यर्थना के अनुसार प्रस्तुत इतिहास-ग्रन्थ में अन्य महानुभावों की कीर्तिनदी को आविल करने का प्रयास नहीं है, प्रत्युत जो महानुभाव अन्यथालेखन-जनित अकीर्त्ति-नदी में अवगाहन करने के लिए उतरने को तत्पर रहे हैं, उन्हें उधर से रोकने का ही यहाँ सतत सत्प्रयास किया गया है। स्वयं उदारचेता महानुभाव इस विचार-तरङ्गिणी में उतरकर इसका अनुभव कर सकेंगे। यह शास्त्रीयचर्चारूप सूर्य सहस्ररश्मि के समान है। उसकी एक रश्मि भी यदि किसी के अपने मनश्चन्द्र में स्थापित की जा सकी, तो वह स्वयं चन्द्रिकायुक्त होकर अन्यों को भी तथ्यमय शीतलता एवं ज्ञानरूप शान्ति देने में सक्षम व सफल हो सके, ऐसी प्रार्थना नतमस्तक होकर प्रभु के चरणों में अर्पित है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन-कार्य में प्रेस-सम्बन्धी सब प्रकार की स्थितियों का प्रसन्नता व सतर्कता के साथ केरल-निवासी अध्ययनार्थ गाज़ियाबाद-प्रवासी-ब्रह्मचारी टी० के० गोपालकृष्णन् नायर एम० ए० (दर्शनशास्त्र) ने निर्बाध निर्वाह किया है। उनके जीवन की प्रत्येक दिशा में सफलता के लिए अपने हार्दिक आशीर्वाद के साथ अचिन्त्यशक्ति प्रभु से प्रार्थना करता हूँ।

---

१. वहाँ वाचस्पति मिश्र के अन्तिम पद इस प्रकार हैं—

क्रूराः कृतोऽञ्जलिरयं बलिरेष दत्तः,
कायो मया प्रहरताऽत्र यथाभिलाषम्।
अभ्यर्थये वितथवाङ्मयपांशुवर्षै-
र्मामाऽऽविलीकुरुत कीर्तिनदीः परेषाम्।

विज्ञ पाठकों को इसका ध्यान रखना चाहिए, प्रस्तुत इतिहास-ग्रन्थ में समस्त स्थलों पर सांख्यषडध्यायी (सांख्यदर्शन) सूत्रों की संख्या प्रचलित पाठानुसार दी गई है। मेरे द्वारा प्रकाशित विद्योदयभाष्य-सहित सांख्यदर्शन-संस्करण में प्रथम अध्याय के सूत्र १९ के आगे की संख्या, प्रचलित सूत्रसंख्या में से ३५ घटाकर देखनी चाहिए। मेरे भाष्य में ३५ प्रक्षिप्त सूत्र यहाँ से हटाकर अन्तिम 'परिशिष्ट' में व्याख्यासहित प्रकाशित किये गए हैं।

पञ्चम अध्याय में कतिपय प्रक्षेप हैं। सूत्र ५६ तक कोई प्रक्षेप न होने से सूत्र-संख्या समान है। ५७ से ६० तक चार सूत्र प्रक्षिप्त हैं। इसके आगे प्रचलित सूत्र-संख्यानुसार ७३ तक कोई प्रक्षेप नहीं हैं। ७४वें सूत्र से मुक्तिस्वरूप-निर्देशक प्रकरण प्रारम्भ होता है। ८३वें सूत्र तक पूर्वपक्ष-रूप से मुक्तिस्वरूप का निर्देश है। इन दस सूत्रों के बीच दो सूत्र [७९-८०] प्रक्षिप्त हैं। अनन्तर ८४वें सूत्र से ११५वें सूत्र तक कुल ३२ सूत्रों का इकट्ठा प्रक्षेप है। इसके आगे ११६ से ११९ तक चार सूत्रों द्वारा सिद्धान्तपक्ष से मुक्तिस्वरूप का निर्देश है। तदनन्तर चार सूत्रों [१२० से १२३] का पुनः प्रक्षेप है।

मेरे द्वारा प्रकाशित सांख्यदर्शन के भाष्य में प्रक्षिप्त सूत्र पञ्चमाध्याय के सूत्र-संख्यानुक्रम से निकाल दिये हैं। प्रस्तुत इतिहास-ग्रन्थ में निर्दिष्ट पञ्चमाध्याय के सूत्र को यदि मेरे विद्योदय भाष्य में देखना हो, तो पूर्वोक्त निर्देशानुसार सूत्रानुक्रम से उतनी संख्या न्यून करके देखना चाहिए। पाठकों को इसमें कोई कठिनता न होगी।

चैत्र शुक्लसप्तमी, मंगलवार
सौर तिथि २० चैत्र, सं० २०३६ विक्रमी
तदनुसार, ३ अप्रैल, सन् १९७९ ई०

विनीत
उदयवीर शास्त्री

भूमिका

[आद्य संस्करण]

श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री ने अत्यन्त परिश्रम से 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक निबन्ध प्रस्तुत किया है, उसका हिन्दी संसार में हम स्वागत करते हैं। इन्होंने सांख्यदर्शन की अनेक मौलिक समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्यदर्शन का अत्यन्त ऊँचा स्थान था। देश के उदात्त मस्तिष्क सांख्य की विचार पद्धति से सोचते थे। महाभारतकार ने यहाँ तक कहा है—

ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन् महात्मन्।

[शान्ति० ३०१।१०६]।

वस्तुतः महाभारत में दार्शनिक विचारों की जो पृष्ठभूमि है, उसमें सांख्य-शास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शान्तिपर्व के कई स्थलों पर पञ्चशिख और उसके शिष्य धर्मध्वज जनक के संवादरूप में, वसिष्ठ एवं करालजनक के संवादरूप में, एवं याज्ञवल्क्य और दैवराति जनक के संवादरूप में सांख्यदर्शन के विचारों का बड़े काव्यमय और रोचक ढंग से उल्लेख कियागया है। सांख्यदर्शन का प्रभाव गीता में प्रतिपादित दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पर्याप्तरूप से विद्यमान है। वस्तुतः सांख्यदर्शन किसी समय अत्यन्त लोकप्रिय होगया था।

भारतीय जीवन में दर्शन की अतिशय उपयोगिता सदा से रही हैं। भारतीय संस्कृति का इतिहास वस्तुतः भारतीय दर्शन के इतिहास का ही विकसित रूप है। विचारों के नये मेघ अनेक प्रकार से बे-रोक टोक इस देश की चिन्तनशील भूमि पर बरसते रहे। विचारों का रसमय निर्झर ही दर्शन था, और वह झरना कई सहस्र वर्षों तक देश के अनेक भागों में झरता रहा। कर्मों के पीछे सदा एक दार्शनिक पृष्ठभूमि होती है। किसी समय वेदों का प्राणवाद भारतीय जीवन का मूल प्रेरक सिद्धान्त था। कालान्तर में उपनिषदों का ब्रह्म-वाद या आत्मवाद भारतीय विचार जगत् का ध्रुव नक्षत्र बना, जिसने सदा के लिये इस देश के दर्शन को अध्यात्म के साथ जोड़ दिया। कहाजासकता है, कि अतिशय अध्यात्मवाद की प्रतिक्रिया के स्वरूप ही जनता के मानस में एक पृष्ठभूमि तयार हुई, जिसमें अध्यात्म की अपेक्षा स्थूल लक्ष्य और प्रत्यक्ष अनुभव में आने

वाली प्रकृति के ऊपर आश्रित विचारों की नींव जमी। संभवतः लोकायतों का प्रत्यक्षवाद इसी आन्दोलन का सूचक था। बौद्धों का प्रकृतिपरक नीतिवाद भी इसी पृष्ठभूमि की ओर संकेत करता है। कुछ ऐसे ही गाढ़े समय में सांख्यशास्त्र ने अत्यन्त सरलता के साथ प्रकृति में घटने वाली सृष्टि की, प्रक्रियाओं की व्याख्या प्रस्तुत की, और प्रकृति एवं जीवन में दिखाई पड़ने वाला जो वैषम्य है, उसका भी सत्त्व रज, तम इस त्रिगुणात्मक सिद्धान्त के द्वारा सुन्दर बुद्धिपूर्वक समाधान किया, फिर कर्म करने वाले जीव को इस प्रकृति के साथ किस तरह जीवन में निपटना पड़ता है, इसकी भी एक बुद्धिगम्य व्याख्या बताई। प्रायः गणनार्थक 'संख्या' से सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति मानीजाती है, किन्तु एक विचार ऐसा भी है, कि 'चक्ष' धातु से–जिसका अर्थ है–बुद्धिपूर्वक सोच समझ कर वस्तु का विचार करना–'ख्या' आदेश करके संख्या शब्द की व्युत्पत्ति होती है। महाभारत के एक प्राचीन श्लोक में ज्ञानवाची संख्या शब्द का एक सुन्दर संकेत पाया जाता है—

संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्त्तिताः॥

अर्थात् जो प्रकृति का विवेचन करते हैं, चौबीस तत्त्वों का निरूपण करते हैं, और जो संख्या अर्थात् ज्ञान का उपदेश करते हैं, वे सांख्यशास्त्र के प्रवर्त्तक हैं।

इसप्रकार जिस एक दर्शन शास्त्र में स्थूल जगत्, उसके अनेक प्रकार के गुणात्मक व्यवहार और मनुष्यों की अध्यात्म प्रधान प्रवृत्ति इन तीनों का बुद्धि-पूर्वक विवेचन और समन्वय कियागया था, वह दर्शन सांख्य में सबसे अधिक महिमाशाली और लोकोपकारी सिद्ध हुआ। यही सांख्य की सबसे अधिक विशेषता थी।

सांख्यदर्शन के इतिहास का विवेचन एक प्रकार से प्राचीन भारतीय दार्शनिक विचारों के सांगोपांग इतिहास से सम्बन्धित है। श्री उदयवीर जी ने अत्यन्त श्रम, धैर्य, विस्तृत अध्ययन और सूक्ष्म विवेचनात्मक प्रणाली से सांख्य-दर्शन के इतिहास-विकास की सभी प्रधान समस्याओं पर प्रकाश डाला है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के दो भाग किये हैं। प्रस्तुत भाग जो स्वयं काफी विस्तृत है, सांख्य-शास्त्र की एक प्रकार से बहिरंग परीक्षा है। सांख्यदर्शन के मूल प्रवर्त्तक महर्षि कपिल के सम्बन्ध में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की प्रायः वही दशा है, जो प्राचीन भारत के दूसरे मनीषियों के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में है, अर्वाचीन दृष्टि से जिसे हम इतिहास समझते हैं, और देश काल के निश्चित चौखटे में व्यक्ति-विशेष को जकड़ कर उसकी ऐतिहासिकता सिद्ध करने की जो नई परिपाटी है, उसके द्वारा महर्षि कपिल हमारे ऐतिहासिक ज्ञान से परे रहजाते हैं; इस सत्य

के मानने में हमें संकोच नहीं करना चाहिये। लेकिन जहाँ तिथिक्रम का अभाव हो, वहाँ विचारों के पौर्वापर्य का आधार, ऐतिहासिकों का एकमात्र साधन होता है। इस दृष्टि से सांख्यशास्त्र की महती आचार्य परम्परा में भगवान् कपिल इस शास्त्र के मूल प्रवर्त्तक के रूप में सब से ऊपर स्थान रखते हैं।

श्रीयुत शास्त्री जी की जो स्थापना सब से अधिक माननीय महत्त्व-पूर्ण और स्थायी मूल्य की कहीजायगी, वह यह है, कि षडध्यायात्मक सूत्रों के रूप में निर्मित जो शास्त्र है, जिसका प्राचीन नाम 'षष्टितन्त्र' था, उसके कर्त्ता आचार्य कपिल थे। उनके लिए अवान्तर कालीन साहित्य में 'परमर्षि' इस पूजित विशेषण का प्रयोग हुआ। स्वयं पञ्चशिख ने जो कपिल के प्रशिष्य थे, षष्टितन्त्र के प्रणेता के लिये 'परमर्षि' पदवी का प्रयोग किया है। यह स्थापना यद्यपि देखने में इतनी सरल और स्वाभाविक जान पड़ती है, किन्तु सांख्यदर्शन के इतिहास में यह काफी उलझ गई है। विद्वानों ने इस बात को यहाँ तक बढ़ा दिया है, कि सांख्यशास्त्र का जो सबसे पुराना ग्रन्थ मिलता है, वह ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका है, और कारिकाओं के आधार पर ही किसी ने पीछे से सूत्रों की रचना की होगी। लेकिन इस बात में रत्ती भर भी सत्य का अंश नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस बात को अनेक पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध कियागया है।

सांख्यषडध्यायी के अतिरिक्त एक दूसरा छोटा सा २२ सूत्रों का ग्रन्थ 'तत्त्वसमास' नामक है। उसके रचनाकाल और कर्तृत्व के विषय में विद्वानों का मतभेद है। लेखक ने उसे भी कपिलप्रणीत ही माना है। 'तत्त्वसमास' एक प्रकार से अत्यन्त परिमित शब्दों में सांख्य के प्रतिपाद्य विषयों की सूची है। उसकी अन्त: साक्षी इतनी कम है, कि उनके सम्बन्ध में किसी निश्चित मत का प्रतिपादन संभव नहीं।

प्रस्तुस ग्रन्थ का दूसरा अध्याय जिसमें 'कपिल-प्रणीत षष्टितन्त्र' की विस्तृत विवेचना है, मौलिकता और प्रामाणिकता की दृष्टि से सबसे अधिक ध्यान देने योग्य है। संक्षेप में लेखक की स्थापना इसप्रकार है—कपिल के मूल ग्रन्थ का नाम षष्टितन्त्र था उसी को सांख्य या सांख्यदर्शन कहाजाता था। कपिल के मूलग्रन्थ पर पञ्चशिख और वार्षगण्य इन दो प्रमुख आचार्यों ने व्याख्यायें लिखीं। ईश्वरकृष्ण कपिल के मत के अनुयायी थे, लेकिन वार्षगण्य के अनेक सिद्धान्त कपिल की परम्परा से भेद रखते हैं। कपिल के पर्याप्त समय बाद ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं की रचना की। षष्टितन्त्र के पहले तीन अध्यायों में प्रतिपादित जो विषय हैं। उन्हें ही ईश्वरकृष्ण ने कारिकाओं में ग्रथित किया। सांख्यकारिका की अन्तिम आर्या में यह बात स्पष्ट कही है—

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्था: कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिता: परवादविवर्जिताश्चेति।

अर्थात् षष्टितन्त्र के जितने विषय हैं, वे ही सब सांख्यसप्तति में हैं, सिर्फ़ दो बातें सप्तति में छोड़ दी गईं, एक तो आख्यायिकाएँ और दूसरे परवाद अर्थात् अन्य; दर्शनों के मतवाद। सांख्यषडध्यायी और ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं की परस्पर तुलना कीजाय, तो इसप्रकार ज्ञात होता है—

कारिका	सूत्रषडध्यायी	कारिका	सूत्रषडध्यायी
१—२०	प्रथम अध्याय	३८–६८	तृतीय अध्याय
२१—३७	द्वितीय अध्याय		

इसप्रकार सांख्यसप्तति की आर्याओं का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य अर्थ षष्टिषन्त्र के प्रथम तीन अध्यायों में समाप्त हो जाता है। षष्टितन्त्र के चौथे अध्याय में आख्यायिकाओं का प्रासंगिक उल्लेख है, और पांचवें छठे अध्याओं में परवादों का। इन दोनों ही प्रसंगों को कारिकाओं में छोड़ दियागया है। इसप्रकार ईश्वरकृष्ण का स्वलिखित वर्णन ही सिद्ध करदेता है, कि जिस कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र से उसने अपने ग्रन्थ के लिए प्रतिपाद्य अर्थों का संग्रह किया, वह षष्टि-तन्त्र वर्तमान सांख्यषडध्यायी ही होसकता है।

षष्टितन्त्र को मूलग्रन्थ मानने के विरोध में तीन युक्तियाँ दो जाती रही हैं। शास्त्री जी ने बहुत ही प्रामाणिक ढंग से संभवतः पहली बार ही उन युक्तियों का आमूल निराकरण किया हैं। वे तीन युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) षष्टितन्त्र के कुछ सूत्र कारिका रूप हैं इसलिये कारिकाओं के आधार पर बाद में उनकी रचना हुई होगी।

इस शंका का संक्षिप्त समाधान यह है, कि कारिका रूप में मिलने वाले तीन सूत्रों का प्राचीन और वास्तविक पाठ सूत्रात्मक ही था, उन्हें कारिका रूप बाद में मिला।

(२) दूसरी शंका सूत्रों की प्राचीनता में यह थी, कि शंकराचार्य सायण आदि ने अपने ग्रन्थों में सांख्यसूत्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया, और न उद्धरण ही दिये है, जबकि कारिकाओं के उद्धरण उन ग्रन्थों में मिलते हैं, इस-लिये सूत्रों की रचना सायण आदि के बाद होनी चाहिये।

इस आक्षेप के उत्तर में ग्रन्थ लेखक ने अपने विस्तृत अध्ययन और परिश्रम के आधार पर सायण से लगाकर ईश्वरकृष्ण तक के भिन्न-२ ग्रन्थों से लगभग सत्रह सांख्यसूत्रों के उद्धरणों का संग्रह किया है। इसके आगे कुछ ऐसे सूत्रों के उद्धरणों का संग्रह भी करदियागया है, जो सांख्यकारिका की रचना से पहले के साहित्य में मिलते हैं। विस्तार से यह विषय मूलग्रन्थ के पृष्ठ १७४ से २२२ तक में द्रष्टव्य है। [वर्तमान संस्करण में २२२ से २७७ तक]

(३) तीसरा आक्षेप यह है, कि षष्टितन्त्र के सूत्रों में कुछ स्थलों पर जैन एवं बौद्ध मतों का उल्लेख और खण्डन है, जो सूत्रों की प्राचीनता में सन्देह उत्पन्न करता हैं।

इस शंका का समाधान प्रस्तुत ग्रन्थकार की सूक्ष्म पर्यालोचन शक्ति प्रकट करता है। उन्होंने सूत्रों की आन्तरिक साक्षी के आधार से ही यह निर्विवाद सिद्ध किया है, कि पहले अध्याय और पाँचवें अध्याय के जिन दो स्थलों में जैन और बौद्ध एवं न्याय और वैशेषिक आदि का नाम आया है, वे सूत्र बाद में मिलायेगये हैं, ऐसा उस प्रकरण की अन्तः साक्षी से स्वयं सिद्ध होता है। स्रुघ्न और पाटलिपुत्र इन दो बड़े नगरों का उल्लेख पहले अध्याय के २८ वें सूत्र में हुआ है, जिससे सूचित होता है, कि शुंगकाल के आसपास, जब ये दोनों ही शहर उन्नति पर थे, इन नामों का उल्लेख हुआ होगा। इसलिये इन सूत्रों के प्रक्षेप के कालपर कुछ प्रकाश पड़ता है।

इसप्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के पाँच अध्यायों का विषय विवेचन, मूल षष्टितन्त्र ग्रन्थ पर पड़ी हुई कई प्रकार की शंकाओं का अत्यन्त प्रामाणिक उत्तर है। आगे के दो अध्यायों में षष्टितन्त्र सूत्रों के व्याख्याकार एवं सांख्यसप्तति के व्याख्याकारों का कालविवेचन किया गया है। इस प्रसंग में एक विशेष तथ्य की ओर ध्यान दिलाना उपयोगी होगा। जैसा कि पूर्व में निर्देश कियागया है, स्वयं ईश्वरकृष्ण कपिल मतानुयायी थे, लेकिन विन्ध्यवास के साम्प्रदायिक गुरु कपिल न होकर वार्षगण्य थे। कीथ ने ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास के एक होने का अनुमान किया था, किन्तु सिद्धान्तों के आन्तरिक मतभेद के आधार पर दोनों की यह एकता सिद्ध नहीं होती। विन्ध्यवास का सांस्कारिक नाम रुद्रिल था, ऐसा आचार्य कमलशील द्वारा उद्धृत एक श्लोक के द्वारा ज्ञात होता है।

अन्तिम आठवें अध्याय में प्राचीन सांख्याचार्यों का विवेचन कियागया है, जो सांख्यदर्शन के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कपिल के शिष्य आसुरि, आसुरि के शिष्य पञ्चशिख जिनका धर्मध्वज जनक के साथ संवाद हुआ था, पञ्चशिख के शिष्य वसिष्ठ जिनका करालजनक के साथ संवाद महाभारत में दिया हुआ है, याज्ञवल्क्य और दैवराति जनक, वोढु आदि तेरह आचार्य, पुलस्त्य आदि सात आचार्य, जैगीषव्य, उलूक, देवल, आवट्य आदि आचार्य, एवं वार्षगण्य आदि सांख्याचार्य—इन अनेक विचारकों ने इस महान दर्शन के इतिहास को सुदीर्घ काल तक उत्तरोत्तर विकसित किया। उनके सम्बन्ध में जो थोड़ी-बहुत कड़ियाँ संगृहीत की जासकी हैं, वे भी कम मूल्यवान नहीं हैं।

प्रस्तुत खण्ड सांख्यदर्शन की बहिरंग परीक्षा के रूप में निर्मित हुआ है। इस दर्शन के जो मूलभूल तात्त्विक विचार हैं, किसप्रकार उनका दूसरे दार्शनिक विचारों के साथ भेद, सामञ्जस्य अथवा विशेषता है, इन प्रश्नों का निरूपण

ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में किये जाने की आशा है, और दार्शनिक इतिहास की दृष्टि से वह खण्ड और भी अधिक रोचक व महत्त्वपूर्ण होना चाहिये। युगों की आत्मा दार्शनिक विचारों के रूप में बोलती हुई देखीजासकती है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शनों का सर्वाङ्ग-पूर्ण इतिहास जिस समय लिखा जायेगा, उस समय धर्म, साहित्य, कला, आदर्श आदि अनेक प्रकार के सांस्कृतिक जीवन के अंगों की व्याख्या अनायास ही हमें प्राप्त होसकेगी। प्रायः दर्शन का विषय अत्यन्त नीरस व शुष्क समझा जाता है, लेकिन यदि उसी दर्शन के निरूपण में क्यों और कैसे इन दो प्रश्नों के उत्तर को हृदयङ्गम कर लिया जाय, तो दर्शन कहानी के सदृश सरस भी बनजाता है।

राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली
२३ मई १९५०

बासुदेवशरण

प्राक्कथन

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय दर्शनों में सांख्यदर्शन का महत्त्व अद्वितीय है। न केवल अपनी अत्यन्त प्राचीनता के कारण ही, न केवल भारतीय वाङ्मय और विचारधारा पर अपने विस्तृत और अमिट प्रभाव के कारण ही, किन्तु वास्तविक अर्थों में किसी भी दार्शनिक प्रस्थान के लिये आवश्यक गहरी आध्यात्मिक दृष्टि के कारण भी इसका महत्त्व स्पष्ट है। 'सांख्य' शब्द के वैदिक संहिताओं में न आने पर भी, सांख्य की विचारधारा का मूल वेदों के "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (ऋ० १।१६४।२०) जैसे मन्त्रों में स्पष्ट दिखाई देता है।

सांख्य के प्रवर्त्तक भगवान् कपिल के लिए "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति" [श्वे० उ० ५।२] जैसा वर्णन स्पष्टतः उस दर्शन की अति-प्राचीनता को सिद्ध करता है। इसीप्रकार 'अर्थशास्त्र' में न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों का उल्लेख न करके "सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी" (१।२) यहाँ सांख्य के वर्णन से उसकी आपेक्षिक प्राचीनता ही सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त, कुछ उपनिषदों के साथ २, समस्त पुराण, धर्मशास्त्र, महाभारत, आयुर्वेद आदि के विस्तृत साहित्य में सांख्य का जितना गहरा प्रभाव दिखलाई देता है उतना और किसी दर्शन का नहीं। अन्त में यह भी ध्यान में रखने की बात है कि—

"कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्"

(कठ० उ० २।१।१)

के अर्थों में दार्शनिक विचार का वास्तविक प्रारम्भ 'स्व' या प्रत्यगात्मा के रूप की जिज्ञासा से ही होता है। इस 'स्व' के रूप का जैसा तात्त्विक विश्लेषण सांख्य में कियागया है, वैसा प्रायः अन्य दर्शनों में नहीं।

सांख्यदर्शन का वर्त्तमान काल में उपलब्ध साहित्य यद्यपि विस्तृत नहीं है, तो भी यह निर्विवाद है कि प्राचीनकाल में इसका बृहत् साहित्य था। दुर्भाग्य से वह अब नष्टप्राय है। जो साहित्य उपलब्ध है उसका भी गम्भीर दार्शनिक दृष्टि से अनुशीलन करने वाले विरले ही विद्वान् आजकल मिलते हैं, ग्रन्थों का केवल शाब्दिक अर्थ करने वाले लोगों की दूसरी बात है।

प्रसन्नता की बात है कि हमारे प्राचीन मित्र श्री पं० उदयवीर शास्त्री जी ने जो सांख्यदर्शन के गिने चुने विद्वानों में हैं, प्रकृत-दर्शन का दार्शनिक तथा ऐतिहासिक दृष्टियों से वर्षों तक गम्भीर अनुशीलन करने के पश्चात् अपने विचारों को लेखबद्ध किया है। प्रस्तुत पुस्तक में सांख्यसाहित्य के क्रमिक इतिहास की दृष्टि से आपने अपने विचारों का विद्वत्तापूर्ण शैली से निरूपण किया है। ग्रन्थ आपके गम्भीर अध्ययन और अध्यवसाय का ज्वलंत प्रमाण है। आपके विचारों से सर्वत्र सहमति हो या न हो, पर ग्रन्थ की उपयोगिता और उपादेयता में संदेह हो ही नहीं सकता। हमें पूर्ण आशा है कि विद्वन्मण्डली उत्साह के साथ हृदय से इस ग्रन्थ का अभिनन्दन और स्वागत करेगी।

वैदिक स्वाध्याय मन्दिर **मंगलदेव शास्त्री**
बनारस छावनी ३१।३।५०

लेखक का निवेदन

[आद्य संस्करण]

सन् १९१४ की बात है, जब मैं गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्ययन करता था। गुरुकुल पाठ्यप्रणाली के साथ-साथ, मैं आनेवाले सत्र में कलकत्ता विश्वविद्यालय की न्यायतीर्थ परीक्षा में उपस्थित होने के लिये भी यत्न कर-रहा था। इन्हीं दिनों मेरे बाल्यकाल से परिचित श्री देवेन्द्रनाथ जी, सांख्य-योगतीर्थ परीक्षा की तैयारी के लिये तद्विषयक ग्रन्थों के अध्ययनार्थ महाविद्यालय ज्वालापुर पधारे। देवेन्द्रजी के पिता श्री पं० मुरारिलाल जी शर्मा आर्यसमाज के प्रसिद्ध महोपदेशक और उस समय के शास्त्रार्थ महारथी थे। पण्डित जी को मैं अपनी बहुत छोटी [लगभग आठ–नौ वर्ष की] आयु से जानता था, और उन्हींके कारण मैं गुरुकुल प्रणाली में शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रविष्ट हुआ। उनके पुत्र देवेन्द्र जी से मुझे बहुत स्नेह था।

छात्रावस्था के दिन थे, मैं न्याय-वैशेषिक पढ़ रहा था, और देवेन्द्र जी सांख्य-योग के अध्ययन में संलग्न थे। प्रायः प्रतिदिन किसी-न-किसी शास्त्रीय विषय पर परस्पर चर्चा होती रहती थी। एक दिन मैं और देवेन्द्र जी 'सत्कार्य –असत्कार्यवाद' पर चर्चा छेड़ बैठे। हमारी यह चर्चा समय पाकर कई दिन तक चलती रही। आयु का यह भाग ऐसा है, जिस पर भर्तृहरि का 'तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलि तं मम मनः' वाक्य पूरा चरितार्थ होता है। कई दिन के बाद हमारी चर्चा इस स्थिति में पहुँचगई, कि वे कहने लगे न्याय में क्या धरा है, मैंने कहा सांख्य में है ही क्या? और इसीप्रकार हम एक दूसरे का उपहास कर जाते थे। इसी प्रसंग में एक दिन मैं अपने विचारों की दृढ़ता के लिये उनसे कह बैठा, कि यदि गुरु जी से विना पढ़े हुए ही अगले वर्ष सांख्यतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण न की, तो जो चाहे करना। यह प्रतिज्ञा कर, मानो मैंने न्याय की प्रतिस्पर्द्धा में सांख्य की पूरी अवहेलना कर दी थी।

सन् १९१५ के फर्वरी मास में अपने अन्य साथियों के साथ हम दोनों कलकत्ता जाकर परीक्षा में उपस्थित हुए। उसके अनन्तर देवेन्द्रजी अपने घर चले गये, क्योंकि वे उतने ही समय के लिये महाविद्यालय आये थे, मैं अपनी संस्था में लौट आया, वहाँ का नियमित छात्र था। लगभग तीन मास के अनन्तर हमारा परीक्षा-परिणाम आया, देवेन्द्र जी सफल होगये थे, और मैं अपने विषय

में विश्वविद्यालय भर में प्रथम आया था। यद्यपि देवेन्द्रजी से फिर बहुत दिनों तक मेल मिलाप न होसका, और न कभी फिर उन्होंने मुझ से पूछा, पर मेरे मस्तिष्क में न्यायतीर्थ के परीक्षा-परिणाम से यह भावना और तीव्र होगई, कि गुरुजी से विना पढ़े ही 'सांख्य-योगतीर्थ' परीक्षा पास करूँगा, और इसी आनेवाले सत्र में।

दर्शनशास्त्रों का ज्ञान मैंने सर्वशास्त्र-पारंगत, ऋषिकल्प, गुरुवर श्रीकाशीनाथ जी शास्त्री के चरणों में बैठकर प्राप्त किया है। संयोग ऐसा हुआ कि सन्-१९१५ के सत्र में गुरुजी के पास मुझे केवल वेदान्त पढ़ने का समय मिलसका। मेरे दूसरे साथी अन्य विषय पढ़ते थे। मैं दुगना समय लूं, यह न उचित था, और न नियमानुसार हो ही सकता था। सांख्य का स्वयं स्वाध्याय करने के लिये अब मुझे बाध्य होना पड़ा। यह सब किया, और १९१६ के फर्वरी मास में कलकत्ता पहुँचकर परीक्षा में सम्मिलित होगया। परीक्षा-परिणाम आने पर ज्ञात हुआ, कि मैं अपने विषय में सम्पूर्ण विश्वविद्यालय में द्वितीय था। मुझे अच्छी-तरह याद है, उस वर्ष प्रथम रहे थे, श्री पं० कन्हैयालाल जी शास्त्री जो उन दिनों गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापन कार्य कराते थे।

सांख्य का स्वयं अध्ययन करने के कारण मुझे यह बहुत खोद-खोदकर पढ़ना पड़ा। सीधा गुरुमुख से न पढ़ने पर भी न्याय और वेदान्त के अध्ययन के समय सांख्य-सिद्धान्तों का बहुत कुछ परिमार्जित ज्ञान कहानी की तरह अवश्य गुरुमुख से प्राप्त हुआ, और उसीके कारण मैं इसे समझ सका। इस सम्बन्ध के तात्कालिक विद्वानों के कुछ लेख भी मैंने उन दिनों मासिक पत्र-पत्रिकाओं में पढ़े। उन लेखों से मैंने यह भावना प्राप्त की, कि वर्त्तमान सांख्यसूत्र कपिल की रचना नहीं हैं। परन्तु परीक्षा के लिये जिन सांख्यग्रन्थों को मैंने पढ़ा था, उनमें बराबर यही भावना उपलब्ध होती थी, कि ये सूत्र कपिल की रचना हैं। इस द्विविधा से पार पाने के लिये, अपने अध्यापकों के सन्मुख भी मैंने अनेक वार चर्चा चलाई। फिर तो ऐसा हुआ, कि जो भी, कोई विद्वान् मुझे इस विषय का मिलता, मैं तत्काल उनके सन्मुख यह सब उपस्थित करता, पर उसके अनन्तर कभी मैंने अपने आपको सन्तोषजनक स्थिति में न पाया।

सन् १९१६ के पञ्जाब विश्वविद्यालय के ग्रीष्मावकाश में मुझे गुसाईं गणेशदत्त जी [आज के सनातनधर्म के प्रसिद्ध नेता-गोस्वामी गणेशदत्त] से परिचय प्राप्त हुआ। ये उन दोनों लाहौर के ओरियण्टल कालिज में पढ़ते थे। ग्रीष्मावकाश में विशेष अध्ययन की लालसा से ये महाविद्यालय ज्वालापुर आगये। अध्यापकों से पढ़ने का तो उन्हें अवसर कम मिलता था, हम लोग आपस में मिलकर पढ़ते रहते थे। गुसाईं जी के सम्पर्क से मेरी यह भावना जागृत होगई, कि मैं भी लाहौर जाकर ओरियण्टल कालिज में प्रविष्ट होकर 'शास्त्री' परीक्षा उत्तीर्ण

करूँ। अन्ततः वही हुआ, और कालिज खुलने पर सन् १९१९ के सितम्बर के अन्त में मैं लाहौर पहुँचा। परन्तु उस वर्ष कालिज में छात्रों का प्रवेश मई मास में ही होचुका था। फिर भी कालिज के तत्कालीन प्रिन्सिपल श्री ए०सी० वूल्नर की कृपा से, मैं प्रवेश पासका। उस समय लगभग सात मास तक निरन्तर लाहौर रहा। वहाँ का मेरा सम्पूर्ण व्यय, डी० ए० वी० कालिज के संचालक महात्मा हंसराज जी ने अपनी जेब से किया था। यह प्रबन्ध महाविद्यालय ज्वालापुर के संचालकों द्वारा हुआ था, उससे पूर्व मैं महात्मा जी से व्यक्तिगत रूप में अधिक परिचित नहीं था।

शास्त्री परीक्षा के अनन्तर लाहौर से चलते समय जब मैं महात्मा जी से आज्ञा लेने गया, तो कहने लगे, कि अब तुम यहाँ रहकर कुछ इंग्लिश का अभ्यास करलो। मैंने निवेदन किया, यदि आप अनुसन्धान विभाग में कोई अवसर देदें, तो मैं रह जाऊँगा। महात्मा जी ने इसके उत्तर में कहा, ऐसा अवसर तो बड़े भाग्य से मिलता है, कि जहाँ केवल पढ़ने के लिए कोई मासिक वृत्ति पासके। मैं उनसे यह कहकर, बिदा लेकर चलाआया, कि परीक्षा परिणाम निकलने पर देखा जायगा।

इसी बीच मुझे एक छात्रवृत्ति, काशी में रहकर और अधिक पढ़ने के लिये मिल गई। इसके पुरस्कर्त्ता श्री ठा० बैजनाथसिंह जी रईस ईनानजांग बरमा थे। वहाँ इनके कई तैल-कूप थे। एक वर्ष काशी रहकर मैं वापस गुरुकुल ज्वालापुर आगया, काशी का जलवायु मेरे लिये अधिक अनुकूल न रहा। काशी रहते हुए यद्यपि मैंने मीमांसा एवं अलंकार शास्त्र का ही विशेष अध्ययन किया, पर वहाँ भी सांख्यविषयक चर्चा चलती रही। इस सम्बन्ध में परमादरणीय श्रीयुत पं० अच्युत जी, और श्री पं० नित्यानन्द जी पर्वतीय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मैं इन्हीं के अधिक सम्पर्क में आया।

काशी से गुरुकुल महाविद्यालय आकर मैंने वहाँ की स्नातक परीक्षा पूर्ण कर, वहीं पर अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। साढ़े तीन वर्ष वहाँ कार्य करने के अनन्तर मुझे फिर लाहौर जाने का अवसर प्राप्त हुआ। सन् १९२१ में कांग्रेस का आन्दोलन प्राबल्य पर था, विदेशी सामान विशेषकर वस्त्र और विदेशी शिक्षा के बहिष्कार पर कांग्रेस का अधिक बल था, स्थान-स्थान पर विदेशी वस्त्रों की होली मनाई जाती, और स्कूल कालिजों के बहिष्कार का नारा बुलन्द किया जाता। परिणामस्वरूप अनेक छात्रों ने स्कूल कालिज छोड़ दिये। नेताओं को उनके अध्ययन की चिन्ता हुई। तब पंजाब-केसरी ला० लाजपतराय ने लाहौर में एक कौमी महाविद्यालय की स्थापना की। स्नेही मित्र श्री पं० रामगोपाल जी शास्त्री की प्रेरणा से मुझे वहाँ संस्कृताध्यापन के लिये बुलायागया। सन् १९२१ के अक्टूबर से मैंने वहाँ कार्य आरम्भ किया। लगभग

चार वर्ष तक इस संस्था में काम करता रहा। संस्था का अस्तित्व धीरे-धीरे विलय की ओर जारहा था, मुझे वहाँ से अवकाश लेना पड़ा, पर मैं लाहौर छोड़ना नहीं चाहता था। स्थानीय डी० ए० वी० कालिज से सम्बद्ध मेरे मित्रों के प्रयत्न से दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय में दर्शन और साहित्य के अध्यापन का कार्य मुझे मिलगया। यह विद्यालय डी० ए० वी० कालिज की प्रबन्धक सभा के अन्तर्गत विशुद्ध संस्कृताध्यापन का कार्य करता था। इस संस्था में लगभग पाँच वर्ष तक मैं कार्य करता रहा। यहाँ के कार्यकाल के उपसंहार में एक विशेष प्रतिक्रिया की भावना जागृत हुई। भृतिकार्य से मन खिन्न रहने लगा, संचालकों में मैंने विद्यानुराग के स्थान पर वैश्य मनोवृत्ति को अधिक पाया। ये लोग प्रत्येक बात में तुलादण्डको सीधा देखने के आदी थे। उन्हीं दिनों, चाहे इसे 'बिल्ली के भाग से छींका टूटा' समझिये, अथवा गिरा फूल 'कृष्णार्पणमस्तु' समझिये, लाहौर में कुछ ऐसी राजनैतिक घटनायें होगईं, कि मुझे यह स्थान छोड़ना पड़ा। मैं इस समय उन राजनैतिक घटनाओं के रहस्योद्घाटन में उतरना नहीं चाहता।

लाहौर के आठ नौ वर्ष निवास से प्रस्तुत ग्रन्थ लिखने में मुझे क्या प्रेरणा मिली, इस पर प्रकाश डालने की भावना से ही मैंने उपर्युक्त पंक्तियों का उपक्रम किया है। सन् १६२१ में जब मैं लाहौर आया, मेरे लिये यह नगर नया न था। सन् १६।१७ में लगभग सात महीने लगातार यहाँ रह गया था। स्थानीय डी० ए० वी० कालिज के संचालकों में से अनेक महानुभावों से मेरा परिचय था। लाहौर में स्थिरता प्राप्त होजाने पर अपने अवकाश का समय मैंने वहाँ के पुस्तकालयों में व्यतीत करना प्रारम्भ किया। ये पुस्तकालय प्राच्यविभाग की दृष्टि से अपना जोड़ नहीं रखते। यह बात मैं सन् १६२२-२३ की लिख रहा हूँ। इसके आगे के बीस वर्षों में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की दृष्टि से इन पुस्तकालयों ने विशेष उन्नति की। इस अन्तर के अनेक वर्षों तक मैं लाहौर रहा। इन पुस्तकालयों में चार का नाम विशेष उल्लेखनीय है। १–पंजाब विश्वविद्यालय का पुस्तकालय (पंजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी), २–लालचन्द अनुसन्धान पुस्तकालय (डी० ए० वी० कालिज की लालचन्द रिसर्च लाईब्रेरी), ३–गुरुदत्त भवनका वैदिक पुस्तकालय (यहाँ वेद सम्बन्धी साहित्यका अद्भुत संग्रह था), ४–पञ्चनदीय सार्वजनिक पुस्तकालय (पञ्जाब पब्लिक लाईब्रेरी)। पहले दो पुस्तकालयों में हस्तलिखित ग्रन्थों का अद्भुत संग्रह था। आज मैं यह पंक्तियां भारत की राजधानी दिल्ली में बैठकर लिख रहा हूँ, जब कि लाहौर अपनी सम्पूर्ण सामग्री सहित भिन्न राज्य में चलागया है। उक्त संग्रहों में से लालचन्द पुस्तकालय के अतिरिक्त हम एक भी पुस्तक भारत नहीं लासके, इसीलिये मैंने उक्त वाक्य में अब 'था' का प्रयोग किया है। हां! तो मैं यह कहरहा था, कि

नियमित अध्यापन कार्य से अपना अतिरिक्त समय इन पुस्तकालयों में बिताने लगा।

प्राचीन और आधुनिक विद्वानों के सांख्यविषयक विभिन्न विचारों से उत्पन्न हुई जिस द्विविधा ने मुझे उस दिन तक दबा रक्खा था, उसके प्रतीकार के लिये इस भावना से मैं खोज करने में लगा, कि इन विचारधाराओं में कौन-सी बात कहाँ तक ठीक मानीजासकती है। इस बात का पूरा यत्न करता रहा हूँ, कि सांख्य विषय पर जो भी किसी ने कुछ लिखा हो, उसे पढ़ सकूँ। उन दिनों डी० ए० वी० कालिज की रिसर्च लाईब्रेरी के अध्यक्ष थे, श्री पं० भगवद्दत्त जी बी० ए० रिसर्च स्कॉलर। पण्डितजी के साथ मेरी पुरानी स्नेहभावना थी, पण्डितजी की धर्मपत्नी श्रीमती सत्यवती शास्त्री और उनके परिवार से मैं अपनी छात्रावस्था से ही परिचित था। श्री चौधरी प्रतापसिंह जी अपने परिवारसहित अनेक वर्षों तक ज्वालापुर महाविद्यालय में रहते रहे, जिन दिनों मैं वहाँ अध्ययन करता था। इस कारण भी पं० भगवद्दत्त जी का और मेरा परस्पर अधिक आकर्षण रहा है। पण्डित जी ने लालचन्द लाईब्रेरी में मेरे स्वाध्याय के लिये प्रत्येक प्रकार की सुविधायें प्रदान की हुई थीं। मुझे यह कहने में कोई सङ्कोच नहीं, कि प्रस्तुत ग्रन्थ के तैयार होने में पण्डित जी के प्रत्येक प्रकार के उदार सहयोग का पूरा हाथ रहा है। पंजाब यूनिवर्सिटी लाईब्रेरी के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष श्री पं० बालासहाय जी शास्त्री ने भी मेरी इच्छानुसार ग्रन्थों के प्रस्तुत करने में मुझे हार्दिक सहयोग प्रदान किया।

इसप्रकार सन् १९२७ तक इस विषय पर प्रचुर सामग्री एकत्रित कीजा-सकी। सबसे प्रथम उस सामग्री के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ का पञ्चम प्रकरण लेखबद्ध कियागया। इस प्रकरण को ग्रन्थ की चाबी समझना चाहिये, या ग्रन्थ का हृदय। षडध्यायी सूत्रों के रचनाक्रम को सूक्ष्मता से पर्यालोचन कर, सूत्रों में कुछ प्रक्षेपों को पकड़ लियागया है, प्रस्तुत प्रकरण में इन्हींका विवेचन है। प्रक्षेपों के निर्णय से, षडध्यायी सूत्रों की प्राचीनता के बाधक सिद्धान्त, काई की तरह फट जाते हैं। यह प्रकरण तैयार हो जाने पर प्रथम प्रकरण का लिखना प्रारम्भ किया, आधा फुलस्कैप परिमाण के १६ पृष्ठ से कुछ अधिक लिखे जा-चुके थे, कि १९२८ सन् की अन्तिम छमाही के प्रारम्भ में ज्ञात हुआ, अखिल भारतीय प्राच्य परिषद् (ऑल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस) का द्विवार्षिक सम्मेलन इस बार लाहौर में होना निश्चित हुआ है। इस सम्मेलन के महामन्त्री नियुक्त हुए, श्री डॉ० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०। सन् १९२१ में लाहौर आने के थोड़े ही दिन बाद डॉक्टर साहिब से मेरा परिचय होगया था, धीरे-धीरे यह परिचय बढ़ता ही गया। इन दिनों डॉ० साहिब के साथ मेरी पर्याप्त घनिष्ठता थी, मैं उनके सहयोग में लेखन का एक अच्छा कार्य कर चुका था। मैंने उनसे

मिलकर अपनी इच्छा प्रकट की, कि परिषद् के आगामी सम्मेलन में सांख्य-विषय का एक निबन्ध मैं भी प्रस्तुत करना चाहता हूँ। एक दिन निश्चित समय देकर डॉक्टर साहब ने सांख्य के उन विवादग्रस्त विषयों पर मेरे साथ खुलकर संभाषण किया, और उन विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने मुझे साग्रह अनुमति दी, कि उक्त विषय पर मैं एक निबन्ध सम्मेलन में अवश्य प्रस्तुत करूँ।

इस ग्रन्थ का लेखन वहीं रुक गया, और मैं निबन्ध की तैयारी में लग गया। हिन्दी में वह शीघ्र ही तैयार कर लियागया। मैं दो ही भाषा जानता हूँ, संस्कृत और हिन्दी। इस निबन्ध को संस्कृत में प्रस्तुत कियाजासकता था, पर मेरी कुछ ऐसी भावना रही, कि सांख्यविषयक विचारों को मैं जिन विद्वानों के सन्मुख उपस्थित करना चाहता हूँ, कदाचित् संस्कृत में होने के कारण वे इनको उपेक्षा की दृष्टि से जांच सकते हैं। सौभाग्य से, भारत के मूर्द्धन्य विद्वानों के सन्मुख अपने विचारों को उपस्थित कर सकने का यह बहुत अच्छा अवसर था। दो वर्ष के अनन्तर तीन-चार दिन के लिये यही एक ऐसा अवसर आता है, जब भारत के शिरोमणि विद्वान् एकत्रित होते हैं, और गम्भीर तथा विवादास्पद विषयों पर विवेचना करते हैं। इस सुयोग को मैं हाथ से जाने देना नहीं चाहता था, और समझता था, कि इन विचारों के विद्वानों के सन्मुख आनेपर जो अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया होगी, उससे मेरे ग्रन्थ की पूर्णाङ्गता में विशेष सहायता मिलेगी, इसलिये मुझे यह चिन्ता हुई, कि मैं अपना निबन्ध इंग्लिश में ही प्रस्तुत करूँ। इस कार्य के लिये मैंने अपने प्रियशिष्य श्री० पं० वाचस्पति एम. ए., बी एस्सी., विद्या-वाचस्पति को चुना। उस समय तक ये एम्. ए. उत्तीर्ण नहीं हुए थे, इस श्रेणी में पढ़ रहे थे। यह कार्य यथासमय सम्पन्न होगया। सम्मेलन के अवसर पर निबन्ध को सुनाने के लिये मैंने अपने एक अन्य शिष्य श्री गोपालकृष्ण शर्मा बी. ए. लायलपुरनिवासी को कहा। उन दिनों ये लाहौर के गवर्नमेण्ट कालिज में एम्. ए. श्रेणी में पढ़ते थे, और मेरे पास अतिरिक्त समय में संस्कृत साहित्य तथा दर्शन का अभ्यास करते थे। उन्होंने इस कार्य को सहर्ष स्वीकार किया, और यथासमय यह निबन्ध सम्मेलन में पढ़ा गया। उस वर्ष के सम्मेलन की विवरण पुस्तक के द्वितीय भाग में यह मुद्रित हो चुका है।

इस सम्मेलन का एक संस्मरण और लिख देना चाहता हूँ। अखिल भारतीय प्राच्य परिषद् का यह पञ्चम सम्मेलन था, इसके अध्यक्ष थे—कलकत्तानिवासी महामहोपाध्याय श्री डा० हरप्रसाद जी शास्त्री। शास्त्री जी से समय लेकर विशेष रूप से मैं उनके निवासस्थान पर जाकर मिला। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक मेरे विचार सुनने के लिये पर्याप्त समय दिया। हमारे वार्त्तालाप में कठिनता यह हुई, कि मैं इंग्लिश नहीं बोल सकता था, और उन्हें हिन्दी बोलने में अति कष्ट होता था, तब हमारे विचारों का आदान-प्रदान संस्कृत के द्वारा

ही हुआ। उन्होंने मेरे विचारों को बड़ी शान्ति और धैर्य के साथ सुना, और विवादग्रस्त विषयों पर आधुनिक विचारधारा के अनुसार खुली आलोचना की। तब यथाशक्य संक्षेप में मैंने उन सब आलोचनाओं का उत्तर दिया, वह सब सुनकर शास्त्री जी ने जो कुछ शब्द उस समय कहे, वे आजतक मुझे उसी तरह याद हैं। उन्होंने कहा—'शास्त्रिन्! अतिभयंकरं एतत्'। अर्थात् तुम्हारे विचार बड़े डरावने हैं। सम्भव है, आज भी अनेक विद्वानों को ये विचार डरावने लगें, पर विद्वानों से मेरा यही निवेदन है, कि इनकी तथ्यता की ओर ध्यान देना चाहिये, तब भय दूर होसकता है। यही उत्तर मैंने उस समय महा-महोपाध्याय जी को दिया था।

सम्मेलन के अनन्तर बहुत शीघ्र मुझे अकस्मात् लाहौर छोड़ना पड़ा, जिसका संकेत अभी पहले मैं कर चुका हूँ। उसके बाद पूरे सोलह वर्ष तक मैं अपने जीवन को ऐसी स्थिति में व्यवस्थित न करसका, जहाँ इस ग्रन्थ को पूरा करने की अनुकूलता होसकती। जिस पृष्ठ और जिस पंक्ति तक वह लाहौर सम्मेलन से पूर्व लिखा जाचुका था, वहीं तक पड़ा रहगया। इस बीच बहुत उथल-पुथल हुई। जो विचार उस समय तक लिपिबद्ध होगये थे, वे तो उसी तरह सुरक्षित रहे, पर मस्तिष्क की निधि बहुत कुछ सरक चुकी थी। अन्ततः सोलह वर्ष के अनन्तर फिर लाहौर जाने का सुयोग बन गया। इस अवसर को लाने में मेरे शिष्य पं० वाचस्पति एम्. ए., बी. एससी., विद्यावाचस्पति का भी बड़ा हाथ था। सन् १९४५ के जनवरी मास के प्रारम्भ में ही मैं लाहौर पहुँचा। इस समय इसी निश्चय के साथ वहाँ गया था, कि सर्वप्रथम इस ग्रन्थ को लिपिबद्ध करूंगा।

सोलह वर्ष के अनन्तर लाहौर आने पर वहाँ कुछ ऐसे परिवर्तन हो गये थे, जिनका प्रभाव इस ग्रन्थ लेखन पर आवश्यक था। फिर भी मैं अपने कुछ ऐसे पुराने स्नेही मित्रों के सम्पर्क में आगया था, जिनका पूरा सहयोग मेरे इस कार्य के साथ रहा है। यद्यपि पं० भगवद्दत्त जी इस समय लालचन्द अनुसन्धान पुस्तकालय के अध्यक्ष न थे, और इस कारण मैं अबकी वार उस पुस्तकालय का अच्छा उपयोग न कर सका, पर पण्डित जी के विस्तृत अध्ययन ने मेरी पूरी सहायता की, और पुस्तकों की न्यूनता को श्री पं० बालासहाय जी शास्त्री के अनुपम सौहार्द ने विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से पूरा किया। मैं इन मित्रों का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। श्री पं० भगवद्दत्त जी ने तो प्रारम्भ से लेकर आज इन पंक्तियों के लिखने तक मेरी पूरी सहायता की है, मैं उनके इस सहयोग को कभी भूल नहीं सकता।

जिन दिनों मैं इस ग्रन्थ को लाहौर में लिख रहा था, श्रीयुत डॉ० लक्ष्मण-स्वरूप जी एम्० ए०, ने अनेक प्रकरणों तथा उनके अंशों को ध्यानपूर्वक सुना,

और कई स्थलों पर उन्होंने अच्छे सुझाव दिये। मध्यकालिक भारतीय विद्वानों के तिथिक्रम के सम्बन्ध में योरपीय विद्वानों द्वारा दिये गये निर्णयों पर विशेष रूप से डॉक्टर साहब के साथ चर्चा होजाती थी, और वे सदा गम्भीरतापूर्वक अपनी सम्मति देते थे, कभी उन्होंने किसी बात को टालने का यत्न नहीं किया। उनके इस सहयोग ने अपने कार्य में मुझे सदा प्रोत्साहित किया है। मैं हृदय से उनका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। कदाचित् यदि आज डॉ० साहब जीवित होते, तो उनको इस ग्रन्थ के प्रकाशन से अत्यन्त प्रसन्नता होती। उन्हीं दिनों सन् १९४६ के जुलाई मास में एक दिन अकस्मात् हृदयगति रुद्ध होजाने से उनका स्वर्गवास होगया।

पञ्जाब विश्वविद्यालय के प्राच्य महाविद्यालय [ओरियण्टल कॉलिज] में लिपि और भाषाविज्ञान के प्राध्यापक ला० जगन्नाथ जी अग्रवाल एम. ए. महोदय ने, मध्यकालिक राजाओं के उत्कीर्ण लेखों की जानकारी देने में मेरी पूरी सहायता की है, इस ग्रन्थ के छठे और सातवें प्रकरण में मध्यकालिक उत्कीर्ण लेखों का प्रसंगवश जो वर्णन आया है, उन सबका पूरा विवरण अग्रवाल साहब से ही मैं प्राप्त कर सका हूँ। आपके सरल सौम्य व आकर्षक स्वभाव का मुझ पर सदा प्रभाव हुआ है। लाहौर में कई कई घण्टे तक इन विषयों पर में उनसे चर्चा करता रहा हूँ, पर उन्होंने इस कार्य के लिये अपने समय में व्यय का कभी अनुभव नहीं किया। मैं उनका हृदय से अत्यन्त अनुगृहीत हूँ।

इसी प्रकार मित्रों के स्नेह और उत्साह प्रदान से धीरे-धीरे इस ग्रन्थ को लिखकर सन् १९४७ के जुलाई मास में समाप्त कर चुका था। लाहौर उन दिनों राजनैतिक आधारों की हवा पाकर साम्प्रदायिक अग्नि में धू-धूकरके जल रहा था। इस साम्प्रदायिक अग्नि ने बाद में वास्तविक भौतिक अग्नि का रूप धारण कर लिया। जनता में भगदड़ मची हुई, थी, प्रतिदिन कहीं बम, कहीं छुरे और कहीं आग की घटना होती रहती थीं। यह क्रम मार्च १९४७ से लेकर लगातार चलता ही रहा, किसी व्यक्ति का जीवन उन दिनों निश्चिन्त और स्थिर न था, पर मैं इस ग्रन्थ को लाहौर रहते हुए समाप्त कर लेना चाहता था, कदाचित् लाहौर से बाहर जाकर मुझे इसके लिखे जाने की आशा न थी, इसलिये इन हृदयविदारक, सर्वथा व्यग्र कर देनेवाले उत्पातों के बीच में भी धीर और शान्त-भाव से इस ग्रन्थ को पूरा कर लेने में लगा रहा। किस तरह मैं नीला गुम्बद में अपने घर से निकलकर रावी रोड पर, गुरुदत्त भवन के समीप अपने कार्यालय में प्रतिदिन जाता और आता था, मार्ग में अनेक स्थल अत्यन्त भयावह थे, कभी भी कोई दुर्घटना होसकती थी, पर एक आन्तरिक भावना मुझ से यह सब करा रही थी। इस ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरणों की एक-एक पंक्ति, मैंने अपने जीवन को हथेली पर रखकर पूरी की है। कदाचित् उन पंक्तियों के पढ़ने से ही पाठक इन

भावनाओं तक न पहुंच सकेंगे। अन्ततः भगवान् की दया से १९४७ की जुलाई समाप्त होने से पहले ही मैं इस ग्रन्थ को पूरा कर सका।

उस समय नीला गुम्बद की मस्जिद के पीछे की ओर अभ्रंलिह विशाल मूलचन्द बिल्डिङ्ग में मैं ही अकेला अपने परिवार के साथ टिका हुआ था, वहां अन्य जितने परिवार रहते थे, सब बाहर जा चुके थे, जुलाई का महीना समाप्त हुआ, अगस्त के प्रारम्भ में ही न मालूम किस अज्ञात प्रेरणा से प्रेरित हो मैं भी किसी तरह अपने परिवार को लेकर घर की ओर चल पड़ा और सकुशल वहाँ पहुँच गया। अपना विशाल पुस्तकालय और घर का सामान सब वहीं रहा। विचार था, कि लाहौर फिर वापस आना ही है। यद्यपि राजनैतिक आधारों पर देश का विभाजन हो चुका था, पर लाहौर लटकन्त में था। अगस्त का दूसरा सप्ताह प्रारम्भ होते ही जो स्थिति लाहौर की हुई, उससे प्रत्येक व्यक्ति परिचित है, वहाँ वापस जाने का दिन फिर न आया, आगे की कल्पना करना ही व्यर्थ है।

इस पुस्तक की पाण्डुलिपि लाहौर से बच आई थी, अब से लगभग नौ महीने पूर्व इस ग्रन्थ का मुद्रण प्रारम्भ हुआ। भगवान् की अपार कृपा छाया में इसका मुद्रण अब पूर्ण होरहा है। इसके प्रूफ मैंने स्वयं पढ़े हैं। इसके लिये मुझे इतने समय तक दिल्ली रहना पड़ा है। आजकल यहां की अपार भीड़ और खाद्य वस्तुओं की महर्घता के कारण दिल्ली-निवास सरल कार्य नहीं। मैं श्रीयुत ठा० गजेन्द्रसिंह जी असिसटेण्ट सेक्रेटरी, मिनिस्टरी आफ़् होम अफेयर्ज [उपमन्त्री, गृहसचिवालय], भारत सरकार, और श्रीमती सरस्वती देवी, धर्मपत्नी ठा० मदनपालसिंह, जनरल मैनेजर लक्ष्मी देवी शुगर मिल्ज लिमिटेड छितौनी, का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। इतने दिन तक मेरे दिल्ली-निवास का सब प्रबन्ध इन्होंने ही किया, यहाँ रहते हुए मैंने प्रतिक्षण यही अनुभव किया, मानो अपने घर में ही रहरहा हूं। पुस्तक के मुद्रण में इस सहयोग का मैं अत्यधिक मूल्यांकन करता हूँ।

पुस्तक के मुद्रण काल में अनेक स्थलों पर सन्देह होने पर मुझे कई पुस्तकों को देखने की आवश्यकता पड़ती रही है। दिल्ली में कोई भी सार्वजनिक पुस्तकालय नहीं है। जो कुछ है, एक ही पुस्तकालय, दिल्ली विश्वविद्यालय का है। वहाँ से पुस्तकें लेने में मुझे अधिक सुविधा नहीं होसकती थी। परन्तु इस दिशा में मेरी समीप-सम्बन्धिनी श्रीमती निर्मला शेरजंग एम्० ए० बी० टी., एल्एल्० बी० ने मुझे बहुत सहायता दी है, ये आजकल इन्द्रप्रस्थ गर्ल्ज़ कॉलिज में दर्शन और मनोविज्ञान की प्राध्यापिका हैं। मैं निर्मल जी का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। इस सहयोग के न मिलने पर निश्चित ही मुझे कष्ट होता, और यह भी सम्भव था, कि पुस्तक में कुछ स्थल अशुद्ध छप जाते, तथा कई आवश्यक अंश छपने

से रहजाते ।

मुद्रण काल में एक और आवश्यक बात हुई है, जितने फ़ॉर्म छपते जाते थे, उनकी एक-एक प्रति मैं अपने कुछ मित्रों को भेजता रहा हूँ । उनमें तीन महानुभावों का नाम विशेष उल्लेखनीय है—१—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, २—श्री पं० भगवद्दत जी बी० ए० तथा ३—श्री पं० सीताराम जी सहगल एम० ए०, इन महानुभावों का मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूँ । इन्होंने ग्रन्थ के छपते छपते कई आवश्यक सुझाव दिये हैं, मैंने उनको सादर स्वीकार किया है ।

मेरे पुराने मित्र श्रीयुत डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल का मैं हृदय से अत्यन्त आभारी हूँ । मेरे निवेदन पर आपने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखने का विशेष अनुग्रह किया है, और इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालकर इसके महत्त्व को बढ़ाने में मुझे हार्दिक सहयोग प्रदान किया है ।

काशीवासी श्रीयुत डॉ० मंगलदेवजी शास्त्री के दर्शन, चिरकाल के अनन्तर अभी पिछले दिनों गुरुकुल कांगड़ी की सुवर्णजयन्ती के अवसर पर हुए । आप मेरे छात्रावस्था के सुहृद् हैं । आपने गुरुकुल में समय निकालकर इस ग्रन्थ के बहुत अधिक भागों को ध्यान से सुना, मेरी इच्छा पर उन्होंने ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्राक्कथन रूप से कुछ प्रशस्त शब्द लिख भेजे हैं, जो प्रारम्भ में मुद्रित हैं । मैं इस सहयोग के लिए आपका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ ।

विशेष बाधाओं के अतिरिक्त सब ही व्यक्तियों ने सावधानतापूर्वक इस कार्य में सहयोग दिया है । अब यह ग्रन्थ मुद्रित होकर विद्वान् पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है । इसकी उपयोगिता की जाँच पाठक स्वयं करें ।

यह ग्रन्थ आठ प्रकरणों में पूरा हुआ है, नौवाँ प्रकरण 'उपसंहार' नामक और लिखने का विचार था, परन्तु उस समय लाहौर छोड़ देने के कारण वह न लिखा जा सका, और अब जल्दी उसके लिखे जाने की आशा भी नहीं है । उस प्रकरण में मध्यकाल के उन आचार्यों का तिथिक्रम निश्चित करने का विचार था, जिनका सम्बन्ध प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित विषयों से है ।

सांख्यविषयक बहिरंगपरीक्षात्मक प्रस्तुत ग्रन्थ, मूलसांख्यग्रन्थ की भूमिकामात्र है । सांख्य के मूल सिद्धान्तों का विवेचनात्मक ग्रन्थ, 'सांख्यसिद्धान्त'[1] नामक लिखा जा रहा है । आधे से अधिक भाग लिपिबद्ध किया जा चुका है । भगवान् की दया एवं विद्वानों के सहयोग से शीघ्र ही उसके भी प्रकाशित कराने का यत्न किया जायगा ।

विनीत
उदयवीर शास्त्री

---

१. सांख्यसिद्धान्त भी अब छप गया है ।

ग्रन्थ पर ग्रन्थकार को प्राप्त पुरस्कार

१२००) मंगलाप्रसाद पुरस्कार, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

१२००) उत्तरप्रदेश सरकार, लखनऊ ।

१०००) बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ।

१०००) सेठ हरजीमल डालमिया ट्रस्ट, नई दिल्ली ।

विषयानुक्रमणिका

चतुर्थ अध्याय

वर्त्तमान सांख्यसूत्रों के उद्धरण

ग्रन्थसंकेत-विवरण

I. H. Q.=इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली
कात्या० श्रौ०=कात्यायन श्रौतसूत्र
काम० नी०=कामन्दकीय नीतिसार
कौषी० ब्रा०=कौपीतकि ब्राह्मण
छा०=छान्दोग्य उपनिषद्
JASB=जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी बंगाल
J. O. R.=जर्नल ऑफ ओरियन्टल रिसर्च
J. R. A. S.=जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी
त० स० सू०=तत्त्वसमास सूत्र
तैत्ति० ब्रा०=तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०=तैत्तिरीय संहिता
पा० यो० सू०=पातञ्जल योगसूत्र
पा०यो०सू०व्या०भा०=पातञ्जल योगसूत्र व्यासभाष्य
प्र० चन्द्रो०=प्रबोधचन्द्रोदय नाटक
Bibl Ind=बिब्लिओथिका इण्डिका
ब्र० सू० शां० भा०=ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य
मनु०=मनुस्मृति
म० भा०=महाभारत
यु० दी०=युक्तिदीपिका
रामा०=रामायण
लाट्या० श्रौ०=लाट्यायन श्रौतसूत्र
वा० रा०=वाल्मीकि रामायण
श० ब्रा० / शत० ब्रा० }=शतपथ ब्राह्मण
श्लो० वा०=श्लोकवार्त्तिक
सां० का०=सांख्यकारिका
सां० सू=सांख्यषडध्यायी सूत्र
Z.D.M.G.=त्साइतश्रिफ़्ट डायश मार्गनलाण्डेस गेसेलशाफ्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

अथर्ववेद परिशिष्ट
अद्वैतदीपिका
अद्वैतब्रह्मसिद्धि
अनिरुद्धवृत्ति
अनुयोगद्वारसूत्र [जैन ग्रन्थ]
अपरार्का [याज्ञवल्क्यस्मृति टीका]
अपोह प्रकरण [धर्मोत्तर, बौद्ध ग्रन्थ]
अभयदेव सूरि व्याख्या [सन्मति तर्क]
अभिधानचिन्तामणि
अमरकोष
अलबेरूनी का भारत [इण्डिका]
अष्टसहस्री [जैनग्रन्थ]
अष्टाध्यायी [पाणिनि]
अहिर्बुध्न्यसंहिता
ऑन युआॅन च्वांग्ज़् ट्रैवल्ज़् इन् इण्डिया
आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आप्तमीमांसालंकृति [जैनग्रन्थ]
आर्षानुक्रमणी [ऋग्वेद]
इंग्लिश अनुवाद [व्यासभाष्य, वाचस्पत्य]
इण्डियन एण्टिक्वेरी
इण्डियन फ़िलॉसफी [राधाकृष्णन्]
इण्डियन लॉजिक
इण्डियन लॉजिक एण्ड एटामिज़्म
इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली
ईशोपनिषद
उपमितिभवप्रपञ्चा कथा [जैन ग्रन्थ]
उपोद्घात [सांख्यसार, एफ़. ई. हॉल]
ऋग्वेद
ऋग्वेदभाष्य [वेङ्कटमाधव]
ऋग्वैदिक इण्डिया
एक्रिटिकल स्टडी ऑफ सांख्यसिस्टम
एन्शन्ट ज्यॉग्रफी आफ इण्डिया [कनिंघम]
एन्शन्ट संस्कृत लिट्रेचर
एशियाटिक रिसर्चेज़् [सेन्टिनरी रिव्यू ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी बंगाल]
ऐतरेय आरण्यक
कठ उपनिषद
कर्णकगोमि व्याख्या [प्रमाणवार्त्तिक]
कल्पसूत्र [जैन ग्रन्थ]
कल्पसूत्र [भद्रबाहु]
काठक संहिता
कात्यायन वार्त्तिक
कात्यायन श्रौतसूत्र
कामन्दकीय नीतिसार
काव्यादर्श
किरणावली
कृत्यकल्पतरु
कृष्णचरित [समुद्रगुप्त]
केशव कल्पद्रुम
कैटालॉगस् कैटालागरम्
कैलास मानसरोवर

कौटलीय अर्थशास्त्र
कौषीतकि ब्राह्मण
क्रमदीपिका
क्रॉनोलॉजी ऑफ इण्डियन आथर्ज़ (ए सप्लिमेंट टू मिस् डफ्ज क्रॉनोलॉजी ऑफ इण्डिया)
खोह कॉपर प्लेट
गणकारिका
गणरत्नमहोदधि
गरुड़ पुराण
गर्भोपनिषद्
गीता में ईश्वरवाद
गीतारहस्य
गोपालतापिनी उपनिषद्
गौडपाद भाष्य (सांख्यसप्तति)
गौतम न्याय सूत्रैंज़् (गंगानाथ झा, पूना ओरियण्टल सीरीज़्, नं० ५९)
चक्रपाणिटीका (चरक संहिता)
चन्द्रिका (सांख्यसप्तति व्याख्या)
चरक संहिता
छान्दोग्य उपनिषद्
जयमंगला (कामन्दकीय नीतिसार टीका
जयमंगला—कामसूत्र टीका
जयमंगला—भट्टिकाव्यटीका
जयमंगला (सांख्यसप्तति-व्याख्या)
जर्नल ऑफ् इण्डियन हिस्ट्री
जर्नल ऑफ् एशियाटिक सोसायटी बंगाल
जर्नल ऑफ् ओरियण्टल रिसर्च (मद्रास)
जर्नल ऑफ् दि आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी
जर्नल ऑफ् दि गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिट्यूट
जर्नल ऑफ् बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसायटी
जर्नल ऑफ् रॉयल एशियाटिक सोसायटी
ज़ैड. डी. एम्. जी. (श्रैडर)
डाईनैस्टिक् हिस्ट्री ऑफ् नार्दर्न इण्डिया (एच० सी० रे)
जैनसाहित्य और इतिहास
तत्त्वमीमांसा
तत्त्वयाथार्थ्यदीपन
तत्त्ववैशारदी (व्यासभाष्य टीका)
तत्त्वसमास
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
तत्त्वोपप्लव
तरङ्गिणी (रामरुद्री)
तर्करहस्यदीपिका (षड्दर्शनसमुच्चय व्याख्या गुणरत्नसूरि)
ताण्ड्य महाब्राह्मण
तात्पर्यटीका (न्यायवार्त्तिक व्याख्या)
तात्पर्यपरिशुद्धि
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्तिरीय संहिता
त्रिकाण्डशेष
दर्शनपरिचय
दि ज्यॉग्रफ़िकल डिक्शनरी ऑफ् एन्शन्ट एण्ड मैडिएवल इण्डिया (नन्दूलाल)
दि पूना ओरियण्टलिस्ट
दि योगसिस्टम ऑफ् पतञ्जलि (वुड्ज़्)

दि सिक्स् सिस्टम्ज़् ऑफ् इण्डियन फ़िलॉसफ़ी (मैक्समूलर)
दि हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत लिट्रेचर (कीथ)
दुर्गवृत्ति (निरुक्त)
धर्मसंग्रहणी वृत्ति (जैनग्रन्थ)
नवन्यायरत्नाकर (=नवकल्लोल)
नागरसर्वस्व
नालन्दा कॉपर प्लेट
निदानसूत्र
निरुक्तभाष्यटीका (स्कन्दमहेश्वर)
निरुक्तालोचन
नैषध-व्याख्या (मल्लिनाथ)
नोटिसेज़् ऑफ् संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स् (सेकण्ड सीरीज़्)
न्यायकणिका
न्यायकन्दली
न्यायकुसुमाञ्जलि
न्यायदर्शन
न्यायभूषण
न्यायमञ्जरी
न्यायवार्त्तिक
न्यायसूचीनिबन्ध
पञ्चदशी
पञ्चदशी-हिन्दीरूपान्तर
पञ्चविंश ब्राह्मण
पञ्चशिखसूत्र
पञ्जिका (तत्त्वसंग्रहव्याख्या)
पतञ्जलिचरित
पद्मपुराण
परमार्थसार
पाणिनि एण्ड मानव कल्पसूत्र
पुण्यराज व्याख्या (वाक्यपदीय)
प्रकाश टीका (न्यायकुसुमाञ्जलि)
प्रबोधचन्द्रोदय
प्रमाणमीमांसा
प्रमाणवार्त्तिक
प्रमाणसमुच्चय (दिङ्नाग)
प्रमेयकमलमार्तण्ड
प्रशस्तपाद भाष्य
प्रश्न उपनिषद्
प्रोसीडिंग्ज़् ऑफ दि फिफ्थ ओरियण्टल कॉन्फ्रेंन्स (लाहौर)
फ्लीट् गुप्त इन्स्क्रिप्शन्ज़्
बालरामोदासीन व्याख्या (सांख्यतत्त्वकौमुदी)
बिब्लिओथिका इण्डिका
बुद्धचरित
बुद्धिस्ट रैकर्डज़् ऑफ् द वैस्टर्न वर्ल्ड्
बुलैटिन (१६०४)
बृहत्संहिता, भट्टोत्पल व्याख्या सहित
बृहदारण्यक उपनिषद्
बृहन्नारदीय पुराण
बौधायन धर्मसूत्र
बौधायन श्रौतसूत्र
ब्रह्मविद्या [अडियार बुलैटिन]
ब्रह्माण्ड पुराण
भगवदज्जुकीयम्
भगवद्गीता
भट्टभास्कर भाष्य [तैत्तिरीय संहिता]
भट्टिकाव्य
भट्टोजि दीक्षित व्याख्या [पाणिनिसूत्र]
भण्डारकर कमैमोरेशन वाल्यूम
भामती
भारतवर्ष का इतिहास [भगवद्दत्त]
भारतीय दर्शन
भास्करभाष्य [ब्रह्मसूत्र]
भीनमाल जैनमन्दिरस्थित शिलालेख
भूमिका [किरणावली]

भूमिका [गौडपाद भाष्य]
भूमिका—जयमंगला [कविराज गोपीनाथ]
भूमिका—न्यायवार्त्तिक [विन्ध्येश्वरी-प्रसाद]
मज्झिमनिकाय
मत्स्यपुराण
मनुस्मृति
महाभारत
महाभारत मीमांसा
महाभाष्य [व्याकरण]
माठरवृत्ति
माधवानुक्रमणी [वेङ्कट माधव]
मार्कण्डेय पुराण
मालतीमाधव नाटक
मीमांसादर्शन
मीमांसान्यायप्रकाश
मुक्तावलीप्रकाश
मुण्डकोपनिषद्
मेघसन्देश [मेघदूत]
मेघातिथि व्याख्या [मनुस्मृति]
मैत्रायणी उपनिषद्
मैत्रायणी संहिता
मैत्र्युपनिषद्
यजुर्वेद
युक्तिदीपिका
योगदर्शन [योगसूत्र]
योगवार्त्तिक
रतिरहस्य
राजतरंगिणी
राजमार्तण्ड
राजवार्त्तिक
रामायण [वाल्मीकि]
लक्षणावली
ललितविस्तरा चैत्यवन्दनवृत्ति [जैन-ग्रन्थ]
लाट्यायन श्रौतसूत्र
वाक्यपदीय
वात्स्यायन कामसूत्र
वात्स्यायन भाष्य [न्यायसूत्र]
वादमहार्णव
वायुपुराण
विशेषनाम-पद सूची [महाभारन]
विष्णु पुराण
वी. ए. स्मिथ का इतिहास
वृत्तरत्नाकर
वृत्तिसार [महादेव]
वेदान्तकल्पतरु
वेदान्तदर्शन = ब्रह्मसूत्र
वेदार्थदीपिका [कात्यायन सर्वानुक्रमणी टीका]
वेबर्ज एण्डिस्के स्टडिएन
वैदिक इण्डैक्स
वैदिक माईथालॅजी
वैराग्यशतक
वैशेषिकदर्शन
व्याख्यासुधा [अमरकोषटीका]
व्यासभाष्य [योगसूत्र]
व्योमवती
शतपथ ब्राह्मण
शंकरोपस्कार
शांकरभाष्य [ब्रह्मसूत्र]
शांकरभाष्य-मुण्डकोपनिषद्
शांकरभाष्य [श्वेताश्वतर]
शांखयायन आरण्यक
शार्ङ्गधरपद्धति
शास्त्रदीपिका

शिवार्कमणि टोका [श्रीकण्ठभाष्य व्याख्या]
श्रीकण्ठभाष्य [वेदान्त ब्रह्मसूत्र]
श्रीमद्भागवत
श्लोकवार्त्तिक
श्वेताश्वतर उपनिषद्
षड्दर्शन समुच्चय [मलधारि राजशेखर]
षड्दर्शनसमुच्चय [हरिभद्रसूरि]
संस्कारमयूख
संस्कृतचन्द्रिका [मासिक पत्रिका]
संस्कृत डिक्शनरी [मोनियर विलियम]
संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास [अप्रकाशित]
सत्याषाढ श्रौतसूत्र
सन्मतितर्क [जैनग्रन्थ]
सरस्वतीकण्ठाभरण
सरस्वती [मासिक पत्रिका]
सर्वदर्शनसंग्रह
सर्वोपकारिणी टीका [तत्त्वसमास]
सांख्य अण्ड योग
सांख्य के तीन प्राचीन ग्रन्थ
सांख्यतत्त्वकौमुदी [सांख्यसप्तति-व्याख्या]
सांख्यतत्त्वप्रदीप
सांख्यतत्त्वप्रदीपिका
सांख्यतत्त्वविवेचन
सांख्यदर्शन [सांख्यषडध्यायी]
सांख्यपरिभाषा
सांख्यप्रवचन भाष्य
सांख्यसंग्रह
सांख्यसप्तति
सांख्यसार
सांख्यसिस्टम
सांख्यसूत्रविवरण
सायणभाष्य [ऐतरेय आरण्यक]
सायणभाष्य [तैत्तिरीय संहिता]
साहित्यदर्पण
साहित्यमीमांसा
सिमरौनगढ़ी का शिलालेख
सुवर्णसप्ततिशास्त्र
सुश्रुत संहिता
सूत संहिता
स्कन्द पुराण
स्याद्वादरत्नाकर
स्वोपज्ञ [भर्तृहरि] व्याख्या [वाक्यपदीय]
हर्षचरित
हिस्टॉरिकल एटलैस ऑफ़ इण्डिया
हिस्ट्री ऑफ़ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर [कीथ]
हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र
हिस्ट्री आफ बंगाल
हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर [मैक्डानल्ड]

◆◆

卐 ओ३म् 卐

सांख्यदर्शन का इतिहास

प्रथम अध्याय

महर्षि कपिल

उपक्रम—आदिकाल से रहस्यमय विश्व-पहेली ने मानव के मानस-मस्तिष्क को सदा व्यथित किये रक्खा है। इस व्यथा को सन्तुलित करने के लिए अनेक प्रतिभाशाली लोककर्त्ता महामानवों ने पहेली को समझने-सुलझाने में अपने जीवन गला दिये। आज भी वह क्रम चालू है, और आगे भी इसपर विराम-चिन्ह लगने की कोई संभावना नहीं। फिर भी पहेली अपने स्तर पर बदस्तूर है। यदि यह कहाजाय, तो कुछ अनुचित न होगा, कि यह सुलझने के बजाय अधिकाधिक उलझन की ओर ही कदम बढ़ाती रही है।

विभिन्न दिशाओं, जानकारी की विविध शाखा-प्रशाखाओं को लक्ष्यकर जिन विचारशील मनीषियों ने इन ग्रन्थियों को खोलने का सतत प्रयास किया, उनकी संख्या नगण्य नहीं है। वैदिक-साहित्यकार, दर्शनकार, अध्यात्म-शास्त्रों के प्रवक्ता ऋषि, मुनि, आचार्य जिन तथ्यों को लिखगये हैं, उन सबको एक मार्ग पर अथवा एक धारा में सन्तुलित करना असंभव-सा है। संसार के धन्धों में फंसे व्यक्ति के पास उनके विश्लेषण के लिये न समय है, न अवकाश। जो अन्य धन्धों को लात मार इन्हीं समस्याओं को सुलझाने के लिए अपना जीवन समर्पण करदेते हैं, वे भी अत्यल्प आंशिक सफलता का ही मुंह देखपाते हैं। अग्रजन्मा लोककर्त्ताओं के वे विचार अपने वर्ग व शाखाओं में इतने दृढ़ होगये हैं, कि उनके सन्तुलन को हम सहन नहीं कर सकते। पञ्चों की बात सिरमाथे कहने पर भी पतनाला वहीं क़ायम रहता है। यही स्थिति है, जिसने उलझन बढ़ाई हैं।

विचारों के वैविध्य से किसी बुद्धिजीवी का विरोध नहीं; यह सक्रिय मस्तिष्क के स्वास्थ्य का चिह्न है। यदि इसको इसी सीमा तक रक्खा जाय, तो इससे मानव-समाज को किसी हानि की संभावना नहीं। इसकी भी उपेक्षा नहीं कीजानी चाहिये, कि मर्यादा का निर्माण करने वाले उन सभी महानुभावों ने केवल शुद्ध लोक-हित की कामना से अपने विचार अभिव्यक्त किये; उस समय

उनके वैसे कथन का आधार चाहे अधिकारी-भेद रहा हो, अथवा वास्तविकता के लम्बे मार्ग में से किसी अंश का विवरण देना उनका ध्येय रहा हो; पर उनके कथन को अतथ्य कहना उनके साथ अन्याय करने के समान होगा। उनके विचार सच्चे दिल-दिमाग से प्रस्फुटित हुए, इसमें सन्देह का अवकाश नहीं। उनके पारस्परिक विरोध विषयक कल्पना की नितान्त अवहेलना कर उन्हें पूर्ण समन्वय की भावना से देखने-समझने का प्रयास न केवल उनमें विरोध के अभाव को भासित करेगा; प्रत्युत उनमें निहित वस्तुभूत सच्चाई तक पहुँचने का एकमात्र साधन होगा।

प्रस्तुत प्रसंग में हमारा लक्ष्य समस्त वैदिक, आध्यात्मिक तथा अन्य ज्ञान धारा की शाखा-प्रशाखाओं के प्रवक्ता ऋषि-मुनियों व आचार्यों के विषय में कुछ कहना नहीं हैं; केवल दार्शनिक परम्परा के एक अंश सांख्यदर्शन के विषय में कतिपय तथ्यों के खोजने का यह प्रयास है। इस दर्शन के विषय में न केवल बुद्धिजीवी जन-समुदाय में, अपितु उस वर्ग से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने वाले सर्वसाधारण समाज तक में अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ व भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं; जो निरन्तर जिज्ञासु जन-मानस को बेचैन किया करती हैं। इस बेचैनी का शिकार होकर छात्रावस्था के पूर्ण होते-होते, व अनन्तर पर्याप्त वर्षों तक सतत अध्ययन चिन्तन, मनन, उसके विशेषज्ञ विद्वानों के साथ संवाद एवं गहन मन्थन के परिणामस्वरूप जो तथ्य ध्यान में आये, उनको लिपिबद्ध करने का यह प्रयास एवं उपक्रम है।

इसमें प्रस्तुत सांख्यशास्त्र के कर्त्ता कपिल, सांख्यदर्शन का कलेवर; रनचाक्रम, उसके व्याख्याकार; सांख्य सम्बन्धी अन्य रचना, उनके रचयिता, रचनाकाल तथा अन्य अनेक प्राचीन सांख्याचार्यों के यथोपलब्ध विवरण व सन्दर्भ आदि का संकलन है। इसमें विशेषरूप से ऐतिहासिक पक्ष को मुख्यता दीगई है। कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार सैद्धान्तिक विवरण भी ऐतिहासिक स्वरूप की स्पष्टता के लिए दियेगये हैं। सिद्धान्त-विवरण के लिए पृथक् स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का संकल्प है।

ये प्रसंग निम्न शीर्षक के आठ अध्यायों में प्रस्तुत हैं—

अन्त में एक 'परिशिष्ट' है, जिसमें कतिपय सम्बद्ध प्राचीन आचार्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

कपिल के सम्बन्ध में आधुनिक विचार—

भारतीय जनश्रुति के आधार पर कहा जाता है—महर्षि कपिल, आदि दार्शनिक विद्वान् था, और उसने सांख्यशास्त्र का निर्माण किया। किस ग्रन्थ का कपिल ने निर्माण किया, इसका निर्णय यथाप्रसंग अगले प्रकरणों में किया-जायगा। सबसे प्रथम, आवश्यक है—सांख्य-प्रणेता महर्षि कपिल कब तथा किस भूमिभाग पर अवतीर्ण हुआ? इसका विवेचन कियाजाय; क्योंकि आधुनिक कतिपय विद्वान् उसके वास्तविक ऐतिहासिक अस्तित्व में सन्देह करते हैं।

संस्कृत वाङ्मय में कपिल नाम के अनेक आचार्यों का वर्णन आता है। इस विषय में विद्वानों का परस्पर पर्याप्त मतभेद है, कि इनमें से सांख्यप्रणेता कपिल कौन है? आज ही नहीं, पहले विद्वानों को भी इसके निर्णय में भ्रम होता रहा है। यह एक आश्चर्य की बात है, कि इतने प्रसिद्ध और प्रामाणिक आचार्य के सम्बन्ध में विद्वानों ने अभी तक कुछ सन्तोषजनक निर्णय नहीं किया। प्राचीन इतिहास इस समय घोर अन्धकार में छिपा हुआ है। विदेशियों के, समय-समय पर किये आक्रमणों के कारण भारत के प्राचीन नगर और साहित्य की परिस्थिति में भारी उथल-पुथल होचुकी है। इतिहास-सम्बन्धी अनेक साधन बीसों फुट नीचे धरती में धंसे पड़े हैं। हम अपने प्रमाद से भी बहुत-सी अमूल्य ज्ञान-सम्पत्ति को नष्ट कर चुके हैं। यह भी एक कारण है, कि सहस्रों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए, अत्यन्त प्राचीन ऋषियों के सम्बन्ध में हमें इतना अल्पज्ञान है। उनकी वास्तविक जानकारी के साधन अब तक न मालूम कितने रूपान्तरों में परिवर्त्तित हो चुके होंगे। ऐसी अवस्था में वास्तविक तत्त्व का प्रकट करना टेढ़ी खीर है। फिर भी जो कुछ साधन हमें उपलब्ध हैं, उन्हींके आधार पर इस ओर कुछ प्रकाश डालने का यह यत्न किया जारहा है।

कतिपय विद्वानों[1] का विचार है—"कपिल नाम के चार ऋषिपुंगव होगये हैं। उनमें से एक तो अभी कलियुग में हुए हैं, जो गोतम ऋषि के वंशज थे, तथा जिनके नाम पर कपिलवस्तु नगर बसाया गया। यह बात बौद्ध ग्रन्थों में लिखी है। बहुत से विदेशी विद्वान् इन्हींको सांख्यशास्त्र के प्रणेता कहते हैं। परन्तु वास्तव में यह ठीक नहीं। क्योंकि यह शास्त्र पर्याप्त प्राचीन है। कपिल नाम

---

१. इण्डियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित होने वाली हिन्दी की मासिक पत्रिका 'सरस्वती' [अगस्त, १९१६ ईसवी] में प्रकाशित 'सांख्यशास्त्र के कर्त्ता, शीर्षक लेख। लेखक-श्रीकृष्ण शास्त्री तैलंग।

के अवशिष्ट तीन ऋषियों में से (१) एक कपिल वे हुए हैं, जो ब्रह्मा जी के मानस पुत्र थे, तथा जो मूलज्ञानी कहलाते थे। (२) दूसरे कपिल अग्नि के अवतार थे। (३) तीसरे कपिल, देवहूति और कर्दम ऋषि के पुत्र थे।"

तीसरे कपिलदेवजी के विषण में श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध के २४-३३ अध्याय देखिये—

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां संमतायात्मदर्शने ॥ [अ० २४। श्लो० ३६]

इन्हीं कपिलदेवजी ने अपनी माता देवहूति को तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। ये ईश्वर के अवतार थे। इन्होंने स्वयं अपनी माता से यह बात कही है। इससे ये सांख्यशास्त्र-प्रणेता कपिलदेव नहीं, किन्तु वेदान्तादि के उपदेशकर्त्ता हैं।"

क्या सांख्यप्रणेता कपिल दो थे ?

उक्त विचारों से यह परिणाम निकाला गया है, कि शेष दो कपिल सांख्यशास्त्र के प्रणेता हैं। इनमें से ब्रह्मा के पुत्र कपिल, 'तत्त्व-समास' अथवा 'द्वाविंशतिसूत्री' के रचयिता हैं। और सूत्रषडध्यायी के रचयिता हैं—अग्नि के अवतार भगवान् कपिल। इस पक्ष को पुष्ट करने के लिये एक संस्कृत सन्दर्भ उद्धृत किया जाता है—

[1]"अथात्रानादिक्लेश-कर्म-वासनासमुद्रपतितान् अनाथान् उद्दिधीर्षुः परम-कृपालुः स्वतःसिद्धज्ञानो महर्षिर्भगवान् कपिलो ब्रह्मसुतो द्वाविंशतिसूत्राण्युपादिक्षत्। सूचनात् सूत्रमिति हि व्युत्पत्तिः। तत एतैः समस्ततत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां सूचनं भवति। ततश्चेदं सकलसांख्यतीर्थमूलभूतम्। तीर्थान्तराण्यपि चैतत्प्रपञ्चभूतान्येव। सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारभगवत्कपिलप्रणीता। इयञ्च द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता ब्रह्मसुत-महर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धा वदन्ति।"

---

१. यह सन्दर्भ तैलंग महोदय ने कहाँ से उद्धृत किया है, इसका उन्होंने निर्देश नहीं किया। यह सन्दर्भ, 'तत्त्वसमास' की सर्वोपकारिणी टीकामें उपलब्ध है, जो चौखम्बा संस्कृत सीरीज् बनारस से 'सांख्यसंग्रह' नाम के दो भागों में तत्त्वसमास सूत्रों की अन्य अनेक टीकाओं के साथ प्रकाशित होचुकी है। उसके पृष्ठ ९३ और ९४ में यह पाठ मुद्रित है। तैलंग महोदय ने अपना उद्धृत सन्दर्भ कहाँ से लिया, इसका पता नहीं, परन्तु उनके सन्दर्भ में तथा चौखम्बा संस्कृत सीरीज् के छपे सन्दर्भ में अन्तर है, और उससे वह परिणाम नहीं निकाला जासकता, जो तैलंग महोदय ने निकाला है।

इस सन्दर्भ के आधार पर आपाततः यह अवश्य कहा जासकता है, कि तत्त्व-समास के बनाने वाले ब्रह्मसुत कपिल, और षडध्यायी के बनाने वाले अग्नि के अवतार कपिल हैं। परन्तु इस सन्दर्भ में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) इसके अन्तिम वाक्य से स्पष्ट प्रतीत होरहा है, कि इसके लेखक ने यह बात केवल भारतीय जनश्रुति के आधार पर लिखी है। उन्होंने इस विषय में कोई ऐसे प्रमाण उपस्थित नहीं किये, जिनसे यह सिद्ध किया जासके, कि वस्तुतः सांख्य के रचयिता कपिल दो हैं।

(२) हमारा यह सन्देह, प्रस्तुत सन्दर्भ के एक और वाक्य से अधिक दृढ़ हो जाता है। वाक्य है—

तत एतैः समस्ततत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां सूचनं भवति।

इन बाईस सूत्रों के द्वारा सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के अर्थों–समस्त तत्त्वों–की सूचना हो जाती है। ये बाईस सूत्र केवल सांख्य विषय की सूची या तालिकामात्र[1] हैं। षष्टितन्त्र में जिन समस्त तत्त्वों या अर्थों का प्रतिपादन कियागया है उनकी सूचनामात्र इन बाईस सूत्रों से होती है। 'सूचनं' यह पद स्पष्ट कर देता है, कि यह षष्टितन्त्र की केवल सूची है। इसलिये स्वभावतः यही बात युक्तिसंगत प्रतीत होती है, कि जिस आचार्य ने ये बाईस सूत्र बनाये, उसीने समस्त तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाला कोई षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ बनाया। यदि षष्टितन्त्र किसी दूसरे का बनाया हुआ होता, तो उसका लेखक अपने षष्टितन्त्र ग्रन्थ में यह स्वीकार करता, कि उसने अमुक आचार्य की सूचीमात्र से अपने ग्रन्थ की रचना की। परन्तु ऐसा लेख षष्टितन्त्र ग्रन्थ में, तथा अन्यत्र भी कहीं नहीं मिलता। वह षष्टितन्त्र कौनसा ग्रन्थ है, इसका निर्णय अगले प्रकरणों में किया गया है।

सन्दर्भ का अर्थ है—अनादि क्लेश कर्म वासनाओं के समुद्र में निमग्न, अनाथ, दीन-हीन जीवों के उद्धार की इच्छा से, परम कृपालु स्वतः सिद्ध-ज्ञानवान् ब्रह्मपुत्र महर्षि कपिल ने बाईस सूत्रों का उपदेश किया। इसमें तत्त्वों की सूचना है, इसीसे इन्हें सूत्र कहते हैं। इसीलिये इनके द्वारा सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के अर्थ–समस्त तत्त्व–सूचित होजाते हैं। इसीलिये यह समस्त सांख्यशास्त्र का मूल है। शास्त्रान्तर भी इन्हीं बाईस सूत्रों के विस्तार रूप हैं। सूत्रषडध्यायी तो अग्नि के अवतार भगवान् कपिल ने बनाई है, और यह द्वाविंशतिसूत्री उनकी भी बीजभूत, ब्रह्मा के पुत्र महर्षि भगवान् कपिल की बनाई है। यह बात बूढ़े लोग कहते चले आते हैं।

१. बाबू हीरेन्द्रनाथ दत्त एम० ए०, बी० एल०, वेदान्तरत्न ने इस बात को स्वीकार किया है। देखिये, उनका ग्रन्थ 'गीता में ईश्वरवाद' हिन्दी अनुवाद, इण्डिन प्रेस प्रयाग से १६१६ ईसवी सन् में प्रकाशित। सातवाँ अध्याय पृष्ठ ६२, ६३।

तैलंग का उद्धृत पाठ संदिग्ध है—

(३) अन्तिम बात इस सन्दर्भ के विषय में ध्यान देने योग्य यह है, कि श्रीयुत तैलंग महोदय ने जहाँ कहीं से यह पाठ उद्धृत किया है, वहाँ के मूल पाठ में कुछ और पाठ होना चाहिये; क्योंकि मुद्रित सांख्यसंग्रह में मूलपाठ इसप्रकार है—

अथात्रानादि-क्लेश-कर्म-वासनासमुद्रनिपतितान् अनाथदीनान् उद्दिधीर्षुः परमकृपालुः स्वतःसिद्धज्ञानो महर्षिर्भगवान् कपिलो द्वाविंशतिसूत्राण्युपादिक्षत्। सूचनात् सूत्रमिति हि व्युत्पत्तिः। तत एतैः समस्ततत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां च सूचनं भवति। इतश्चेदं सकलसांख्यतीर्थमूलभूतं तीर्थान्तराणि चैतत्प्रपञ्चभूतान्येव। सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतार-महर्षिभगवत्कपिलप्रणीता, इयं तु द्वाविंशतिसूत्री, तस्या अपि बीजभूता नारायणावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धाः।

इस सन्दर्भ से, दो स्थलों पर श्रीयुत तैलंग महोदय के दिये हुए सन्दर्भ में परिवर्तन है। एक तो पहले 'महर्षिर्भगवान् कपिलः' के आगे 'ब्रह्मसुतः' पद अधिक है। दूसरे अन्तिम पंक्तियों में 'नारायणावतार' के स्थान पर 'ब्रह्मसुत' है। इस परिवर्तित मूलपाठ के आधार पर यह सिद्ध करने का यत्न कियागया है, कि द्वाविंशतिसूत्री का रचयिता, ब्रह्मा का पुत्र कपिल है। पर इससे यह सिद्ध किया नहीं जासकता; क्योंकि उपर्युक्त सन्दर्भ से स्पष्ट है—तत्त्वसमास या द्वाविंशतिसूत्री और षष्टितन्त्र का रचयिता, विष्णु का अवतार कपिल है। और सांख्यषडध्यायी का रचयिता, अग्नि का अवतार कपिल।

एशियाटिक सोसायटी बंगाल के सरकारी संग्रह में कपिल सूत्र-वृत्ति का जो हस्तलिखित ग्रन्थ, संख्या ९५९१ पर सुरक्षित है; उसमें भी प्रस्तुत सन्दर्भ के बीच 'ब्रह्मसुत' पद नहीं है। वहाँ का पाठ इसप्रकार है—

......................महर्षिर्भगवान् कपिलो द्वाविंशतिसूत्राण्युपालिखत्। सूचनात् सूत्रमिति हि व्युत्पत्तिः। ततश्च तैस्तत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां ....सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारभगवत्कपिलप्रणीता, इयं तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणमहर्षिभगवत्प्रणीतेतिवृद्धाः[1]।

इसलिये उक्त सन्दर्भ का जो पाठ तैलंग महोदय ने दिया है, वह अवश्य संदिग्ध है। उसमें 'ब्रह्मसुत' पद अधिक मिला दिया गया प्रतीत होता है।

---

१. यह पाठ हमने JBORS [जर्नल आफ बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसायटी] Vol. 9. 1923 A.D., PP. 151-162 पर प्रकाशित, म० म० हरप्रसाद शास्त्री के एक लेख के आधार पर उद्धृत किया है। प्रसंग के लिये आवश्यक पाठ को ही यहाँ उद्धृत किया है, शेष पाठ बीच में छोड़ दिया है, जो उभयत्र समान है।

ब्रह्मसुत कपिल—

ब्रह्मा का पुत्र कपिलदेव आदि कपिल है, और वही सांख्यशास्त्र का आदि प्रवर्त्तक है; इसका भी एक मूल मिलता है। सांख्यकारिका के भाष्यकार आचार्य गौडपाद ने पहली कारिका के उपोद्घात में लिखा है—

इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम। तद्यथा—

सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।
आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पंचशिख तथा।
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः॥

ये ही पद्य श्रीयुत तैलंग महोदय ने पुराण के नाम से उद्धृत किये हैं। पर उनमें थोड़ा-सा भेद है, जो इसप्रकार है—

सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।
कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पंचशिखस्तथा।
सप्तैते मानसाः पुत्रा ब्रह्मणः परमेष्ठिनः॥

आचार्य गौडपाद ने इन पद्यों को पुराण से उद्धृत किया प्रतीत होता है। इन श्लोकों के आधार पर केवल इतनी बात कही जासकती है, कि कपिल ब्रह्मा का मानसपुत्र है। मानसपुत्र कहने से यह बात प्रकट होजाती है, कि कपिल के वास्तविक माता-पिता कोई दूसरे थे।

संभवतः ब्रह्मा का मानसपुत्र कपिल को इसलिये बताया गया हो, कि उसमें ब्रह्मा के समान अपूर्व वैदुष्य के अद्भुत गुण थे। पुराणों में इसका वर्णन आता है कि इसके जन्म समय में ब्रह्मा ने स्वयं उपस्थित होकर इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ बतलाया था। यह संभव है, कि इसने ब्रह्मा से ज्ञान प्राप्त किया हो, अथवा शास्त्र का अध्ययन किया हो। कपिल की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत में इसप्रकार है—

श्रीमद्भागवत में विष्णु अवतार कपिल—

सबसे प्रथम तृतीय स्कन्ध के २१वें अध्याय के प्रारम्भ में ही विदुर ने मैत्रेय से प्रश्न किया है, कि स्वायम्भुव मनु का वंश बड़ा प्रतिष्ठित है। उसकी एक पुत्री देवहूति, प्रजापति कर्दम की पत्नी है। उनकी संतान के सम्बन्ध में मैं सुनना चाहता हूँ; कृपया कहिये।[1]

विदुर के प्रश्न का उत्तर मैत्रेय ने इसप्रकार दिया है—ब्रह्मा ने भगवान् कर्दम को कहा, कि प्रजाओं की सृष्टि करो। तब कर्दम ने सरस्वती तट पर चिरकाल तक घोर तपस्या कर, भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया। विष्णु ने

---

१. श्रीमद्भागवत, ३।२१।१—४।

प्रसन्न होकर सतयुग में शरीर धारण करके कर्दम को साक्षात् दर्शन दिया। संक्षिप्त संवाद के अनन्तर भगवान् विष्णु ने कहा, तुम्हारे आन्तर भाव को समझकर मैंने पहले ही उसकी आयोजना कर दी है, जिसके लिये आत्मसंयम कर तुमने मेरी उपासना की। आप जैसे व्यक्तियों के द्वारा की हुई उपासना कभी मिथ्या नहीं होसकती। देखो, प्रजापति का पुत्र सम्राट् मनु, जो ब्रह्मावर्त्त में रहता हुआ, सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करता है, अपनी महारानी के साथ तुम्हें देखने की इच्छा से परसों यहाँ आयेगा, और अपनी शीलसंपन्न पुत्री को तुम्हें देगा। मैं अपनी अंशकला के द्वारा, तुम्हारे वीर्य से तुम्हारे उस क्षेत्र देवहूति में उत्पन्न होकर तत्त्वसंहिता का निर्माण करूंगा।[1]

इतना कह, भगवान् के चले जाने पर निर्दिष्ट समय में सम्राट् मनु अपनी रानी और कन्या के सहित कर्दम ऋषि के आश्रम में आया; और कन्या देवहूति का कर्दम के साथ विवाह कर, रानी के सहित अपने नगर को वापस चला गया।[2]

अनन्तर कर्दम से देवहूति में कई कन्यायें उत्पन्न हुईं। संसारधर्म से कर्दम को कुछ विरक्त हुआ जान, देवहूति बहुत खिन्न हुई। उसकी खिन्नावस्था को जान कर महर्षि कर्दम ने कहा, कि बहुत जल्दी ही तुम्हारे गर्भ में साक्षात् भगवान् प्राप्त होने वाले हैं, वह तुम्हारे हृदय के संपूर्ण संशयों का उच्छेद करेंगे। देवहूति भी प्रजापति [कर्दम] के इस संदेश को स्वीकार कर, श्रद्धापूर्वक भगवान् का भजन करने लगी। समय बीतने पर भगवान् विष्णु कर्दम के वीर्य को प्राप्त होकर, काष्ठ में अग्नि के समान, देवहूति में उत्पन्न हुए। तब सरस्वती के किनारे कर्दम ऋषि के आश्रम में मरीचि आदि ऋषियों के साथ ब्रह्मा उपस्थित हुए। और बड़ी प्रसन्नता से ऋषि कर्दम को कहने लगे—मैं जानता हूँ, आदि पुरुष भगवान् विष्णु ने अपनी माया से प्राणियों के कल्याण के लिये कपिल देह को धारण किया है। पुनः देवहूति को लक्ष्य कर कहा—हे मनुपुत्रि! तेरे गर्भ में साक्षात् विष्णु का प्रवेश हुआ है। यह तेरी अविद्याजन्य संशयग्रन्थियों को दूर कर पृथिवी पर विचरण करेगा। यह सिद्धसमुदाय में सबसे श्रेष्ठ, सांख्याचार्यों में सुप्रतिष्ठित, संसार में कपिल नाम से प्रसिद्ध होगा।[3]

इसप्रकार देवहूति और कर्दम को आश्वासन देकर ब्रह्मा अपने स्थान को चले गये, और कर्दम ने, कपिल रूप में अवतीर्ण हुए भगवान् को एकान्त में प्रणाम कर, उनकी अनेक प्रकार से स्तुति की। तदनन्तर भगवान् कपिल ने कहा—

---

१. श्रीमद्भागवत, ३।२१।५—८, २३—२७॥
२. श्रीमद्भागवत,३।२१।३३, ३६, ३७॥ ३।२२।२२, २६॥
३. श्रीमद्भागवत, ३। २३।४८—५०, ५७॥ ३। २४। २, ४–६, ९, ११, १६, १८, १९॥

वैदिक लौकिक कार्य्यों में लोगों को सच्चाई का सबूत देने के लिये ही मैंने यह जन्म लिया है। क्योंकि मैं प्रथम प्रतिज्ञा कर चुका था, कि आपके घर में पुत्र रूप से उत्पन्न होऊँगा। इस संसार में मेरा यह जन्म मुमुक्षुओं को सन्मार्ग दिखाने और आत्मज्ञान में उपयोगी तत्त्वों के प्रसंख्यान के लिये हुआ है, ऐसा जानो। पुनः २५वें अध्याय के प्रारम्भ में ही शौनक ने यह कहा है, कि स्वयं भगवान् मनुष्यों को आत्मा का साक्षात् ज्ञान कराने के लिये मायावश, तत्त्वों की विवेचना करने वाला कपिल हुआ है।[1]

सांख्यप्रणेता एक ही कपिल—

श्रीमद्भागवत के इस विस्तृत आलंकारिक वर्णन से इतना ऐतिहासिक तथ्य स्पष्ट होजाता है, कि प्रजापति कर्दम और मनुपुत्री[2] देवहूति का पुत्र कपिल विष्णु का अवतार बताया गया और वही सांख्य का आदि प्रवर्त्तक है। इस बात का उल्लेख, श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के[3] अध्याय २१, श्लो० ३२, अ० २४, श्लो०१९, ३६ और अ० २५, श्लो० १ में स्पष्ट रूप से कियागया है। अन्तिम श्लोक की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने स्पष्ट लिखा है—'तत्त्वानां संख्याता गणकः[4] सांख्यप्रवर्त्तक इत्यर्थः।' इससे यह निश्चित होजाता है, कि यही कपिल सांख्य का प्रवर्त्तक अथवा प्रणेता है।

इसको ब्रह्मा का मानसपुत्र कदाचित् इसीलिये बताया गया हो, कि इसके जन्म के समय उपस्थित होकर इसके सम्बन्ध में ब्रह्मा ने कई सूचनाएँ दी हैं। अथवा ब्रह्मा के समान यह भी स्वतःसिद्ध ज्ञानी था। इसके अतिरिक्त, कपिल

---

१. श्रीमद्भागवत, ३। २४। २०—३६।। ३। २५। १।।

२. पद्मपुराण [उत्तरखण्ड, ११२। २–३] में देवहूति के पिता का नाम 'तृणबिन्दु' बताया है। यह संभव है, कि इस स्वायम्भुव मनुका वैयक्तिक नाम 'तृणविन्दु' रहा हो, 'मनु' नाम तो वंशपरम्परागत कहा जासकता है।

३. सदाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने। तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्व-संहिताम्॥ अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः। लोके कपिल इत्या–ख्यां गन्ता ते कीर्त्तिवर्धनः॥ एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्। प्रसंख्यानाय तत्त्वानां संमतायात्मदर्शने॥ कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवाना-त्ममायया। जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्॥

४. मध्यकाल के कतिपय व्याख्याकारों ने 'सांख्य' पद में 'संख्या' शब्द को गणनापरक समझकर इस प्रकार के व्याख्यान किये हैं। वस्तुतः इसका अर्थ —'तत्त्वज्ञान' है। इसका विस्तृत विवेचन हमने 'सांख्यसिद्धान्त' नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया है।

का पिता कर्दम प्रजापति, ब्रह्मा का पुत्र था। यह बात श्रीमद्भागवत के इस प्रकरण से भी स्पष्ट होजाती है। इसलिये कदाचित् किसी स्थल में इसको ब्रह्मा का मानस पुत्र लिख दिया गया हो, और उसी आधार पर गौडपाद ने अपने ग्रन्थ में सांख्यप्रवर्त्तक कपिल को ब्रह्मसुत मान लिया हो।

विष्णु और ब्रह्मा की अभेद कल्पना में भी यह बात कही जासकती है, कि कपिल को विष्णु का अवतार होने पर, ब्रह्मा का मानसपुत्र लिख दिया गया हो। मानसपुत्र कहने से यह स्पष्ट है, कि इसके अन्य माता-पिता अवश्य हैं। क्योंकि इसप्रकार केवल मनसे अथवा मनुष्य के संकल्प से किसी व्यक्ति का जन्म होना, युक्ति-विरुद्ध और सृष्टिक्रम के विरुद्ध है। जिनके सम्बन्ध में हमें विशेष ज्ञान नहीं होता, वहीं इसप्रकार की कल्पनाएँ करलीजाती हैं। ऐसी अवस्था में सांख्यप्रवर्त्तक कपिल को ब्रह्मा का ऐसा मानसपुत्र बताना, निराधार तथा सृष्टिक्रम-विरुद्ध है। श्रीमद्भागवत के इस प्रकरण से यह भी स्पष्ट होजाता है, कि यह कपिल वेदान्तादि का उपदेशकर्त्ता नहीं, किन्तु मूल सांख्यशास्त्र का प्रणेता है। इसलिये श्रीयुत तैलंग महोदय ने, जो इसको केवल वेदान्त आदिका उपदेशकर्त्ता बताया है, वह श्रीमद्भागवत के लेख के विरुद्ध है।

इतने वर्णन से यह निश्चित परिणाम निकलता है, कि देवहूति और कर्दम का पुत्र कपिल सांख्यशास्त्र का आदि प्रवर्त्तक है। वह अत्यन्त प्रतिभाशाली और बाल्यकाल से ही तेजस्वी व्यक्ति था। उसकी अद्वितीय प्रतिभा और ज्ञानगाम्भीर्य का लोहा, तात्कालिक बड़े-बड़े विद्वान् और ज्ञानी पुरुष भी मानते थे। भागवत के उक्त वर्णन में कपिल सम्बन्धी ऐतिहासिक अंश इतना ही कहा जासकता है। शेष विष्णु के अवतार की कल्पना अथवा ब्रह्मा का मानसपुत्र होने की कल्पना आदि सब ग्रन्थकारों का, केवल एक अर्थ को वर्णन करने का प्रकारमात्र है। इसी कपिल के साथ सांख्य का सम्बन्ध श्रीमद्भागवत के २५–३३ अध्यायों में स्पष्ट वर्णित है। इन अध्यायों में कपिल के द्वारा अपनी माता देवहूति को तत्त्वज्ञान के उपदेश का वर्णन है। इस प्रकरण में पुरुष और प्रकृति का उल्लेख सर्वथा सांख्यशास्त्र के अनुसार किया गया है। उपसंहार भी सांख्यशास्त्र का नाम लेकर किया है।

वही कपिल अग्नि अवतार है—

तत्त्वसमास सूत्रों की सर्वोपकारिणी टीका के उस उद्धरण में, जिसका वर्णन ऊपर आचुका है, स्पष्ट रूप से एक अग्नि के अवतार कपिल का उल्लेख है, जिसको इस प्रसिद्ध सूत्रषडध्यायी का रचयिता बताया गया है। यह अग्नि का अवतार कपिल कौन है? इसका विवेचन करना आवश्यक है। महाभारत में

महर्षि कपिल का अनेक स्थलों पर वर्णन आता है। वनपर्व के १०६ और १०७[1] अध्याय में सगर के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन करते हुए कपिल का उल्लेख किया गया है। सगर के साठ हज़ार पुत्र अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिये उसके साथ जाते हैं। घोड़ा समुद्रतट पर जाकर दृष्टि से अन्तर्हित होजाता है। उसे अपहृत जान, सगरपुत्र वापस आजाते हैं, और पिता को सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाते हैं। पिता के पुनः आज्ञा देने पर वे पृथ्वी की छानबीन करते हुए ऐसे प्रदेश तक पहुँच जाते हैं, जहाँ घोड़े को विचरता हुआ देखते हैं, उसी स्थान पर तेजोराशि महात्मा कपिल तपस्या कर रहा था। अश्व को देखकर सगर पुत्रों को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। वे दुर्भाग्यवश महात्मा कपिल का अनादर करके, अश्व को अपने अधीन करने के लिये, क्रोधपूर्वक कपिल की ओर दौड़े। उनकी इस उद्दण्डता पर मुनि-श्रेष्ठ कपिल को क्रोध हो आया, मुनियों में मूर्द्धन्य जिस कपिल को वासुदेव कहा गया है, उसने अपने नेत्र को विकृत करके सगर पुत्रों पर एक तेज छोड़ा। इससे महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ कपिल ने उन मन्दबुद्धि साठ हजार सगर पुत्रों को एक साथ भस्म कर दिया।[2]

इस वर्णन में कपिल को 'वासुदेव' कहे जाने का उल्लेख है। जिससे यह स्पष्ट होजाता है, कि इसी कपिल को विष्णु का अवतार बताया गया है। यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है, कि कपिल ने क्रुद्ध होकर सगर पुत्रों को सहसा भस्म कर दिया। क्रोध अग्नि का रूप है। संभवतः इस घटना के आधार पर कपिल को अग्नि का अवतार कहा गया हो।

कपिल सम्बन्धी उक्त घटना का वर्णन वाल्मीकि रामायण में विस्तारपूर्वक आया है। वहां लिखा है—उन अत्यन्त बलवान् सगर के पुत्रों ने वहाँ सनातन वासुदेव कपिल को देखा। और उसके समीप घोड़े को चरते हुए पाया। घोड़े को देखकर तो वे बहुत प्रसन्न हुए, पर कपिल के पीछे पड़ गये, और कहने लगे कि तूने हमारा घोड़ा चुरालिया है। इसप्रकार मन्दमति सगर पुत्रों के वचन सुनकर क्रोधाविष्ट हुए कपिल ने एक हुंकारमात्र से उन सबको भस्म कर दिया।[3] इस वर्णन में कपिल के साथ 'सनातन' और 'वासुदेव' दो पद रक्खे गये हैं, जो इस बात को स्पष्ट करते हैं, कि यह कपिल विष्णु का अवतार है, जिसको श्रीमद्भागवत में नामोल्लेखपूर्वक सांख्यशास्त्र का आदिप्रवर्त्तक कहा है।

---

१. यह निर्देश महाभारत के, टी० आर० व्यासाचार्य कृष्णाचार्य के कुम्भघोणम् संस्करण के आधार पर कियागया है।
२. महाभारत, वनपर्व, १०६। ११—१४, २८-३०॥ १०७। १-४॥
३. वाल्मीकि रामायण, निर्णयसागर प्रेस बम्बई का सटीक संस्करण, बा० का० सर्ग ४० श्लो० २५-३०॥

उक्त तीनों रूपों में वर्णित कपिल, एक है—

महाभारत में एक स्थल पर अग्नि के[1] अवतार कपिल को सांख्य का प्रवर्त्तक कहा गया है। वहाँ लिखा है—जो अग्निदेव शुक्ल और कृष्ण शरीर को धारण करता है, पवित्र है, तथा कभी क्रोध के वशीभूत हो बिगड़ भी जाता है, और जिसको सदा यतिजन, परमर्षि कपिल कहते हैं, वही अग्निरूप कपिल सांख्ययोग[2] का प्रवर्त्तक है।[3]

महाभारत के इस लेख से स्पष्ट होजाता है–कपिल परमर्षि है और पवित्र है, पर कभी क्रोध के वशीभूत होकर उत्पात भी मचा देता है। यह उल्लेख सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म कर देने की घटना का स्मरण दिलाता है। कपिल ने सगरपुत्रों को क्रोधवश भस्म किया, इसी विचार से यहाँ कपिल को अग्नि का रूप बताया गया है। क्रोध अग्नि ही है। आज भी हम किसी अतिक्रोधी व्यक्ति को 'आग' कह देते हैं। हमारे परिचितों में एक पण्डितजी हैं, जिनका नाम मण्डली में, इसी स्वभाव के कारण 'अग्नि शर्मा' पड़ गया। अब अन्य नगर निवासी भी उनको इसी नाम से पुकारते हैं। यह विचार महाभारत के इस प्रकरण से अत्यन्त स्पष्ट है।

प्रारम्भ में अग्नियों के वंश का निरूपण करते हुए लिखा है—हे महाराज! (मार्कण्डेय, युधिष्ठिर को कह रहे हैं) भानु की भार्या और चन्द्रमा की पुत्री बृहद्भासा ने, एक कन्या के सहित छह पुत्रों को उत्पन्न किया। उस अंगिरा के पुत्र भानु की प्रजाविधि को सुनो—दुर्बल प्राणियों को जो अग्नि प्राण प्रदान करता है, उस अग्नि को 'बलद' कहा गया है। बलद (बल का देने वाला) भानु से उत्पन्न हुआ प्रथम पुत्र है। जो अग्नि प्रशान्त प्राणियों में दारुण मन्यु अर्थात् क्रोध होता है, उसको 'मन्युमान्' अग्नि कहाजाता है। यह भानु से उत्पन्न हुआ द्वितीय पुत्र है।[4]

महाभारत के इस लेख से स्पष्ट है, क्रोध को अग्नि का स्वरूप समझाजाता है। इसीलिये क्रोध के वशीभूत हुए कपिल को अग्निरूप कहागया है। इस प्रकरण से यह सिद्ध नहीं होता, कि विष्णु के अवतार कपिल से अग्नि का

---

१. वायुपुराण [पूना संस्करण] ५।४५ में भी कपिल को आदित्य अथवा अग्नि का रूप लिखा है, 'आदित्यसंज्ञः कपिलस्त्वग्रजोऽग्निरिति स्मृतः।

२. योग, सांख्य के एक अंश का पूरक होने से, उससे भिन्न नहीं; इसी आशय से यहाँ योग का निर्देश है। प्रकृति–पुरुष का भेद-ज्ञान, सांख्य का विवेच्य विषय है। उसीके साधनभूत समाधि का विवेचन, योग करता है। इसका अन्य पाठ 'सांख्यशास्त्रप्रवर्त्तकः' भी है।

३. महाभारत, वनपर्व, अ० २२३, श्लो० २०, २१॥

४. महाभारत, वन पर्व अ० २२३। श्लो० ९–११॥

अवतार कपिल भिन्न है। प्रत्युत यही स्पष्ट होता है, कि जिस कपिल को विष्णु का अवतार कहाजाता है, जो देवहूति और कर्दम का पुत्र है, उसी कपिल को साठ हजार[1] सगर-पुत्रों के भस्म कर देने के कारण अग्निरूप वर्णन किया गया है।

सगरपुत्रों को कपिलद्वारा भस्म किये जाने अथवा नष्ट किये जाने की घटना का उल्लेख, रामायण महाभारत के अतिरिक्त अनेक पुराणों में भी उपलब्ध होता है। इसके लिये विष्णुपुराण (४।४।१०-१३) द्रष्टव्य है। वहाँ कपिल को 'ऋषि' और 'भगवान्' पदों से याद कियागया है। वायुपुराण (८८।१४५-१४८) में कपिल को विष्णु का रूप कहा है। पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड (८।१४७) में कपिल को साक्षात् विष्णु के रूप में निर्देश किया है। स्कन्दपुराण, रेवाखण्ड, (१७५। २-७) में भी कपिल को साक्षात् विष्णु का रूप बताया है। विष्णुपुराण के (२।१३।४८, ४६ तथा २।१४।७, ६) श्लोकों में कपिल को साक्षात् विष्णु का अंश कहा है।

कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै द्विज।
विष्णोरंशो जगन्मोहनाशायोर्वीमुपागतः॥

कपिल को विष्णु का अवतार तो अनेक पुराणों में बताया गया है; परन्तु गरुडपुराण के प्रारम्भ में एक श्लोक इसप्रकार है—

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचाऽऽसुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥

यहाँ कपिल को विष्णु का पंचम अवतार कहकर उसीको सांख्य का प्रवक्ता कहा है। मत्स्यपुराण (३।२९॥ १७०।४, १०) में भी इसीप्रकार का उल्लेख पाया जाता है।

---

१. यह सगर के औरस पुत्रों का निर्देश नहीं समझना चाहिये। उसका अंशुमान् नामक एक ही औरस पुत्र था, जिसको आचरण-भ्रष्ट होने के कारण पिताने घर से निकाल दिया था। यह साठ हजार छटे हुए नौजवानों की एक सेना थी। इसको अपनी प्रजा में से छांट कर सगर ने तैयार किया था, और इसको अपने पुत्र के समान समझता था। इनके इसप्रकार नष्ट होजाने पर सगर ने अपने औरस पुत्र को फिर घर वापस बुलाया, जिसका आचरण उस समय तक सत्संग में रहने के कारण सुधर चुका था। उसे यज्ञिय-अश्व लाने के लिये भेजा। किसी एक व्यक्ति के साठ हजार औरस पुत्रों का, अनेक क्षेत्रों में भी, होना असंभव है। यह केवल ग्रन्थकारों के अर्थ-प्रकाशन का एक विशेष प्रकार है। उसके वास्तविक स्वरूप को समझने का यत्न करना विद्वानों का कर्त्तव्य है। यह निर्देश प्रसंगवश यहाँ कर दिया है।

एक बात और है। तत्त्वसमास की सर्वोपकारिणी टीका में अग्नि के अवतार कपिल को सांख्यषडध्यायी का रचयिता माना है। यदि उस टीका के अनुसार यह बात स्वीकार कर ली जाय कि अग्नि अवतार कपिल सांख्यषडध्यायी का रचयिता है, और तत्वसमास का रचयिता विष्णु का अवतार कपिल है, तथा तत्त्वसमास ही षडध्यायी का मूल है, तब महाभारत के साथ इस टीका का विरोध होजाता है। क्योंकि टीकाकार के मत में सांख्यषडध्यायी, सांख्य का मूल ग्रन्थ नहीं, किन्तु तत्त्वसमास मूलग्रन्थ है। ऐसी अवस्था में तत्त्वसमास का रचयिता सांख्य का प्रवर्त्तक होसकता है, षडध्यायी बनाने वाला नहीं। परन्तु टीकाकार जिसको षडध्यायी का रचयिता मानता है, उसीको महाभारत में सांख्य का प्रवर्त्तक कहा है।

वस्तुतः टीकाकार को विष्णु और अग्नि के अवतार कपिल के समझने में भ्रम हुआ प्रतीत होता है। वह इसका निर्णय नहीं कर सका, कि उक्त स्थलों में वस्तुतः एक ही कपिल को दो भिन्न गुणों के आधार पर पृथक् रूप में वर्णन कियागया है। इन सब बातों पर विचार करने से यह स्थिर होजाता है, कि तथाकथित विष्णु-अवतार कपिल सांख्य का प्रवर्त्तक है। उसीको गुणविशेष के कारण अग्नि कहागया है। इस बात को मानकर जब सर्वोपकारिणी टीका को हम देखते हैं, तो टीकाकार का भी यही मत प्रतीत होता है, कि सांख्यषडध्यायी सांख्य का आदि मौलिक ग्रन्थ है। इसीका प्रथम उपदेश कपिल ने किया। तत्त्व-समास तो उसकी एक विषय-सूची मात्र है।

महाभारत में कपिल का एक अन्य स्थल पर वर्णन इसप्रकार है—

विदुर्यं कपिलं देवं येनार्त्ताः सगरात्मजाः। [उद्यो० १०६।१८]

इस प्रकरण में दक्षिण दिशा के गुणों का वर्णन है, इसी प्रसंग में उक्त उल्लेख है। इसमें कपिल के साथ 'देव' पद का प्रयोग उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करता है।

इन सब उल्लेखों का परस्पर संगमन करने से यह निश्चित सिद्धान्त प्रकट होजाता है, कि सांख्यशास्त्र का प्रवर्त्तक कपिल, देवंहूति और कर्दम का पुत्र था। उसीका अपने लोकातिशायी गुणों के कारण तथा तपःप्रभाव से कालान्तर में कहीं ब्रह्मा के पुत्र के रूप में, विष्णु या अग्नि के अवतार के रूप में वर्णन कियागया है। वस्तुतः सांख्य का प्रवर्त्तक एक ही कपिल है। इन सब उपर्युक्त पौराणिक उल्लेखों में, ऐतिहासिक अंश इतना ही समझना चाहिये।

कपिल के सम्बन्ध में विज्ञानभिक्षु के विचार—

विज्ञानभिक्षु ने इस विषय में अपना विचार षडध्यायीभाष्य के अन्त में इसप्रकार लिखा है—

तदिदं सांख्यशास्त्रं कपिलमूर्तिर्भगवान् विष्णुरखिललोकहिताय प्रकाशितवान्।

यत् तत्र वेदान्तिब्रुवः कश्चिदाह, सांख्यप्रणेता कपिलो न विष्णुः, किन्त्वग्न्यवतारः कपिलान्तरम् । 'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्रप्रवर्त्तकः' इति स्मृतेरिति । तल्लोकव्यामोहनमात्रम् ।

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात् ।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शनम् ॥

इत्यादिस्मृतिषु विष्णववतारस्य देवहूतिपुत्रस्यैव सांख्योपदेष्टृत्वावगमात् । कपिलद्वयकल्पनागौरवाच्च । तत्र चाग्निशब्दोऽग्न्याख्यशक्त्यावेशादेव प्रयुक्तः । यथा-'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' इति श्रीकृष्णवाक्ये कालशक्त्यावेशादेव कालशब्दः । अन्यथा विश्वरूपप्रदर्शककृष्णस्यापि विष्णववतारकृष्णाद् भेदापत्तेरिति दिक् ।

इस सांख्यशास्त्र को, कपिल रूप में प्रकट भगवान् विष्णु ने सम्पूर्ण संसार का कल्याण करने के लिये प्रकाशित किया है। इस विषय में जो कोई वेदान्ती यह कहता है, कि सांख्य का बनाने वाला कपिल, विष्णु नहीं है, किन्तु अग्नि का अवतार दूसरा कपिल है, और उसमें प्रमाण उपस्थित करता है—'अग्निः[1] स कपिलो नाम सांख्यशास्त्रप्रवर्त्तकः' इत्यादि। उस वेदान्ती का यह सब कथन, लोगों को भ्रम में डालने वाला है।

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात् ।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शनम्[2] ॥

इत्यादि स्मृतियों में विष्णु के अवतार, देवहूति-कर्दम के पुत्र कपिल को सांख्य का उपदेष्टा स्वीकार कियागया है। विष्णु और अग्नि के पृथक् अवताररूप दो कपिलों की कल्पना करना दोषपूर्ण तथा व्यर्थ है। वहाँ अग्नि शब्द का प्रयोग, आग्नेय शक्ति के सम्बन्ध से कियागया है। जैसे 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः[3]' इस श्रीकृष्ण वाक्य में कालशक्ति के सम्बन्ध से कृष्ण के लिये 'काल' पद का प्रयोग किया है। अन्यथा विश्वरूप को दिखाने वाले कृष्ण का, विष्णु के अवतार कृष्ण से भेद होना चाहिये।

विज्ञानभिक्षु के इस लेख से स्पष्ट होजाता है—तथाकथित विष्णु का अवतार कपिल, जो देवहूति-कर्दम का पुत्र है, सांख्यशास्त्र का प्रवर्त्तक है। अग्नि का अवतार अथवा अग्नि का स्वरूप इसी कपिल को बताया गया है। इसके कारणों का निर्देश प्रथम कियाजाचुका है।

इस सम्बन्ध में यह बात विशेष ध्यान देने की है, कि उन दोनों प्रसंगों में, जहाँ कपिल को विष्णु अथवा अग्नि का अवतार वर्णन किया गया है, एक

---

१. महाभारत, वनपर्व, अ० २२३, श्लो० २१ ॥
२. श्रीमद्भागवत, तृतीयस्कन्ध, अ० २४। श्लो० ३६ ॥
३. भगवद्गीता, ११ । ३२ ॥

बात समान रूप में दृष्टिगोचर होती है, वह है—सांख्य की प्रवर्त्तकता। विष्णु-अवतार कपिल को सांख्यप्रवर्त्तक कहा है, और अग्नि-अवतार कपिल को भी। ऐसी स्थिति में यदि इन दोनों को पृथक् व्यक्ति मानाजाय, तो दोनों को सांख्य का प्रवर्त्तक कैसे कहाजासकता है ? किसी शास्त्र का प्रवर्त्तक एक ही व्यक्ति हो-सकता है। दूसरा तो उस शास्त्र को मानने वाला उसका अनुगामी होगा, प्रवर्त्तक नहीं। यदि वह भिन्न विचार रखता है, तो किसी भिन्न शास्त्र का प्रवर्त्तक होगा, उसी शास्त्र का नहीं। इसलिये दोनों प्रकार के वर्णनों में समानरूप से कपिल को सांख्यशास्त्र का प्रवर्त्तक कहना, इस बात को स्पष्टरूप में पुष्ट करता है, कि उक्त दोनों प्रसंगों में एक ही कपिल का उल्लेख है।

कपिल के सम्बन्ध में शंकराचार्य के विचार—

विज्ञानभिक्षु के उक्त लेख में एक बात विचारणीय है। देखना चाहिये, कि वह वेदान्ती कौन है, जिसने विष्णववतार कपिल को सांख्यप्रवर्त्तक न मानकर, अग्न्यवतार कपिल को ऐसा माना है। सम्भव है, विज्ञानभिक्षु का यह संकेत, ब्रह्मसूत्रभाष्यकार शंकराचार्य की ओर हो। शंकराचार्य ने [२।१।१] सूत्र के भाष्य में लिखा है—

या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता, न तया श्रुति-विरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्, अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्।'

जो श्रुति[1] कपिल के अतिशय ज्ञान को बताने वाली प्रस्तुत कीगई है, उसके आधार पर, वेद के विरुद्ध भी कपिल मत को अंगीकार नहीं किया जासकता। क्योंकि 'कपिल' इस शब्दमात्र की समानता होने से यह नहीं कहा जासकता, कि श्रुति में सांख्यप्रणेता कपिल का निर्देश है, वहाँ तो सगरपुत्रों को तपाने वाले वासुदेव नामक अर्थात् विष्णु के अवतार सांख्य-प्रणेता कपिल से भिन्न कपिल–कनकवर्ण हिरण्यगर्भ–का निर्देश कियागया है।

शंकराचार्य के लेख में विष्णववतार कपिल से भिन्न, अग्न्यवतार कपिल का कहीं उल्लेख नहीं। विज्ञानभिक्षु ने, किस वेदान्ती के ग्रन्थ में इसको देखा, कहा नहीं जासकता। प्रतीत यह होता है—विज्ञानभिक्षु को इस विषय में भ्रम हुआ—कि किसी वेदान्ती ने अग्न्यवतार कपिल को सांख्य-प्रणेता कहा है। वह भ्रम

---

१. २।१।१ सूत्र पर प्रथम, सांख्य की ओर से पूर्वपक्ष उठाते हुए, कपिल की प्रशंसा में श्वेताश्वतर की निम्नलिखित श्रुति का उल्लेख किया है=ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् [५।२]। यहाँ उपर्युक्त भाष्य में इसी श्रुति का अतिदेश किया गया है।

सम्भवतः शंकराचार्य की इन पंक्तियों को देखकर हुआ हो, जिनका उल्लेख अभी कियागया है।

उन पंक्तियों के अन्तिम भाग—'अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्' की व्याख्या करते हुए आनन्दगिरि आदि व्याख्याकारों को भ्रम हुआ जान पड़ता है। सम्भवतः इसीको अग्न्यवतार कपिल की कल्पना का मूल समझा गया हो। बात यह है, इस पंक्ति में 'प्रतप्तुः' और 'वासुदेवनाम्नः' पदों को पञ्चम्यन्त मानाजाय, या षष्ठ्यन्त ? यह विचारास्पद विषय है। आनन्दगिरि और गोविन्द (रत्नप्रभा व्याख्याकार) दोनों व्याख्याकारों ने इन पदों को षष्ठ्यन्त माना है, और उसका अर्थ किया है—श्रुति में किसी अन्य कपिल, सगर पुत्रों के प्रतप्ता वासुदेव नामक का उल्लेख है। इसलिये 'कपिल' इस शब्दमात्र की समानता से, श्रुति में सांख्य-प्रणेता कपिल का वर्णन है, यह मूर्खों का भ्रम है। क्योंकि वासुदेव नामक वैदिक कपिल—सगर के साठ हज़ार पुत्रों को भस्म करने वाला—सांख्य-प्रणेता अवैदिक कपिल से भिन्न है[1]।

इस व्याख्या में मूलपंक्ति का, 'अन्यस्य' पद साकांक्ष रहता है। 'कस्मादन्यस्य ?' इस आशंका को यह अर्थ पूर्ण नहीं कर पाता। इसको पूरा करने के लिये ऊपर से कुछ अध्याहार अवश्य करना पड़ेगा। वह अध्याहार 'सांख्यप्रणेतुः कपिलात्' यही हो सकता है। पर इस अध्याहार में भाष्यकार का स्वारस्य है, यह कहना नितान्त भ्रान्त है। क्योंकि ऐसा कहने पर वासुदेवांश अर्थात् विष्णवतार कपिल सांख्य-प्रणेता नहीं है, इतना आशय तो भाष्यकार का निकल आता है, परन्तु श्रीमद्भागवत और महाभारत के उपर्युक्त उल्लेखों से इसका स्पष्ट विरोध होजाता है। फिर भी भाष्य में अग्न्यवतार कपिल की कल्पना का कोई आधार नहीं है।

कदाचित् किसी विद्वान् ने महाभारत के 'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्रप्रवर्तकः' इस पद्यांश के वास्तविक अर्थ को न समझकर, उसे इस भाष्य के साथ समन्वित करके एक पृथक् अग्न्यवतार कपिल की कल्पना कर डाली हो, और सम्भवतः विज्ञानभिक्षु ने यही समझ कर अपने ग्रन्थ में उसका समाधान किया हो।

यदि भाष्य की मूल पंक्ति में प्रतप्तुः' और 'वासुदेवनाम्नः' पदों को पञ्चम्यन्त मान लेते हैं, तो न किसी पद का अध्याहार करना पड़ता है, और न

---

१. शब्दसामान्यादेव सांख्य-प्रणेता कपिलः श्रौत इति भ्रांतिरविवेकिनामित्यर्थः। वैदिको हि कपिलो वासुदेवनामा पितुरादेशादश्वमेघपशुमन्विष्य परिसरे पश्यतामिन्द्रचेष्टितमदृष्टवतां षष्टिसहस्रसंख्याजुषामात्मोपरोधिनां सगरसुतानां सहसैव भस्मीभावहेतुः सांख्यप्रणेतुरवैदिकादन्यः स्मर्यते। [ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य की आनन्दगिरि व्याख्या, २।१।१]।

भाष्यकार के लेख का श्रीमद्भागवत और महाभारत के साथ विरोध होता है। पञ्चयन्त पाठ में पंक्ति का अन्वय इस प्रकार होगा—'सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नोऽन्यस्य कपिलस्य स्मरणाच्च।' अर्थात् श्रुति में सगरपुत्रों के प्रतप्ता वासुदेव नामक कपिल से अन्य कपिल का स्मरण होने से। इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि सगरपुत्रों का प्रतप्ता विष्णववतार कपिल, भले ही सांख्य-प्रणेता रहे, परन्तु उसका वर्णन इस श्रुति में नहीं है। श्रुति में तो उससे भिन्न किसी कपिल का वर्णन है। वह वर्णन, इस श्रुति की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने स्वयं स्पष्ट किया है। वह लिखता है—

ऋषिं सर्वज्ञमित्यर्थः। कपिलं कनककपिलवर्णं प्रसूतं स्वेनैवोत्पादितं 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' इत्यस्यैव जन्मश्रवणात्। अन्यस्य चाश्रवणात्। उत्तरत्र 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति वक्ष्यमाणत्वात्। 'कपिलोऽग्रजः' इति पुराणवचनात् कपिलो हिरण्यगर्भो वा व्यपदिश्यते।

इससे स्पष्ट है—शंकराचार्य, श्रुति में पठित कपिल का अर्थ 'हिरण्यगर्भ' करता है। चाहे वह कपिल का पर्याय हो, चाहे सुवर्ण के समान कपिल वर्णवाला अर्थ करके हिरण्यगर्भ का विशेषण हो। शांकरभाष्य [ब्रह्मसूत्र २।१।१] में आई पंक्ति के 'अन्यस्य कपिलस्य' पद का यही अर्थ होसकता है। 'अन्य' पद के योग में 'प्रतप्तुः' और 'वासुदेवनाम्नः' ये दोनों पद पञ्चम्यन्त होने चाहियें[1]। ऐसा होने पर सगरपुत्रों के प्रतप्ता विष्णववतार कपिल से भिन्न हिरण्यगर्भ कपिल श्रुति में, शंकराचार्य की व्याख्यानुसार ठीक होसकता है। फिर आनन्दगिरि आदि व्याख्याकारों के द्वारा भाष्यकार के आशय के विरुद्ध उक्त पदों को षष्ठ्यन्त मानकर व्याख्यान किया जाना युक्त प्रतीत नहीं होता। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने सम्भवतः इस अस्वारस्य को भाँपकर भाष्यपंक्ति का वैसा अर्थ नहीं किया। उसने केवल इतना लिखा है, कि श्रुति में प्रतिपादित कपिल, सांख्य-प्रणेता कपिल नहीं है[2]। जब श्रुति में आये 'कपिल' पद का अर्थ 'हिरण्यगर्भ' करते हैं, तब यह ठीक ही है। क्योंकि हिरण्यगर्भ ने तो सांख्यशास्त्र बनाया नहीं।

भाष्यकार और सब टीकाकारों ने 'कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्' इस वाक्य पर बहुत बल दिया है, कि श्रुति में केवल 'कपिल' पद के एकसा आजाने से यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं कियाजासकता, कि यहाँ सांख्य-प्रणेता कपिल का वर्णन है, क्योंकि कपिल पद का अन्य अर्थ भी सम्भव है। इसप्रकार

---

१. देखिये, पाणिनिसूत्र, २।३।२९॥

२. तस्माच्छ्रुतिसामान्यमात्रेण भ्रमः सांख्यप्रणेता कपिलः श्रौत इति।
[ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, भामती टीका, २।१।१]

की वाक्यरचना में 'कपिल' पद की समानता का दिखाना उसी समय सप्रयोजन होसकता है, जब कपिल पद का कोई भिन्न अर्थ कर दियाजाय। यदि एक व्यक्ति की संज्ञा के समान आप उसे किसी दूसरे व्यक्ति की भी संज्ञा मान लेते हैं, तब व्यक्ति नाम के आधार पर अर्थ की भी समानता होजाती है, फिर शब्द-मात्र की समानता पर बल देना निष्प्रयोजन होगा। इसलिये आवश्यक है-यहाँ 'कपिल' पद का अर्थ व्यक्ति विशेष की संज्ञा न मानकर, कुछ भिन्न किया-जाय। इसीलिये शंकराचार्य ने इसका अर्थ-'कनककपिलवर्ण' किया है। तात्पर्य है-उसने व्यक्तिविशेष के नाम का यहाँ से झगड़ा ही मिटा दिया। ऐसी अवस्था में शब्दसमानता की सप्रयोजनता कह सकते हैं। यदि आनन्दगिरि आदि के अनुसार भाष्य की मूलपंक्ति का अर्थ करके, सगरपुत्रप्रतप्ता विष्ण्ववतार कपिल का श्रुति में वर्णन मानाजाय, तो सांख्य-प्रणेता कपिल ने क्या अपराध किया है? जो उसका वर्णन श्रुति में न मानाजाय? इसलिये आनन्दगिरि आदि का 'प्रतप्तुः' और 'वासुदेवनाम्नः' पदों को षष्ठ्यन्त मानकर किया अर्थ भाष्यकार की भावना के अनुकूलप्रतीत नहीं होता शब्दशक्तिगम्य भी नहीं है। इसलिये उनका यह अर्थ भ्रमपूर्ण कहाजासकता है।

परन्तु शंकराचार्य को 'कपिल' पद का 'कनककपिलवर्ण' अर्थ करके सन्तोष नहीं हुआ। इसलिये शंकराचार्य ने श्वेताश्वतर में उपर्युक्त श्रुति का अर्थ करते हुए अन्त में 'कपिल' पद का अर्थ, परमर्षि कपिल अंगीकार किया है। जिन प्रमाणों को उपस्थित करते हुए उसने इस बात को वहाँ लिखा है, उससे स्पष्ट होजाता है, कि श्रुतिप्रतिपादित कपिल को विष्णु का अवतार कपिल बताया गया है, और यही सांख्य का कर्त्ता है। शंकराचार्य ने वहाँ इसप्रकार सप्रमाण उल्लेख किया है—

"कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै किल।
विष्णोरंशो जगन्मोहनाशाय समुपागतः॥
कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृत्।
ददाति सर्वभूतात्मा सर्वस्य जगतो हितम्॥
त्वं शक्रः सर्वदेवानां ब्रह्मा ब्रह्मविदामसि।
वायुर्बलवतां देवो योगिनां त्वं कुमारकः॥
ऋषीणां च वसिष्ठस्त्वं व्यासो वेदविदामसि।
सांख्यानां कपिलो देवो रुद्राणामसि शङ्करः॥

इति परमर्षिः प्रसिद्धः।......स एव वा कपिलः प्रसिद्धः।"

इससे यह स्पष्ट है-जिस कपिल ऋषि को विष्णु का अंश बताया जाता है, वही सांख्यों का कपिल है, और उसी प्रसिद्ध परमर्षि कपिल का इस श्रुति में वर्णन है। इसीलिये शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में उपर्युक्त पंक्तियों के अनन्तर

एक पंक्ति लिख दी है, जिससे उसका हार्दिक भाव स्पष्ट होजाता है। पंक्ति इसप्रकार है—

अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात्।

आशय यह है, श्वेताश्वतर उपनिषद् के वाक्य में कपिल पद का अर्थ, सांख्यप्रवर्त्तक कपिल मानलियाजाये, तो भी हमें कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि उपर्युक्त वाक्य, मुख्यरूप से परमात्मा का निर्देश करता है। जिस परमात्मा ने सर्वप्रथम दार्शनिक कपिल को उत्पन्न किया और ज्ञानों से भर दिया, उस परमात्मा को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये। यही उस वाक्य का मुख्यार्थ है। प्रसंगवश पठित कपिल की सर्वज्ञता अथवा प्रामाणिकता का, यह वाक्य साधक नहीं होसकता।

शंकराचार्य ने यह पंक्ति लिखकर स्पष्ट कर दिया है, कि श्वेताश्वतर श्रुति में सांख्यों का प्रसिद्ध कपिल उपादेय है, भले ही उसका उल्लेख प्रसंगवश आया हो। हम इस समय उसके मत की मान्यता या अमान्यता पर विचार नहीं कर रहे। हमारा अभिप्राय केवल इतना है, कि इस श्रुति में जिस कपिल का उल्लेख है, वह सांख्यप्रवर्त्तक कपिल है, और यह शंकराचार्य को मान्य है। इसीलिये प्रथम, कपिल पद का जो अर्थ शंकराचार्य ने हिरण्यगर्भ (कनककपिल-वर्ण) किया है, वह प्रौढिवाद से किया है। तथा उसमें श्रुति का स्वारस्य न जानकर अन्त में विस्तारपूर्वक, प्रमाणसहित सांख्य-प्रवर्त्तक कपिल का उल्लेख माना है।

शंकराचार्य ने इसी प्रकरण में आगे (ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य २।१।१ पर) मनु की प्रशंसा करनेवाली श्रुति का वर्णन किया है—**यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्'** (तै० सं० २।२।१०।२)। यह कपिल के सन्तुलन में कियागया है। इसप्रकार श्वेताश्वतर की कपिलप्रशंसक श्रुति के साथ मनुप्रशंसक श्रुति की तुलना करने से शंकराचार्य का हृदय, स्पष्ट मालूम होजाता है, कि वह श्वेताश्वतर-वाक्य में सांख्य-प्रवर्त्तक कपिल की प्रशंसा का उल्लेख मानता है। शंकराचार्य-प्रदर्शित उक्त प्रमाणों से यह भी निर्दिष्ट होजाता है, कि वही कपिल विष्णु का अंश है। विष्णु का अंश अथवा अवतार उसी कपिल को मानागया है, जो देवहूति और कर्दम का पुत्र एवं सांख्य-शास्त्र का प्रवर्त्तक है।

शंकराचार्य और मनुप्रशंसक श्रुति—

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत प्रसंग में, मनुप्रशंसापरक तैत्तिरीयसंहिता की श्रुति का उद्धरण कर, उसी मनु का मनुस्मृति से सम्बन्ध जोड़ने में शंकराचार्य ने भूल की है, और उसकी देखादेखी पीछे के विद्वान्[1] भी इस भूल को दुहराते रहे हैं।

---

१. मनुस्मृति के प्रथम श्लोक पर कुल्लूक भट्ट की टीका देखें।

तैत्तिरीयसंहिता के समान अन्य कई संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों[1] में यह प्रसंग आता है। वहाँपर मनुसम्बन्धी उल्लेख इसीप्रकार के हैं। तैत्तिरीयसंहिता में काम्येष्टियों का प्रकरण है। उसी प्रसंग में यह उल्लेख है, कि विशेष चर्म-रोग न होने पावे, इसके लिये मनु की दो ऋचाओं को धाय्या[2] बनावे। क्योंकि मनु ने जो कुछ कहा, वह भेषज है[3]। अब हम देखते हैं—मनु की जो ऋचा धाय्या बनाई जाती हैं,[4] वे ऋग्वेद (८।३१) सूक्त की अन्तिम चार अथवा पाँच ऋचा हैं। इनमें से किन्हीं दो ऋचाओं[5] को धाय्या बनाया जाता है। इस सूक्त का ऋषि-वैवस्वत मनु है। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है, कि तैत्तिरीय-संहिता में जिस मनु की प्रशंसा कीगई है, वह वैवस्वत मनु[6] है।

शंकराचार्य ने संहिता के केवल 'मनु' पद को देखकर उसका सम्बन्ध मनुस्मृति से जोड़ दिया है। क्योंकि ब्रह्मसूत्र (२।१।१) शांकरभाष्य में तैत्तिरीय-संहिता के उक्त सन्दर्भ को उद्धृत कर आगे 'मनुना च–सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति' (१२।९१)

यह मनुस्मृति का श्लोक उद्धृत किया है। इससे शंकराचार्य का यह मत स्पष्ट होजाता है, कि संहिता में वर्णित मनु को वह, वही मनु समझता है, जिसका मनुस्मृति से सम्बन्ध है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। मनुस्मृति से जिस मनु का सम्बन्ध बताया जाता है, उसका स्पष्टीकरण मनुस्मृति के श्लोकों से होजाता है। मनुस्मृति के अतिरिक्त, अन्य साहित्य से भी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, जिसका निरूपण अभी आगे किया जायेगा।

इससे यही निश्चय होता है, कि मनुस्मृति के साथ 'स्वायम्भुव मनु' का सम्बन्ध है, अन्य किसी मनु का नहीं। परन्तु तैत्तिरीयसंहिता में 'वैवस्वत मनु' की प्रशंसा कीगई है। ये दोनों मनु सर्वथा भिन्न कहेजाते हैं। स्वायम्भुव मनु' की कोई ऋचा ऋग्वेद में नहीं है। ऐसी स्थिति में परिणाम यही निकलता है, कि शंकराचार्य ने केवल 'मनु' पद को देखकर, शब्दमात्र की समानता के आधार

---

१. काठक संहिता ११। ५॥ मैत्रायणी संहिता २। १। ५॥ ताण्ड्य महा-ब्राह्मण २२। १६। ६-७॥
२. धाय्या उन ऋचाओं का नाम है, जिनका उच्चारण कर, प्रज्वलित होती हुई अग्नि में 'समित्' छोड़ी जावे। 'धीयते ऽनया समिदिति धाय्या ऋक्' (पाणिनि ३। १। १२९ पर) भट्टोजि दीक्षित।
३. '···ईश्वरो दुश्चर्मा भवितोरिति मानवी ऋचौ धाय्ये कुर्यात्—यद्वै किंच मनुरवदत्तद् भेषजम्। तैं० सं० २। २। १०। २॥
४. तैं० सं० १। ८। २२ पर सायणभाष्य। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, १९।१९।८॥ सत्याषाढ श्रौतसूत्र २२। ३। ७॥। बोधायन श्रौतसूत्र १९। १९।१७॥
५. तैं० सं० १।८।२२।११॥ तथा २।२। १०।२॥ पर भट्टभास्कर भाष्य।
६. देखें, आर्षानुक्रमणी।

पर, 'वैवस्वत मनु' का सम्बन्ध 'स्वायम्भुव मनु' के साथ जोड़ दिया। जो आपत्ति शंकराचार्य ने श्वेताश्वतर के 'कपिल' पद के सम्बन्ध में उपस्थित की, उसमें स्वयं ही वह ग्रस्त होगया। वस्तुतः तैत्तिरीयसंहिता में जिस मनु का उल्लेख है, उसका मनुस्मृति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिए इस प्रसंग का शंकराचार्य का लेख, सर्वथा निराधार एवं असंगत है।

मनुस्मृति का सम्बन्ध, 'स्वायम्भुव मनु' से है, अन्य किसी मनु से नहीं, इसके लिए आन्तर (मनुस्मृति की) और बाह्य (अन्य साहित्य की) दोनों प्रकार की साक्षियां उपलब्ध होती हैं।

(१) मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के ५८-६१ श्लोकों को देखने से स्पष्ट होजाता है, इस मानव धर्मशास्त्र का उपदेश देनेवाला आदि पुरुष 'स्वायम्भुव मनु'[1] था।

यद्यपि मनुस्मृति में लगभग पन्द्रह-सोलह स्थल ऐसे हैं, जहाँ साधारणरूप से 'मनुरब्रवीत्' या 'अब्रवीन्मनुः' ऐसे पद आए हैं। परन्तु उनसे इस बात का निश्चय नहीं होपाता, कि यह कौनसा मनु है। फिर भी कुछ स्थलों में इसको

---

१. ऋषियों के प्रश्न करने पर, उत्तर रूप में मनु की उक्ति है—

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्॥ ५८॥

ब्रह्माने इस शास्त्र को बनाकर सर्वप्रथम मुझको (मनु को) पढ़ाया, और मैंने मरीचि आदि मुनियों को।

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः॥ ५९॥

यह भृगु इस सम्पूर्ण शास्त्र को आपके लिये सुनायेगा, इसने यह सब शास्त्र मुझसे अच्छी तरह समझ लिया है।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः।
तानब्रवीद् ऋषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति॥ ६०॥

मनु के यह कहने पर, महर्षि भृगु ने प्रसन्न होकर उन सब ऋषियों को कहा, कि सुनिये।

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः महात्मानो महौजसः॥ ६१॥

इस 'स्वायम्भुव मनु' के छह वंशधर मनु और हैं। भृगु का यह कथन सर्वथा स्पष्ट करदेता है, कि भृगु ने जिससे इस शास्त्र को समझा, वह 'स्वायम्भुव मनु' था।

इसके आगे प्रथम अध्याय के १०२ श्लोक में स्पष्ट कहा है—

स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्।

स्पष्ट कर दिया गया है। उनमें एक निम्न है—

अलाबुँ दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा। एतानि यतिपात्राणि मनुःस्वायम्भुवोऽब्रवीत्। [६।५४]

इससे स्पष्ट है—मनुस्मृति के साथ 'स्वायम्भुव मनु' का सम्बन्ध है, अन्य किसी मनु का नहीं।

(२) इसके अतिरिक्त अन्य साहित्य से इस बात की पुष्टि होती है। महाभारत वनपर्व में युधिष्ठिर और सर्पभूत नहुष का संवाद आता है। उस प्रसंग में युधिष्ठिर की उक्तिरूप से निम्नलिखित श्लोक उपलब्ध होते हैं—

प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते। तथोपनयनं प्रोक्तं द्विजातीनां यथाक्रमम्। तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते। वृत्त्या शूद्रसमो ह्येष यावद् वेदे न जायते। तस्मिन्नेवं मतिद्वैधे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥
[म० भा०, वनपर्व, १८२।३४-३५॥ कुम्भघोण संस्करण]

इनमें से अन्तिम पंक्ति, पूर्व पंक्तियों को 'स्वायम्भुव मनु' की उक्ति होने का निर्देश कर रही है। ऊपर चार पंक्तियों में से दूसरी को छोड़कर शेष तीनों वर्तमान मनुस्मृति में इसी आनुपूर्वी से उपलब्ध हैं। दूसरी पंक्ति भी, मनुस्मृति के एक श्लोक के आशय को लेकर लिखदी गई है, जो इसी क्रम से मनुस्मृति में उपलब्ध है। इन पंक्तियों को मनुस्मृति में यथाक्रम निम्नलिखित स्थलों में देखना चाहिए—

(१) अध्याय २ श्लोक २९॥ (२) ,, ,, ,, ३६॥
(३) ,, ,, ,, १७०॥ (४) ,, ,, ,, १७२॥[1]

इससे निश्चय होजाता है—उपलब्ध मनुस्मृति के साथ 'स्वायम्भुव मनु' का सम्बन्ध है, वैवस्वत मनु अथवा अन्य किसी मनु का नहीं।[2]

प्रसंगागत कथन के अनन्तर, उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकलता है, कि शंकराचार्य के लेख में अग्न्यवतार कपिल के सम्बन्ध की कोई भावना ध्वनित नहीं होती। फिर ऐसी स्थिति में विज्ञानभिक्षु का यह लेख, कि किसी वेदान्ती ने अग्न्यवतार कपिल को सांख्यप्रवर्त्तक माना है, निश्चित रूप से नहीं कहाजासकता, कि किस वेदान्ती के लिए लिखा गया है। यह भी सम्भव है, कि शंकराचार्य की वर्णित पंक्तियों से कदाचित् भिक्षु को भ्रम होगया हो, अथवा

---

१. ये पते, निर्णयसागर प्रेस बम्बई से, कुल्लूकटीका सहित, सन् १९०२ में प्रकाशित मनुस्मृति के संस्करण के आधार पर दिये गए हैं।

२. इस सम्बन्ध के अन्य भी बहुत प्रमाण उपलब्ध हैं, परन्तु अनावश्यक ग्रन्थ कलेवर-वृद्धि के भय से उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया। उदाहरणार्थ निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं—

निरुक्त ३।४॥ तुलना करें, मनुस्मृति ९।१३०, १३३, १३९॥, महाभारत, शान्ति०, १४।१८-५२॥ तुलना करें, मनु० ७।३-३४॥ महाभारत, शान्ति० २१।११-१३॥ तुलना करें, मनुस्मृति, ४।२॥ ९।४२ आदि॥

सर्वोपकारिणी टीका के आधार पर उसने ऐसा लिखा हो। यद्यपि सर्वोपकारिणी टीका के रचयिता का नाम अभी तक ज्ञात नहीं है, और न इसी बात का निश्चय है, कि तत्त्वसमाससूत्रों की यह टीका, विज्ञानभिक्षु से पूर्व लिखी जाचुकी थी। इसका उपयुक्त विवेचन 'सूत्रों के व्याख्याकार' नामक षष्ठ अध्याय के 'सर्वोपकारिणी टीका' प्रसंग में द्रष्टव्य है।[1]

कपिल के सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र के विचार—

षड्दर्शन व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र ने कपिल के सम्बन्ध में अपना मत उपर्युक्त रूप में प्रकट किया है।

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी में ६९वीं कारिका की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने 'परमर्षिणा' पद का अर्थ 'कपिलेन' किया है। इससे स्पष्ट है, वह सांख्यशास्त्र का प्रवर्त्तक, कपिल को मानता है।

२. इसीप्रकार ४३वीं कारिका की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने सांसिद्धिक भावों का उदाहरण देते हुए लिखा है—

यथा सर्गादावादिविद्वान् भगवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य-सम्पन्नः प्रादुर्बभूवेति स्मरन्ति।

सृष्टि के प्रारम्भिक काल में धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न आदिविद्वान् भगवान् कपिल प्रादुर्भूत हुआ। वाचस्पति का यह लेख, पंचशिख के प्रसिद्ध सूत्र—'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच' का स्मरण करा देता है।

३. योगसूत्र 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (१।२५) का भाष्य करते हुए, आचार्य व्यास ने उपर्युक्त पंचशिखसूत्र को प्रसंगवश उद्धृत किया है। उसपर टीका करते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

आदिविद्वान्-कपिल इति। आदिविद्वानिति पंचशिखाचार्यवचनमादिमुक्त-स्वसन्तानादिगुरुविषयं, न त्वनादिमुक्तपरमगुरुविषयम्। आदिमुक्तेषु कदाचिन्मुक्तेषु विद्वत्सु कपिलोऽस्माकमादिविद्वान् मुक्तः स एव च गुरुरिति। कपिलस्यापि जायमानस्य महेश्वरानुग्रहादेव ज्ञानप्राप्तिः श्रूयत इति। कपिलो नाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्धः। स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भस्तस्यापि सांख्ययोग प्राप्तिर्वेदे श्रूयते। स एवेश्वर आदिविद्वान् कपिलो विष्णुः स्वम्भूरिति भावः।

---

१. वाराणसी निवासी डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य ने पत्र द्वारा हमे अभी सूचित किया है, कि विनाभिक्षु ने 'वेदान्तिब्रुवः' कहकर जो उल्लेख किया है, वह ब्रह्मसूत्र [२।१।१] पर निम्बार्कव्याख्या के भाष्य 'वेदान्त कौस्तुभ' की केशवभट्ट कृत 'प्रभा' नामक टीका में उपलब्ध है। वह अविकल पाठ श्री भट्टाचार्य से हमने मंगाया है, अभी प्राप्त नहीं हुआ। आने पर 'भूमिका' में देदियाजायगा।

पंचशिखसूत्र में 'आदिविद्वान्' पद से कपिल का ग्रहण होता है। पंचशिख ने 'आदिविद्वान्' पद, आदिमुक्त अपने तथा अपनी सन्तान (पुत्र पौत्रादि परम्परा अथवा शिष्यपरम्परा) आदि के, गुरु के विषय में कहा है। अनादिमुक्त परमगुरु का निर्देश, यह पद नहीं करता। किसी विशेषकाल में मुक्त होने वाले विद्वानों में हमारा कपिल आदिविद्वान् है, वही आदिमुक्त कपिल हमारा गुरु है।[1] श्रुति में आता है, कि कपिल के उत्पन्न होने पर भगवान् के अनुग्रह से उसे ज्ञानप्राप्ति हुई थी। विष्णु का अवतारविशेष कपिल प्रसिद्ध है। स्वयम्भू हिरण्यगर्भ हैं, उसे भी सांख्य-योग की प्राप्ति वेद में कही है। वही ईश्वर आदिविद्वान् कपिल, विष्णु एवं स्वयम्भू है।

वाचस्पति के इस लेख से प्रसंगागत परिणाम यह निकलता है, कि आदि-विद्वान् कपिल, जिसने जिज्ञासु आसुरि के लिए 'तन्त्र' प्रवचन किया, विष्णु का अवतार था, यह निश्चित है। क्योंकि भगवान् के अनुग्रह से उसे ज्ञान प्राप्त हुआ था, अतः उसी कपिल को स्वयम्भू भी कहाजाता है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में कपिल का जन्मविषयक वर्णन, वाचस्पति के इस लेख से स्मरण हो आता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के कपिलसम्बन्धी पूर्व उद्धृत वाक्य में इसी अर्थ का निर्देश कियागया है। कर्दम की तपस्या के फलस्वरूप, ब्रह्मा का, विष्णु के अंश से देवहूति के गर्भ में कपिल के जन्म की सूचना देना, वाचस्पति के उक्त लेख का आधार सम्भव है। श्रीमद्भागवत के इस प्रकरण का प्रथम उल्लेख कियाजाचुका है। कपिल को, उसके जन्म के अनन्तर अल्पकाल में भगवान् के अनुग्रह से ज्ञान प्राप्त हुआ, इसलिए उसे 'स्वयम्भू' अथवा 'ब्रह्मसुत' आदि पदों से जहाँ-तहाँ स्मरण कियागया है। अतएव सांख्य का प्रवर्त्तक कपिल देवहूति-कर्दम का पुत्र है, जिसको विष्णु का अवतार बताया गया है। कहीं अन्य नामों से भी याद कियागया है, यह मत स्पष्ट रूप से निश्चित होजाता है। इसमें अन्य आचार्यों के समान वाचस्पति मिश्र भी पूर्ण सहमत है।

वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त लेख से एक और परिणाम सामने आता है, जो कपिल की ऐतिहासिकता को सिद्ध करने में अत्यन्त सहायक है। वाचस्पति ने 'आदिविद्वान्' पद की व्याख्या पर बड़ा बल दिया है, और उससे यह स्पष्ट करने का यत्न किया है, कि यह पद किसी अदृश्य शक्ति परमगुरु की ओर निर्देश नहीं करता, जो अनादिमुक्त है। प्रत्युत ऐसे व्यक्ति का निर्देश करता है, जो किसी कालविशेष में मुक्त हुआ था और इसीलिए अस्मदादि की तरह दृश्य देहधारी था।

---

१. यहां पर श्वेताश्वतर पठित 'ऋषि प्रसूतं कपिलं' इत्यादि श्रुति की ओर वाचस्पति का निर्देश है। इसीलिए कपिल आदिविद्वान् तथा आदिमुक्त है, उसे अनादिमुक्त नहीं कहाजासकता।

क्या कपिल ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं ?—

कुछ आधुनिक पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने कपिल को काल्पनिक व्यक्ति बतलाया है; अथवा उसको ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना। उनका अभिप्राय है—वह अस्मदादि की तरह पाञ्चभौतिक शरीरधारी व्यक्ति नहीं था। प्रायः पाश्चात्य और अनेक भारतीय विद्वानों का यह स्वभाव-सा बन गया है, कि वे प्राचीन भारतीय संस्कृति, सभ्यता और साहित्य का उन्नत मस्तक करने वाली अनेक वास्तविक घटनाओं तथा व्यक्तियों को मिथ्या एवं काल्पनिक बताने में संकोच नहीं करते। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों का यह दृष्टिकोण, किन्हीं विशेष भावनाओं से प्रेरित होकर बन जाना कुछ आश्चर्यजनक नहीं; परन्तु उनकी अनुगामिता में अनुसंधान की चरम सीमा समझने वाले भारतीय विद्वानों की इस मनोवृत्ति को देखकर अवश्य हृदय को ठेस पहुँचती है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं, कि हम मिथ्या आत्मश्लाघा के वशीभूत होकर दूसरे की सचाई को अंगीकार करने से विमुख हों; ये भावनायें निन्दित और उन्नति की बाधक हैं; परन्तु वस्तुस्थिति को मिथ्यारूप देने के प्रयत्नों में अनुगामिता-प्रदर्शन अवश्य प्रशंसनीय नहीं कहाजासकता।

कोलब्रुक, याकोबी, मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने कपिल को काल्पनिक व्यक्ति माना[1] है। विद्वान् कीथ[2] का कहना है—कपिल पद हिरण्यगर्भ का पर्यायवाची है, और अग्नि, विष्णु तथा शिव आदि के साथ कपिल की एकात्मता अथवा तद्रूपता का उल्लेख संस्कृत साहित्य[3] में मिलता है। इसलिए कहाजासकता है, कि कपिल नाम का कोई वास्तविक व्यक्ति नहीं था। अपने मत को पुष्ट करने के लिए कीथ ने, याकोबी[4] की सम्मति को प्रदर्शित किया है।

हमारा कहना है—किन्हीं गुणविशेषों के कारण, किसी का कदाचित् नामान्तर से उल्लेख कियाजाना, उन नामपदों की पर्यायता को सिद्ध नहीं

---

१. देखें, डा० रिचर्ड गाँर्बे कृत Samkhya und Yoga २, ३।
२. कीथकृत Samkhya System, 9.
३. महाभारत, वनपर्व, १०७।३।। २२३।२१।। शान्तिपर्व, ३४६।७०-७२।। ३५२।३०-३१।। कुम्भघोण संस्करण। रामायण, बालकाण्ड, ४०।२५।। निर्णयसागर, बम्बई का सटीक संस्करण।
४. कीथकृत, Samkhya System, 9. टिप्पणी १.
All the early teachers of the Samkhya appear in legendary guise, the reality of Kapila, the alleged founder of the system, has been abandoned by Jacobi. (A History of Sanskrit Literature, by Keith. P. 488.)

करता। शौर्य आदि गुणों के कारण किसी बालक को सिंह कहना, बालक और सिंह पद की पर्यायता को सिद्ध नहीं करता, और न ऐसा कहने से बालक को काल्पनिक कहाजासकता है। कपिल के सम्बन्ध में ठीक यही बात है। उसको अपने लोकातिशायी विशेष गुणों के कारण जहाँ-तहाँ अग्नि आदि नामों से स्मरण कियागया है। इन सब बातों को प्रथम इसी प्रकरण में विस्तारपूर्वक लिखाजाचुका है। इससे न तो कपिल और हिरण्यगर्भ आदि पदों की पर्यायता सिद्ध होती है, और न इससे कपिल व्यक्ति को, काल्पनिक सिद्ध कियाजासकता है।

किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए यही आवश्यक समझा जाता है, कि उसके लिए कोई साधक प्रमाण हो, अथवा बाधक प्रमाण न हो। कपिल के अस्तित्व अथवा ऐतिहासिक व्यक्तित्व के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण का उपयोग नहीं कियाजासकता, क्योंकि उसके अस्तित्व का समय अब से बहुत पहले था। परन्तु उसकी कृतियों से उसका अनुमान कियाजासकता है। शब्द प्रमाण उसके अस्तित्व का पूरा पोषक है। उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण और बौद्ध जैन साहित्य सब ही उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व की घोषणा कररहे हैं। अतीत के लिए शब्द ही प्रमाण मानाजासकता है। यदि पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में यह सब साहित्य मिथ्या कहरहा है, तब कोई यह भी कह सकेगा, कि कोलब्रुक, मैक्समूलर, कीथ आदि ऐतिहासिक कोई व्यक्ति नहीं थे। इनके नाम से सब ग्रन्थ किसीने बना दिये हैं। ये सब कल्पित हैं। इसप्रकार प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था का ही विलोप होजायगा, और किसी वस्तु के अस्तित्व का नियमन नहीं कियाजासकेगा। इसलिए कपिल के साधक प्रमाण होने से, और किसी बाधक प्रमाण के न होने से, उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व से नकार नहीं किया जासकता।

कपिल की ऐतिहासिकता पर, पं० गोपीनाथ कविराज का मत

कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों का अनुसरण करते हुए, काशीवासी कविराज पं० गोपीनाथ एम. ए. महोदय ने कपिल के सम्बन्ध में अपना इसीप्रकार का मत प्रकट किया है, और इस सम्बन्ध में एक अद्भुत युक्ति का उल्लेख किया है। उनके लेख का सारांश है—

[१]यह निस्सन्दिग्ध रूप से कहाजासकता है, कि सांख्य का आदि प्रवक्ता,

---

१. That कपिल the First Teacher of सांख्य in fact the first Enlightened Human Being during the cycle-was not a historical personage in the usually accepted sense of the term, is without any doubt. He is referred to as Siddha in the literature of the नाथ and of the votaries of the ancient

अथवा इस कल्प में मनुष्यजाति का सर्वप्रथम विज्ञ प्राणी कपिल, ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था, यदि इस शब्द के प्रचलित अर्थों को लिया जाय। प्राचीन रसायनशास्त्र के अनुगामियों, तथा नाथसम्प्रदाय के साहित्य में भी उसको सिद्ध बताया गया है। भगवद्‌गीता में भी उसे उत्तम सिद्ध वर्णन कियागया है।

Science of Alchemy (रसायन). And in the भगवद्‌गीता too he is discribed as the best of the Siddhas. His case is often cited in illustration of what is technically known as जन्म-सिद्धि i. e. perfection obtained through personal exertion in some shape or the other.

There is an aphoristic statement quoted in व्यास's commentary on the Yoga Sutra [१, २५]. It is attributed by वाचस्पति to पञ्चशिख and runs thus : आदिविद्वान् निर्माण-चित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच। It appears from the above that कपिल disclosed the तन्त्र i.e. the secret Wisdom (viz. the सांख्य doctrines or the षष्टितन्त्र) to आसुरि, as a Master to a seaking Disciple. The assumption of निर्माणकाय implies that the Master had not a physical body and his appearance before आसुरि does not therefore represent an historical fact.

३. निर्माणकाय and निर्माणचित are practically identical. पतञ्जलि speaks of the निर्माणचित्त and describes how it is evolved from the stuff of अस्मित्ता, व्यास and पञ्चशिख also refer to it under this name. But उदयन employs the term निर्माणकाय, in exactly the same sense. So do the Buddhist writers with whom this 'काय' is a familiar expression (vide ....a paper on निर्माणकाय, by the present writer in 'The Princess of Wales Saraswati Bhavana Studies' Vol. 1.). The fact is that Siddhi leads in a wonderful manner to the unification of Chitta (mind) and काय (body), so that the resultant product may be fitly described as a Mind as well as a Body. This process of unification, which of course presupposes an elimination of impurities in each, is to be sharply differentiated from the other process of Discrimination. The so called कायसिद्धि, effected through Alchemy. हठयोग, राजयोग, or मन्त्र, is identical with the realisation of निर्माणकाय. Before he had plunged into निर्वाण, कपिल furnished himself with a सिद्धदेह and appeared before आसुरि to impart to him the Secrets of सांख्यविद्या.

अपने निजी प्रयत्नों से जिस किसी प्रकार भी पूर्णावस्था को प्राप्त होना रूप पारिभाषिक 'जन्मसिद्धि' के उदाहरण-रूप में भी प्रायः उसका ही नाम लिया जाता है।

योगसूत्र (१।२५ के) व्यासभाष्य में निम्नलिखित सूत्ररूप सन्दर्भ उद्धृत किया गया है—

आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच ।

वाचस्पति ने इस उद्धरण को पञ्चशिख का लिखा है। इससे यह जान पड़ता है, कि कपिल ने तन्त्र अर्थात् गूढज्ञान (सांख्यसिद्धान्त अथवा षष्टितन्त्र) का आसुरि को प्रवचन किया, जो शिष्यरूप से जिज्ञासा-युक्त होकर उसके पास आया था। निर्माणकाय का मान लेना ही यह ध्वनित करता है, कि गुरु भौतिक शरीर से रहित था। इसी कारण आसुरि के सामने उसका प्रकट होना एक ऐतिहासिक घटना नहीं।

'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठा' इत्यादि पञ्चशिखसूत्र में 'निर्माणचित्त' पद 'निर्माणकाय' पद का समानार्थक है। पतंजलि ने 'निर्माणचित्त' पद का उल्लेखकर, उसकी उत्पत्ति अस्मिता (निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्, योगसूत्र ४, ४) अर्थात् अहंकार से बतलाई है। व्यास और पञ्चशिख ने भी इस पद का ऐसा ही माना है। परन्तु उदयन ने 'निर्माणचित्त' पद के अर्थ में 'निर्माणकाय' पद का प्रयोग किया है। फलतः ये दोनों पद समानार्थक होजाते हैं। इस अर्थ को प्रकट करने के लिए बौद्ध लेखक, केवल 'काय' पद को ही प्रायः प्रयुक्त कर देते हैं। वस्तुतः सिद्धि, चित्त अर्थात् मन और शरीर की अपवित्रताओं या मलों को दूर कर इनको एक आश्चर्यजनक समानता की अवस्था में पहुँचा देती है। कपिल एक महान सिद्धिप्राप्त व्यक्ति थे, उसीके बल पर निर्वाण अर्थात् मुक्ति को प्राप्त होने के पूर्व उन्होंने अपने एक सिद्धदेह की स्वयं रचना की; तथा सांख्य का उपदेश देने के लिए आसुरि के सन्मुख प्रकट हुए। इस तरह कपिल का कोई भौतिक शरीर नहीं था। यह बात 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय' इत्यादि सूत्र से स्पष्ट होजाती है। अतएव कपिल ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं होसकता।[1]

श्रीयुत कविराज के मत का असामञ्जस्य—

श्रीयुत कविराज महोदय ने अपने लेख में इस बात को अन्धकार में रक्खा है, कि ऐतिहासिक व्यक्ति होने के लिये क्या योग्यता होनी चाहिये। कपिल

१. देखें—सांख्यकारिका पर 'जयमंगला' नामक व्याख्या की भूमिका (इंग्लिश में), पृष्ठ २-३। इस ग्रन्थ के सम्पादक, H शर्मा M.A., और प्रकाशक, डॉ० नरेन्द्रनाथ लॉ M.A., B.L., कलकत्ता हैं।

को मनुष्य जाति का व्यक्ति मानते हुए उसे ऐतिहासिक न मानना, एक पहेली है। सिद्ध होजाने से कोई व्यक्ति ऐतिहासिक नहीं रहता, समझ से परे की बात है। ऐतिहासिक व्यक्ति होने का प्रचलित अर्थ क्या होसकता है? यदि इसका कोई रहस्यपूर्ण अर्थ न हो, तो कपिल ऐतिहासिक व्यक्ति क्यों नहीं होसकता, जबकि उसका अस्तित्व मनुष्य जाति के एक प्राणी के समान था। उसने अपने शिष्य को एक शास्त्र का उपदेश दिया। सिद्धि को प्राप्त किया। अन्य ऐतिहासिक माने जाने वाले व्यक्तियों में और क्या विशेषता होती है?

यदि यह बात मानलीजाये, कि कपिल ने सिद्धि के बल पर स्वयं अपने शरीर की रचना की। फिर भी वह स्वयं रचा हुआ शरीर भौतिक था या अभौतिक? इस बात को कविराज जी ने स्पष्ट नहीं किया। अभिप्राय है, चाहे कपिल का देह योनिज मानाजाय, अथवा सिद्धि के बल पर स्वयं रचना किया हुआ मानाजाय; प्रत्येक अवस्था में वह देह तो भौतिक ही कहाजासकता है। उसके हाथ-पैर-सिर-मुँह आदि अवयवों की कल्पना दृश्यमान देहों के समान कीजासकती है। अन्यथा आसुरि के लिये उपदेश किया जाना असंभव हो जायगा। यह नहीं मानाजासकता, कि कपिल की देह एक बिजली की तरह कौंधी, और उपदेश देकर तत्क्षण अन्तर्धान होगई। क्योंकि आसुरि ने सांख्यतत्वों के मर्म को समझने के लिए कुछ प्रश्न किये होंगे, कपिल ने उनके समाधान किये होंगे। इतने गहन विषयों को समझने-समझाने के लिये अवश्य कुल काल की अपेक्षा होसकती है। तब तक कपिल के उस देह का स्थित रहना मानना पड़ेगा। कैसा भी सिद्ध क्यों न हो, भौतिक शरीर की स्थिति के लिये अशन पान आदि के विधान और मल-मूत्र आदि के त्याग का विरोध नहीं कियाजासकता।

यदि श्रीयुत कविराज महोदय के विचार में वह सिद्धदेह अभौतिक कल्पना किया जाये, तो आसुरि को उपदेश देने के लिये सिद्धदेह का प्रकट होना, अभौतिक देह में नहीं बन सकता। अप्रकट या अदृश्य देह द्वारा उपदेश की कल्पना किये जाने पर तो, देह की कल्पना करना ही व्यर्थ है। इन सब झंझटों में क्यों पड़ाजाय; यही मानलियाजाय कि आकाशवाणी द्वारा आसुरि को उपदेश मिलगया था। वस्तुतः अदृश्य देह आदि से उपदेश की कल्पना असंभव है। वाचस्पति मिश्र[1] ने 'आदिविद्वान्' पद की व्याख्या से इस बात को स्पष्ट कर दिया है, जैसाकि पूर्व लिखा जाचुका है।

कपिल को श्रीयुत कविराज महोदय ने सिद्धिप्राप्त व्यक्ति बताया है। विचारणीय है, कपिल को सिद्धि किस प्रकार प्राप्त हुई? इसके लिये उसने

१. देखो—पातञ्जलयोगसूत्र १।२५ पर व्यासभाष्य में उद्धृत पञ्चशिखसूत्र के 'आदिविद्वान्' पद की वाचस्पति मिश्र कृत व्याख्या।

अवश्य किन्हीं व्यवस्थाओं या नियमों का पालन किया होगा। तपस्या अथवा समाधि का अभ्यास किया होगा। उसके अनन्तर सिद्धिप्राप्ति की संभावना कही जासकती है। श्रीयुत कविराज जी ने 'जन्मसिद्धि' का स्वरूप बताया है– 'अपने निजी प्रयत्नों से जिस किसी प्रकार भी पूर्णावस्था को प्राप्त होना'[1]। वह प्रयत्न–परिश्रम अथवा पुरुषार्थ, कपिल ने अवश्य किया होगा। यह सब बिना भौतिक शरीर के किस प्रकार कियाजासकता है? वह जब तपस्या और समाधि-भावना में अपना समय बिता रहा था, उस समय उसका नाम कपिल था, और वह अस्मदादि की तरह देहधारी था। उस समय तक वह सिद्ध नहीं होचुका था। यदि कपिल की उस समय की स्थिति को मानाजाता है, तो उसकी ऐतिहासिकता से कैसे नकार कियाजासकता है? जिस शरीर से तपस्या करके उसने सिद्धि को प्राप्त किया; आसुरि को उपदेश भी उसी शरीर के साथ रहकर क्यों नहीं कियाजासकता? तब उपदेश के लिये शरीरान्तर धारण करने की क्या आवश्यकता है? इसलिये यह अवश्य मानना पड़ता है, कि कपिल हमारी तरह देहधारी व्यक्ति था। माता-पिता के सम्बन्ध के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण उसका देह योनिज था।

प्रसंगप्राप्त सिद्धदेह का विवेचन, वह भौतिक होसकता है, अभौतिक नहीं—

यदि कपिल को स्वभावतः सिद्ध मानाजाय, और कहाजाय, कि उसने स्वतः सिद्ध होने के कारण स्वयं अपने देह की रचना कर आसुरि को उपदेश दिया, तो उसका देह, भौतिक ही कल्पना कियाजासकता है। इसलिए यही स्वीकार्य होगा, कि 'सिद्धदेह' भी भौतिक होते हैं, अभौतिक नहीं।

श्रीयुत कविराज महोदय ने अपने लेख में पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित 'निर्माणचित्त' पद का निर्देश किया है। पतञ्जलि का सूत्र है–'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्'। यह कैवल्यपाद का चौथा सूत्र है। इसी पाद के प्रथम सूत्र[2] में पाँच प्रकार की सिद्धियों का वर्णन कियागया है।[3] दूसरे सूत्र में बताया है—इसप्रकार का सिद्धयोगी, जब अपने विद्यमान शरीर और इन्द्रियों को किसी दूसरी जाति के शरीर आदि में परिणत करता है, तब उस जाति के शरीर और इन्द्रियों के जो प्रकृति अर्थात् उपादान कारण हैं, वे उन शरीर और

१. जन्मसिद्धि—Perfection obtained through personal exertion in some shape or the other- [जयमंगला, भूमिका, पृष्ठ ३]
२. जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥४।१॥
३. जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्। योगसूत्र, ॥४।२॥

इन्द्रियों की उत्पत्ति में, उस योगी की सहायता करते हैं। अर्थात् उन शरीर आदि के उपादान कारणों को लेकर योगी सिद्धि बल से दूसरी जाति के शरीर आदि को रच लेता है। इससे स्पष्ट है, कि सिद्धयोगी भी देह आदि की रचना, उन देह आदि के उपादान कारणों से करता है। इसीलिए इस सूत्र के भाष्य में व्यास लिखता है—

'कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण'।

शरीर और इन्द्रियों की प्रकृतियाँ अपने अवयवों के प्रवेश के द्वारा [आपूरेण] अपने-अपने विकार अर्थात् कार्य की उत्पत्ति में सहायता देती हैं।

प्रस्तुत विचार को एक उदाहरण द्वारा इसप्रकार स्पष्ट कियाजासकता है—मान लीजिये, एक सिद्धयोगी अपने मनुष्यदेह को, सिंह-देह में परिणत करना चाहता है। मनुष्य देह के प्रकृति अर्थात् उपादान कारण—अवयवों से सिंह देह पूरा नहीं बन पाता, उसमें और अवयवों की आवश्यकता है; तब सिद्धयोगी, सिंह-देह के प्रकृति अर्थात् उपादान कारणों से उतने अवयवों को और लेकर सिंह-देह को पूर्णरूप से रच लेगा। यदि वह चींटी के देह में परिणत करना चाहता है, तो उसके कारणभूत उतने ही अवयवों से वह चींटी के देह को बना लेगा, मनुष्य-देह के शेष अवयव अपने कारणों में लीन होजायेंगे। शरीर की प्रकृति अर्थात् उपादान कारण पृथिव्यादि भूत हैं, और इन्द्रियों की प्रकृति है—अस्मिता अर्थात् अहंकार। इनके यथावश्यक अतिरिक्त अवयवों के प्रवेश द्वारा योगी स्व-परिणत देह आदि को पूरा कर लेता है। उक्त भाष्य की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

'कायस्य हि प्रकृतिः पृथिव्यादीनि भूतानि, इन्द्रियाणां च प्रकृतिरस्मिता, तदवयवाऽनुप्रवेश आपूरस्तस्माद् भवति,

इससे स्पष्ट है, योगी पृथिव्यादि भूतों के अतिरिक्त और किसी तत्त्व से अपने सिद्ध-देह की रचना नहीं करता। इसलिये उनके वे देह भौतिक सिद्ध होते हैं।

यदि कोई सिद्ध-योगी आवश्यकतानुसार अनेक शरीरों की रचना कर लेता है, ऐसी स्थिति में आशंका होती है, क्या वह उन शरीरों से कार्य लेने के लिए प्रत्येक शरीर के साथ सम्बद्ध, अलग अनेक चित्तों [मन] की भी रचना करता है, या अपने एक मुख्य चित्त के द्वारा ही उन सब शरीरों का संचालन करता रहता है? इस आशंका का उत्तर, सूत्रकार पतंजलि ने चौथे सूत्र से दिया है। सूत्र है—

'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्'।

अस्मिता अर्थात् अहंकार कारण को लेकर सिद्ध-योगी स्वरचित शरीरों के अनुसार चित्तों की भी रचना कर लेता है, वे सब शरीर, जो उसके अपने बनाये

हुए हैं, अलग-अलग चित्तसहित होजाते[1] हैं। उनसे वह अपनी आवश्यकता के अनुसार कार्य लेता रहता है।

सांख्य-योग का सिद्धान्त है, कि देह, पृथिव्यादि भूतों से उत्पन्न होते हैं, और इन्द्रियाँ तथा मन [चित्त], अहंकार तत्त्व से। चाहे वे योनिज हों, अथवा अयोनिज, उनके उपादान कारण सर्वत्र पृथिव्यादि भूत हैं और इन्द्रिय तथा मन के कारण हैं—अहंकार तत्त्व। यह बात पतंजलि व्यास तथा वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट कीजाचुकी है।

आधुनिक[2] विद्वानों ने जो इस सम्बन्ध में लिखा है, उससे भी सिद्ध-देह के सम्बन्ध में इससे अतिरिक्त और कोई प्रकाश नहीं मिलता। सिद्ध-देह को इन विद्वानों ने अभौतिक स्वीकार नहीं किया। शरीर की उत्पत्ति भूतों से तथा मन और इन्द्रियों की अहंकार से स्वीकार की है।

ऐसी स्थिति में 'निर्माणचित्त' और 'निर्माणकाय' पद, समानार्थक नहीं हो सकते। चित्त अलग वस्तु है, काय अलग वस्तु। चित्त अपने कारणों से उत्पन्न होते हैं, और काय अपने कारणों से, उनका एक होना असम्भव है। योगी की परम सिद्धि अवस्था में भी, शरीर और अन्तःकरण [मन-चित्त] के मल अथवा अपवित्रताओं का सर्वथा नाश होजाने पर भी, शरीर की भौतिकता और इन्द्रियों की आहंकारिकता को कोई शक्ति नष्ट नहीं करसकती। ऐसी स्थिति में उक्त पंचशिख सूत्र के 'निर्माणचित्त' पद का अर्थ 'निर्माणकाय' नहीं कियाजा-सकता। इसलिये कपिल के शरीर के सम्बन्ध में श्रीयुत कविराज महोदय की जो कल्पना है, वह निराधार असंगत तथा भ्रमपूर्ण है।

बौद्ध लेखकों ने यदि 'निर्माणकाय' पद के लिये केवल 'काय' पद का प्रयोग किया है, तो वह संगत है 'काय' साधारणतया सब शरीरों को कह सकते हैं, परन्तु 'निर्माणकाय' पद के विषय में कथंचित् यह कहना उपयुक्त होगा, कि यह

---

१. यदा तु योगी बहून् कायान् निर्मिमीते, तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथाऽने-कमनस्का इति 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्'। अस्मितामात्रं चित्तकारण-मुपादाय निर्माणचित्तानि करोति, ततः सचित्तानि भवन्ति। [व्यासभाष्य, ४।४]

२. योगदर्शन व्यासभाष्य तथा वाचस्पत्य का इंग्लिश अनुवाद। श्रीयुत रामप्रसाद एम. ए. कृत। पाणिनि आफिस प्रयाग से खीस्ट १९१२ में प्रकाशित।

तथा उक्त पुस्तक का ही J. H. Woods कृत इंग्लिश अनुवाद। इस विषय में अधिक विवेचन के लिये द्रष्टव्य है—आचार्य उदयवीर शास्त्रीकृत पातञ्जलयोगसूत्र-विद्योदयभाष्य में प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या तथा 'भाष्यकार का निवेदन' में पृष्ठ ५४-५९।

योगी द्वारा रचित शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध लेखकों ने साधारण 'काय' पद का प्रयोग करके कोई असांगत्य नहीं किया। यदि उन्होंने 'निर्माण-चित्त' पद के लिये 'काय' पद का प्रयोग किया होता, तो उससे आपके विचार की पुष्टि होसकती थी। परन्तु उनके इसप्रकार के उल्लेख का आपने कोई उदाहरण नहीं दिया। यद्यपि वस्तुस्थिति में वैसा लेख उनकी निज शास्त्र सीमित पारिभाषिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहाजासकता।

आचार्य उदयन ने 'निर्माणचित्त' पद के अर्थ के लिये 'निर्माणकाय' पद का प्रयोग कहीं नहीं किया है। यद्यपि उदयन के उस स्थल का निर्देश अपने लेख में श्रीयुत कविराज जी ने नहीं किया, परन्तु प्रतीत होता है, आचार्य उदयन कृत न्यायकुसुमाञ्जलि के प्रारम्भ में आई हुई निम्नलिखित पंक्ति की ओर आपका निर्देश हो। वह पंक्ति इसप्रकार है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदायप्रद्योत-कोऽनुग्राहकश्चेति पातंजलाः[1]।'

ईश्वर की सिद्धि के लिये भूमिका का प्रारम्भ करते हुए, उदयन लिखता है—ईश्वर के सम्बन्ध में सन्देह कहाँ है, जो उसकी सिद्धि के लिये प्रयत्न किया जाय? किसी-न-किसी रूपमें प्रत्येक दार्शनिक और साधारण जन भी उसकी सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसी प्रसंग में उपर्युक्त पंक्ति पातञ्जल योगदर्शन का मत प्रदर्शन करने के लिये लिखी गई है। इसमें आये हुए 'निर्माणकाय' पद को श्रीयुत कविराज महोदय ने 'निर्माणचित्त' पदके अर्थ में प्रयुक्त हुआ समझा है। परन्तु इसके लिये आपने कोई युक्ति अथवा प्रमाण उपस्थित नहीं किया, जिसके आधार पर यहाँ 'चित्त' और 'काय' पद की समानार्थता स्वीकार की-जासके।

अभिप्राय है–उदयन के उक्त वाक्य में 'निर्माणकाय' पद, 'निर्माणचित्त' अर्थ के लिये प्रयुक्त किया गया है, इस बात में श्रीयुत कविराज महोदय के पास क्या प्रमाण है? क्यों नहीं, यहाँ 'काय' पद, शरीर अर्थ को कहता? सम्भव है, पञ्चशिख सूत्र और उदयन पंक्ति की वाक्यरचना में कुछ पाठगत आनुपूर्वी की[2] समानता को देखकर कदाचित् 'काय' और 'चित्त' पदों की समानार्थकता की कल्पना करली गई है, परन्तु ऐसी पाठसमानता के आधार पर भिन्नार्थक पदों को समानार्थक मान लेना उपहासास्पदमात्र है। ऐसी निराधार कल्पना किये जाने पर शब्द की अर्थप्रकाशन शक्ति का कुछ नियमन नहीं रह सकता। फिर तो

---

१. न्यायकुसुमाञ्जलि, पृष्ठ ५, वर्धमान कृत 'प्रकाश' टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से, ईसवी सन् १९१२ में प्रकाशित संस्करण।

२. 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय' पञ्चशिख, 'निर्माणकायमधिष्ठाय' उदयन।

'देवदत्तः परशुना काष्ठं छिनत्ति' तथा 'देवदत्तः असिना काष्ठं छिनत्ति' में 'परशु' [कुल्हाड़ा] और 'असि' [तलवार] पदों की; एवं 'यज्ञदत्तः अश्वेन ग्रामं याति' तथा 'यज्ञदत: गजेन ग्रामं याति' वाक्यों में 'अश्व' [घोड़ा] और 'गज' [हाथी] पदों की समानार्थकता को कौन रोक सकेगा ? इसलिये 'काय' पद का अर्थ शरीर और 'चित्त' पद का अर्थ मन स्वीकार करना पड़ता है, जैसा साहित्य में प्रसिद्ध है। इसकी पुष्टि के लिये पतञ्जलि, व्यास और वाचस्पति के उल्लेख पीछे दिखाये जाचुके हैं।

गौतमकृत न्यायसूत्रों के भाष्यकार आचार्य वात्स्यायन ने इस अर्थ का स्पष्ट किया है, कि योगी सिद्धि प्राप्त होने पर पृथक्-पृथक् शरीर और इन्द्रियों की रचना करता है। वात्स्यायन का लेख है।

'योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु युगपज्ज्ञेयान्युपलभते[1] ।'

योगी योगजन्य सिद्धि के प्राप्त होने पर, अस्मदादि साधारण जनों की अपेक्षा विलक्षण साधनों से युक्त हुआ, इन्द्रिय सहित दूसरे शरीरों की रचना करके उनमें एक साथ अनेक विषयों को उपलब्ध कर लेता है। वात्स्यायन के इस लेखमें इन्द्रिय और शरीरों की रचना पृथक्-पृथक् बतलाई गई है। यद्यपि नैयायिक मन की उत्पत्ति नहीं मानते। योगी इन्द्रिय और शरीरों की रचना करता है, और मुक्त हुए आत्माओं के बेकार मनों को लेकर उनकी सहायता से स्वरचित शरीरों में विषयों की उपलब्धि कर लेता है। तथापि शरीर और मन का पृथक्त्व, निश्चित रूप से स्पष्ट है। शरीर [काय] अलग, और मन [चित्त] अलग वस्तु हैं। उनकी समानार्थता सम्भव नहीं।

'भारतीय दर्शन' नामक ग्रन्थ के रचयिता श्रीयुत बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य महोदय ने अपने ग्रन्थ के ३१७ पृष्ठ पर लिखा है—'आचार्य पञ्चशिख ने अपने एक सूत्र में कपिल को निर्माणकाय का अधिष्ठान कर आसुरि को सांख्यतन्त्र के उपदेश देने की घटना का उल्लेख किया है।' इसी पंक्ति के सूत्र पद पर चिन्ह देखकर टिप्पणी में 'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय' इत्यादि पञ्चशिख सूत्रको उद्धृत किया है।

उपाध्याय महोदय के इस लेख के सम्बन्ध में, उक्त आधारों पर यह कहना उपयुक्त होगा, कि यदि उल्लिखित पञ्चशिख सूत्रके आधार पर 'निर्माण-काय का अधिष्ठान कर' ये पद लिखे गये हैं, तो ये असंगत हैं। प्रतीत होता है, यह केवल कविराजजीके लेखका, उपाध्यायजी द्वारा अन्धानुसरण किया गया है।

---

१. गौतम न्यायसूत्र, वात्स्यायनभाष्य, ३।२।१९॥

इसके अतिरिक्त श्रीयुत कविराज महोदयने लिखा है—

"Before he had plunged into निर्वाण, कपिल furnished himself with a सिद्धदेह and appeared आसुरि to impart to him the Secrets of सांख्यविद्या"[1]।

अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होनेके पूर्व, कपिल ने अपने सिद्धदेह को बनाया, और सांख्यविद्याके रहस्य को प्रकाशित करनेके लिये आसुरि के सामने प्रकट हुआ।

यहाँ आशंका होती है, जब कपिल अपने सिद्धदेहको बनाकर आसुरिके सामने प्रकट हुआ, उससे पहले कपिलकी क्या अवस्था थी ? श्रीयुत कविराजके कथनानुसार तबतक वह मुक्तावस्थामें नहीं था। तब क्या उसका कोई शरीर था ? या वह बिना शरीरके था। यदि विना शरीरके था, तो केवल आत्माका नाम कपिल कैसे हुआ ? लोकमें लौकिक दृष्टिसे केवल आत्माकी कोई स्थिति नहीं मानीजासकती। तो क्या श्रीयुत कविराज महोदयके विचारसे लोकमें केवल कपिलकी उतनी ही स्थिति थी, जितने समयमें उसने आसुरिके सामने प्रकट होकर सांख्यका उपदेश दिया ? इसका भी निर्णय किया जाना असम्भव है, कि यह कितना समय था ? घण्टे-दो घण्टे, दो-चार दिन, या साल-दो साल, अथवा इससे भी न्यूनाधिक। तथा विना शरीर की स्थिति में उसका नाम कपिल कैसे और कितने समय से चला आता था ? समय के निर्धारण में कोई उपोद्बलक संभव नहीं है।

तात्पर्य है—आसुरिको उपदेश देनेके लिये प्रकट होनेसे पूर्व कपिलकी स्थिति शरीररहित नहीं मानीजासकती। यदि शरीरसहित स्थिति मानी जाय तो वह शरीर कैसे उत्पन्न हुआ ? इस बातको स्पष्ट करना होगा। फिर वह शरीर योनिज हो अथवा अयोनिज, उसकी भौतिकतासे नकार नहीं किया जासकेगा। उसके अयोनिज होनेमें कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किये गये हैं। श्रीमद्भागवत और रामायण आदिके आधारपर, योनिज होनेके प्रमाण इसी प्रकरणमें प्रथम दिखाये जाचुके हैं। इसलिये आसुरिको उपदेश देनेसे पूर्व या पश्चात् जो कोई शरीर मानाजाय, उसकी भौतिकतासे नकार नहीं कियाजा-सकता। इसीलिये कपिलको ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार करना निर्भ्रान्त है।

प्रसंगप्राप्त निर्माणचित्त और निर्माणकाय पदों का अर्थ-विवेचन—

प्रतीत होता है, 'निर्माणचित्त' एवं 'निर्माणकाय' पदों के अर्थ में कतिपय आधुनिक विद्वानों को भ्रम हुआ है। भ्रान्ति के आधार पर कपिल के एक सिद्धदेह की कल्पना करली गई है। इसलिये इन पदों के अर्थ की विवेचना करना आवश्यक है।

---

१. सांख्यसप्तति-व्याख्या 'जयमंगला' नामक टीका की भूमिका में पृष्ठ ३ की टिप्पणी देखें।

योगसूत्र [१,२५] के भाष्य में उद्धृत पञ्चशिख वाक्य के 'निर्माणचित्त' पद की व्याख्या उस स्थल पर आचार्य व्यास ने कुछ नहीं की। वाचस्पति मिश्र ने भी, यद्यपि 'आदिविद्वान्' पद की विस्तृत व्याख्या की है, पर इस पद को छोड़ दिया है, इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। आगे कैवल्य पाद के चतुर्थ सूत्र 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' पर आचार्य व्यासने 'निर्माणचित्त' पद का कोई विवेचन नहीं किया। उसीकी तरह वाचस्पति मिश्र भी सर्वथा मौन है। यद्यपि इसी सूत्र की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने प्रसंगवश 'निर्माणकाय' पद का प्रयोग अवश्य किया है, परन्तु विवरण कुछ नहीं दिया।

[१, २५] योगसूत्र के भाष्य में उद्धृत पञ्चशिख वाक्य के 'निर्माणचित्त' पद की व्याख्या करते हुए, श्रीयुत बालराम उदासीन ने टिप्पणी में लिखा है— 'निर्माणचित्तं–योगबलेन स्वनिर्मितं चित्तम्'। इसीप्रकार योगसूत्र [४।४] की टिप्पणी में श्रीयुत उदासीन ने 'स्वसंकल्पेन निर्मितानि चित्तानि निर्माणचित्तानीत्युच्यन्ते' लिखा है। वस्तुतः श्रीयुत उदासीन महोदय अपनी ओर से इस पद का अर्थ करने में, उदासीन ही रहे हैं। यह सब ऊपर का लेख, योगसूत्र भाष्य पर योगवार्तिक नामक विज्ञानभिक्षुकृत व्याख्या ग्रन्थ से उद्धृत कियागया है। इसका अभिप्राय है—योगी के अपने संकल्प से रचे हुए चित्त, 'निर्माणचित्त' कहे जाते हैं।

पर वस्तुतः इस प्रसंग में विज्ञानभिक्षुकृत 'निर्माणचित्त' पद का अर्थ संगत नहीं है। पञ्चशिख के सूत्र में 'योगबल से स्वयम् [कपिल का] निर्मित चित्त 'निर्माणचित्त' है, यह कहना प्रकट करता है, कि इससे पहले कपिल का कोई चित्त नहीं था, तब उसकी क्या स्थिति थी? फिर संकल्प भी बिना चित्त के नहीं होसकता। तब कपिल ने संकल्प कैसे किया? इत्यादि प्रश्न व्याघ्र के समान सम्मुख उपस्थित होते हैं। उसके साथ अनेक प्रश्न सामने आते हैं, जिनको अभी दिखला चुके हैं। यदि प्रथम ही कपिल का चित्त विद्यमान था, तब उसे और चित्त बनाने की क्यों आवश्यकता हुई? इसका निरूपण अभी आगे किया है कि एक मुख्य चित्त के रहते योगी अन्य चित्तों की रचना क्यों करता है? यह प्रयोजन, प्रकृत में सर्वथा व्यर्थ एवं असंगत है। इसलिये इन बाधाओं के रहते उक्त पञ्चशिख सूत्र में 'निर्माणचित्त' पद का उपर्युक्त अर्थ संगत नहीं कहाजासकता।

एक बात और है, भिक्षु-संमत अर्थ में 'निर्माण' पद में कर्मार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय मानना पड़ता है। जो व्याकरणपद्धति के अनुसार असंगत है। यदि दुर्जनतोषन्याय से 'राज्ञा भुज्यन्ते इति राजभोजनाः शालयः' इत्यादि प्रयोगों के समान,

---

१. देखें—योगसूत्रभाष्य पर विज्ञानभिक्षुकृत व्याख्यान–योगवार्त्तिक, १।२५॥ तथा ४।४॥

कर्म में 'ल्युट्' मान लिया जाय, तो भी यहाँ 'निर्माण' पदमें 'ल्युट्' प्रत्यय, कर्म अर्थ में नहीं, प्रत्युत भाव में है, इसकेलिये एक उपोद्बलक प्रमाण हैं।

'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्'—[४।४] इस योगसूत्र पर भाष्य करते हुए व्यास लिखता है—

'अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति।'

अर्थात् योगी चित्त के कारण–अहंकार को लेकर निर्माणचित्तों को बनाता है। यहाँ यदि "निर्माण' पदमें कर्मार्थक 'ल्युट्' माना जाय, तो व्यासके वाक्यमें 'करोति' क्रियापद अनर्थक होजाता है। क्योंकि कर्म में 'ल्युट्' करने पर 'निर्मीयते इति निर्माणम्' इस निर्वचनके अनुसार 'निर्माण' पद का अर्थ होगा 'बनाया हुआ'। आगे 'चित्त' पद लगाकर अर्थ होगा 'बनाया हुआ चित्त'। व्यास के पूरे वाक्य का अर्थ होगा 'अहंकार कारण को लेकर बनाया हुआ चित्त'। अब वाक्य का 'करोति' क्रियापद अनर्थक होजाता है। क्योंकि इसे जोड़कर वाक्य का अर्थ होगा 'योगी अहंकार कारण को लेकर बनाये हुए चित्तों को बनाता है।' ऐसी वाक्यरचना उन्मत्तप्रलाप के समान है। इससे स्पष्ट होता है, आचार्य व्यास को यहाँ 'निर्माण' पद, भाव अर्थमें 'ल्युट्' प्रत्यय करके बनाना अभीष्ट है। भाव अर्थ में निर्वचन होगा 'निर्मितिः निर्माणम्' अर्थात् 'निर्माण' पद का अर्थ हुआ केवल 'रचना'। इसका चित्त पदके साथ समास होजाता है। 'निर्माणाय चित्तं निर्माणचित्तं, अथवा 'निर्माणार्थं चित्तं निर्माणचित्तं'। निर्माण अर्थात् रचना के लिये जो चित्त है वह 'निर्माणचित्त' कहाजायगा।

अब व्यासके पूरे वाक्यका अर्थ होगा 'योगी अहंकार कारणको लेकर रचना के लिये चित्तोंको बनाता है।' ऐसा अर्थ करने पर स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है—योगी किसकी रचनाके लिये चित्तों को बनाता है? इस प्रश्नका उत्तर, योगदर्शनका यह सम्पूर्ण प्रकरण है। जिसमें इस बातका निरूपण किया गया है, कि योगी अपने अनेक शरीर और अनेक चित्तों को, एक साथ नाना प्रकार के भोगों को भोगने के लिये बनाता है। इससे स्पष्ट है—योगी अपने अभीष्ट भोगों के निर्माणके लिये देह और चित्तों की आवश्यकतानुसार रचना करता है। यद्यपि उसका मुख्य चित्त और शरीर पहलेसे विद्यमान रहता है। ऐसी व्याख्या करनेपर व्यास की उपर्युक्त पंक्ति का प्रकरणानुसार सुसंगत अर्थ लगजाता है।

पञ्चशिख सूत्र में पठित 'निर्माणचित्त' पद का अर्थ अब हमारे सामने स्पष्ट होजाता है। यहाँ पर भी निर्वचन होगा-'निर्माण के लिये चित्त-निर्माणचित्त'। किसके निर्माण के लिये? तन्त्रके निर्माण के लिये, जिसके प्रवचन का निर्देश इसी सूत्रमें पञ्चशिख ने किया है। यहाँ पर भोगों के निर्माण का कोई प्रसङ्ग नहीं है। इसलिये यहाँ चित्त की रचना का कथन भी असंगत है। अतएव सूत्र का स्पष्ट अर्थ होगा-'आदिविद्वान् परमर्षि कपिल ने [तन्त्र के] निर्माण

की भावना से प्रेरित होकर, करुणा-वशीभूत हो, श्रासुरि के लिये तन्त्र का प्रवचन किया।' इसमें न चित्त की रचना का प्रसंग है, और न सिद्ध-देह के निर्माण का गन्ध। यह बात केवल कपिल के लिये नहीं, प्रत्युत प्रत्येक उस व्यक्ति के सन्मुख आती है, जो किसी महत्त्वपूर्ण कार्य को प्रारम्भ करने लगता है। उस समय उस कार्य के अनुकूल उसे अपनी चित्तवृत्ति बनानी पड़ती है। वही कपिल ने किया, जिसका उल्लेख पञ्चशिख करता है। इसके अतिरिक्त इन पदों के अर्थ में और कोई विशेषता नहीं है। संभवतः विज्ञानभिक्षु द्वारा [४।४ योगसूत्र के] उपर्युक्त व्यासभाष्य में व्यास के हार्दिक स्वारस्य की ओर उपयुक्त ध्यान न दिये जाने से पद का अर्थ भ्रान्तिजनक होगया। उसके पश्चाद्भावी लेखकों ने इस विषय में आँख मींचकर उसका अनुसरण किया।

आचार्य उद्यन ने न्यायकुसुमाञ्जलि में जो 'निर्माणकाय' पदका प्रयोग किया है, उसका अर्थ भी व्याख्याकारों ने उसीप्रकार किया है, जैसा कि हम अभी ऊपर निर्देश कर आये हैं। इस पद की व्याख्या करते हुए उपाध्याय वर्धमान अपनी 'प्रकाश' नामक टीका में लिखता है—

'शरीरैकनिष्पाद्यवेदादिनिर्माणार्थं कायो निर्माणकायः। सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्यायेति सम्प्रदायो वेदः। स चानादिरेव भगवता द्योत्यते।'

वेद आदि के निर्माण के लिये जो काय है, वही हुआ 'निर्माणकाय'। क्योंकि शरीर के द्वारा वेद सम्पन्न या उत्पन्न होसकता है। शिष्य के लिये[1] गुरु इसका सम्प्रदान करता है, इसलिये 'सम्प्रदाय' नाम वेद का है, और वह अनादि है, भगवान् केवल उसका प्रकाश करता है। वर्धमान के इस लेख से हमारा तात्पर्य यही है, कि इस प्रसङ्ग में, 'निर्माणकाय' पद का अर्थ 'निर्माणार्थं कायो निर्माणकायः' किया गया है। अर्थात् वेद आदि के निर्माण के लिये जो काय-शरीर है, उसमें अधिष्ठित होकर वेद का प्रकाश करने वाला। इससे स्पष्ट होता है— यहाँ योगबल से निर्मित काय 'निर्माणकाय' अभिप्रेत नहीं। इसीलिये आचार्य वात्स्यायन ने 'निर्माणचित्त' अथवा 'निर्माणकाय' पद का प्रयोग न करके प्रकारान्तर से 'निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि' लिखकर, उस अर्थ का प्रकाशन किया है। इन प्रमाणों के आधार पर निश्चित होजाता है, कि न तो 'निर्माणचित्त'

---

१. यह अर्थ वर्धमान ने, उदयन के 'सम्प्रदायप्रद्योतकः' पदका किया है। यह निश्चित है—भगवान्, वेद के प्रकाश के लिये स्वयं शरीर धारण नहीं करता, वह वेदवक्ता ऋषियों के हृदय में उस अनादि ज्ञान की भावना को प्रेरित कर देता है, जिससे प्रभावित होकर ऋषि, आदि सर्गकाल में वेदों का प्रवचन करते हैं। इसी प्रेरणा को कालान्तर में, उक्त रूप में वर्णन किया गया है।

ग्रौर 'निर्माणकाय' पद समानार्थक हैं, ग्रौर न इनसे कपिल के ग्राकस्मिक सिद्धदेह के रूप में प्रकट होने की कल्पना कीजासकती है। इसलिये कपिल को काल्पनिक मानना, ग्रथवा उसे ऐतिहासिक व्यक्ति न मानना, निराधार एवं ग्रसङ्गत है।

कपिल की ग्रनैतिहासिक-कल्पना का सम्भावित ग्राधार—

प्रतीत होता है, प्रथम प्रायः योरपीय विद्वानों ने ग्रौर ग्रनन्तर तदनुगामी कतिपय भारतीय विद्वानों ने ग्रपने इस विचार को एक विशेष भित्ति पर ग्राधारित किया है। इन विद्वानों को सांख्यषडध्यायी की रचना के सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय न होने, ग्रथवा तत्सम्बन्धी ग्रनेक सन्देह सन्मुख उपस्थित होने से, सांख्यसूत्रों को ग्रत्यन्त ग्राधुनिक रचना मान लेने के कारण, यह चिन्ता उत्पन्न हुई, कि इन सूत्रों के साथ, भारतीय परम्परा में सर्वत्र प्रसिद्ध कपिल का सम्बन्ध किस प्रकार दूर किया जाय ? ऐसी स्थिति में ग्रन्य कोई उपाय सम्भव न होने पर कपिल की ऐतिहासिक सत्ता से नकार कर देना सीधा मार्ग समझा गया। न होगा बांस, न बजेगी बांसुरी। क्योंकि जब कपिल कोई ऐतिहासिक व्यक्ति ही नहीं, तो उसके द्वारा सांख्यसूत्रों की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये किसी ग्राधुनिक विद्वान् ने कपिल के नाम पर इन सूत्रों को घढ़ डाला है। यह है, वह ग्राधारभूत भावना, जिससे प्रेरित होकर कपिल की ऐतिहासिकता पर हरताल फेरने का ग्रसफल प्रयत्न किया गया। ग्रगले प्रकरणों में इन सब बातों पर विस्तारपूर्वक परीक्षण ग्रौर विवेचन किया है।

कपिल सम्बन्धी इतने लेख से निम्नलिखित परिणाम सामने ग्राते हैं—

(१) ग्रत्यन्त प्राचीन काल में, देवहूति [माता] ग्रौर कर्दम [पिता] का पुत्र उत्पन्न हुग्रा, जिसका नाम कपिल रक्खा गया। यह जन्मान्तर के पुण्यों के कारण सिद्ध-योगी ग्रौर महातेजस्वी भाव को प्राप्त हुग्रा।

(२) यही कपिल सांख्यशास्त्र का प्रवर्त्तक था।

(३) ग्रपने लोकातिशायी विशेष गुणों के कारण, ऐतिहासिक साहित्य में इसको कहीं विष्णु ग्रौर कहीं ग्रग्नि का ग्रवतार कहकर वर्णन कियागया है। तथा कहीं ब्रह्मा का पुत्र कह कर स्मरण कियागया है। इससे इसके ग्रपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में किसीप्रकार की विपरीत भावना का उद्भावन नहीं कियाजाना चाहिये।

ग्रहिर्बुध्न्य संहिता में कपिल—

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की ग्रहिर्बुध्न्य संहिता में ग्रवतारों के प्रसंग में कपिल

का उल्लेख पाया जाता है। 'भद्र'[1] पद से विवक्षित अवतारों में कपिल की गणना कीगई है। संहिता का लेख है—

सिद्धि ददाति यो दिव्यां प्रसंख्यानमयीं पराम्।
देवः सिद्धिप्रदार्णेन कपिलः स निगद्यते॥ [५६। ३१, ३२]

इससे स्पष्ट है—संहिता किसी सांख्य-रचयिता कपिल का उल्लेख कर रही है। संहिता में कपिल अथवा उसके शास्त्र के सम्बन्ध के अन्य अनेक लेख हैं, जिनका हमने प्रसंगानुसार इस ग्रन्थ में आगे विस्तार के साथ विवेचन किया है। परन्तु प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि के लिये एक और वर्णन संहिता में इसप्रकार उपलब्ध होता है—

त्रेतायुग[2] के प्रारम्भ में जब जगत्, सत्त्व की न्यूनता और रजस् के आधिक्य से मोहाकुल होगया, तब लोककर्त्ता महान व्यक्तियों ने परस्पर मिलकर विचार किया—अब जगत् को उचित मार्ग पर लाने के लिये क्या करना चाहिये? उन्होंने अनेक वर्षों तक घोर तप किया, अर्थात् इस क्रान्ति के लिये अथक परिश्रम किया और अनेक कष्टों को सहा। उन लोककर्त्ता व्यक्तियों में एक कपिल था।[3] उसने लोकमर्यादा को स्थिर करने के लिये सांख्यशास्त्र की रचना की।

ततश्च कपिलः शास्त्राद्यावदंशमुदारधीः।
तत्सांख्यमभवच्छास्त्रं प्रसंख्यानपरायणम्॥

---

१. प्रस्तुत प्रसंग में इन अवतारों की कल्पना से हमें कोई प्रयोजन नहीं है। यह किसी भी प्राचीन अर्थ को प्रकट करने का एक प्रकारमात्र होसकता है। हमें इससे जो कुछ अभिमत है, वह ऊपर की पंक्तियों में स्पष्ट प्रतिपादित है।

२. अथ कालविपर्यासाद् युगभेदसमुद्भवे॥५०॥
त्रेतादौ सत्त्वसंकोचाद् रजसि प्रविजृम्भिते।
कामं कामयमानेषु ब्राह्मणेषु महात्मसु॥ ५१॥

३. मन्दप्रचारमासीत्तच्छास्त्रं यत्सुदर्शनम्।
ततो मोहाकुले लोके लोकतन्त्रविधायिनः॥५२॥
संभूय लोककर्त्तारः कर्तव्यं समचिन्तयन्।
अपान्तरतपा नाम मुनिर्वाक्संभवो हरेः॥५३॥
कपिलश्च पुराणर्षिरादिदेवसमुद्भवः।
हिरण्यगर्भो लोकादिरहं पशुपतिः शिवः॥५४॥
एते तप्त्वा तपस्तीव्रं वर्षाणामयुतं शतम्।
आदिदेवमनुज्ञाप्य देवदेवेन चोदिताः॥५५॥
विज्ञानबलमासाद्य धर्माद्देवप्रसादजात्॥५६॥
आविर्भूतं तु तच्छास्त्रमंशतस्ते ततक्षिम। [अहिर्बुध्न्यसंहिता, अध्याय ११]

विवेकशील कपिल ने सांख्यशास्त्र की रचना की, जिसमें पदार्थों का विवेचन कियागया है। इन लेखों से स्पष्ट है–जिस समय यह संहिता लिखी गई थी, उस समय के विद्वान् कपिल को एक ऐतिहासिक व्यक्ति मानते थे। उसने अपने काल के समाज की सेवा अथवा उद्धार के लिये, और लोक-मर्यादाओं को स्थापित करने के लिये महान प्रयत्न किया। वह हमारी तरह एक विशेष व्यक्ति था। उसने अपने जीवन में जो कुछ समाज की सेवा की, जिसका वर्णन प्राचीन साहित्य में अनेकशः उपलब्ध होता है, वह सब केवल आकस्मिक शरीर धारण की कल्पना में संभव नहीं। इसलिये ऐसी निराधार कल्पना सर्वथा असंगत एवं त्याज्य है।

फलतः यह सिद्धांत निश्चित रूप से मान्य है, कि देवहूति-कर्दम का पुत्र कपिल, एक ऐतिहासिक व्यक्ति था, जिसने अत्यन्त प्राचीन काल में भारतभूमि पर अवतीर्ण होकर सर्वप्रथम दर्शन, सांख्य का प्रवचन किया। अपने लोकातिशायी गुणों के कारण कहीं विष्णु अथवा अग्नि का अवतार और कहीं ब्रह्मसुत कहकर उसका वर्णन कियागया। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय द्वारा इन रूपों में वर्णित कपिल, वस्तुतः एक ही कपिल है।

अन्य कपिल—

भारतीय इतिहास परम्परा में कपिल नाम के अन्य अनेक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है।

(१) एक कपिल वह है, जिसके नाम पर कपिलवस्तु नामक नगर बसाया गया। इसका विशेष उल्लेख बौद्ध-ग्रन्थों में पायाजाता है। निश्चयपूर्वक नहीं कहाजासकता, कि वह कपिल कौनसा था।

कनिंघम ने 'दि एन्शन्ट ज्यॉग्रफी ऑफ इण्डिया' नामक अपने ग्रन्थ में कपिल, कपिलवस्तु अथवा कपिलनगर नामक नगर के सम्बन्ध में लिखा है—

'सूर्यवंश की गौतम शाखा के राजपूतों ने इस नगर को बसाया था। राजपूतों ने अपने नगर का नाम 'कपिल' अथवा 'कपिलवस्तु' किस कारण से रक्खा, यह एक विचारणीय बात है। आजकल इस नगर के जो भग्नावशेष उपलब्ध हैं, वे गोरखपुर जिले में 'नगर' अथवा 'नगरखास' के नाम से कहेजाते हैं। यह कस्बा चण्डोताल के पूर्वी तट पर बसा हुआ है। इस ताल के पश्चिम की ओर से 'सिध' नाम का छोटा-सा खाला [बरसाती पानी का स्रोत] आकर गिरता है। यह नाम [सिध-सिद्ध], जो कि एक पूर्ण और पवित्र व्यक्ति को कहता है, सदा ही प्राचीन ऋषि, मुनियों के लिये प्रयुक्त होता है। मेरे [कनिंघम के] विचार से प्रस्तुत प्रसंग में यह निर्देश महर्षि कपिल के लिये कियागया माना जासकता है। जिसकी कुटी तालाब के पश्चिम तट पर, विद्यमान नगर से दूसरी ओर होगी। गौतम वंशके राजपूत जब प्रथम ही यहाँ बसने के लिये आये, तो

वे उन ऋषियों की कुटियों के समीप बस गये होंगे। परन्तु उनकी गौओं के रम्भाने के कारण ऋषियों की तपस्या में विघ्न होता था। इसलिये उन राजपूतों ने तालके दूसरी ओर अर्थात् पूर्वी तट पर अपनी बस्ती बनाई और उसका नाम कपिल ऋषि के नाम पर रक्खा। कालान्तर में, उन्हीं राजपूतों के वंश में बुद्ध का जन्म हुआ।'

कनिंघम के इस लेख से प्रतीत होता है–कभी अत्यन्त प्राचीन काल में उक्त ताल के पूर्वी तट पर कपिल का आश्रम रहा होगा। जिसका स्मरण 'सिध' [–सिद्ध] नामक स्रोतसे होआता है। जब कभी सूर्यवंश की गौतम शाखा के राजपूतों ने वहाँ आकर अपना निवास बनाया, तब वे उस स्थान के साथ कपिल के सम्बन्ध को जानते थे। उस समय भी वहाँ कोई ऐसा आश्रम था, जिसमें यति लोग निवास करते थे। उनकी तपस्या में विघ्न के भय से ताल के दूसरे तट पर उन राजपूतों ने अपनी बस्ती बनाई। परन्तु उन्होंने उस नगर का नाम उक्त आश्रम के संस्थापक ऋषि के नाम पर ही रक्खा। हम नहीं कह सकते–कनिंघम की इस कल्पना अथवा अनुमान में सत्य का अंश कहाँ तक है। यदि यह सत्य हो, तो इससे ध्वनित होता है,–यह वही कपिल रहा होगा, जो सांख्य का प्रवर्त्तक मानाजाता है।

परन्तु इस आश्रम और नगर के नामकरण में अन्य अनुमान किये जा सकते हैं।

(क) यह सम्भव है, जिस आश्रम का ऊपर की पंक्तियों में उल्लेख किया गया है, वह ऐसे यति अथवा संन्यासियों या तपस्वियों का हो, जो महर्षि कपिल के अनुयायी थे। उनके सहवास से गौतमवंशीय राजपूतों के मस्तिष्क में कपिल के लिये महान आदरभाव उत्पन्न होगया हो, और पारस्परिक सहमति के कारण, राजपूतों ने अपने नगर का नाम उस आद्य आदरणीय ऋषि के नाम पर रख दिया हो। इस अनुमान में यह आवश्यक नहीं होता, कि उस आश्रम का संस्थापन कपिल ने किया होगा। अथवा वह स्वयं कभी वहाँ जाकर तपस्या करता रहा होगा। यद्यपि ऐसा मान लेने में भी कोई विशेष बाधा नहीं है।

(ख) दूसरा अनुमान किया जासकता है—कनिंघम ने जिस 'सिध' नामक खाले [स्रोत] का उल्लेख किया है, और जिसको नगर के 'कपिल' नामकरण का मूल आधार कल्पना किया है, उसके सम्बन्ध में हमारे पास कोई ऐसे प्रमाण नहीं हैं, कि उस खाले का 'सिध' नाम किस समय और किस कारण से हुआ? 'सिद्ध' पद का प्रयोग किसी भी अच्छे तपस्वी के लिये कियाजासकता है। यह कोई आवश्यक नहीं है, कि 'सिद्ध' पद का कपिल से ही सम्बन्ध हो। इसके लिये भगवद्गीता का 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' प्रबल प्रमाण नहीं कहाजासकता। क्योंकि भगवद्गीता में विशेषकर कापिल सांख्यसिद्धान्तों का निरूपण है, सम्भवतः

इस सम्बन्ध से व्यासने, कृष्णमुखद्वारा अन्य सिद्धों की अपेक्षा कपिल को मुख्य प्रकट किया है। इसका यह अभिप्राय नहीं निकाला जासकता, कि अन्य कोई भी उस कोटि का सिद्ध नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में केवल खाले के 'सिध' नाम से नगर के 'कपिल' नामकरण की कल्पना इतनी सकारणक नहीं कही जा-सकती। इस कारण उक्त नामकरण के लिये एक अनुमान यह किया जासकता है, कि कदाचित् गौतम शाखा के वे राजपूत, कापिल सिद्धान्तों के अनुयायी रहे हों। जब अपने पुराने स्थान को छोड़कर नये स्थान में बस्ती बनाने के लिये यहाँ आये, तो उन्होंने अपने परम्परागत धर्माचार्य के नाम पर अपने नगर का नाम रक्खा हो। भारतीय जनता में इसप्रकार की भावना आज भी काम करती देखी जाती है। नई आबादियों के नाम, अपने पुराने मान्य ऋषि मुनियों अथवा धर्म प्रवर्त्तक आचार्यों के नाम पर रख दिये जाते हैं।

(ग) तीसरा अनुमान यह होसकता है—कनिंघम ने उस स्थान में यतियों के एक आश्रम की कल्पना, केवल खाले के 'सिध' नाम के आधार पर की है। परन्तु यह अभी निर्देश कर चुके हैं, कि हमारे पास खाले के 'सिध' नामकरण के कारणों का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। ऐसी स्थिति में वहां पर किसी आश्रम के होने की कल्पना सकारणक नहीं कही जासकती। इसलिये सम्भव है, गौतम शाखा के उन राजपूतवंशों का, जो उस स्थान में बसने आये थे, कपिल नाम का कोई पूर्वज हो, जो अवश्य ही अनुपम वीर पुरुष रहा होगा। उसीके नाम पर अपनी नई बस्ती का नाम उन राजपूतों ने रक्खा हो। अपने पूर्वज वीर पुरुषों के नाम पर आज भी भारतीय ऐसा करते हैं। लाहौर की आधुनिक नई बस्तियों के कृष्णनगर, रामनगर, अर्जुननगर आदि नामकरण इसी आधार पर हैं। यह परम्परा भारत में ही नहीं, भारत से बाहर भी प्रायः सब देशों में देखी जाती है। उसीका नमूना भारत के [१]मांटगुमरी, [२]हार्वर्ट बाजार, [३]ईजिट नगर, [४]डलहौजी और [५]क्लाईब स्ट्रीट आदि हैं।

इस अनुमान में यह विशेषता है, कि गौतम शाखा के राजपूत वंश का पूर्वज वीर पुरुष कपिल, सांख्य का प्रवर्त्तक कपिल नहीं कहाजासकता। इसके अतिरिक्त नगर के इस नामकरण के सब अनुमानों में, यह कल्पना निराधार होजाती है,

---

१. पंजाब का एक जिला।
२. देहरादून (यू० पी०) जिले में, सहारनपुर–चकरोता और देहरादून चकरोता, सड़कों के संगम पर यह बस्ती है।
३. बरेली (यू० पी०) के पास एक बस्ती।
४. पंजाब के गुरदासपुर जिले में, पर्वतीय प्रदेश का एक नगर।
५. कलकत्ता में एक बाजार।

कि जब सूयवंश की गौतम शाखा के राजपूत वहाँ बसने आए, उस समय अथवा उसके कुछ समीप पूर्व ही कपिल ऋषि का वहाँ आश्रम था और वह स्वयं वहाँ निवास करता था, जो कपिल सांख्य का प्रवर्त्तक है।

प्रह्लादपुत्र, असुर कपिल—

(१) बौधायन धर्मसूत्र (२।६।३०) में एक और कपिल का उल्लेख आता है। जिसको प्रह्लाद का पुत्र और असुर-जातीय बताया गया है। कहा जाता है—इसने चार आश्रमों का विभाग किया था। परन्तु बोधायन के लेख से प्रतीत होता है—यह विचार सूत्रकार का अपना नहीं है। इस प्रसंग का बोधायन का लेख है—

ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम्। २९।

तत्रोदाहरन्ति—प्राल्हादिर्ह वै कपिलो नामासुर आस। स एतान् भेदांश्चकार देवैः सह स्पर्धमानः। तान् मनीषी नाद्रियेत।३०।

यहाँ पर धर्मसूत्रकार बौधायन ने प्रकट किया है—कोई आचार्य, एक गृहस्थ आश्रम ही मानते हैं। ब्रह्मचर्य आदि अन्य आश्रमों को नहीं मानते; क्योंकि उनमें सन्तानोत्पादन नहीं कियाजासकता। उन अन्य आश्रमों के सम्बन्ध में निन्दनीय भावना का प्रदर्शन करने के विचार से वे आचार्य यह उदाहृत करते हैं, कि प्रल्हाद के पुत्र असुर कपिलने देवों की स्पर्धा के कारण, आश्रमों के चार विभाग कर दिये। परन्तु विचारशील व्यक्ति को उन आचार्यों का आदर नहीं करना चाहिये।

वस्तुतः आश्रमों के भेद का यह कारण बताना उन आचार्यों का ही विचार है, जो एक गृहस्थ आश्रम मानते हैं, और समझते हैं, कि यज्ञादि अनुष्ठान के द्वारा वही देवों के लिये उपयोगी है। तथा सन्तानोत्पत्तिके द्वारा उसी क्रम को निरन्तर बनाए रखना आवश्यक है। बौधायन का यह अपना विचार प्रतीत नहीं होता। बौधायन ने किन आचार्यों के आधार पर ऐसा लिखा है, और इसका मूल क्या है? अभी तक हम पता नहीं लगा सके। हमारा केवल इतना प्रकट करने का उद्देश्य है, कि चार आश्रमों की निन्दा की भावना, बौधायन का अपना मत नहीं है, प्रत्युत वह उन आचार्यों को अनादरणीय बताता है, जिन्होंने एकमात्र गृहस्थ आश्रम का विधान माना है। इसलिये बौधायन के इस लेख को देखकर किसीको यह भ्रम न होना चाहिये, कि यह चार आश्रमों का भेद, किसी असुर जातीय कपिल के मस्तिष्क की उपज है। ये विचार हमने प्रसंगवश लिख दिये हैं। मुख्यतः उक्त उद्धरण का प्रयोजन यही है, कि सांख्यकर्त्ता कपिल के अतिरिक्त अन्य कपिल नाम के व्यक्तियों का उल्लेख ग्रन्थों में पायाजाता है। प्रल्हादपुत्र कपिल का, सांख्यकर्त्ता कपिल के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। सांख्याचार्य कपिल

वेदों को अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण मानता है।[१]

धर्मस्मृतिकार कपिल—

(३) 'कपिलस्मृति' नामक धर्मग्रन्थ का रचयिता एक अन्य कपिल है। कहाजाता है, उसने दस अध्यायों में यह स्मृतिग्रन्थ लिखा था। जिसके प्रत्येक अध्याय में एक सौ श्लोक थे। इसमें श्राद्ध, विवाह, प्रायश्चित्त, दत्तक पुत्र आदि धर्मों का प्रतिपादन कियागया है। कपिलकाल में ब्राह्मणों के पतन का भी उल्लेख है। 'संस्कारमयूख' में एक 'कपिलसंहिता' का भी उल्लेख[२] पायाजाता है। यह संहिताकार कपिल 'स्मृतिकार कपिल से अतिरिक्त है, या नहीं ? यह निश्चयपूर्वक नहीं कहाजासकता।

उपपुराणकार कपिल—

(४) शैव सम्प्रदाय की 'सूतसंहिता' में एक उपपुराणकर्त्ता कपिल का उल्लेख उपलब्ध है। वहाँ लिखा है—

अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि तु। [१।१२]

अर्थात् मुनियों ने अन्य उपपुराणों का कथन किया है। इसके आगे संहिता में उन उपपुराणकर्त्ता मुनियों के नाम-निर्देश किये गये हैं। उसी प्रसंग में लिखा है—

'कपिलं सप्तमं विदुः' [१।१४]।

अर्थात् सप्तम उपपुराण कपिल रचित समझना चाहिये। इसीप्रकार का उल्लेख कूर्मपुराण के प्रारम्भ [१।१६] में आया है। वहाँ अठारह पुराणों के नामों का उल्लेख कर, उपपुराणों की गणना में सप्तम 'कापिल' उपपुराण का उल्लेख किया गया है।

विश्वामित्र-पुत्र कपिल—

(५) महाभारत में एक विश्वामित्र के पुत्र कपिल का उल्लेख[३] पायाजाता है। उस प्रकरण में विश्वामित्र की उत्पत्ति बताये जाने के अनन्तर उसके पुत्रों का उल्लेख है। उनमें एक कपिल नाम आया है। इस प्रसंग की ऐतिहासिक तथ्यता विचारणीय है।

इसप्रकार अनेक कपिलों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है। सम्भव है, कपिल नाम के अन्य भी कोई आचार्य अथवा संमान्य व्यक्ति उस काल

---

१. देखें—सांख्यदर्शन, अध्याय ५, सूत्र ४१, ४६, ५१॥

२. श्रीयुत पाण्डुरंग वामन काणे M. A., LL. M. रचित 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र' Vol. I, P. 524 की सूची के आधार पर।

३. अनुशासन पर्व ७।५६॥ कुम्भघोण संस्करण।

में रहे हों, जिनके सम्बन्ध में आज हमको कुछ ज्ञात नहीं है। परन्तु इस प्रकरण के उल्लेखों के आधार पर यह निश्चित है, कि देवहूति-कर्दम के पुत्र, प्रथम कपिल के अतिरिक्त शेष सब कपिल नामक व्यक्तियों अथवा आचार्यों का सांख्यशास्त्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

कपिल का काल—

सांख्यशास्त्र प्रवर्त्तक कपिल का काल अत्यन्त प्राचीन कहाजासकता है। उसका साक्षात् निर्देश कियाजाना कठिन है। रामायण[1] और महाभारत[2] के उल्लेखों से पता लगता है, कि इनमें वर्णित युद्धों के काल से बहुत पूर्व कपिल का प्रादुर्भाव होचुका था। और अधिक स्पष्ट करने के लिये कपिल का काल, उपनिषत् काल से पूर्व कहाजासकता है।[3]

प्रथम निर्देश कर आये हैं, कि अन्यतम उपनिषद् श्वेताश्वतर में सांख्य-प्रवर्त्तक कपिल का साक्षात् नाम[4] उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त सांख्यसिद्धान्तों

---

१. रामायण बालकाण्ड [निर्णयसागर प्रेस, बम्बई के सटीक संस्करण के अनुसार] के ७० अध्याय में राम के पूर्व वंश का उल्लेख कियागया है। रामायण के अनुसार वशिष्ठ ने जनक के सम्मुख यह वंश का वर्णन किया है। इसमें ब्रह्मा से लेकर राम पर्यन्त चालीस पीढ़ियों का उल्लेख है। अर्थात् ब्रह्मा प्रथम पुरुष है, उसकी चालीसवीं पीढ़ी में राम हुआ है। इस वंशपरम्परा में राजा सगर का नम्बर बीसवाँ है। इसके पिता असित को शत्रुओं का बहुत प्रतिरोध सहन करना पड़ा, और राज्य भी नष्टप्राय हो-गया। असित अपनी पत्नी को गर्भवती छोड़कर स्वर्गवासी हुआ। अनन्तर सगर उत्पन्न हुआ, उसने समय पाकर नष्ट राज्य का पुनः उद्धार किया, और अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कर अपने वंश की पूर्ण प्रतिष्ठा को अधिक प्रशस्त किया। महर्षि कपिल इसी राजा का समकालिक था। भारतीय परम्परा के अनुसार दाशरथि राम का प्रादुर्भाव त्रेतायुग के अन्तिम भाग में मानाजाता है। यदि इसमें ऐतिहासिक तथ्य है, तो हम कह सकते हैं—राजा सगर का समय त्रेता का प्रारम्भिक अथवा मध्य भाग होना चाहिये। रामायण-प्रदर्शित वंश-परम्परा के अनुसार यही समय सम्भव है।

२. महाभारत [कुम्भघोण संस्करण] शान्तिपर्व के ३२६ अध्याय में कपिल आसुरि के संवाद का उल्लेख है। वहाँ इसको पुरातन इतिहास कहागया है। इससे उस उल्लेख के समय में भी इसकी अत्यन्त प्राचीनता प्रतीत होती है।

३. यद्यपि हमने यह बात आधुनिक रीति पर लिख दी है। परन्तु हम इस आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कल्पित तथाकथित क्रमिक काल परम्परा के अनुयायी नहीं हैं।

४. श्वेताश्वतर ५। २॥

का प्रतिपादन, इस उपनिषद् में तथा अन्य अनेक उपनिषदों में पायाजाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक के प्रारम्भिक भाग में तेजस्-अप् अन्न का निरूपण कियागया है। ये तीनों यथाक्रम रजस्-सत्त्व-तमस् के प्रतीक हैं। उपनिषद् का यह प्रकरण स्पष्टरूप से निर्देश करता है, कि रजस्-सत्त्व-तमस् का संघात तेज आदि के रूप में परिणत होजाता है। छान्दोग्य [६।३।३, ४] में उल्लेख है–सर्गादि काल में सत्त्व आदि प्रत्येक को 'त्रिवृत्' कर दिया जाता है। 'त्रिवृत्' पद का अर्थ–सत्त्व-रजस्-तमस् की अन्योन्यमिथुनवृत्तिना होसकता है। अगले चतुर्थ खण्ड में इसी विचार को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रकट किया गया है।

उपनिषद् में कहा है–अग्नि का रोहित रूप, तेज अर्थात् रजस् का रूप है। परन्तु रजस् इस स्थिति में अपने विशुद्ध रूप को छोड़ देता है, और जिसको हम तेज कहते हैं, वहाँ रजस्-सत्त्व-तमस् तीनों रूप विद्यमान हैं, यही बात सत्य है। इसीप्रकार आदित्य का जो रोहित रूप है, यद्यपि वह तेज अर्थात् रजस् का है, परन्तु इस स्थिति में वह अपने विशुद्ध रूप को छोड़ देता है, हम जिस आदित्य को देखते हैं, उसमें तीनों रूप हैं, अर्थात् रजस्-सत्त्व-तमस् ये तीनों वहाँ विद्यमान हैं, यही सत्य है। यही अर्थ आगे चन्द्रमा और विद्युत् के उदाहरणों को देकर प्रकट कियागया है। ये दृष्टान्त, इस सब दृश्य-अदृश्य व्यक्त ब्रह्माण्ड के उपलक्षण हैं। इसीलिये इस प्रकरण के उपसंहार में उपनिषद् कहती है—

यद्विज्ञानमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इति···इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति। [छा० ६।४।७]

जिसको हम जान पाते हैं, वह सब, इन तीन का समास अर्थात् संघात है। पुरुष के संसर्ग से इनका यह 'त्रिवृत्' अर्थात् अन्योन्यमिथुन होजाता है। उसीका परिणाम यह सब संसार है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् [१।४] में 'त्रिवृत्' पद का प्रयोग, सत्त्व-रजस्-तमस् के लिये कियागया है। इस कण्डिका में प्रयुक्त अन्य संख्या भी सांख्य के पदार्थों के साथ संतुलित होती है। सोलह विकार, पचास प्रत्ययसर्ग, आठ प्रकृति, मन सहित छह ज्ञानेन्द्रिय आदि। इसी अर्थ में 'प्रधान' और 'प्रकृति' पदों का श्वेताश्वतर उपनिषद् [१।१०॥४।१०] उल्लेख करती है। चतुर्थ अध्याय की ५ और ६ कण्डिका द्रष्टव्य है। इसमें प्रकृति के स्वरूप, और प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध का वर्णन है।

कठ उपनिषद [१।३।१०।११] में इन्द्रिय, तन्मात्र, मन, अहंकार, महत्, अव्यक्त और पुरुष, इन सांख्य-प्रतिपाद्य पदार्थों का उल्लेख आता है।

प्रश्न उपनिषद् [४।८] में पृथिव्यादि स्थूल भूत और तन्मात्र–सूक्ष्म भूतों के कारण–तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख है।

शांखायन आरण्यक [५।५] में एक वाक्य इसप्रकार आता है—

'मन एवास्या एकमंगमुदूढं तस्य धीः कामाः परस्ताद् प्रतिविहिता भूतमात्राः।'

मन इसका [प्रज्ञा का] ही एक अंगभूत प्रकट होता है, काम संकल्प आदि उसीके धर्म हैं। उसके अनन्तर भूतों के कारण-तन्मात्र का क्रम आता है। आरण्यक के इस प्रकरण में प्रथम दश इन्द्रिय और उनके दश विषयों का उल्लेख कियागया है। अन्त में यह मन का वर्णन है।

इन सब निर्देशों के द्वारा स्पष्ट होजाता है—उपनिषदों से पूर्व, सांख्य-सिद्धान्तों की इसी रूप में विद्यमानता थी। यद्यपि सांख्य-सिद्धान्तों का मूल, वेदों में विद्यमान है, परन्तु उसके आधार पर कपिल ने सर्वप्रथम इन सिद्धान्तों को दार्शनिक रूप दिया, जो उपनिषद् आदि में प्रतिफलित हैं। इन विचारों का विस्तारपूर्वक विवेचन 'सांख्य-सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ के द्वितीय प्रकरण में किया है। यहाँ केवल प्रसंगवश दिग्दर्शन मात्र है, जिससे कपिल के काल के सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रकाश पड़ सके।

कपिल-काल के सम्बन्ध में प्रकाश डालनेवाला एक अन्य लेख, पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की अहिर्बुध्न्य संहिता में स्पष्ट है। वहाँ[1] लिखा है—त्रेतायुग के प्रारम्भ में जब जगत् मोहाकुल होगया, तब कुछ लोककर्त्ता व्यक्तियों ने जगत् को पूर्ववत् सुव्यवस्था में लाने का महान प्रयत्न किया। उन लोककर्त्ता व्यक्तियों में एक, सांख्यशास्त्र—प्रणेता कपिल था। इससे परिणाम निकलता है—उक्त संहिताकार के विचार से कपिल के प्रादुर्भाव का समय, सत्ययुग का अन्त होने पर त्रेतायुग का प्रारम्भिक या मध्य काल होना चाहिये। पीछे निर्दिष्ट रामायण के लेखों से यही विचार पुष्ट होता है।

यद्यपि अभी तक युगों की कालगणना के सम्बन्ध में हम अपने निश्चित विचार प्रकट नहीं करसकते। ऐसी स्थिति में कपिल का काल, सत्ययुग के अन्त अथवा त्रेतायुग के प्रारम्भ या मध्य में माने जाने पर, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहाजासकता, कि अब से कितने वर्ष पूर्व यह काल रहा होगा। अगले पृष्ठों में हम कपिल के उत्पत्तिस्थान का निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे। वहाँ सरस्वती नदी के तट पर कर्दम के आश्रम का उल्लेख है, जहाँ कपिल का जन्म हुआ। इससे यह प्रतीत होता है—कर्दम ऋषि भारत में उस समय रहा होगा, जब सरस्वती नदी अपनी पूर्ण धारा में प्रवाहित होती थी। क्योंकि किसी ऋषि के आश्रम का, नदी के सूखे हुए स्रोत के समीप बसना, या उसका ऐसा वर्णन किया जाना, असंगत तथा उपहासास्पदमात्र होगा। सरस्वती नदी के सूखे जाने का समय, ऐतिहासिकों

---

१. अहिर्बुध्न्यसंहिता, अध्याय ११, श्लोक ५०–५४॥

ने जो समीप-से-समीप कल्पना किया है, वह अब से लगभग पच्चीस सहस्र वर्ष पूर्व है। अर्थात् २५ सहस्र वर्ष से अधिक होचुके हैं, जब सरस्वती नदी की उमड़ती हुई सलिल धारा, भौगोलिक परिवर्तनों के कारण, काल के गाल में विलीन होगई। उस समय से पहले ही कभी कर्दम ऋषि का आश्रम, उसके तट पर रहा होगा, न मालूम कितने पहले। इससे कपिल के समय का निर्णय करने में पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।

विष्णुपुराण सत्ययुग में कपिल का जन्म ग्रहण करना लिखता है।

'कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृक्।
ददाति सर्वभूतानां सर्वभूतहिते रतः' ।। [३।२।५४]

अर्थात् सत्ययुग में जन्म ग्रहण कर कपिल ने, जनता के कल्याण के लिये उत्कृष्ट ज्ञान का उपदेश दिया।

कालीपद भट्टाचार्य का मत और उसका विवेचन—

कालीपद भट्टाचार्य महोदय ने अपने एक[1] लेख में कपिल का समय निश्चित करने के लिए, ईश्वरकृष्ण की ७१वीं कारिका में प्रदर्शित शिष्यपरम्परा के २५ आचार्य, कपिल और ईश्वरकृष्ण के बीच में गणना करके, और प्रत्येक के लिये तीस वर्ष का समय देकर वताया है—ख्रीस्ट पूर्व सप्तम शतक के पहले कपिल का समय होना चाहिये। परन्तु भट्टाचार्य महोदय ने इस दिशा में कोई प्रकाश नहीं डाला, कि ख्रीस्ट सप्तम या अष्टम शतक से कितने पहले कपिल का होना सम्भव है।

प्रायः इसप्रकार के काल-निर्णयों में समझा जाता है, कि अनुमानित काल के आस-पास उक्त आचार्य का समय होना चाहिये। ऐसी स्थिति में यह माना जासकता है, कि भट्टाचार्य महोदय, कपिल का समय, ख्रीस्ट पूर्व अष्टम शतक के लगभग मानते हैं। इस सम्बन्ध में हम इतना ही कहना चाहते हैं, कि भट्टाचार्य महोदय ने जिस आधार पर गणना की है, वह अपूर्ण और काल्पनिक है।

आपने सांख्यकारिका और उनकी व्याख्या माठरवृत्ति तथा जयमंगला से[2] दस आचार्यों के नामों का निर्देश किया है। चार का निर्देश गौडपाद भाष्य से, और एक 'अत्रि' का नाम गुणरत्नसूरि के 'आत्रेय तन्त्र'[3] पदप्रयोग के आधार

१. I. H. Q. Sept, 1932, P. 510-11.

२. कारिका ६९-७० के आधार पर, कपिल-आसुरि-पञ्चशिख। माठरवृत्ति—[७१ कारिका]—भार्गव-उल्लूक-वाल्मीकि-हारीत-देवल। जयमंगला—गर्ग, गौतम। गौडपाद भाष्य [का० १]-सनक-सनन्दन-सनातन-वोढु।

३. हरिभद्रसूरि विरचित 'षड्दर्शनसमुच्चय' की गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या, रायल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता संस्करण, पृ० १०९, पंक्ति १५।

पर कल्पना किया है। ग्यारह नाम ऋषितर्पण मन्त्र[1] से लेलिये गये हैं। इस-प्रकार कपिल से लेकर ईश्वरकृष्ण तक २६ आचार्य गिने हैं। इस परम्परा को भट्टाचार्य महोदय ने अविच्छिन्न बताया है। सम्भवतः आप इसमें अन्य किसी आचार्य के सम्मिलित होने का अवकाश नहीं समझते।

हमने गणना के इस आधार को अपूर्ण इसलिये कहा है, कि सांख्यकारिका की अन्यतम व्याख्या युक्तिदीपिका[2] में अन्य अनेक सांख्याचार्यों का इसी परम्परा में उल्लेख है। वहाँ उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त ग्यारह नामों का निर्देश हैं, तथा उसके आगे 'आदि' पद लगादियागया है। इनके अतिरिक्त महाभारत (१२।-३२३।५६-६२ कुम्भघोण संस्करण) और बुद्धचरित (१२।७६) के आधार पर, सात और सांख्याचार्यों का पता लगता है। इसप्रकार भट्टाचार्य द्वारा प्रस्तुत सूची में यदि इन १८ आचार्यों को और जोड़ दिया जाय, तो उनकी विचार पद्धति से ही कपिल के समय में पाँच-छह शताब्दियों का अन्तर आजायेगा। इतने पर भी हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है, जिससे हम यह जान सकें, कि उक्त सूची में प्रदर्शित सांख्याचार्यों के अतिरिक्त अन्य कोई सांख्याचार्य हुआ ही न हो। इसलिये यही कहाजासकता है, कि ये जो थोड़े बहुत नाम सांख्याचार्यों के जहाँ तहाँ उल्लिखित हैं, इतने में आचार्यों की सूची समाप्त नहीं होजाती। ये तो केवल परम्पराप्राप्त कुछ प्रसिद्ध आचार्यों के नाम हैं। इनके अतिरिक्त न मालूम और कितने आचार्य हुए होंगे, जिनके सम्बन्ध में आज हम कुछ नहीं जानते। इसके अतिरिक्त आचार्यों के ये नाम अविच्छिन कालिक आनुपूर्वी के अनुसार हैं; इसका कोई आधार नहीं है। इन आचार्यों की विद्यमानता के अन्तराल में एक-दूसरे से कितना कालिक भेद रहा हो, इसे कौन आँक सकता है। इसलिये कपिल के कालनिर्णय का भट्टाचार्यप्रदर्शित प्रकार युक्तियुक्त नहीं कहाजासकता। यह भारतीय परम्परा तथा साहित्य के भी विरुद्ध है।

शिष्यपरम्परा के प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है। पं० भगवद्दत्त बी० ए० ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' नामक ग्रन्थ[3] में लिखा है—माठर-वृत्ति में जिन पाँच[4] सांख्याचार्यों का उल्लेख है, वे पञ्चशिख के साक्षात् शिष्य

---

१. 'सनकस्तृप्यतु सनन्दनस्तृप्यतु' इत्यादि। 'अथर्ववेद परिशिष्ट' ४३।३।१-२५।। में इनका उल्लेख है।
२. खीस्ट १९३८ में कलकत्ता से प्रकाशित।
३. देखें—'भारतवर्ष का इतिहास' पं० भगवद्दत्त कृत, पृष्ठ २१३।
४. सांख्यसप्तति की ७१वीं आर्या की व्याख्या में माठर ने भार्गव, उलूक वाल्मीकि, हारीत और देवल इन पाँच सांख्याचार्यों का कपिल की शिष्य-परम्परा में उल्लेख किया है।

हैं। अभिप्राय है—उन्होंने सीधा पञ्चशिख से सांख्यज्ञान प्राप्त किया, अतएव उनका अस्तित्व पञ्चशिख काल में समझाजाना चाहिये।

परन्तु पण्डित जी ने इस स्थापना की पुष्टि के लिये उस प्रसंग में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। वस्तुतः माठर की उन पंक्तियों से इस भावना की पुष्टि नहीं होती। पञ्चशिख से भार्गव आदि को सांख्य-ज्ञान की प्राप्ति का कथन, उनकी परम्परा का द्योतक है। अन्यथा मूल कारिका के 'शिष्यपरम्परया-गतम्' इन पदों का अर्थ के साथ सामञ्जस्य कैसे होगा ? यदि पण्डित जी के विचार को ठीक मानाजाय, तो माठर की अगली पंक्ति [तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्] के आधार पर यह मानना होगा, कि उन पाँचों आचार्यों से ईश्वरकृष्ण ने सांख्य-ज्ञान प्राप्त किया। अर्थात् ईश्वरकृष्ण उन पाँचों आचार्यों का साक्षात् शिष्य मानाजायेगा। यह कथन असंगत होगा, क्योंकि ईश्वरकृष्ण उन आचार्यों का समकालिक किसी भी अवस्था में नहीं कहाजासकता। ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा वे आचार्य अतिप्राचीन[1] हैं। यदि पण्डित जी के कथन को थोड़ी देर के लिये मानलियाजाय, तो ईश्वरकृष्ण से पूर्व शिष्यपरम्परा की चौथी पीढ़ी में कपिल का समय आजाता है, जो पण्डित जी की ही अपनी मान्यताओं के विरुद्ध है।

कपिल की जन्मभूमि—

कपिल ने भारतवर्ष में किस स्थान को अपने जन्म से उज्ज्वल किया, इसका निर्णय करने के लिये अभी तक कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं होपाये हैं। श्रीमद्भागवत तथा पुराणों के वर्णन से प्रतीत होता है–कर्दम प्रजापति का आश्रम सरस्वती[2] नदी के तट पर बिन्दुसरस् से कुछ अन्तर पर विद्यमान था। ब्रह्मावर्त्त देश का सम्राट्[3] मनु, एक बार कर्दम ऋषि के आश्रम में आया। यदि ब्रह्मावर्त्त की वही सीमा मानलीजाय, जो मनुस्मृति[4] में वर्णित है, तो कहना होगा–सरस्वती और दृषद्वती नाम की दो नदियों के मध्य का प्रदेश ब्रह्मावर्त्त था। मनुस्मृति में इन नदियों को देवनदी लिखा है। इनके सम्बन्ध में अभी तक जो कुछ अनुसन्धान[5] हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है—वर्त्तमान अम्बाला ज़िले की

---

१. देखिये, इसी ग्रन्थ का 'अन्य प्राचीन सांख्याचार्य' नामक अन्तिम प्रकरण।

२. भागवत, ३। २४। ६॥ ३। २१। ३३॥ वायुपुराण [पूना संस्करण] ३८। ६-७॥ में कर्दम ऋषि का आश्रम ऐसे स्थान पर बताया है, जहाँ सदा बहने वाली नदियाँ और स्वच्छ जल के सरोवर थे।

३. भागवत, ३। २१। २५॥

४. मनुस्मृति, २। १७॥

५. The geographicol Dictionary of Ancient and Medieval India, By नन्दूलाल दे, Ancient geogrephy of India, By कनिंघम।

जगाधरी तहसील की लगभग पश्चिम और पूर्व दक्षिण की सीमाओं को ये नदियाँ बनाती हैं। आगे इनका बहाव कुछ पश्चिम की ओर होजाता है। इस प्रदेश के उत्तर पूर्व में वर्त्तमान नाहन [सिरमौर] राज्य का कुछ भाग, और दक्षिण पश्चिम में करनाल, हिसार जिले और जीन्द राज्य के अधिक भाग, प्राचीन ब्रह्मावर्त्त प्रदेश में परिगणित होते हैं[1]।

इन दोनों नदियों में से सरस्वती नदी के चिह्न आज भी विद्यमान हैं। इसके स्रोतों को अनेक स्थलों पर हमने स्वयं देखा है। इसके स्रोतों के कुछ चिह्न आजकल सिरमौर राज्य के अन्तर्गत उपलब्ध होते हैं, जो जगाधरी तहसील के ऊपर की शिवालक पहाड़ियों में और उसके पर्याप्त ऊपर तक चले गये हैं। यहाँ एक स्थान 'सरस्वती कुण्ड' नाम से प्रसिद्ध है। इसके समीप एक मन्दिर भी है, जो 'आदिबद्री' नाम से प्रसिद्ध है। यह वर्त्तमान मन्दिर लगभग दो सौ वर्ष का बना हुआ है। सिरमौर राज्य में प्रविष्ट होने के लिये अन्यतम द्वार–हरिपुर दर्रा (खोल) से पश्चिम की ओर के दर्रे में यह मन्दिर है। यह दर्रा, मन्दिर के नाम से ही प्रसिद्ध है। वहाँ के और उसके ऊपर के पर्वतों की स्थिति को देखने से यह प्रतीत होता है, कि चिर अतीत काल में सरस्वती का स्रोत अवश्य कहीं ऊपर के पर्वतीय प्रदेश से बहकर इधर की ओर आता होगा। नहीं कहा-जासकता, कालचक्र ने इसमें कितने अज्ञेय परिवर्तन लादिये हैं।

बिन्दुसर [ब्रह्मसर] और सात नदियाँ—

इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिये आवश्यक है–'बिन्दुसरस्' अथवा 'बिन्दुसर' के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालाजाय। भागवत (३ । २१ । ३३) में उल्लेख आता है–सरस्वती नदी के आस-पास अथवा कुछ अन्तर पर 'बिन्दुसर' था।

रामायण और महाभारत[2] में भी इसका उल्लेख है। रामायण में लिखा है–महादेव ने 'बिन्दुसर' की ओर गंगा को छोड़ दिया। तदनन्तर सात नदियाँ

---

१. ब्रह्मावर्त्त की ये सीमा, चार्ल्ज जापेन एस. जे. [Charles Joppen S. J.] द्वारा सम्पादित, और लांगमैन्ज़ कम्पनी द्वारा प्रकाशित 'हिस्टॉरिकल ऐटलेस् ऑफ इण्डिया' १९१४ ईसवी सन् के तृतीय संस्करण के आधार पर दीगई हैं। अपना मन्तव्य हमने इसी प्रकरण में आगे स्पष्ट किया है।

२. विससर्ज ततो गंगां हरो विन्दुसरः प्रति।
तस्यां विसृज्यमानायां सप्त स्रोतांसि जज्ञिरे॥
ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथैव च।
तिस्रः प्राचीं दिशं जग्मुर्गङ्गाः शिवजलाः शुभाः॥
सुचक्षुश्चैव सीता च सिन्धुश्चैव महानदी।

वहाँ से बह चलीं। तीन पूर्व की ओर, तीन पश्चिम की ओर, तथा सातवीं भागीरथी गंगा, भगीरथ के रथ के पीछे चल पड़ी।

यहाँ गंगा के बहाव की दिशा का निर्देश नहीं किया है। पूर्व और पश्चिम की ओर बहने का यदि यही अर्थ समझा जाय, कि वे पूर्व और पश्चिम के समुद्र में जाकर गिरती हैं, तो गंगा का वर्त्तमान रूप, गंगा को पूर्व की ओर बहने वाली नदी प्रकट करता है। रामायण में पूर्व की ओर बहने वाली नदियों के साथ गंगा को जोड़ देने से चार नदियाँ पूर्व की ओर बहने वाली होजाती हैं, जो बिन्दुसर से निकलती हैं। उनके नाम हैं—ह्लादिनी, पावनी नलिनी, और गंगा। पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों के नाम हैं—सुचक्षु, सीता, सिन्धु। इनमें से गंगा और सिन्धु को आज भी इन्हीं नामों से पहचानाजाता है। यदि नदियों के उद्गम स्थान से पूर्व और पश्चिम की ओर उनके बढ़ने का निर्देश समझाजाता है; तो उद्गम स्थान से गंगा नदी का बहाव पूर्व-पच्छिम को न होकर दक्षिण की ओर है।

महाभारत[1] में बिन्दुसर का दो स्थलों पर उल्लेख स्पष्ट है। उससे निकलने वाली सात नदियों का वर्णन है। परन्तु पूर्व अथवा पश्चिम की ओर बहने का उल्लेख नहीं है। पाँच नदियों के नाम दोनों ग्रन्थों में समान हैं। वे हैं—पावनी, नलिनी, सीता, सिन्धु, गंगा। शेष दो नदियों के नाम भिन्न हैं। रामायण में पूर्व की ओर बहने वाली नदियों में एक नाम 'ह्लादिनी' है और पश्चिम

तिस्रश्चैता दिशं जग्मुः प्रतीचीं तु दिशं शुभाः ॥
सप्तमी चान्वगात्तासां भगीरथरथं तदा।
[रामा० बाल० ४३। ११-१४]

सभापर्व, ३। ११॥ भीष्म पर्व, ६। ४२-४४, ४७-४८॥ पद्मपुराण, आ० ख०, ३। ५६-६६॥

अस्त्युत्तरेण कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति।
हिरण्यशृंगः सुमहान् दिव्यो मणिमयो गिरिः॥
तस्य पार्श्वे महद्दिव्यं शुभ्रं कांचनवालुकम्।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः॥
दृष्ट्वा भागीरथीं गंगामुवास बहुलाः समाः।
ब्रह्मलोकादपक्रान्ता सप्तधा प्रतिपद्यते॥
वस्वौकसारा नलिनी पावनी च सरस्वती।
जम्बूनदी च सीता च गंगा सिन्धुश्च सप्तमी॥ [म० भा०, गो० संस्करण]

पद्मपुराण में 'बिन्दुसर के स्थानपर 'विष्णुसर' तथा 'वस्वौकसारा' की जगह 'वटोदका सा' पाठ है।

१. देखें—पिछले पृष्ठ की दूसरी टिप्पणी का महाभारत अंश।

की ओर बहने वाली नदियों में एक नाम है 'सुचक्षु'। महाभारत में ये नाम नहीं हैं। इनके स्थान पर हैं—'जम्बूनदी' और 'सरस्वती' नाम। यदि इस विचार को रामायण के दिशा निर्देश के आधार पर ठीक समझ लिया जाय, कि रामायण की 'ह्लादिनी' को ही महाभारत में 'जम्बूनदी' और 'सुचक्षु' को 'सरस्वती' कहा गया है, तो आज भी हम इन नदियों में से चार को उन्हीं नामों से पहचान सकते हैं। इनमें 'सरस्वती' [रामायण की सुचक्षु] पश्चिम के समुद्र में मिलने वाली नदी है, और 'जम्बूनदी' [-जमुना, रामायण की ह्लादिनी[1]] पूर्व के समुद्र में।

इन वर्णनों के आधार पर एक बात स्पष्ट होजाती है, कि इन नदियों में सिन्धु और सरस्वती ऐसी नदी हैं, जो पश्चिम के समुद्र में मिलती हैं, और गंगा तथा जमुना पूर्व के समुद्र में। शेष तीन नदियों में से एक 'सीता' नामक नदी पश्चिम के समुद्र में तथा पावनी और नलिनी पूर्व के समुद्र में मिलने वाली नदी हैं। आजकल ये कौनसी नदी हैं, यह निश्चय करना कठिन है। परन्तु एक सामंजस्यपूर्ण कल्पना यह कीजासकती है, कि जिन उपर्युक्त चार नदियों को आज हम पहचानते हैं, उनके उद्गम स्थानों पर दृष्टि डालीजाय, तो उनके आस-पास से निकलने वाली बड़ी तीन नदियों का हमें-स्पष्ट आभास होजाता है। उनमें एक नदी पश्चिम के समुद्र में गिरती है, और दो पूर्व के समुद्र में।

---

१. इस सम्बन्ध में निम्न श्लोक (कुम्भघोण संस्करण) विचारणीय हैं—

ह्रदिनी पुण्यतीर्था च राजर्षेस्तत्र वै सरित्।
विश्वामित्रेण तपसा निर्मिता सर्वपावनी॥ [म. भा, वन० ८७।९]
सरस्वती महापुण्या, ह्रदिनी तीर्थमालिनी।
समुद्रगा महावेगा यमुना तत्र पाण्डव॥ [म. भा, वन० ८८।३[

'ह्लादिनी' और 'ह्रदिनी' पद एक ही नदी के लिये प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं। दूसरे श्लोक में 'ह्रदिनी' पद 'यमुना' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त कियागया प्रतीत होता है। यद्यपि महाभारत के इन अध्यायों के तीर्थ सम्बन्धी वर्णन इतने व्यवस्थित और ऐतिहासिक न हों, जिनको बिना किसी सन्देह के, उसी रूप में स्वीकार कर लिया जाय। पर इनसे हमारे विचार की पुष्टि में कुछ प्रकाश अवश्य मिलता है। एक ही नदी का विभिन्न दिशाओं में उल्लेख किये जाने का आधार यह कहाजासकता है, कि एक नदी अपने उद्गम स्थान से बहकर दूर दूसरी दिशा में चली जाती है। जैसे हम इस समय लाहौर में बैठे हुए सतलुज नदी के बहाव को पूर्व दक्षिण और पश्चिम तीनों दिशाओं में निर्देश कर सकते हैं। इसी तरह सिन्धु को उत्तर और पश्चिम में। महाभारत के इस प्रकरण के नदी सम्बन्धी वर्णन कुछ इसीप्रकार के हैं। उनके लिये और अधिक अनुसन्धान एवं विवेचन की अपेक्षा है। फिर भी उन्हें सर्वथा निराधार नहीं कहाजासकता।

पश्चिम के समुद्र में गिरने वाली नदी का नाम आजकल सतलुज है, जिसका पुनाना नाम साहित्य में 'शुतुद्री' अथवा 'शुतुद्रि' आता है। यदि रामायण के वर्णन के अनुसार पश्चिम को बहने वाली 'सीता'[1] नदी 'शुतुद्रि' हो, तो हमें पश्चिम के समुद्र में जाने वाली उन तीनों नदियों का पता लग जाता है, जो 'बिन्दुसर' से निकलती हैं। पूर्व के समुद्र में जाने वाली शेष दो नदियों के वर्त्तमान नाम हैं—

---

१. कैलास—मानसरोवर में १३-१४ वर्ष व्यतीत कर, साक्षात् अनुसन्धान करने वाले अनुपम साहसी श्री स्वामी प्रणवानन्द जी ने अपनी पुस्तक 'कैलास-मानसरोवर' के ६९ पृष्ठ पर, मानसखण्ड से निकलने वाली चार नदियों का एक चार्ट दिया है। वहाँ पर एक नाम 'सिता' सिन्धु का लिखा गया है। यदि यह 'सिता' रामायण और महाभारत की 'सीता' नदी हो, तब 'सिता' को सिन्धु नहीं पहचाना जाना चाहिये। क्योंकि रामायण और महाभारत में 'सीता' के अतिरिक्त 'सिन्धु' का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख है। श्री स्वामीजी ने ये नाम, तिब्बती कैलासपुराण से दिये हैं। परन्तु रामायण और महाभारत आदि भारतीय साहित्य से उनका सामंजस्य नहीं किया गया।

मानसरोवर से एक नाला निकलकर राक्षसताल में मिलता है, जिसका नाम 'गंगाछू' है। राक्षसताल से पश्चिम की ओर सतलुज का उद्गम है। इस कारण वहाँ के पर्वतीय लोगों का विचार है, कि यह 'गंगा-छू' नामक नाला राक्षसताल से पश्चिम की ओर सतलुज के रूप में निकल जाता है। इसलिये वे लोग सतलुज को भी गंगा कहते हैं। जब वे लोग हरद्वार में आकर वहाँ की नदी का नाम गंगा सुनते हैं, तो यही समझते हैं, कि हमारी मानस की गंगा [सतलुज] घूमती बहती यहाँ आगई है। स्वामी जी ने [पृष्ठ ६८] लिखा है–इसी भ्रमपूर्ण धारणा पर सम्भवतः तिब्बती पुराण में गंगा [सतलुज] का वर्णन अशुद्ध होगया है। इसीप्रकार 'सिन्धु का भारतीय नाम 'सिता' भी किसी भ्रम के कारण वहाँ अशुद्ध लिखा गया प्रतीत होता है। वहाँ के अन्य नामों में भी संशोधन की अपेक्षा है।

वायुपुराण [पूना संस्करण], ४७वें अध्याय में 'बिन्दुसर' और इन नदियों का वर्णन आया है। वहाँ 'सीता' के सम्बन्ध में लिखा है—

'कृत्वा द्विधा सिन्धुमरुं सीताऽगात् पश्चिमोदधिम्' [४७ । ४३]।

सिन्धुदेश और मरुदेश को विभक्त करती हुई 'सीता' नदी पश्चिम समुद्र में जा मिलती है। इस आधार पर भी 'सीता' नदी 'शुतुद्रि' होनी चाहिये। मार्कण्डेय पुराण [५५, ३] में 'शीतोदा' नदी का उल्लेख आता है, जिसका उद्गम मेरु पर्वत बताया गया है। मत्स्यपुराण [१२० । २२-२३] में लिखा

ब्रह्मपुत्रा और सरयू अथवा करनाली। इनका उद्गम स्थान हिमालय में उसी प्रदेश के आसपास हैं, जहाँ उपर्युक्त पाँच नदियों का। रामायण और महाभारत में वर्णित शेष दो नामों के साथ यदि हम आजकल के इन नामों का सामंजस्य बैठाना चाहें, तो 'पावनी' ब्रह्मपुत्रा का और 'नलिनी' करनाली या शारदा का नाम कहाजासकता है।

है—'शैलोदा नामक नदी' कैलास के पश्चिम अरुण पर्वत से निकलकर पश्चिम समुद्र में गिरती है। महाभारत [उपायन पर्व ४८] में वर्णन है—'शैलोदा' नदी मेरु और मन्दर नामक पर्वतों के बीच बहती थी। चीनी एवं तिब्बती में इसको 'शीतो' अथवा 'सोतो' भी कहा जाता था।

यद्यपि मेरु और मन्दर नामक पर्वतों की पहचान अभी तक ठीक-ठीक नहीं होपाई है, तथापि पुराणों के उक्त वर्णनोंका सामंजस्य इस रूपमें स्पष्ट किया जासकता है—

'शुतुद्रि' नाम ही कालान्तर में 'शीतोदा' होगया। उसीको प्रादेशिक भाषाओं में 'शीतो' अथवा 'सीतो' नाम प्राप्त हुआ, जो पुराणों में कालान्तर में जाकर 'सीता' नाम से प्रसिद्ध होगया। 'शीतोदा' का अन्य पुराणों में 'शैलोदा' अपपाठ हुआ है। इन्हीं नामोंका प्रतीकरूप अब 'सतलुज' या 'सतलज' है। इन नामोंमें कालक्रम की परम्परा का भान होता है, जिसका निम्नरूप में निर्देश कर सकते हैं—

शुतुद्रि—[वैदिक]
|
शतद्रु—[अनन्तर काल]
|
शीतोदा—[पूर्व पुराण]
|
[पुराण] शैलोदा | शीतो अथवा सीतो [चीनी या तिब्बती में]
|
[चीनी आदि के आधार पर फिर पुराणों में]—सीता
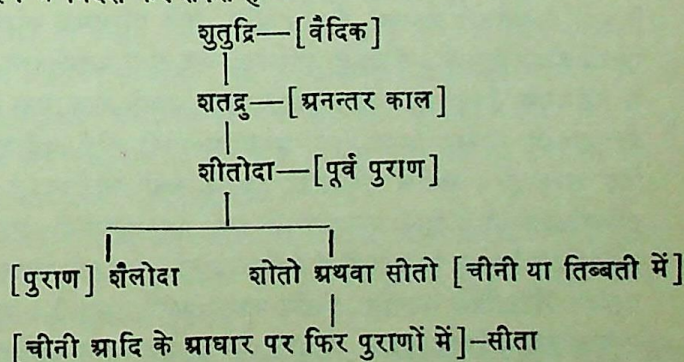
कालान्तर में विद्वानों को यह निश्चय न होपाया, कि ये नाम एक ही नदी के हैं, इस कारण कई स्थानों पर ऐसे वर्णन होगये हैं, जिनसे यह भ्रान्ति होसकती है, कि ये नाम अनेक नदियों के हैं।

मत्स्यपुराण के अनुसार कैलास के पश्चिम अरुण पर्वत से 'शैलोदा' नदी निकलती है। वर्त्तमान सतलज के निकास का केन्द्र स्थान ठीक इसी प्रदेश में है। परन्तु मार्कण्डेय पुराण में 'शीतोदा' का निकास मेरु पर्वत से बताया है,

यद्यपि इस तुलना के लिये कोई विशेष ऐतिहासिक प्रमाण हमारे पास नहीं है, परन्तु (१)—शारदा या करनाली के जल की स्वच्छता, और अधिक दूर तक पर्वतों में बहने के कारण ब्रह्मपुत्रा के जल की पवित्रता का विचार करके इनका उक्त [नलिनी और पावनी] नामों से व्यवहार, कुछ असामञ्जस्यपूर्ण नहीं कहाजासकता। इसके अतिरिक्त (२) रामायणका वर्णन, और उसमें उल्लिखित नामों का क्रम हमारे ध्यान को इस अर्थ की ओर आकृष्ट करता है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इस विषय का लेखक, उत्तर की ओर मुख करके उन नदियों के अन्तराल प्रदेश में—जो पश्चिम और पूर्व समुद्र में गिरती हैं—खड़े होकर इसका वर्णन कर रहा हो; और उसके बायें हाथ की ओर पश्चिम समुद्र में गिरनेवाली नदियाँ तथा दायें हाथकी ओर पूर्व समुद्र में गिरनेवाली नदियां, नीचेकी ओरसे ऊपरकी ओरको यथाक्रम स्थित हों। सरस्वती और यमुना के अन्तराल प्रदेश में खड़े होकर देखनेसे पश्चिम समुद्र में जानेवाली नदियां बाँये हाथ की ओर पहले सरस्वती, फिर सतलुज और उसके आगे सिन्धु होगी। इसीप्रकार पूर्व समुद्र में जानेवाली नदियां दायें हाथ की ओर पहले यमुना फिर शारदा

यदि कैलास पर्वत को मेरु मान लिया जाय, और उस प्रदेशमें यह एक मुख्य पर्वत शिखर होने के कारण सम्पूर्ण प्रदेश को ही 'मेरु' नाम दे दिया जाय, तो मार्कण्डेय पुराण का लेख असंगत नहीं कहाजासकता। महाभारत में मेरु और मन्दरके मध्यमें 'शैलोदा' का बहना लिखा है, जो सर्वथा युक्त है, क्योंकि वर्त्तमान सतलज, कैलास और उसके पश्चिमके पर्वत शिखरोंके मध्यमें होकर बही है। संभव है, कैलासको मेरु, तथा मत्स्यपुराण में कैलास से पश्चिमके जिस पर्वत शिखरको 'अरुण' नामसे कहा गया है, उसको महाभारतमें 'मन्दर लिखा हो। अथवा मन्दरकी कोई दाईं श्रृंखला या बांह' अरुण हो। लदाख श्रृंखलाको 'मन्दर' कहा जासकता है। देवासुर संग्राम को रोकने के लिये, मन्दराचल के द्वारा समुद्रमन्थन और उससे चतुर्दश रत्नों की प्राप्ति का जो पुराणों में उल्लेख आता है, वह एक महान तथा अति प्राचीन ऐतिहासिक घटनाका निर्देश करता प्रतीत होता है। संभवतः वह मन्दर पर्वत, वर्त्तमान लदाख श्रृंखला और उससे सम्बन्ध रखनेवाला समुद्र, वही समुद्र होगा, जिसका वर्णन कालान्तर में 'बिन्दुसर' नाम से किया गया है। मन्दर पर्वत, लदाख श्रृंखला कही जासकती है, क्योंकि वह उस कालमें बिन्दु-समुद्र को मध्यसे विभक्त करती थी। उसीको एक मध्यगत रेखा मानकर आर्य जातिके दोनों युद्धोद्यत संघोंने उसका विभाग कर लिया होगा, और उसमें पारस्परिक व्यापार अथवा परिश्रमके द्वारा रत्नोंका संग्रह किया गया होगा।

या करनाली और उसके अनन्तर ब्रह्मपुत्रा होगी। आज भी इनकी भौगोलिक स्थिति ठीक इसीप्रकार हैं। रामायणका यह क्रमिक उल्लेख बहुत व्यवस्थित हुआ है। इस आधार पर 'नलिनी' शारदा या करनाली और 'पावनी' ब्रह्मपुत्रा को कहसकते हैं। गंगाका पृथक् निर्देश होनेके कारण इस क्रममें उसका उल्लेख नहीं कियागया। रामायण का यह वर्णन, सरस्वती नदी और सरस्वती प्रदेश के नष्ट होनेके अनन्तर काल का कहाजासकता है।

बिन्दुसर [ब्रह्मसर] का वास्तविक स्वरूप—

इसप्रकार इन सातों नदियों को वर्त्तमान रूप में पहचानलेनेपर हम एक स्पष्ट परिणाम पर पहुँच जाते हैं। वह है 'बिन्दुसर' की स्थिति को किसप्रकार ठीक समझा जासकता है। इस नामसे प्रतीत होता है—यह कोई पर्याप्त बड़ी झील रही होगी। रामायण तथा महाभारत के वर्णन के अनुसार महादेव ने 'बिन्दुसर' में गंगा को छोड़ा। वह सर जब गंगा के वेग को न संभालसका, तो वहाँसे उसकी सात धारा होगईं। अथवा वह एक ही गंगा, तब सात धाराओं में पृथक् होकर बह चली। कहनेमें यह एक साधारण-सी बात है, पर इसमें कुछ वास्तविक रहस्य अन्तर्निहित है। यह सम्भव है, जिस प्रदेशमें आज इन सातों नदियों के उद्गम स्थान हैं, वहाँ कभी बहुत लम्बी चौड़ी झील रही हो। वर्त्तमान भौगोलिक स्थिति के अनुसार इसकी अधिक-से-अधिक लम्बाई दो सौ मील, और

पारस्परिक व्यापारिक नियम तथा यातायात ही 'वासुकि' था, जिसके द्वारा समुद्र का मन्थन कियाजाता था, पूंछकी ओर देव और मुखकी ओर असुर थे। इसका अभिप्राय यही है, कि व्यापार आदि की बागडोर देवों के हाथ में थी, और शारीरिक परिश्रम करनेवाले अधिकतर असुर थे। पुच्छ, प्रतिष्ठा अथवा आधार का द्योतक है, जो यहाँ मस्तिष्क का प्रतीक समझना चाहिये, और मुख, शारीरिक श्रम का।

इन सब आधारोंपर शीतोदा, शैलोदा, शीतो अथवा सीतो या सीता एक ही नदी के नाम हैं, जिसको अति प्राचीन कालमें 'शुतुद्रि' कहाजाता था, और आज सतलुज या सतलज।

महाभारत में 'शैलोदा' नामसे इस नदी के दोनों ओर जिन जातियोंके निवास का उल्लेख कियागया है, उसका सन्तुलन, पुराने इतिहास और आजकी स्थिति से स्पष्टरूप में कियाजासकता है। जिनमें से कणिद [कुलिंद] और खश जातियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनकी अधिक से अधिक आबादी जमुना और सतलुज, तथा सतलुज और व्यासके मध्यगत प्रदेशों में है। इससे निश्चित होता है, उपर्युक्त सब नाम 'शुतुद्रि' नदी के हैं, कालान्तरों में परिवर्तित होते रहे हैं।

चौड़ाई एक सौ मीलके लगभग अनुमान कीजासकती है। पूर्व और पश्चिम की ओर बहनेंवाली नदियों के उद्गम स्थान की अधिक-से-अधिक दूरी, लम्बाई के रूप में इतनी प्रतीत होती है। उद्गम स्थानों की सबसे अधिक दूरी, पूर्वमें ब्रह्मपुत्रा के और पश्चिम में सरस्वती के उद्गम की होगी।

'महादेव ने गंगा को विन्दुसर में छोड़ा' इस कथन को ध्यान से विचारनेपर प्रतीत होता है, कि वस्तुतः यह कोई विशाल प्राकृतिक झील थी। महादेव, परमात्मा का नाम है। वह यथाकाल तीव्र वर्षा के रूप में आकाश से गंगा को ब्रह्मसर में छोड़ता है। वैज्ञानिकों ने इस बात को मालूम किया है, और भारतीय साहित्य में इसके उल्लेख मिलते हैं, कि मनुष्य के आदियुग में हिमालय का यह प्रदेश, समशीतोष्ण जलवायु से युक्त था। यहाँपर अधिक समयतक तीव्र वेग के साथ वर्षा होतीरहाकरती थीं। वर्षा होनेके चाहे कोई भी वैज्ञानिक कारण हों, कालिदास के एक श्लोक[1] में मेघ के वास्तविक स्वरूप का वर्णन हमारे ध्यान को उस ओर आकृष्ट करता है। परन्तु आर्य-संस्कृति में वास्तविकताको समझते हुए भी सदा इन प्राकृतिक घटनाओं को, परमात्मा की विभूतियों के रूपमें वर्णन कियाजातारहा है। इसलिये तीव्र धाराओं के रूप में उस प्रदेश की वर्षाओं का—महादेव के द्वारा गंगा को बिन्दुसर में छोड़े जानेके रूपमें—वर्णन कियागया है। बिन्दुसर से सात स्रोतों का निकलना इस बात को स्पष्ट करता है, कि महादेव से छोड़ी हुई गंगा के वेग को वह संभाल न सका, अर्थात् उसमें वह सब पानी सदा के लिये समा नहीं सकता था, इसलिये उस आकाश गंगा का जल, सात धाराओं में विभक्त होकर बहने लगा। वर्षा रूप में आकाश से बरसने वाले जलों को गंगा या आकाशगंगा के रूपमें वर्णन कियागया है[2]।

इसी वस्तुस्थिति को उपर्युक्त रामायण आदिके कथन में प्रकट किया है। वर्षा के रूप में परमात्मा के द्वारा भेजी या छोड़ी हुई वह एक गंगा है, जो भौगोलिक स्थिति के अनुसार, बिन्दुसर में आनेके अनन्तर सात धाराओं में बह चली।[3] उन्हींमें से एक धारा के स्रोत को, कई पीढ़ियों के अत्यन्त परिश्रम करनेके

---

१. धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः। मेघसंदेश।

२. देखें—स्कन्दपुराण, वैष्णव खण्ड, [वेंकटाचल माहात्म्य] अध्याय ४०।

३. साहित्य में गंगा का एक नाम 'त्रिपथगा' आता है। अभी तक इस शब्द का ठीक अर्थ नहीं समझा जासका। इसके लिये आकाश पाताल तक के कुलाबे मिलाये जाते हैं। इसका कारण भौगोलिक स्थिति को न समझना कहा जा सकता है। यदि इस बात पर थोड़ा ध्यान दें, कि वर्षा के रूपमें बिन्दुसर में आई एक गंगा सात धाराओं में बही, तो उक्त शब्द का अर्थ हमारी समझ में कुछ आजाता है। बिन्दुसर से जितनी धाराएँ बही हैं, उनका झुकाव

अनन्तर कुछ परिवर्तित करके, भगीरथ अपने अभिलषित प्रदेश को लेगया। यही भगीरथ का तप था, जिसमें कई वर्ष लगे, और अन्त में उसने सफलता प्राप्त की।[1]

इससे परिणाम निकलता है, अत्यन्त प्राचीन काल में, हिमालय के उस प्रदेश में 'बिन्दुसरस्' नाम की एक विशाल झील थी, जिसमें सात नदियों का उद्गम स्थान था। परन्तु आज वह झील नहीं है, पर नदियां उसी तरह बह रही हैं। इससे सन्देह होता है क्या कभी ऐसी झील रही होगी ? नदियों के प्रवाह पर जब हमारा ध्यान जाता है, तो हम देखते हैं, कि आज उन नदियों में से एक नदी भी काल के गाल में विलीन होचुकी है। यह बहुत संभव है, जिन भौगोलिक परिस्थितियों अथवा परिवर्तनों ने सरस्वती नदी को लुप्त करदिया, उन्होंने 'बिन्दुसर' को संकुचित करदिया हो। संकुचित करना इसलिये लिखा है, कि आज भी हिमालय के उस प्रदेश के पूर्वी भाग में 'मानसरोवर' तथा

उद्गम स्थानों से तीन ओर को है; पूर्व पश्चिम और दक्षिण। वहां से कोई स्रोत उत्तर की ओर नहीं बहा। सम्भवतः इसलिये वह गंगा 'त्रिपथगा' कहीजारही है। इस शब्द के अर्थ को समझाने के लिये आकाश पाताल में दौड़ लगाना व्यर्थ होगा।

१. भगीरथ के सम्बन्ध की यह घटना, कपिल के समय के बाद की है। कपिल के समय में गंगा, सरस्वती की सहायक नदी थी। सरस्वती अपनी स्वतन्त्र विशाल धारा में प्रवाहित होती थी। कपिल कालीन राजा सगर की कई पीढ़ियों के बाद उसी वंश में भगीरथ हुआ। इसी बीच सरस्वती का प्रदेश, तीव्र भौगोलिक उत्पात के कारण नष्ट होचुका था, सरस्वती के स्रोत सदाके लिये रुद्ध होचुके थे, गंगा और यमुना पश्चिम की ओर मुड़कर सरस्वती में मिलने के बजाय, पूर्वकी ओरको झुक गई थीं। परन्तु इनकी धारा विच्छिन्न व अव्यवस्थित होचुकी थी। भगीरथ ने अपने परिश्रम से गंगा की धारा को व्यवस्थित किया, और अपने अभिलषित प्रदेश में लेजाकर पूर्व समुद्र की ओर जानेदिया। यद्यपि यह परिश्रम, भगीरथ के बहुत पहलेसे ही होरहा था, परन्तु उस समय एक नदी के स्रोत को बदल कर दूसरी ओर लेजाने में सफलता नहीं मिलसकी। अनन्तर प्राकृतिक घटनाओंने भगीरथ का साथ दिया, भौगोलिक उत्पात से नदियों के स्रोत बदल गये। बिल्ली के भाग से छींका टूटा। भगीरथ अपने परिश्रम में सफल हुआ।

कालान्तर में यमुना का स्रोत भी भौगोलिक स्थितियों के अनुसार स्वतः व्यवस्थित होगया। अति प्राचीनकाल में गंगा और यमुना दोनों नदी, सरस्वती की सहायक नदी थीं, यह अगले पृष्ठों में स्पष्ट होजायेगा।

'राक्षसताल' नामकी झील विद्यमान हैं। यह बहुत आश्चर्य और ध्यान देनेकी बात है, कि 'बिन्दुसर' के सर्वाधिक पश्चिमी भाग में 'सरस्वती' का उद्गम स्थान था, और आज सर्वाधिक पूर्वी भाग में 'मानसरोवर' झील है; जहाँसे पूर्व की ओर ब्रह्मपुत्रा नदी का उद्गम स्थान है। इससे प्रतीत होता है वर्त्तमान मानसरोवर झील से पश्चिम की ओरका बहुत दूर तक का सब प्रदेश किसी भारी भौगोलिक परिवर्त्तन के कारण उथल गया। जिसका परिणाम उन प्रदेशों की वर्त्तमान स्थिति है, जिसमें न सरस्वती रही, और न उतना विशाल बिन्दुसर।

आधुनिक भूगोल विशेषज्ञों ने इस बात का पता लगाया है, कि अति प्राचीनकाल में हिमालय के मध्य भाग पर पश्चिम से पूरब तक विशाल समुद्र फैला हुआ था। यह खोज प्राचीन हिमालय के पौराणिक वर्णन से आंशिक रूप में सन्तुलित होती है।

ऐसी स्थितिमें, यद्यपि ऐसी झील का कभी न होने का सन्देह अवश्य शिथिल होजाता है फिर भी वर्त्तमान स्थिति को देखकर यह विचार सम्मुख आता है, कि विद्यमान प्रवाहित छह नदियों में से केवल दो नदी मानसरोवर' से निकलती हैं, पूर्व समुद्र में गिरनेवाली ब्रह्मपुत्रा, और पश्चिम समुद्र में गिरनेवाली सतलुज। शेष चारों नदियां, 'बिन्दुसर' के न रहने पर भी सहस्रों वर्षों से उसीतरह प्रवाहित होरही हैं। सरस्वती नदी इसलिये नहीं सूख गई, कि उसके लिये उद्गम स्थान में जल न रहा हो, या कुछ कम होगया हो, प्रत्युत यही कहाजासकता है, कि भौगोलिक परिवर्त्तनों के कारण सरस्वती के स्रोत के जल अन्य सोतों में परिवर्त्तित होगये। इसलिये 'बिन्दुसर' के बिना भी उन सब नदियों के आज बहते हुए सोत, हमें इस सन्देह की ओर आकृष्ट कर सकते हैं, कि क्या सचमुच ऐसी झील कभी रही होगी ?

इसके लिये यही कल्पना कीजासकती है, कि ऐसी झील कभी रही हो, या न रही हो, कम से कम इस बात से नकार नहीं कियाजासकता, कि हिमालय का एक ऐसा प्रदेश आज भी है, जहाँ उक्त नदियों के उद्गम स्थान यथावत् विद्यमान हैं। यह एक विशेष ध्यान देने की बात है, कि हिमालय के उतने प्रदेश में उत्तर भारत की सात बड़ी नदियों के उद्गम स्थान हैं, जिनका जल पूर्वी और पश्चिमी समुद्र में जाकर गिरता है। यद्यपि वहाँ कोई ऐसी एक विशाल झील नहीं, जिसे हम ऊपरसे देख सकें। परन्तु उस प्रदेश के नीचे अनन्त जलराशि का भण्डार है, तथा नियमित वार्षिक हिमपात वर्षा आदि उन नदियों के स्रोतों को सूखने नहीं देते। जिसके कारण उक्त नदियां सहस्रों वर्षों से अनवरत धारा में प्रवाहित होरही हैं। जहाँ तक महादेव के द्वारा उस प्रदेश में गंगा के छोड़े जाने अथवा निहित किये जाने का सम्बन्ध है, उसमें कोई असामञ्जस्य नहीं आता। जलराशि दृश्यमान हो, या अन्तर्निहित, वह उसीकी रचना है। वह केवल

वस्तुस्थिति के वर्णन करने का एक प्रकार है। आज भी तीव्र वर्षा और हिमपात के द्वारा, उस जलराशि के भण्डार की पूर्ति बराबर होती रहती है। यह महादेव का अनुग्रह है। इसलिये अब इस परिणाम पर पहुँचा जासकता है, कि हिमालय का वह विशेष प्रदेश जहाँ उत्तर भारत की इन सात नदियों का उद्गम स्थान है—'बिन्दुसर' माना जाना चाहिये, चाहे वहां कभी लहरें लेती हुई विशाल झील रही हो, अथवा आज भी हिमपात एवं अन्तर्निहित अनन्त जल-राशि का भण्डार हो। आज की स्थिति को देखते हुए, स्थूल रूप से 'कैलाश मानस खण्ड' को 'बिन्दुसर' का प्रदेश कहा जासकता है। क्या वैदिक 'सप्तसिन्धु' या 'सात नदियों का प्रदेश' इसीको कहाजासकता है? आइये, इसपर उपयुक्त विचार करें—

चालू शताब्दी के प्रारम्भिक दिनों के आसपास कतिपय पाश्चात्य लेखकों तथा उनका अनुसरण करनेवाले भारतीय लेखकों ने एक आवाज़ उठाई थी, कि आदि आर्यों के निवासीय प्रदेश का नाम 'सप्तसिन्धु' था। यह प्रदेश भूतल पर कहां अवस्थित हैं? इस विषय को लेकर पर्याप्त समय विद्वानों में नोंक-झोंक होती रही हैं। किसीने इस प्रदेश को भारत से बाहर बताया; किसीने भारत की सीमा के अन्दर। 'सप्तसिन्धु' नाम के किसी प्रदेश के होनेका आधार इन लेखकों ने ऋग्वेद में अनेकत्र प्रयुक्त 'सप्त सिन्धवः' पदों को माना है। तात्कालिक तथा पूर्वसमकालिक कतिपय विद्वानों के इस विषय के विचारों को लक्ष्यकर उस समय डॉ० सम्पूर्णानन्द ने 'आर्यों का आदि देश' नामक एक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें ग्रन्थकार ने वैदिक 'सप्त सिन्धवः' पदों को सरस्वती से सिन्धु तक की सात नदियों [सरस्वती, सतलज, व्यास, रावी, चिनाव, झेलम, सिन्धु] का प्रतीक मानकर इन नदियों से व्याप्त भूभाग को 'सप्तसिन्धु' नामक प्रदेश बताया। इसमें वर्त्तमान शिवालक पहाड़ियों के नीचे [दक्षिण] की ओर का थोड़ा पञ्जाब प्रान्तीय मैदानी भाग, तथा हिमाचल प्रदेश और देशविभाजन से पहले के कश्मीर का बहुत बड़ा भाग सम्मिलित है।

इस विषय पर विस्तृत विवेचन के लिये कतिपय आवश्यक निम्नलिखित शीर्षक निर्धारित हैं—

१. वैदिक पद 'सप्त सिन्धवः'
२. भारतीय वाङ्मय में प्रदेश का 'सप्तसिन्धु' नाम
३. सात नदियों के वैदिक नाम तथा वर्णन
४. 'सप्त सिन्धव' कौन-से हैं?
५. क्या ऐसा प्रदेश अन्यत्र संभव है?

(१) वैदिक पद 'सप्त सिन्धवः'—सबसे पहले यह जानना चाहिये—ये दो पद हैं, 'सप्त' अलग और 'सिन्धवः' अलग। समस्त वैदिक वाङ्मय में इनका

इसी रूप में प्रयोग हुआ है। इस रूप में प्रयुक्त इन पदों को किसी देश विशेष का वाचक समझना या बताना नितान्त असंगत है। ये पद स्वतन्त्ररूप में केवल सात नदियों का निर्देश करते हैं। यदि इन पदों के आधार पर किसी दश विशेष के नाम की कल्पना कीजाती है, तो समासरहित इन पदों का यह प्रस्तुत रूप नहीं रहेगा। उस दशा में इन दोनों पदों का समास इसप्रकार होगा—'सप्त सिन्धवः सन्ति (प्रवहन्ति वा) यस्मिन् देशे सः सप्तसिन्धुः' समास होजाने पर यह एक पद होजायेगा, जिसका रूप होगा–'सप्तसिन्धुः'।

इस समास का नाम 'बहुब्रीहि' है। इसमें समास हुए दोनों पद अपने मुख्य अर्थ को छोड़ देते हैं, और एक अतिरिक्त तीसरे अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। जब इन पदों का समास नहीं होता, तब 'सप्त' पद का मुख्य अर्थ सात संख्या है; 'सिन्धवः' पद का अर्थ 'नदियां' है। 'सिन्धवः' नदीवाचक सिन्धु पद का बहुवचन है। जब समासरहित ये दोनों पद इकट्ठे प्रयुक्त होते हैं, तब संख्यावाचक 'सप्त' पद के सहयोग से 'सिन्धु' पद का बहुवचन में प्रयोग 'सिन्धवः' होता है। उस समय ये दोनों पद अपने मुख्य अर्थ–'सात नदियाँ'–को अभिव्यक्त करते हैं, किसी अन्य अर्थ–देश आदि–को नहीं। इन पदों से किसी देश-विशेष को अभिव्यक्त करने के लिये इनका परस्पर बहुब्रीहि समास कियाजाना आवश्यक है। समास होजाने पर ये दो पद न रहकर एक पद 'सप्तसिन्धु' होगा, और ये दोनों पद अपने मुख्य अर्थ को छोड़कर अतिरिक्त अर्थ–'देश' का बोध करायेंगे। परन्तु समस्त वैदिक वाङ्मय में इन पदों का प्रयोग पूर्णरूप से समासरहित है। इसलिये इनका कोई देश-विशेष अर्थ कियाजाना सर्वथा असंगत है।

(२) **भारतीय वाङ्मय में 'सप्तसिन्धु' नाम**—समस्त भारतीय वाङ्मय में कहीं भी इन पदों का समासयुक्त–'सप्तसिन्धु' रूप में प्रयोग नहीं हुआ। इससे स्पष्ट परिणाम सामने आता है, कि प्राचीन भारतीय जन किसी प्रदेश के इस नाम से सर्वथा अपरिचित थे। उन्होंने इन पदों से यदि किसीका विवरण प्रस्तुत किया है, तो वे केवल 'सात नदियां' हैं। देशवाचक इस नाम को प्राचीन साहित्य एवं तात्कालिक जनवर्ग पर थोपना उनके साथ सरासर अन्याय होगा।

सर्वप्रथम जिस प्रदेश में आर्यजन अथवा मानव का प्रादुर्भाव हुआ, या जिसे उनका निवास कहना चाहिये, प्राचीन भारतीय वाङ्मय में उस प्रदेश का नाम 'देवलोक' बताया है,[१]। उसीको स्वर्गलोक कहाजाता है। अनन्तर काल में आर्य

१. श० ब्रा० १२।७।३।७॥ 'उत्तरो वै देवलोकः।···उत्तरयैव देवलोकमवरुन्धे।' उत्तर ही देवलोक है। उत्तर दिशा से ही देवलोक को सीमित करता हूँ। यह उत्तर दिग्भाग का वही प्रदेश है, जहाँ कैलास-मानसरोवर के आस-पास सात नदियों के उद्गम स्थान हैं। इस प्रदेश का 'सप्तसिन्धु' नाम कभी नहीं रहा।

जनसमुदाय गंगा सरस्वती आदि नदियों की घाटियों, तटवर्ती प्रदेशों में निवास करते हुए—बढ़ते-बढ़ते हिमालय की निम्न पर्वत श्रेणियों के दक्खिनी मैदानी प्रदेशों में आगये। तब इन प्रदेशों का 'आर्यावर्त्त' एवं 'भारतवर्ष' आदि नाम प्रचलित हुआ। अतिप्राचीन काल में आर्यावर्त्त के अवान्तर प्रदेश ब्रह्मावर्त्त, ब्रह्मर्षिदेश, कुरुक्षेत्र, शूरसेन, पञ्चाल आदि नामों से जानेजाते रहे हैं[1]।

कहाजाता है, कि इस पद का देशवाचक प्रयोग ज़ेन्द अवेस्ता में हुआ है। परन्तु देखने पर ज्ञात हुआ—वहाँ भी 'हप्त हिन्दव' इस वांचना के साथ समास-रहित पाठ है; जो 'सप्त सिन्धवः' का स्पष्ट रूपान्तर है। जिसका मुख्य अर्थ 'सात नदियाँ' होसकता है, देश आदि नहीं। हाँ! इन पदों का लाक्षणिक अर्थ—प्रदेश—कियाजाना सम्भव है। नदियाँ किसी प्रदेश-विशेष में ही प्रवाहित होती हैं। 'सप्स सिन्धवः' पद मुख्य रूप से 'सात नदियां' अर्थ को प्रकट करते हुए, लक्षणा से उस प्रदेश को लक्षित करते हैं, जहाँ सात नदियाँ प्रवाहित हैं। लक्षणा में इन पदों का बहुव्रीहि समास-बोधित अर्थ प्रतिफलित होता है। ये पद वाच्यार्थ में प्रदेश का बोध कराने में असमर्थ रहते हैं।

कतिपय महानुभावों को यह कहते हुए सुनाजाता है, कि वेद में 'सप्त सिन्धवः' पद, समास हुए एकवचनान्त 'सप्तसिन्धुः' पद का बहुवचन है। इसको देशवाचक मानेजाने में कोई बाधा नहीं, क्योंकि देशवाचक पदों का प्रायः बहुवचन में प्रयोग देखाजाता है।

यह कथन आपाततः रम्य भले प्रतीत हो, पर है—नितान्त असंगत। ऋग्वेद में सर्वत्र जहाँ इन पदों का प्रयोग हुआ है, पदपाठ में पृथक् दो पद मानागया है। उसीके अनुसार इन पदों का स्वर अङ्कित रहता है। यदि यह समास हुए पद का बहुवचन हो, तो स्वर भिन्न होजायगा। पृथक् पदों और समास हुए पद में स्वर का अन्तर होजाता है[2]।

(३) **सात नदियों के वैदिक नाम**—ऋग्वेद के 'सप्त सिन्धवः' पदों से कौन-सी सात नदियां अभिप्रेत हैं, इसका समस्त वेद में कहीं निर्देश उपलब्ध नहीं होता। वेदभाष्यकार सायण ने—जहाँ ये पद आये हैं, प्रायः सर्वत्र—'गङ्गाद्या

---

१. मनुस्मृति, २। १७—२२॥ पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य, २। ४। १०। ६। ३। १०९॥
२. ऋग्वेद में 'सप्त' अन्तोदात्त और 'सिन्धु' आद्युदात्त पद है। इनका स्वर निर्देश है—सप्त, सिन्धु। सिन्धु पद बहुवचन में 'सिन्धवः' होगा। यदि इनका समास कियाजाय, तो स्वर होगा—सप्तसिन्धवः। जो समस्त ऋग्वेद में कहीं नहीं।

सप्त नद्यः' लिखा है। गङ्गा के आगे आद्य पद से कौन-सी अन्य छह नदियाँ अभिप्रेत हैं, सायण ने स्वयं इसका कहीं संकेत तक नहीं किया। ऐसी स्थिति में विशिष्ट सात नदियों का निश्चय करना एक समस्या है।

इस समस्या का समाधान कतिपय विद्वानों ने सुझाया है। अविनाशचन्द्र दास, सम्पूर्णानन्द नाना पावगी आदि ने अपनी [1]रचनाओं में बताया है—सरस्वती से लेकर पच्छिम की ओर बढ़ते हुए सिन्धु तक आनेवाली सात नदियाँ वेद के 'सप्त सिन्धवः' हैं। वे हैं—सरस्वती, शुतुद्री (सतलुज), विपाशा या आर्जीकीया (व्यास), परुष्णी (रावी), असिक्नी (चनाव), वितस्ता (झेलम), सिन्धु। यह कल्पना इन विद्वानों ने ऋग्वेद (१०।७५।५) मन्त्र[2] के आधार पर की है।

वेदों के अनेक मन्त्रों[3] के आधार पर इन विद्वानों का कहना है—इन्द्र ने वज्र से वृत्र को मारकर सात नदियों को खुला बहाया। इन्द्र ने गौओं को जीता, सोम को जीता और सात नदियों के प्रवाह को खुला करदिया। जलों के देवता हे वरुण! तुम श्रेष्ठ देव हो, तुम्हारे मुख से सात नदियां प्रवाहित होती हैं; अथवा सात नदियाँ वरुण के मुख से गिरती हैं। इन गाथाओं में निरुक्त के अनुसार जल से भरे हुए बादलों का गरजना, उनपर बिजली का कड़कना, उनसे जलधारा का फूट पड़ना और फिर उस जल का सात नदियों के रूप में प्रवाह रूप से उत्तुंग तरंगों के साथ बहना आदि मन्त्रकारों का दृग्विषय वर्णन है[4]।

उक्त विद्वानों के इन विचारों के अनुसार स्पष्ट होता है—सात नदियों का यह वैदिक वर्णन उनके उद्‌गम प्रदेश का होना चाहिये, जहाँ से इन नदियों के प्रवाह का प्रारम्भ होता है। इसके साथ विद्वानों की मान्यता है, कि यह वर्णन मन्त्रकार ऋषियों का दृग्विषय है। वे इस सब स्थिति को अपनी आँखों से दृगोचर करते रहे हैं। इसका तात्पर्य यह होता है, कि इन नदियों के उद्‌गम स्थान एक-दूसरे से अधिक दूर न होकर अपेक्षाकृत पर्याप्त समीप होने चाहियें। सिन्धु के साथ 'सप्त' पद का योग यह स्पष्ट करता है, कि उन विशिष्ट सात नदियों का उद्‌गम और वहाँ से प्रवाहित होना दृगोचर तभी होसकता है, जब वे प्रदेश एक-दूसरे से अधिक दूर न हों।

---

१. अविनाशचन्द्र दास की रचना—'ऋग्वैदिक इण्डिया'। सम्पूर्णानन्द की रचना—'आर्यों का आदि देश'। पावगी की मराठी रचना का नाम ज्ञातव्य है।
२. 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति' इत्यादि मन्त्र।
३. अथर्व० २०।३४।३॥ २०।९१।१२॥ ऋ० १।३२।१२॥ ८।९६।१२॥
४. अन्य द्रष्टव्य, 'आर्यों का आदि देश' प्रथम संस्करण, पृ० ३५।

विचारणीय है, सरस्वती से सिन्धुतक की नदियों के उद्गम स्थान उक्त वर्णन से मेल नहीं खाते। इन नदियों के उद्गम स्थान एक-दूसरे से पर्याप्त दूर और अपेक्षाकृत परस्पर निम्नोन्नत प्रदेशों में हैं। ऐसी स्थिति मे सात नदियों के उद्गम स्थानों का सामञ्जस्यरूप में दृगोचर होना सम्भावना की सीमा से बाहर चला जाता है।

इस सबका ध्यान रखते हुए भूतल पर ऐसी सात नदियों को देखना है, जिनके उद्गम स्थान एक-दूसरे से पर्याप्त समीप हों। हिमालय में कैलाश मान-सरोवर के आस-पास का ऐसा प्रदेश है, जहाँ सात नदियों के उद्गम स्थान एक-दूसरे से पर्याप्त समीप हैं। वे नदियाँ हैं—सिन्धु, शुतुद्री (सतलज), सरस्वती, यमुना, गङ्गा, शारदा या करनाली, ब्रह्मपुत्रा। इनमें पहली पाँच नदियों के वैदिक नाम स्पष्ट हैं; अन्तिम दो के वैदिक नामों का पता नहीं लगता।

प्रतीत होता है, आर्य-मानव का प्रथम प्रादुर्भाव इन सात नदियों के उद्गम स्थानों के अन्तराल प्रदेशों में हुआ। उस समय नदियों के नामों का संकेत नहीं था, केवल सात संख्या का निर्देश है। यह एक आकस्मिक घटना समझनी चाहिये, कि 'सप्त सिन्धवः' वैदिक निर्देश का उस स्थिति से सामञ्जस्य होगया। इन पदों के साथ समस्त वैदिक साहित्य में कहीं ऐसा निर्देश उपलब्ध नहीं होता, जहाँ यह लिखा हो, कि सात नदियों के नाम ये हैं। सम्भवतः इन नदियों के नाम वेद-पदों के आधार पर उस समय संकेतित किये गये, जब आर्यपरिवार गंगा-यमुना की घाटियों में होकर पर्वतीय प्रदेश को लाँघकर मैदानी इलाकों में उतर आये थे, और गङ्गा-यमुना के दोआब से पच्छिम की ओर बढ़ना प्रारम्भ होगया था।

जनसंख्या की वृद्धि के साथ आर्य परिवार पच्छिम की ओर को वेगपूर्वक बढ़ते चलेगये। इन मैदानी इलाकों में अपने जीवन निर्वाह के लिये प्रत्येक प्रकार की सुविधा को उन्होंने सुलभ पाया। सीमितकाल में ही वे सिन्ध नदी को लाँघ-कर गान्धार देशों तक फैल गये। कदाचित् दक्षिण की ओर बढ़ने में भयावह घने जंगल बाधक थे, और पूर्व की ओर के प्रदेश दलदली थे। आर्यपरिवारों का—गङ्गा घाटी के प्रारम्भिक मैदानी प्रदेशों से—पूर्व की ओर निवास के लिये बढ़ना बहुत अनन्तर काल में प्रारम्भ हुआ। यही कारण है, कि कैलाश मान-सरोवर के प्रदेश से पूर्व की ओर बहनेवाली दो नदियों के नामों का संकेत वैदिक पदों में उपलब्ध नहीं। गङ्गा घाटी से पच्छिम की ओर को गान्धार तक की नदियों के नाम ऋग्वेद के एक सूक्त [१०।७५]-गत पदों के आधार पर संकेतित किये गये प्रतीत होते हैं। इसी सूक्त के एक मन्त्र [५] में गङ्गा से लेकर पच्छिम की ओर सिन्धु तक की नौ बड़ी नदियों के नाम प्रायः उसी क्रम से निर्दिष्ट हैं, जिस क्रम से शिवालक पहाड़ियों की दामन के मैदानी इलाकों में

पूरब से पच्छिम की ओर को चलने पर मार्ग में ये नदियाँ अवस्थित हैं। प्रतीत होता है, जो आर्यपरिवार आगे बढ़ते चले गये, वे मन्त्रगत पदों के अनुसार नदियों के नाम संकेतित करते चलेगये। वे ही नाम समाज में व्यवहार के लिये प्रयुक्त कियेजाने लगे[1]।

सारांश है, जबतक आर्यपरिवार अपने मूलस्थान में रहे, सात नदियों का नाम-संकेत नहीं हुआ। जल्दी ही आर्यपरिवार जीवन निर्वाह की सुविधा की खोज में गंगा-यमुना की घाटियों के सहारे मैदानी प्रदेश में पहुँचकर उसी सुविधा के लिये पच्छिम की ओर को बढ़चले[2]। प्रारम्भिक मैदानी गङ्गाघाटी से आर्यपरिवारों का पूर्व की ओर बढ़ने का जब अवसर आया, तब मैदानी इलाकों में आये आर्यों का बहुत अधिक समय बीत चुका था, उस समय सामाजिक व्यवहार के लिये शाब्दिक-साधन, वेद-पदों से बँधे नहीं रहगये थे। फिर भी गङ्गा से पूर्व की ओर सबसे पहले जो बड़ी नदी आती है, उसका भी नाम-उधर की ओर पहले आनेवाले आर्यों ने-'गङ्गा' ही रख दिया। कालान्तर में कभी उसके साथ 'राम' पद जोड़ लिया गया। कदाचित् इस भावना से-कि पहली गङ्गा के साथ भगीरथ नाम जुड़ चुका था। दूसरा नाम भेदक होने से पक्का होगया, जो आज सर्वत्र व्यवहृत है। भगीरथ का नाम वहीं सीमित रहा, जहाँ भौगोलिक उत्पात से गङ्गा-स्रोतों के विच्छिन्न होजाने पर उनको व्यवस्थित करने के लिये भगीरथ ने अतुल प्रयास किया था। कैलाश मानसरोवर से पूरब की ओर बहनेवाली दो नदियों के वैदिक नाम इसी कारण उपलब्ध नहीं हैं।

(४)—**'सप्त सिन्धवः' कौन-से हैं?**—इसका निर्णय अब सुगमता से किया-जासकता है। अविनाशचन्द्र दास व सम्पूर्णानन्द आदि ने ऋग्वेद [१०।७५।५] मन्त्र के आधार पर जो सरस्वती से सिन्धु तक सात नाम बताये हैं, उस मन्त्र में नौ नदियों के नाम हैं। वहाँ सबसे प्रथम गङ्गा और यमुना का नाम है। सात की गणना में उन दोनों को छोड़ देने का कोई कारण ये विद्वान् प्रस्तुत नहीं करसके। वस्तुतः उस मन्त्र में ये नाम-पद सात नदियों के नाम बतायेजाने के उद्देश्य से निर्दिष्ट नहीं है। अन्यथा इसमें नौ नदियों के नाम का निर्देश क्यों होता? केवल सात नाम होने चाहिये थे। फलतः सरस्वती और सिन्धु को मिलाकर वर्त्तमान पञ्जाब की पाँच नदियों के साथ वेद के 'सप्त सिन्धवः' पदों

---

१. देखें, मनुस्मृति, १।२१॥

२. इसी कारण इधर की नदियों के वैदिक नाम उपलब्ध हैं। ये नाम वेद से लोक में आये। वेद जब कभी भी प्रकट हुए या लिखेगये माने जायें; पर वेद से पहले इन नामों का लोक में व्यवहार था, इसके लिये कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

से अभिप्रेत सात नदियाँ हैं, यह कथन नदी सम्बन्धी वेद वर्णनों के अनुकूल न होने के कारण मान्य कोटि में नही आता। इसकी अमान्यता के लिये निम्नलिखित तीन कारण ध्यान में रखने योग्य हैं—

(क) सात नदियों में गङ्गा-यमुना की गणना न करना।

(ख) इन नदियों के उद्गम स्थानों का एक-दूसरे से विच्छिन्न होना।

(ग) ऋग्वेद [१०।७५।५] के मन्त्र में नदियों के क्रमिक निर्देश का कारण—पूर्व की ओर गङ्गा घाटी से पच्छिम की ओर सिन्धु को पारकर गान्धार देशों तक आर्यपरिवारों का तीव्रता के साथ फैलना। ये लोग पूर्व की ओर से पच्छिम को जैसे-जैसे आगे बढ़ते गये, उक्त मन्त्र में निर्दिष्ट पदों के क्रमानुसार नदियों का नाम रखते चलेगये। गान्धार देश की अन्य नदियों के नाम इस मन्त्र के अनन्तर पठित मन्त्र-पदों के अनुसार हैं। अतः उक्त मन्त्र में सात नदियों के नाम-निर्देश अथवा गणना की भावना नहीं है।

तब वे सात नदियाँ कौन-सी हैं? इसका समाधान वही है, जिसका प्रथम निर्देश कियागया है—कैलाश मानसरोवर के आस-पास के प्रदेश से प्रवाहित होने-वाली सात नदियाँ। जो सिन्धु, सतलुज, सरस्वती, यमुना, गङ्गा, शारदा (अथवा करनाली), ब्रह्मपुत्रा हैं। इनमें अन्तिम दो को छोड़कर शेष पाँच के वैदिक नामों को आज भी पहचानते हैं।

(५) **क्या ऐसा प्रदेश अन्यत्र सम्भव है?**—आधुनिक कतिपय विद्वानों ने—जिनमें मुख्यतया क्षेत्रेशचन्द्र तथा सरदेसाई आदि का नाम लियाजासकता है—सुझाव दिया है, कि रूसी तुर्किस्तान में 'बल्कश' नाम की एक झील है, जिसके साथ सात नदियों का सम्पर्क है। विभिन्न दिशाओं से आकर ये नदियाँ बल्कश झील में गिरती हैं। इनके नाम हैं—इली, लेप्सा, करतल, बस्कन, अक्सू, सरकन, बियेन; इनमें से 'इली' के स्थान पर सरदेसाई 'कोक्सू' नामक अन्य नदी बताते हैं।

पर यह सब अन्धेरे में लाठी चलाने के समान है। न इन नदी नामों का वैदिक नदी नामों से किसी भी प्रकार का साम्य है; न यह सब नदी सम्बन्धी वैदिक वर्णनों के साथ सामञ्जस्य रखता है। वैदिक वर्णन नदियों के उद्गम स्थानों का उद्बोधन कराते हैं, जो एक-दूसरे के पर्याप्त समीप रहे। पर बल्कश झील उद्गम स्थान न होकर सात या न्यूनाधिक नदियों का पतन (विनशन) स्थान है; जहाँ उनकी यात्रा समाप्त होजाती है। वेद सात नदियों की यात्रा के प्रारम्भ का वर्णन करता है। बल्कश में गिरनेवाली नदियों के उद्गम स्थान विभिन्न दिशाओं में एक-दूसरे से पर्याप्त दूरी पर अवस्थित हैं। अतः ये सुझाव सर्वथा उपेक्षणीय एवं त्याज्य हैं।

गत पंक्तियों में कहागया है—जहाँ से सात नदियों का निकास है, उस प्रदेश

का नाम 'बिन्दुसर' अथवा 'ब्रह्मसर' है। आकाश से अविरलधारा–रूप में इन्द्र (-परमात्मा–महादेव) ने गङ्गा को बिन्दुसर में छोड़ा, वह उस वारिधारा-वेग को सहन न करसका, तब वह (वर्षा-रूप आकाश गङ्गा) सात धाराओं में बह चली। यह प्रवाह तीन दिशाओं में बहा–पच्छिम, दक्खिन तथा पूरब की ओर। कदाचित् इसीकारण गङ्गा को 'त्रिपथगा' नाम दियागया। अब प्रसंगप्राप्त बिन्दुसर के विषय में विचार करना अपेक्षित है।

बिन्दुसर का क्षेत्रफल—

'बिन्दुसर' का क्षेत्रफल कितना रहा होगा, इसका निश्चय कियाजाना कठिन है। फिर भी वर्तमान नदियों के उद्गम स्थान से इसकी सीमाओं का अनुमान किया जासकता है। पीछे निर्देश कियागया है, कि 'बिन्दुसर' की लम्बाई अधिक से अधिक दो सौ मील की अनुमान कीजासकती है। वर्तमान टिहरी राज्य के पश्चिमोत्तर कोण के आस-पास जिसकी सीमा बुशहर राज्य की सीमा से मिलती है यदि सरस्वती नदी का उद्गम स्थान माना जाय, और 'बिन्दुसर' से निकलने वाली शेष छह नदियों के उद्गम स्थानों को मिलाती हुई एक रेखा खींची जाय, तो 'बिन्दुसर' का क्षेत्रफल हमारे सामने आजाता है। इसकी लम्बाई चौड़ाई लगभग उतनी होसकती है, जो ऊपर निर्दिष्ट कीगई है।

बिन्दुसर के सम्बन्ध में अन्य मत—

नन्दूलाल दे महोदय ने अपने भारतीय भौगोलिक कोष[1] में 'बिन्दुसर' के दो स्थानों का निर्देश किया है।

(१) गंगोत्री से दो मीज दक्षिण, रुद्र हिमालय पर एक पवित्र सरोवर है। कहाजाता है, जहाँ स्वर्ग से गंगा को नीचे लाने के लिये भगीरथ ने तप किया था।

(२) गुजरात प्रान्त में, अहमदाबाद के उत्तर-पश्चिम की ओर 'सिद्धपुर' नामक स्थान, यही कर्दम ऋषि का आश्रम और कपिल का उत्पत्ति स्थान था।

---

1. A sacred pool situated at the Rudra-Himalaya, two miles south of Gangotri, where Bhagiratha is said to have performed asceticism for bringing down the goddess Ganga from heaven.

2. Sitpur in Gujrat, north-west of Ahmadabad it was the hermitage of Karddama Rishi and birthplace of Kapila. [The Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India. by Nandoo Lal Dey]

इन निर्देशों में दूसरी संख्या का निर्देश रामायण और महाभारत आदि के वर्णनों से सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि गुजरात के 'सिद्धपुर' नामक स्थान में उक्त सात नदियों के उद्‌गम का सामञ्जस्य असंभव है। फिर भागवत के कथनानुसार 'बिन्दुसर' का स्थान, कहीं ब्रह्मावर्त्त देश के आस-पास होना चाहिये। गुजरात के 'सिद्धपुर' में यह बात संभव नहीं। दे महोदय ने यह निर्देश किस आधार पर किया है, इसका उन्होंने अपने ग्रन्थ में कोई उल्लेख नहीं किया। ऐसी स्थिति में गुजरात के उस प्रदेश में, कर्दम ऋषि का आश्रम और कपिल का उत्पत्ति-स्थान बताना युक्तिसंगत नहीं। वस्तुतः सिद्धपुर के साथ कपिल का सम्बन्ध पर्याप्त अनन्तर काल में जोड़ा गया प्रतीत होता है। सरस्वती नदी कपिल काल में वर्तमान राजस्थानीय भूभाग पर प्रवाहित नहीं थी। बीकानेर के समीप वर्तमान 'कोलायत' प्राचीन 'कपिलायतन' का अवशेष है, जिसकी स्थापना-अनन्तर काल में कपिल के नाम पर उसके अनुयायी यतियों द्वारा कीजानी सम्भव है।

संख्या एक के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख कियाजाचुका है। भगीरथ के तप का स्पष्टीकरण करदियागया है।

किरणावली की भूमिका[1] में पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'गङ्गा और सागर के संगम के समीप 'बिन्दुसरोवर' पर देवहूति से महर्षि कर्दम का पुत्र [कपिल] उत्पन्न हुआ।'

द्विवेदीजी का यह लेख रामायण, महाभारत, और भागवत आदि प्राचीन वाङ्मय के सर्वथा विरुद्ध होने से अग्राह्य है। द्विवेदीजी के कथनानुसार, गङ्गा जहाँ समुद्र में मिलती है, वहाँ 'बिन्दुसरोवर' होना चाहिये। परन्तु प्राचीन वर्णनों के आधार पर गंगा के उद्‌गम स्थान में उसका होना निश्चित होता है। संभवतः मध्यकाल की स्थिति पर साधारण विचार करके द्विवेदी महोदय ने उक्त कल्पना कर डाली है।

इसप्रकार हिमालय में 'बिन्दुसर' की स्थिति और उसके पश्चिमी तट में सरस्वती के उद्‌गम स्थान का निश्चय होजाने पर अब कपिल के उत्पत्तिस्थान का अधिक सरलता से अनुमान कियाजासकता है।

कपिल का उत्पत्तिस्थान [सरस्वती तटवर्ती आश्रम]—

गत पंक्तियों में यह लिखाजाचुका है, कि अम्बाला मण्डल के उत्तर-पूर्व सिरमौर [नाहन] राज्य के अन्तर्गत सरस्वती नदी के चिह्नों का पता लगता

---

१. गंगासागरसंगमान्तिके बिन्दुसरोवरे कर्दमस्य महर्षेः पुत्रो देवहूत्यां जातः। [चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ में प्रकाशित, पृष्ठ १९ पर]

है। शिवालक पहाड़ के 'आदिबद्री' नामक दर्रे से होकर सरस्वती बाहर की ओर समतल प्रदेश में आती थी। पाँच छह मील और ऊपर से इसकी एक शाखा हरिपुर दर्रे से होकर बाहर आती, और कुछ अन्तर पर मुख्य धारा में मिल जाती थी। यहाँ नदी प्रवाह के दाहिनी ओर का (पच्छिम दिशा का) तट दूर तक चली गई अपनी अनुपेक्षणीय ऊंचाई से किसी महानदी को सीमित रखने की क्षमता का आज भी स्पष्ट प्रमाण है।

शिवालक के इस प्रदेश से लगभग तीस मील उत्तर-पूर्व की ओर नाहन राज्य में 'रेणुका' नाम की एक छोटी-सी झील है। इसकी लम्बाई मील सवा मील, तथा चौड़ाई अधिक से अधिक दो सौ गज के लगभग है। इसकी स्थिति से मालूम होता है, चिरकाल पूर्व में यहाँ कभी किसी बड़ी नदी का स्रोत (वहाव) रहा होगा। इस स्थान से पाँच छह मील उत्तर पूर्व की ओर एक ऊंचा पहाड़ है, जिसके ऊपर दो छोटे शिखर हैं। इनमें से पूर्व के शिखर का नाम आज भी 'कपिल का टिब्बा' है। पश्चिम का शिखर 'जमदग्नि' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान का प्राचीन इतिहास जमदग्नि, रेणुका और परशुराम के इतिहास से सम्बद्ध है। तथा उससे भी प्राचीन इतिहास कपिल के इतिहास से।

'बिन्दुसर' से सरस्वती नदीका उद्गम जिस स्थान पर संभावना किया जा-सकता है, वह स्थान इस प्रदेश से पूर्व-उत्तर की ओर लगभग सत्तर-अस्सी मील-पर होगा। प्रतीत होता है, अपने उद्गम स्थान से प्रवाहित होकर सरस्वती नदी इसी पर्वत शिखरके आस-पास से होती हुई शिवालक की ओर जाती थी। कपिल के नामसे आज भी प्रसिद्ध, यह पर्वत शिखर का प्रदेश कपिल का उत्पत्ति-स्थान और कर्दम ऋषि का आश्रम रहा होगा। इस प्रदेशके पर्वत शिखरों की स्थिति का सावधानतापूर्वक पर्यवेक्षण करनेपर यह स्पष्ट प्रतीत होजाता है, कि उस प्राचीन कालमें सरस्वती नदीका स्रोत, कहां होकर बहता रहा होगा।[1]

भागवत के अनुसार ब्रह्मावर्त देशका राजा स्वायंभुव मनु[2] अपनी कन्या

---

१. लेखक ने स्वयं इन प्रदेशों में घूमकर इसका पर्यवेक्षण किया है। इस दिशा में लेखकको, नाहन राज्य-परिवार के श्रीयुत कुंवर अजीतसिंह महोदय से, तथा महाराजके भूतपूर्व अंगरक्षक श्री पं० मधुसूदनदत्त से विशेष सहायता मिली है। लेखक उनका कृतज्ञ है।

२. कर्दम का श्वसुर सम्राट् स्वायंभुव मनु, ब्रह्मावर्त का राजा था, जो अयोध्या (अवध) के वैवस्वत मनुसे पृथक् होना चाहिये। किन्हीं विद्वानों का विचार है कि अवध का मनु पहले था, अर्थात् सत्ययुगके प्रारम्भिक कालमें, तथा ब्रह्मावर्तका मनु सत्ययुगके अन्तिम कालमें माना जाना चाहिये। परन्तु युगों की काल गणना के सम्बन्ध में अभी निश्चित विचार प्रकट नहीं कर

'देवहूति' का विवाह करनेकेलिये कर्दम ऋषिके आश्रम में आया था। उक्त स्थान, ब्रह्मावर्त में अथवा उसकी सीमा के समीप कहाजासकता है। समीप हमने इसलिये कहा है, कि अभीतक ब्रह्मावर्त की तात्कालिक निश्चित सीमाओं का ज्ञान हम विस्मृत कर चुके हैं। फिर भी इतना अनुमान किये जानेमें कोई बांधा नहीं है, कि ब्रह्मावर्त के समीप कर्दम ऋषि का आश्रम और कपिल का उत्पत्ति-स्थान होना चाहिये। इसलिये सिरमौर राज्य की रेणुका झील से ऊपरकी ओर आस-पास ही कहीं उक्त स्थान का निश्चय कियाजासकता है। यह निर्णय संस्कृत साहित्य में प्रदर्शित 'बिन्दुसर' 'सरस्वती' और 'ब्रह्मावर्त' के वर्णनों के आधारपर कियागया है।

सरस्वती का स्रोत, तथा तत्सम्बन्धी अन्य मत—

ब्रह्मावर्त की सीमाओं का अधिक निर्धारण करने के लिये 'सरस्वती' और 'दृषद्वती' नदियों के सम्बन्धमें विवेचन करना आवश्यक है। नन्दूलाल दे महोदय ने 'प्राचीन और मध्यकालिक भारतका भौगोलिक कोष' नामक इंग्लिश पुस्तक में सरस्वती नदी के लिये तीन मतों का उल्लेख इसप्रकार किया है—

(१) सरस्वती नदी सिरमौर के पहाड़ों से निकलती और 'आदबद्री' के पास —जिसे हिन्दू पवित्र समझते हैं—समतल भूमि पर प्रवेश करती है। यह नदी छलौर

सकते, फिर भी इतना कहना कदाचित् अयुक्त न हो, कि मध्यकाल के ज्योतिष ग्रन्थों में वर्णित युग, ऐतिहासिक युगों से भिन्न होंगे। इन युगों के काल की गणना का निश्चय होनेपर यह संभव है, कि उक्त दो मनुओं [मनुवंशों] का जो पौर्वापर्य बताया जाता है, उसमें सर्वथा विपर्यय होजाय। अर्थात् जिस सत्ययुगके आदि भाग में वैवस्वत मनुका काल हो, उससे किसी पर्याप्त पहले सत्ययुग के अन्तिम भाग में स्वायंभुव मनु का काल हो। इस-प्रकार स्वायंभुव मनु का काल सत्ययुग के अन्तिम भाग में होनेपर भी वैवस्वत मनु से पूर्व होगा। यह संभावना, युगों का कालमान कतिपय सहस्र वर्ष का माने जाने पर होसकती है।

अतीत सात मनुओं का जो ग्रन्थों में उल्लेख आता है, संभवतः ये तत्तत्कालीन क्षत्रियों के पृथक् राजवंश थे। उस समय प्रजापालन के द्वारा प्रजा की वृद्धि में इनका अत्यन्त उपयोगी सहयोग प्राप्त हुआ होगा। इसी कारण इनका तथाकथित वर्णन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इसप्रकार भले-ही स्वायंभुव मनु पहले हुआ हो, और वैवस्वत मनु बाद में, परन्तु उनके वंशधर राजाओं में कोई भी मनु राजा आगे पीछे होसकते हैं। अभिप्राय: है, प्रत्येक मनु के वंशधर अपने वंश के आदि पुरुष के नामपर 'स्वायंभुव मनु' कहलाते थे, उनके अपने वैयक्तिक नाम कोई अन्य रहते होंगे।

गांव के पास कुछ दूर तक रेत में अदृश्य होगई है। भवानीपुर के पास फिर दिखाई देती है। इसी तरह बालछप्पर के पास फिर अदृश्य होकर बरखेड़ामें पुन: दीखने लगती है, और पेहोआ के समीप उरनई में मारकण्डा नदी के साथ मिल जाती है। आगे भी इसका नाम सरस्वती रहता है, और यह घग्घर के साथ मिल जाती है।

(२) गुजरात में सोमनाथ के पास एक नदी।

(३) एँरेकोसिया [रौलिन्सन][१]

इन तीनों मतोंमें से दूसरे और तीसरे मत के सामंजस्य के लिये हम कोई सुपुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं कर सके हैं। महाभारत[२] में प्रभासतीर्थ की स्थिति सरस्वती के तटपर बताई गई है, जहाँ सरस्वती पश्चिम समुद्र में मिलती थी। प्रतीत होता है, इसी आधारपर दे महोदयने संख्या दो में सोमनाथ के पास सरस्वती का होना बताया हो। परन्तु यह सरस्वती वही होसकती है, जिसका संख्या एक में वर्णन कियागया है। वह उसके उद्गम की ओरका वर्णन है, और यह समुद्र में गिरने के समीप का। यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहाजासकता, कि वर्तमान प्रभास अथवा सोमनाथ के समीप प्राचीन सरस्वती समुद्र में गिरती थी। अधिक संभावना यही है, कि राजपूताने की मरुभूमि जिस समय समुद्र सलिल से आच्छादित थी, उसी समय सरस्वती की धारा पृथ्वी पर प्रवाहित होती थी। उस समय का, सरस्वती और समुद्र के संगम का स्थान तत्कालीन आर्यों के लिये अवश्य आकर्षक रहा होगा। सरस्वती और उस समुद्र के विनाशकारी परिवर्तन के अनन्तर पूर्वकाल की स्मृति के आधार पर किसी समय वर्त्तमान प्रभास अथवा सोमनाथ (सोमतीर्थ) की कल्पना करली गई। जिसके आधार पर महाभारत

---

१. सरस्वतीविषयक नन्दूलाल दे का लेख—

1. The river Saraswati rises in the hills of Sirmoor and emerges into the Plains at Ad Badri, deemed sacred by the Hindus. It disappears for a time in the sand near the village of Chalaur [छलौर] and re-appears at Bhawanipur [भवानीपुर] At Balchppar [बालछप्पर] it again disappears, but re-appears again at Barkhera [बरखेड़ा]; at Urnai, [उरनई] near Pehoa [पेहोआ], it is joined by the Markanda [मारकण्डा नदी], and the united river still bearing the name of Saraswati, [सरस्वती] ultimately joins the Ghagger [घग्घर], [Panjab Gazetteer].

2. A river near Somanatha in Guzarat.

3. Arachosia [Rawlinson], [The Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India, by Nandoo Lal Dey.]

२. म. भा०, वन ८०/६०–६३।। शल्य० ३६।३३–३४।।

का वर्त्तमान वर्णन लिखा गया। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि दे महोदय ने संख्या एक और दो में सरस्वती नाम की जिन दो नदियों का उल्लेख किया है, वस्तुतः वह एक ही सरस्वती नदी है, जिसका एक वर्णन उद्गम के साथ का और दूसरा समुद्र-संगम के साथ का है। यद्यपि यह सन्दिग्ध है, कि हिमालय से निकलने वाली सरस्वती सोमनाथ के पास समुद्र में गिरती रही है।

इस प्रसंग में यह विचारणीय है, कि पंजाब के उस भाग–जहाँ सरस्वती प्रवाहित थी–और गुजरात के सोमतीर्थ (सोमनाथ मन्दिर के समीपवर्ती) क्षेत्र के अन्तराल में विस्तृत भूभाग समुद्र से ढका था। उस प्राचीनकाल में सरस्वती का सोमतीर्थ के पास समुद्र में मिलना सम्भव नहीं था। पूर्वापरकालिक इस भौगोलिक स्थिति पर विचार करने से यह ज्ञात होता है, कि कभी प्राचीनकाल में किसी अत्युग्र भूकम्प आदि भौगोलिक परिवर्तन से जहाँ सरस्वती का विशाल धारा-प्रवाह भूस्तर के उथल जाने से नष्ट होगया; वहीं साथ वह विस्तृत समुद्रतल भी उथल गया, पानी बहकर आगे समुद्र में चलागया, और यह राजस्थान का मरु भूभाग अनावृत होकर शुष्क प्रदेश के रूप में सामने आगया। तात्कालिक उस आकस्मिक घटना ने प्रदेश को यह रूप देदिया।

ऋतु के अनुसार प्रकृति अपना कार्य करना छोड़ती नहीं। उस घटना के अनन्तर जब पहली वर्षाऋतु आई होगी, उसमें हिमालय तराई की मूसलाधार वर्षाओं के दौड़ते जलप्रवाह भूतल पर उन खातों में बराबर वेग के साथ प्रवेश करते रहे होंगे, जो जगह-जगह पर सरस्वती-प्रवाह के विच्छिन्न होजाने से उस समय सूखे पड़े होंगे। उस जलप्रवाह ने अपने वेग के साथ उन स्थलों में भी प्रवेश पालिया होगा, जो गतकाल में समुद्री जल से ढके पड़े थे, और अब नंगे होकर बाहर निकल आये थे। जल स्वभाव के अनुसार ढलान की ओर भागता है। प्रतिवर्ष बारिशों का वह प्रवाह सरस्वती के नाम से उन खातों को आगे बढ़ाता हुआ उन्हें सरस-सक्रिय बनाता रहा। कालान्तर में इसके अग्रिम भाग ऐसे सजल रहने लगे, जिनमें वर्षभर थोड़ा-बहुत पानी बना रहता था। ऐसे काल में इसके किनारे बस्तियाँ धीरे-धीरे बनने लगीं, यह भूभाग कभी समुद्र के हट जाने से नया निकला खाली पड़ा था। कालीबंगा आदि की बस्तियाँ उसी समय की प्रतीत होती हैं। कालान्तर में लम्बे समय तक वर्षाओं के अभाव ने इस प्रदेश को पुनः उजाड़ दिया, जल के अभाव में जीवन-निर्वाह असम्भव–जैसा होजाता है। प्रकृति के थपेड़ों से बरबस बस्तियाँ हाथों नीचे रेत में धंसा दी गई।

सरस्वती का यह दूसरी वार का प्रवाह बढ़ते-बढ़ते कच्छ के घार में जा-गिरा था, गुजरात की सिद्धपुर आदि बस्तियाँ उसी काल की हैं। वह प्रदेश स्वभावतः कुछ हरा-भरा होने के कारण सिद्धपुर आदि बस्तियाँ अभी तक पहले

के समान बनी हैं। सरस्वती तटवर्ती रेगिस्तानी बस्तियाँ सरस्वती के समान अदृश्य होगईं, उजड़ गईं।

सोमनाथ तक सरस्वती सम्भवतः ऐसे ही पहुँची है, जैसे प्रयाग में। न प्रयाग में कभी सरस्वती पहुँची, न सोमनाथ। इसे वहाँ पहुँचाने के निम्न कारण समझे जासकते हैं—

प्रयाग में पहुँचने का कारण–'त्रिवेणी' नाम है।

दो नदियों के संगम स्थान को 'त्रिवेणी' कहाजाता है। दो नदियों की धारा दो लम्बी फैली भुजाओं की तरह विभिन्न दिशाओं से आकर किसी एक जगह आपस में मिलजाती हैं। मिल जाने पर आगें एक होकर बहती हैं। संगम स्थान पर खड़े होकर देखने से जल की तीन धारा दिखाई देती हैं। प्रत्येक दो नदियों का संगम स्वभावतः 'त्रिवेणी' होता है। किसी कवि-हृदय विद्वान् ने ऐसे संगम को 'त्रिवेणी' नाम से पुकारा। कदाचित् उस समय उसके मस्तिष्क में महिला की तीन लड़ में बंधी वेणी उथल-पुथल मचा रही होगी।

'त्रिवेणी' पद के इस अर्थ-स्वारस्य को न समझते हुए कालान्तर में लोगों ने इसे तीन नदियों का संगम समझा। तीसरी नदी वहाँ न थी, न है; तब अदृश्य नदी सरस्वती की वहाँ कल्पना करली गई। यदि यह तीन नदियों का संगम होता, तो 'त्रिवेणी' न रह कर यह 'चतुर्वेणी' बनजाता।

वस्तुतः प्राचीन काल में नदी संगम को बड़ा पवित्र स्थान एवं मांगलिक माना जाता रहा है। वेदों में भी इसके संकेत उपलब्ध होते हैं[1]। ऐसे प्रदेश को तीर्थस्थान मानकर वहाँ प्रचुरता के साथ यज्ञ-याग आदि का आयोजन किया जाता; और इन्हें प्रभु उपासना के लिये अनुकूल मानाजाता था। ऐसे पवित्र नदी-संगम के लिये प्राचीनकाल से 'प्रयाग' पद का प्रयोग होता रहा है। गढ़वाल में गंगा की सहायक नदियों के संगम आज भी 'प्रयाग' नाम से व्यवहृत होते हैं[2]। मध्य हिमालय के दक्षिणी ढलान के समस्त जलों को लेकर दो महानदी (गंगा-यमुना) जहाँ आपस में मिलती हैं, वह अतिमान्य संगम होने से 'महाप्रयाग' कहाजाता है। संक्षेप में आज भी वह 'प्रयाग' पद से सर्वविदित है।

(ख) जैसे प्रयाग में सरस्वती के पहुँचने का कारण उस संगम का 'त्रिवेणी' नाम है; वैसे ही सोमनाथ या द्वारिकामें सरस्वती के पहुँचने का कारण–सरस्वती के पश्चिम समुद्र में संगम की–प्राचीन लेखों के आधार पर बनी–भावना

१. 'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत ।।ऋ०८।६।२८।। यजु० २६।१५।।
साम० १४३।। ऋग्वेद में 'संगमे' पद के स्थान पर 'संगथे' पाठ है। अर्थ समान है।

२. कर्णप्रयाग, देवप्रयाग, विष्णुप्रयाग, नन्दप्रयाग, रुद्रप्रयाग आदि।

है। सरस्वती अपने अविरत प्रवाहकाल में जिस पश्चिमी समुद्र से मिलती थी, उसका उत्तरी-पश्चिमी संकीर्ण तट वर्तमान राजस्थान के उत्तरी-पश्चिमी सीमा-भागों तक रहा; यह भौगोलिक परिस्थितियों से स्पष्ट होता है। उस समय राजस्थान का यह प्रदेश समुद्र जल से आप्लावित था, जो वर्तमान अरबसागर से मिला था। इस समुद्र का उत्तरी-पश्चिमी तट वर्तमान भूगोल के अनुसार जहाँ बीकानेर-बहावलपुर एवं भटिण्डा आदि की सीमाएँ आपस में मिलती हैं, उसके आस-पास तक था। सरस्वती तटवर्ती निवासियों के लिये यही पश्चिम समुद्र था, जहाँ सरस्वती समुद्र में मिलती थी। प्राचीन वाङ्मय में इस प्रदेश का 'विनशन' नामसे अनेकत्र उल्लेख हुआ है।[1]

महाभारत[2] के वर्णनों से यह निश्चय होता है, सरस्वती नदी सीधी समुद्र में जाकर मिलती थी। पर इसके स्वीकार किये जाने में कोई प्रमाण नहीं है, कि वर्त्तमान सोमनाथ के समीप सरस्वती नदी समुद्र में गिरती रही हो। जब सरस्वती की जलधारा निरन्तर प्रवाहित हो रही थी, उस समय वर्त्तमान राजपूताने का अत्यधिक भाग समुद्र-सलिल से आच्छादित[3] था। ऐसी स्थिति में

---

१. ताण्डव० २५।१०।१,१६॥ महाभारत, वन० ८२।१११, ८४।११२॥ मनु० २।२१॥

२. 'ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे। [म० भा०, वन०, ८०।६३]
'समुद्रं पश्चिमं गत्वा सरस्वत्यब्धिसंगमम्।
आराधयत देवेशं ततः कान्तिमवाप्स्यसि॥' [म. भा. शल्य० ३६।३३]

३. अन्य भौगोलिक आधारों के अतिरिक्त इसमें सुपुष्ट प्रमाण यह है, कि राजपूताने के इस विशाल भाग में अनेक झीलें ऐसी पाई जाती हैं, जिनका जल समुद्र के समान सर्वथा खारी है, और इनसे लाखों मन नमक प्रतिवर्ष तैयार किया जाता है। इनमें सबसे बड़ी झील सांभर है, जिसकी अधिक से अधिक लम्बाई २० मील और चौड़ाई दो से सात मील तक होजाती है। पूरी भर जाने पर इसका क्षेत्रफल ९० वर्गमील के लगभग रहता है। केवल इसी झील में ३५ लाख मन से भी अधिक नमक प्रतिवर्ष तैयार किया जाता है। यह झील जोधपुर और जयपुर राज्यों की सीमा पर है। इसके अतिरिक्त जोधपुर राज्य के डीडवाना, पचभद्रा आदि स्थानों में, बीकानेर राज्य के छापर तथा लूणकरनसर में, और जैसलमेर राज्य के काणोद आदि स्थानों में अनेक छोटी-छोटी झीलें हैं, जिनमें सर्वथा समुद्री जल है। इससे प्रतीत होता है, कभी अत्यन्त प्राचीन काल में यह प्रदेश समुद्रीजल से ढका था। किसी आकस्मिक उग्र भौगोलिक परिवर्तन से समुद्र उथलकर पीछे हट गया, और ये उसके चिन्ह शेष रह गये।

वर्त्तमान राजपूताने के उत्तर-पश्चिमी भाग के समुद्रतट में कहीं सरस्वती नदी आकर मिलती थी, जिसका अभी गत पंक्तियों में उल्लेख किया है। महाभारत के वर्णनों से स्पष्ट होता है, युद्धकाल से बहुत पूर्व सरस्वती नदी नष्ट[1] होचुकी थी। महाभारत काल में भी, नष्ट हुई सरस्वती के चिन्ह, आज की तरह यत्र-तत्र उपलब्ध होते थे। परन्तु एक ऐसे स्थान का महाभारत में उल्लेख है, जहाँ प्राचीनकाल में सरस्वती समुद्र में मिलती होगी। इस स्थान का नाम 'विनशन' लिखा है। इस नाम से यह आभासित होता है, कि सम्भवतः यह वही स्थान है, जहाँ सरस्वती नदी, समुद्र में मिलकर अदृश्य होजाती थी, नदी के रूप में आगे उसका अस्तित्व नहीं रहता था। यह समुद्र, 'पश्चिम-समुद्र' कहलाता था, जो नाम आजकल अरब समुद्र को दिया जाता है। 'विनशन' नामक स्थान, वहाँ रहा होगा, जहाँ आज बीकानेर और बहावलपुर राज्य पंजाब से मिलते दिखाये जाते जैसा अभी गत पंक्तियों में स्पष्ट किया गया।

सरस्वती के विनाश का शतपथब्राह्मण में उल्लेख—

सरस्वती के नष्ट होने का उल्लेख, शतपथब्राह्मण[2] में उपलब्ध है। वहाँके वर्णन से निम्नलिखित इतिहास स्पष्ट होता है—

सरस्वती प्रदेश में 'विदेघ माथव' नामक राजा, अतिप्राचीन काल में राज्य करता था। उसका पुरोहित था—गोतम राहूगण। किसी आग्नेय उपद्रव [ज्वालामुखी आदि के फट जाने तथा प्रचण्ड भूकम्प आदि] के कारण उसका प्रदेश और राज्य नष्ट होगया[3]। राजा किसी तरह सपरिजन बचकर अपने पुरोहित

---

१. म. भा., शल्य० ३८।१ ॥भीष्म० ६।५१॥

२. शत० ब्रा० १।४।१।१०—१७॥

३. पद्मपुराण [सृष्टिखण्ड, १८।१५९—२००] में आलंकारिक रीति पर सरस्वती प्रदेश की इस घटना का उल्लेख किया गया है। वहाँ पर देवलोक से, वडवानल [देवलोक में वडवानल का पहुँच जाना, इस बात को स्पष्ट करता है, कि तत्कालीन भौगोलिक उथल-पुथल का प्रभाव, बिन्दुसर तक पहुंचा था, यही प्रदेश अनन्तर काल में देवलोक कहाजातारहा है।] को सरस्वती के द्वारा समुद्र में भेजे जाने का वर्णन है, उसके साथ सरस्वती भी अदृश्य होगई बताई गई है। गंगा और यमुना उससे पुनः दर्शन के लिये पूछती हैं। परन्तु वह सदा के लिये उनसे बिदा लेकर चली जाती है। गंगा ने उसका अनुगमन करना चाहा। परन्तु उसने कहा, कि तुम अब प्राची [पूर्व] दिशा की ओर जाओ, और स्वयं सरस्वती वडवानल को लेकर सदा के लिये पश्चिम समुद्र में चली गई।

के साथ पूर्व की ओर चल दिया। उसे कोई प्रदेश बहुत दूर तक, अपना राज्य पुनः स्थापित करने के लिये रिक्त न मिला। यहाँ तक कि वह पूर्व की ओर चलता-चलता सदानीरा नदी के तट पर जा पहुँचा। उसे मालूम हुआ, कि सदानीरा से पूर्व की ओर अभी तक कोई आबादी नहीं है। इस नदी को आज तक किसी ने पार नहीं किया। उसने अपने पुरोहित व मन्त्री से पूछा, कि मुझे अब कहाँ निवास करना चाहिये ? पुरोहित ने उत्तर दिया–सदानीरा के पूर्व की ओर का प्रदेश बहुत पहले निवास के योग्य नहीं था, वहाँ बहुत दलदल थी। परन्तु अब ऐसा नहीं है। यह प्रदेश निवास के योग्य होचुका है। यदि अब तक किसीने सदानीरा को पार नहीं किया, तो अब हम करेंगे। यह सुन राजा विदेघ माथव, सदानीरा नदी को पारकर पूर्व की ओर के प्रदेश में चला गया। उसको अपना आवास बनाया। तभी से उस प्रदेश का नाम 'विदेघ' हुआ, जो कालान्तर में उच्चारण विपर्यय से 'विदेह' कहा जाने लगा। शतपथब्राह्मणकार के समय में इस प्रदेश का नाम 'विदेह' होचुका था। उसने 'सदानीरा' नदी को, कोसल और विदेह प्रदेशों को विभाजित करने वाली सीमा बताया है। प्रतीत होता है, विदेघ माथव ने, अपने समय के कोसलाधिपति के साथ सन्धि करके 'सदानीरा'[1]

इस वर्णन से दो बात अत्यन्त स्पष्ट होती हैं। (१)—किसी भयंकर ज्वालामुखी के फटने से प्रबल भूकम्प के कारण सरस्वती के प्रदेश उथल गये, और उसका स्रोत सदा के लिये नष्ट होगया। (२)—सरस्वती के प्रवाह समय में गंगा और यमुना उसकी सहायक नदियाँ थीं। उसके नष्ट होजाने पर इन दोनों नदियों का स्रोत पूर्व की ओर को बहने लगा।

इस प्रसंग की पुष्टि के लिये पद्मपुराण [सृ० खं०] के २७वें अध्याय के १०५—११०, ११४, तथा १५७ श्लोक भी द्रष्टव्य हैं। स्कन्दपुराण, प्रभास खण्ड [प्रभासक्षेत्र माहात्म्य], अध्याय ३३–३५ में भी यह प्रसंग है।

१. 'सदानीरा' आजकल कौनसी नदी है यह विवेचनीय है। आधुनिक विद्वानों के मत उन्हीं के शब्दों में नीचे उदधृत किये जाते हैं—

नन्दूलाल दे—A river in Oudh mentioned in the महाभारत and शतपथ ब्राह्मण [१।४।१।१४]

वैदिक इन्डैक्स–Sada-Nira—'having water always' [perennial], is the name of a stream which, according to the शतपथ ब्राह्मण [१।४।१।१४], was the boundary between the Kosalas and the Videhas. The river is identified by the native lexicographers with the Karatoya [see Imperial Gazetteer of India, 15, 24.], but this seems to be too far

को उन प्रदेशों की सीमा निधारित किया होगा, जिसका उल्लेख ब्राह्मणकार ने अपने समय में प्रसंगवश किया है।

यह सीमा आज भी लगभग उसी रूप में चली आरही है, जो अवध और मगध (विहार) की सीमा को बनाती है।

इस वर्णन से यह परिणाम निकलता है, कि जब 'विदेघ माथव' सरस्वती के समीप प्रदेश में राज्य करता था, उस समय कोई ऐसे तीव्र भौगोलिक परिवर्त्तन हुए, जिनसे सरस्वती के स्रोत रुद्ध होगये, और वह देश नष्टप्राय होगया, तथा उजड़ गया।

---

east. Weber's [Indis, che Studien,l, 172, 181.] identification of it with the Gandaki [See-S. V. Great Gandak, Imperial Gazetteer of India, 12, 125] is probably correct, for though the Mahabharata [2, 794.=सभा० २०।२७ कुम्भघोण संस्करण-ग्रन्थकार] distinguishes the two rivers, thers is nothing to show that this is due to any good tradition.

कुम्भघोण संस्करण के महाभारत की विशेष नाम सूची में टी. आर. व्यासाचार्य कृष्णाचार्यने 'सदानीरा' पद पर लिखा है—the river Karatoya in Oudh which flows through the districts of Rungpur and Dinajpur, और 'करतोया' पद पर लिखा है—A sacred river which flows through the districts of Rungpur and Dinajpur. It formed the boundary between the Kingdoms of Bengal and Kamarupa.

महाभारत विशेष नाम सूची के इन वर्णनों में 'सदानीरा' का विवरण असंगत होगया है। क्योंकि रंगपुर और दिनाजपुर ज़िले अवध में नहीं, प्रत्युत बंगाल में हैं। और 'सदानीरा' नदी अवध तथा अवध से लगे विहार प्रान्त में बहनी चाहिये। वस्तुतः भ्रान्ति से 'सदानीरा' को 'करतोया' समझकर 'करतोया' का विवरण 'सदानीरा' के साथ लगा दिया गया है, और 'सदानीरा' का अवध के साथ सम्बन्ध छोड़ा नहीं गया। फिर सूचीकारों ने 'करतोया' को बंगाल और कामरूप राज्य की सीमा विभाजक नदी बताया है, तब वह अवध में कैसे मानीजासकती है ? और 'सदानीरा' शतपथब्राह्मण [१।४।१।१४] के अनुसार कोसल तथा विदेहों की सीमा को बनाती है। इसलिये 'सदानीरा' और 'करतोया' एक नदी नहीं होसकतीं। महाभारत [२।२०।२७] में 'गण्डकी' और 'सदानीरा' के पृथक निर्देश में–जिसका संकेत 'वैदिक इन्डैक्स' में किया गया है– इतनी ही भ्रान्ति है, कि उसका लेखक यह निर्णय नहीं करसका, कि जिस नदी का नाम प्राचीनकाल में 'सदानीरा' था उसीका कालान्तर में 'गण्डकी'

सरस्वती और रॉलिन्सन् ।

रॉलिन्सन् [Raulinson] के मतानुसार सरस्वती, 'ऐरेकोसिया' [Arachosia] का नाम है। ख्रीस्ट पूर्व समय में, वर्त्तमान अफ़ग़ानिस्तान के दक्षिण-पश्चिमी भाग का यह नाम था[1]। सम्भवतः इस प्रदेश में बहने वाली किसी नदी के नाम पर प्रदेश का यह नाम रहा हो। आजकल इस प्रदेश में बहनेवाली नदी का नाम 'हैल्मन्द' [Helmand] है, जो हिन्दुकुश पर्वत के भाग 'कोह-ए-बाबा' से निकलकर अफ़ग़ानिस्तान के मध्यभाग में बहती हुई एक झील में आकर गिर जाती है।

आधुनिक 'हैल्मन्द' नाम के साथ 'सरस्वती' नाम की पर्याप्त समानता है। पारसीक भाषा में 'स' की जगह 'ह' और 'र' की जगह 'ल' का प्रायः प्रयोग होता है। फारसी का 'मन्द' प्रत्यय संस्कृत के 'मतुप्' प्रत्यय के समानार्थक है। संभव है, इसी आधार पर रॉलिन्सन् महोदय ने ऐरेकोसिया की नदी को सरस्वती समझा हो। तथा उस प्राचीन समय में वह प्रदेश भारत का एक अंग रहा हो।

इन सब बातों के होने पर भी इस मत के ग्राह्य होने में निम्ननिर्दिष्ट अनेक बाधाएँ हैं—

(१) भारतीय साहित्य में सरस्वती का जो वर्णन कियागया है, उसका सामंजस्य 'हैल्मन्द' के साथ किसी रूप में बिठाया नहीं जासकता। सरस्वती के साथ जिन अन्य नदियों देशों राजाओं ऋषि मुनियों अनेक तीर्थ-स्थानों का सम्बन्ध प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित है, वह सब 'ऐरेकोसिया' के 'हैल्मन्द' में असंभव है।

(२) सरस्वती के नष्ट होजाने का उल्लेख, प्राचीन साहित्य के आधार पर हम पीछे कर चुके हैं। परन्तु 'हैल्मन्द' आज भी उसीतरह प्रवाहित होरहा है।

नाम होगया। यद्यपि महाभारत का इस स्थल का वर्णन अधिक विश्वसनीय नहीं कहाजासकता, फिर भी इतना अवश्य स्पष्ट होजाता है, कि 'करतोया' नदी 'सदानीरा' नहीं होसकती। क्योंकि कुरु देश से मगध तक जाने में 'करतोया' बीच में आ ही नहीं सकती, 'सदानीरा' आजाती है। इसलिये 'सदानीरा' नदी 'गण्डकी' होनी चाहिये। कोसल और विदेह देशों की सीमा होने की सम्भावना इसीमें है, जिसका उल्लेख शतपथब्राह्मण [१।४।१।१०–१७] में कियागया है।

१. 'हिस्टारिकल ऐट्लैस् आफ़ इण्डिया' चार्ल्स् जापैन एस्. जे. रचित, लांगमैन्ज् ग्रीन एण्ड को० द्वारा सन् १९१५ ईसवी में प्रकाशित, पृष्ठ ६, तथा चित्र नं० ३ और ५॥

(३) प्राचीन साहित्य के वर्णनानुसार 'सरस्वती', बिन्दुसर अथवा ब्रह्मसर नामक झील से निकल कर समुद्र में गिरती थी, परन्तु 'हैल्मन्द' पर्वत से निकलकर एक झील में जाकर मिलती है। इसलिये 'हैल्मन्द' को 'सरस्वती' पहचानना युक्तिपूर्ण नहीं कहाजासकता।

जहाँ तक दोनों नामों की समानता का प्रश्न है, यह स्वतन्त्र रूप में किसी एक स्थिति का निर्णायक नहीं है। इसप्रकार आकस्मिक रूप से अनेक नामों की समानता सम्भावित होसकती है। अभी पिछले दिनों इंग्लेण्ड का महाराज अष्टम एडवर्ड, कारणवश राजसिंहासन परित्याग कर देने के अनन्तर 'ड्यूक ऑफ विन्डसर' [विन्डसर का सामन्त] कहलाया। 'विन्डसर' इंग्लेंड में एक स्थान[1] का नाम है। यह नाम, अभी ऊपर वर्णित 'बिन्दुसर' नाम से अत्यधिक समानता रखता है। परन्तु इस समानता के होने पर इन दोनों को एक नहीं कहाजासकता।

आस्ट्रेलिया के 'न्यूसाऊथ वेलस' नामक प्रदेश में तथा अमेरिका में 'विन्डसर' नाम के स्थान हैं, जो इंग्लेंड से जाकर वहाँ बसे हुए व्यक्तियों ने, अपने प्राचीन प्रदेश की स्मृति में रख लिये हैं। ऐसे ही अन्य अनेक नाम हैं। यह सम्भव है— कभी अत्यन्त प्राचीन काल में सरस्वती प्रदेश के आर्यजन, अफ़ग़ानिस्तान के उन प्रदेशों में जाकर कार्यवश बस गये हों, उन्होंने वहाँकी उस नदी का नाम, अपने प्रदेश की नदी के नाम पर रखदिया हो, जिसका कालान्तर में भाषा और उच्चारण के प्रभावों से यह रूपान्तर होगया।

ऐसी स्थिति में ए० ए० मेक्डॉनल ने जो 'वैदिक मिथॉलंजी [Vedic Mythology; १८९७ A. D. संस्करण] के पृष्ठ ८७ पर यह सम्भावना प्रकट की है, कि अवेस्ता-वर्णित अफ़ग़ानिस्तान की 'हरकैती' [Haraqaiti] नदी, भारतीय साहित्य में वर्णित 'सरस्वती' है; वह भी सर्वथा असंगत है।

इसप्रकार सरस्वती के सम्बन्ध का यह विवेचन हमें इस परिणाम पर पहुंचा देता है, कि सरस्वती नदी हिमालय के बिन्दुसर अथवा ब्रह्मसर [पद्मपुराण के अनुसार विष्णुसर] नामक स्थान से निकलकर ब्रह्मावर्त्त कुरुक्षेत्र आदि देशों को सींचती हुई, उस समुद्र में गिरजाती थी, जो कभी राजपूताना [वर्त्तमान राजस्थान] प्रदेश की भूमि पर लहराता था। मुख्य सरस्वती नाम इसी नदी का था।

दृषद्वती—

सरस्वती के समान दृषद्वती आज अपरिचित-सी नदी है। अनेक विद्वानों ने इसके सम्बन्ध में अपने विभिन्न विचार प्रकट किये हैं। आजकल भारत की

---

१. इंग्लेंड के अन्तर्गत बर्कशायर [Berkshire] नामक प्रदेश में विन्डसर [Windsor] नाम का स्थान है।

उपलभ्यमान नदियों के नामों में दृषद्वती नाम, किसी का नहीं पाया जाता। इसका कारण यह कहाजासकता है, कि या तो वह नदी नष्ट होगई, या उसके किसी दूसरे नाम ने अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर इस नाम को विस्मृत करादिया।

घग्गर, दृषद्वती नहीं—

श्री नन्दूलाल दे[1] महोदय ने घग्गर नदी को दृषद्वती बताया है, जो सिमले की पहाड़ियों से निकलकर अम्बाला और सरहिन्द[2] होती हुई राजपूताने की मरुभूमि में अन्तर्हित होजाती है। दे महोदय ने अपने लेख का आधार एँल्फिन्स्टन और टॉड के उल्लेखों को माना है। परन्तु महाभारत[3] के वर्णनों के अनुसार दृषद्वती नदी, सरस्वती से दक्षिण पूर्व की ओर होनी चाहिये। वहाँ सरस्वती से दक्षिण और दृषद्वती से उत्तर की ओर कुरुक्षेत्र में निवास करना स्वर्ग-समान बताया गया है। यह उल्लेख उसी समय सम्भव है, जब सरस्वती से दक्षिण-पूर्व की ओर दृषद्वती की स्थिति मानीजाय। वर्तमान घग्गर नदी की स्थिति, उक्त सरस्वती से पश्चिम की ओर है। ऐसी स्थिति में घग्गर को दृषद्वती मानना असंगत होगा। इसके लिये अन्य भी कोई सुपुष्ट प्रमाण नहीं है।

कनिंघम ने थानेसर के वर्णन में, प्रसंगवश जो दृषद्वती का उल्लेख किया है, उससे दृषद्वती की वास्तविक स्थिति पर कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता। परन्तु उसने महाभारत के उल्लेखों को ध्यान में रक्खा प्रतीत होता है। इसीलिये कनिंघम के विचार से भी घग्गर नदी, दृषद्वती नहीं होसकती।

---

१. दृषद्वती–The Caggar [Ghagar] which flowed through Ambala and Sirhind, now lost in the sands of Rajputana, [Elphinstone and Tod]. [नन्दूलाल दे कृत, भौगोलिक कोष-इंग्लिश]

२. दे महोदय का यह लेख ठीक नहीं है, कि घग्गर सरहिन्द के पास बहती है। प्रत्युत सरहिन्द से लगभग ३५ मील दूर पूरब की ओर बहती है। वर्तमान अम्बाला से लगभग पांच-चार मील पच्छिम की ओर।

३. दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥ [वनपर्व, ८१।४, २०४] पद्मपुराण [आदिखण्ड, २८।८६] में इसप्रकार पाठ है—

दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण सरस्वतीम्। ये वसन्ति कुरुक्षेत्र ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥

परन्तु महाभारत के पाठ से इसका कोई विरोध नहीं है। इसका अभिप्राय केवल इतना है, कि सरस्वती के दोनों तटों का प्रदेश [कुरुक्षेत्र] स्वर्ग के समान है।

मेंक्डॉनल और कीथ द्वारा संगृहीत 'वैदिक इन्डेक्स' में बताया गया है, कि दृषद्वती नदी, कुछ दूर तक सरस्वती के बराबर बहकर उसमें मिल जाती थी। ऋग्वेद,[1] ब्राह्मणग्रन्थ और श्रौतसूत्रों में भी इसका उल्लेख है। मनुस्मृति [२। १७] में लिखा है–ये दो नदियाँ मध्य देश की पश्चिमी सीमा को बनाती हैं।[2]

'वैदिक इन्डेक्स' के वर्णन से यह बात स्पष्ट नहीं होती, कि सरस्वती नदी के किस किनारे की ओर अथवा किस दिशा में दृषद्वती नदी बहती थी। न वहाँ पर इस नाम से किसी वर्तमान नदी की पहचान बताई गई है।

इसके अतिरिक्त मनुस्मृति [२।१७] में ब्रह्मावर्त्त की सीमा बताई गई हैं, मध्यदेश की नहीं। मध्यदेश की सीमा मनुस्मृति के [२।२१] श्लोक में है। वहाँ मध्यदेश की पश्चिमी सीमा विनशन को बताया है। प्राचीन साहित्य के आधार पर यह निश्चय होता है, कि 'विनशन' उस स्थान का नाम था, जहाँ सरस्वती नदी समुद्र में गिरती थी। इसका अन्यत्र उल्लेख किया है। 'विनशन' का अन्य नाम 'अदर्श' अथवा 'अदर्शन भी [महाभाष्य २।४।१०॥६।३।१०९] उपलब्ध होता है। इसप्रकार उत्तर-दक्षिण खड़ी हुई एक ऐसी रेखा मानकर, जो विनशन पर से गुजरती हो, मध्यदेश की पश्चिमी सीमा कही जासकती है।

यह अभी लिखा जाचुका है, कि महाभारत वनपर्व के [८१।४, २०४] श्लोकों के अनुसार सरस्वती से पूर्व-दक्षिण की ओर दृषद्वती होनी चाहिये। इस विचार की पुष्टि, ब्राह्मणग्रन्थ और श्रौतसूत्रों के वर्णन से भी होती है। वहाँ प्रसंग है–विनशन में दीक्षित होकर; सरस्वती के दक्षिण तट पर ऊपर की ओर चलता हुआ सरस्वती और दृषद्वती के संगम तक आवे[3]। संगम पर सरस्वती

---

१. ऋग्वेद, ३।२३।४॥ पञ्चविंश ब्राह्मण २५।१०।१३॥ ताण्ड्य० ब्राह्मण २५।१०।१६॥ लाट्या० श्रौ० १०।१९।४॥ कात्या० श्रौ० २४।६-६-३६॥

२. दृषद्वती,–'Stony' is the name of a river which flows into the Saraswati after running for a time parallel to it. It is mentioned in the Rigveda [३।२३।४], along with the Saraswati and the Apaya, as the scene of action of the Bharata princes. In the पंचविंश ब्राह्मण [२५।१०।१३] and later [कात्या० श्रौ० सू० २४।६।६,३६॥ लाट्या० श्रौ० सू० १०।१९।४] the दृषद्वती and the सरस्वती are the scene of special sacrifices. In मनु [२।१७] these two rivers form the western boundary of the Middle Country. [वैदिक इन्डैक्स, by Macdonell and Keith]

३. दोनों नदियों के संगम का उल्लेख, लाट्य श्रौ० १०।१९।४॥ में है।

को पार करते दृषद्वती के दक्षिण तट पर पहुँचे। संगम में नदी पार करके दोषों से बचने के लिये यहाँ अपोनप्त्रिय [अपोनपात् देवता के उद्देश्य से] चरु देवे।[1]

इस प्रसंग से स्पष्ट होता है–उक्त सरस्वती नदी के पूर्व-दक्षिण ओर दृषद्वती होनी चाहिये। क्योंकि यदि सरस्वती के पश्चिम की ओर दृषद्वती हो, तो दृषद्वती के दक्षिण तट पर जाने के लिये सरस्वती को पार करना अनावश्यक होगा, और चरु का विधान निरर्थक। इस कारण घग्गर नदी को दृषद्वती नहीं कहाजा-सकता। क्योंकि घग्गर, सरस्वती से पश्चिम की ओर बहती है। अब विचारना चाहिये, कि कौन-सी वर्त्तमान नदी, दृषद्वती रही होगी, अथवा वह भी सरस्वती की तरह नष्ट होचुकी है।

दृषद्वती, गंगा है—

प्रतीत होता है–नदी के अनेक नामों में से एक नाम व्यवहार में न रहा और दूसरा अधिक प्रसिद्ध होता गया। इसप्रकार उसी नदी के साथ पहले नाम के सम्बन्ध को धीरे-धीरे सर्वथा भुला दिया गया। दृषद्वती नाम की यही दशा हुई। कई कारणों से ज्ञात होता है–वर्त्तमान गंगा का दूसरा नाम दृषद्वती था। एक नदी के दो नाम होने में कोई असामञ्जस्य नहीं है। ऋग्वेद में उल्लिखित, आर्जीकीया और 'विपाट्' दोनों नाम, विद्वानों ने वर्त्तमान व्यास नदी के माने हैं। 'आर्जीकीया' नाम आज बिलकुल भूल गया, तथा विपाट् [विपाश] का विकृत रूप व्यास आज चल रहा है। परन्तु जिस अत्यन्त प्राचीन काल में गंगा का दृषद्वती नाम था, उस समय वर्त्तमान गंगा का स्रोत सर्वथा ऐसा ही न था, जैसा आज है। तब अवश्य यमुना के आगे, गंगा [दृषद्वती], सरस्वती की सहायक नदी रही होगी। आज जहाँ से[2] गंगा और यमुना का झुकाव, हमें दक्षिण पूर्व की ओर मोड़ लेता हुआ प्रतीत होता है, वह उस पुरातन काल में सर्वथा, विप-रीत रहा होगा, तथा दृषद्वती [गंगा] पश्चिम की ओर बहती हुई, वर्त्तमान करनाल जिले में कहीं सरस्वती नदी से मिल जाती होगी, और यमुना इससे पहले ही।

श्रीयुत अविनाशचन्द्रदास ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में इस बात का निर्देश किया है, कि उस काल में पंजाब की शुतुद्रि [सतलुज] आदि पाँच नदियां, सरस्वती में मिलती थीं[3]। परन्तु यह अधिक संभव है, कि सरस्वती में

१. ताण्ड्य० महाब्रा० २५।१०।१२—२३।। कात्या० श्रौ० २४।६।६।।
२. सहारनपुर और मुज़फ़्फ़रनगर जिलों के सीमाभागों के आसपास।
३. यजुर्वेद ३४।११ के आधार पर। इसकी तुलना करें—पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड, १८।१२६।। तथा स्कन्दपुराण, प्रभास खण्ड, [प्रभासक्षेत्र माहात्म्य], अ० ३४। श्लो० १७।।

मिलनेवाली वे पाँच नदियाँ, पंजाब की प्रसिद्ध वर्त्तमान पाँच नदियाँ नहीं, प्रत्युत सरस्वती के दोनों ओर से आने वाली कोई पाँच नदियाँ रही हों। क्योंकि किसी नदी में एक ही ओरसे उसकी सहायक नदियाँ मिलती रहें, ऐसा नहीं होता। न ऐसा कोई उदाहरण मिलसकता है। इसलिये यह कहना ठीक होगा, कि कुछ नदियाँ पूर्वकी ओरसे और कुछ पश्चिमकी ओरसे, अर्थात् कुछ बायें तट की ओर से और कुछ दाऐं तट की ओरसे सरस्वती में मिलती थीं, और उनकी संख्या पाँच थी। पूर्वी तट की ओरसे मिलने वाली नदियों में दृषद्वती [गंगा] और यमुना का नाम लिया जासकता है[1]। तथा पश्चिमी अथवा दाऐं तट की ओरसे घग्गर, सतलुज और व्यास का। जिस उग्र भौगोलिक घटनाने सरस्वती के स्रोतों को आदिसे अन्त तक उथल दिया, उसीने इन नदियों के स्रोतों को परिवर्त्तित कर दिया। सरस्वती के साथ दृषद्वती का नाम तो अवश्य याद रह गया, परन्तु उसकी स्थितिमें भारी परिवर्त्तन होजाने से उसकी वास्तविकता स्मृतिक्षेत्र से उठगई। फिर भी भारतीय परम्परामें बहुत काल तक उसे याद रक्खा गया। इसीकारण जहाँ तहाँ कुछ लेख ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिनसे इस विषयपर उपयुक्त प्रकाश अवश्य पड़ता है।

दृषद्वती, गंगा का नाम होने में प्रमाण—

(१) महाभारत में वर्णन[2] है—युद्ध समाप्त होजानेपर युधिष्ठिर, बन्धु-बान्धवों और इष्ट मित्रों के नष्ट होजानेसे खिन्न हो, राज्य-पालन के स्थान पर संन्यास लेनेको तैयार होगया। पर अन्तमें अपने भाइयों तथा कृष्ण आदिके समझानेपर हस्तिनापुर जा, उसने अपना राज्य संभाल लिया। तब प्रजा की अनुमति से राज्याभिषिक्त हो युधिष्ठिर, कृष्णकी प्रेरणा से शरशायी भीष्म के पास राजनीति का उपदेश लेनेके लिये, अपने भाइयों तथा कृष्ण आदिके साथ जाता है। ये सब व्यक्ति उसी दिन सायंकाल को हस्तिनापुर वापस आजाते हैं। अगले दिन प्रातःकाल पुनः भीष्म के पास उपदेश लेने के लिये जाते हैं। उसी दिन सायंकाल को पुनः वापसी पर सब व्यक्तियों का दृषद्वती में स्नान करने और वहीं सन्ध्योपासना आदिके अनन्तर हस्तिनापुर में प्रवेश करने का उल्लेख है[3]।

---

१. पहले यमुना फिर दृषद्वती, सरस्वती में मिलती थी। पश्चिम तट की ओर से मिलने वाली नदियों में घग्गर सीधी सरस्वती में, तथा व्यास सतलुज में मिलकर सतलुज, सरस्वती में मिलती होगी। अथवा ये भी दोनों स्वतन्त्र रूप से सरस्वती में मिलती हों, यह संभव है।

२. महाभारत, शान्ति०, अध्याय १-५८ तक।

३. श्व इदानीं स्वसन्देहं प्रक्ष्यामि त्वां पितामह। उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम्॥

इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है, कि वर्णन के अनुसार, भीष्म के समीप से चल देने के अनन्तर, हस्तिनापुर के समीप आकर वे सब लोग दृषद्वती में स्नान आदि करते हैं। यात्रा की थकावट को दूर करने के लिये, निवास के समीप आकर स्नान करना उचित प्रतीत होता है। इससे यह धारणा दृढ़ होती है, कि हस्तिनापुरके समीप कहीं दृषद्वती नदी होनी चाहिए। वर्त्तमान मेरठ जिले के अन्तर्गत मवाना तहसील में हस्तिनापुर नामक स्थान को कौरवों की तत्कालीन राजधानी मानने पर यह निश्चय होता है, कि गंगा का दूसरा नाम दृषद्वती था, क्योंकि उक्त हस्तिनापुर इसी नदी के दाहिने तट पर बसा है।

महाभारत काल में, वर्त्तमान कुरुक्षेत्र उपनगर [कस्बा] और उसके आस-पास का प्रदेश ही प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र न था, प्रत्युत यह एक पर्याप्त विस्तृत प्रान्त था। इसकी सीमायें पश्चिम में सतलुज, पूर्व में गंगा तक फैली हुई थीं।[1] महाभारत का युद्ध, ठीक किस भूमि पर और कितनी भूमि पर हुआ था, यह अभी निश्चित नहीं कहाजासकता। फिर भी युधिष्ठिर आदि का प्रतिदिन प्रातः-काल भीष्म के समीप उपदेश के लिये जाना, और सायंकाल वापस हस्तिनापुर आजाना, इस बात को प्रकट करता है, कि भीष्म को शर-विद्ध होने के अनन्तर कहीं हस्तिनापुर के समीप, अथवा अधिक से अधिक बीस पच्चीस मील के अन्तर पर गंगा तट के आस-पास रक्खा गया होगा। यद्यपि यह स्थान कुरुक्षेत्र प्रान्त के अन्तर्गत था। वर्त्तमान कुरुक्षेत्र उपनगर और हस्तिनापुर का अन्तर लगभग एक सौ मील है। तथा निश्चित रथ मार्गों से जाने-आने पर और अधिक पड़ेगा। इतनी दूरी, घोड़ों के रथों की सवारी पर प्रतिदिन जाने आने के लिये अत्यधिक है। फिर उपदेश के लिये भी कुछ समय होना चाहिये।

(२) भीष्म की मृत्यु होजाने पर उसके निवास के समीप चिता बनाये जानेका महाभारत में उल्लेख है। वहीं पर भीष्म का दाहसंस्कार कियागया। दाह के अनन्तर समीप ही गंगा में जाकर स्नानादि करने का उल्लेख कियागया है।[2] इससे ज्ञात होता है—जहाँ भीष्म शर-शय्या पर लेटे थे, वह स्थान अवश्य गंगा के अति समीप था। महाभारत के इस प्रसंग में दृषद्वती नाम का उल्लेख

ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः।
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः॥
दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः कृतोदकार्थाः कृतजप्यमंगलाः।
उपास्य संध्यां विधिवत्परंतपास्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम्॥
[म० भा०, शान्ति०, ५८।२८-३०]

१. कुरुक्षेत्र प्रदेश की सीमाओं का विवेचन अभी अगले पृष्ठों में कियाजायगा।
२. म० भा०, अनुशा० अध्याय, १६६-६७॥

नहीं है, गंगा व भागीरथी आदि पदों का प्रयोग है। यह स्थान हस्तिनापुर राजधानी से उत्तर की ओर वर्तमान 'शक्रताल' के आसपास रहा हो, यह संभव है। इस स्थान का 'शुक्रताल' नाम 'शक्रावतार' पद का अपभ्रंश है। यह नाम कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल में उस अवसर पर दिया है, जब शकुन्तला कण्व आश्रम से विदा होकर हस्तिनापुर जाते हुए गंगा नदी को पार कर नगर में राजा के सन्मुख प्रस्तुत होती है।[1] 'शक्र' नाम इन्द्र का है, और 'अवतार' घाट को कहते हैं, जहाँ नदी पार कीजाती है। कालान्तर में लोक-अप्रसिद्ध इन्द्र-पर्याय 'शक्र' पद नीतिकार होने के कारण लोक-प्रसिद्ध 'शुक्र' पद के रूप में परिवर्त्तित कर लिया गया, 'अवतार' पदका 'ताल' बनगया। यह 'शक्रावतार' से 'शुक्रताल' बनगया। अब बहुत लोग इसे 'शुकताल' भी कहते हैं। नदी के दाएँ किनारे छोटी-सी टिबड़ी पर 'शुकदेव' के नाम का एक मन्दिर भी बना है।

गंगा नदी पार करने का यह बहुत पुराना घाट है। इसके आस-पास उस काल में कोई राजकीय स्वास्थ्य-निकेतन (सैनेटोरियम या नर्सिङ्ग होम) रहा होगा; जहाँ भीष्म को स्वास्थ्य-लाभ एवं उपयुक्त सेवा-शुश्रूषा के लिये रक्खा गया। 'शर-शय्या' का यही तात्पर्य है। यद्यपि महाभारत के इस प्रसंग में ऐसे पदों का प्रयोग है, जिनसे 'शर-शय्या' की उक्त भावना व्यञ्जित होती है; पर उनका तात्पर्य शस्त्र से आहत व्यक्ति के आराम करने की शय्या से है। शरीर में बिंधे हुए शरों की शय्या की कल्पना केवल मूर्खता का द्योतक है।

प्रसंग में तात्पर्य है—जहाँ गङ्गा तट पर भीष्म का दाह-संस्कार हुआ, उसी गंगा को हस्तिनापुर के पास युधिष्ठिर आदि द्वारा स्नान करने के अवसर पर 'दृषद्वती' नाम से कहागया है। अतः यह गंगा का अपर नाम समझना चाहिये।

(३) महाभारत में एक अन्य स्थल[2] पर कौशिकी [इस नाम की एक नदी] और दृषद्वती के संगम का उल्लेख है। आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानों ने बिहार प्रान्त की वर्तमान कुशी या कोसी नामक नदी को 'कौशिकी' नाम से पहचाना है। यदि यह ठीक है, तब दृषद्वती के साथ इसके संगम का उल्लेख, यह सिद्ध करता है, कि गंगा का दूसरा नाम दृषद्वती था। क्योंकि भागलपुर से कुछ आगे गंगा में आकर कौशिकी नदी मिलती है।

(४) ताण्ड्यमहाब्राह्मण[3] और कात्यायनश्रौतसूत्र में सारस्वत तथा दार्षद्वत नामक सत्रों का उल्लेख है। इन प्रसंगों से प्रकृत-सम्बन्धी जो भाव स्पष्ट होता

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक ५, गौतमी की उक्ति—

२. कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत।
स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ [वनपर्व ८१।९५-९६॥

३. ताण्ड्यमहाब्राह्मण २५।१०।१२-२३॥ कात्या० श्रौ० २४।६।३०-३६॥

है, वह इसप्रकार है—

सत्रयाजी व्यक्ति विनशन[1] में दीक्षित होकर सरस्वती के दक्षिण तट पर उसके उद्गम की ओर चले। सरस्वती–दृषद्वती का संगम आने पर, संगम से ऊपर की ओर सरस्वती को पार कर दृषद्वती के दक्षिण तट पर पहुँचे। पार करने के पूर्व संतरण के दोषों–विघ्नबाधाओं से बचने के लिये अपोनप्त्रिय [अपोनपात् देवता के उद्देश्य से] चरु देवे। पार होकर वहीं से अष्टाकपाल पुरोडाश के द्वारा आग्नेय इष्टि का प्रारम्भ करें। पुनः दृषद्वती के दक्षिण तट पर उद्गम की ओर चलता हुआ उसके उद्गम स्थान पर पहुँचे। वहाँ से नदी पार किये बिना यमुना के उद्गम–'त्रिप्लक्ष अवहरण' नामक स्थान में पहुँचे, वहाँ 'अवभृथ' का अनुष्ठान करे। वहाँ से सरस्वती के उद्गम स्थान–'प्लक्ष प्रास्रवण' में जाकर अष्टाकपाल पुरोडाश से आग्नेय इष्टि को सम्पन्न करे। वहाँ से सरस्वती के दक्षिण तट पर, धारा के साथ-साथ नीचे की ओर दृषद्वती के संगम पर पहुँच कर सत्र को सम्पूर्ण करे।

इस वर्णन में यज्ञिय अंश को छोड़कर, विद्वानों का ध्यान केवल इस ओर आकृष्ट करना अभीष्ट हैं, कि सरस्वती–दृषद्वती के संगम के ऊपर, सरस्वती के दक्षिण तट से बाएँ तट की ओर पार होकर दृषद्वती के दक्षिण तट पर पहुंचना, इस बात को सिद्ध करता है, कि सरस्वती से पूर्व-दक्षिण की ओर दृषद्वती थी।[2] इसके अतिरिक्त, आगे दृषद्वती के दक्षिण तट पर ऊपर की ओर जाते हुए उद्गम स्थान पर पहुँचकर, वहाँ से नदी को विना पार किये यमुना के उद्गम स्थान पर पहुँचना इस बात को सिद्ध करता है, कि इन ग्रन्थकारों के ज्ञान में प्राचीन परम्परा के आधार पर यह निश्चय था, कि दृषद्वती के उद्गम से पश्चिम की ओर यमुना का उद्गम स्थान है। ऐसी स्थिति में यमुना से पूर्व ओर की दृषद्वती नदी, गंगा संभव होसकती है। इस आधार पर भी गंगा का दूसरा नाम दृषद्वती ज्ञात होता है।

(५) स्कन्दपुराण में स्पष्ट ही सरस्वती और गंगा के संगम का उल्लेख पाया जाता है, जो किन्हीं अति प्राचीन परम्पराओं के आधार पर वर्णन किया गया प्रतीत होता है। पुराण के उस प्रसंग से इनके संगम-स्थान का अनुमान कियाजासकता है। वह स्थान अम्बाला मण्डल के अन्तर्गत कैथल मण्डी के

---

१. 'विनशन' उस स्थान का नाम था, जहाँ सरस्वती नदी समुद्र में गिरती थी। वह एक तत्कालीन तीर्थस्थान माना जाता रहा होगा।

२. ऐसी स्थिति में नन्दूलाल दे आदि महोदयों का घग्गर को दृषद्वती बताना संगत नहीं कहाजासकता। इसका पहले निर्देश कियाजाचुका है।

समीप 'पून्डरी' नामक बस्ती के आसपास कहीं होना चाहिये । स्कन्दपुराण[1] के इस वर्णन से भी हमारे विचार की अत्यधिक पुष्टि होती है । संभवतः सरस्वती दृषद्वती (गंगा) के संगम का स्थान वह है, जो आज 'पहेबा' नाम से प्रसिद्ध है । महाभारत आदि में इसका नाम 'पृथूदक' है ।

ब्रह्मावर्त्त की सीमा—

इन नदियों के स्रोतों को इसप्रकार माने जाने पर अब ब्रह्मावर्त्त प्रदेश की सीमाओं का कुछ अधिक निश्चित ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । मनुस्मृति के आधार पर सरस्वती और दृषद्वती के बीच का प्रदेश ब्रह्मावर्त्त तथा 'ब्रह्मावर्त्त' के अनन्तर अर्थात् नीचे की ओर का प्रदेश 'ब्रह्मर्षि देश'[2] था । ब्रह्मर्षि देश में चार प्रान्त थे–कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल और शूरसेन । इस रीति पर, वर्त्तमान भौगोलिक विभागों के अनुसार-नाहन राज्य का अधिक भाग, देहरादून का ज़िला टिहरी राज्य, सहारनपुर जिले का तथा अम्बाला ज़िले की जगाधरी तहसील का ऊपरी भाग 'ब्रह्मावर्त्त' देश में आता है ।

कुरुक्षेत्र—इसके नीचे'ब्रह्मर्षिदेश' के कुरुक्षेत्र प्रान्त में अम्बाला ज़िले का अधिक भाग, करनाल, रोहतक ज़िले, दिल्ली गुड़गाँव ज़िलों का उत्तरी भाग, मेरठ, मुज़फ्फरनगर ज़िले और सहारनपुर ज़िले का दक्षिण भाग तथा पटियाला, नाभा, झींद राज्यों का पर्याप्त भाग आजाता है ।

मत्स्य—कुरुक्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम में मत्स्य प्रान्त था । जिसमें वर्त्तमान राजपूताने का उत्तर-पश्चिमी भाग, तथा जयपुर ग्वालियर राज्योंका और फिरोजपुर ज़िले का अधिक भाग समाविष्ट है ।

शूरसेन—मत्स्य से पूर्व की ओर तथा कुरुक्षेत्र से दक्षिण में शूरसेन प्रान्त था । जिसमें वर्त्तमान दिल्ली तथा गुड़गाँव ज़िलों का दक्षिण भाग, भरतपुर, धौलपुर, करौली आदि राज्यों का पूर्वी भाग, मथुरा, बुलन्दशहर, अलीगढ़, एटा, इटावा, मैनपुरी, आगरा आदि ज़िले समाविष्ट हैं ।

पंचाल—ब्रह्मावर्त्त, कुरुक्षेत्र तथा शूरसेन से पूर्व की ओर पंचाल प्रान्त था । जिसके दो भाग थे–उत्तर पंचाल, और दक्षिण पंचाल । जिनमें वर्त्तमान कमायूँ डिवीजन का कुछ दक्षिणी भाग, रुहेलखण्ड के सम्पूर्ण ज़िले और रुहेलखण्ड से पूर्व तथा दक्षिण की ओर का कुछ भाग सम्मिलित था ।

---

१. स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड, [प्रभासक्षेत्र माहात्म्य]. ३५।४७ ।। इस विषय पर यह सम्पूर्ण अध्याय पर्याप्त प्रकाश डालता है ।

२. सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ।।
कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ।। [मनु० २।१७, १९]

कनिंघम ने 'एन्शन्ट ज्याग्रफी ऑफ इन्डिया' नामक पुस्तक के ३३८ पृष्ठ पर [१९२४ ईसवी संस्करण] थानेसर के वर्णन में, महाभारत वनपर्व [८१।-२०७] के एक श्लोक को उद्धृत कर, जो यह प्रकट किया है, कि 'ब्रह्मावर्त्त' कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत था, वह इससे असङ्गत होजाता है। कुरुक्षेत्र, ब्रह्मर्षि देश के अन्तर्गत एक प्रान्त था, और ब्रह्मावर्त्त, सर्वथा उससे पृथक् एक प्रदेश का नाम था। संभवतः उद्धृत श्लोक के अन्तिम चरण[1] का अर्थ समझने में भ्रान्ति होजाने के कारण कनिंघम ने ऐसा लिख दिया हो।

ब्रह्मावर्त्त की सीमा पर, कर्दम का [सरस्वती तटवर्त्ती] आश्रम—

इसप्रकार ब्रह्मावर्त्त देश की सीमाओं का अधिक निश्चित ज्ञान होजाने पर वह विचार अधिक स्पष्ट तथा पुष्ट होजाता है, कि कपिल का उत्पत्ति स्थान, वर्त्तमान सिरमौर राज्य के अन्तर्गत 'रेणुका' नामक झील के ऊपर की ओर आस-पास ही था। यहीं पर कर्दम ऋषि का आश्रम था, जो सरस्वती नदी के दक्षिण तटपर तथा ब्रह्मावर्त्त की पश्चिमी सीमा में अवस्थित था। इसलिये ब्रह्मावर्त्त देश के तत्कालीन राजा स्वायम्भुव मनु का, अपनी कन्या देवहूति का कर्दम के साथ विवाह करने के लिये वहाँ उपस्थित होना, सर्वथा सामञ्जस्यपूर्ण है।

---

१. तदरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं रामाह्रदानां च मचक्रुकस्य च।
एतत्कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते॥
यह सीमा कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत 'समन्तपञ्चक' नामक तीर्थ की है। जिसको पितामह की 'उत्तरवेदि' कहा गया है। यदि कुरुक्षेत्र को पितामह [ब्रह्मा] की उत्तरवेदि मान लिया जाय, तो भी कुरुक्षेत्र को अथवा उसके किसी भाग को 'ब्रह्मावर्त्त' नहीं कहाजासकता। वस्तुतः कुरुक्षेत्र को पितामह की उत्तरवेदि कहने से यह स्पष्ट होजाता है, कि उसकी पूर्ववेदि ब्रह्मावर्त्त है। इसप्रकार पूर्वोक्त मनु के श्लोकों का आशय इस कथन में ध्वनित होता है, कि पूर्ववेदि-ब्रह्मावर्त्त के अनन्तर, ब्रह्मर्षि देश का अन्यतम प्रथम प्रान्त कुरुक्षेत्र, अथवा तदन्तर्गत 'समन्तपञ्चक' पितामह की उत्तरवेदि है। टी० आर० व्यासाचार्य कृष्णाचार्य ने महाभारत की विशेष शब्द सूची में 'कुरुक्षेत्र' पद पर लिखा है, कि स्वायम्भुव मनु के समय इस [कुरुक्षेत्र] का नाम 'ब्रह्मावर्त्त' था। यह कथन भी, मनुस्मृति के साथ विरोध होनेके कारण अमान्य है। क्योंकि मनुस्मृति में इन दोनों की सीमाओं को एक समय में ही पृथक्-पृथक् बताया है। महाभारत के किसी लेख से इसका विरोध नहीं होता।

उपसंहार—

इस प्रकरण में गंगा [दृषद्वती] और यमुना के जो वर्णन किये हैं, उनके सम्बन्ध में यह कभी विस्मृत न करना चाहिये, कि सरस्वती की सहायक नदियों के रूप में गंगा [दृषद्वती] तथा यमुना का वर्णन उस समय का है, जब सरस्वती नदी अपनी नैसर्गिक धारा में अनवरत प्रवाहित होती थी। अनन्तर उग्र भौगोलिक परिवर्त्तनों के कारण सरस्वती का स्रोत नष्ट होगया और गंगा यमुना के स्रोत भी महान परिवर्तनों से न बच सके। रामायण महाभारत आदि में गंगा यमुना सम्बन्धी साधारण उल्लेख, अपर काल के होने संभव हैं। परन्तु कहीं-कहीं अतिप्राचीन काल की परिस्थिति का भी लेखबद्ध या मौखिक परम्परा-ज्ञान के आधार पर उल्लेख किया गया है। इसीप्रकार वैदिक साहित्य में अति प्राचीन काल की परिस्थितियों का आभास मिलता है। प्रस्तुत प्रसंग में दोनों स्थितियों का अतिसंक्षेप में उल्लेख करदियागया है। इसमें पारस्परिक असामञ्जस्य की उद्भावना करना व्यर्थ होगा।

कपिल के उत्पत्ति स्थान का निर्णय होने के साथ-साथ इस बात को भुलाना न होगा, कि कपिल की विद्यमानता उसी प्राचीन काल में मानी जानी चाहिये, जब सरस्वती की अविरल जलधारा भूतल पर प्रवाहित होरही थी। इस नदी को नष्ट हुए कितना समय बीत गया, यह अनुसन्धान सापेक्ष है।

◆◆

द्वितीय अध्याय

कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र

प्रथम अध्याय में यह निर्णय करने का प्रयास कियागया है, कि देवहूति-कर्दम के पुत्र परमर्षि कपिल ने अत्यन्त प्राचीन काल में सर्वप्रथम सांख्यशास्त्र का, अपने शिष्य आसुरि के लिये प्रवचन किया। अब इस द्वितीय अध्याय में यह निर्णय करने का यत्न कियाजायगा, कि कपिल ने आसुरि के लिये क्या केवल सांख्यशास्त्र का उपदेश किया था ? अथवा किसी ग्रन्थ की रचना की ? यदि किसी ग्रन्थ की रचना की, तो वह कौनसा गन्थ था ?

उपलब्ध प्राचीन सांख्यग्रन्थ—

आधुनिक योरुपीय और अनेक भारतीय विद्वानों का मत है, कि उपलभ्य-मान सांख्यग्रन्थों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ, ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिका है।[1] कतिपय विद्वान् 'तत्त्वसमास' नामक बाईस सूत्रों के संग्रह को इन कारिकाओं से प्राचीन मानते हैं। इनके अतिरिक्त, पातञ्जल योगदर्शन के व्यासभाष्य तथा सांख्य-योग सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में कुछ वाक्य उद्धृत मिलते हैं, जिनको वाचस्पति मिश्र आदि आचार्यों ने पञ्चशिख की रचना बताया है। पञ्चशिख, कपिल का प्रशिष्य और आसुरि का प्रधान शिष्य था। यदि वाचस्पति के लेख को ठीक मान लिया जाय, जिसके स्वीकार किये जाने में कोई बाधा नहीं दीखती; तो यह निश्चित रूप से कहाजासकता है, कि व्यासभाष्य आदि में उद्धृत सूत्रभूत वाक्य, ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिकाओं से अत्यन्त प्राचीन हैं। इसप्रकार ये तीन सांख्य के प्राचीन ग्रन्थ कहे जासकते हैं।

१—तत्त्वसमास [२२ सूत्र]

२—पञ्चशिख सूत्र

३—सांख्यकारिका [ईश्वरकृष्ण रचित]

अनेक आधुनिक विद्वानों का विचार है, कि यद्यपि कपिल सांख्यशास्त्र का आदि प्रवर्त्तक मानाजासकता है, परन्तु उसने इस विषय पर किसी ग्रन्थ का

---

१. A.B. कीथ रचित 'दि हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर' सन् १९२८ का संस्करण, पृष्ठ ४८८॥

निर्माण नहीं किया।[1] यदि कोई ग्रन्थ बनाया भी था, तो वह आज संसार में अज्ञात है। कुछ विद्वान् ऐसे अवश्य हैं, जो तत्त्वसमास को कपिल की रचना मानते हैं।[2]

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त सांख्य का एक अन्य ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसका नाम 'सांख्यप्रवचनसूत्र' अथवा 'सांख्यषडध्यायी' है। अनेक आधुनिक विद्वानों का विचार है, इस ग्रन्थ के वास्तविक लेखक का अभी तक कुछ पता नहीं है। परन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है, कि ऐसे विशेष ग्रन्थ के–जो छह वैदिक दर्शनशास्त्रों में से एक मुख्य दर्शन समझाजाता है–लेखक का आजतक पता नहीं लग सका। यह और भी आश्चर्यजनक है, कि पाश्चात्य और आधुनिक अनेक भारतीय विद्वान् यह विश्वास करते हैं, कि इस सांख्यषडध्यायी ग्रन्थ की रचना, सायण के समय से भी पीछे हुई है। परन्तु जब सायण के बहुत समय पहले से संस्कृत ग्रन्थों के निर्माता अपने ग्रन्थों में अपने नाम तथा वंश आदि तक का उल्लेख करते आये हैं, और सायण के आसपास तो यह एक परम्परा-सी पाईजाती है, कि प्रायः कोई विद्वान् ग्रन्थकार अपना तथा अपने मातृ-पितृवंश का, स्थान एवं समय आदि का उल्लेख करना नहीं भूला, फिर नाम का तो कहना ही क्या ? तब क्या कारण है, कि ऐसे समय में इन सूत्रों के रचयिता ने अपना कहीं उल्लेख नहीं किया ?

वस्तुतः इसका मूल कारण यही है, कि इन सूत्रों की रचना सायण के अनन्तर नहीं हुई, न सायण के समीप-पूर्व में हुई। इसके लिये प्रमाणों का निर्देश आगे होगा, परन्तु यहाँ इस बातकी उपेक्षा नहीं कीजासकती, कि भारतीय विद्वज्जन-श्रुति में बहुत पुराने समय से यह परम्परागत धारणा चलीआती है, कि ये 'सांख्यसूत्र' कपिल की रचना है। फिर भी गम्भीरता पूर्वक इसका विवेचन करने के लिये आधुनिक विद्वानों ने इस ओर अपना ध्यान आकृष्ट करने का यत्न नहीं किया।

षडध्यायी की अर्वाचीनता के तीन आधार—

जिन आधारों पर यह कहाजाता है, कि सांख्यषडध्यायी सूत्र, विक्रम की चौदहवीं सदी के अनन्तर बनाये गये हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) सूत्रों की रचना, ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिकाओं के आधार पर हुई प्रतीत होती है। कई सूत्र इनमें कारिकारूप हैं। सूत्रों की स्वतन्त्र रचना

---

१. पिछले अध्याय में हमने कुछ विद्वानों के विचार प्रकट किये हैं, जो कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते, उसके द्वारा ग्रन्थ रचना का विचार तो बहुत दूर की बात है।

२. माठरवृत्ति-भूमिका पृष्ठ २। चौखम्बा संस्कृत सीरीज् बनारस से प्रकाशित।

पद्यात्मक होना, असंगत-सा प्रतीत होता है। इसलिये संभव है, किसी अज्ञात व्यक्ति ने, सायण के समय के अनन्तर सांख्यकारिकाओं के आधार पर इन सूत्रों की रचना करदी होगी।

(२) शंकराचार्य, वाचस्पति, सायण और अन्य दार्शनिक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इन सूत्रों का कहीं उल्लेख नहीं किया, और न इन सूत्रों के उद्धरण, उनके ग्रन्थों में पायेजाते हैं।

(३) इन षडध्यायीसूत्रों में न्याय, वैशेषिक आदि का नाम आता है। इसके अतिरिक्त कई स्थलों पर जैन तथा बौद्ध मतों का एवं उनके अनेक पारिभाषिक पदों का उल्लेख और उनका खण्डन है।

इसप्रकार इन सूत्रों में न्याय और वैशेषिक का नाम, बौद्ध तथा जैन मतों का प्रत्याख्यान, एवं उनके पारिभाषिक पदों का उल्लेख व खण्डन होने; तथा भारतीय दार्शनिक साहित्य में बहुत समय तक इन सूत्रों का उद्धरण, आदि न होने; और इसके विपरीत उस समय कारिकाओं का उद्धरण, शंकर आदि के दार्शनिक ग्रन्थों में होने से, एवं सूत्रों की रचना कारिकानुसार होने से हमारा मस्तिष्क इस बात पर विश्वास करने के लिये, अवश्य एक बार आकृष्ट होजाता है कि इन सूत्रों की रचना कपिल के द्वारा नहीं होसकती; जिसको आदि-विद्वान् कहाजाता है। परन्तु इस विषय पर विस्तार एवं गम्भीरता से विचार करने पर हमारे सम्मुख यह सिद्धान्त स्पष्टरूप में उभर आता है, कि इन सूत्रों का रचयिता कपिल के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। प्रसंगतः उपर्युक्त तीन आक्षेप आधारों में से प्रथम आधार का इन दो अध्यायों (दूसरे-तीसरे) में विवेचन प्रस्तुत कियाजाता है।

दर्शनकार कपिल—

(१) भारतीय प्रवाद–परम्परा के अनुसार परमर्षि कपिल, सांख्यदर्शन के प्रणेतारूपमें स्मरण कियाजाता है। प्रथम अध्याय में रामायण, महाभारत, भागवत आदि ग्रन्थों से ऐसे प्रसंगोंको उद्धृत कियागया है, जिनके आधार पर उक्त भारतीय प्रवाद-परम्परा की पुष्टि होती है। यह केवल आर्य साहित्य में नहीं, प्रत्युत जैन बौद्ध साहित्यों में भी उक्त मन्तव्यको इसी रूपमें स्वीकार कियाजातारहा है।

(२) प्रसिद्ध जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर[1] ने अपने ग्रन्थ 'सन्मतितर्क' में एक स्थल पर लिखा है—

'जं काविलं दरिसणं एमम् दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं।' [काण्ड ३, गाथा ४८]

---

१. सिद्धसेन दिवाकर का समय, सर्वदर्शनसंग्रह के अभ्यंकर-संस्करण [पूना से प्रकाशित] की परिशिष्ट सूचीमें ४५० ईसवी सन् दिया गया है।

इस गाथा का संस्कृत रूपान्तर है-'यत् कापिलं दर्शनं तद् द्रव्यास्तिकनयस्य वक्तव्यम् ।' अर्थात् कपिलप्रणीत दर्शन का विषय द्रव्यास्तिकनय कहना चाहिये । 'सन्मतितर्क' के प्रसिद्ध व्याख्याकार जैनाचार्य अभयदेव सूरि ने इन पदों की व्याख्या करते हुए लिखा है-'यत् कापिलम् दर्शनम् सांख्यमतम् ।' ग्रन्थकार प्रसंगानुसार अनुकूल या प्रतिकूल जिस किसी अर्थका प्रतिपादन करे, परन्तु इस लेखके इतने अभिप्राय में किसीका विरोध नहीं होसकता, कि सांख्य नामसे प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त कपिलप्रणीत हैं । भारतीय दर्शन-जगत् में, दार्शनिक कपिल का स्थान सर्वप्रथम है । वर्तमान संसार के दार्शनिक इतिहास में दर्शनशास्त्र का सर्वप्रथम ग्रन्थ; परमर्षि कपिल का ग्रन्थ है ।

कपिलरचित ग्रन्थ-'षष्टितन्त्र' जैन साहित्य के आधार पर—

कपिल ने जिस ग्रन्थ की रचना की थी, उसका नाम 'षष्टितन्त्र' था । इस विचारकी पुष्टिके लिये कुछ प्रमाणों का उल्लेख कियाजाता है—

(क) 'कल्पसूत्र' [1]नामक जैन ग्रन्थके प्रथम प्रकरणमें महावीर स्वामीके जीवनका उल्लेख है । वहाँ कुछ ग्रन्थोंके नाम दिये गये हैं, जिनका विशेषज्ञ महावीर स्वामीको बताया गया है । ग्रन्थकार एक वाक्य लिखता है—

सट्ठितन्तविशारए' (षष्टितन्त्रविशारदः) ।

इस वाक्यकी व्याख्या करते हुए यशोविजय लिखता है-'षष्टितन्त्रं कापिल-शास्त्रम्, तत्र विशारदः पण्डितः' अर्थात् कपिलके निर्माण किये हुए शास्त्र का नाम षष्टितन्त्र है, उसमें विशारद अर्थात् पण्डित । यह उल्लेख महावीर स्वामी के सम्बन्ध में किया गया है । इससे प्रतीत होता है, महावीर स्वामी ने कपिलरचित षष्टितन्त्रका अध्ययन कर, उसमें विशेष वैलक्षण्य प्राप्त किया था । व्याख्याकारके विचारानुसार, जो मूलवाक्यके भावार्थको अच्छीतरह समझ रहा है, यह स्पष्ट होजाता है, कि कपिलका बनाया हुआ 'षष्टितन्त्र' नामक शास्त्र, महावीर स्वामीके समय में विद्यमान था ।

(ख) जैन ग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' में एक सन्दर्भ इसप्रकार उपलब्ध होता है—'जं इमं अण्णाणि एहिं मिच्छदिट्ठीहिं सच्छन्दबुद्धिमइ विगप्पियं तं जहा भारहं रामायणं भीमसुरुक्कं कोडिल्लयं घोडयमुहं कणगसत्तरी वेसियं वइसेसियं बुद्धसासणं काविलं लोगायतं सट्ठियन्तं माठरपुराणवागरणनाडगाइ ।'

[अनुयोगद्वारसूत्र, ४१]

इस सूत्रमें कुछ ग्रन्थों के नामोंका उल्लेख है । यहाँ बताया है, कि ये ग्रन्थ अज्ञानी, झूठे विचारवाले तथा उच्छृंखल-बुद्धि लोगोंने बनाये हैं । जैनमत के

---

१. सम्पादक और इंग्लिश अनुवादक, रेवरैण्ड जे० स्टेनीसन का संस्करण ।

अनुकूल न होने के कारण इन ग्रन्थों या इनके रचयिताओं की निन्दा कीगई है। इस सूत्र के उद्धृत करनेका केवल इतना प्रयोजन है, कि सूत्र में 'काविलं सट्ठियन्तम्' का उल्लेख कियागया है। इन पदोंका संस्कृत रूप है—'कापिलं षष्टितन्त्रम्'। अर्थ है—कपिल के द्वारा रचा हुआ 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ। ग्रन्थोंकी सूची में 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थका उल्लेख कियाजाना संगत है।

सूत्र के पाठ के सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है। वहाँ 'काविलं' और 'सट्ठियन्तं' पदों के बीचमें 'लोगायतं' पद पठित है। इससे भ्रम होजानेकी संभावना होसकती है। संभव है 'काविलं' यह एक पृथक् ग्रन्थ हो, और 'सट्ठियन्तम्' पृथक्। परन्तु सूत्रके सब शब्दोंपर गंभीरतापूर्वक विचार करनेसे ज्ञात होता है, सूत्रकारने इन ग्रन्थोंका नाम निर्देश करते हुए उनके किसी विशेष क्रम की ओर ध्यान नहीं दिया। ध्यान न देनेके दोनों कारण होसकते हैं; या तो सूत्रकारको इन ग्रन्थोंके सम्बन्धमें पूरा ज्ञान न हो, अथवा ग्रन्थों का ठीक ज्ञान होने पर भी उनके किसी विशेष क्रम के अनुरोध को अनावश्यक समझकर उपेक्षित किया हो। कुछ भी हो, परन्तु यहाँ—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्[1]॥

इस न्याय्य व्यवस्था के अनुसार 'काविलं' पद का 'सट्ठियंतं' पद के साथ अर्थकृत सम्बन्ध स्पष्ट है। किसी पद का व्यवधान उनके पारस्परिक सम्बन्ध में बाधक नहीं। यह उपयुक्त विचार है, कि 'लोगायतं' पद 'बुद्धसासणं' पदके ठीक अनन्तर रक्खा जाना चाहिये था। इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि वैशेषिक बुद्धशासन, लोकायत और कापिल षष्टितन्त्र आदि पृथक् ग्रन्थ या शास्त्र हैं।

यह भी विचारणीय है, कि नामों की इस सूची में 'काविलं' एक विशेषण पद है, जो अपने विशेष्य पद की आकाँक्षा करता है, जिसकी विशेषता को बतावे। वह विशेष्य पद यहाँ 'सट्ठियंतं' है। अन्यथा केवल 'काविलं' पद से किसी विशेष अर्थ का बोध नहीं होसकता। इससे इन दोनों पदों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट होजाता है। जिससे यह सिद्ध होता है, कि 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ कपिल का बनाया हुआ है।

---

१. यह पद्य प्राचीन अनेक ग्रन्थों में प्रसंगवश उद्धृत पाया जाता है। देखें, न्यायवात्स्यायन भाष्य। २। ६॥ सांख्यकारिका-व्याख्या युक्तिदीपिका; कारिका १, पृष्ठ १२ में पाठभेद से 'यस्य येनाभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः। अर्थतस्त्वसमानानामानन्तर्येऽप्यसंभवः' उद्धृत है। पद्य का अर्थ है—जिस पद का जिस पद के साथ अर्थकृत सम्बन्ध है, वह दूरस्थित हुआ भी उससे सम्बद्ध ही है। जिन पदों में परस्पर अर्थकृत सामर्थ्य नहीं है, उनका समीप पाठ भी उनके सम्बन्ध का कारण नहीं होसकता।

यहाँ ऐसा उदाहरण दे देना उपयुक्त होगा, जिससे यह स्पष्ट होजाय, कि पद-विन्यास अथवा सन्दर्भ-विन्यास में विपर्यय होजाना कोई असंभव बात नहीं है। यद्यपि सदा ऐसा नहीं होता, परन्तु कदाचित् प्रमाद-वश अथवा स्मृतिविपर्यय से अन्य पदों अथवा सन्दर्भों का उल्लेख करने में ऐसे विपर्यास की संभावना रहती है। अप्पय्य दीक्षित ने वेदान्तसूत्रों के श्रीकण्ठरचित भाष्य पर 'शिवार्कमणि' नामक [२।२।८ सूत्र की] टीका में एक सन्दर्भ इसप्रकार उद्धृत किया है—

'तदेतत् न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते । न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशः । स्वभावनाशात् स्वरूपनाशप्रसंगात् । इत्यादिकापिलसूत्रैः,

वस्तुस्थित्या न बन्धोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता ।
विकल्पघटितावेतावुभावपि न किंचन ॥

दीक्षित के इस उद्धृत सन्दर्भ में 'इत्यादिकापिलसूत्रैः' इन पदों के अव्यवहितपूर्व जो 'स्वभावनाशात् स्वरूपनाशप्रसंगात्' वाक्य है, यह कापिल-सूत्र नहीं है। यद्यपि इससे पूर्व के दोनों वाक्य कापिल-सूत्र हैं। वे सांख्यषडध्यायी में यथाक्रम १।१९ और १।७ संख्या पर निर्दिष्ट हैं। यह वाक्य वस्तुतः सांख्यसूत्रों के वृत्तिकार अनिरुद्ध का है, जो १।७ सूत्र की व्याख्या के रूप में उपलब्ध होता है। इस वाक्य के अनन्तर अनिरुद्धवृत्ति में वही श्लोक उद्धृत है, जो दीक्षित ने 'इत्यादिकापिलसूत्रैः' इन पदों के अनन्तर निर्दिष्ट किया है।१।७ सूत्र पर केवल इतनी अनिरुद्धवृत्ति[1] है। इससे यह अभिप्राय स्पष्ट होता है, कि अप्पय्य दीक्षित ने उक्त सन्दर्भ को अनिरुद्धवृत्तिसहित सांख्यसूत्रों के आधार पर उद्धृत किया है। यहाँ पर 'इत्यादिकापिलसूत्रैः, इन पदों के अनन्तर 'स्वभावनाशात् स्वरूपनाशप्रसंगात्' यह वाक्य आना चाहिये, क्योंकि यह कापिलसूत्र नहीं, प्रत्युत अनिरुद्धवृत्ति का अंश है। अतः यहाँ इन पदों का विपर्यास, प्रमादवश अथवा स्मृतिविपर्यय के आधार पर कहाजासकता है। इसीतरह का कोई कारण, अनुयोगद्वारसूत्र के पदों के विपर्यास में समझना चाहिये। अप्पय्य दीक्षित के सम्बन्ध में यह संभावना करना, तो उपहासास्पद होगा, कि वह सूत्र और वृत्ति के भेद से अपरिचित था।

इसके अतिरिक्त यह भी संभव है, कि अनुयोगद्वार सूत्र के सन्दर्भ में 'काविलं' पद के समान 'लोगायतं' पद भी 'सट्ठियन्तं' का विशेषण हो। जिसका अर्थ होगा—कपिलप्रणीत लोकप्रसिद्ध षष्टितन्त्र। यह सर्वविदित है, कि सांख्यसिद्धान्तरूप में षष्टितन्त्र समस्त भारतीय वाङ्मय पर सदा प्रभावी रहा है।

---

१. १।७ सूत्र की अनिरुद्धवृत्ति का पाठ इसप्रकार है—स्वभावनाशात् स्वरूपनाशप्रसंगात्। उक्तंच—वस्तुस्थित्या न बन्धोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता। विकल्पघटितावेतावुभावपि न किंचन ॥

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की अहिर्बुध्न्यसंहिता के आधार पर—

(ग) पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की अत्यन्त प्रामाणिक पुस्तक 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' के १२वें अध्याय में आता है—

> सांख्यरूपेण संकल्पो वैष्णवः कपिलादृषेः ।
> उदितो यादृशः पूर्वं तादृशं शृणु मेऽखिलम् ॥१८॥
> षष्टिभेदं स्मृतं तन्त्रं सांख्यं नाम महामुनेः ।
> प्राकृतं वैकृतं चेति मण्डले द्वे समासतः ॥१९॥

'प्राचीनकाल में विष्णु [भगवान्] का संकल्प (किसी वस्तु के निर्माण की धारणा), सांख्यरूप में कपिल ऋषि के द्वारा जिसप्रकार प्रकट कियागया, वह सब मुझसे सुनो ।' यह उपर्युक्त प्रथम श्लोक का शब्दार्थ है। यहाँ विष्णु के संकल्प को सांख्यरूप में परिणत हुआ बतलाया गया है। इसका अभिप्राय है—कपिल भगवान् की महती कृपा का पात्र था, उसीके कारण महर्षि कपिल सर्वप्रथम दर्शनशास्त्र का प्रकाशन करसका। इतने प्रारम्भिक काल में एक महान तथा गम्भीर दर्शनशास्त्र की रचना करना, कोई साधारण बात नहीं है। उस समय में जब कि तात्त्विक विवेचना के लिये भौतिक साधनों का सर्वथा अभाव समझा-जाता है; आत्मा अनात्मा तथा भौतिकवादों के सूक्ष्मतत्त्वों का इतना सही और गंभीर विवेचन, जो आज भी तत्त्वज्ञानियों या वैज्ञानिकों को आश्चर्य में डाल रहा है, एक असाधारण मेधावी पुरुष का कार्य होसकता है। उस असाधारणता का श्रेय भारतीय परम्परा में सदा भगवान् को दियाजातारहा है। आज भी जिस व्यक्ति को लोकोत्तर गुणों से युक्त पाया जाता है, उसपर भगवान् की कृपा का कथन, सर्वत्र सुनने में आता है। वास्तविकता को प्रकट करने का यह एक प्रकारमात्र है, इसलिये महर्षि कपिल ने सर्वप्रथम जिस दर्शनशास्त्र का निर्माण किया, उसे भगवान् का संकल्प बताकर निर्देश करना कोई आश्चर्य नहीं है। यही स्थिति कपिल को विष्णु का अवतार बताकर स्पष्ट कीजातीरही है।

इसके अतिरिक्त लोकातिशायी गुणों के कारण विशेष व्यक्तियों को भगवान् का अवतार मानलियाजाता है। प्रथम अध्याय में स्पष्ट किया है, कि सांख्य-प्रवर्तक कपिलको विष्णुका अवतार मानागया और लिखा गया। उसी भावना को लेकर संहिताकार का उक्त लेख होसकता है। परन्तु इसमें वास्तविकता वही है, जो अभी ऊपर प्रदर्शित कीगई है। अवतार की कल्पना में तो वस्तुतः भगवान् और उस विशेष व्यक्ति, दोनों ही का एक प्रकार से अपमान-सा प्रतीत होता है। आजके ज़माने में तो लोग थोड़ी विशेषता प्राप्तकर सीधे भगवान् बनजाते हैं, वर्तमान भारत में ऐसे भगवानों की भरमार है।

दूसरे श्लोक में कहा है, महामुनि [कपिल] के उस सांख्यशास्त्रमें साठ पदार्थों का विवेचन होने से उसका नाम 'षष्टितन्त्र' कहाजाता है। संक्षेपसे उसके दो

भाग किये गये–एक प्राकृत मण्डल, दूसरा वैकृत मण्डल[1]। अहिर्बुध्न्यसंहिता के इन दोनों श्लोकों के समन्वित अर्थसे यह स्पष्ट होजाता है, कि अत्यन्त प्राचीन कालमें महर्षि कपिलने 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ या सांख्यशास्त्र की रचना की।

वेदान्तसूत्र–भाष्यकारों के आधार पर—

(घ) महर्षि व्यास रचित वेदान्त–ब्रह्मसूत्रों का भाष्य करते हुए, [२।१।१] सूत्रपर आचार्य भास्कर लिखता है—

'यदि ब्रह्मैवोपादानकारणं च, ततः कपिलमहर्षिप्रणीतषष्टितन्त्राख्यस्मृतेरनवकाशो निर्विषयत्वम्।'

यदि ब्रह्म ही उपादानकारण मानाजाय, तो यह ठीक न होगा, क्योंकि महर्षि कपिल प्रणीत 'षष्टितन्त्र' नामक शास्त्रमें ऐसा नहीं माना गया, वह शास्त्र विषयरहित होजायगा। उसका कोई प्रतिपाद्य विषय न रहनेसे असंगति होगी।' इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है–'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ, महर्षि कपिल की रचना है। भास्करकी पंक्ति में आया हुआ 'आख्या' पद, इस बातको सर्वथा स्पष्ट करदेता है, कि महर्षि कपिल प्रणीत ग्रन्थका नाम 'षष्टितन्त्र' है।

(ङ) आदि शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्रके इस प्रसंगके निम्नलिखित उद्धरण इसी तथ्यको सिद्ध करते हैं, कि कपिल 'षष्टितन्त्र' का रचयिता था। शंकरने वेदान्तसूत्र [२।१।१] के भाष्यमें लिखा है—

'स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता।'

भामतीव्याख्याकार वाचस्पति मिश्र इस पंक्तिकी व्याख्या करते हुए, अपनी व्याख्यामें लिखता है—

'तन्त्र्यते व्युत्पाद्यते मोक्षशास्त्रमनेन इति तन्त्रं तदेवाख्या यस्याः सा स्मृतिः तन्त्राख्या परमर्षिणा कपिलेनादिविदुषा प्रणीता॥'

मोक्षसम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन करने वाली, 'तन्त्र' नामक स्मृति को आदिविद्वान् परमर्षि कपिलने बनाया। शंकर और वाचस्पतिके ये लेख स्पष्ट करदेते हैं, कि 'तन्त्र' नामकी कोई पुस्तक कपिलने लिखी थी, जो कपिल सर्वप्रथम विद्वान् अर्थात् दार्शनिक था। यह तन्त्र, 'षष्टितन्त्र' के अतिरिक्त और कोई ग्रन्थ नहीं। उपर्युक्त पंक्तियों में आया हुआ 'आख्या' पद, सर्वथा स्पष्ट और निश्चित करदेता है, कि यह उस ग्रन्थका नाम था, जो महर्षि कपिलने लिखा। जिन विद्वानों का यह विचार है, कि महर्षि कपिलने आसुरिको पुरुषार्थ ज्ञानका केवल मौखिक उपदेश दिया, किसी तन्त्रकी रचना नहीं की, उन्हें अपने विचार,

---

१. षष्टि पदार्थ और प्राकृत वैकृत मण्डलके स्वरूपका विस्तारपूर्वक विवेचन, इस ग्रन्थके तृतीय अध्याय में कियागया है।

शंकर आदि के लेखों से दुरुस्त करलेने चाहियें। कम से कम यह तो कहाजा-सकता है, कि उनके ये विचार, भास्कर शंकर और वाचस्पति आदि के विचारों से विरुद्ध हैं। इन आचार्यों ने ऊपर उद्धृत पंक्तियों में आये हुए 'प्रणीत' पद से अपने विचार इस विषय में स्पष्ट करदिये हैं। शंकर आदि प्राचीन आचार्य इस सिद्धान्तको निश्चितरूप से मानते थे, कि कपिलने दर्शनविषयक 'तन्त्र' नामक ग्रन्थकी रचना की।

सांख्य व्याख्याताओं के आधार पर—

(च) सांख्यकारिकाओं पर 'युक्तिदीपिका' नामक एक व्याख्या है। यह सन् १९३८ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुई है। यद्यपि इसके लेखकका अभी तक निश्चय नहीं होसका, पर इसमें सन्देह नहीं कि यह व्याख्या, कारिकाओं की वाचस्पति मिश्रकृत व्याख्यासे पर्याप्त प्राचीन है।[1] युक्तिदीपिकाकारने अपने ग्रन्थका प्रारम्भ करते हुए प्रथम पन्द्रह श्लोक लिखे हैं। दूसरे श्लोकमें परमर्षि को गुरु मानकर ग्रन्थकारने नमस्कार किया है, दार्शनिक साहित्यमें 'परमर्षि' पद, कपिल के लिये प्रयुक्त होतारहा हैं। तीसरे श्लोक में जिज्ञासु आसुरि के लिये, परमर्षि के द्वारा 'तन्त्र' के प्रवचन का निर्देश कियागया है[2]। अगले श्लोकोंमें ग्रन्थकारने यह दर्शाया है, कि इस सप्तति नामक प्रकरण अथवा सकल शास्त्रका संक्षेप ईश्वरकृष्णने वहीं से किया है। इसका विवेचन नवम युक्तिमें करेंगे। आगे १४ वां श्लोक इसप्रकार है—

'अल्पग्रन्थमनल्पार्थं सर्वैस्तन्त्रगुणैर्युतम्। पारमर्षस्य तन्त्रस्य बिम्बमादर्शगं यथा॥'

यहाँ श्लोकके केवल तीसरे चरणपर हम पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। 'पारमर्ष' पदमें 'प्रोक्त' अथवा 'कृत' अर्थमें तद्धित प्रत्ययका सामंजस्य होनेसे इस पदका–परमर्षि अर्थात् कपिलके द्वारा प्रवचन अथवा निर्माण किया हुआ तन्त्र–यह अर्थ स्पष्ट होता है। ग्रन्थकार ने सांख्यसप्तति को

---

१. इसके काल आदि के सम्बन्ध में, इसी ग्रन्थ के 'सांख्यसप्तति के व्याख्याकार' नामक सप्तम अध्यायमें विवेचन कियागया है।

२. ऋषये परमायार्कमरीचिसमतेजसे।
संसारगहनध्वान्तसूर्याय गुरवे नमः॥ २॥
तत्त्वं जिज्ञासमानाय विप्रायासुरये मुनिः।
यदुवाच महत्तन्त्रं दुःखत्रयनिवृत्तये॥ ३॥
यह श्लोक, पञ्चशिख के 'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय' इत्यादि सूत्रका स्मरण करा देता है।

उसी तन्त्रका प्रतिबिम्ब बताया है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि सांख्यसप्तति जिस ग्रन्थका संक्षेप किया गया है, वह 'तन्त्र' नामक ग्रन्थ, कपिलका प्रवचन किया हुआ अर्थात् बनाया हुआ है। यही भाव इस ग्रन्थके तृतीय श्लोक से स्पष्ट होता है।

ब्रह्मसूत्रकार व्यास के आधार पर—

(छ) वेदान्त-ब्रह्मसूत्रकार महर्षि व्यास की यह धारणा प्रतीत होती है, कि कपिल ने सांख्य पर किसी ग्रन्थ की रचना की थी। व्यास की इस धारणा की पुष्टि के लिये उनके [२।१।१ तथा २।१।३] सूत्र गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है।

अपना विचार प्रस्तुत करने से पूर्व यह लिख देना आवश्यक है, कि आधुनिक कई विद्वान्, कपिल के सम्बन्ध में तो यह सन्देह प्रकट करते हैं, कि उसने किसी ग्रन्थका निर्माण नहीं किया, प्रत्युत सांख्य-सिद्धान्तों का मौखिक उपदेशमात्र किया। अनन्तर उसके शिष्यों ने ग्रन्थों की रचना की। परन्तु पतंजलिके सम्बन्ध में ऐसा सन्देह आज तक किसी ने प्रकट नहीं किया। प्राचीन, अर्वाचीन सभी विद्वान् इस बात को एकमत होकर स्वीकार करते हैं, कि उपलभ्यमान योगदर्शन साक्षात् पतंजलि की रचना है। इस ग्रन्थके लिये संस्कृत वाङ्मयमें 'योगशास्त्र' 'योगदर्शन' अथवा केवल 'योग' पद व्यवहृत होता चला आया है। इन बातों को मानकर आगे विचार करते हैं।

महर्षि व्यास वेदान्तसूत्रों में एक सूत्र का निर्देश करता है—

'एतेन योगः प्रत्युक्तः' [२।१।३]

यहाँ 'एतेन' पद से पूर्वसूत्र [२।१।१] प्रतिपादित अर्थ का अतिदेश किया गया है। अर्थात् प्रथम सूत्रके द्वारा किये गये सांख्यस्मृति के प्रतिषेध से योग-स्मृति का प्रतिषेध समझ लेना चाहिये। यहाँ 'योग' पदसे हिरण्यगर्भ[1] अथवा पतंजलिप्रणीत योगदर्शन का ग्रहण कियाजाता है। उसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों के खण्डन के लिये यह अतिदेश-सूत्र लिखागया। यहाँ जिसप्रकार साक्षात् 'योग' पदका उल्लेख किया है, प्रथम सूत्र में व्यास ने इसप्रकार 'स्मृति' पदका प्रयोग किया है। सूत्र है—

'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात्।'

इस सूत्र के दो भाग हैं, एक पूर्वपक्ष और दूसरा उत्तरपक्ष। दोनों स्थलों में 'स्मृति' पदका प्रयोग है। सूत्र के प्रथम भाग में पठित स्मृति पदका, वेदान्तदर्शन के सब भाष्यकारों ने 'कपिलप्रणीत शास्त्र' अर्थ किया है। कई भाष्यकारों ने तो उस शास्त्र का नाम भी स्पष्टरूप से लिखदिया है। इस सम्बन्ध में आचार्य

---

१. वाचस्पति मिश्र के लेखानुसार।

भास्कर और आचार्य शंकर तथा वाचस्पति के लेखों का निर्देश चार-पांच संख्या की युक्तियों में करदिया है। वहाँ कपिलप्रणीत 'तन्त्र' अथवा 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ का उल्लेख कियागया है। उसीका सूत्रकारने सूत्र में 'स्मृति' पद से निर्देश किया है। सूत्र में उत्तरभाग के 'स्मृति' पद से उन ग्रन्थविशेषों का ग्रहण कियागया है, जिनमें वेदान्तानुकूल ईश्वरकारणता का प्रतिपादन समझा जाता है। इसलिये उसकी तुलना में पहले 'स्मृति' पदका प्रयोग भी ग्रन्थ विशेष के लिये ही होसकता है। इन सूत्रों की वाक्यरचना के आधार पर, हम इस परिणाम तक पहुँचते हैं, कि सूत्रकार व्यास के समय में, व्यास तथा अन्य आचार्यों की यह निश्चित धारणा कहीजासकती है, कि कपिल ने अवश्य किसी ग्रन्थ की रचना की थी। व्यासने कपिल के उसी ग्रन्थ के आधार पर अपने सूत्रों में सांख्य-सिद्धान्तों की विवेचना की है। व्यास के 'स्मृति'[1] पद के प्रयोग से उस समय में कपिलप्रणीत ग्रन्थ का होना प्रमाणित होता है।

पञ्चशिख के आधार पर—

(ज) महर्षि कपिल के प्रशिष्य और आसुरि के प्रधान शिष्य आचार्य पञ्चशिख ने अपने एक सूत्र में षष्टितन्त्र के लिये 'तन्त्र' पदका प्रयोग करके इस अर्थ को स्पष्ट किया है। पञ्चशिख का सूत्र है—

'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।'

यदि पञ्चशिख के इस सूत्र के भावार्थ के साथ सूत्र-पदों की, शंकर और वाचस्पति के उपर्युक्त वाक्यों से तुलना करें, तो इन सबमें परस्पर एक आश्चर्य-जनक समानता पाते हैं। 'आदिविद्वान्' 'परमर्षि' 'तन्त्र' 'निर्माण' 'प्रोवाच' 'प्रणीत' आदि पदों और इन वाक्यों के अर्थों की इस समानता के आधार को लेकर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि शंकर और वाचस्पति ने अपने लेख, पञ्चशिख के इस सूत्र के आधार पर लिखे हैं। इसीलिये कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र के सम्बन्ध में इन सब आचार्यों की एक सम्मति मानलेने में हमारे सामने कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

'षष्टितन्त्र' के लिये केवल 'तन्त्र' पद का प्रयोग अशास्त्रीय नहीं कहाजा-सकता। साहित्य में इसप्रकार पूरे नाम के लिये आधे पद का प्रयोग अनेक

१. इन सूत्रों का उक्त अर्थ, उपलभ्यमान शंकर आदि व्याख्याकारों के आधार पर कियागया है। इनके यदि कोई अन्य अर्थ किये जासकें, जिनके अनुसार 'स्मृति' और 'योग' पद का अर्थ ग्रन्थ विशेष न रहे, तो बात दूसरी है। इस सन्दर्भ में हमारे द्वारा कियागया 'ब्रह्मसूत्रविद्योदय' भाष्य द्रष्टव्य है।

स्थानों पर देखाजाता है। यह लेखक की शैली या इच्छा पर निर्भर है। इस बात की पुष्टि के लिये संस्कृत वाङ्मय से चुनकर अनेक उदाहरण उपस्थित किये जासकते हैं।

(अ) पतञ्जलिकृत व्याकरण महाभाष्य के प्रथम आह्निक में एक स्थल पर कहागया है, कि नाम का आधा हिस्सा पूरे नाम के लिये प्रयुक्त होजाता है। उसके लिये उदाहरण दिया है—

'यथा-देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामा इति[1]।'

अर्थात् देवदत्त के लिये 'दत्त' और सत्यभामा के लिये केवल 'भामा' पद का प्रयोग संगत है। लोक में तो ऐसे प्रयोग दैनिक व्यवहार में हम सदा देखते हैं।

(इ) ईश्वरकृष्णरचित सांख्यसप्तति की २२ वीं कारिका का उत्तरार्ध है—

'तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंच भूतानि।'

उन सोलह पदार्थों में से पाँच तन्मात्र सूक्ष्मभूत, पांच स्थूलभूत या महाभूतों को उत्पन्न करते हैं, यहाँ 'स्थूलभूत' या 'महाभूत' पद के लिये केवल 'भूत' पदका प्रयोग कियागया है। कारिका में पठित 'भूत' पद का सब व्याख्याकारों ने महाभूत या स्थूलभूत अर्थ किया है, यही अर्थ संगत है। तत्त्वकौमुदी और माठरवृत्ति में 'पञ्चभूतानि आकाशादीनि' लिखा है। माठर, उत्पत्ति का क्रम दिखाकर आगे लिखता है—**'आकाशादिपृथ्वीपर्यन्तानि महाभूतानीति सृष्टिक्रमः'** यहाँ स्पष्ट 'महाभूत' पद का उल्लेख है। जयमंगला और चन्द्रिका नामक टीकाओं में 'पञ्च महाभूतानि भवन्ति' लिखकर प्रथम ही इस अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। जयमंगला व्याख्या में उपसंहार करते हुए 'आकाशादयः स्थूला विशेषा उच्यन्ते' यह लिखकर 'महा' पद के स्थान पर 'स्थूल' पदका प्रयोग किया है।

कदाचित् यह आशंका होसकती है, कि ईश्वकृष्ण ने कारिका में छन्दोरचना से बाध्य होकर 'महा' या 'स्थूल' पद का यहाँ प्रयोग न किया हो। व्याख्याकारों ने उस पद को जोड़कर अर्थ को संगत करदिया है, जो सर्वथा स्वाभाविक है। इसलिये यहाँ पर यह परिणाम नहीं निकाला जासकता, कि ईश्वरकृष्ण ने जानबूझकर 'महाभूत' या 'स्थूलभूत' पद के लिये केवल 'भूत' पद का प्रयोग किया है।

परन्तु यह आशंका निर्मूल है, छन्दोरचना में 'पञ्च' पद को हटाकर उसकी जगह 'स्थूल' पद रक्खा जासकता था। अर्थात् 'पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि' के अतिरिक्त 'पञ्चभ्यः स्थूलभूतानि' यह रचना कीजासकती थी। अथवा ईश्वरकृष्ण कोछन्दोरचना में इतना असमर्थ तो न समझ लेना चाहिये, कि वह एक आवश्यक पद को रचना से बाध्य होकर छोड़ दे; और अर्थ को असंगत होने दे। रचना

---

१. पस्पशाह्निक [महाभाष्य १।१।१]

प्रकारान्तर से भी कीजासकती थी। इन्हीं भावनाओं को लेकर संभवतः सांख्यकारिका की 'युक्तिदीपिका' नामक व्याख्या में इस अर्थ को निम्नरूप में स्पष्ट किया है। व्याख्याकार लिखता हैं—

'तस्मादपि षोडशकात् गणात् यः पंचको गणस्ततः पंचमहाभूतान्युत्पद्यन्ते। पूर्वपदलोपेनात्र महाभूतानीति वक्तव्ये भूतानीत्युच्यते। भूतसंज्ञा हि तन्मात्राणां न पृथिव्यादीनामत्र तु सांख्याचार्याणामविप्रतिपत्तिः।'

'अहंकार से उत्पन्न होने वाले सोलह के समुदाय में से जो पांच का समुदाय तन्मात्ररूप है, उससे पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। पूर्वपद का लोप करके यहाँ 'महाभूत' पद के स्थान पर केवल 'भूत' पद का कथन करदिया है। वस्तुतः 'भूत' तन्मात्र [सूक्ष्मभूतों के कारण] का नाम है, पृथिवी आदि स्थूलभूतों का नहीं, इस विषय में सभी सांख्याचार्य एकमत है।' युक्तिदीपिकाकार के इस कथन से स्पष्ट होजाता है, कि पूरे नाम के लिये, नाम के आधे भाग का प्रयोग करदियाजाता है। ठीक इसीतरह पञ्चशिख के उपर्युक्त सूत्र में 'षष्टितन्त्र' पद के लिये केवल 'तन्त्र' पद का प्रयोग कियागया है। आधुनिक[1] विद्वानों ने उक्त सूत्र के 'तन्त्र' पद का प्रयोग 'षष्टितन्त्र' के लिये माना है। इसलिये 'षष्टितन्त्र' के कपिल-कर्त्तृक होने में कोई आपत्ति नहीं रहजाती।

ईश्वरकृष्ण की प्रबल साक्षी के आधार पर—

(झ) यह एक माना हुआ सिद्धान्त है—ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिका सांख्यका मौलिक ग्रन्थ नहीं है, सांख्य के मूलभूत एक ग्रन्थ के केवल सिद्धान्त भाग का संक्षेप है। ईश्वरकृष्ण ने स्वयं स्पष्ट शब्दों में लिखा है—यह सप्तति, षष्टितन्त्र के अर्थों को लेकर लिखीगई है। ईश्वरकृष्ण ने सप्तति की अन्तिम कारिकाओं में आद्य सांख्याचार्यों की परम्परा का जो उल्लेख किया है, और जिसके द्वारा ईश्वरकृष्ण तक, षष्टितन्त्र के पहुँचने का निर्देश कियागया है, वह परम्परा इस सिद्धान्त को स्पष्ट करती है, कि 'षष्टितन्त्र' कपिल की रचना है। उन्हीं कारिकाओं के आधार पर यहाँ कुछ विवेचन कियाजाता है। ६९वीं कारिका में ईश्वरकृष्ण लिखता है—

'पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।'

---

१. श्रीयुत कविराज पं० गोपीनाथ जी, सांख्यकारिका की जयमंगला नामक व्याख्या के उपोद्घात में पृष्ठ तीन पर लिखते हैं—It appears from the above that कपिल disclosed the तन्त्र i.e. the secret Wisdom [Viz the सांख्य doctrines or the षष्टितन्त्र] to आसुरि.
अर्थात् कपिल ने आसुरि के लिये 'तन्त्र'—सांख्यतत्त्वों अथवा 'षष्टितन्त्र' को प्रकाशित किया।

पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष के उपायभूत ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले इस गूढ़ 'तन्त्र' का परमर्षि कपिल ने कथन किया। इस कारिका में 'ज्ञान' पद का अर्थ, केवल ज्ञान अर्थात् 'जानना' नहीं है, प्रत्युत 'ज्ञायते ऽनेन' इस व्युत्पत्ति के आधार पर ज्ञानसाधन अर्थात् 'ज्ञान का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र' अर्थ है। क्योंकि इस कारिका में 'समाख्यातम्' क्रियापद है, जिसका अर्थ 'कथन करना' या 'उच्चारण करना' है। ज्ञान [जानना] का कहा जाना या उच्चारण किया जाना सम्भव नहीं। जो उच्चारण कियाजाता है, वह शब्द है। उच्चरित शब्द के द्वारा हम किसी अर्थ का प्रकाशन करते हैं। शब्दरूप ही शास्त्र है। इसलिये उपर्युक्त रीति से कारिकापठित 'ज्ञान' पद का अर्थ 'ज्ञान प्रतिपादक शास्त्र' करना ठीक है। वस्तुतः यह पद, सत्तरवीं कारिका के अन्त में पठित 'तन्त्र' पद की ओर निर्देश करता है। कारिका के प्रायः सब व्याख्याकारों ने इस 'ज्ञान' पद का विशेष विवरण नहीं किया, व्याख्याओं में भी केवल 'ज्ञान' पद का प्रयोग करदियागया है। वहाँ 'ज्ञान' पद का अर्थ, 'ज्ञानप्रतिपादक शास्त्र' समझना चाहिये।

सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका व्याख्या में इस अर्थ को स्पष्ट किया है। वहाँ इस प्रसंग के सब स्थलों में 'ज्ञान' पद के स्थान पर 'शास्त्र' पद का प्रयोग है। ६९वीं कारिका की अवतरणिका में युक्तिदीपिकाकार लिखता है—

किमर्थं पुनरिदं शास्त्रम्, केन वा पूर्वं प्रकाशितमित्युच्यते।'

इसी कारिका की व्याख्या करते हुए प्रारम्भ में फिर लिखता है—

'प्राणिनामपवर्गः स्यादित्येवमर्थमिदं शास्त्रं व्याख्यातम्।'

सत्तरवीं कारिका के अवतरण में पुनः लिखता है—

'कस्मै पुनरिदं शास्त्रं परमर्षिणा प्रकाशितमिति।'

सत्तरवीं कारिका की व्याख्या करते हुए लिखता है—

'....परमर्षेर्धर्मार्थं शास्त्रप्रदानं....'....'आचार्यः शास्त्रनिधानं प्रददाविति।'

....'अनुकम्पया भगवान् परमर्षिः शास्त्रमाख्यातवान्।'

इन उद्धरणों से स्पष्ट होजाता है, ६९वीं कारिका में 'पुरुषार्थज्ञानं' पद का अर्थ 'मोक्षोपायभूत ज्ञानप्रतिपादक शास्त्र' होना चाहिये। इस कारिका में 'परमर्षि' पद से सब व्याख्याकारों ने कपिल का ग्रहण किया है। इससे यह निश्चित होजाता है, कि ईश्वरकृष्ण इस कारिका के द्वारा जिस अर्थ को स्पष्ट कररहा है, वह यही है, कि -पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष के लिये ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले गूढ़ 'तन्त्र' का परमर्षि कपिल ने कथन किया। यहाँ हमने 'तन्त्र' पद का प्रयोग इसीलिये किया है, कि सत्तरवीं कारिका के अन्त में, परमर्षि-कथित ज्ञानप्रतिपादक शास्त्र के लिये इसी पद का प्रयोग हुआ है। ६९वीं कारिका का 'इदम्' पद उसीकी ओर संकेत करता है।

जयमंगला टीका में इस अर्थ को प्रकारान्तर से अधिक स्पष्ट किया है। ७१वीं आर्या पर टीकाकार लिखता है–'**इति ज्ञानमयरूपेणागतं सिद्धान्तं षष्टितन्त्रम्**' यहाँ ज्ञानरूप से आये हुए सिद्धान्त को 'षष्टितन्त्र' बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है, ज्ञान का निरूपण अथवा सांख्यसिद्धान्त का प्रतिपादन जिस शास्त्र में किया गया है, उसीका नाम 'षष्टितन्त्र' है।

इसके अनन्तर ७०वीं कारिका में, सांख्याचार्यों की परम्परा का निर्देश करते हुए ईश्वरकृष्ण लिखता है—

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥

इस पवित्र और श्रेष्ठ 'तन्त्र' को कपिल मुनिने कृपापूर्वक आसुरि को [अध्यापन आदि के द्वारा] दिया, आसुरि ने पञ्चशिख को और पञ्चशिख ने बहुत प्रकार से इसका विस्तार किया।

कारिका के 'बहुधा कृतम्' पदों की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार माठर लिखता है—'बहूनां शिष्याणां प्रदत्तम्'। पंचशिख ने यह 'तन्त्र' अनेक शिष्यों को दिया अर्थात् पढ़ाया। युक्तिदीपिका व्याख्या में इन पदों का अर्थ इसी आशय को लेकर यह किया है–'बहुभ्यो जनकवशिष्ठादिभ्यः समाख्यातम्' अर्थात् जनक वशिष्ठ आदि अनेक शिष्यों को पढ़ाया। जिस 'तन्त्र' को आसुरि से पढ़कर पंचशिख ने प्राप्त किया था, उसी तन्त्र को पंचशिख ने अनेक शिष्यों को पढ़ाकर तथा लेखन आदि के द्वारा बहुत विस्तृत तथा प्रचारित किया, यह इस कारिका का स्पष्ट अर्थ प्रमाणित होता है।

क्या षष्टितन्त्र का कर्त्ता पञ्चशिख है?—

कारिका के 'तेन बहुधा कृतं तन्त्रम्' इन पदों के आधार पर कतिपय आधुनिक[1] विद्वानों का विचार है, कि तन्त्र अथवा षष्टितन्त्र को पञ्चशिख ने बनाया है। वे कहते हैं, ईश्वरकृष्ण ने ६९वीं कारिका में 'समाख्यातम्' क्रियापद रक्खा है, जिसका अर्थ, मुख से उच्चारण करना होसकता है। इसलिये कपिल ने किसी ग्रन्थ को उपनिबद्ध नहीं किया, प्रत्युत मौखिक उपदेश दिया।

इन विद्वानों का विचार कहाँ तक तथ्य है, समझना चाहिये—

(अ) उपदेश सदा मौखिक होता है, परन्तु उसका ग्रन्थरचना से कोई विरोध नहीं है। जिन विद्वानों ने इस मत को प्रकट किया है, वे अपने जीवन में छात्रों

---

१. बालराम उदासीनकृत व्याख्या सहित सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृष्ठ ३१८।६९वीं कारिका की टिप्पणी। यह भाग पाण्डेय रामावतार शर्मा M.A. का लिखा हुआ है। चीनी विद्वानों के ऐतिह्य के आधार पर षष्टितन्त्र को पञ्चशिख-कृत माना गया है। [Samkhya System कीथ, पृ० ४८]

को सहस्रशः उपदेश देतेरहे हैं, और उनका आधार ग्रन्थ रहे हैं। आज भी अनेक अध्यापक ग्रन्थों की रचना करते हैं, उन्हें अपने छात्रों को अध्ययन कराते हैं। यह प्रतिदिन महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में देखाजाता है। तात्पर्य है, उपदेश या अध्यापन तो मौखिक ही होता है, परन्तु वह ग्रन्थरचना का बाधक नहीं है।

(इ) ६९वीं कारिका में 'सामाख्यातम्' क्रियापद है। परन्तु अगली ७०वीं कारिका में 'प्रददौ' क्रियापद है। जिसका अर्थ 'अच्छी तरह देना' है। कोई सत्ताधारी वस्तु किसी को दीजासकती है। उपदेशों के ग्रन्थरूप में परिणत हुए बिना उनका दियाजाना सम्भव नहीं। इससे स्पष्ट है, आसुरि को कपिल ने 'तन्त्र' का अध्ययन कराया, और तन्त्र की ग्रन्थरूप से रचना की। 'समाख्यातम्' क्रियापद का अर्थ प्रथम करदियागया है, जो हमारे विचारों के अनुकूल है।

(उ) वस्तुतः 'बहुधा कृतम्' ये पद, किसी रीति पर इस बात को प्रमाणित नहीं करते, कि पञ्चशिख ने तन्त्र की रचना की। यदि ईश्वरकृष्ण को यहाँ यही प्रकट करना अभीष्ट होता, तो 'कृतं तन्त्रम्' इतना ही लिखता। 'कृतं' के साथ 'बहुधा' पद का प्रयोग व्यर्थ था। इसके विपरीत 'बहुधा' पद का प्रयोग यह स्पष्ट करता है, कि 'तन्त्र' पहले विद्यमान था, पञ्चशिख ने आसुरि से उसका अध्ययन कर, अनेक शिष्यों को पढ़ाया, तथा उसपर व्याख्याग्रन्थ लिखकर उसका अच्छी तरह विस्तार या प्रचार किया। यही उसका बहुधाकरण है। 'बहुधा' पद में एक और छिपा हुआ स्वारस्य है, जिसको माठर और युक्तिदीपिका व्याख्याकारों ने स्पष्ट किया है। पञ्चशिख तक गुरु-शिष्य परम्परा में यह क्रम रहा, कि गुरु ने एक शिष्य को तन्त्र का अध्ययन कराया—कपिल ने आसुरि को और आसुरि ने पञ्चशिख को। परन्तु पञ्चशिख ने इसका अध्ययन बहुत शिष्यों को कराया, यह तात्पर्य 'बहुधा' पद से प्रकट होता है। इसलिए केवल इन पदों के आधार पर पञ्चशिख को षष्टितन्त्र का रचयिता मानना असंगत है।

(ऋ) उपर्युक्त हेतुओं के अतिरिक्त, पञ्चशिख स्वयं अपने ग्रन्थ में लिखता है, कि महर्षि कपिल ने आसुरि के लिये तन्त्र अथवा षष्टितन्त्र का प्रवचन किया। पञ्चशिख का वह सूत्र प्रथम उद्धृत कियाजाचुका है। सूत्र है—

आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच[1]।'

इस प्रसंग में सूत्र के 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय'[2] पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

---

१. इस सूत्रमें 'तन्त्र' पदका अर्थ 'षष्टितन्त्र' है, इस बातको छठे हेतु में स्पष्ट और विस्तारपूर्वक लिख आये हैं।

२. इन पदों के अर्थोंका विवेचन विस्तारपूर्वक प्रथम अध्याय में कर दिया गया है।

जिन विद्वानों का विचार है, कि कपिलने आसुरिको मौलिक सांख्यसिद्धान्तों का केवल मौखिक उपदेश किया, किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की; उनके विचारका स्पष्ट उत्तर इन पदोंसे मिल जाता है। सूत्रसे स्पष्ट है कपिलने शास्त्रनिर्माण की भावनासे प्रेरित होकर आसुरि के लिये 'तन्त्र' का प्रवचन किया। इससे स्पष्ट है, पञ्चशिख के समय 'तन्त्र' पहलेसे विद्यमान था।

सांख्यसप्तति की जयमंगला नामक व्याख्या में इस अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। वह लिखता है—'बहुधा कृतं तन्त्रं षष्टितन्त्राख्यं षष्टिखण्डं कृतमिति[1]। तत्रैव हि षष्टिरर्था व्याख्याताः।' यहाँ पर 'बहुधा कृतं तन्त्रम्' ये पद मूलकारिका के हैं, शेष व्याख्यान ग्रन्थ है। 'तन्त्रं का अर्थ 'षष्टितन्त्राख्यम्' और 'बहुधा' पद का अर्थ 'षष्टिखण्डम्' कियागया है। 'कृतम्' पदको व्याख्याकारने उसी तरह रखदिया है। आगेके पदों से 'षष्टितन्त्र' को साठ खण्डों में विभक्त किये जानेका कारण बताया गया है, कि उसमें साठ पदार्थों का व्याख्यान किया गया है। इससे स्पष्ट है–'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ को पञ्चशिख ने साठ खण्डोंमें करदिया। क्योंकि उनमें साठ पदार्थों का व्याख्यान है। जयमंगला के इस लेख से यह निश्चित परिणाम निकलता है, कि पञ्चशिख से पूर्व 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ विद्यमान था। पञ्चशिख ने उसमें संक्षेप से प्रतिपादित साठ पदार्थों में से एक-एक को लेकर उसके व्याख्याभूत एक-एक खण्ड की रचना की। इसप्रकार साठ पदार्थोंके आधार पर साठ खण्डोंकी रचना होगई। प्रत्येक पदार्थकी पृथक् व्याख्याके आधार पर साठ खण्डों में विभक्त उस पञ्चशिख ग्रन्थमें उक्त पदार्थों का विस्तारपूर्वक व्याख्यान व विवेचन कियागया। इसलिये पञ्चशिख, मूल षष्टितन्त्र का व्याख्याकार अथवा अध्यापक होसकता है, रचयिता नहीं।

'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ है—

जयमंगलाके उक्त लेखसे यह परिणाम निकल आता है, कि कपिलने सिद्धान्तों का केवल मौखिक उपदेश नहीं किया था, प्रत्युत ग्रन्थ की रचना की थी, जिस ग्रन्थको पञ्चशिख ने व्याख्यान करके साठ खण्डों में विभक्त किया। जयमंगला के और भी ऐसे वर्णन हैं, जिनसे 'षष्टितन्त्र' के ग्रन्थ स्वीकार किये जाने पर प्रकाश पड़ता है। वे वर्णन इसप्रकार हैं—

(क) 'विस्तरत्वात् षष्टितन्त्रस्य संक्षिप्तरुचिसत्त्वानुग्रहार्थं सप्ततिकारम्भः।'
[पृ० १, पं० ९-१०। कलकत्ता संस्करण]।

---

१. अहिर्बुध्न्यसंहिता में 'षष्टितन्त्र' के जिन साठ खण्ड अथवा अध्यायों का उल्लेख है, वह इसी सिद्धान्तपर कल्पना कियागया प्रतीत होता है। यद्यपि सांख्य के साठ पदार्थों के साथ उनका [संहिताप्रतिपादित साठ पदार्थों का] पूर्णरूप से सामञ्जस्य नहीं है। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन इसी ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में कियागया है।

यहाँ पर 'षष्टितन्त्र' के साथ 'विस्तार पद का प्रयोग होने से यह अर्थ स्पष्ट होता है, कि यह कोई शब्दसमूह रूप ग्रन्थ था। 'प्रथने वावशब्दे' [३।३।३३] इस पाणिनीय नियम के अनुसार 'विस्तर' पद का प्रयोग, शब्दसमूह रूप अर्थ कहे जाने पर होसकता है। अन्यथा 'विस्तार' पद का प्रयोग संगत होगा।

(ख) 'त्रिविधमनुमानमाख्यातमिति षष्टितन्त्रे व्याख्यातं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टमिति। [पृं०७,पृ०२०–२१]

यहाँ 'त्रिविधमनुमानमाख्यातं' ये मूलकारिका के पद हैं, शेष व्याख्या ग्रन्थ है। जिसमें जयमंगलाकार लिखता है, कि अनुमान के तीन विभागों का षष्टि-तन्त्र में व्याख्यान कियागया है। क्योंकि व्याख्यान का कियाजाना किसी ग्रन्थ के रूप में संभव है, इसलिये जयमंगलाकार के विचार से 'षष्टितन्त्र' अवश्य कोई ग्रन्थ था।[1]

---

१. यह सम्भावना कीजासकती है, कि '(क) (ख)' चिह्नित स्थलों में 'षष्टि-तन्त्र' पद, कपिलप्रणीत मूल षष्टितन्त्र और पञ्चशिखप्रणीत व्याख्याभूत षष्टितन्त्र दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ मानाजासकता है। फिर भी कपिल-प्रोक्त षष्टितन्त्र के स्वीकार किये जाने में कोई बाधा नहीं आती। ऐसी स्थिति में डा० कीथ तथा उसके विचारों के अनुयायी अन्य विद्वानों का 'षष्टितन्त्र' नाम के ग्रन्थ को स्वीकार न करना भ्रान्तिपूर्ण है। क्योंकि यदि केवल इतनी बात को स्वीकार कियाजाय, कि षष्टितन्त्र, सांख्यशास्त्र का साधारण नाम है, तो भी यह आशंका बनी रहती है, कि जब उस शास्त्र का कोई ग्रन्थ नहीं था, तब वह नाम किसके लिये था? हमारा विचार स्पष्ट है, कपिल की प्रथम रचना का नाम षष्टितन्त्र था। उसके अनन्तर तद्विषयक अथवा तद्व्याख्यानभूत अन्य ग्रन्थ भी इसी नाम से व्यवहृत होते रहे। इसतरह साधारण सांख्यशास्त्र के लिये इस पद का प्रयोग होने लगा।

वस्तुतः अनन्तर काल के समान, कपिल की प्रथम रचना के दोनों नाम थे। षष्टितन्त्र और सांख्यशास्त्र। इस शास्त्र में पदार्थों का दोनों दृष्टि से विवेचन है, आध्यात्मिक और आधिभौतिक। आधिभौतिक दृष्टि से २५ तत्त्वों का विवेचन कियागया है। उस आधार पर इसे 'सांख्यशास्त्र' 'अथवा सांख्यदर्शन' या केवल 'सांख्य' नाम दियागया। आध्यात्मिक दृष्टि से इसमें साठ पदार्थों का विवेचन है, पचास प्रत्ययसर्ग, और दश मौलिक अर्थ। आधिभौतिक दृष्टि के २५ तत्त्व यहाँ दश मौलिक अर्थों के रूप में प्रकट कियेगये हैं। [इसका स्पष्ट निरूपण तृतीय अध्याय के अन्तिम पृष्ठों में किया है। इस द्वितीय अध्याय के अन्तिम पृष्ठों को भी देखिये] इस

(ग) एते षष्टिपदार्थाः, तदर्थं शास्त्रं षष्टितन्त्रमित्युच्यते। [पृ०५६।पं०१२]

ये साठ पदार्थ हैं, उनके लिये शास्त्र—'षष्टितन्त्र' इस रूप में कहाजाता है। अर्थात् साठ पदार्थों का वर्णन करने वाले शास्त्र का नाम 'षष्टितन्त्र' है। इससे 'षष्टितन्त्र' का ग्रन्थ होना स्पष्ट प्रमाणित होता है।

(घ) इसके अतिरिक्त वाक्यपदीय [१।८] में उद्धृत एक प्राचीन श्लोक की व्याख्या करते हुए, वाक्यपदीप के व्याख्याकार वृषभदेव ने लिखा है—'षष्टितन्त्रग्रन्थश्चायम्' इससे 'षष्टितन्त्र' नामक किसी ग्रन्थ के होने का निश्चय होता है। इसी प्रकरण में आगे उक्त श्लोक का उल्लेख कियाजायगा।

इसप्रकार ६९ और ७०वीं कारिकाओं के द्वारा प्रतिपादित यह परम्परा सम्बन्ध, इस सिद्धान्त को स्पष्टरूप से पुष्ट करता है, कि उस पवित्र और श्रेष्ठ 'तन्त्र' की रचना परमर्षि कपिल ने की, तथा अपने प्रथम शिष्य आसुरि को कृपापूर्वक उसका अध्ययन कराया; आसुरि ने उसी तन्त्र का पञ्चशिख को। पञ्चशिख ने अनेक शिष्यों को पढ़ाकर तथा व्याख्यानभूत ग्रन्थों का निर्माण कर उस 'तन्त्र' का अच्छी तरह विस्तार किया।

आगे ७१वीं आर्या में ईश्वरकृष्ण लिखता है—

शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्॥

'आर्यबुद्धि ईश्वरकृष्ण ने, शिष्यपरम्परा से प्राप्त हुए 'तन्त्र' का, उसके सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझकर, आर्या छन्दों द्वारा संक्षेप किया।' इस आर्या में 'एतत्' पद 'तन्त्र' अथवा षष्टितन्त्र के लिये प्रयुक्त हुआ है। व्याख्याकार आचार्य[1] माठर ने 'एतत्' पद की व्याख्या करते हुए, इसका अर्थ 'षष्टितन्त्र' किया है। प्रकरण से इसी अर्थ की प्राप्ति होती है। यह 'एतत्' पद, 'संक्षिप्तम्' का कर्म है। इससे स्पष्ट होता है, ईश्वरकृष्ण ने उस 'षष्टितन्त्र' को आर्या छन्दों के द्वारा संक्षिप्त किया, जो 'षष्टितन्त्र' परमर्षि कपिल से लेकर ईश्वरकृष्ण तक शिष्यपरम्परा के द्वारा प्राप्त हुआ। व्याख्याकारों ने इस शिष्यपरम्परा में आये अनेक आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है। इनका विवेचन प्रसंगवश आगे कियाजायगा। यहाँ केवल इतना कहना अभीष्ट है, कि कपिल ने जिस षष्टितन्त्र की रचना की, और आसुरि को पढ़ाया, वही 'षष्टितन्त्र' शिष्यपरम्परा

आधार पर इसे 'षष्टितन्त्र' नाम प्राप्त हुआ। यह अलग बात है, कि किसी समय में कोई नाम अधिक व्यवहृत होता रहा हो, कोई न्यून, तथा अन्य समय में अन्य। परन्तु ग्रन्थ की रचना के विना उसके किसी नाम की कल्पना असंगत है। जब वस्तु नहीं, तो नाम किसका?

१. 'तदेव षष्टितन्त्रं आर्याभिः संक्षिप्तम्' माठरवृत्ति, का० ७१ पर।

द्वारा ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ। ईश्वरकृष्ण ने उसका अच्छी तरह अध्ययन किया, और उसमें प्रतिपादित अर्थों को ठीक समझकर आर्या छन्दों में उसका संक्षेप किया।

क्या 'षष्टितन्त्र' का कर्त्ता वार्षगण्य था ?—

कतिपय विद्वानों का मत है, 'षष्टितन्त्र' का रचयिता वार्षगण्य है। इन विचारों का आधार शास्त्र में मिलता है। योगदर्शन, कैवल्यपाद के १३वें सूत्र की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार व्यास लिखता है—

'तथा च शास्त्रानुशासनम्—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव[1] सुतुच्छकम्॥'

'शास्त्र कहता है–गुणों [सत्त्व, रजस्, तमस्] का सूक्ष्मरूप दृष्टिगोचर नहीं होता, तथा जो रूप दृष्टिगोचर होता है, वह माया के समान नश्वर है।' इस भाष्यपंक्ति की व्याख्या करते हुए अवतरणिका में वाचस्पति मिश्र लिखता है—

'अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः'

इस लेख से यह समझाजाता है, कि वाचस्पति मिश्र का यह विचार है, कि भाष्य में निर्दिष्ट पद्य 'षष्टितन्त्र' का है। क्योंकि ब्रह्मसूत्र [२। १। ३] के शांकरभाष्य की व्याख्या करते हुए, वाचस्पति मिश्र लिखता है—

'अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताह स्म भगवान् वार्षगण्यः'[2]

यह लिखकर उपर्युक्त 'गुणानां परमं रूपं' इत्यादि पद्य को उद्धृत करता है। वाचस्पति मिश्र के इन दोनों लेखों के समन्वय से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि वह 'षष्टितन्त्र' को वार्षगण्य की रचना समझता है। बालराम[3] उदासीन ने इसी आधार पर, साठ पदार्थों का प्रतिपादन करने वाले सांख्यशास्त्र [षष्टितन्त्र] का रचयिता वार्षगण्य को माना है।

इस प्रसंग में प्रो० हिरियन्ना का विचार, तथा उसका विवेचन—

परन्तु अध्यापक हिरियन्ना महोदय ने इस प्रमाण को उक्त प्रसंग में

---

१. यह पद्य सांख्यसप्तति व्याख्या-जयमंगला के ६३ पृष्ठ पर भी उद्धृत है। वहाँ 'मायेव सु०' की जगह 'मायावस्तु' पाठ है।

२. इसीलिये योगशास्त्र का व्युत्पादन अर्थात् व्याख्यान करते हुए भगवान् वार्षगण्य ने कहा है—।

३. योगदर्शन ३। १३ की तत्त्ववैशारदी व्याख्या की टिप्पणी, और १७ वीं कारिका की सांख्यतत्त्वकौमुदी में २२८ पृष्ठ की २ टिप्पणी, बाम्बे निर्णय-सागर प्रैस संस्करण।

असाधन[1] बताया है। उनका अभिप्राय है,—व्यासभाष्य में पाठ 'मायेव' है, अर्थात् 'माया' पद के साथ 'इव' पद का प्रयोग किया गया है। परन्तु भामती में 'मायैव' पाठ है। यहाँ 'माया' पद के साथ 'एव' पद का प्रयोग है। इससे ज्ञात है, कि 'इव' घटित पाठ 'षष्टितन्त्र' का और 'एव' घटित पाठ वार्षगण्य का है, जैसा दोनों स्थलों पर वाचस्पति मिश्र ने लिखा है। इन दोनों पदों का प्रयोग एक दूसरे के स्थान पर भ्रान्ति के कारण नहीं हुआ, प्रत्युत एक आचार्य के श्लोक को दूसरे आचार्य ने एक पद के परिवर्तन से अपने विचारों के अनुसार प्रस्तुत कर लिया है। इसलिये इन श्लोकों का रचयिता एक व्यक्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्त आधार पर वार्षगण्य को षष्टितन्त्र का रचयिता नहीं कहाजा-सकता। अध्यापक हिरियन्ना महोदय ने और भी अधिक कहा है, कि वार्षगण्य परिणामवादी होता हुआ भी ब्रह्म-परिणामवादी था, और ऐसा मानने पर ही भामती में उक्त श्लोक का उद्धृत कियाजाना संगत होसकता है।

अध्यापक हिरियन्ना महोदय के इन विचारों के विषय में निवेदन है—जहाँतक वार्षगण्य का षष्टितन्त्र के रचयिता न होने का सम्बन्ध है, हम उससे सहमत हैं। परन्तु 'इव' और 'एव' पद के केवल पाठभेद के आधार पर यह बात स्पष्ट नहीं होपाती। यह ठीक है, कि 'इव' पद सादृश्य के लिये और 'एव' निर्धारण के लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु अत्यधिक सादृश्य के लिये 'एव' पद का प्रयोग असंगत नहीं है। कोष[2] में 'इव' और 'एव' पदों को समानार्थक कहा है। 'इव' की तरह 'एव' पद भी साम्य अर्थात् सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त कियाजाता है। इसीलिये 'इव' के प्रयोग में उपमा के समान, 'एव' के प्रयोग में रूपक बन जाता है, जो अवश्य सादृश्यमूलक है। ऐसी स्थिति में भामती का 'एव' घटित पाठ किसी अन्य ऐसे विशेष अर्थ को अभिव्यक्त नहीं करता, जो, 'इव' घटित पाठ से प्रकट नहीं होता।

भामती के 'एव' घटित पाठ को लेकर उक्त श्लोक का अर्थ इसप्रकार किया जासकता है—'गुणों का परमरूप दृष्टिगोचर नहीं होता, जो दृष्टिगोचर होरहा है, वह माया ही है।' यहाँ पर दृश्य जगत् को माया बताना, यही प्रकट करता है, कि यह जगत् विनाशशील है। किसी प्रमाण के आधारपर अभीतक यह अवगत नहीं, कि वार्षगण्य दृश्यमान जगत् को सर्वथा मिथ्या अथवा काल्पनिक मानता

---

१. जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, Vol. ३, जून १९२९ A.D. पृष्ठ १०७—११२।

२. 'व वा यथा तथेवैवं साम्ये' अमर० ३।४।९॥ 'तथेवैवं' इति पाठमाश्रित्य स्वामिमुकुटाभ्यामत्र 'इव' शब्दो गृहीतः। हैमकोश में भी 'एव' पद उपमा अर्थ में कहा है—'एवौपम्ये परिभवे ईषदर्थेऽवधारणे'। [व्याख्यासुधा ३।४।९]

था। भामतीकार ने जिस प्रसंग के साथ इस श्लोक को उद्धृत किया है, वहाँ भी वार्षगण्य के इसप्रकार के विचारों की ध्वनि प्रतीत नहीं होती। फिर दृश्य जगत् का कारण, जो दृष्टिगोचर नहीं होता, और गुणों का परम रूप है, वह क्या है ? वह प्रकृति अर्थात् प्रधान है, अथवा ब्रह्म ? जहाँ तक वार्षगण्य के विचारों का सम्बन्ध है, गुणों का परमरूप वह प्रधान को कह सकता है, ब्रह्म को नहीं। ब्रह्म को, गुणों का रूप कहना सामञ्जस्यपूर्ण नहीं है। प्रश्न केवल इतना है, कि दृश्यमान जगत् का मूल उपादान, चेतन है, अथवा अचेतन ? वार्षगण्य मूल उपादान को चेतन नहीं मानता, प्रत्युत अचेतन[1] प्रधान को जगत् का मूल मानता है। उसके विचार से वही गुणों का परम रूप है।

ऐसी स्थिति में अध्यापक हिरियन्ना महोदय ने वार्षगण्य को ब्रह्म-परिणामवादी किस आधार पर माना है, यह नहीं कहा जासकता। वस्तुतः वार्षगण्य दृश्य जगत् को काल्पनिक नहीं मानता। संभव है, उसने 'माया' शब्द का प्रयोग केवल जगत् की नश्वरता[2] को प्रकट करने के लिये किया हो। इसप्रकार 'एव' 'इव' के पाठभेद में अर्थभेद कुछ नहीं होता। फलतः वार्षगण्य को ब्रह्म-परिणामवादी समझना आधारहीन है।[3]

---

१. सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका व्याख्या में वार्षगण्य और उसके अनुयायियों के अनेक मतों का उल्लेख है। वहाँ से उद्धृत निम्नलिखित वाक्य प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डालते हैं—
प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणाऽपरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्त्तते।
[पृ० १०२। पं० २४-२५]
करणानां स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात् स्वल्पा च स्वतः।
[पृ० १०८। पं० १५-१६]
साधारणो हि महान् प्रकृतित्वात् [पृ० १४५। पं० ६]

२. 'तस्माद् व्यक्त्यपगमो विनाशः। स तु द्विविधः—आसर्गप्रलयात् तत्त्वानाम्, किञ्चित्कालान्तरावस्थानादितरेषाम्।'
[युक्तिदीपिका, पृ० ६७। पं०१६-१७]

३. प्रस्तुत विचार में 'मायेव' और मायैव' पाठ को लक्ष्यकर डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र ने अपनी रचना 'सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा' [पृ० ८०-८८] में हमारे विचार की विस्तृत आलोचना की है। एक स्थान पर यह भी लिखदिया है—'शास्त्री जी को अपनी जिद रखने के लिये अपना अर्थ वाचस्पति मिश्र के सिर नहीं मढ़ना था।' [पृ० ८२, पं० १८]।

निवेदन है, प्रस्तुत प्रसंग में प्रो० हिरियन्ना के साथ हमारा कोई विशेष मतभेद नहीं; केवल यह समझने का प्रयास किया है, कि केवल 'मायैव' पाठ के आधार पर वार्षगण्य को ब्रह्म-परिणामवादी बताना कहाँ तक युक्त मानाजासकता है।

इसके अतिरिक्त एक स्थल में उक्त श्लोक का पाठ ऐसा है, जहाँ न 'इव' है, न 'एव'। यह पाठ सांख्यसप्तति की टीका जयमंगला में उपलब्ध है। ६१वीं आर्या की अवसरणिका [पृ० ६३] में चतुर्थचरण का पाठ 'तन्मायावस्तु

प्रो० हिरियन्ना का कहना है-'मायेव' पाठ षष्टितन्त्र का और 'मायैव' पाठ वार्षगण्य का है। 'मायैव' पदों का साधारण नश्वर (विनाशशील-परिणामी) अर्थ न समझ कर 'अतात्त्विक' अर्थ ही कियाजाता है, तो भी वार्षगण्य को 'ब्रह्म-परिणामवादी' कैसे कहाजायगा? उसके नाम से उद्धृत एकाधिक सन्दर्भ यह प्रमाणित करते हैं, कि वह ब्रह्म या किसी ऐसे चेतन तत्त्व को स्वीकार नहीं करता, जो प्रधान से जगत्परिणाम में सहयोगी हो। वार्षगण्य ने कहा-गुणों का परमरूप [मूलकारणरूप प्रधान] दृष्टिगोगर नहीं होता। जो दृष्टिगोचर है, वह माया ही है, अर्थात् अतात्त्विक है। यहाँ दृष्टिगोचर को अतात्त्विक कहा, परमरूप को नहीं। यदि कार्य-कारण के साम्य को लेकर परमरूप को भी अतात्त्विक कहाजाता है, तो यद्यपि इसमें बौद्धदर्शन की गन्ध आने लगती है, पर इतने से वार्षगण्य को 'अतात्त्विक प्रधानकारणवादी कहाजायगा; ब्रह्मकारणवादी नहीं। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रो० हिरियन्ना तो कम, पर उनकी वकालत करने वाले डॉ० मिश्र अपनी ज़िद को बहलाने के लिये वार्षगण्य पर अपने विचारों को आरोपित करने का प्रयास कर रहे हों।

'मायेव, मायैव' पाठभेद के-प्रो० हिरियन्ना द्वारा बताये गये-आधार की पुष्टि करते हुए डॉ० मिश्र ने लिखा है-'एक और बात से भी प्रो० हिरियन्ना का विचार सही लगता है। स्वयं पं० उदयवीर शास्त्री ने भी एक दूसरे उद्धरण के विषय में पृ० ६८ पर प्रो० हिरियन्ना वाला ही उत्तर दिया है [पृ० ८६, पं० २२-२४]।

निवेदन है, जिन दो सन्दर्भों के विषय में प्रो० हिरियन्ना के समान उत्तर देना बतायागया है, उन दोनों सन्दर्भों के मूलग्रन्थ का स्पष्ट निर्देश वहाँ करदियागया है, परन्तु 'गुणानां परमं रूपं' इत्यादि सन्दर्भ को वार्षगण्य ने किस ग्रन्थ से लिया? इसका निर्देश न प्रो० हिरियन्ना ने किया, न डॉ० मिश्र ने।

कहाजासकता है, वार्षगण्य ने प्राचीन रचना षष्टितन्त्र से लिया। प्रश्न है-वह षष्टितन्त्र किसकी रचना थी? प्रोफेसर और डॉ० मिश्र, कपिल द्वारा किसी षष्टितन्त्र नामक रचना का कियाजाना मानते नहीं, तब यही कहाजासकता है, कि वह रचना पञ्चशिख की रही होगी। विचारिये, यदि यह सन्दर्भ (गुणानां परमं रूपं) पञ्चशिख की रचना का रहा होता, तो

तुच्छकम्' है। यहाँ 'इव' पद न होने पर भी उसका अर्थ अपेक्षित है, उसके बिना प्रसंग-सामंजस्य न रहेगा।

इसीप्रकार समन्तभद्रविरचित 'अष्टसहस्री' नामक जैनग्रन्थ की[1] व्याख्या के १४४ पृष्ठ पर उक्त श्लोक का पाठ है—

गुणानां[1] सुमहद्रूपं[2] न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु[3] दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव[4] सुतुच्छकम्[5]॥

वाचस्पति मिश्र, व्यासभाष्य में उद्धृत अन्य अनेक सन्दर्भों की तरह इसको भी पञ्चशिख की रचना बताता, पर ऐसा नहीं किया। स्पष्ट है, वाचस्पति के काल तक इस सन्दर्भ को पञ्चशिख का नहीं समझाजाता था। तब डॉ० मिश्र बतायें—वार्षगण्य ने 'इव' के स्थान पर 'एव' पद को जोड़कर इस सन्दर्भ को कहाँ से अपनाया ?

इसलिये 'इव' 'एव' के पाठभेद का हमारा समाधान अधिक मौलिक एवं साधार है, जिसको आंशिकरूप में डॉ० मिश्र ने कुछ झिझक व संकोच के साथ स्वीकार किया है।

संभव है, इस सब झगड़े की जड़ वाचस्पति मिश्र की कलम का चमत्कार हो। शांकरभाष्य में प्रस्तुत अर्थ की अनायास पुष्टि के लिये 'य' पर एक मात्रा और बढ़ा दी हो, अथवा दीपक के मन्द प्रकाश में ऐसा होगया हो। स्वमत-पुष्टि में कभी ऐसा होजाता है। लेखकों के प्रमाद से भी ऐसा होना संभव है।

आचार्य शंकर ने उपनिषदों में अनेकत्र पाठभेद किया है। (१) ईशोपनिषत् की १४ वीं कण्डिका में 'सम्भूति' को 'असम्भूति' कर दिया, जब कि प्रथम चरण में छन्दोभंग की भी परवाह नहीं की। (२) कठोपनिषत् (२।२०) में 'धातुः प्रसादात्' पाठ है। 'धातुः, धातृ पद का षष्ठी एकवचन है। उसके विसर्ग उड़ाकर 'धातुप्रसादात्' पाठ बना दिया। (३) बृहदारण्यकोपनिषत् [५। ५। १] के पाठ में एक 'ब्रह्म' पद को छोड़कर (मूलपाठ से हटाकर) स्वाभिमत अर्थ किया।

१. अकलंकदेवकृत 'आप्तमीमांसालंकृति' नामक वृत्ति।

२. यद्यपि योगभाष्यकार व्यास कौन है ? और उसका काल क्या है ? इसके विषय में अभीतक विद्वानों ने कोई 'अन्तिमेत्यम्' निश्चय नहीं किया है। राधाकृष्ण महोदय ने इसका समय ४०० ख्रीस्ट [Indian Phelosophy, ११,३४२] माना है। परन्तु यह समय नितान्त अशुद्ध है। व्यास का समय ईश्वरकृष्ण से पर्याप्त पूर्व होना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं, कि पातंजल योगसूत्रों का भाष्यकार व्यास, भारतयुद्धकालिक व्यास (वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन) से अभिन्न है, जिसने महाभारत ग्रन्थ की प्रारम्भिक रचना की।

वहीं टीका में इसका व्याख्यान इसप्रकार है—

(१) सत्त्वरजस्तमसां सांख्योक्तानाम्। (२) प्रधानम्। (३) बुद्ध्यादिकम्।
(४) इव शब्दोऽत्र वाक्यालंकारे। (५) निस्स्वभावम्।

इस व्याख्या में अर्थके लिये 'इव' पद का कोई उपयोग नहीं माना है' परन्तु किसी सांख्याचार्य ने दृश्य जगत् को सर्वथा तुच्छ अथवा निस्स्वभाव स्वीकार नहीं किया। नश्वर या परिणामी अवश्य माना है। इसप्रकार 'इव' या 'एव' के पाठ में अथवा इसके अपाठ में भी अर्थ एक ही करना होगा—दृश्य जगत् की नश्वरता, या परिणामशीलता। ऐसी स्थिति में वाचस्पति मिश्र के दोनों स्थलों के लेखों का सामंजस्य देखते हुए, यह परिणाम स्पष्ट होता है, कि वार्षगण्य की रचना का नाम 'षष्टितन्त्र' जानाजातारहा है। उक्त पद्य उसी रचना का है; वार्षगण्य ने कहीं अन्यत्र से इसे स्वीकार नहीं किया।

यह भी ध्यान देने की बात है, कि भामतीपाठ के अतिरिक्त अन्यत्र केवल 'इव' घटित पाठ है, जो मूल लेखक द्वारा निर्दिष्ट वास्तविक पाठ है।

व्यास का 'शास्त्रानुशासनम्' पद, उसका अर्थ—

इस सम्बन्ध में एक विचार है—व्यासभाष्य और तत्त्ववैशारदी के उक्त स्थल के लेखों को मिलाकर देखने से स्पष्ट होता है—यहाँ षष्टितन्त्र ग्रन्थ के नामका उल्लेख नहीं है। भामती के लेख में केवल 'वार्षगण्य' व्यक्ति का नाम है, उसे 'योगशास्त्र-व्युत्पादयिता' बताया है; 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ का नाम वहाँ भी नहीं

(वह विषय प्रथम संस्करण की टिप्पणी में अन्यथा मुद्रित होगया था)। षष्टितन्त्र-रचना का काल महाभारत से पर्याप्त प्राचीन है। उस समय तक इस शास्त्र के लिये 'षष्टितन्त्र' व 'सांख्य' दोनों पदों का प्रयोग, प्रयोक्ता की इच्छानुसार समानरूप से होता था। महाभारत से पर्याप्त अनन्तर काल में भी विद्वानों ने 'षष्टितन्त्र' पद का प्रयोग बहुशः किया है। इसीप्रकार योगसूत्र भाष्यकार व्यास के 'शास्त्र' पद प्रयोग का अभिप्राय वाचस्पति मिश्र ने 'षष्टितन्त्र-शास्त्र' लिखकर स्पष्ट किया। इसका आधार उस काल तक प्रचलित परम्परा को कहाजासकता है।

वस्तुतः गम्भीरता से विचारने पर ज्ञात होता है, 'षष्टितन्त्र' और 'सांख्य' दोनों नाम प्राचीन हैं। अध्यातममार्ग के उपयोगी साठ पदार्थों का निरूपण करने से 'षष्टितन्त्र' तथा प्रकृति एवं प्राकृतिक कुल चौबीस तत्त्वों अर्थात् आधिभौतिक तत्त्वों एवं पुरुष के भेद-ज्ञानोपायों का प्रतिपादन करने से इसका नाम 'सांख्य' है। लेखक की रुचि एवं प्रसंग के अनुसार इन दोनों पदों में से किसी पद का प्रयोग कियेजाने में कोई असामंजस्य नहीं है।

दियागया। इन निर्देशों को लक्ष्य कर विद्वानों का ध्यान उस 'शास्त्र' पद की ओर आकृष्ट करना अभीष्ट है, जहाँ व्यासभाष्य में 'तथा च शास्त्रानुशासनम्' लिखकर 'गुणानां परमं रूपम्' इत्यादि पद्य का अवतरण किया है।

व्यास का अभिप्राय किसी ग्रन्थ विशेष का निर्देश करना प्रतीत नहीं होता। यद्यपि पद्य किसी ग्रन्थ का ही संभव है, पर व्यास ने उस ग्रन्थ विशेष का निर्देश न कर सामान्यरूप से 'शास्त्र' पदका प्रयोग करदिया है। जिस शास्त्र पर वह ग्रन्थ लिखागया होगा। संभवतः इसीलिये वाचस्पति मिश्र ने इन पदों की व्याख्या करते हुए तत्त्ववैशारदी में 'शास्त्र' पद को उसीप्रकार रखकर उसके पहले उस शास्त्र का नाम जोड़ दिया है। वाचस्पति का लेख है—

'षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः।'

अर्थात् षष्टितन्त्र शास्त्र का यह अनुशासन-कथन है। इससे स्पष्ट होता है, वाचस्पति मिश्र, षष्टितन्त्र 'शास्त्र' (सामान्यशास्त्र) की ओर निर्देश कररहा है, 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ विशेष की ओर नहीं। अभिप्राय है, व्यास के पर्याप्त पहले 'षष्टितन्त्र' पद एक शास्त्र विशेष [दार्शनिक सिद्धान्तों की एक व्यवस्थित धारा–A Particular School of Systematic Philosophical Doctrines] के लिये साधारण व्यवहार में आने लगा था। यद्यपि सबसे प्रथम 'षष्टितन्त्र' सांख्यसिद्धान्त का मूल ग्रन्थ था; सांख्य का आदि प्रवर्तक महर्षि कपिल उसका रचयिता था। अनन्तर पर्याप्त काल तक जो ग्रन्थ उस विषय पर लिखेजाते रहे, उनके लिये भी षष्टितन्त्र पद का व्यवहार या प्रयोग होतारहा। आज भी संस्कृत साहित्य में यह परम्परा बराबर चालू है। किसी वर्तमान या अतीत आचार्य की रचना को, उस विषय के मूलग्रन्थ अथवा मूल लेखक के नाम पर प्रायः लिखते व व्यवहार करते रहते हैं। सांख्य-योग समानशास्त्र मानेजाते हैं। यदि उनमें परस्पर कहीं सांख्य के लिये योग, अथवा योग के लिये सांख्य पद का व्यवहार होजाय, तो कोई आश्चर्य नहीं है। इसलिये वार्षगण्य ने जब इस पद्य (गुणानां परमं रूपं-इत्यादि) को लिखा था, उससे पहले 'षष्टितन्त्र' की रचना होचुकी थी, और वह तद्विषयक सिद्धान्तों के लिये साधारणरूप से व्यवहार में आने लगा था। यह निश्चित है, पातंजल योगशास्त्र की रचना षष्टितन्त्र (अथवा सांख्यशास्त्र) की रचना के अनन्तर हुई। वाचस्पति मिश्र ने इसीलिये वार्षगण्य को भामती में 'योगशास्त्रं व्युत्पादयिता' लिखा है। वार्षगण्य ने योगशास्त्र पर कोई व्याख्याग्रन्थ अथवा विवरण ग्रन्थ लिखा।

सृष्टिप्रक्रिया के विषय में कापिल तन्त्र के सिद्धान्तों को पतंजलि ने अपनी रचना योगदर्शन में पूर्णरूप से स्वीकार किया है। योगशास्त्र पर वार्षगण्य द्वारा लिखे गये व्याख्याग्रन्थ में वार्षगण्य के अपने चिन्तित स्वतन्त्र विचारों का आना स्वाभाविक है। जैसे-उसने आदि सर्ग में प्रधान की प्रवृत्ति के लिये किसी चेतन

की प्रेरणा का होना स्वीकार नहीं किया[1]। अन्य भी कतिपय विचार उसके स्वतन्त्र चिन्तन के परिणाम कहेजासकते हैं; जिनमें करणों की गणना[2] आदि हैं। उन्हींमें दृष्टिगोचर जगत् का माया के समान अस्तित्व मानाजाना अथवा माया रूप मानाजाना है। पहले विचार में दृष्टिगोचर गुणतत्त्व प्रत्यक्ष अनुभव का विषय होते हुए नश्वर-सद्य:विनाशशील कहाजासकता है। द्वितीय विचार 'एव' घटित पाठ में विषय का केवल आभास होता है, न उसकी वस्तुसत्ता स्वीकार्य है, न प्रत्यक्ष अनुभव। यह पक्ष सांख्याचार्यों की परम्परा या पंक्ति में मान्य हो, ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता। वार्षगण्य भी उसी परम्परा व पंक्ति में आसीन है। अत: सांख्यदृष्टि से 'मायैव' प्रमाद पाठ है, ऐसा समझना प्रामाणिक है।

फलत: वार्षगण्य ने पातंजल योग के सिद्धान्तों पर अपना ग्रन्थ लिखा हो, अथवा कापिल सांख्यसिद्धान्तों पर; किसी भी अवस्था में वह उस विषय के मूलग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' का रचयिता न था। वह केवल उसके व्याख्याग्रन्थ का लेखक था। ऐसी स्थिति में वाचस्पति मिश्र के लेखों के आधार पर जिन विद्वानों ने यह समझा है, कि वार्षगण्य मूल 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ का रचयिता था, वह संगत व युक्तियुक्त नहीं है।

वाचस्पति ने पातंजल योगसूत्र [१।२५] की तत्त्ववैशारदी में तथा वेदान्तसूत्र [२।१।१] की भामती में 'तन्त्र' अथवा 'षष्टितन्त्र' का रचयिता कपिल को स्वीकार किया है। उस जैसा विद्वान् इतनी स्थूल भ्रान्ति नहीं कर सकता था, कि उसी ग्रन्थ का रचयिता वार्षगण्य को लिख दे। वाचस्पति के लेख की वास्तविकता को समझना चाहिये। उसने व्यासभाष्य के 'शास्त्र' पद का 'षष्टितन्त्र-शास्त्र' विवरण लिखकर अपनी स्पष्टता को पूरा निभाया है। उसका अभिप्राय यदि ग्रन्थ का नाम निर्देश करने का होता, तो वह 'षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टि:' के स्थान पर केवल 'षष्टितन्त्रस्यानुशिष्टि:' लिखसकता था। जिससे किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश न रहे। परन्तु 'षष्टितन्त्र' के साथ 'शास्त्र' पद रखकर उसने यह स्पष्ट किया, कि उक्त सन्दर्भ मूल षष्टितन्त्र ग्रन्थ का नहीं, प्रत्युत तद्विषयक शास्त्र का है। वह षष्टितन्त्र के विषयों को लक्ष्यकर कीगई रचना वार्षगण्य की होसकती है; जिसका श्लोक भामती में उद्धृत

---

१. प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणाऽपरिगृह्यमाणा आदिसर्ग वर्त्तते। [युक्तिदीपिका, १९]

२. करणानां महती स्वाभावातिवृत्तिः प्रधानात् स्वल्पा च स्वतः। [युक्तिदीपिका २२] करणं···एकादशविधमिति वार्षगणाः। [युक्तिदीपिका, ३२, अवतरणिका]

कियागया है। यह विशेष ध्यान देने की बात है, वाचस्पति ने वहाँ उक्त श्लोक के साथ वार्षगण्य का नाम लिखा है, ग्रन्थ का नाम नहीं। तत्त्ववैशारदी में भी ग्रन्थ का नाम नहीं है। इससे स्पष्ट होता है, वाचस्पति मिश्र वार्षगण्य को मूल 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ का रचयिता नहीं समझता। वस्तुतः आधुनिक कतिपय विद्वानों ने तत्त्ववैशारदी के 'शास्त्र' पद-प्रयोग की ओर उपयुक्त ध्यान न देकर एक भ्रान्तिमूलक धारणा को उभार लिया है, जिसमें वाचस्पति मिश्र का किसीतरह का कोई स्वारस्य नहीं है।

वार्षगण्य, मूल षष्टितन्त्र का रचयिता इसलिये भी नहीं कहाजासकता, क्योंकि उससे पर्याप्त पूर्ववर्ती पञ्चशिख ने अपने एक[1] सूत्र में 'तन्त्र' अथवा 'षष्टितन्त्र' का प्रवक्ता कपिल लिखा है। सूत्र में 'परमर्षि' पद है, जो कपिल के लिये प्रयुक्त हुआ निर्धारित कियागया है। इससे सिद्ध है—वार्षगण्य से पर्याप्त पहले मूल षष्टितन्त्र की रचना होचुकी थी।

पातंजलयोगसूत्र [३।१३] के व्यासभाष्य में 'गुणानां परमं रूपम्' इत्यादि पद्य को यद्यपि शास्त्र के नाम से लिखा है, और वाचस्पति मिश्र ने उसको 'षष्टितन्त्रशास्त्र' का बताया है, षष्टितन्त्र ग्रन्थ का नहीं। परन्तु इसीप्रकार का पद्य वाक्यपदीय (प्रथम काण्ड, श्लोक ८) में उद्धृत मिलता है। पद्य है—

इदं फेनो न कश्चिद्वा बुद्बुदो वा न कश्चन।
मायैषा बत दुष्पारा विपश्चिदिति पश्यति॥
अन्धो मणिमविन्दत् तमनङ्गुलिरावयत्।
तमग्रीवः प्रत्यमुञ्चत् तमजिह्वोऽभ्यपूजयत्॥

वाक्यपदीय का व्याख्याकार वृषभदेव इन पद्यों के सम्बन्ध में लिखता है—
'इदं फेन इति-षष्टितन्त्रग्रन्थश्चायं यावदभ्यपूजयदिति।
दृश्यमानस्य तुच्छतामाह—फेन इति वस्तुसद्भावमात्रं कथितम्।
परमार्थतो निष्पन्नं तदपि नास्तीत्याह।'

व्याख्याकार का लेख स्पष्ट करता है—ये पद्य षष्टितन्त्र ग्रन्थ के हैं। हमारी धारणा है, इनमें प्रथम श्लोक वार्षगण्य का होना संभव है। दोनों ['इदं फेन' इत्यादि तथा 'गुणानां परमं' इत्यादि] श्लोकों की समानता के आधार पर यदि इस विचार को ठीक मानलियाजाय, तो यह परिणाम स्पष्ट है, कि वार्षगण्य का ग्रन्थ भी 'षष्टितन्त्र' नाम से प्रसिद्ध था। ऐसा मानने पर इस निश्चय में कोई बाधा नहीं, कि मूल षष्टितन्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों को लक्ष्य कर

---

१. 'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।' इस सूत्र का प्रयोग प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेकत्र हुआ है।

वार्षगण्य ने अपने ग्रन्थ की रचना की। इसीलिये वह ग्रन्थ उसी नामसे व्यवहृत होता रहा। रचयिता ने स्वयं इसी नाम का व्यवहार प्रारम्भ किया हो, यह भी संभव है।

वार्षगण्य सांख्य-सम्प्रदाय का एक मुख्य आचार्य है। इसने कतिपय मूलभूत कापिल सांख्यसिद्धान्तों के सम्बन्ध में अपना विचारभेद स्पष्ट प्रकट किया है। क्रमानुसार उन मतों का प्रस्तुत ग्रन्थ के सप्तम प्रकरण में तथा प्रसंगवश अन्यत्र भी उल्लेख किया है। फलतः मूल षष्टितन्त्र का रचयिता कपिल को मानाजाना पूर्णतः प्रामाणिक है।

यह भी ध्यान देने योग्य है—वाक्यपदीय में उद्धृत इन श्लोकों में से दूसरा श्लोक तैत्तिरीय आरण्यक [१। ११। ५] में उपलब्ध है। परन्तु वृषभदेव के कथनानुसार यह श्लोक षष्टितन्त्र ग्रन्थ का होना चाहिये। पाश्चात्य विचार पद्धति के अनुसार भले ही यह कहाजाय, कि वार्षगण्य, तैत्तिरीय आरण्यककार से अर्वाचीन होना चाहिये; क्योंकि सूत्रकाल, वैदिककाल के अनन्तर आता है। पर इसका कोई स्वतन्त्र निश्चायक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, और न इसप्रकार का कालविभाजन प्रामाणिक है। ऐसी स्थिति में उक्त श्लोक का मूलस्थान षष्टितन्त्र है, या आरण्यक ? यह निश्चित करना कठिन है। पर इतना निश्चय है, कि वृषभदेव के कथनानुसार इन दोनों श्लोकों को वाक्यपदीय में षष्टितन्त्र से उद्धृत कियागया है; जो वार्षगण्य की रचना है। तैत्तिरीय शाखा का प्रादुर्भाव महाभारत युद्धकाल के आस-पास हुआ है। वार्षगण्य निश्चितरूप से इस काल की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन है। अतः इस विषय में वृषभदेव का कथन पूर्ण प्रामाणिक है, तैत्तिरीय आरण्यक में उक्त श्लोक वार्षगण्य-ग्रन्थ से लिया जाना सम्भव है।

वार्षगण्य की रचना षष्टितन्त्र, ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति का आधार नहीं कहाजासकता। सांख्यसम्प्रदाय अथवा सांख्यपरम्परा में वार्षगण्य सांख्य के एक अवान्तर सम्प्रदाय का मुख्य आचार्य है। रुद्रिल विन्ध्यवासी उसी सम्प्रदाय का आचार्य हुआ है। अनेक सांख्यसिद्धान्तों में दोनों की समान मान्यता उनके उपलब्ध सन्दर्भों के आधार पर निश्चित है। परन्तु उन्हीं सिद्धान्तों के विषय में ईश्वरकृष्ण का उनसे स्पष्ट मतभेद है। इतने स्पष्ट विरोध के रहते सांख्यकारिका का आधार वार्षगण्य की रचना नहीं कहाजासकता। इन मतभेदों का उल्लेख इसी ग्रन्थ के सप्तम अध्याय में किया है।

मूल आचार्य अथवा मूलशास्त्र के नाम पर, अन्य रचना का उल्लेख—

कतिपय ऐसे प्रमाण यहाँ देना उपयुक्त होगा, जिनसे पाठकों को यह निश्चय होसके, कि अन्य आचार्यों की रचनाओं को उस विषय के मूलग्रन्थ अथवा मूल लेखक के नाम पर उद्धृत कियाजातारहा है।

(१) बृहत्संहिता के व्याख्याकार भट्टोत्पल ने अपनी व्याख्या में ईश्वरकृष्ण की २२ से ३० तक की नौ कारिकाओं को–आरम्भ में 'तथा च कपिलाचार्यः' कहकर–उद्धृत किया है। निश्चित है–ये कारिका ईश्वरकृष्ण-रचित हैं, कपिल-रचित नहीं। परन्तु इस विचार से–कि उन कारिकाओं में कापिल सिद्धान्तों का निरूपण है–सांख्य के मूल लेखक कपिलाचार्य के नाम से उनको उद्धृत कर दिया है।

(२) सांख्यसप्तति की जयमंगला नामक व्याख्या में २३वीं आर्या की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने लिखा है—

"यथोक्तं सांख्यप्रवचने–[1] 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।" शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि' इति नियमाः।"

यम और नियमों का निर्देश करनेवाले ये दोनों सूत्र पात्ञ्जल योगदर्शन [२।३०, ३२] के हैं। परन्तु इनको जयमंगला के रचयिता ने 'सांख्यप्रवचन' के नाम पर उद्धृत किया है; जिसका आधार सांख्ययोग की समानशास्त्रता–अथवा सांख्य के सृष्टिविषयक मौलिक सिद्धान्तों को स्वीकार कर प्रकृति-पुरुष के साक्षात्कार का व्याख्यान या प्रवचन कियाजाना–कहाजासकता है। योग का 'सांख्यप्रवचन' यह अपर नाम सांख्य के आंशिक विषय प्रकृति-पुरुषख्याति की प्रक्रियाओं का विवेचन व प्रवचन किये जाने के आधार पर निर्णय कियागया प्रतीत होता है।

(३) मनुस्मृति[2] की मेधातिथिकृत व्याख्या में कौटलीय अर्थशास्त्र के कुछ वचन समानतन्त्र कहकर उद्धृत कियेगये हैं। इन दोनों ग्रन्थों की समानतन्त्रता का आधार यह कहाजासकता है, कि कौटलीय अर्थशास्त्र राजनीति का ग्रन्थ है, मनुस्मृति के जिस अध्याय (सप्तम) में अर्थशास्त्र के वचन उद्धृत हैं, उसमें राजनीति का वर्णन है। इतनी समानता पर मेधातिथि, कौटलीय अर्थशास्त्र को

---

१. योग का अपर नाम 'सांख्यप्रवचन' है। देखें–सर्वदर्शनसंग्रह का सांख्य-प्रकरण॥ उदयनकृत न्याकुसुमाञ्जलि का 'अनुशिष्यते च सांख्यप्रवचने ईश्वरप्रणिधानम्' [५।१०]–यह लेख भी पातञ्जल योगदर्शन के 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' [१।२३] सूत्र का स्मरण कराता है।

२. मनुस्मृति ७।१९१ पर मेधातिथि लिखता है–"समानतन्त्रेणोक्तम्–'द्वे शते धनुषां गत्वा राजा तिष्ठेत् प्रतिग्रहे। भिन्नसंघातनार्थं तु न युध्येताप्रतिग्रहः॥" इसकी तुलना कीजिये–कौटलीय अर्थशास्त्र, अधि० १०, अ० ५, सूत्र ६४॥ [यह सूत्रसंख्या इसी ग्रन्थकार के द्वारा अनुवादित तथा लाहौर से १९२६ ईसवी में प्रकाशित 'कौटलीय अर्थशास्त्र' के अनुसार दीगई है]। और देखें–मनुस्मृति, मेधातिथि व्याख्या, अ० ७, श्लो० २०५॥ की तुलना करें–कौटलीय अर्थशास्त्र, अधि० ६, अध्या० २, सू० ७॥

राजनीति का समानतन्त्र समझता है। सांख्य-योग तो इतने अधिक समान हैं, कि उनको एक कहना भी अनुचित न होगा। ऐसी स्थिति में वार्षगण्य के योग-विषयक ग्रन्थ के सन्दर्भ को 'षष्टितन्त्र' के नाम पर उद्धृत करना वाचस्पति के लिये असमंजस नहीं कहाजासकता।

(४) 'सन्मतितर्क' नामक जैनग्रन्थ में एक उद्धरण है—

"तत्र भगवता पतञ्जलिनाऽप्युक्तम्—'भोगाभ्यासमनुवर्धन्ते[1] रागाः, कौशलानि चेन्द्रियाणाम्' इति। [पृ० १५३। पं० १८],

सन्मतितर्क व्याख्या[2] के रचयिता आचार्य अभयदेव सूरि ने पतंजलि के नाम पर जिन वाक्यों को उद्धृत किया है, वे पतंजलि के ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हैं। प्रत्युत पातंजल योगसूत्र [२। १५] के व्यासभाष्य में ठीक उसी आनुपूर्वी के साथ उपलब्ध हैं। स्पष्ट है, व्यास के वाक्यों को—उस दर्शन के मूल आचार्य—पञ्तजलि के नाम पर उद्धृत करदियागया है।

(५) मलयगिरि सूरिकृत 'धर्मसंग्रहणीवृत्ति' नामक जैनग्रन्थ के १०७ पृष्ठ पर एक सन्दर्भ इसप्रकार उद्धृत है—

"यथाह पाणिनिः—'द्विवचनं बहुवचनेन' इति।"

यह उक्ति पाणिनीय व्याकरण में कहीं नहीं है। केवल 'अस्मद्' पद के द्विवचन की जगह बहुवचन का प्रयोग कियेजाने का नियम [१। २। ५९ में] उपलब्ध होता है। सूत्र है—'अस्मदो द्वयोश्च'। परन्तु मलयगिरि सूरि ने जिस प्राकृत नियम का संस्कृत-रूपान्तर कर पाणिनि के नाम से उल्लेख किया है, वह पद्यमय सूत्र 'ललितविस्तरा-चैत्यवन्दनवृत्ति' नामक जैनग्रन्थ के १२ पृष्ठ पर 'उक्तं च' कहकर निम्न प्रकार उद्धृत हुआ उपलब्ध होता है—

बहुवयणेण दुवयणं छट्ठिविभत्तीए भण्णइ चउत्थी।
जह इत्था तह पाया नमोऽत्थु देवाहिदेवाणं॥

इस आर्या के प्रथम चरण को संस्कृतरूपान्तर कर मलयगिरि सूरि ने पाणिनि के नाम से उद्धृत करदिया है। इसका कारण यही कहाजासकता है, कि पाणिनि वर्त्तमान व्याकरण का उपज्ञ है। इसलिये अन्य आचार्य के कहे व्याकरण-सम्बन्धी किसी नियम को पाणिनि के नाम पर उद्धृत कियाजाना अनौचित्य का द्योतक नहीं है। इसके अतिरिक्त उक्त सूत्र का पदविपर्यय के साथ 'आवश्यकसूत्र हारिभद्रवृत्तियुत' नामक जैनग्रन्थ के ११ पृष्ठ पर 'दुव्वयणे बहुवयणं' रूप में निर्देश उपलब्ध होता है।

---

१. योगसूत्र [२। १५] व्यासभाष्य में 'अनुविवर्धन्ते' पाठ है।
२. 'सन्मतितर्क' नामक जैनग्रन्थ की अभयदेव सूरि कृत व्याख्या के २७२ पृष्ठ की ८ संख्यागत टिप्पणी के आधार पर।

(६) हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय[1] की गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या के सांख्यमत प्रकरण में एक लेख इसप्रकार है—

आह च पतञ्जलिः—'शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते' इति।"

इस आनुपूर्वी का लेख पतञ्जलि के ग्रन्थ में कहीं उपलब्ध नहीं है। पतञ्जलि के योगसूत्र—'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' [२।२०] पर व्यासभाष्य में यह सन्दर्भ—इसी आनुपूर्वी के साथ—उपलब्ध होता है। व्यासभाष्य का पाठ इसप्रकार है—

"शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यः—यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते।"

इन पाठों की तुलना से स्पष्ट होजाता है—गुणरत्नसूरि ने भाष्यकार व्यास के सन्दर्भ को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है; पर उसको भाष्य के नाम पर न लिखकर उस दर्शन के मूल आचार्य पतञ्जलि के नामपर लिखा है।

वाचस्पति मिश्र के वार्षगण्य सम्बन्धी लेख को इसी रीति पर समझाजा-सकता है। वार्षगण्य ने सांख्य-योग शास्त्र पर किसी ग्रन्थ का निर्माण किया। योग और सांख्य क्योंकि समानशास्त्र हैं, इसलिये वाचस्पति ने मूलग्रन्थ षष्टितन्त्र के नाम पर उस शास्त्र का निर्देश करदिया, जिस शास्त्र-विषय पर वार्षगण्य ने अपना ग्रन्थ लिखा। आज भी हम गौतम के न्यायसूत्रों पर अथवा पाणिनि के व्याकरणसूत्रों पर लिखे ग्रन्थों को गौतमीय न्यायशास्त्र या पाणिनीय व्याकरण शास्त्र के नाम से व्यवहार करते रहते हैं।

वार्षगण्य के सम्बन्ध में अन्य विचार—

वार्षगण्य के सम्बन्ध में उपलब्ध कुछ नई सामग्री के आधार पर ऐसा सन्देह अभिव्यक्त कियागया है, कि क्या यह कोई पृथक् आचार्य था? या पञ्चशिख का ही दूसरा नाम वार्षगण्य था? संभव है, एक ही व्यक्ति के इन दोनों नामों में से एक पञ्चशिख सांस्कारिक नाम हो, और दूसरा वार्षगण्य गोत्रनाम हो। इनकी एकता का सन्देह उत्पन्न करनेवाले प्रमाण निम्नप्रकार संकलित हैं—

(१) योगसूत्र [३।१३] पर भाष्य करते हुए आचार्य व्यास ने लिखा है—

"उक्तंच—'रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते'।"

इस पर व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखता है—

"अत्रैव पञ्चशिखाचार्यसम्मतिमाह—'उक्तं च' इति।"

---

१. एशियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ता का १९०५ ईसवी सन् का संस्करण, पृष्ठ १०५॥

इससे स्पष्ट प्रमाणित है—व्यासभाष्य में उद्धृत सन्दर्भ वाचस्पति मिश्र के विचार से आचार्य पञ्चशिख का है। परन्तु सांख्यसप्तति की १३वीं आर्या की युक्तिदीपिका व्याख्या में व्याख्याकार ने लिखा है—

'तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति—'रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्त्तन्ते'।"

युक्तिदीपिकाकार के लेख से स्पष्ट है—वह उक्त सन्दर्भ को भगवान् वार्षगण्य की रचना समझता है। यद्यपि इन दोनों स्थलों पर उद्धृत सन्दर्भ के पाठ में थोड़ासा अन्तर है। युक्तिदीपिका में 'परस्परेण' पद नहीं है; तथा 'प्रवर्त्तन्ते' क्रियापद के स्थान पर केवल 'वर्त्तन्ते' पद है। परन्तु यह साधारण-सा पाठभेद रचयिता के भेद का प्रबल प्रमाण नहीं कहाजासकता। सन्दर्भ की शेष आनुपूर्वी में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। नागोजी भट्ट ने योगसूत्रवृत्ति में युक्तिदीपिकाकार के अनुसार पाठ दिया है, और इस सन्दर्भ को पञ्चशिख का बताया है। वहाँ पाठ है—

"तदुक्तं पञ्चशिखाचार्यैः—रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते' इति।"

केवल अन्तिम क्रियापद का पाठ व्यासभाष्य के पाठ से मिलता है। इसलिये दोनों स्थलों पर एक ही सन्दर्भ को उद्धृत मानने में कोई बाधा नहीं रहजाती।

यद्यपि सन्देह कियाजासकता है, कि वार्षगण्य ने अपने ग्रन्थ में पञ्चशिख के सूत्र का उद्धरण किया हो, और वहाँ से युक्तिदीपिकाकार ने लेकर वार्षगण्य के नाम पर उल्लिखित करदिया हो। वार्षगण्य सूत्र का पञ्चशिख के द्वारा उद्धृत कियाजाना संभव नहीं; क्योंकि पञ्चशिख वार्षगण्य से पर्याप्त प्राचीन आचार्य है। पञ्चशिख, कपिल का साक्षात् प्रशिष्य था। परन्तु इस बात का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं, कि वार्षगण्य ने पञ्चशिख के ग्रन्थ से अपनी रचना में उक्त सूत्र का उद्धरण किया हो। युक्तिदीपिकाकार जैसे सतर्क विद्वान् के सम्बन्ध में ऐसा सन्देह करना उचित न होगा, कि उसने वार्षगण्य के ग्रन्थ में उद्धृत वाक्य को वार्षगण्य की रचना के रूप में यहाँ लिखदिया हो।

(२) संभव है, ये दोनों नाम एक व्यक्ति के हों। इसके लिये एक उपोद्बलक प्रमाण यह होसकता है। योगदर्शन समाधिपादके चौथेसूत्र का भाष्य करते हुए आचार्य व्यास ने लिखा है—

'तथा च सूत्रम्—'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' इति।"

इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र तत्त्ववैशारदी में लिखता है—

एतच्च मतान्तरेऽपि सिद्धमित्याह—'तथा च' इति। पञ्चशिखाचार्यस्य सूत्रम्—'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' इति।"

वाचस्पति मिश्र के लेख से स्पष्ट है—वह इस सूत्र को पञ्चशिख की रचना मानता है। इसी सूत्र को युक्तिदीपिका व्याख्या में पाँचवीं आर्या की व्याख्या करते हुए ४१वें पृष्ठ की २५, २६ पंक्तियों में दीपिकाकार ने इसप्रकार लिखा है—

"तेन यच्छास्त्रम्—'एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्' इति तद्धीयते।

युक्तिदीपिकाकार ने उक्त सूत्र को 'शास्त्रम्' कहकर उद्धृत किया है। 'शास्त्रम्' कहकर अन्य अनेक उद्धरण युक्तिदीपिकाकार ने अपनी व्याख्या में दिये हैं। इन दोनों स्थलों के उद्धरणों की परस्पर संगति से परिणाम स्पष्ट होता है, कि संभवतः जितने उद्धरण 'शास्त्रम्' के नाम से युक्तिदीपिका में उद्धृत हैं, वे सब पञ्चशिख के हों।

यहाँ पर पुनः पाठकों का ध्यान योगदर्शन व्यासभाष्य के 'गुणानां परमं रूपम्' उद्धरण की ओर आकृष्ट करना अभीष्ट है। आचार्य व्यास ने वहाँ इस उद्धरण को 'शास्त्र' नाम से उद्धृत किया है। वहाँ का पाठ है—'तथा च शास्त्रा-नुशासनम्[1]।' उद्धरणों के अवतरण की इस समानता के आधार पर हम इस परिणाम तक पहुँचते हैं, कि इन दोनों स्थलों पर 'शास्त्र' पद का तात्पर्य एक ही होना चाहिये। इससे 'गुणानां परमं रूपं' यह उद्धरण भी पञ्चशिख की रचना कहाजासकेगा।

(३) 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' [२।१।३] ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य की भामती में इसी 'गुणानां परमं रूपं' उद्धरण को वार्षगण्य के नाम से उद्धृत किया है। उपर्युक्त लेखों के साथ संगत होकर वाचस्पति मिश्र का यह लेख पञ्चशिख और वार्षगण्य के एक होने की ओर आकृष्ट करता है। इस सब लेख का सार निम्नलिखित तीन युक्तियों में आजाता है—

(क) एक ही सन्दर्भ, पञ्चशिख और वार्षगण्य दोनों के नाम से उद्धृत है।

(ख) एक ही उद्धरण, पञ्चशिख और शास्त्र के नाम से उद्धृत है।

(ग) एक ही उद्धरण, शास्त्र और वार्षगण्य के नाम से उद्धृत है।

इस सबका स्पष्ट परिणाम यह निकल आता है, कि पञ्चशिख, वार्षगण्य और शास्त्र इन तीनों पदों का प्रयोग, एक ही व्यक्ति या उसकी रचना के लिये कियागया है। इनमें से पञ्चशिख और वार्षगण्य नाम उस व्यक्ति के हैं, और उसके बनाये ग्रन्थ के लिये 'शास्त्र' पद का प्रयोग कियागया है। सांख्याचार्यों की नामसूची[2] में एक स्थल पर पञ्चशिख और वार्षगण्य का पृथक् उल्लेख पाया

---

१. योगदर्शन, व्यासभाष्य ४।१३ में वाचस्पति मिश्र ने 'शास्त्र' पद से 'षष्टि-तन्त्रशास्त्र' ग्रहण किया है। इस सम्बन्ध में पहले स्पष्ट करदियागया है, कि कपिलरचित मूलग्रन्थ-षष्टितन्त्र पर पञ्चशिख आदि आचार्यों के व्याख्या ग्रन्थ भी षष्टितन्त्र नाम से व्यवहार में आते थे।

२. युक्तिदीपिका, [सांख्यकारिका व्याख्या] पृष्ठ १७५ पं०, १५, १६॥

जाता है। पर वहाँ का पाठ खण्डित एवं सन्दिग्ध है। अथवा पृथक् नामोल्लेख का कारण भ्रम प्रमाद आदि होसकता है।

यद्यपि निश्चित रूप से अभी इस बात को नहीं कहाजासकता, कि पञ्चशिख और वार्षगण्य ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। फिर भी हमारे सामने ये दो विकल्प अवश्य उपस्थित होते हैं—

(अ) या तो उपर्युक्त आधारों पर पञ्चशिख और वार्षगण्य, दोनों नाम एक व्यक्ति के माने जाएँ।

(इ) अथवा वाचस्पति मिश्र और युक्तिदीपिकाकार, दोनों में से किसी एक के लेख को अज्ञानमूलक तथा असंगत मानाजाय।

इस सम्बन्ध में हमारी धारणा है–पञ्चशिख और वार्षगण्य दोनों आचार्य सर्वथा भिन्न हैं। पञ्चशिख अत्यन्त प्राचीन आचार्य है, और वार्षगण्य उससे पर्याप्त पश्चाद्वर्त्ती आचार्य। वार्षगण्य का समय, महाभारत युद्ध काल से निश्चित पूर्व है।[1] तथा पञ्चशिख उससे भी पूर्ववर्त्ती आचार्य है।

युक्तिदीपिका में प्रदर्शित, सांख्याचार्यों की नाम-सूची में पञ्चशिख और वार्षगण्य का पृथक् उल्लेख, भ्रान्तिमूलक नहीं, प्रत्युत उनके भेद का निश्चायक है। उस प्रसंग में जो पाठ खण्डित नहीं, उसमें कोई सन्देह क्यों कियाजाय? इसके अतिरिक्त संख्या एक में जो आपत्ति कीगई है, कि एक ही सूत्र को, युक्तिदीपिकाकार ने वार्षगण्य का और वाचस्पति ने पञ्चशिख का बताया है, इन परस्पर विरुद्ध लेखों का समाधान कियाजासकता है।

वह सूत्र मुख्यतः पञ्चशिख की रचना है। वार्षगण्य ने अपने ग्रन्थ में उस सूत्र को अपना लिया। अर्थात् अपनी रचना में उसी रूप से स्वीकार कर लिया। यह नहीं, कि उसको उद्धृत किया। अनन्तर युक्तिदीपिकाकार ने वार्षगण्य के ग्रन्थ से अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया। दोनों स्थलों में पठित इस सूत्र का थोड़ा सा पाठभेद, इस विचार का समर्थक कहाजासकता है, कि पञ्चशिख की रचना को कुछ अन्तर के साथ वार्षगण्य ने अपने ग्रन्थ में स्वीकार करलिया। परन्तु व्यासभाष्य में उद्धृत पञ्चशिख की वास्तविक रचना को, परम्पराज्ञान के अनुसार वाचस्पति ने उसीके नाम पर निर्दिष्ट किया। व्यासभाष्य अवश्य वार्षगण्य से पीछे की रचना है। एक वाक्य[2] पर स्वयं भाष्यकार ने वार्षगण्य का नाम दिया है। योगसूत्र [३ । १३] में उद्धृत वाक्य को यदि भाष्यकार, वार्षगण्य की रचना समझता, तो वह उसका नाम देसकता था। एक ही वाक्य पर उसका नाम

---

१. वार्षगण्य से, प्राचीन काल में गन्धर्वराज विश्वावसु ने, जीवात्म-परमात्मतत्त्व का विवेचन सुना था। [म. भा., शान्ति० ३१८ । ५६]।

२. योगदर्शन [३।५३] व्यासभाष्य में।

दियेजाने से यह परिणाम निकलता है, कि अन्य उद्धरण, वार्षगण्य की रचना नहीं हैं, प्रत्युत अन्य किसी आचार्य की है। उस सूत्र के 'परस्परेण' पद और क्रिया के साथ प्रयुक्त 'प्र' उपसर्ग की उपेक्षा करके वार्षगण्य ने पञ्चशिख के सूत्र को अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया, उसीको युक्तिदीपिकाकार ने उद्धृत किया। इसलिये वह वार्षगण्य के नाम पर उद्धृत होना सर्वथा संगत था। यदि एक ही ग्रन्थकार एक सूत्र को, दोनों आचार्यों के नाम पर उद्धृत करता, तो अवश्य सन्देहजनक होता।

संख्या दो में जो आपत्ति उपस्थित कीगई है, उसका समाधान स्पष्ट है। वाचस्पति ने उस सूत्र को पञ्चशिख का बताया है। युक्तिदीपिकाकार उसे 'शास्त्र' के नाम से उद्धृत करता है। इसका स्पष्ट अर्थ है–उसने पञ्चशिख के ग्रन्थ को 'शास्त्र' पद से स्मरण किया है।

इसी आधार पर संख्या तीन की आपत्ति कुछ महत्त्व नहीं रखती। जिसप्रकार एक स्थल पर पञ्चशिख के ग्रन्थ को 'शास्त्र' पद से स्मरण कियागया है, उसी-प्रकार दूसरे स्थल पर वार्षगण्य के ग्रन्थ को 'शास्त्र' पद से स्मरण कियाजासकता है। सांख्य-ग्रन्थ में पञ्चशिख की रचना को 'शास्त्र' और योग-ग्रन्थ में वार्षगण्य की रचना को 'शास्त्र' लिखागया है। इसप्रकार योगसूत्र [४।१३ पर] व्यासभाष्य का वार्षगण्य के ग्रन्थके लिये 'शास्त्र' पद का प्रयोग संगत है। प्रस्तुत तथा अगले प्रकरण में यह स्पष्ट कियागया है, कि 'षष्टितन्त्र' कपिल का मौलिक ग्रन्थ था, परन्तु पञ्चशिख आदि के द्वारा रचित उसके व्याख्या ग्रन्थों को भी, इस नाम से अथवा 'षष्टितन्त्र शास्त्र' नाम से व्यवहृत कियाजातारहा है। क्योंकि प्रथम 'षष्टितन्त्र' एक ग्रन्थ का नाम होते हुए भी, अनन्तर काल में यह सांख्यशास्त्रमात्र के लिये प्रयुक्त होने लगा। इसलिये युक्तिदीपिकाकार और वाचस्पति मिश्र के लेखों में परस्पर कोई विरोध नहीं कहाजासकता। वे सर्वथा संगत एवं युक्तियुक्त हैं।

वार्षगण्य के नाम पर दो उद्धरण और उपलब्ध होते हैं। योगदर्शन व्यासभाष्य [३।५३] में पाठ है—

(क) "अत उक्तम्—'मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्' इति वार्षगण्यः।

सांख्यतत्त्वकौमुदी, वाचस्पति मिश्रकृत। कारिका ४७ पर—

(ख) "अत एव-'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।"

इनमें से पहले उद्धरण के सम्बन्ध में विचारणीय है–सूत्र से पहले उल्लिखित 'अत उक्तम्' पद, और सूत्र के अन्त में कहे हुए 'इति वार्षगण्यः' पद, परस्पर असम्बद्ध हैं। यदि यह मानलियाजाय, कि 'अत उक्तम्' पद व्यास के लिखे हुए हैं, तो आदि और अन्त के पदों के असम्बद्ध होने में कोई सन्देह नहीं रह

जाता। उस स्थिति में इन पदों का अन्वय इसप्रकार किया जासकेगा–'अत: वार्षगण्य: इति उक्तम्'। वाक्य की यह रचना सर्वथा उन्मत्तप्रलाप के समान है। 'उक्तम्' के साथ 'वार्षगण्य:' पद प्रथमान्त नहीं होसकता। 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्था:' [पाणिनीयाष्टक, ३।४।७०] इस पाणिनि नियम के अनुसार 'क्त' प्रत्यय, भाव और कर्म अर्थ में होता है, कर्त्ता में नहीं। अत: प्रत्यय के द्वारा कर्त्ता के अनुक्त होने से 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' [२।३।१८] इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार 'वार्षगण्य' पद के साथ यहाँ तृतीया विभक्ति होनी चाहिये। अर्थात् 'वार्षगण्य:' के स्थान पर 'वार्षगण्येन' यह तृतीयान्त प्रयोग संगत होसकता है। ऐसी स्थिति में इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहजाता, कि 'इति वार्षगण्य:' के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण पाठ को व्यास के द्वारा उद्धृत किया हुआ समझाजाय। इसका अभिप्राय होता है–व्यास ने वार्षगण्य के ग्रन्थ में "अत उक्तम्-मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्" यह पाठ देखा और उसे वहाँ से उसी तरह उद्धृत कर, अन्त में 'इति वार्षगण्य:' पद लिख दिये। इसका परिणाम यह निकलता है, कि उक्त सूत्र वार्षगण्य की अपनी रचना नहीं है, प्रत्युत उसने अपने ग्रन्थ में कहीं से उद्धृत किया, और व्यास ने वार्षगण्य के ग्रन्थ से, उसे उद्धरण के रूप में ही अपने ग्रन्थ में उद्धृत कर, अन्त में 'इति वार्षगण्य:' जोड़ दिया। सम्भव है, व्यास को यह निश्चय न होसका हो, कि यह सूत्र वस्तुत: किस ग्रन्थ का है, इसलिये उसने ऐसा किया हो।

एक और कल्पना कीजासकती है। सम्भव है, व्यास ने अन्त में 'वार्षगण्य:' पद न लिखा हो, 'इति' तक ही उसने अपने वाक्य को समाप्त कर दिया हो। अनन्तर किसी प्रतिलिपि लेखक अथवा अध्येता ने पूर्वापर पदयोजना का विचार न करके, कर्णपरम्परा के आधार पर इसको वार्षगण्य की रचना जान इसके साथ 'वार्षगण्य:' पद जोड़ दिया हो। प्रतिलिपि लेखक, प्राय: अधिक विद्वान् नहीं होते रहे हैं। इस तरह वह पद, मूलपाठ के साथ जुड़ गया, और आज तक उसी अवस्था में चला आरहा है। किसी ने इसकी युक्तता अयुक्तता पर ध्यान नहीं दिया।

यह कल्पना आपातत: अवश्य रमणीय प्रतीत होती है, परन्तु पाठ के सम्बन्ध में इसके लिये कोई आधार हमें आज तक उपलब्ध नहीं हुआ। जितने संस्करण अभी तक व्यासभाष्य के प्रकाशित हुए हैं, उन सब में एक ही पाठ है। तथा 'वार्षगण्य:' पदके, बाद में जोड़े जाने का और भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस कल्पना के ठीक मान लेने पर तो, उक्त सूत्र के वार्षगण्यरचित होने में और सन्देह होजाता है। तब हमारे पास प्रमाण ही क्या रह जायगा, कि यह वार्षगण्य की रचना है। कुछ भी हो, हमारा केवल इतना अभिप्राय है, कि व्यास के

वर्त्तमान पाठ के अनुसार उन पदों का यह अर्थ संदिग्ध होजाता है, कि यह सूत्र वार्षगण्य की रचना है।

परन्तु इसके लिये एक मार्ग सम्भव है, जो युक्त प्रतीत होता है। पंक्ति की योजना वस्तुतः इसप्रकार होनी चाहिये। 'अत उक्तम्' ये पद उद्धरण के अंश नही हैं। क्योंकि ऐसा मान लेने पर प्रकृत में, उद्धृत वाक्य का पूर्वप्रकरण के साथ संगति का निर्देश करने वाला कोई पद नहीं रहजाता। जो ग्रन्थकार उक्त वाक्य को इस प्रसंग में उद्धृत कर रहा है, उस प्रसंग के साथ इस वाक्य के संगति-प्रदर्शन को सूचित करने वाला कोई पद ग्रन्थकार के द्वारा प्रयुक्त हुआ अवश्य होना चाहिये। ऐसे स्थानों पर 'अतः', 'एवञ्च', 'तथा च', 'यथा', 'यत्', 'तत्', इत्यादि पदों का प्रयोग कियाजाता है। इसलिये यहाँ भी 'अत उक्तम्' पद, व्यास के अपने होने चाहियें। पंक्ति का शेष सम्पूर्ण भाग उद्धरण माना जाना चाहिये। उद्धरण का स्वरूप अब यह होगा, अत उक्तम्—"मूर्तिव्यवधि-जातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम् इति वार्षगण्यः" इसका अभिप्राय यह होता है, कि आचार्य व्यास ने इस पंक्ति को वार्षगण्य के नाम से उद्धृत किसी ग्रन्थ में देखा। उसने उक्त उद्धरण को उसी रूप में, 'अत उक्तम्' लिखकर अपने ग्रन्थ में उद्धृत कर दिया। व्यास ने वार्षगण्य के मूल ग्रन्थ को देखकर वहाँ इस पंक्ति को उद्धृत नहीं किया। यद्यपि यह कहाजासकता है, कि उद्धरण के स्वरूप का बोधक 'इति' पद व्यास ने उद्धरण के अन्त में यहाँ नहीं लिखा। परन्तु 'इति' पद का ऐसे स्थलों पर सर्वथा प्रयोग होना ही चाहिये, ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है। यह केवल लेखक की शैली अथवा इच्छा पर निर्भर है। इसप्रकार उक्त उद्धरण का विवेचन करने से यह बात अवश्य प्रकट होजाती है, कि उक्त सूत्र वार्षगण्य की रचना सम्भव है। इन पंक्तियों के आधार पर विद्वान् सदियों से यही समझते चले आरहे हैं। योगसूत्रों पर वृत्ति लिखते हुए नागोजी भट्ट ने इस [३।५३] सूत्र की वृत्ति में लिखा है—

'अत एवोक्तं वार्षगण्येन—[1] मूर्त्तिव्यवधिजात्यादिभ्यो भेदातिरेकेण विशेषस्याभावान्मूलेषु नित्यद्रव्येषु पृथक्त्वं विशेषपदार्थो नास्ति' इति।

यद्यपि नागोजी भट्ट ने 'वार्षगण्य' पद के स्थान पर 'वार्षगण्येन' लिखकर पूर्वापर पदों का समन्वय कर दिया है। पर वस्तुतः 'उक्तम्' और 'वार्षगण्यः' पदों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। भाष्यकार को भी यही अपेक्षित है, जैसाकि पूर्व कहाजाचुका है। विज्ञानभिक्षु[2] भी इस सूत्र को वार्षगण्य का समझता है।

---

१. इस सूत्र का यह अर्थ करने में नागोजी भट्ट ने विज्ञानभिक्षु का अनुकरण किया है, यद्यपि विज्ञानभिक्षु का यह अर्थ चिन्त्य ही है।

२. योगदर्शन, विज्ञानभिक्षुकृत भाष्य, [३।५३ सूत्र पर]

वार्षगण्य का दूसरा उद्धरण इसप्रकार है—

"अत एव-'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः"

[सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० ४७]

'पञ्चपर्वा अविद्या' यह तत्त्वसमास का १२ वां सूत्र है। वाचस्पति के इस लेख से यह परिणाम निकाला जासकता है, कि तत्त्वसमास, वार्षगण्य की रचना हो। परन्तु यह बात सत्य नहीं है, 'तत्त्वसमास' वार्षगण्य के काल से पर्याप्त प्राचीन है और कपिल की रचना है। प्रतीत होता है, वार्षगण्य ने तत्त्वसमास से इस सूत्र को उसी रूप में अपने ग्रन्थ में लेलिया है। वाचस्पति ने वार्षगण्य के ग्रन्थ से इसको यहाँ उद्धृत किया। इसमें सन्देह नहीं, कि सूत्र की इस आनुपूर्वी का मूल आधार तत्त्वसमास है। यह ठीक ऐसी बात है, जैसी अभी पञ्चशिख और वार्षगण्य के एक सूत्र के सम्बन्ध में विवेचन करते समय कही गई है।

सांख्य में विषय-विवेचन के दो मार्ग—

सांख्य का 'षष्टितन्त्र' नाम, आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्वों का विवेचन करने के आधार पर रक्खा गया है। आधिभौतिक तत्त्वों का विवेचन होने के आधार पर इसका 'सांख्यदर्शन' अथवा 'सांख्यप्रवचन' नाम है। आध्यात्मिक दृष्टि से पदार्थों के विवेचन में दश मौलिक अथवा मूलिक अर्थ और पचास प्रत्ययसर्गों की गणना होने के कारण साठ पदार्थ परिगणित होते हैं। उसी आधार पर इस शास्त्र का नाम 'षष्टितन्त्र' है। आधिभौतिक विवेचन में पच्चीस तत्त्वों का प्रतिपादन कियाजाता है, जिनमें चौबीस जड़वर्ग और एक चेतनवर्ग है। जड़वर्ग में एक प्रकृति-मूलकारण और शेष तेईस प्रकृति के कार्य हैं। प्रकृति और पुरुष के विवेक का ज्ञान होजाना 'सांख्य' है। उसीको मोक्ष अथवा अपवर्ग कहाजाता है। ऐसे विवेकज्ञान का इस शास्त्र में प्रवचन होने से इसका नाम सांख्यप्रवचन अथवा 'सांख्यदर्शन' कहाजाता है। इन दोनों नामों का मूल हम पञ्चशिख के प्रथम सूत्र में पाते हैं। 'तन्त्र' और 'प्रोवाच' ये पद, शास्त्र के 'षष्टितन्त्र' और 'सांख्य-प्रवचन' इन नामों की ओर संकेत करते हैं।

'प्रवचन' में अवश्य शास्त्रीय विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन है। उसीका विषयसंक्षेप प्रदर्शन करने के लिये 'तत्त्वसमास' सूत्रों का संकलन किया है। 'प्रवचन' और 'समास' ये दोनों पद परस्परापेक्षी हैं। इससे इनका पारस्परिक सम्बन्ध प्रतीत होता है, जो इन दोनों ग्रन्थों के एक रचयिता को प्रकट करता है। इसप्रकार इन नामों के आधार पर भी यह स्पष्ट ध्वनित होता है, कि षष्टितन्त्रापरनामक सांख्यप्रवचन और तत्त्वसमास का रचयिता एक ही व्यक्ति है। तथा उक्त आधारों पर वह व्यक्ति पञ्चशिख अथवा वार्षगण्य नहीं होसकता। प्रत्युत वह आदिविद्वान् परमर्षि कपिल है।

जैन अथवा जैनेतर साहित्य से इस प्रकरण के प्रारम्भ में जो ऐसे वाक्य उद्धृत किये गये हैं, जिनके द्वारा षष्टितन्त्र अथवा सांख्यशास्त्र के साथ कपिल का सम्बन्ध प्रकट होता है, उन सब में शास्त्र के लिये कपिल के प्रवचन अथवा प्रोक्तता के भाव स्पष्ट हैं। इस भावना के आधार पर भी यह निर्धारित होता है, कि कापिल षष्टितन्त्र, कपिलप्रोक्त प्रथम सांख्यग्रन्थ रहा है।

फलतः कपिल षष्टितन्त्र का कर्त्ता है—

गत लेख से यह प्रमाणित कियागया, कि मूल षष्टितन्त्र का रचयिता वार्षगण्य नहीं। वार्षगण्य के सम्बन्ध में अन्य भी प्रसंगागत अनेक तथ्यों का निर्देश कियागया। अब मुख्य, प्रसंग-प्राप्त विचार यह है,—६९वीं कारिका से ७१वीं कारिका तक ईश्वरकृष्ण ने जिन तथ्यों का निर्देश किया है, उनसे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि मोक्षोपयिक ज्ञान के प्रतिपादक जिस 'तन्त्र' का महर्षि कपिल ने सर्वप्रथम प्रकाश किया, वही 'तन्त्र' शिष्यपरम्परा द्वारा ईश्वरकृष्ण तक प्राप्त हुआ, उसीका ईश्वरकृष्ण ने इन कारिकाओं में संक्षेप किया है।

यद्यपि सांख्यकारिका के व्याख्याकारों ने अपनी व्याख्याओं में शिष्यपरम्परा के अनेक सांख्याचार्यों का नामोल्लेख[1] किया है परन्तु ईश्वरकृष्ण अपने लेख में सांख्य के तीन आदि आचार्यों का साक्षात् नामोल्लेख करता है—कपिल, आसुरि और पञ्चशिख। सांख्यकारिका के आधारभूत ग्रन्थ को वह कपिल के साथ सम्बद्ध करता है, और इस मूलग्रन्थ के आधार पर अपने ग्रन्थ की रचना का निर्देश कर उसने कारिकाओं की प्रामाणिकता को पुष्ट किया है। इस बात को सब व्याख्याकारों ने एक स्वर से स्वीकारा है। यदि वार्षगण्य, उस मूल षष्टितन्त्र का रचयिता होता, तो ईश्वरकृष्ण अवश्य कहीं न कहीं अपनी कारिका में उसका उल्लेख करता। यह एक असंभव-सी और आश्चर्य-जैसी बात प्रतीत होती है, किसी ग्रन्थकार के ग्रन्थ का संक्षेप कियाजारहा हो, और उस प्रसंग

---

१. माठर=भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत और देवल नामक आचार्यों का उल्लेख करता है।
युक्तिदीपिकाकार=जनक, वशिष्ठ, हारीत, बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर [अथवा ऋषभ, ईश्वर], पञ्चधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य, कौण्डिन्य, मूक, इन सांख्याचार्यों का उल्लेख करता है। युक्तिदीपिका की मुद्रित पुस्तक में इस पंक्ति का पाठ कुछ खण्डित है। संभव है, वहाँ कुछ और नाम भी निर्दिष्ट हों। जयमंगला टीका में='गर्गगौतमप्रभृतिर्णराम तं ग्रम्या [० तिर्न्नराम तं ग्रम्य, ख.]' ऐसा पाठ है। यह पाठ भ्रष्ट और संदिग्ध है। यहाँ गर्ग और गौतम दो नाम स्पष्ट हैं।

में ग्रन्थकार का कहीं नाममात्र को भी उल्लेख न हो; तथा दूसरे आचार्यों के नामों का उल्लेख कियाजाय। इसलिये यह एक निश्चित मत है, कि ईश्वरकृष्ण वार्षगण्य को 'षष्टितन्त्र' का रचयिता नहीं मानता, जो स्वयं और साक्षात् उसका संक्षेपकर्त्ता है।

प्रकरण का उपसंहार—

ईश्वरकृष्ण इसीलिये ७२वीं कारिका में अपने इस सम्पूर्ण उल्लेख का उपसंहार इसप्रकार करता है—

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चेति॥

लगभग सत्तर कारिकाओं के इस ग्रन्थ में जो अर्थ प्रतिपादित कियेगये हैं, वे सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के हैं। उनमें से आख्यायिका और परवादों को छोड़ दिया गया है। ईश्वरकृष्ण की इन चार कारिकाओं का सूक्ष्म विवेचन करने से तथा पूर्वप्रदर्शित अन्य प्रमाण एवं युक्तियों के आधार पर जिस परिणाम तक पहुँचते हैं, उसका सार निम्नरूप में प्रकट किया जासकता है।

(१) कपिल ने 'तन्त्र' अथवा 'षष्टितन्त्र' नामक सांख्यविषयक प्रथम ग्रन्थ का निर्माण किया, और उसे आसुरि को पढ़ाया।

(२) आसुरि ने वही 'तन्त्र' पञ्चशिख को पढ़ाया।

(३) पञ्चशिख ने अध्यापन, व्याख्यान, लेखन आदि के द्वारा उसका बहुत विस्तार किया।

(४) वही 'तन्त्र' शिष्यपरम्पराद्वारा ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ, जिस परम्परा में भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, देवल, जनक, वशिष्ठ, पतञ्जलि, वार्षगण्य, गर्ग, गौतम आदि अनेक आचार्य हुए।

(५) उस 'तन्त्र' के सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझकर, ईश्वरकृष्ण ने उसका आर्या छन्द में संक्षेप किया, जो सांख्यसप्तति तथा सांख्यकारिका के नाम से प्रसिद्ध है।

(६) इसलिये जिन विषयों का विवेचन सप्तति में है, वे सब 'षष्टितन्त्र' के हैं।

(७) अर्थों को स्पष्ट करने वाली षष्टितन्त्रगत आख्यायिका और परवादों को इस सांख्यसप्तति में छोड़ दियागया है।

उपर्युक्त वर्णन हमें अन्तिम रूप से इस निर्णय की ओर लेजाता है, कि 'षष्टितन्त्र' कपिल की रचना है। पञ्चशिख, वार्षगण्य या अन्य किसी प्राचीन अथवा अर्वाचीन आचार्य की नहीं।

श्रीयुत कालीपद भट्टाचार्य महोदय ने अपने एक लेख[1] में इस मत को स्वीकार किया है; कि 'षष्टितन्त्र' कपिल की रचना है। तत्त्वसमास सूत्रों को आधुनिक अनेक भारतीय[2] तथा पाश्चात्य[3] विद्वानों ने कपिल की रचना माना है।

◆◆

1. He [Kapila] expounded his doctrine in the 'Sastitantra' and started a school of his own with Asuri as his first pupil. [I. H. Q. Sept. 1932. P. 518.]
२. महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री आदि। JBORS. Vol. 9, 1923. A. D. PP. 151-162.
३. मैक्समूलर आदि।

तृतीय अध्याय

षष्टितन्त्र अथवा सांख्यषडध्यायी

[सांख्यषडध्यायी ही षष्टितन्त्र है]

सांख्यसप्तति में षष्टितन्त्र का स्वरूप—

'षष्टितन्त्र' कपिल की रचना है, यह प्रमाणपूर्वक पिछले अध्याय में सिद्ध कियागया। अब यह विवेचन करना आवश्यक है, कि वह षष्टितन्त्र इस समय उपलब्ध है या नहीं ? यदि उपलब्ध है, तो वह कौनसा ग्रन्थ है ?

(१) इसके उत्तर के लिये दूर न जाकर प्रथम ईश्वरकृष्ण रचित सांख्य-सप्तति की अन्तिम बहत्तरवीं आर्या को एक बार यहाँ दुहरादेना आवश्यक है। वह इसप्रकार है—

'सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चेति ॥'

'लगभग सत्तर कारिकाओं के इस ग्रन्थ में जो अर्थ प्रतिपादित कियेगये हैं, निश्चित ही वे सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के हैं। अर्थात् षष्टितन्त्र में और कोई नवीन अर्थ ऐसा नहीं बचा है, जिसका यहाँ प्रतिपादन न कियागया हो, परन्तु उनमें से आख्यायिका और परवादों को छोड़ दिया गया है।' कारिका का यह वर्णन स्पष्ट करता है, कि षष्टितन्त्र का विषयक्रम और रचनाक्रम क्या रहा होगा। इससे यह अच्छी तरह पहचाना जाता है, कि ईश्वरकृष्ण ने जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया, उसका क्या रूप होना चाहिये। इसके अनुसार निश्चित है— उसने जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया, वह वर्त्तमान सांख्य-षडध्यायी है। इसीका प्राचीन नाम षष्टितन्त्र है।

सांख्यसप्तति में वर्णित षष्टितन्त्रकी वर्त्तमान षडध्यायी से तुलना—

ईश्वरकृष्ण की ६८ कारिकाओं का सिद्धान्तभूत प्रतिपाद्य विषय, सांख्य-षडध्यायी के प्रथम तीन अध्यायों में विस्तारपूर्वक वर्णित है; जिसका ईश्वरकृष्ण ने उसी आनुपूर्वी के साथ संक्षेप किया है। दोनों ग्रन्थों की विषयानुपूर्वी की समानता, सचमुच आश्चर्य में डाल देती है। यह समानता इतने में ही समाप्त

नहीं होजाती, प्रत्युत आगे भी चलती है। क्योंकि साँख्यकारिकाओं में प्रतिपादित सम्पूर्ण अर्थ षष्टितन्त्र से लियेगये हैं, इसका निर्देश करने के अनन्तर ईश्वरकृष्ण लिखता है,—मैंने षष्टितन्त्रोक्त आख्यायिकाओं और परवादों को छोड़ दिया है। ये दोनों बातें, वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी में ठीक इसी क्रम से उपलब्ध हैं। चतुर्थ अध्यायमें आख्यायिका, और पञ्चम षष्ठ अध्यायों में परवादों का वर्णन है। इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि जिस तरह कोई व्यक्ति किसी ग्रन्थ का संक्षेप या उसके आशय को लेकर अपना ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ करता है, ठीक उसीतरह ईश्वरकृष्ण ने सांख्यषडध्यायी का संक्षेप किया, तथा उसके आशय को अपने ग्रन्थ में लिया है। कहीं वह एक सूत्र के आधार पर एक कारिका लिखता है, कहीं अनेक सूत्रों के आधर पर। तथा कहीं पर इकट्ठे पाँच छह आठ दस सूत्र तक छोड़ देता है। वह इस बात का पूरा यत्न करता है, कि जहाँ तक होसके, कारिका में वे पद आजावें, जो सूत्र के हैं। यहाँ यह आवश्यक है, कि सब कारिकाओं की तुलना उन सूत्रों के साथ करें, जिनके आधार पर वे लिखी गई हैं।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।१।१।। न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेरप्यनुवृत्ति-दर्शनात् ।१।२।।	दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ। दृष्टे साऽपार्था चेन् नैकान्ताऽत्यन्तोऽभावात् ।।१।।
प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत्तत्प्रतीकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम् ।१।३।। सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्तासम्भवाद्धेयः प्रमाणकुशलैः ।१।४।। उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ।१।५।। अविशेषश्चोभयोः ।१।६।।[1] नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः, साध्यत्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम् ।१।८२।। तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ।१।८३।।	दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ।।२।।
सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्च	[2]मूलप्रकृतिरविकृतिर् महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

१. ये दोनों सूत्र, षडध्यायी में प्रकरणवश आगे लिखे गये हैं। इनका आशयमात्र ३, ४, ५ सूत्रों में भी प्रकारान्तर से आगया है।

२. कारिका में यहाँ केवल उद्देश्य रूप से २५ पदार्थों की गणना कीगई है। सूत्र के उत्पत्तिक्रम अंश का निर्देश २२वीं कारिका में कियागया है।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
तन्मात्राणि उभयमिन्द्रियं स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः । १।६१॥	षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥
द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत्, त्रिविधं प्रमाणम्, तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ।१।८७-८८॥ [1]उभयसिद्धिः प्रमाणात्तदुपदेशः ।१।१०२॥	दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् । त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥
यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् ।१।८९॥ प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ।१।१००॥ आप्तोपदेशः शब्दः ।१।१०१॥	प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम् । तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥५॥
सामान्यतो दृष्टादुभयसिद्धिः ।१।१०३॥ [2]अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः ।१।६०॥	सामान्यतस्तु दृष्टा-दतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् । तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥६॥
विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य ॥१।१०८॥	अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रिय घातान्मनोऽनवस्थानात् । सौक्ष्म्याद व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥७॥
सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः, कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत् । तथाप्येकतरदृष्ट्याऽन्यतरसिद्धेर्नापलापः त्रिविधविरोधापत्तेः । १।१०९–११३॥ महदाख्यमाद्यं कार्यम् । १।७१॥	सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्, नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः । महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥८॥

---

१. यह सूत्र प्रकरणवश आगे लिखा गया है । इसका आशय प्रकारान्तर से ८८ सूत्र के अन्तिम भाग में भी आगया है ।

२. यह सूत्र प्रसंगवश पहले लिखागया है, इसका अर्थ सम्बन्ध यहाँ पर भी है ।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
नासदुत्पादो नृश्रृंगवत् । उपादाननियमात् । सर्वत्र सर्वदा सर्वासंभवात् । शक्तस्य शक्यकरणात् । कारणभावाच्च । भावे भावयोगश्चेन्न वाच्यम् । न अभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ । नाशः कारणलयः। १।११४–१२१।।	असदकरणादुपादान–ग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।।९।।
हेतुमदनित्यं सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।१।१२४।। मूले मूलाभावादमूलं मूलम्। पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम् ।१६७–६८।।	हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् । सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ।।१०।।
आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा । १।१२५ ।। त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः । १।१२६ ।। जडप्रकाशायोगात्प्रकाशः ।१।१४५।।	त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि । व्यक्तं, तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ।।११।।
प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम् । १।१२७।।	प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः । अन्योन्याभिभवाश्रय-जननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ।।१२।।
लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् । १।१२८।।	सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः । गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ।।१३।।
स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य । १।६२।। बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहंकारस्य । १।६३।। तेनान्तःकरणस्य । १।६४।। [1]ततः प्रकृतेः । १।६५।।	अविवेक्यादेः सिद्धिस् त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात् । कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ।।१४।।

१. ये सूत्र प्रकरणवश अपने क्रम में पहले ही निर्दिष्ट करदियेगये हैं ।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् । परिमाणात् । समन्वयात् । शक्तितश्चेति । तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा । तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् ।१।१२९-१३४।।	भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च । कारणकार्यविभागात् अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ।।१५।।
कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात् ।१।१३५।। अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिंगात् ।१।१३६।। तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ।१।१३७।।	कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्त्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च । परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ।।१६।।
शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् । संहतपरार्थत्वात् । त्रिगुणादिविपर्ययात् । अधिष्ठानाच्चेति । भोक्तृभावात् । कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः । १।१३९-१४४।। [1]संघातपरार्थत्वात् पुरुषस्य । १।६६।।	संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् । पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।।१७।।
जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ।१।१४९।। एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः । १।१५२।। वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् । अनादावद्य यावदभावाद् भविष्यदप्येवम् । इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः १।१५७-१५९।।	जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च । पुरुहषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।।१८।।
व्यावृत्तोभयरूपः । अक्षसम्बन्धात् साक्षित्वम् । नित्यमुक्तत्वम् । औदासीन्यं चेति । १।१६०-१६३।। [2]द्रष्टृत्वादिरात्मनः । २।२९।।	तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य । कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ।।१९।।
उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात् । १।१६४।।	तस्मात्तत्संयोगा- दचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् । गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः ।।२०।।

षडध्यायी का प्रथमाध्याय समाप्त ।

---

१. यह सूत्र प्रकरणवश अपने क्रम पर पहले आचुका है ।
२. यह सूत्र अपने क्रम के अनुसार आगे आया है ।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
विमुक्तविमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य । २।१।। चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् । २।७।। अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत् । २।८।।	पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ।।२१।।
रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ।।२।९।। महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम् ।।२।१०।। [1]प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि उभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि ।।१।६१।।	प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस् तस्माद् गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ।।२२।।
अध्यवसायो बुद्धिः ।।२।१३।। तत्कार्यं धर्मादिः ।। २ । १४ ।। महदुपरागाद्विपरीतम् ।।२।१५	अध्यवसायो बुद्धिर् धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् । सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ।।२३।।
अभिमानोऽहंकारः ।।२।१६।। एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम् ।।२।१७।।	अभिमानोऽहंकारस् तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः । एकादशकश्च गणस् तन्मात्रपञ्चकश्चैव ।।२४।।
सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात् ।२।१८।।	सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात् । भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ।।२५।।
कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् । २।१९।।	बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्र– त्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि । वाक्पाणिपादपायू– पस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः ।।२६।।
उभयात्मकञ्च मनः ।२।२६।। गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् । २।२७।।	उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात् । गुणपरिणामविशेषान् नानात्वं बाह्यभेदाश्च[2] ।।२७।।

---

१. यह सूत्र प्रकरणवश अपने क्रम के अनुसार पूर्व लिखागया है ।

२. सांख्यकारिका की 'युक्तिदीपिका' नामक व्याख्या में इसप्रकार पाठ है—

संकल्पकमत्र मनस्तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम् ।
अन्तस्त्रिकालविषयं तस्मादुभयप्रचारं तत् ।।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
रूपादिरसमलान्त उभयोः ।२।२८॥ करणत्वमिन्द्रियाणाम् ।२।२६॥	रूपादिषु पञ्चानाम् आलोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः । वचनादानविहरणो– त्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥२८॥
त्रयाणां स्वालक्षण्यम् ।२।३०॥ सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ।२।३१॥	स्वालक्षण्यं वृत्तिस् त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या । सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २६ ॥
क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः । २।३२॥ इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात् कुठार-वत् । २।३६॥	युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा । दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥३०॥
पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् । २।३६॥ आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् । २।४५॥ तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमभिचेष्टा लोक-वत् । २।४६॥	स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम् ॥ पुरुषार्थ एव हेतु– र्न केनचित् कार्यते करणम् ॥३१॥
वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च ।२।३३॥ करणं त्रयोदशविधं बाह्याभ्यन्तर-भेदात् । २।३८॥	करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् कार्यं च तस्य दशधा हार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥३२॥
द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद् भृत्यवर्गेषु । २।४०॥	अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
अव्यभिचारात् । २।४१॥	साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥३३॥

बृहत्संहिता की भट्टोत्पलकृत व्याख्या [पृ० ७] में भी यही पाठ है। परमार्थ के चीनी अनुवाद में पूर्वार्ध का पाठ इसके अनुसार है, और उत्तरार्ध का माठर आदि के अनुसार।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च । २।३३। तथाशेषसंस्काराधारत्वात् । २।४२।। स्मृत्यानुमानाच्च । २।४३ ।।	बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि । वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ।।३४।। सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् । तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि ।।३५।।
आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् । २ । ४५ ।। तत्कर्मार्जितत्वात् तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ।२।४६।। समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत् । २।४७।।	एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः । कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ।।३६।। सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः । सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ।।३७।।

षडध्यायी का द्वितीयाध्याय समाप्त ।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
अविशेषाद् विशेषारम्भः ।३।१।।	तन्मात्राण्यविशेषास् तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः । एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ।।३८।।
तस्माच्छरीरस्य ।३।२।। तद्बीजात् संसृति ।३।३।। आविवेकाच्च प्रवर्त्तनमविशेषाणाम् ।३।४।। उपभोगादितरस्य ।३।५।। मातापितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा ३।७।।	सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः । सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ।।३९।।
पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य । ३।८।। सप्तदशैकं लिङ्गम् ।३।९।। व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् । ३ । १० ।।	पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् । संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ।।४०।।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात्तद्वादः । ३।११।। न स्वातन्त्र्यात्तदृते छाया-वच्चित्रवच्च । २।१२।।	चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया । तद्वद्विना विशेषैर् न तिष्ठति विराश्रयं लिङ्गम् ।।४१।।
मूर्त्तत्वेऽपि न संघातयोगात् तरणिवत् । ३।१३।।पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः ३।१६।।	पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन । प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ।।४२।।
तथाशेषसंस्काराधारत्वात् ।२।४२।। पाञ्चभौतिको देहः । ३।१७।। न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ३।२०।।	सांसिद्धकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः । दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ।।४३।।
ज्ञानान्मुक्तिः । बन्धो विपर्ययात् । नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ । ३।२३-२५।।	धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण । ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ।।४४।।
स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् । ३।३५।। वैराग्यादभ्यासाच्च ।३।३६।। न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ।३।५४।।	वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् । ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ।।४५।।
विपर्ययभेदाः पञ्च । ३।३७।। अशक्तिरष्टाविंशतिधा । ३।३८।। तुष्टिर्नवधा । ३।३९।। सिद्धिरष्टधा । ३।४०।।	एष प्रत्ययसर्गो विपययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः । गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ।।४६।। पञ्च विपर्ययभेदाः भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् । अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ।।४७।।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
अवान्तरभेदाः पूर्ववत् । ३।।४१।।	भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः । तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ।।४८।।
एवमितरस्याः । ३।४२।।	एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा । सप्तदशवधा बुद्धेर् विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ।।४९।।
आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः । ३।४३।।	आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः । बाह्या विषयोपरमात् पञ्च, नव तुष्टयोऽभिमताः ।।५०।।
ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा । ३।४४।।	ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः । दानञ्च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ।।५१।।
नेतरादितरहानेन विना ।३।४५।।	न विना भावैर्लिङ्गं न विनालिंगेन भावनिर्वृत्तिः । लिङ्गाख्यो भावाख्यस् तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः ।।५२।।
दैवादिप्रभेदा । ३।४६।।	अष्टविकल्पो दैवस् तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति । मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ।।५३।।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् । ऊर्ध्वे सत्त्वविशाला । तमोविशालामूलतः । मध्ये रजोविशाला । ३।४७-५०।।	ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस् तमोविशालश्च मूलतः सर्ग । मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ।।५४।।
समानं जरामरणादिजं दुःखम् । ३।५३।। आवृत्तिस्तत्रापि उत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः । ३।५२।।	तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः । लिङ्गस्याविविनिवृत्तेस् तस्माद्दुःखं समासेन ।।५५।।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ३।५५।। प्रधानसृष्टि परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् । ३।५८।। विमुक्तविमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य । २।१।।	इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः प्रकृतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थं आरम्भः ।।५६।।
अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ।३।५९।। धेनुवद् वत्साय । २।३७।।	वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य । पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ।।५७।।
कर्मवत् दृष्टेर्वा कालादेः । ३।६०।। स्वभावाच्चेष्टितमनभिसंधानाद् भृत्यवत् । ३।६१।। कर्माकृष्टेर्वाप्यनादितः । ३।६२।।	औत्सुक्यनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्त्तते लोकः । पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम् ।।५८।।
विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत्पाके । ३ । ६३ ।। नर्त्तकीवत् प्रवर्त्तकस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् । ३।६९।।	रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्त्तकी यथा नृत्यात् । पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्त्तते प्रकृतिः ।।५९।।
नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् । ३।६८।।	नानाविधैरुपायै रुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः । गुणवत्यगुणस्य सतस् तस्यार्थमपार्थकं चरति ।।६०।।
दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत् । ३।७०।।	प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति । या दृष्टाऽस्मीति पुनर् न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ।।६१।।
नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते । ३ । ७१ ।। प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात् पशुवत् । ३।७२।।	तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् । संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ।।६२।।

षडध्यायी सूत्र	सांख्यकारिका
रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवत् विमोचयत्येकेन रूपेण। ३।७३।।	रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः। सैव च पुरुषस्यार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ।।६३।।
तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद् विवेकसिद्धिः । ३।७५।।	एवं तत्त्वाभ्यासान् नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ।।६४।।
इतर इतरज्जहाति तद्दोषात् । ३।६४।। जीवन्मुक्तश्च । ३।७८।। उपदेश्योपदेष्टृत्वात्तत्सिद्धिः ।३।७९।। तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः । २।३४।।	तेन निवृत्तप्रसवाम् अर्थवशात्सप्तरूपविनिवृत्ताम्। प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ।।६५।।
द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः । ३।६५।। अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्येवोरगः । ३।६६।। निमित्तत्वमविवेकस्येति न दृष्टहानिः ।३।७४।।	दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या । सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ।।६६।।
कर्मनिमित्तयोगाच्च ।३।६७।। वाधितानुवृत्तेर्मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ।३।७७। चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः । ३।८२।। संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः । ३।८३।।	सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ । तिष्ठति संस्कारवशाच् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ।।६७।।
विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यो नेतरान्नेतरात् । ३।८४।।	प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ । ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ।।६८।।

षडध्यायी का तृतीयाध्याय समाप्त ।

कारिकाभिमत षष्टितन्त्र का विषय, षडध्यायी में है—

सांख्यसूत्र और कारिकाओं की इस तुलनासे यह स्पष्ट होजाता है, कि प्रथम बीस कारिकाओं का प्रतिपाद्य विषय, सांख्यषडध्यायी के प्रथमाध्याय से; इक्कीस से सैंतीसवीं कारिका तक सत्रह कारिकाओं का प्रतिपाद्य विषय, सांख्य-षडध्यायी के दूसरे अध्याय से; तथा अड़तीसवीं कारिका से लगाकर अड़सठवीं कारिका तक इकत्तीस कारिकाओं का प्रतिपाद्यविषय, सांख्यषडध्यायी के तीसरे अध्याय से लिया गया है। यहाँ ईश्वरकृष्ण की बहत्तरवीं कारिका के वर्णन के अनुसार कारिकाओं का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य अर्थ, षडध्यायी के तीन अध्यायों में पूरा होजाता है। कारिकानिर्दिष्ट क्रम के अनुसार षडध्यायी के चतुर्थ अध्याय में आख्यायिकाओं का प्रासंगिक उल्लेख है; पञ्चम तथा षष्ठ अध्याय में परवादों का। इन दोनों प्रसंगों को कारिकाओं में छोड़ दिया गया है। ईश्वरकृष्ण का यह स्वलिखित वर्णन इस बात को पूर्णरूप से सिद्ध करदेता है, कि जिस कपिल-प्रणीत षष्टितन्त्र से उसने अपने ग्रन्थ के लिये प्रतिपाद्य अर्थों का संग्रह किया, वह षष्टितन्त्र, वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी है। इस कथन से हमारा यह दावा नहीं है, कि यह सम्पूर्ण सांख्यषडध्यायी इसी आनुपूर्वी के साथ कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र है। यह सम्भव ही नहीं, प्रत्युत किसी अंश तक निश्चयरूप में कहा जासकता है, कि इसमें सूत्रों की न्यूनाधिकता होगई है। सम्भव है अन्य भी कुछ परिवर्तन होगये हों। फिर भी कपिल की कृति इसीमें निहित है, यह निश्चित है। इसका विवेचन इसी ग्रन्थ के चतुर्थ और पञ्चम प्रकरण में विस्तारपूर्वक कियागया है।

षडध्यायी के अर्वाचीन होने का प्रथम आधार—

षडध्यायी के सूत्र कारिकारूप हैं—

द्वितीय प्रकरण के प्रारम्भिक भाग में षडध्यायी की अर्वाचीनता के तीन आधार बताये गये हैं। उनमें प्रथम एक प्रबल युक्ति यह उपस्थित कीजाती है, कि अनेक सूत्रों की रचना कारिकाओं से मिलती है। यह बात स्वाभाविक नहीं मालूम होती, कि सूत्र या गद्य रचना में पद्य का मिश्रण हो। परन्तु सांख्य-षडध्यायी में अनेक सूत्र श्लोकरूप हैं, जो मौलिक सूत्ररचना में न होने चाहियें। कारिकाओं की रचना तो स्वभावतः पद्यमय है। सूत्रों के बीच में पद्यरचना स्वाभाविक अथवा स्वारसिक नहीं कहीजासकती। इसलिये ऐसी रचना अनायास हमारे मस्तिष्क को इस ओर आकृष्ट किये विना नहीं रहती, कि इन सूत्रों का ग्रथन किसीने कारिकाओं के आधार पर कर दिया। तथा इन सूत्रों के ग्रथन का समय सायण के पश्चात् ही मानाजासकता है। क्योंकि सायण ने सूत्रों को

छोड़, कारिकाओं का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है[1]। ऐसी स्थिति में कारिकाओं के आधार पर सूत्रों की रचना मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

आपाततः इस युक्ति के सुनने पर कोई भी व्यक्ति यही सोच सकता है, कि सम्भवतः सांख्यषडध्यायी में अनेक सूत्र श्लोकरूप होंगे। वे कितने भी हों, परन्तु यह केवल लेखक की अपनी शैली पर निर्भर होता है, कि वह पद्यगन्धि गद्य की रचना करदे, अथवा विशुद्ध गद्य या विशुद्ध पद्य की रचना करे। गद्य रचना में कहीं श्लोकरूप रचना होजाना कुछ आश्चर्य नहीं है। इस तरह की रचना संस्कृत साहित्य में जहाँ-तहाँ देखी जाती है। सांख्यषडध्यायी में भी ऐसे सूत्रों की रचना सम्भव है। यह प्रथम कहाजाचुका है, कि सांख्यकारिका की अड़सठ कारिकाओं का प्रतिपाद्य विषय सांख्यषडध्यायी के प्रथम तीन अध्यायों में आजाता है। इन तीन अध्यायों में केवल तीन सूत्र ऐसे हैं, जिनकी रचना श्लोकमय या कारिकारूप कहीजाती है। वे सूत्र हैं—

(१) **हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं। लिंगम्** [सां० सू० १।१२४॥ कारिका १०, पूर्वार्ध]

(२) **सात्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात्।** [सां० सू० २।१८॥ कारिका २५, पूर्वार्ध]

(३) **सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।** [सां० सू० २।३१॥ कारिका २९, उत्तरार्ध]

इन तीनों सूत्रों में से पहले दो सूत्र, दो पृथक् कारिकाओं के प्रथम अर्द्ध भाग हैं, और तीसरा सूत्र, एक कारिका का द्वितीय अर्द्ध भाग है। इन सूत्रों की रचना कारिकाओं के आधार पर है, इसके लिये साधारण उत्तर, जो तीनों सूत्रों के लिये समान रूप से लागू होंगे, आगे लिखेंगे। पहले प्रत्येक सूत्र का पृथक् विवेचन करना अपेक्षित है।

वस्तुतः इन सूत्रों को कारिका-रूप बाद में मिला है—

इनमें से पहले सूत्र के सम्बन्ध में वक्तव्य है। इस सूत्र के ऐसे प्रामाणिक प्राचीन पाठ उपलब्ध हैं, जिनके अनुसार यह सूत्र, श्लोकरूप नहीं कहाजासकता। सांख्यसूत्रों की वर्त्तमान व्याख्याओं में सब से प्राचीन व्याख्या अनिरुद्धवृत्ति[2] है।

---

१. "The Samkhya Sutra is a late text, it is not used in the Sarvadarsanasangraha". A.B. कीथ रचित 'दि हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर' ख्रीस्ट १९२८ का संस्करण, पृष्ठ ४८९।

२. अनिरुद्ध के समय का निर्णय, इसी ग्रन्थ के 'सूत्रों के व्याख्याकार' नामक छठे अध्याय में कियागया है।

वहाँ सूत्र का पाठ निम्नलिखित है—

'हेतुमदनित्यं सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम् ।'

अनिरुद्ध, इस सूत्र में 'अव्यापि' पद नहीं पढ़ता, और न उसने इस पद की व्याख्या की है । एक हस्तलिखित प्रति में 'सक्रिय' के स्थान पर 'सक्रियकं' पाठ भी है[1] । यह पाठ भी सूत्र के, श्लोकरूप होने में बाधक है । सम्भवतः अनिरुद्ध के समय तक इस सूत्र में 'अव्यापि' पदका समावेश नहीं था । यद्यपि कारिकाकार ने छन्दरचना और अर्थकृत सम्बन्ध के आधार पर सूत्र में 'अव्यापि' पद बढ़ाकर अनिरुद्ध से बहुत पहले कारिका को वर्त्तमानरूप दे दिया था । अनिरुद्ध के अनन्तर अर्थकृत सम्बन्ध की विशेषता को समझकर किसी लेखक अथवा व्याख्याकार ने या किसी अध्येता ने सूत्र में कारिका के संस्कारवश, इस पदका समावेश करदिया । विज्ञानभिक्षु के समय सूत्र में 'अव्यापि' पद समाविष्ट किया जाचुका था । अनिरुद्ध ने जब सूत्र के अन्य प्रत्येक पद की व्याख्या की है, तब 'अव्यापि' पदकी व्याख्या न किये जाने का कोई कारण अवश्य होना चाहिये । वह कारण स्पष्ट है, उस समय सूत्र में 'अव्यापि' पद का समावेश नहीं था । ऐसी स्थिति में यदि कोई यह आशंका करे, कि अनिरुद्ध के द्वारा 'अव्यापि' पद की व्याख्या न कियाजाना; 'अव्यापि' पद को सूत्र का अंश न मानने में कारण नहीं होसकता; तो आशंकावादी का यह कथन निराधार ही होगा, क्योंकि व्याख्या न किये जाने का कारण उसे अवश्य बताना चाहिये ।

दूसरा सूत्र भी कारिका के आधार पर लिखा गया नहीं कहाजासकता, प्रत्युत कारिका ही सूत्र के आधार पर लिखी गई कहीजानी चाहिये । इस निश्चय को स्वयं सूत्र की रचना स्पष्ट करदेती है । सूत्र का पाठक्रम इसप्रकार है—

'सात्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात् ।'

परन्तु सांख्यकारिका में इस कारिका के प्रथम चरण का पाठ है 'सात्त्विक एकादशकः' । आजतक जितने सांख्यकारिका के संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उन सब में यही पाठ उपलब्ध होता है । यद्यपि कहाजासकता है, कि यह इतना महत्त्वपूर्ण पाठभेद नहीं है, जो सूत्र के कारिकारूप होने में कोई बाधा उपस्थित करसके । यह ठीक है, कि इन दोनों पाठों में केवल लिंगभेद है । दोनों पाठ छन्दरचना की दृष्टि से एक समान अनुकूल हैं । परन्तु यहाँ यह लिंगभेद महत्त्वपूर्ण विशेषता रखता है ।

---

१. अनिरुद्धवृत्ति, सूत्र १।१२४, पृ० ६७ की टिप्पणी । प्रकाशक J. W. Thomas. Baptist Mission Press, Calcutta 1888, सम्पादक Dr. Richard Garbe.

सूत्र में नपुंसकलिंग पाठ है, और कारिका में पुल्लिग। सूत्रकारने सामान्य-रूप से 'कार्य'; 'इन्द्रिय' या 'करण' को उद्देश्य मानकर नपुंसकलिंग का प्रयोग किया है। परन्तु चौबीसवीं कारिका में, छन्दरचना से बाध्य होकर कारिका-कारने, 'इन्द्रिय' आदि पदों का समावेश न होसकने के कारण, 'सर्ग' और 'गण' पदका प्रयोग किया है, जो दोनों पुल्लिग पद हैं। इन्हीं पदों का अगली कारिका में अनुवर्त्तन होने से, इन पदों के सम्बन्ध से बाधित होकर कारिकाकारने पच्चीसवीं कारिका में पुल्लिग पदों का प्रयोग किया है।

अब यदि यह मानाजाय, कि सूत्रकार ने इस सूत्र की रचना कारिका के आधार पर की है; तो उसी रूप में कारिका को लिखकर सूत्र की रचना में कोई अन्तर नहीं आसकता था। सूत्रकार तो छन्दरचना से बाधित नहीं था। ऐसी स्थिति में पदों का केवल लिंगभेद करदेना अनावश्यक और निरर्थक था। परन्तु कारिकाकार के लिये यह बात नहीं कहीजासकती, क्योंकि उसे छन्दरचना में 'इन्द्रिय' आदि पदों के प्रयोग की अनुकूलता न देखकर 'सर्ग' और 'गण' पदों का प्रयोग करना पड़ा। तथा उसीके अनुसार अगली कारिका में पुल्लिग पदका प्रयोग आवश्यक और सप्रयोजन था। यदि यह कहाजाय, कि सूत्रकारने कारिका से कुछ भेद करने के लिये सूत्रमें लिंगभेद कर दिया है, तो वह कथन कुछ बल नहीं रखता, क्योंकि अन्य कारिकाओं का रूपान्तर कर देने के समान सूत्रकार इसमें सर्वथा परिवर्तन कर सकता था। फिर ऐसा परिवर्तन तो सर्वथा निष्प्र-योजन है, जो छन्द प्रतीति में भी बाधक नहीं। इसलिये सूत्र की रचना, कारिका के आधार पर नहीं कहीजासकती। प्रत्युत सूत्र के आधार पर कारिका की रचना मानना अधिक संगत और युक्ति-युक्त होगा।

तृतीय सूत्र का पाठ, आदि शंकराचार्य-निर्दिष्ट पाठ के अनुसार 'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' होना चाहिये। शंकराचार्य ने वेदान्त सूत्रों के शांकरभाष्य में [२।४।६ सूत्र पर] सांख्य के उक्त सूत्र को उद्धृत किया है। उसने जो पाठ दिया है, वह आर्यारूप कदापि सम्भव नहीं। निश्चित है, वह सूत्र का वास्तविक पाठ है। कारिकापाठ के अभ्यास के कारण, बाद में लेखक आदि के प्रमाद से सूत्रपाठ को कारिकानुसारी बना दिया गया। उन्होंने इस पाठभेद के महत्त्व को नहीं समझा। वस्तुतः शंकराचार्य के पाठ के अनुसार इस सूत्रकी रचना छन्दोबद्ध नहीं कहीजासकती। ईश्वरकृष्ण ने सूत्र के पृथक् पदों को समस्त [समास युक्त] करके उसे कारिका का रूप दिया। शंकराचार्य के समय तक सूत्र का पाठ यथावस्थित था, उसके अनन्तर सूत्रपाठ को कारिकानुसारी बनाया गया। परन्तु शांकरभाष्य में अब भी पूर्ववत् पाठ बना हुआ है। इन्हीं दिनों कुछ नये भाषा के संस्करणों में इस पाठ को भी भ्रष्ट किया गया है। इसके सम्बन्ध में विशेष विवेचन इसी ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय की (१४) संख्या में

देखना चाहिये। ऐसी स्थिति में वास्तविक सूत्रपाठ का आधार, कारिका को नहीं कहाजासकता।

सांख्यसूत्रों की रचना का आधार, कारिका नहीं है—

अब उन युक्तियों का निर्देश कियाजाता है, जो उपर्युक्त सब सूत्रों की रचना के लिये समानरूप से इस तथ्य को प्रकट करती हैं, कि सूत्रों की रचना कारिकाओं के आधार पर नहीं होसकती।

(१) सांख्यकारिकाकार आचार्य ईश्वरकृष्ण ने अपनी ७१ और ७२वीं कारिकाओं में स्वयं इस बात को स्वीकार किया है, कि उसने अपनी कारिकाओं के प्रतिपाद्य विषय 'षष्टितन्त्र' से लिये हैं। आज वे विषय उसी क्रम के अनुसार षडध्यायी में उपलब्ध हैं, अन्यत्र नहीं।

क्या सांख्यसप्तति की अन्तिम कारिका ईश्वरकृष्ण की रचना नहीं है ? वी० वी० सोवनी का मत, और उसका विवेचन—

उक्त प्रथम युक्ति का आधार, सांख्यकारिका की अन्तिम कारिका हैं। परन्तु इन अन्तिम कारिकाओं के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों को कुछ विप्रतिपत्ति हैं। वी० वी० सोवनी एम्० ए०, अपनी पुस्तक 'A critical study of the Samkhya System' में लिखते हैं–[1] "बहत्तरवीं कारिका इस बात को बतलाती है, कि सप्तति के प्रतिपाद्य विषय का आधार षष्टितन्त्र है। षष्टितन्त्र में कही आख्यायिकाओं और परवादों को यहाँ छोड़ दिया गया है। सम्भवत: यह कारिका बाद में प्रक्षिप्त हुई मालूम होती है। क्योंकि सप्तति, उनहत्तरवीं [६९] कारिका तक समाप्त होजाती है जहाँ कि गौडपाद का भाष्य समाप्त होता है।"

"गौडपाद[2] भाष्य में अन्तिम तीन कारिका लुप्त हैं। सांख्यकारिका में केवल ६९ आर्या हैं, और एक आर्या लुप्त होचुकी है, इस बात का निर्देश करने

---

1. "Karika 72 declares that the subjectmatter of the Saptati is based on Sastitantra with the exclusion of akhyayika and paravada. The Karika is perhaps a later interpolation because the Saptati ended at Karika 69 where Gaudapada-bhasya finishes." [P. 8, line 1-5]

2. The last three Karikas are missing in Gaudapada Bhasya. Wilson was the first man to point out that the Samkhya-Karika ead only 69 verses and one verse was lost. Mr. Tilaka reconstructed the missing verse from bhasya on Karika 61 and thought that is was dropped because it was

वाला सबसे पहला व्यक्ति विल्सन था। लोकमान्य तिलक ने इकसठवीं [६१] कारिका के गौडपाद भाष्य से उस लुप्त आर्या को ढूंढ निकाला। इस सम्बन्ध में उनका विचार था, कि इस आर्या में अनीश्वरवाद होने के कारण किसीने इसे लुप्त कर दिया। परन्तु किस आधार पर एक कारिका का लुप्त होना प्रकट होता है, यह कथन कुछ स्पष्ट नहीं है। क्योंकि यदि वर्तमान सत्तरवीं [७०] आर्या को सप्तति का अंग होने से इसलिये अवांछनीय समझा जाता है, कि वह सप्तति के [प्रतिपाद्य विषयों में से किसी भी विषय के वर्णनरूप] आवश्यक अंगको पूरा नहीं करती, तो उनहत्तरवीं [६९] आर्याको भी उसी आधार पर अवांछनीय मानना चाहिये, क्योंकि उसमें भी किसी प्रतिपाद्य विषय [सांख्य-सिद्धान्तभूत] का वर्णन नहीं है। सांख्यके सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो विद्यमान ६८वीं कारिका तक समाप्त होजाता है। अब यदि वर्त्तमान ६९वीं कारिका इसलिये आवश्यक है, कि वह इस ग्रन्थकी प्रामाणिकता को बतलाती है, तो ७०वीं कारिका भी इसलिये आवश्यक है, कि वह सर्वप्रथम आचार्यों की परम्परा को बतलाती है, और सांख्य परम्परा की अविच्छिन्नताका निर्देश करती है।"

सोवनी के मत का वर्गीकरण—

सोवनी महोदय के इस लेखका सारांश यह होता है—

(१) गौडपादभाष्यके आधार पर सर्वप्रथम विल्सनने सांख्यकारिकाओंकी ६९ आर्या बतलाईं, उनके अतिरिक्त एक और आर्या के लुप्त होजानेका निर्देश किया। सोवनी महोदय के लेखानुसार यह प्रतीत होता है, कि विल्सन ने सांख्य-कारिका में ७० आर्या मानी हैं। सम्भवतः उपलभ्यमान शेष तीन आर्या विल्सन के विचार से प्रक्षिप्त हैं।

(२) उस लुप्त आर्या की–जिसकी लुप्तता का उद्भावन विल्सन ने किया, लोकमान्य तिलक ने ६१वीं कारिका के गौडपादभाष्य के आधार पर पुनः रचना कर डाली।

---

very atheistic. But it is not clear on what ground the loss of one Karika is manifest. If the already existing 70th verse is to be rejected as not forming an essential part of the Saptati, the 69th verse can also be rejected on the same ground. Disquisition of the principles of the Samkhya is over the 68th Karika and if the 69th Karika is necessary to impress the authenticity of the work, the 70th in needed to give the line of succession of the old teachers, and the uninterrupted tradition of the system.

[foot-note on karika 70. P. 53.]

(३) परन्तु सोवनी महोदय इस रचनासे सहमत नहीं प्रतीत होते। उनका कहना है, कि सांख्य सिद्धान्तों का वर्णन ६८वीं कारिका में समाप्त होजाता है। अब यदि सांख्य सिद्धान्त प्रतिपादिका कारिकाओं की सत्तर संख्या मानी जाय, तो तिलकोपज्ञ कारिका के होने पर भी सत्तर संख्या पूरी नहीं होती, और 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' वाली कहावत चरितार्थ होती है। अब एक और कारिका की रचना के लिये दूसरे तिलक कहाँ से आवें? इसलिये सोवनी महोदय का कथन है, कि सांख्यसिद्धान्त का प्रतिपादन न करने पर भी यदि वर्त्तमान ६९वीं आर्या को इस आधार पर कारिकाओं का अंग मान लिया जाता है, कि वह परमर्षि कपिल से नाता जोड़कर इस ग्रन्थकी प्रामाणिकता का निर्देश करती है, तो वर्त्तमान ७०वीं आर्या को भी इस आधार पर कारिकाओं का अंग मानना आवश्यक है, कि वह प्राचीन आचार्यों और सांख्यसिद्धान्त की परम्पराकी अविच्छिन्नता का निर्देश करती है। इस तरह तिलकोपज्ञ आर्या को न मानकर भी कारिकाओंकी सत्तर संख्या पूरी होजाती है।

सोवनी के मत का विवेचन—

सोवनी महोदयके लेखका सारांश विवेचन की सुविधा को देखते हुए तीन भागों में विभक्त कर दिया है। अब इस सम्बन्ध में यथाक्रम विवेचन किया जाता है।

(१) सोवनी महोदय ने ७२वीं कारिका को प्रक्षिप्त बताया है, और विल्सन के द्वारा निर्देश की हुई सत्तर संख्याकी कमीको पूरा करनेके लिये आपने वर्त्तमान सत्तरवीं कारिका की उपयुक्त वकालत की है। ७१वीं कारिका के सम्बन्ध में आपने कोई निर्देश नहीं किया। अब थोड़ी देर के लिये मान लीजिये, कि ७२वीं कारिका प्रक्षिप्त है। ईश्वरकृष्णने उसकी रचना नहीं की। इस कारिका में वर्णन कियागया है, कि 'सप्तति में प्रतिपादित सम्पूर्ण सांख्यसिद्धान्त षष्टितन्त्र से लिये गये हैं।' अब, जब कि हम इस कारिका को प्रक्षिप्त मान लेते हैं, हमारे पास क्या प्रमाण है, कि ईश्वरकृष्ण ने सत्तर कारिकाओं में सांख्यसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है? सांख्य-विषय का प्रतिपादन करने वाली कारिकाओंकी सत्तर संख्या का बोध तो हमें, इस अन्तिम कारिका के आधार पर होता है, उसीको हम प्रक्षिप्त मान लेते हैं। जिस टहनी पर बैठे हैं, उसीकी जड़ पर कुल्हाड़ा चलाने को तैयार हैं। शास्त्रचर्चा में यह वंचना अन्याय है। हम पूछते हैं, विल्सन और उनसे सहमत अन्य विद्वानों के मस्तिष्क में यह भावना कहाँसे आई? कि सांख्यार्थ-प्रतिपादिका कारिका सत्तर होनी चाहियें। जिस संख्या की पूर्त्ति के लिये वे इतने व्याकुल हैं।

कहाजासकता है, इस भावनाकी उत्पत्तिमें परम्परा कारण होसकती है। परम्परा से इस ग्रन्थ का नाम 'सांख्यसप्तति' आदि कहाजातारहा है। इसीसे समझा जासकता है, कि इसमें सत्तर कारिका रही होंगी। ऐसी स्थिति में अन्तिम कारिका अनावश्यक और प्रक्षिप्त कहीजासकती है[1]। परन्तु हम फिर पूछते हैं, कि इस ग्रन्थके नामके साथ 'सप्तति' पदके प्रयोग की परम्परा का आधार क्या था? प्रयोग होने पर भी, सप्तति पदके प्रयोगमात्र से यह बात कैसे मालूम होसकी, कि उन सबही सत्तर कारिकाओं में सांख्यसिद्धान्त का प्रतिपादन होना चाहिये? अन्तिम तीन कारिकाओंके प्रक्षिप्त होने का विचार रखने वाले सब आधुनिक विद्वान यही लिखते हैं, कि सांख्यसिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली सत्तर कारिका होनी चाहियें। इस भावना का उद्गम, केवल सप्तति पदके प्रयोग से कैसे होसकता है? इसलिये यह धारणा असंगत नहीं कहीजासकती, कि विलसन आदि विद्वानोंने इस भावना को अन्तिम कारिका के आधार पर अपने मस्तिष्कों में स्थान दिया और उसीको प्रक्षिप्त कहने के लिये तैयार हैं।

अन्तिम कारिकाओं को प्रक्षिप्त मानने में विलसन के मत का आधार और उसका विवेचन—

विलसन आदि का, अन्तिम कारिकाओं को प्रक्षिप्त बताने के लिये यह आधार, कि उन पर गौडपाद का भाष्य नहीं है, सर्वथा असंगत है। यदि गौडपाद ने उन पर भाष्य नहीं किया है, तो अन्य सब व्याख्याकारों ने उन कारिकाओं पर भाष्य किये हैं। कहाजासकता है, कि गौडपाद के समय तक इन कारिकाओं का प्रक्षेप नहीं हुआ था। इसलिये उसने भाष्य नहीं किया। अनन्तर प्रक्षेप होने पर वाचस्पति आदि ने इनका भाष्य किया। परन्तु यह कथन सर्वथा असंगत है। गौडपाद से अत्यन्त प्राचीन आचार्य माठर ने इन सब अन्तिम कारिकाओं का व्याख्यान किया है, युक्तिदीपिका, तथा परमार्थ के चीनी अनुवाद में भी इन सब आर्याओं की व्याख्या विद्यमान है, जिनका समय निश्चित ही गौडपाद से प्राचीन है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहाजासकता है, कि गौडपाद के समय में ये कारिकायें नहीं थीं। अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों पर पतञ्जलि का[2] भाष्य नहीं है। क्या वे प्रक्षिप्त मान लिये जायें? यजुर्वेद के कई मन्त्रों पर

---

१. यद्यपि लोकमान्य तिलक ने इसको प्रक्षिप्त न मानकर ईश्वरकृष्ण की रचना ही बतलाया है।
[गीतारहस्य, प्रथम हिन्दी संस्करण, पृ० १६२-६३ की टिप्पणी]

२. व्याकरण महाभाष्य, अ० ४, पा० १, सूत्र ४, ५, ८, ६, ११, १२, २३, २४, २८, २६, ४५-४७ इत्यादि। यह केवल निर्देशमात्र कियागया है, अष्टाध्यायी के अन्य अनेक सूत्रों पर भाष्य नहीं मिलता।

उव्वट का भाष्य[1] नहीं है, तो क्या यह मान लिया जाय, कि उव्वट के समय तक वे मन्त्र नहीं थे, बाद में किसी ने बनाकर जोड़ दिये। इसके अतिरिक्त यह भी होसकता है, कि गौडपाद ने इन पर भाष्य किया हो और वह किसी कारण से खण्डित होगया हो। खण्डित होने के निम्नलिखित कारण होसकते हैं—

(क) प्रतिलिपि करते समय लेखक के प्रमाद से ऐसा होगया हो, और आगे के लिये वही प्रतिलिपि, अन्य प्रतिलिपियों का आधारभूत बनगई हो, तथा पहली प्रतिलिपि नष्ट होगई हों।

(ख) मूल हस्तलिखित ग्रन्थ का अन्तिम पत्र किसी तरह [वर्षा, दीमक, अग्नि, वायु आदि के सम्पर्क से] नष्ट होगया हो, और वही खण्डित ग्रन्थ आगे की प्रतिलिपियों के लिये आधार बना हो।

(ग) गौडपाद भाष्य के अन्तिम भाग का खण्डित होना, सांख्यकारिका के उपलभ्यमान अन्य व्याख्यानों के अन्तिम भाग की उससे तुलना करने पर स्पष्ट होजाता है। कुछ व्याख्यानों के अन्तिम भाग, पाठकों के सुभीते के लिये यहाँ उद्धृत हैं—

'आख्यायिकाविरहिताः परवादविर्वाजताश्चेति। परेण सह वादः परवादः तेन वर्जिताश्च। इति परिसमाप्तमिति।' [आचार्य माठर]

'परमर्ष्यादियथोक्तागमेन प्रमाणत्रयं पुरस्कृत्य तर्कदृशा विचारःकृतः। न चास्य मूलकनकपिण्डस्येव स्वल्पमपि दोषजातमस्तीति।' [युक्तिदीपिका]

युक्तिदीपिकाकार ने इसके आगे चार श्लोक और लिखकर अपने ग्रन्थ का उपसंहार किया है।

'परं बन्धमोक्षोपयोगिनोऽर्थाः दर्शिता इति तस्मात् सम्पूर्णेयं सप्ततिरिति।' [जयमंगला]

'सेयं षष्टिपदार्थी कथितेति सकलशास्त्रार्थकथनान्नेदं प्रकरणम्, अपि तु शास्त्रमेवेदमिति सिद्धम्।' [आचार्य वाचस्पति मिश्र]

'तथा चात्रैतत्षष्टिपदार्थविवेचनान्नेदं प्रकरणं किन्तु तन्त्रमेवेति सिद्धम्।' [नारायणतीर्थकृत सांख्यचन्द्रिका]

'येषां विचारात् सम्यक्पंचविंशतितत्वविवेचनात्मिकता संपद्यते संवित्तिरिति।' [गौडपाद भाष्य]

इन सब व्याख्यानों की अन्तिम पंक्तियों की परस्पर तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है, कि जैसे ऊपर के अन्य सब व्याख्यानों में ग्रन्थ की समाप्ति द्योतक भावना ध्वनित होती है, वैसी गौडपाद भाष्य की अन्तिम पंक्तियों में नहीं है। केवल 'इति' पद का प्रयोग तो उसने अनेक कारिकाओं के अन्त में किया है। इसलिये यह सम्भावना होती है, कि कदाचित् गौडपाद के भाष्य का अन्तिम भाग खण्डित होगया हो।

---

१. यजुर्वेद, अ० २४ मन्त्र ३-१९ और २१-४० पर उव्वट का भाष्य नहीं है।

गौडपाद भाष्य के अन्त में एक श्लोक मिलता है—

'सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तकारणं हि।
यत्रैताः सप्ततिरार्या भाष्यञ्चात्र गौडपादकृतम् ॥'

गौडापाद भाष्य के बनारस संस्करण में सम्पादक महोदय ने इस पर एक टिप्पणी लिखी है—'एतत् पद्य' केनचिल्लेखकादिना निर्मायोपक्षिप्तम, न ग्रन्थकृन्निर्मितम्, आर्यादिष्वनन्तर्भावादिति'। सम्पादक महोदय के इस हेतुपद से सन्देह होता है, कि क्या वे टिप्पणी के इस 'ग्रन्थकृत्' पद से ईश्वरकृष्ण का निर्देश करते हैं ? आर्याओं में इसका अन्तर्भाव न होने के कारण यह ग्रन्थकार की रचना नहीं है, इस कथन के अनुसार 'ग्रन्थकृत्' पद का प्रयोग यहाँ ईश्वरकृष्ण के लिये ही संभव है। क्योंकि प्रकृत आर्याओं का ग्रथन उसने ही किया है। इस श्लोक के सम्बन्ध में सम्पादक महोदय का उक्त विचार संगत मालूम नहीं होता। वस्तुतः इस श्लोक का ईश्वरकृष्ण से कोई सम्वन्ध नहीं है। श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम० ए० द्वारा सम्पादित गौडपादभाष्य के पूना संस्करण में कोई टिप्पणी या कोई सन्देह चिन्ह इस श्लोक के साथ नहीं है।

यदि 'आर्यादिषु' के आदि पद से सम्पादक महोदय ने भाष्य का भी ग्रहण किया है, तो इसका अभिप्राय होगा कि, यह श्लोक, न आर्याओं में अन्तर्भूत हो सकता है, और न भाष्य में। वस्तुतः ऐसी स्थिति में हेतु के 'आर्या' पद का उल्लेख व्यर्थ था। आर्याओं में तो इस श्लोक के अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। श्लोक स्वयं कह रहा है, कि ईश्वरकृष्ण से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि ईश्वरकृष्ण स्वयं 'भाष्यञ्चात्र गौडपादकृतम्' यह कभी नहीं लिखसकता। गौडपाद भाष्य में इसके अन्तर्भाव की सम्भावना होसकती है और संगत भी यही प्रतीत होता है, कि अपने भाष्य का उपसंहार करते हुए गौडपाद ने इस श्लोक को लिखा हो। यदि इस बात को मानलियाजाय, कि यह श्लोक गौडपाद का लिखा है, तो गौडपादभाष्य से रहित होने के आधार पर इससे पूर्व की दो आर्या (प्रचलित ७०, ७१) प्रक्षिप्त कहीजासकती हैं। इससे यह स्पष्ट है—गौडपाद सत्तर आर्याओं का साक्षात् निर्देश कर उन पर अपना भाष्य बतला रहा है। इससे परिणाम निकलता है—गौडपाद भाष्य के आधार पर तिलक द्वारा ग्रथित कारिका को विद्यमान कारिकाओं में यथास्थान न जोड़ने पर भी कारिकाओं की सत्तर संख्या पूरी होजाती है, और विलसन तथा तिलक के लेखों का समन्वय खाई में जापड़ता है। तिलकग्रथित कारिका को जोड़कर कारिकाओं की संख्या इकहत्तर होजाती है, फिर इन लेखकों को वही सत्तर का व्यामोह आघेरता है।

हमारा प्रश्न इसके आगे उसी तरह विद्यमान है। गौडपाद भाष्ययुत इन सत्तर कारिकाओं में अन्तिम दो कारिका सांख्य-सिद्धान्त का वर्णन नहीं कर रही, फिर भी सत्तर कारिकाओं में सांख्य-सिद्धान्त के वर्णन का उल्लेख,

गौडपाद के इस श्लोक में स्पष्ट है। यहाँ लिखा है, कि–कपिलप्रोक्त, मोक्षकारण, शास्त्र का इन सप्तति [७०] आर्याओं में वर्णन किया गया है। परन्तु तिलकोपज्ञ आर्या को मिलाकर भी, शास्त्रीय अर्थ की प्रतिपादक सत्तर आर्या पूरी नहीं होतीं। तब गौडपाद के लेख का भी सामञ्जस्य कैसे ? वस्तुत: गौडपाद के उक्त पद्य में सांख्यसिद्धान्त प्रतिपादित सत्तर आर्याओं पर भाष्य किये जाने की ध्वनि अस्पष्ट है। ग्रन्थ के 'सप्तति' नाम के आधार पर ही वैसा लिखागया है, जैसा मूल [७२ वीं] आर्या में है।

इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान है–गौडपाद ने यह श्लोक, बहत्तरवीं आर्या के भाष्यरूप से अन्त में लिखा। इस श्लोक का 'सप्तति' पद, बहत्तरवीं आर्या के 'सप्तति' पद का स्मरण करा रहा है। उसी आर्या के भावार्थ को गौडपाद ने, अपने ग्रन्थ के उपसंहाररूप में, इस श्लोक से प्रकट किया है। इसलिये भी बहत्तरवीं आर्या को प्रक्षिप्त कहना संगत न होगा। सम्भवत: ७०-७१ आर्याओं का सम्पूर्ण और ७२ का आंशिक गौडपाद भाष्य नष्ट होगया। वस्तुत: 'सप्तति' पद, सम्पूर्ण ग्रन्थ का द्योतक है, गिनती की सत्तर आर्याओं का नहीं। चाहे शास्त्रीय अर्थ का प्रतिपादन सत्तर से कम आर्याओं में हो, और सम्पूर्ण आर्या चाहे सत्तर से अधिक हों, पर ग्रन्थ का व्यवहार 'सप्तति' पद से होता रहा है। ऐसी अवस्था में बहत्तरवीं आर्या का, तथा गौडपाद के अन्तिम श्लोक का भी 'सप्तति' पद प्रयोग संगत कहाजासकता है। ग्रन्थ के 'सप्तति' नाम के सम्बन्ध में अभी आगे आवश्यक विवेचन किया जायगा।

अन्तिम कारिकाओं के प्रक्षिप्त न होने का अन्य कारण—

इसके अतिरिक्त एक अन्य कारण है, जिसके आधार पर ६९ वीं आर्या से अगली तीन आर्याओं का प्रक्षिप्त होना, असंभव कहाजासकता है। मान लीजिये, अन्तिम तीन आर्या नहीं हैं, वर्त्तमान ६९ वीं आर्या, अन्तिम आर्या है। वह बतलाती है, कि 'पुरुषार्थ[1] के उपायभूत ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले इस शास्त्र को परमर्षि कपिल ने कहा।' इस कथन के आधार पर एक नई समस्या खड़ी होजाती है। क्योंकि इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होरहा है, कि इस सांख्यकारिकारूप शास्त्र को कपिल ने कहा, तब कपिल इसका रचयिता माना जाने लगेगा। इस ग्रन्थ से ईश्वरकृष्ण का सम्बन्ध बताने वाला कोई साधन हमारे पास नहीं रहजाता। केवल परम्परा, इस साक्षात् उल्लेख की बराबरी नहीं करसकती। क्योंकि अन्तिम कारिका का जब साक्षात् लेख यह बतायेगा, कि यह शास्त्र कपिल का कहा हुआ है, तो इसके विरुद्ध केवल प्रस्तुत परम्परा पर कौन विश्वास करेगा ? अभिप्राय है–यदि ६९ वीं कारिका को अन्तिम मानलियाजाय,

---

१. पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।'

तो उसमें कहा अर्थ, अधूरा और अप्रासंगिक प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में यही नहीं, कि यह आर्या ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर कुछ प्रभाव नहीं डालती, प्रत्युत एक नया अनर्थ हमारे सामने उपस्थित कर देती है, कि अब कपिल को इस ग्रन्थ का रचयिता मानने की संभावना होजायगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर यह तभी प्रभाव डाल सकती है, जबकि अगली कारिकाओं के साथ इसका सम्बन्ध मानाजाय, अन्यथा इस कारिका का उल्लेख व्यर्थ और अप्रासंगिक स्पष्ट है। वस्तुतः इन अन्तिम आर्याओं की सत्ता, गौडपाद भाष्य पर आधारित नहीं है, कारिकाओं की अपनी रचना, परस्पर आर्थिक ग्रथन और अर्थ की पूर्णता उनकी सत्ता के मूल आधार हैं। कारिका प्रथम और भाष्य पीछे है। उनपर केवल गौडपादकृत भाष्य का न होना, उनकी आवश्यक सत्ता को नष्ट नहीं करसकता।

सांख्यसप्तति के लिये लोकमान्य तिलक द्वारा एक आर्या की कल्पना—

(२) वी० वी० सोवनी के लेखानुसार, विल्सन महोदय ने एक कारिका को लुप्त हुआ बताया। लोकमान्य तिलक ने, वर्त्तमान ६१ वीं कारिका के गौडपाद भाष्य के आधार पर उस कारिका की पुनः रचना की है। वह कारिका इसप्रकार है—

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते[1] कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च[2]॥'

लोकमान्य तिलक का कहना है–यह कारिका किसी ईश्वरपक्षपाती व्यक्ति ने यहाँ से निकाल दी, क्योंकि इस कारिका में ईश्वरवाद का खण्डन है। इस आधार पर लोकमान्य तिलक, ईश्वरकृष्ण को कट्टर निरीश्वरवादी बताते हैं। विल्सन महोदय के कथनानुसार, वे मूल विषय पर ६९ आर्या मानते हैं, और शेष तीन आर्याओं को उपसंहारात्मक कहते हैं। परन्तु इनको ईश्वरकृष्ण की रचना मानते हैं। उन्होने इन अन्तिम आर्याओं को प्रक्षिप्त नहीं माना है।[3]

---

१. हरदत्त शर्मा एम० ए० ने 'ब्रुवते' पद के स्थान पर 'पुरुषं' पद रखकर इसमें संशोधन किया है। [गौडपाद भाष्य, कारिका ६१ की टिप्पणी में, पूना संस्करण, पृष्ठ ५५]।

२. गीतारहस्य, प्रथम हिन्दी संस्करण [सन् १९१६ ईसवी], पृ० १६२-६३॥

३. गीतारहस्य, प्रथम हिन्दी संस्करण [सन् १९१६ ईसवी] पृ० १६२, १६३ की टिप्पणी।

उसका विवेचन—

इस सम्बन्ध में हमारा विचार है, कि मूल विषय पर ६९ आर्याओं के मानने में ही लोकमान्य तिलक और विल्सन महोदय को मौलिक भ्रान्ति हुई है। हम यह नहीं कहसकते, कि उन्होंने यह किस आधार पर समझ लिया, कि वर्त्तमान ६९ आर्याओं में मूलविषय का प्रतिपादन है, जब कि मूलविषय का प्रतिपादन ६८ वीं कारिका में समाप्त होजाता है। सम्भव है, ६९ आर्याओं पर गौडपाद का भाष्य देखकर सर्वप्रथम विल्सन महोदय को यह भ्रान्ति हुई, और इसीके आधार पर लोकमान्य तिलक की कल्पित आर्या ने इस भ्रान्ति की जड़ को और दृढ़ कर दिया। यह आश्चर्य की बात है, कि लोकमान्य तिलक ने विल्सन महोदय के कथन को आँख मूँदकर स्वीकार कर लिया और वर्त्तमान ६९ वीं आर्या के प्रतिपाद्य विषय पर ध्यान नहीं दिया। प्रतीत होता है, कारिका-कल्पना की प्रसन्नता से प्रभावित होकर उनकी दृष्टि ६९ वीं आर्या के विषय तक न पहुँचसकी; और मूल विषय पर आर्याओं की सत्तर संख्या पूरी हुई समझकर कृतकृत्य होगई। परन्तु फिर भी मूल विषय पर ७० आर्या पूरी न होसकी। 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' का न्याय यहाँ पूर्णरूप से चरितार्थ होता है। वस्तुतः उपसंहारात्मक अन्तिम आर्याओं की संख्या, चार है, और मूल विषय ६८ आर्याओं में समाप्त होता है, जैसा कि हम षडध्यायीसूत्र और कारिकाओं की परस्पर तुलना में स्पष्ट कर आये हैं। इसलिये तिलकोपज्ञ आर्या की कल्पना का कोई भी स्पष्ट आधार नहीं कहाजासकता।

तिलक कल्पित आर्या का शास्त्रीय विवेचन—

अब इस कल्पित आर्या की विवेचना, हम शास्त्रीय दृष्टि से करना चाहते हैं। इसमें ईश्वर, काल और स्वभाव की मूलकारणता का निषेध किया गया है। अर्थात् ये तीनों पदार्थ, सृष्टि के उपादन कारण नहीं होसकते। जिस गौडपाद भाष्य के आधार पर इस आर्या की कल्पना कीगई है, वहाँ इस कारण-माला में चौथे पदार्थ 'पुरुष' का भी निर्देश किया गया है। परन्तु लोकमान्य तिलक ने इस आर्या में उसे ग्रथित नहीं किया, उसे छोड़ देने का कोई कारण भी उन्होंने नहीं बताया। हरदत्त शर्मा एम्० ए० ने 'ब्रुवते' पद के स्थान पर 'पुरुषं' पद रखकर इस न्यूनता को पूर्ण करने का यत्न किया है।

हम पूछते हैं, ईश्वर को सृष्टि का उपादान न मानने के कारण कोई व्यक्ति निरीश्वरवादी कैसे कहाजासकता है? पातञ्जल योगदर्शन भी ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण नहीं मानता, परन्तु उसे निरीश्वरवादी नहीं कहाजासकता। न्याय वैशेषिक भी ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण नहीं कहते, पर वे निरीश्वर-वादी नहीं हैं; और न कोई अन्य वैदिक दार्शनिक उन्हें निरीश्वरवादी कहता

है। ईश्वर की तरह पुरुष की भी उपादानकारणता का यहाँ निषेध होने से, ईश्वरकृष्ण को तब पुरुषवादी भी नहीं मानाजाना चाहिये। इसका अभिप्राय यह होगा, कि लोकमान्य तिलक के कथनानुसार वह केवल जड़वादी रह जायगा। ईश्वरकृष्ण के सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह बात कही जानी शास्त्रविरुद्ध एवं असंगत है। यदि पुरुष की उपादानता का प्रत्याख्यान करने पर पुरुष को मानता है, तो ईश्वर की उपादानकारणता का खण्डन करने पर भी वह निरीश्वरवादी नहीं कहाजासकता, और न ऐसी कारिका को जिसमें इस अर्थ का उल्लेख किया गया है–निरीश्वरवाद का प्रतिपादन करने वाली कहाजासकता है। ऐसी स्थिति में इस आर्या के, मूलग्रन्थ से निकालेजाने का कोई आधार सम्भव नहीं होता। यदि केवल ईश्वर की उपादानकारणता का प्रतिपादन न करने से इसको मूलग्रन्थ से किसी ने निकाल दिया, तो केवल शंकरमतानुयायी दर्शन ग्रन्थों में वर्णित ईश्वर सम्बन्धी स्थलों के अतिरिक्त अन्य सब ईश्वरवर्णनपरक स्थलों को निकालने का क्यों नहीं यत्न कियागया ? वस्तुतः इस आर्या के निकाल देने का यह आधार कल्पनामात्र है, और शास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा असंगत है। कदाचित् लोकमान्य तिलक ने ईश्वरवादी उसीको समझा है, जो ईश्वर या ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानता है। पर ऐसी समझ ईश्वर या ब्रह्म के साथ मात्र एक मज़ाक है।

सांख्यकारिकाओं पर गौडपाद भाष्य से अत्यन्त प्राचीन व्याख्यान, आचार्य माठर का है। यदि इन दोनों व्याख्यानों को परस्पर मिलाकर देखाजाय, तो यह स्पष्ट होजाता है कि गौडपाद का भाष्य माठर के व्याख्यान का अनुकरण-मात्र है। ६१वीं आर्या के माठरकृत व्याख्यान को सूक्ष्मदृष्टि से विचारने पर यह स्पष्ट होजाता है, कि व्याख्याकार ने स्वयं, कारिका वर्णित प्रकृति की सुकुमार-तरता को स्पष्ट करने के लिये, व्याख्या के मध्य में उन पंक्तियों को लिखा है, जिनके आधार पर इस आर्या की कल्पना कीगई है। गम्भीरतापूर्वक विचारने पर भी हम इस रहस्य को न समझसके, कि इस उपादानकारणता-निषेध के प्रसंग में लोकमान्य तिलक ने पुरुष को छिपाने का क्यों यत्न किया है ? गीता-रहस्य के १६३ पृष्ठ की टिप्पणी में उन्होंने किसी बहाने भी पुरुष का उल्लेख नही आने दिया। मालूम ऐसा होता है, कि सम्भवतः वे सांख्यदृष्टि से, प्रकृति के समान, पुरुष को भी सृष्टि का मूलकारण[1] समझते हैं। यदि मूलकारण से उनका अभिप्राय उपादान कारण है, तो उन्होंने सांख्यसिद्धान्त को समझने में

१. 'इसलिये, उन्होंने [सांख्यों ने] यह निश्चित सिद्धान्त किया है, कि प्रकृति और पुरुष को छोड़, इस सृष्टि का और कोई तीसरा मूल कारण नहीं है। [गीतारहस्य, पृ० १६३, पंक्ति ५–६। प्रथम हिन्दी संस्करण]

भूल की है। यदि मूल कारण से उनका अन्य कोई अभिप्राय है, तो कुछ नहीं कहाजासकता, यद्यपि उन्होंने इन पदों का अपना पारिभाषिक अर्थ प्रकट नहीं किया है, और कारणता की दृष्टि से पुरुष को प्रकृति के समकक्ष ही रक्खा है। यदि इसी विचार से उन्होंने ईश्वर, काल और स्वभाव के साथ पुरुष का उल्लेख नहीं किया तो यह क्रम कदापि आर्यजनोचित नहीं कहाजासकता। उन्होंने इस आर्या के निकाले जाने का आधार कल्पना करने के लिये केवल यहां निरीश्वरवाद की दुहाई दी मालूम होती है, और इसीलिये उपादानकारण निषेध की सूची में पुरुष का उल्लेख नहीं किया। जबकि गौडपाद और माठर दोनों के व्याख्यानों में, इस प्रसंग में पुरुष का उल्लेख है।

सम्भवतः हरदत्त शर्मा एम० ए० का ध्यान, लोकमान्य तिलक की इस सूक्ष्म दृष्टि तक नहीं पहुंच पाया, और उन्होंने कल्पित आर्या में 'ब्रुवते' पद के स्थान पर 'पुरुष' पद रखकर संशोधन कर दिया। अब लोकमान्यतिलक के अनुसन्धान और शर्मा जी के संशोधन के आधार पर ईश्वरकृष्ण न ईश्वरवादी रहता है, न पुरुषवादी; केवल प्रकृतिवादी या जड़वादी रह जाता है। इसप्रकार 'घट्टकुट्यां प्रभातः' न्याय के अनुसार फिर वे उसी स्थिति में पहुंच जाते हैं। अर्थात् ईश्वरकृष्ण के केवल प्रकृतिवादी रह जाने की सम्भावना का कोई भी समाधान उनके पास नहीं है, जो इस कल्पित आर्या को स्वीकार करते हैं। इसलिये न तो मूल ग्रन्थ से इस आर्या के निकाले जाने का कोई आधार है, और न इसकी पुनः रचना का कोई आधार है। यह केवल लोकमान्यतिलक की कल्पना, श्रीयुत विल्सन महोदय की भ्रान्ति पर आधारित है। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर वे वास्तविकता को न देख सके।[1]

तिलकोपज्ञ आर्या के लिये, डा० हरदत्त शर्मा द्वारा प्रबल वकालत; उसका आवश्यक विवेचन—

हरदत्त शर्मा एम० ए० ने इस तिलकोपज्ञ आर्या की यथार्थता और मौलिकता को सिद्ध करने के लिये बड़ा बल लगाया है। आपने लोकमान्य तिलक के लेखानुसार इस बात को स्वीकार करके, कि ६१वीं आर्या का गौडपाद भाष्य एक आर्या का भाष्य नहीं, प्रत्युत दो आर्याओं का भाष्य है, आगे यहां तक कल्पना कर डाली है, कि यह ६१वीं आर्या का भाष्य भी हमें इस समय मौलिक आनुपूर्वी में उपलब्ध नहीं होरहा। आपकी धारणा है, कि ईश्वर निरास को

---

१. लोकमान्यतिलक को हमने सदा हार्दिक आस्था से देखा है, फिर भी उनके विचारों से सहमत न होने के कारण हमें ये सच्चे शब्द लिखने पड़े हैं। इसके लिये हम उनकी दिवंगत आत्मा से क्षमा के प्रार्थी हैं।

सहन न करने वाले किसी कुटिलमति ने पहले इस [तिलकोपज्ञ] आर्या को ग्रन्थ से लुप्त किया, फिर किसीने यह समझकर, कि यह भाष्य विना आर्या के है, ६१वीं आर्या के भाष्य के बीच में मिला दिया।

शर्मा जी की यह कितनी भोली कल्पना है। हम पूछते हैं, उस जमाने में किसीको यह कैसे मालूम होगया, कि यह भाष्य विना आर्या के है। सोवनी महोदय और लोकमान्य तिलक आदि विद्वानों के लेखानुसार तो विल्सन महोदय ही सर्वप्रथम ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने एक कारिका के लुप्त होने का सबसे पहले निर्देश किया। यदि उस काल में भी किसीको यह मालूम हो गया था, कि भाष्य विना आर्या के है, आर्या लुप्त होगई है; तो उस समय के साहित्य में कहीं न कहीं प्रसंगवश इसका उल्लेख आया होता। उल्लेख को भी जाने दीजिये, जब किसी के ज्ञान में यह बात आगई थी, तो कम से कम, परम्परा में ही यह चली आती। इस सम्बन्ध में यह कल्पना तो व्यर्थ होगी, कि जिसे यह बात मालूम हुई थी, उसने पाप की तरह इसे छिपा के रक्खा। फिर भाष्य की उलट फेर को दूसरे विद्वानों ने कैसे सहन किया होगा? फिर जिस प्रतिलिपि में यह उलट फेर किया गया, क्या भारत भर में इस ग्रन्थ की वह एक ही प्रति थी? जिस प्रति से कारिका लुप्त कीगई, उसके सम्बन्ध में भी ये प्रश्न समान हैं। फिर गौडपाद भाष्य की ही उलट फेर नहीं, उससे अत्यन्त प्राचीन माठरवृत्ति के उलट फेर की भी कल्पना करनी पड़ेगी; क्योंकि उसके व्याख्यान से भी यही प्रकट होता है, कि यह एक आर्या का भाष्य है, दो का नहीं। शर्मा जी के कथनानुसार, अब न मालूम कितने कुटिलमति व्यक्तियों को ढूंढना पड़ेगा। सचमुच यदि कोई कुटिलमति होता, तो वह कारिका के साथ भाष्य को भी न छोड़ता। वह कैसा कुटिलमति था? जो एक कारिका को निकाल कर समझ बैठा, कि बस अब ईश्वर को आँच न आसकेगी। हमें तो वह मति का कौटिल्य और ही जगह मालूम होरहा है।

शर्मा जी लिखते हैं, ६१वीं आर्या के वर्त्तमान गौडपाद भाष्य की आनुपूर्वी में अर्थकृत सामञ्जस्य नहीं है। आप कहते हैं, "तत्र सुकुमारतरं वर्णयति' इसके अनन्तर, भाष्य का 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' इत्यादि अन्तिम भाग पढ़ना चाहिये। 'सुकुमारतरं वर्णयति' इसके अनन्तर 'केचिदीश्वरं कारणम् ब्रुवते' इत्यादि पाठ अत्यन्त असंगत है। क्योंकि ईश्वरादि की कारणता का कथन, प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन नहीं है, इस बात को कोई स्थूलबुद्धि पुरुष भी भांप सकता है।"[1]

---

१. तत्र सुकुमारतरं वर्णयति'—एतदनन्तरं भाष्यचरमभागः 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' इति पठनीयः। 'सुकुमारतरं वर्णयति' इत्यनन्तरं 'केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते' इत्यादिपाठस्तु नितरामसंगत एव। नहीश्वरादीनां कारणत्वं

प्रतीत होता है, शर्मा जी को इस ग्रन्थ के समझने में कुछ भ्रम हुआ है। यह कहना तो ठीक है, कि ईश्वरादि की कारणता का कथन, प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन नहीं है। परन्तु ईश्वरादि की उपादानकारणता के निषेध द्वारा, प्रकृति की उपादानकारणता का प्रतिपादन ही, प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन है। इसीलिये 'सुकुमारतरं वर्णयति' इस पंक्ति का सम्बन्ध, अनन्तरपठित 'केचिदीश्वरं कारणम् ब्रुवते' इतनी ही पंक्ति के साथ नहीं है, प्रत्युत ईश्वरादि की उपादानकारणता का निषेध करके केवल प्रकृति की उपादानकारणता को सुपुष्ट किया है; और इसीलिये पुरुष जब उसके स्वरूप को जान लेता है, तो प्रकृति यह समझकर कि इसने मेरे स्वरूप को पहचान लिया है, पुरुष के सन्मुख फिर नहीं आती। यहाँ तक प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन है, और यहाँ तक के ग्रन्थके साथ उस पंक्ति का सम्बन्ध है। अभिप्राय है प्रकृति की उपादानकारणता माने जाने पर ही यह सम्भव है, कि वह अपने स्वरूप के पहचाने जाने पर पुरुष के सामने अपना खेल नहीं रचती, उससे छिप जाती है। ईश्वरादि की उपादानकारणता में यह सम्भव नहीं है। यही प्रकृति की सुकुमारतरता (नज़ाकत) का वर्णन है। इतने ग्रन्थ के अनन्तर ही भाष्य में 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' यह पंक्ति है। इसलिये 'सुकुमारतरं वर्णयति' और 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' इन पंक्तियों के मध्य का ग्रन्थ, ईश्वरादि की उपादानकारणता का निषेध करके केवल प्रकृति की उपादानकारणता की पुष्टि द्वारा, विवेकज्ञान होनेपर उस पुरुष के लिये फिर सृष्टिरचना न करना ही प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन करता है। इसीका 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' इस पंक्ति के द्वारा उपसंहार कियागया है। इसीलिये भाष्यकार ने इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए अन्तिम पंक्ति में लिखा है—

> **'अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं सुभोग्यतरं न किञ्चिदीश्वरादिकारणमस्तीति मे मतिर्भवति।'**

'इसीलिये प्रकृति से सुकुमारतर अर्थात् सुभोग्यतर कोई ईश्वरादि कारण नहीं है, यह मेरी धारणा है।' भाष्यकार की इस अन्तिम उपसंहारात्मक पंक्ति का सामञ्जस्य, शर्माजी के द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्थ योजना के अनुसार सर्वथा असम्भव है। मालूम होता है, इसीलिये उनको यहाँ एक और निराधार कल्पना करनी पड़ी है।

प्रकृतेः सुकुमारतरत्ववर्णनम्। अतो ध्रुवं केनचिदीश्वरनिरासासहिष्णुना कारिकेयं लोपिता। अन्येन च केनचिद्वराकेण भाष्यमेतन्मूलकारिकाविहीनमिति मत्वा तथैकषष्टितमकारिकाभाष्यान्तर्निवेशितं यथा स्थूलदर्शनैरपि विभाव्यते।'

हरदत्तशर्मा एम० ए० सम्पादित, गौडपादभाष्य, पूना संस्करण, ६१ कारिका, गौडपाद भाष्य की टिप्पणी; पृष्ठ ५६।

शर्मा जी लिखते हैं, कि इस पंक्ति को भाष्य की उलटफेर करनेवाले व्यक्ति ने अपनी ओर से यहाँ जोड़ दिया है।[1] परन्तु शर्मा जी ने इसके लिये कोई युक्ति उपस्थित नहीं की। केवल कल्पना के बल पर इस बात को कैसे स्वीकार किया जासकता है, कि यह भाष्यकार की अपनी पंक्ति नहीं है, प्रत्युत किसीने प्रक्षिप्त करदी है। पहले तो एक निराधार भ्रान्तिमूलक आर्या की कल्पना, फिर ईश्वरकृष्ण को बलात् निरीश्वरवादी ठहराकर, मूलग्रन्थ से आर्या के निकाले जाने की दूसरी कल्पना, पुनः एक आर्या के भाष्य को उसके कान पूंछ मरोड़कर दो आर्याओं के लिये असामञ्जस्य पूर्णरीति पर तय्यार करने की तीसरी कल्पना, उस असामञ्जस्य को सामञ्जस्य का रूप देने के लिये भाष्य के उलटफेर करने की चौथी कल्पना, उलटफेर से भाष्यगत अर्थों का समन्वय न होने पर उसके लिये भाष्य में प्रक्षेप की पाँचवीं कल्पना, यह कल्पना परम्परा कहाँ समाप्त होगी? यह कल्पनाजाल का किला इन्द्रजाल ही बन रहा है। आपातरमणीयता में ही इसका अस्तित्व है। यह शर्मा जी की सूक्ष्मदृष्टि का सामर्थ्य और साहस है। यह तो केवल गौडपादभाष्य के ऊपर कल्पनाएँ हैं। माठर व्याख्यान के समन्वय का तो अभी सवाल ही नही। शर्माजी ने माठरव्याख्यान[2] के सम्बन्ध में 'यथाकथञ्चित् संग्रन्थनं' कहकर पीछा छुड़ा लिया है। वस्तुस्थिति यह है, कि माठर और गौडपाद के ये व्याख्यान एक ही आर्या के हैं, दो के नहीं। दो आर्याओं के व्याख्यान की भ्रान्ति ने ही यह कल्पनाओं की अनर्थपरम्परा खड़ी की है। ऐसी स्थिति में, ६१वीं आर्या के भाष्य को, दो आर्याओं का भाष्य कोई स्थूलबुद्धि ही समझ सकता है।

हमें आश्चर्य है, कि ग्रन्थ और तत्प्रतिपादित अर्थों का असामञ्जस्य भले होजाय, भले ही उसमें अनेक निराधार कल्पनाएँ करनी पड़ें, परन्तु विल्सन महोदय का भ्रान्ति-मूलक कथन, टस से मस नहीं होना चाहिये, वह तो पत्थर की लकीर है, यह मस्तिष्कगत, दासतापूर्ण मनोवृत्ति, न मालूम भारतीय विद्वानों को कहाँ लेजाकर पटकेगी?

---

१. अत एव 'न पुनदर्शनमुपयाति पुरुषस्य' इत्येतदनन्तरं तेन 'अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं सुभोग्यतरं न किञ्चिदीश्वरादिकारणमस्तीति मे मतिर्भवति' इति सङ्गत्यर्थं प्रक्षिप्तम्। यथा च नैतत्संगच्छते तथा स्फुटमेव। परं च ईश्वरादीनां सुभोग्यत्वादिकथनमपि भृशमनर्थकम्। एवं माठरवृत्तावपि यथाकथञ्चित्संग्रन्थनमेव।' हरदत्तशर्मा एम०ए० द्वारा सम्पादित, गौडपाद-भाष्य, पूना संस्करण, ६१ कारिका गौडपादभाष्य की टिप्पणी, पृष्ठ ५६।

२. एवं माठरवृत्तावपि यथाकथञ्चित् संग्रन्थनमेव। हरदत्त शर्मा एम० ए० द्वारा सम्पादित, गौडपादभाष्य, पूना संस्करण, ६१ कारिका भाष्य की टिप्पणी, पृष्ठ ५६।

तिलकोपज्ञ आर्या की रचना भी शिथिल है—

छन्दःशास्त्र की दृष्टि से तिलककल्पित आर्या की रचना शिथिल है। छन्दः-शास्त्र[1] के अनुसार आर्या के विषम गणों [१, ३, ५ आदि] में जगण का प्रयोग कदापि नहीं होता। परन्तु इस तिलकोपज्ञ आर्या में द्वितीय अर्द्ध का प्रथम गण जगण है। आर्या मात्रिक छन्द है, इसमें चार मात्राओं का एक गण समझाजाता है। मध्यगुरु [। ऽ ।] जगण होता है। इस नियम के अनुसार प्रस्तुत तिलको-पज्ञ आर्या के उत्तरार्द्ध का प्रथम गण [प्रजाः क] जगण है, जिसका प्रयोग यहाँ छन्दःशास्त्र के सर्वथा प्रतिकूल है। ईश्वरकृष्ण रचित ७२ आर्याओं में किसी भी जगह ऐसा असंगत प्रयोग नहीं है। इस कारण से भी यह आर्या ईश्वरकृष्ण की रचना नहीं कहीजासकती।

सोवनी के अवशिष्ट मत का विवेचन—

(३) श्रीयुत सोवनी महोदय ७२वीं कारिका को प्रक्षिप्त बतलाते हैं। ७१वीं कारिका के सम्बन्ध में वे मौन हैं। ७०वीं कारिका को सप्तति का अंग बताने के लिये उन्होंने पर्याप्त वकालत की है। ७०वीं कारिका को सप्तति का अंग मानने तक हम उनसे सहमत हैं, परन्तु जिस आधार पर वे ७०वीं कारिका को सप्तति का अंग बताते हैं, ठीक वही आधार ७१ और ७२ कारिकाओं को भी इस ग्रन्थ का भाग मानने में लागू होजाता है। इसके विवेचन के लिए हम ६९-७२ कारिकाओं को यहाँ १, २, ३ और ४ की संख्याओं से निर्देश करेंगे।

सांख्यतत्त्वों अर्थात् सिद्धान्तों का प्रतिपादन न करने पर भी पहली कारिका इसलिये आवश्यक है, कि वह इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर प्रभाव डालती है। दूसरी इसलिये इस ग्रन्थ का भाग होना आवश्यक है, कि वह प्राचीन आचार्यों की परम्परा का निर्देश करती है। तीसरी इस ग्रन्थ का भाग होना इसलिये अत्यन्त आवश्यक है, कि वहशिष्यपरम्परा के द्वारा उस मूलशास्त्र को ईश्वर कृष्ण तक पहुँचने का निर्देश करती है, जिसने इस सप्तति ग्रन्थ की रचना की। चौथी सबसे अधिक इसलिये आवश्यक है, कि वह उसी मूलग्रन्थ के आधार पर—जिसका परमर्षि कपिल ने सर्वप्रथम उपदेश किया—इस ग्रन्थ की रचना का निर्देश करके इसकी प्रामा-णिकता को सुपुष्ट करती है। तात्पर्य है, इन कारिकाओं में से एक भी पंक्ति को यदि कोई अलग करने की कल्पना करे, तो प्रतिपाद्य अर्थ अधूरा रहकर अनर्थ

---

१. लक्ष्मैतत् सप्तगणा गोपेता भवति नेह विषमे जः।
षष्ठोऽयं न लघुर्वा प्रथमेऽर्द्धे नियतमार्यायाः॥
षष्ठे द्वितीयलात् परके न्ले मुखलाच्च स यतिपदनियमः।
चरमेऽर्द्धे पञ्चमके तस्मादिह भवति षष्ठो लः॥ [वृत्तरत्नाकर]

ही होगा। इन चारों आर्याओं का परस्पर आर्थिक सामञ्जस्य, इतना संघटित एवं संतुलित है, कि उसमें से एक पद भी हटाया जाना अनर्थ का हेतु होसकता है। इसलिये इनमें से किसी कारिका को प्रक्षिप्त बताना दुःसाहसमात्र है। वस्तुतः ग्रन्थ के पूर्वापर का परस्पर असामञ्जस्य, रचना की विशृंखलता, आर्थिक सम्बन्धों का अभाव या परस्पर विरोध मौलिक सिद्धान्तों का विरोध आदि प्रबल कारणों के रहते हुए ही किसी ग्रन्थांश को प्रक्षिप्त कहाजासकता है। मूल ग्रन्थ के किसी भाग पर केवल एक भाष्य का न होना, प्रक्षेप का कारण मानना तो शास्त्र के साथ सर्वथा उपहास करना है।

कारिकाओं की संख्या पर अय्यास्वामी शास्त्री का विचार—

सांख्यसप्तति और उसकी चीनी व्याख्या के संस्कृतरूपान्तरकार[1] अय्यास्वामी शास्त्री ने उक्त ग्रन्थ की भूमिका[2] में लिखा है, कि वर्त्तमान ६३वीं आर्या का तथा उसकी व्याख्या का परमार्थ ने चीनी भाषा में अनुवाद नहीं किया। इस आधार पर उन्होंने परिणाम निकाला है, कि परमार्थ के अनुवाद के अनन्तर किसीने इस कारिका को यहाँ प्रक्षिप्त करदिया है।[3] वस्तुतः परमार्थ के समय यह कारिका और इसकी व्याख्या थी ही नहीं। इसीप्रकार वर्त्तमान अन्तिम आर्या की अवतरणिका में चीनी अनुवाद का संस्कृतरूप है—

'इह मेधावी कश्चिदाहार्याम्—'

'यहाँ पर किसी मेधावी ने इस आर्या को कहा—' इस लेख से यह परिणाम निकलता है, कि किसी बुद्धिमान् व्यक्ति ने इस आर्या को यहाँ मिला दिया है[4], यह आर्या ईश्वरकृष्ण की रचना नहीं है। इसप्रकार इन दोनों [६३ और ७२] आर्याओं के, मूलग्रन्थ में न रहने से कारिकाओं की संख्या केवल ७० रहजाती है। न एक न्यून, न एक अधिक। न लोकमान्य तिलक के समान किसी अन्य आर्या की कल्पना करनी पड़ती है।

अय्यास्वामी के विचार का विवेचन—

यह ठीक है, कि अय्यास्वामी शास्त्री के विचारानुसार तिलकोपज्ञ आर्या को ईश्वरकृष्ण की रचना मानने की आवश्यकता नहीं रहजाती। आर्याओं की

---

१. परमार्थ ने सांख्यसप्तति और उसकी एक व्याख्या का चीनी भाषा में जो अनुवाद किया था, उसीका अय्यास्वामी शास्त्री ने पुनः 'सुवर्णसप्तति शास्त्र' नाम से संस्कृत रूपान्तर कर दिया है।
२. सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ ४३।
३. सुवर्णसप्ततिशास्त्र, आर्या ६३ की टिप्पणी, सं० १।
४. सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ ४३।

सप्तति संख्या भी पूरी होजाती है। परन्तु अब इन विचारों के साथ यह भावना नहीं रहती, कि सत्तर आर्याओं में सांख्यसिद्धान्त विषय का ही प्रतिपादन होना चाहिये। क्योंकि अय्यास्वामी के विचार से सिद्धान्त विषय का प्रतिपादन ६७ आर्याओं में समाप्त होजाता है। उपसंहार की चार आर्याओं में से अन्तिम को निकालकर शेष तीन को इनमें जोड़ने से ७० संख्या पूरी होजाती है।

यद्यपि अपने विचार की पुष्टि के लिये अय्यास्वामी ने उसी आधार का आश्रय लिया है, जिसका विल्सन आदि ने अपने विचारों के लिये। वह आधार है—कारिका पर व्याख्या का न होना। अन्तर इतना है, कि विल्सन आदि उन आर्याओं को प्रक्षिप्त कहते हैं, जिन पर गौडपाद का भाष्य नहीं है, और अय्यास्वामी उसको प्रक्षिप्त कहते हैं, जिस आर्या पर चीनी अनुवाद नहीं है। यह निश्चित है—चीनी अनुवाद, गौडपाद से प्राचीन है। ऐसी स्थिति में डॉ० विल्सन आदि का कथन सर्वथा निराधार रहजाता है।

अब अय्यास्वामी के इस विचार के लिये—कि ६३वीं आर्या पर चीनी अनुवाद न होने से वह प्रक्षिप्त है—यह पहले कहाजाचुका है, कि माठरवृत्ति आदि प्राचीन व्याख्याओं[1] में इस आर्या की व्याख्या विद्यमान है।

तिलक ने अपनी कल्पित कारिका को मूलग्रन्थ से निकाले जाने का कोई कारण [उसमें ईश्वर का खण्डन होना] बताया, चाहे वह कारण कल्पित हो। इसीप्रकार अन्तिम कारिकाओं को प्रक्षिप्त कहने वाले व्यक्ति, उनके प्रक्षेप का कारण बताते हैं, कि उनमें मूल विषय का प्रतिपादन नहीं है; और ग्रन्थ में जोड़े जाने का कारण बताते हैं, कि उनमें प्रस्तुत ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध में अनेक आवश्यक सूचनाओं का वर्णन है। परन्तु अय्यास्वामी ने जिस ६३वीं कारिका को प्रक्षिप्त बताया है, उसका यहाँ प्रक्षेप होने में कोई कारण निर्दिष्ट नहीं किया; अर्थात् जिस किसी विद्वान् ने इस कारिका को यहाँ प्रक्षिप्त किया होगा, उसने किस कारण से अथवा किस प्रयोजन के लिये इसका प्रक्षेप किया ? यह स्पष्ट होना चाहिये। परन्तु अय्यास्वामी ने इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला है।

चीनी अनुवाद का आधार माठरवृत्ति को मानने पर यह आशंका होसकती है, कि चीनी में इसका अनुवाद क्यों नहीं हुआ ? इसके लिये निम्न विचार प्रस्तुत हैं—

(क) ६२वीं आर्या के चीनी अनुवाद के अन्तिम भाग में, ६३वीं आर्या का कुछ आशय आजाने से, तथा ६५वीं आर्या में प्रकारान्तर से इसी अर्थ का पुनः

---

१. यद्यपि अय्यास्वामी शास्त्री ने माठरवृत्ति का काल बहुत अर्वाचीन [१००० A. D. के लगभग] बताया है, परन्तु इस विचार की तथ्यता के लिये इसी ग्रन्थ के सप्तम अध्याय का माठर-प्रसंग देखें।

कथन किये जाने से, सम्भव है अनुवादक ने यहाँ इसके अनुवाद की उपेक्षा कर दी हो।

(ख) माठरवृत्ति में ६३वीं आर्या की कोई विशेष व्याख्या नहीं। केवल आर्या के पदों का अन्वयमात्र दिखादियागया है। यह भी अनुवाद की उपेक्षा का कारण होसकता है।

(ग) सम्भव है—उपलभ्यमान चीनी अनुवाद में, किसी समय यहाँ का पाठ खण्डित होगया हो, इसी कारण आज वह अनुपलब्ध हो।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत अर्थक्रम के अनुसार, ६३वीं आर्या को ग्रन्थ से बाहर किया नहीं जासकता। ६२वीं आर्या में प्रकृति को बन्ध और मोक्ष दोनों का आधार कहा है। इसके आगे, किस रूप से प्रकृति बन्ध का आधार है, और किस रूप से मोक्ष का; इसीको ६३वीं आर्या में वर्णित कियागया है। इसके आगे, जिस एक रूप से प्रकृति मोक्षका आधार है, उस विवेकज्ञान का निरूपण ६४वीं आर्या में है। इसप्रकार अर्थक्रम के अनुसार, ६३वीं आर्या को यहाँ से हिलाया नहीं जासकता। इस अर्थ का आर्याओं में और भी कहीं इस रूप में निरूपण नहीं है, जिससे इसे गतार्थ समझा जाता। ऐसी स्थिति में केवल चीनी अनुवाद उपलब्ध न होने के कारण ६३वीं आर्या को प्रक्षिप्त बताना निराधार है। यही बात अन्तिम आर्या के सम्बन्ध में कही जासकती है। अन्तिम आर्या के, पहली आर्याओं के साथ अर्थ सम्बन्ध को इसी प्रकरण में विस्तारपूर्वक स्पष्ट कियाजाचुका है।

क्योंकि इस आर्या का चीनी अनुवाद उपलब्ध है, अतः अय्यास्वामी शास्त्री ने यह स्वीकार किया है, कि इस आर्या का प्रक्षेप, चीनी अनुवाद होने से पूर्व होचुका था। यद्यपि यह अनुमान कियाजाना कठिन है, कि चीनी अनुवाद से कितने पूर्व इस आर्या का प्रक्षेप हुआ। परन्तु हम यह स्पष्ट करदेना चाहते हैं, कि इस आर्या के चीनी अनुवाद की अवतरणिका के आधार पर इसके प्रक्षिप्त होने का अनुमान नहीं कियाजासकता।

(क) पहली बात है, चीनी अनुवाद की इस अवतरणिका का पाठ सर्वथा निःसन्दिग्ध नहीं हैं। सम्भव है, अनुवाद के वास्तविक पाठ में लेखकादि प्रमाद से कुछ अन्तर आकर, पाठ का वर्त्तमान उपलब्ध आकार बन गया हो। और वास्तविक पाठ कुछ इसप्रकार का हो—

'इहापि स विपश्चिदाहार्याम्-'

उपान्त्य आर्या में ईश्वरकृष्ण ने अपने लिये 'आर्यमति' पद का प्रयोग किया है। सम्भव है, चीनी अनुवादक ने इसी समीप संस्मरण से उसका 'स विपश्चित्' इन पदों के द्वारा उल्लेख किया हो। परन्तु चीनी लिपि में इन उच्चारणों के के लिये जो आकृतियाँ हैं, उनकी समानता असमानता के सम्बन्ध में हम निश्चित सम्मति नहीं देसकते।

(ख) दूसरी बात है–माठरवृत्ति में इस तरह की कोई अवतरणिका नहीं है। इन दोनों ग्रन्थों [माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद] की उपान्त्य कारिका की अवतरणिका तथा अन्तिम आर्या की व्याख्याओं में अत्यधिक समानता है। इससे यह अनुमान कियाजासकता है, कि चीनी अनुवादक, माठरवृत्ति के प्रतिकूल, अन्तिम आर्या की अवतरणिका में ऐसा लेख नहीं लिख सकता, जो इस आर्या के ईश्वरकृष्ण-रचित होने में सन्देह उत्पन्न करे।

(ग) इसके अतिरिक्त अन्तिम आर्या का अन्तिम पद, इस बात को स्पष्ट करता है, कि ग्रन्थ की समाप्ति यहीं पर होनी चाहिये। यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है, कि यह अन्तिम 'इति' पद, माठरवृत्ति और सुवर्ण-सप्ततिशास्त्र के पाठों में ही है। माठर में इस पद का विवरण किया है। चीनी व्याख्यान में भी इसका व्याख्यान उपलब्ध है। अन्य किसी व्याख्या में अन्तिम पद 'इति' उपलब्ध नहीं होता। वहाँ कालान्तर में किसी कारण 'इति' पद के स्थान पर 'अपि' पद आगया है। इससे यह अनुमान कियाजासकता है, कि चीनी अनुवादक इस आर्या को ग्रन्थ की अन्तिम आर्या समझता था, और इस आर्या पर ही ग्रन्थ की समाप्ति समझता था। फिर वह इस आर्या की अवतरणिका में ऐसा लेख नहीं लिखसकता था, जो इस भावना के प्रतिकूल हो। ऐसी स्थिति में ६३वीं और ७२वीं आर्या को प्रक्षिप्त मानना, अर्थात् ईश्वरकृष्ण की रचना न मानना युक्तिसंगत नहीं कहाजासकता।

यदि अन्तिम ७२वीं आर्या की अवतरगणिका का वही रूप ठीक मानलिया-जाय, जो चीनी अनुवाद के संस्कृतरूपान्तर में दियागया है, और उसका वही अर्थ समझाजाय, जो अय्यास्वामी शास्त्री ने समझा है, तो उससे यह अभिप्राय भी स्पष्ट होजाता है, कि चीनी अनुवादक परमार्थ इस बात को निश्चित रूप में जानता था, कि यह कारिका ईश्वरकृष्ण की रचना नहीं है, फिर भी उसने इसके चीनी अनुवाद में क्यों आदर किया ? यह स्पष्ट नहीं होता।

यह निश्चित है, परमार्थ ने सांख्यसप्तति की किसी प्राचीन संस्कृत व्याख्या का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। वह प्राचीन संस्कृत व्याख्या–माठरवृत्ति सम्भव है। तब माठरवृत्ति में इस भावना का कुछ निर्देश होना चाहिये था, जो ७२वीं आर्या की अवतरणिका के चीनी अनुवाद में प्रकट कीगई है। परन्तु माठरवृत्ति में इस भावना की गन्ध का भी न होना, स्पष्ट करता है, चीनी अनुवाद का पाठ सन्दिग्ध है। फिर यदि परमार्थ, इस बात को जानता था, कि अन्तिम कारिका ईश्वरकृष्ण की रचना नहीं है, तो इसका कुछ सूत्र भारतीय परम्परा में मिलना चाहिये था, बहरहाल उसने इस बात को भारत में रहते हुए ही जाना होगा। परन्तु इस विषय के भारतीय साहित्य में तथा परम्परा या अनुश्रुति में किसी ऐसी भावना का पता नहीं लगता, न सांख्यसप्तति के किसी

अन्य व्याख्याकार ने ऐसा लिखा है। इसलिये ७२वीं आर्या की अवतरणिका के चीनी अनुवाद और संस्कृतरूपान्तर का वर्त्तमान पाठ, सन्दिग्ध समझा जाना चाहिये। जिससे अन्तिम आर्या के, मूलग्रन्थ का भाग माने जाने में कोई बाधा नहीं रहती।

वस्तुतः ७२वीं आर्या की अवतरणिका का पाठ चीनी अनुवाद के अनुसार स्वीकार करने पर भी वह अपने रूप में इतना प्रबल प्रमाण नहीं है, जिसके आधार पर अन्तिम आर्या को ईश्वरकृष्ण की रचना न मानाजाय। उपसंहार की इन चार आर्याओं का परस्पर गुथा हुआ आर्थिक सम्बन्ध इतना दृढ़ एवं अनुपेक्षणीय है, जिसको अन्यथा नहीं कियाजासकता। अन्तिम आर्या में जो कुछ कहागया है, उसे ग्रन्थकार के अतिरिक्त अन्य कोई कहसके; ऐसा कोई विचारशील बुद्धिमान् स्वीकार न करेगा। इसलिये चीनी अनुवाद की उपलब्ध अवतरणिका में 'कश्चित्' पद किसी अज्ञात व्यक्ति का निर्देश न कर व्यंग्य के साथ उपान्त्य आर्या में ग्रन्थकार द्वारा अपने लिये कियेगये 'आर्यमति' पद के प्रयोग का स्मरण करारहा है; ऐसा सम्भव है। बौद्ध विद्वान् परमार्थ द्वारा वैदिक विद्वान् ईश्वरकृष्ण के लिये ऐसा व्यंग्य कियाजाना कोई मर्यादा के बाहर नहीं है। यह किसी अज्ञात व्यक्ति के लिये प्रयोग नहीं हुआ।

सप्तति संख्या और तनुसुखराम शर्मा—

चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस से प्रकाशित माठरवृत्ति की भूमिका में तनसुखराम शर्मा महोदय ने, कारिकाओं की सप्तति संख्यापूर्त्ति का एक और मार्ग सुझाया है। आपका विचार है–[1] ग्रन्थके "सांख्यसप्तति–इस नाम के आधार पर, सांख्यसिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाली कारिकाओं की संख्या सत्तर होनी चाहिये। परन्तु सब पुस्तकों में ६९[2] आर्याओं के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन देखाजाता है। इसलिये बाल गंगाधर तिलक ने ६१वीं कारिका की माठरवृत्ति[3]

---

१. बनारस से प्रकाशित गौडपादभाष्य की भूमिका [संस्कृत में], पृष्ठ ७।

२. विल्सन और तिलक की तरह तनुसुखराम शर्मा महोदय ने भी सांख्यसिद्धान्त का प्रतिपादन ६९ आर्याओं में माना है। परन्तु यह कथन सर्वथा असंगत है। पहले भी इसका निर्देश करदियागया है।' वस्तुतः मूल अर्थ का प्रतिपादन ६८ आर्याओं में समाप्त होजाता है।

३. परन्तु गीतारहस्य [प्रथम संस्करण, पृ० १६३] में स्वयं तिलक ने लिखा है, कि उन्होंने गौडपादभाष्य के आधार पर इस आर्या का संकलन किया है।

को सूक्ष्मदृष्टि से विचारपूर्वक देखकर एक[1] आर्या का संकलन किया।"

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है, कि वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता [१।७] की भट्टोत्पलकृत 'विवृति' नामक व्याख्या में सांख्यसप्तति की २७वीं आर्या का पाठ इसप्रकार दियागया है—

संकल्पकमत्र मनस्तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम्।
अन्तस्त्रिकालविषयं तस्मादुभयप्रचारं तत्।"[2]

यहाँ उत्तरार्ध का पाठ प्रचलित[3] पाठ से भिन्न है। इसलिये यह सन्देह

---

१. वह आर्या इसप्रकार है—

'कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च॥'

इस आर्या के 'ब्रुवते' पद के स्थान पर, हरदत्त शर्मा एम० ए० महोदय के समान, तनसुखराम शर्मा ने भी 'पुरुषं' पद का प्रयोग किया है, जो तिलक के पाठ में नहीं है।

२. यह पाठ, भट्टोत्पल-विवृति के अतिरिक्त, सांख्यसप्तति की 'युक्तिदीपिका' नामक व्याख्या में भी उपलब्ध होता है। चीनी अनुवाद में पूर्वार्ध, युक्तिदीपिका अथवा भट्टोत्पल-विवृति के अनुसार है; और उत्तरार्ध, माठर आदि के प्रचलित पाठ के अनुसार। भट्टोत्पल का पाठ युक्तिदीपिका का अनुसरण करता है।

३. आर्या का प्रचलित पाठ इसप्रकार है—

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं ग्राह्यभेदाच्च॥

अन्तिम पद के स्थान पर 'बाह्यभेदाच्च' [गौडपाद, वाचस्पति] तथा 'बाह्यभेदाश्च' [जयमंगला, चन्द्रिका] ये पाठान्तर भी हैं।

युक्तिदीपिका और भट्टोत्पल के पाठ में आर्या के पूर्वार्ध की आनुपूर्वी भी प्रचलित पाठ के साथ समानता नहीं रखती। यद्यपि एक पद ['साधर्म्यात्' प्रचलित पाठ; 'समाख्यातम्' युक्तिदीपिका, भट्टोत्पल पाठ] को छोड़कर शेष सब पद दोनों पाठों में समान हैं, परन्तु उनकी आनुपूर्वी में अन्तर है। दोनों प्रकार के पाठों को सन्मुख रख, उनकी समानता असमानता इसप्रकार स्पष्ट कीजासकती है—

संकल्पकं अत्र मनः तच्च इन्द्रियं उभयथा समाख्यातम्।
[युक्तिदीपिका, भट्टोत्पल पाठ]

उभयात्मकं अत्र मनः संकल्पकं इन्द्रियं च साधर्म्यात्। [प्रचलित पाठ]

इन पाठों की आनुपूर्वी में कुछ भेद होने पर भी, अर्थ में कोई विशेषता नहीं है। और पद भी प्रायः समान हैं, इसलिये ऐसा भेद, कोई वास्तविक भेद नहीं कहाजासकता। उत्तरार्ध का पाठ अवश्य भिन्न है, जो विचारणीय है। इसका विवेचन मूलग्रन्थ में ऊपर देखिये।

कियाजासकता है, कि प्रस्तुत पाठ के उत्तरार्ध भाग का, वास्तविक पूर्वभाग नष्ट होगया है। उस नष्ट हुए पूर्वार्ध पाठ के साथ, आर्या के प्रस्तुत पाठ के उत्तरार्ध भाग को जोड़कर एक २७वीं आर्या थी। प्रचलित पाठ की आर्या २८वीं थी।"

तनुसुखराम शर्मा महोदय ने इन पाठों के आधार पर जो उद्भावना प्रकट की है, वह विचारणीय अवश्य है। वे मानते हैं, कि मूल अर्थ की प्रतिपादक आर्याओं की संख्या ७० होनी चाहिये। तिलक की कल्पना का यद्यपि उन्होंने साक्षात् प्रतिषेध नहीं किया; परन्तु उसकी समता में अपनी एक नई कल्पना प्रस्तुत करदी है, जिसको सर्वथा निराधार नहीं कहाजासकता। सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका व्याख्या में इसी पाठ के अनुसार विवरण होने से उक्त कथन की प्रामाणिकता को आंशिक सहायता मिलजाती है। इसप्रकार मूल अर्थ की सत्तर आर्या मानने पर भी श्री तनुसुखराम शर्मा ने उपसंहारात्मक अन्तिम चार आर्याओं को ईश्वरकृष्ण की रचना माना है; उन्हें प्रक्षिप्त नहीं बताया।

शर्माजी की इस उद्भावना के सम्बन्ध में हमारा विचार है, कि २७वीं आर्या के उत्तरार्ध का पाठभेद उनके इस कथन का आधार कहाजासकता है। पूर्वार्ध के पाठ में आनुपूर्वी का कुछ अन्तर होने पर भी, अर्थ की सर्वात्मना समानता होने से उसे ऐसा भिन्नपाठ नहीं कहाजासकता, जिसके आधार पर अन्य आर्या की कल्पना कीजासके। भिन्न पाठ वाले उत्तरार्ध के साथ जिस पूर्व भाग के नष्ट होजाने की संभावना कीगई है, उसका कोई आधार अवश्य होना चाहिये। सप्तति की किसी व्याख्या में उसकी कोई सूचना या निर्देश नहीं मिलता। नष्ट आर्या के स्वरूप का भी कोई अनुमान नहीं लगाया गया। प्रस्तुत प्रसंग में अर्थ की कोई असंगति मालूम नहीं होती; जिसके कारण बीच में कारिका के टूट जाने या निकल जाने का अनुमान लगाया जासके। फिर उसके नष्ट होजाने का कोई कारण शर्मा जी ने नहीं बताया। ये सब ऐसी बातें हैं, जिनपर प्रकाश डाला जाना आवश्यक था। अन्यथा किसी कारिका या उसके भाग का नष्ट होना या अतिरिक्त कल्पना कियाजाना, निराधार होगा।

उत्तरार्ध के जिस पाठ-भेद के आधार पर, उसके पूर्वार्ध के नष्ट होने की कल्पना कीगई है, वह अवश्य विचारणीय है। इस उत्तरार्ध में अन्तःकरण मन को त्रिकालविषयक बताया गया है, और कहागया है, कि इसीकारण उसे दोनों रूप—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप—माना जाना चाहिये। मन का उभयरूप होना तो इस आर्या के पूर्वार्ध में बता दिया गया है, उत्तरार्ध में केवल उसके त्रिकाल-विषय होने का नया कथन है। मनकी उभयरूपता में इसको [त्रिकालविषयत्व को] हेतुरूप से उपस्थित कियागया है। यदि हेतु का निर्देश यहाँ न भी किया जाय, तो मनकी उभयरूपता तो पूर्वार्ध से ही स्पष्ट है। आगे ३३ वीं आर्या के

चतुर्थचरण[1] में अन्तःकरण की त्रिकालविषयता का निरूपण है। इसलिये प्रस्तुत आर्या में उसका कथन अनावश्यक कहाजासकता है। क्योंकि यहाँ पर (प्रस्तुत २७वीं आर्या में) इस हेतु का कथन न किये जाने पर भी मूल अर्थ के प्रतिपादन में कोई अन्तर या न्यूनता नहीं आती; इसलिये २७वीं आर्या के उत्तरार्ध का युक्तिदीपिका तथा भट्टोत्पल संमत पाठ कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण या अवश्य स्वीकरणीय नहीं कहाजासकता।

इसके विपरीत प्रस्तुत आर्या के प्रचलित पाठ का उत्तरार्ध, इन्द्रियों के नानात्व, विचित्रता या विभेद के कारण का प्रतिपादन करता है, जो जगत् के नानात्व का भी उपलक्षण कहाजासकता है, और मनकी उभयात्मकता का भी उसी तरह साधक है। इस अर्थ का प्रतिपादन कारिकाओं में अन्यत्र कहीं नहीं है। मनकी उभयात्मकता और इन्द्रियों की परस्पर या उनसे मनकी विलक्षणता के कारण का निर्देश करके उत्तरार्ध का पूर्वार्ध के साथ, अर्थकृत सम्बन्ध स्पष्ट कियागया है। फिर मनकी उभयात्मकता में, उसका त्रिकालविषयक होना, इतना स्पष्ट हेतु नहीं है, जितना कि गुणपरिणामविशेष। इसलिये प्रस्तुत आर्या के उत्तरार्ध का प्रचलित पाठ ही अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है।

फिर भी दूसरे पाठ की प्राचीनता में सन्देह नहीं कियाजासकता; युक्तिदीपिका का समय चीनी अनुवाद से प्राचीन[2] है। प्रतीत होता है, चीनी अनुवादक के सन्मुख दोनों प्रकार के पाठ थे। परन्तु उसने पाठ की विशेषता या अर्थ-गाम्भीर्य के कारण उत्तरार्ध के प्रचलित पाठ को स्वीकार किया; जबकि पूर्वार्ध के पाठ की आनुपूर्वी, युक्तिदीपिका के अनुसार दीगई है। यह संभव है– उत्तरार्ध के इस पाठ का उपज्ञ, युक्तिदीपिकाकार हो। मन की उभयात्मकता में उसने त्रिकालविषयत्व हेतु की उद्‌भावना कर, उसका मूल ग्रन्थ में सन्निवेश कर दिया हो, और पूर्वनिर्दिष्ट कारण को हटा दिया हो। उसके ग्रन्थ को देखने से उसकी उद्‌भट-मनोवृत्ति का पता लगता है। आशा होसकती है, उसने ऐसा परिवर्त्तन कर दिया हो। भट्टोत्पल ने बृहत्संहिता की विवृत्ति में, युक्तिदीपिका के आधार पर आर्याओं का उल्लेख किया है, यह निश्चित है। भट्टोत्पल से बहुत पहले चीनी अनुवादक परमार्थ के सन्मुख दोनों पाठ थे। इसमें यह एक अच्छा प्रमाण है, कि उसने आर्या का पूर्वभाग, युक्तिदीपिका के अनुसार, और उत्तरभाग प्राचीन प्रचलित पाठ के अनुसार माना है। प्रचलित पाठ की अर्थ-कृत विशेषता

---

१. त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्।
२. 'सांख्यसप्तति के व्याख्याकार' नामक अध्याय में युक्तिदीपिका–प्रसंग देखें। बृहत्संहिता के व्याख्याकार भट्टोत्पल से युक्तिदीपिकाकार निश्चित प्राचीन है।

के कारण, युक्तिदीपिका के पाठ की उसने उपेक्षा की है। माठर तो युक्तिदीपिका से पर्याप्त प्राचीन है, पर अनन्तर होने वाले व्याख्याकारों ने युक्तिदीपिका के पाठ को उपेक्षणीय समझा है। ऐसी स्थिति में इसके साथ, किसी पूर्वभाग के नष्ट होने की कल्पना करके एक नई आर्या की उद्भावना करना असंगत होगा।

डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय ने युक्तिदीपिका[1] की भूमिका के पृष्ठ ४९ पर लिखा है–[2] "सुवर्णसप्तति में ७२ वीं कारिका का निर्देश 'इह मेधावी कश्चिदाह आर्याम्' कहकर किया है, कि इस आर्या को किसी मेधावान् व्यक्ति ने कहा है। युक्तिदीपिका भी इसको स्वीकार करती प्रतीत होती है, कि यह आर्या सांख्यसप्तति का भाग नहीं है। युक्तिदीपिका नियमित रूप से कहीं भी 'आह च' कहकर किसी कारिका का निर्देश नहीं करती। यह मुहावरा युक्तिदीपिका में या तो वहाँ प्रयुक्त हुआ है, जहाँ किसी अन्य का वाक्य अथवा विचार बताना हो; या कभी अपने वाक्य या विचार को बताने के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। ऐसी स्थिति में युक्तिदीपिका 'आह च' कहकर ७२ वीं आर्या का निर्देश करती है। जिससे निश्चित है–यह कारिका बाद में यहाँ मिलाई गई है। यह बात इससे और भी पुष्ट होती है, कि इस कारिका के नीचे के गद्यभाग में कारिका के

---

१. युक्तिदीपिका का एक संस्करण कलकत्ता से सन् १९३८ में प्रकाशित होचुका है। यह अन्य संस्करण दिल्ली के व्यवसायी मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित किया है, जिसके सम्पादक डॉ० पाण्डेय है।

2. The 72nd karika is regarded by the Suvarna-saptati as a composition of "some Intelligent man" (the medhave kascidaha aryam). The YD also seems to regard it not a part of the SK text. The YD does, as a rule, never introduce a karika with words "aha ca." He uses this phrase eithor while introducing a line or the view of others or sometimes of his own. In this case, he introduces the karika (72) after "aha ca" (see P 146) which to me is a definite indication of a later origion of this karika. This is further confirmed by the fact that in the following prose portion, no attempt is made to explain even a single word of the karika. So according to both the Suvarna-saptati, and the YD, this karika is not from the pen of Isvarakrsna. But other commentators have accepted this as a part of the SK text. Does This imply antiquity of these two commentariese over others ? Nothing can be said definitely on this quesition.

एक भी पद का अर्थ नहीं कियागया। इसप्रकार सुवर्णसप्तति और युक्ति-दीपिका इन दोनों व्याख्याकारों के अनुसार यह कारिका ईश्वरकृष्ण की रचना नहीं है। परन्तु अन्य व्याख्याकारों ने इसको सांख्यसप्तति का भाग स्वीकार किया है। क्या इससे यह मानाजाय ? कि पहली दोनों व्याख्या अन्य व्याख्याओं से प्राचीन हैं ? इस प्रश्न पर निश्चय कुछ नहीं कहाजासकता।"

डॉ० पाण्डेय के कथन का सारांश है, युक्तिदीपिका में ७२ वीं आर्या 'आह च' कह कर निर्दिष्ट कीगई है; ग्रन्थकार ने इस मुहावरे का प्रयोग अपनी प्रस्तुत रचना में पूर्वपक्ष अथवा अन्य पक्ष के लिये किया है। कहीं अपने लिये भी है। डॉ० पाण्डेय ने इससे समझा है, कि युक्तिदीपिकाकार इस ७२ वीं आर्या को ईश्वरकृष्ण की रचना नहीं मानता। यही परिणाम पाण्डेय महोदय ने सुवर्ण-सप्तति में उक्त आर्या की अवतरणिका–'इह मेधावी कश्चिदाह आर्याम्' से प्रकट किया है। पर अन्य माठर, वाचस्पति आदि व्याख्याकारों ने इस आर्या [७२ वीं] को सांख्यसप्तति का अंग माना है, तो क्या इससे यह समझा जासकता है, कि वे दोनों [युक्तिदीपिका, सुवर्णसप्तति] व्याख्या अन्य व्याख्याओं से प्राचीन हैं ? आगे डा० पाण्डेय का स्वयं कहना है–इस प्रश्न पर निश्चित कुछ नहीं कहाजासकता।

जहाँ तक सुवर्णसप्तति की ७२ वीं आर्या पर अवतरणिका का प्रश्न है; गत पंक्तियों में उस पर यथोचित पर्याप्त विवेचन कियाजाचुका है। युक्तिदीपिका की अवतरणिका विवेच्य है—

७२ वीं आर्या की युक्तिदीपिका व्याख्या के विषय में डॉ० पाण्डेय का कहना है–व्याख्याकार ने प्रस्तुत आर्या के एक पद का भी अर्थ नहीं किया। 'आह च' इस अवतरणिका के साथ, एक भी पद का अर्थ न करना व्याख्याकार की इस भावना को अभिव्यक्त करता है, कि वह इस आर्या को मूल ग्रन्थ का भाग नहीं समझता।

विचारणीय है, आर्या में कोई ऐसे गूढ़ पद नहीं हैं, जिनका आवश्यकरूप से अर्थ देना अपेक्षित हो। आर्या का प्रत्येक पद अत्यन्त स्पष्ट है। पद के उच्चारण मात्र से अर्थबोध होजाता है। जहाँ तक 'आह च' इतनीमात्र अवतरणिका का प्रश्न है; संभवतः सम्पादक को इस विषय में भ्रम हुआ प्रतीत होता है। ७१वीं आर्या के नीचे युक्तिदीपिका व्याख्या का जो गद्य भाग है; उसका सीधा सम्बन्ध ७२वीं आर्या से है। वह सम्पूर्ण गद्यभाग ७२वीं आर्या के अवतरणिकारूप में सम्पादित होना चाहिये था। ७१वीं आर्या के अनन्तर गद्यभाग इसप्रकार है—

"कथं चास्य सम्यक्सिद्धान्तविज्ञानस्याप्यनेकग्रन्थशत सहस्राख्येयंसांख्यपदार्थ-सतत्त्वमखण्डमार्याणां सप्तत्या संक्षिप्तवान् ? आह च—

सप्तत्यां किल येऽर्थाः" इत्यादि,

७१वीं आर्या में कहा है–शिष्यपरम्परा द्वारा प्राप्त सिद्धान्त को अच्छी तरह जानकर आर्यमति ईश्वरकृष्ण ने उसका आर्याओं से [आर्या छन्द के रूप में] संक्षेप किया[1]। युक्तिदीपिका के इस गद्यभाग में आर्या के किसी पद का अर्थ नहीं किया। आर्या के नीचे व्याख्या का गद्यभाग ऊपर उल्लिखित है। उसमें आशंका प्रस्तुत की है–ईश्वरकृष्ण के सम्यक् सिद्धान्तज्ञाता होने पर भी अनेक सैकड़ों-सहस्रों ग्रन्थों द्वारा वर्णित सांख्यीय अर्थ को तात्त्विक एवं पूर्णरूप में उसने सप्तति आर्याओं में किसप्रकार संक्षेप किया? इस आशंका का समाधान करने के लिये व्याख्याकार ने 'आह च' कहा। अर्थात् यह बताते हैं, कि उसने संक्षेप किसप्रकार किया। उसके आगे ७२वीं आर्या है, जिसमें उक्त आशंका का समाधान है। डॉ० पाण्डेय ने जो इसका अर्थ समझा; उससे ठीक विपरीत अर्थ इसका स्पष्ट होता है। युक्तिदीपिकाकार ७१वीं आर्या से ७२वीं आर्या का उक्त अवतरणिका द्वारा सीधा सम्बन्ध जोड़कर दृढ़ता के साथ अपनी यह भावना अभिव्यक्त करता है, कि ७२वीं आर्या मूलग्रन्थ सांख्यसप्तति का अभिन्न अंग है।

७२वीं आर्या के नीचे युक्तिदीपिका के गद्यभाग में यद्यपि आर्या के पदों का अर्थ नहीं किया, जो अपेक्षित भी न था; परन्तु अवतरणिका में सांख्यीय अर्थ के विस्तृत वाङ्मय का जो संकेत किया है, उसकी पूर्णरूप में पुष्टि इस गद्य-भाग से कीगई है; जिसमें अनेक प्राचीन आचार्यों के नाम लेकर उनके द्वारा सांख्यीय अर्थों को स्वीकृत व प्रशस्त बतायागया है। उनका आधारभूत आदि परमर्षि का जो मूल आगम-षष्टितन्त्र है, उसीका संक्षेप कर ईश्वरकृष्ण ने अपनी रचना सांख्यसप्तति की प्रामाणिकता को स्पष्ट किया है। ७२वीं आर्या के ऊपर नीचे के दोनों गद्यभागों के परस्पर पूर्ण सामञ्जस्य के कारण यह परिणाम निकाला जाना अविचारित-रमणीय है, कि युक्तिदीपिकाकार ७२वीं आर्या को सांख्यसप्तति का भाग नहीं समझता। वस्तुतः यह सम्पादन की त्रुटि है, जो अन्तिम आर्या के प्रथम पठित युक्तिदीपिकागत गद्यभाग को प्रस्तुत आर्या की अवतरणिका न समझाजाकर उपान्त्य आर्या की व्याख्या के रूप में मुद्रित कराया गया है।

जहां तक सुवर्णसप्तति की अवतरणिका [इह मेधावी कश्चिदाह आर्याम्] का प्रश्न है; डॉ० पाण्डेय ने कदाचित् ईश्वरकृष्ण को मेधावी न समझा हो;

---

१. शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम्॥

२. सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चेति॥

यद्यपि स्वयं ईश्वरकृष्ण ने गत कारिका (७१) में अपने लिये 'आर्यमति' विशेषण दिया है। आजका अनुसन्धाता उसे फिर भी 'कुमति' बताना चाहता है। सुवर्णसप्तति व्याख्याकार (अथवा चीनी अनुवादक) का यह भाव कदापि नहीं, वह ग्रन्थकार द्वारा अपने आपको 'आर्यमति' बताये जाने का ही, अवतरणिका की उक्त पंक्ति से स्मरण करारहा है। इसके लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं, कि लेखक ने इस पंक्ति को ईश्वरकृष्ण के लिये न लिखकर अन्य किसीके लिये लिखा है।

सांख्यसप्तति की अन्तिम आर्या को प्रक्षिप्त बताने के लिये डॉ० विलसन से लगाकर आज तक के लेखकों द्वारा बड़ा बल लगाया जारहा है। उस समय पर्याप्त साधनों के अभाव में अति साधारण आधार [अन्तिम आर्याओं पर गौडपाद का भाष्य न होना, आदि] पर जो लिखागया, वह क्षम्य मानाजासकता है; पर आज वह स्थिति नहीं है। आश्चर्य है, डॉ० पाण्डेय जैसे विद्वान् ने तथ्य को पकड़ने का क्यों उचित प्रयास नहीं किया।

अन्तिम आर्या को प्रक्षिप्त बताने के लिये संभवतः इतना सबल प्रयास इसीलिये कियाजाता है, कि इस आर्या में ईश्वरकृष्ण का बयान [Statement] वर्त्तमान सांख्यदर्शन [षडध्यायात्मक] को कापिल षष्टितन्त्र मानेजाने में इतना प्रबल प्रमाण है, कि उसको चुनौती देना कठिन है। इसके प्रतीकार के लिये सरल उपाय यही है, कि इस आर्या को ईश्वरकृष्ण की रचना न मानाजाय 'न होगा बाँस न बजेगी बाँसुरी'। अबसे पचास वर्ष पहले 'अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद्' के पञ्चम अधिवेशन के अवसर पर लाहौर में, अधिवेशन के अध्यक्ष कलकत्ता-निवासी महामहोपाध्याय डॉ० हरप्रसाद शास्त्री के साथ व्यक्तिगत चर्चा में सांख्यविषयक मेरे विचारों को सुनकर शास्त्री जी के मुख से मेरे प्रति ये शब्द निकले थे—'शास्त्रिन्। अतिभयंकरं एतत्'। मेरा उत्तर था—'सति विचारे भगवन्! भयमपगमिष्यति मूलतः'। वह भय अभीतक अनेक व्यक्तियों को सालता रहता है। सालता रहेगा तबतक, जबतक पूर्वाग्रहों से अभिभूत होकर अन्धेरे में आलोडन चलता रहेगा।

'सप्तति' संख्या की भावना—

इस प्रसंग में जितने विद्वानों के विचार यहाँ प्रस्तुत किये हैं, उन सबमें यह एक निश्चित भावना पाईजाती है, कि आर्याओं की संख्या ठीक सत्तर होनी चाहिये। यद्यपि कुछ विद्वानों ने मूल अर्थ की प्रतिपादक आर्याओं की सत्तर संख्या मानी है, और कुछने ग्रन्थ की सम्पूर्ण आर्याओं की संख्या सत्तर मानी है, चाहे वे मूल अर्थ का प्रतिपादन करती हों, अथवा उनमें से कुछ न भी करती हों। इस भावना का कारण, इस ग्रन्थ के साथ 'सप्तति' पद का सम्बन्ध कहा-

जासकता है। प्रचलित क्रम के अनुसार इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण आर्याओं की संख्या ७२ है। जिनमें ६८ आर्या मूल अर्थ का प्रतिपादन करने वाली हैं, शेष चार उपसंहारात्मक हैं। ग्रन्थकार ने इन चार आर्याओं में, इस विषय के मूल ग्रन्थ का,–जहाँ से ६८ आर्याओं का प्रतिपाद्य विषय लियागया है–उसके उपदेष्टा का, अपने तक उस ज्ञान के प्राप्त होने का, तथा मूलग्रन्थ के साथ अपने ग्रन्थ के सम्बन्ध का, वर्णन किया है। ग्रन्थकार ने अन्तिम आर्या में स्वयं यह लिखा है, कि–षष्टितन्त्र के सम्पूर्ण अर्थों का इस 'सप्तति' में वर्णन किया गया है–। इस आधार पर अनेक विद्वानों ने यह समझा, कि अर्थप्रतिपादक आर्याओं की संख्या, पूरी सत्तर होनी चाहियें। पर दूसरे विद्वानों [अय्यास्वामी आदि] ने इसकी कुछ पर्वाह न की, और उन्होंने कुल आर्याओं की संख्या सत्तर बताई। आधुनिक विद्वानों ने इस दिशा में इतनी अधिक कल्पना कर डाली हैं, कि यह–सत्तर संख्या का ग्रन्थ के साथ सम्बन्ध–एक बहम की हालत तक पहुँच गया है। इस सत्तर के बहम में पढ़कर विद्वानों ने, ग्रन्थ के वास्तविक कलेवर की ओर ध्यान नहीं दिया। इसप्रकार अनेक आर्याओं की खासी तोड़-फोड़ कीगई है। वस्तुतः ग्रन्थ का कलेवर ७२ आर्याओं में पूरा होता है। जिनके विषय का निर्देश अभी ऊपर कियागया है।

७२ कारिकाओं के ग्रन्थ का 'सप्तति' नाम क्यों ?—

इस प्रसंग में यह विवेचन करना आवश्यक है, कि इस ७२ कारिकाओं के ग्रन्थ के लिये 'सप्तति' पद का प्रयोग कहाँ तक उचित है। वस्तुतः यहाँ 'सप्तति' पद का प्रयोग लगभग संख्या को लेकर कियागया है। इसलिये सम्पूर्ण ग्रन्थ का नाम 'सप्तति' समझना चाहिये, केवल सत्तर आर्याओं का नहीं। ७२ आर्याओं के होने पर भी 'सप्तत्यां किल येऽर्थाः' के द्वारा स्वयं ग्रन्थकार-प्रदर्शित स्वारस्य के आधार पर लोक में इस ग्रन्थ का नाम 'सप्तति' प्रसिद्ध होगया। प्रामाणिक व्याख्याकारों ने इस पद का इसी रूप में प्रयोग किया है। जयमंगला व्याख्या के कर्त्ता ने प्रथमश्लोक में लिखा है—

'क्रियते सप्ततिकायाष्टीका जयमंगला नाम'

पृष्ठ ५६ [५१ आर्या की व्याख्या] पर जयमंगलाकार पुनः लिखता है—

'एते प्रत्ययसर्गभेदाः पञ्चाशत् पदार्थाः, अस्तित्वादयश्च दश।
ते चास्यामेव सप्तत्यां निर्दिष्टाः[1]।'

---

१. ७१ वीं आर्या की व्याख्या में 'आर्याभिः' पद का विवरण करते हुए जयमंगलाकार लिखता है–'आर्याभिः, इति। सप्तत्येत्यर्थः। 'दुःखत्रयाभिघातात्' 'एतत् पवित्रं' इति सप्तत्याभिहितम्।" यद्यपि यहाँ टीकाकार ने सांख्य-

इन स्थलों में 'सप्तति' पद का प्रयोग, प्रस्तुत ग्रन्थ के लिये कियागया है। क्योंकि प्रथम स्थल में 'सप्तति' पद का प्रयोग कियेजाने पर भी जयमंगला टीका, पूरी बहत्तर आर्याओं पर है। इसीप्रकार द्वितीय स्थल में बतायागया है, कि-पचास प्रत्ययसर्ग, और दश अस्तित्व आदि मौलिक पदार्थों का इसी 'सप्तति' में निर्देश किया है। परन्तु इन सब पदार्थों का निर्देश ६८ आर्याओं में समाप्त होजाता है। इसलिये यहाँ 'सप्तति' पद का प्रयोग, पूरे ग्रन्थ के लिये कियागया है, किसी परिमित संख्या के विचार से नहीं।

युक्तिदीपिकाकार ने भी प्रारम्भिक श्लोकों में एक श्लोक इसप्रकार लिखा है—

"तस्मादीश्वरकृष्णेन संक्षिप्तार्थमिदं कृतम्।
सप्तत्याख्यं प्रकरणं सकलं शास्त्रमेव वा॥"

युक्तिदीपिकाकार ने तो 'सप्तति' पद के आगे 'आख्या' पद का प्रयोग किया है, जिससे इस ग्रन्थ की 'सप्तति' संज्ञा का स्पष्टीकरण होता है। इस व्याख्याकार ने अपनी व्याख्या, पूरी ७२ आर्याओं पर लिखी है। इसप्रकार आर्याओं की बहत्तर संख्या होने पर भी उसके 'सप्तति' नाम में कोई अस्वारस्य अथवा अनौचित्य नहीं है। प्रक्षेप की निराधार मिथ्या गाथा को लेकर आर्याओं के संख्यासम्बन्धी उन्मार्ग के उद्भावन का श्रेय श्रीयुत विल्सन महोदय को दियाजाना अप्रासंगिक न होगा।

भारतीय साहित्यिक परम्परा में अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जहाँ इसप्रकार के प्रयोग लगभग संख्या के आधार पर कियेगये हैं। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

(१) अभिनवगुप्ताचार्य प्रणीत 'परमार्थसार' में १०५ आर्या हैं। परन्तु ग्रन्थकार ने स्वयं अन्तिम आर्या में 'आर्याशतक' कहकर इसका उल्लेख किया है। अन्तिम आर्या है—

"आर्याशतेन तदिदं संक्षिप्तसारमतिगूढम्। अभिनवगुप्तेन मया॥१०५॥"

(२) काश्मीरदेशोद्भव आचार्य क्षेमेन्द्र रचित 'पुरुषार्थशतक' में १०५ श्लोक हैं। मुख्य विषय पर श्लोकों की संख्या १०२ है। दो श्लोक मंगलाचरण और एक उपसंहार का है। फिर भी ग्रन्थ का नाम 'शतक' है। जयपुर संस्करण की प्रति से यह संख्या लिखी है।

सप्तति की प्रथम आर्या से लगाकर सत्तरवीं आर्या तक का निर्देश 'सप्तति' पद से किया है। परन्तु टीकाकार का यह लेख संगत नहीं है। क्योंकि ईश्वरकृष्ण ने सांख्यसिद्धान्त का संक्षेप 'एतत् पवित्रं' [७०] आर्या तक नहीं किया है, प्रत्युत वह 'प्राप्ते शरीरभेदे' [६८] आर्या पर ही समाप्त होजाता है।

(३) गोवर्धनाचार्य प्रणीत 'आर्यासप्तशती में कुल श्लोक ७५६ हैं। ग्रन्थ की प्रारम्भिक भूमिका के ५४, जिसको 'ग्रन्थारम्भोचितव्रज्या' नाम दिया गया है। उपसंहार के ६ श्लोक हैं, और मुख्य विषय पर ६९६ श्लोक हैं। फिर भी इस ग्रन्थ के 'आर्यासप्तशती' नाम में कोई अस्वारस्य अथवा अनौचित्य नहीं समझाजाता। यह संख्या, ईसवी सन् १८८६ के निर्णयसागर संस्करण से लिखी है।

(४) हाल अपरनामधेय श्री सातवाहन-प्रणीत 'गाथासप्तशती' के कुल श्लोकों की संख्या ७०३ है। जिनमें से ६ श्लोक उपक्रमोपसंहार के और ६९७ मुख्य विषय के हैं। फिर भी इस ग्रन्थ का उचित और उपयुक्त नाम 'सप्तशती' है। यह संख्या निर्णयसागर संस्करण से लीगई है।

(५) साम्ब कवि प्रणीत 'साम्बपंचाशिका' नामक लघु काव्य में ५३ श्लोक हैं। परन्तु इसका नाम 'पंचाशिका' है, जिसके अनुसार इसमें केवल ५० श्लोक होने चाहियें। यह संख्या निर्णयसागर संस्करण के अनुसार लिखी है।

(६) राजा रघुराजसिंह कृत 'जगदीशशतक' नामक लघुकाव्य में ११० पद्य हैं। १०१ पद्यों में जगदीश (भगवान्) का स्तवन है। ८ पद्यों में अपने नाम निर्देश के साथ अपने शुभ (कल्याण) के लिये प्रार्थना है। अन्तिम एक पद्य में काव्य का रचनाकाल और उपसंहार है। फिर भी काव्य का नाम 'शतक' है। यह संख्या बनारस संस्करण के अनुसार है।

फलतः सूत्रों की रचना, कारिकाओं के आधार पर नहीं—

इसप्रकार इन अन्तिम चार कारिकाओं के सम्बन्ध में प्रासंगिक विवेचन करने के अनन्तर अब हम मुख्य प्रकरण पर आते हैं। इन अन्तिम ७१ और ७२ आर्याओं में स्वयं ईश्वरकृष्ण ने यह स्वीकार किया है, कि इन आर्याओं का प्रतिपाद्य विषय 'षष्टितन्त्र' से लिया गया है। आज वह सम्पूर्ण विषय उसी क्रम के अनुसार केवल षडध्यायी में उपलब्ध होता है, अन्यत्र नहीं। इससे यह सिद्ध है—षडध्यायी का प्राचीन नाम 'षष्टितन्त्र' है, और इसी के आधार पर ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं की रचना की है। इस प्रथम युक्ति में यह बतायागया, कि कारिकाकार ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है, कि उसने अपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय 'षष्टितन्त्र' से लिये हैं।

(२) परन्तु इसके विपरीत सांख्यसूत्रों में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं है, जिससे कारिकाओं के आधार पर उनका बनाया जाना प्रकट हो। इन दोनों ग्रन्थकारों में से एक स्वयं इस बात को लिखता है, कि मैंने अमुक ग्रन्थ से इन अर्थों को लिया; परन्तु दूसरा ग्रन्थ इस सम्बन्ध में कुछ भी निर्देश नहीं करता, प्रत्युत पहले ग्रन्थ के प्रतिपाद्य अर्थ, ठीक उसके लेखानुसार दूसरे ग्रन्थ

में उपलब्ध होते हैं। इससे सही अनुमान यही होसकता है, कि पहले ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय, दूसरे से लिया गया है। विना किसी प्रबल प्रमाण के इस कथन का विपर्यय कैसे स्वीकार कियाजासकता है ? वस्तुतः आधुनिक विद्वानों को ये सन्देह, कि–वर्त्तमान षडध्यायी आधुनिक रचना है–इसके अन्तर्गत जहाँ-तहाँ आये हुए कुछ अन्य दार्शनिकों के पारिभाषिक पद तथा मतों के उल्लेखों के कारण हुए हैं। उन सबका विस्तारपूर्वक विवेचन, इसी ग्रन्थ के चतुर्थ और पंचम अध्याय में कियागया है।

(३) इस बात का पहले उल्लेख कियाजाचुका है, कि कारिकाओं का संपूर्ण विषय, षडध्यायी के तीन अध्याओं में समाप्त होजाता है। उपर्युक्त कारिकारूप कहे जानेवाले तीनों सूत्रों में से पहला सूत्र षडध्यायी के प्रथम अध्याय का, और शेष दोनों सूत्र द्वितीय अध्याय के हैं। इन सूत्रों के कारण यदि हम इस बात को स्वीकार कर लेते हैं, कि सांख्यसूत्रों की रचना कारिकाओं के आधार पर हुई है, तो शेष अध्यायों में कोई रचना श्लोकमय नहीं होनी चाहिये। क्योंकि सांख्य-कारिका, विषय निर्देश के अनुसार षडध्यायी के तीन अध्याओं का आधार कहीजा-सकती है, शेष का नहीं। इसका परिणाम यह निकलता है, कि यदि शेष अध्यायों में कोई श्लोकमय रचना हों, तो उनका भी आधार, कोई पद्यमय ग्रन्थ मानाजाना चाहिये। अन्यथा प्रथम तीन अध्यायों की रचना को भी स्वतन्त्र मानना चाहिये। क्योंकि एक ही ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह अर्धजरतीय न्याय सर्वथा असंगत है, कि ग्रन्थ की रचना समान होने पर भी आधे ग्रन्थ को किसी अन्य ग्रन्थ के आधार पर और आधे को स्वतन्त्र रूप से रचित मानाजाय। यद्यपि यह प्रथम स्पष्ट करदियागया है, कि प्रथम-द्वितीय अध्याय के वर्त्तमान में उपलब्ध पद्यमय तीन सूत्रों का वास्तविक मूल पाठ पद्यात्मक न होकर सूत्ररूप (गद्य-सन्दर्भात्मक) था। कालान्तर में पठन-पाठन परम्परा में कारिकाओं का प्राधान्य होने से उसी के संस्कारवश गद्यात्मक सूत्रपाठ को कारिकानुसारी बनादियागया। इसप्रकार पाठ भ्रष्ट करने के वर्त्तमान कालिक उदाहरण भी प्रथम प्रसंग में प्रस्तुत किये हैं[1]। अब शेष अन्तिम तीन अध्यायों में से कुछ ऐसे सूत्रों का उल्लेख करते हैं, जिनकी रचना पद्यमय दीखती है।

(क) 'तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत्' [४।१६] यह आर्या छन्द का चतुर्थ चरण है।

(ख) 'सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः' [५।७०] यह अनुष्टप् का एक चरण है।

(ग) 'निजधर्माभिव्यक्तेर्वा वैशिष्ट्यात्तदुपलब्धेः।' [५।९५] यह आर्याछन्द का द्वितीय अर्द्ध भाग है।

(घ) 'ध्यानं निर्विषयं मनः' [६।२५] यह अनुष्टुप् छन्द का एक चरण है।

---

१. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ, १४७–१५०।

(ङ) 'पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः' [६।४५] यह आर्या छन्द का चतुर्थ चरण है।

इन निर्देशों के आधार पर यह स्पष्ट परिणाम निकाला जासकता है, कि पद्यगन्धि गद्य की रचना, लेखक की अपनी शैली या इच्छा पर निर्भर है, किसी गद्यग्रन्थ में दो-चार वाक्यों की पद्यमय रचना, इस मत का आधार नहीं बनाई जासकती, कि वह ग्रन्थ किसी अन्य पद्यमय ग्रन्थ के आधार पर लिखागया है।

इसके अतिरिक्त केवल सांख्यषडध्यायी की ऐसी रचना हो, यह बात नहीं है। अन्य अनेक सूत्रग्रन्थों अथवा गद्यग्रन्थों में इसप्रकार की रचना जहाँ-तहाँ देखीजाती है। इसके दो-चार उदाहरण यहाँ दे देना आवश्यक होगा। पाणिनीय अष्टाध्यायी से कुछ उदाहरण इसप्रकार हैं—

(क) 'पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति, परिपन्थं च तिष्ठति। [४।४।३५-३६] यह अनुष्टुप् छन्द का अर्द्ध भाग है।

(ख) 'अन्तश्च तवै युगपत्, क्षयो निवासे, जयः करणम्।' [६।१।२००-२०२] यह आर्या छन्द का द्वितीय अर्द्धभाग बन जाता है। ये पाणिनीय अष्टाध्यायी के क्रमानुरूप तीन सूत्र हैं।

(ग) 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्।' [६।३।१०९] यह इन्द्रवज्रा वृत्त का एक चरण है। अनुष्टुप् के एक चरणरूप तो अष्टाध्यायी के अनेक सूत्र हैं।

चौदहवीं सदी में सांख्यसूत्रों की रचना का असांगत्य—

(४) कहाजाता है, सांख्यषडध्यायी सूत्रों का ग्रथन सायण के बाद चौदहवीं ईसवी सदी में, कारिकाओं के आधार पर किसी पण्डित ने किया[1], और उसे कपिल के नाम पर आरोपित करदियागया। भारतीय इतिहास जगत् में यह ऐसा समय है, जब प्रायः कोई ग्रन्थ-लेखक, ग्रन्थ में अपना नाम लिखना नहीं भूलता था। नाम ही नहीं, अनेक लेखकों ने तो नाम के साथ अपने गाँव का, अपने आश्रयदाता का, अपने देश और वंश तक का उल्लेख किया है। ऐसे समय में यही एक ऐसा भला आदमी परोपकारी पैदा हुआ, कि कारिकाओं के आधार पर षडध्यायी जैसा ग्रन्थ बना डाला, और बनाया भी कपिल के नाम पर। अपना नाम-धाम-ग्राम सब छिपा गया, और पीगया उन्हें एक खून के घूंट की तरह। आश्चर्य तो इस बात का है, कि किसी भलेमानस ने फूटे मुंह से उसका विरोध भी तो नहीं किया! आज तक के साहित्य में किसी विद्वान् ने यह नहीं लिखा, कि ये सूत्र, कपिल के बनाये हुए नहीं हैं। प्रत्युत तथाकथित सूत्ररचना के कुछ ही वर्षों बाद उस पर व्याख्यायें भी लिखी जाने लगीं, और कपिल के नाम से उन सूत्रों का निर्देश होने लगा।[2]

१. इस मत का विवेचन इसी ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में विस्तारपूर्वक किया है।
२. इसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन, चतुर्थ अध्याय में कियागया है।

इस पण्डित की कल्पना करने वाले आधुनिक विद्वानों से हम पूछते हैं—ऐसा करने से उसका अपना क्या प्रयोजन था ? उसे कारिकाओं से सूत्र बनाने की क्यों आवश्यकता हुई ? वह भी कपिल के नाम पर। जब उसने अपना नाम-धाम आदि सब छिपाया,[1] और सड़सठ-अड़सठ कारिकाओं का रूपान्तर करके सूत्र बना डाले, तो क्या इन तीन पंक्तियों के लिये उसकी सब विद्वत्ता नष्ट होचुकी थी ? क्या उसकी प्रतिभा इतने के लिये कहीं घास चरने चलीगई थी ? जो इन तीन कारिकार्द्धों को उसी तरह छोड़ दिया। उनको भी उसने रूपान्तर करके क्यों नहीं छिपा डाला ? साहित्यिक चोर के रूप में बदनाम होनेके लिये क्यों उसने उन्हें उसी तरह रहने दिया ? यह कहना केवल उपहासास्पद होगा, कि उन कारिकार्द्धों का रूपान्तर हो नहीं सकता था। वह आज भी होसकता है, और तब भी होसकता था। उसमें कोई ऐसे गूढ़ रहस्य छिपे नहीं हैं, जो उन्हीं पदों की उसी आनुपूर्वी के द्वारा प्रकट किये जासकें। इसलिये सचमुच आधुनिक विद्वानों का यह कहना, कि ये षडध्यायी सूत्र, कारिकाओं के आधार पर सायण के बाद चौदहवीं सदी में किसी ने बना दिये होंगे, नितान्त अनर्गल है।

ये चार उपर्युक्त स्वतन्त्र युक्तियाँ इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये उपस्थित कीगईं, कि षडध्यायी सूत्रों की रचना, कारिकाओं के आधार पर नहीं कहीजासकती। वस्तुस्थिति यह है, कि न सायण के पीछे और न पहले ही कपिल के नाम पर किसी पण्डित ने इन सूत्रों को बनाया; प्रत्युत यह कपिल की अपनी रचना है, यह सन्देहरहित है। हमारा यह दावा कदापि नहीं, कि वर्त्तमान सम्पूर्ण सांख्यषडध्यायी इसी आनुपूर्वी में कपिल की रचना है। सम्भव है, इसमें अनेक न्यूनाधिकता हुई हों। इसप्रकार के कतिपय स्थलों का निर्देश हमने इसी ग्रन्थ के पंचम अध्याय में किया है। हमारा यह निश्चित मत है, कि कपिल की अपनी रचना, इसी षडध्यायी के अन्तर्गत निहित है। इसी दृष्टि से हम इसे कपिल की रचना कहते हैं। इसप्रकार ७१ और ७२वीं कारिकाओं के वर्णन के आधार पर यह एक निश्चित सिद्धान्त ज्ञात होजाता है, कि इस सांख्यषडध्यायी का एक पुराना नाम 'षष्टितन्त्र' है, जिसको आधार मानकर ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं की रचना की है। यह इस मन्तव्य के लिये सबसे प्रबल और प्रधान युक्ति है, जिसका वर्णन इस अध्याय के प्रारम्भ से लगाकर यहां तक विस्तारपूर्वक कियागया है।

षडध्यायी 'षष्टितन्त्र' है, इसमें अन्य युक्ति—

(२) उक्त अर्थ की सिद्धि के लिये दूसरी युक्ति इसप्रकार प्रस्तुत कीजाती

---

१. यद्यपि आधुनिक विद्वान् इसके छिपाये जाने का आज तक कोई विशेष कारण नहीं बतासके हैं। वस्तुतः उनका यह कथन केवल कोरी कल्पना है।

है। सांख्य के एक प्राचीन आचार्य देवल के किसी ग्रन्थ का एक लम्बा सांख्य-सम्बन्धी सन्दर्भ, याज्ञवल्क्य स्मृति की अपरादित्य विरचित टीका अपरार्का [प्रायश्चित्ताध्याय, १०९] में उपलब्ध[1] होता है। वहाँ पर जिन ग्रन्थों के आधार पर देवल ने सांख्यसिद्धान्तों का संक्षेप किया है, उनका नाम 'तन्त्र' लिखा है। यह 'तन्त्र' पद हमारा ध्यान 'षष्टितन्त्र' की ओर आकृष्ट करता है। हम देखते हैं–देवल के उस सन्दर्भ में षडध्यायी के अनेकों सूत्र विद्यमान हैं। जिन पंक्तियों की आनुपूर्वी सूत्रों से नहीं मिलती, उनमें भी आशय सब सूत्रों के अनुसार हैं। देवल स्वयं लिखता है,–जो पूर्वप्रणीत गम्भीर 'तन्त्र' हैं, उन्हींको संक्षेप से मैं यहाँ लिखता हूँ। उसके उस सन्दर्भ के साथ, शब्द तथा अर्थ की अत्यधिक समानता षडध्यायी सूत्रों में हम पाते हैं। इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि देवल ने जिस ग्रन्थ के आधार पर सांख्यसिद्धान्तों का संक्षेप किया है, वह सांख्यषडध्यायी होसकता है। उसका नाम देवल ने 'तन्त्र' लिखा है। इस आधार पर भी यह निश्चित होता है, कि सांख्यषडध्यायी का 'तन्त्र' अथवा 'षष्टितन्त्र' पद से उल्लेख कियागया है। देवल का लेख, ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन है।

(३) इस प्रसंग में तीसरा एक और उपोद्बलक प्रमाण उपस्थित कियाजाता है, जिसके द्वारा इस मन्तव्य पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है, कि षडध्यायीसूत्र, कारिकाओं की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन है, इसलिये उनको कारिकाओं का आधार माना जासकता है, कारिकाओं को सूत्रों का आधार नहीं। अतएव इन्हीं सूत्रों को 'षष्टितन्त्र' कहने में कोई बाधा नहीं रहती। वह उपोद्बलक इसप्रकार समझना चाहिये।

सांख्यकारिका [२१] में प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये अन्ध+पंगु दृष्टान्त का उल्लेख किया है। परन्तु अन्य प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं पायाजाता। महाभारत में इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये उदाहरणरूप से स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का निर्देश कियागया है। वहाँ लिखा है—

"अक्षरक्षरयोरेष द्वयोः सम्बन्ध उच्यते।
स्त्रीपुंसोश्चापि भगवन् सम्बन्धस्तद्वदुच्यते॥"[2]

परमात्मा और प्रकृति का सम्बन्ध इसीप्रकार समझाजाता है, जैसे लोक में पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध। षडध्यायी में इसी अर्थ को प्रकट करने के लिये सूत्र [२।९] आता है, 'राग-विरागयोर्योगः सृष्टिः, 'राग' और 'विराग' पदों

---

१. इसका पूरा विवरण हमने इसी ग्रन्थ के चतुर्थ [संख्या २२ पर] और अष्टम [देवल के प्रसंग] अध्याय में किया है। वहाँ पर देखना चाहिये।
२. महाभारत, शान्तिपर्व ३१०। १२॥ कुम्भघोण संस्करण।

से 'स्त्री' और 'पुरुष' की ओर संकेत कियागया प्रतीत होता है। यह निश्चित है, कि सूत्र में केवल साधारण अर्थ का निर्देश है, उसको अधिक स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त की कल्पना व्याख्याकारों का कार्य है।

ईश्वरकृष्ण के पूर्ववर्ती आचार्यों ने अन्ध+पंगु दृष्टान्त का उल्लेख न कर स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को उक्त अर्थ की स्पष्ट प्रतीत के लिये उपस्थित किया है, इससे संभावना होती है, कि यह दृष्टान्त कदाचित् ईश्वरकृष्ण की कल्पना हो। सांख्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत वार्षगण्य आचार्य के अनुयायियों ने भी स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का इस प्रसंग में उल्लेख किया है। उनका लेख है—

वार्षगणानां तु यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः।"[1]

माठरवृत्ति में इस अर्थ का संकेत मिलता है। वहाँ लिखा है—

तद्यथा स्त्रीपुरुषसंयोगात् पुत्रः संभवति। एवं प्रधानपुरुषसंयोगात् सर्गोत्पत्तिर्भवति।[2]"

इससे यह परिणाम निकलता है, कि मूलसूत्र में जो अर्थ साधारण रूप से निर्दिष्ट है, उसकी विशेष स्पष्टता के लिये व्याख्याकारों ने दृष्टान्त की ऊहना की। इसके लिये प्रथम विद्वानों ने 'स्त्री+पुरुष' सम्बन्ध का दृष्टान्त कल्पना किया। पुराणों में भी जगत्सर्ग के विषय में यह भावना सर्वत्र पाई जाती है, जहाँ इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये 'अर्द्धनारीश्वर' शिव की कल्पना के स्रोत स्पष्ट उपलब्ध हैं। अनन्तर ईश्वरकृष्ण ने अथवा अन्य किसी ने 'अन्ध+पंगु' दृष्टान्त की कल्पना की हो। सचमुच यदि षडध्यायी सूत्र, इन कारिकाओं के आधार पर बने होते, तो यह संभव नहीं था, कि इतना आवश्यक दृष्टान्त इन सूत्रों में छोड़ दियाजाता।

(४) सांख्यसप्तति की ७२वीं अन्तिम आर्या के आधार पर हम षष्टितन्त्र के रचनाक्रम, अर्थात् उस ग्रन्थ के स्थूल ढांचे को भी अच्छी तरह समझपाते हैं। अन्तिम आर्या के लेखानुसार उसमें [षष्टितन्त्र में] प्रथम सांख्यसिद्धान्तों का वर्णन, अनन्तर उनकी उपोद्वलक आख्यायिकाओं का निर्देश, और उसके बाद परवादों का उल्लेख व विवेचन होना चाहिये। पदार्थनिर्देश का यह क्रम, वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी में पूर्णतः उपलब्ध है। इसलिये अनिवार्य रूप से इसी ग्रन्थ को कारिकाओं की रचना का आधारभूत 'षष्टितन्त्र' मानना युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक है।

---

१. युक्तिदीपिका, पृष्ठ १७०, पं० २७-२८।
२. माठरवृत्ति, आर्या २१ पर।

षष्टितन्त्र और अहिर्बुध्न्यसंहिता—

षष्टितन्त्र के रचनाक्रम तथा उसके स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों की कुछ विप्रतिपत्ति हैं। हमारे सन्मुख षष्टितन्त्र का एक और स्वरूप है, जिसका उल्लेख, पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' में कियागया है। वहाँ साठ पदार्थों के आधार पर इस ग्रन्थ के साठ भेद लिखे हैं। उसके वर्णन से ऐसा मालूम होता है, कि संहिताकार उन साठ भेदों को ग्रन्थ के साठ अध्याय अथवा प्रकरण समझता है, और प्रत्येक अध्याय में एक-एक पदार्थ का निरूपण या विवेचन मानता है, तथा निरूपणीय पदार्थ के नाम पर ही उस अध्याय का नाम रखता है। इन साठ पदार्थों को उसने दो भागों में विभक्त किया है। (१) प्राकृत मण्डल, और (२) वैकृत मण्डल। प्राकृत मण्डल में बत्तीस और वैकृत मण्डल में अट्ठाईस पदार्थों का समावेश है। पहले का नामान्तर 'तन्त्र' तथा दूसरे मण्डल का 'काण्ड' नामान्तर बताया है। संहिता[1] के अनुसार वे साठ पदार्थ, तथा उनके नाम के आधार पर वे अध्याय इसप्रकार हैं—

---

१. षष्टिभेदं स्मृतं तन्त्रं सांख्यं नाम महामुने।
प्राकृतं वैकृतं चेति मण्डले द्वे समासतः ॥१९॥
प्राकृतं मण्डलं तत्र द्वात्रिंशद्भेदमिष्यते।
तत्राद्यं ब्रह्मतन्त्रं तु द्वितीयं पुरुषांकितम् ॥२०॥
त्रीणि तन्त्राण्यथान्यानि शक्तेर्नियतिकालयोः।
गुणतन्त्राण्यथ त्रीणि तन्त्रमक्षरपूर्वकम् ॥२१॥
प्राणतन्त्रमथान्यत्तु कर्तृतन्त्रमथेतरत्।
सामितन्त्रमथान्यत्तु ज्ञानतन्त्रमथेतरत् ॥२२॥
क्रियातन्त्राणि पञ्चाथ मात्रातन्त्राणि पञ्च च।
भूततन्त्राणि पञ्चेति त्रिंशद् द्वे च भिदा इमाः ॥२३॥
प्राकृतं मण्डलं प्रोक्तं वैकृतं मण्डलं शृणु।
अष्टाविंशतिभेदं तन्मण्डलं वैकृतं स्मृतम् ॥२४॥
कृत्यकाण्डानि पञ्चादौ भोगकाण्डं तथापरम्।
वृत्तकाण्डं तथैकं तु क्लेशकाण्डानि पञ्च च ॥२५॥
त्रीणि प्रमाणकाण्डानि ख्यातिकाण्डमतः परम्।
धर्मकाण्डमथैकं च काण्डं वैराग्यपूर्वकम् ॥२६॥
अथैश्वर्यस्य काण्डं च गुणकाण्डमतः परम्।
लिंगकाण्डमथैकं च दृष्टिकाण्डमतः परम् ॥२७॥
आनुश्रविककाण्डं च दुःखकाण्डमतः परम्।
सिद्धिकाण्डमथैकं च काण्डं काषायवाचकम् ॥२८॥

अहिर्बुध्न्यसंहिताके साठ पदार्थ

प्राकृत मण्डल

१=ब्रह्मतन्त्र ।
२=पुरुषतन्त्र ।
३=शक्तितन्त्र,
४=नियतितन्त्र,
५=कालतन्त्र,
६-८=गुणतन्त्र=
  ६=सत्त्वतन्त्र,
  ७=रजस्तन्त्र,
  ८=तमस्तन्त्र,
९=अक्षरतन्त्र,
१०=प्राणतन्त्र,
११=कर्तृतन्त्र,
१२=सामितन्त्र,
१३—१७=ज्ञानतन्त्र=
  १३=घ्राणीयतन्त्र,
  १४=रासनतन्त्र,
  १५=चाक्षुषतन्त्र,
  १६=त्वचातन्त्र,
  १७=श्रोत्रतन्त्र,

१८=२२=क्रियातन्त्र=
  १८=वचनतन्त्र
  १९=आदानतन्त्र
  २०=विहरणतन्त्र
  २१=उत्सर्गतन्त्र
  २२=आनन्दतन्त्र
२३-२७=मात्रतन्त्र=
  २३=गन्धतन्त्र
  २४=रसतन्त्र
  २५=रूपतन्त्र
  २६=स्पर्शतन्त्र
  २७=शब्दतन्त्र
२८-३२=भूततन्त्र=
  २८=पृथिवीतन्त्र
  २९=जलतन्त्र
  ३०=तेजस्तन्त्र
  ३१=वायुतन्त्र
  ३२=आकाशतन्त्र[१]

तथा समयकांडं च मोक्षकाण्डमतः परम् ।
अष्टाविंशतिभेदं तदित्थं विकृतिमण्डलम् ॥२९॥
षष्टितन्त्राण्यथैकैकमेषां नानाविधं मुने ।
षष्टितन्त्रमिदं सांख्यं सुदर्शनमयं हरेः ॥३०॥
आविर्बभूव सर्वज्ञात् परमार्षेर्महामुने । [अहिर्बुध्न्यसंहिता, अध्याय १२]

१. अहिर्बुध्न्यसंहिता में साक्षात् तन्त्रों के जो नाम दिये गये हैं, उनको हमने प्रथम श्रेणी में रख दिया है। जो नाम द्वितीय श्रेणी में दिये गये हैं, ये सब अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अपनी ओर से लिखे हैं।

वैकृत मण्डल

१-५ = कृत्यकाण्ड =[1]	१६ = ख्यातिकाण्ड
१ = सृष्टिकाण्ड	१७ = धर्मकाण्ड
२ = स्थितिकाण्ड	१८ = वैराग्यकाण्ड
३ = प्रलयकाण्ड	१९ = ऐश्वर्यकाण्ड
४ = निग्रहकाण्ड	२० = गुणकाण्ड
५ = अनुग्रहकाण्ड	२१ = लिंगकाण्ड
६ = भोगकाण्ड	२२ = दृष्टिकाण्ड
७ = वृत्तकाण्ड	२३ = आनुश्रविककाण्ड
८-१२ = क्लेशकाण्ड	२४ = दुःखकाण्ड
८ = अविद्याकाण्ड	२५ = सिद्धिकाण्ड
९ = अस्मिताकाण्ड	२६ = काषायकाण्ड
१० = रागकाण्ड	२७ = समयकाण्ड
११ = द्वेषकाण्ड	२८ = मोक्षकाण्ड[2]
१२ = अभिनिवेशकाण्ड	
१३-१५ = प्रमाणकाण्ड	
१३ = प्रत्यक्षकाण्ड	
१४ = अनुमानकाण्ड	
१५ = आगमकाण्ड	

---

१. पाँच कृत्य क्या हैं ? इनका हम पूरा निर्णय नहीं करसके। अहिर्बुध्न्यसंहिता के अध्याय १४; श्लोक १४-१५ में भगवत्संकल्प के संक्षेप में पाँच भेद किये गये हैं–सृष्टि, स्थिति, अन्त, निग्रह, अनुग्रह। ये भगवान् की शक्ति के परिणाम हैं। विभु की क्रियाशक्ति को अध्याय १६।४ में 'सर्वकृत्यकरी' कहा है। ये उपर्युक्त पाँच ही सब 'कृत्य' प्रतीत होते हैं। इस आधार पर कृत्यकाण्ड के ये पाँच भेद होसकते हैं। इस प्रसंग में सायण ने सर्वदर्शनसंग्रहान्तर्गत शैवदर्शन में भोजराज का एक प्रमाण इसप्रकार उद्धृत किया है–

कृत्यपञ्चकञ्च प्रपञ्चितं भोजराजेन—

पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहारतिरोभावः।
तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य ॥ इति ॥

[१८० पृष्ठ, पूना संस्करण].

संहिता के 'निग्रह' पद के स्थान पर भोजराज ने 'तिरोभाव' पद का प्रयोग किया है। इनके आशय में कोई अन्तर नहीं है।

२. अहिर्बुध्न्यसंहित में साक्षात् काण्डों के जो नाम दिये गये हैं, उनको हमने प्रथम श्रेणी में रख दिया है। जो नाम द्वितीय श्रेणी में दिये गये हैं, वे सब हमने अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अपनी ओर से लिखे हैं।

इन साठ भेदों या पदार्थों का विवेचन, सांख्यदृष्टिकोण से अहिर्बुध्न्यसंहिता के और किसी स्थल में उपलब्ध नहीं होता। इस षष्टितन्त्र का आविर्भाव यहाँ कपिल के द्वारा हुआ बतायागया है। परन्तु सांख्यकारिका और उसके सम्पूर्ण व्याख्यानों में षष्टितन्त्र के जिन साठ पदार्थों का उल्लेख है, उनके क्रमिक वर्णन का मौलिक आधार कुछ भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में प्रतिपादित साठ पदार्थों के साथ उनका आपाततः सामंजस्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

षष्टितन्त्र के साठ पदार्थ

सांख्यकारिकाभिमत साठ पदार्थों का निर्देश इसप्रकार है—

५—विपर्यय
६—तुष्टि
८—सिद्धि
२८—अशक्ति
१०—मौलिकार्थ

इन सबके पृथक् भेद निम्नलिखित हैं—

विपर्यय—

१—तम	=अविद्या
२—मोह	=अस्मिता
३—महामोह	=राग
४—तामिस्र	=द्वेष
५—अन्धतामिस्र	=अभिनिवेश

तुष्टि—

	माठर पाठ	यु० दी० पाठ	वाच० पाठ
१—प्रकृति	=अम्भ		
२—उपादान	=सलिल		
३—काल	=ओघ		
४—भाग्य	=वृष्टि		
५—अर्जनोपरम	=तार	सुतार*	पार
६—रक्षणोपरम	=सुतार	सुपार*	सुपार
७—क्षयोपरम	=सुनेत्र		पारावार
८—अतृप्त्युपरम—[भोगोपरम][1]	=सुमरीच	सुमारीच	अनुत्तमाम्भ*
९—हिंसोपरम	=उत्तमाम्भसिक	उत्तमाभय	उत्तमाम्भ*

---

१. 'संगोपरम' जयमंगला व्याख्या का अभिमत पाठ है।

*. यह चिह्न जिन नामों पर लगा है, वे जयमंगला व्याख्या को भी अभिमत है। उसके शेष नाम माठर पाठ के अनुसार हैं।

सिद्धि—

	माठरपाठ	यु. दी. पाठ	वाच० पाठ
१—ऊह	=तार	तारक	तारतार
२—शब्द	=सुतार		
३—अध्ययन	=तारतार[1]	तारयन्त	तार
४—आत्मिकदुःखविघात	=प्रमोद		
५—भौतिकदुःखविघात	=प्रमुदित		मुदित
६—दैविकदुःखविघात	=मोहन[2]	मोदमान	मोदमान
७—सुहृत्प्राप्ति	=रम्यक		
८—दान	=सदाप्रमुदित		सदामुदित

अशक्ति—

एकादश इन्द्रियवध	ज्ञानेन्द्रियवध	१—चक्षुर्वध	=अन्धता	
		२—रसनवध	=सुप्तिता	[जडता]
		३—घ्राणवध	=अजिघ्रता	[घ्राणपाक]
		४—त्वग्वध	=कुष्ठता	
		५—श्रोत्रवध	=बधिरता	
	कर्मेन्द्रियवध	६—वाग्वध	=मूकता	
		७—पाणिवध	=कुणिता	
		८—पादवध	=पंगुता	
		९—पायुवध	=गुदावर्त्त	[उदावर्त्त]
		१०—उपस्थवध	=क्लीबता	
		११—मनोवध	=उन्माद	

---

१. जयमंगला में 'तारवि [?]' ऐसा सन्दिग्ध पाठ निर्दिष्ट है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में प्रथम तीन सिद्धियों के क्रम को यहाँ विपरीत कर दिया है। अर्थात् 'ऊह' के स्थान पर 'अध्ययन' और 'अध्ययन' के स्थान पर 'ऊह' को माना है। परन्तु दूसरी संज्ञाओं के क्रम को नहीं बदला। इसप्रकार माठर आदि अन्य आचार्यों ने 'ऊह' सिद्धि की दूसरी संज्ञा 'तार' बतलाई है। परन्तु वाचस्पति मिश्र 'अध्ययन' सिद्धि का दूसरा नाम 'तार' कहता है। 'शब्द' नामक सिद्धि दोनों क्रमों के अनुसार मध्य में आजाती है। इसलिये उसका दूसरा नाम दोनों क्रमों में 'सुतार' रहता है। वाचस्पति मिश्र के मत से तृतीय सिद्धि 'ऊह' का दूसरा नाम 'तारतार' होजाता है।

२. जयमंगला व्याख्या में यहाँ 'मोदन' पाठ है। संभवतः माठरग्रन्थ का यहाँ मूलपाठ, मोदमान' ही रहा होगा। लेखक प्रमाद आदि से 'मा' निकलकर 'मोदन' पाठ रहगया। अनन्तर उपर्युक्त कारणों से माठरग्रन्थ में 'मोहन' पाठ बनगया।

सप्तदश बुद्धिवध

१२—प्रकृतिवध	=अनम्भ
१३—उपादानवध	=असलिल
१४—कालवध	=अनोघ
१५—भाग्यवध	=अवृष्टि
१६—अर्चनोपरमवध	=अतार
१७—रक्षणोपरमवध	=असुतार
१८—क्षयोपरमवध	=असुनेत्र
१९—अतृप्त्युपरमवध	=असुमरीच
२०—हिंसोपरमवध[1]	=अनुत्तमाम्भसिक
२१—ऊहवध	=अतार
२२—शब्दवध	=असुतार
२३—अध्ययनवध	=अतारतार
२४—आत्मिकदुःखविघातवध	=अप्रमोद
२५—भौतिकदुःखविघातवध	=अप्रमुदित
२६—दैविकदुःखविघातवध	=अमोहन
२७—सुहृत्प्राप्तिवध	=अरम्यक
२८—दानवध[2]	=असदाप्रमुदित

मौलिकार्थ—[चन्द्रिकाकार के अतिरिक्त अन्य सब आचार्यों के मतानुसार]

१—एकत्व
२—अर्थवत्त्व
३—पारार्थ्य
} केवल प्रधान की अपेक्षा से

---

१. १२ से लेकर २० तक, तुष्टि के विपर्यय से प्राप्त नौ अशक्तियों का उल्लेख कियागया है। योगमार्गोन्मुख बुद्धिगत भावनाओं के विपर्यय अथवा विनाश से होने के कारण इनको बुद्धिवध कहागया है।

२. २१ से २८ तक, सिद्धि के विपर्यय से प्राप्त आठ अशक्तियों का उल्लेख है। तुष्टि-विपर्यय के समान ये आठ बुद्धिवध हैं। इसप्रकार ११ इन्द्रियवध और तुष्टि तथा सिद्धि के विपर्यय से प्राप्त १७ बुद्धिवध मिलाकर २८ अशक्ति, अध्यात्म योगी के मार्ग में बाधकरूप से उपस्थित होती हैं। 'ऊह' आदि पदों के साथ 'नञ्' का प्रयोग करके 'अनूह' आदि शब्दों के द्वारा व्याख्याकारों ने सिद्धिविपर्ययरूप अशक्ति का निर्देश किया है। परन्तु हमने एक ही क्रम रखने के कारण, अन्त में सब के साथ 'वध' पद का प्रयोग किया है। माठरपाठों के साथ 'नञ्' लगाकर दूसरे नामों का उल्लेख कर दिया है। यहाँ पर पाठान्तरों का निर्देश अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है।

४—अन्यत्व
५—अकर्तृत्व } केवल पुरुष की अपेक्षा से
६—बहुत्व

७—अस्तित्व
८—वियोग } दोनों की अपेक्षा से
९—योग

१०—स्थिति } स्थूल और सूक्ष्म शरीरों की अपेक्षा से

[चन्द्रिकाकार नारायणतीर्थ[1] के मतानुसार]

१—पुरुष
२—प्रकृति
३—बुद्धि
४—अहंकार
५—सत्त्व
६—रजस्
७—तमस्
८—पाँच तन्मात्र
९—एकादश इन्द्रिय
१०—पञ्च महाभूत

---

१. नारायणतीर्थ ने अपनी चन्द्रिका नामक व्याख्या में सांख्यसप्तति की ७२वीं कारिका पर लिखा है—
"षष्टिपदार्था गणिता ग्रन्थान्तरे, यथा—
"पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिरहंकारो गुणास्त्रयः ।
तन्मात्रमिन्द्रियं भूतं मौलिकार्थाः स्मृता दशः ॥' "
"बलराम उदासीन ने भी सांख्यतत्त्वकौमुदी की स्वरचित टीका में ७२ कारिका पर इस श्लोक को 'ग्रन्थान्तरे षष्टिपदार्थी यथा' लिखकर उद्धृत किया है। टीका का यह अन्तिम भाग, रामावतार पाण्डेय लिखित है। संभवतः पाण्डेय महोदय ने यह श्लोक चन्द्रिका से लिया प्रतीत होता है। नारायणतीर्थ ने अपने व्याख्यान में लिखा है, कि ये साठ पदार्थ 'ग्रन्थान्तर में गिनाये गये हैं। आगे 'यथा' कहकर वह इस श्लोक को लिखता है। इससे निम्ननिर्दिष्ट दोनों परिणाम निकलते हैं। (१) ग्रन्थान्तर में पठित श्लोक को नारायणतीर्थ ने यहाँ उद्धृत किया हो। (२) ग्रन्थान्तर में केवल साठ पदार्थों की गणना कीहुई हो, और उन पदार्थों को नारायणतीर्थ ने स्वयं श्लोक में बद्ध करके यहाँ निर्देश करदिया हो। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन इसी अध्याय में आगे किया गया है।

ऊपर अहिर्बुध्न्यसंहिता और षडध्यायी, तत्त्वसमास तथा सांख्यकारिका के आधार पर साठ पदार्थों का निर्देश किया है। षडध्यायी, तत्त्वसमास और सांख्यकारिका में इन साठ पदार्थों के प्रतिपादन का क्रम सर्वथा समान है। परन्तु अहिर्बुध्न्यसंहिता में साठ पदार्थों की गणना कुछ भिन्न प्रकार से कीगई है, जैसा ऊपर के निर्देश से स्पष्ट है। इन दो प्रकार से प्रतिपादित साठ पदार्थों का परस्पर सामञ्जस्य कहाँ तक होसकता है, इसका निर्देश निम्न-लिखित रीति पर संभव है।

षष्टितन्त्र के साठ पदार्थों का, अहिर्बुध्न्यसंहिताप्रतिपादित साठ पदार्थों के साथ सामञ्जस्य—

(१) अहिर्बुध्न्यसंहिता के प्राकृतमण्डल में सांख्य के ५ विकार (२८-३२ तक पाँच भूत) स्पष्ट निर्दिष्ट हैं। यदि पाँच ज्ञान और पाँच क्रियारूप वृत्तियों के निर्देश से उनके साधनभूत इन्द्रियों का निर्देश समझलियाजाय, तो १३ से २२ तक दश इन्द्रियों का निर्देश आजाता है। इसप्रकार सांख्य के १५ विकारों का उल्लेख, अहिर्बुध्न्यसंहिता के प्राकृतमण्डल में आजाता है। सांख्य (इस पद से यहाँ केवल सांख्यषडध्यायी, तत्त्वसमास तथा सांख्यकारिकाओं का ग्रहण अभीष्ट है) में इन १५ विकारों का तत्त्वगणना में उपयोग है, और अहिर्बुध्न्य-संहिता में भी। परन्तु सांख्य में आधिभौतिक[1] दृष्टि से २५ तत्त्वों की गणना में इनका उपयोग है, षष्टि पदार्थों की गणना में नहीं। इसके विपरीत अहिर्बुध्न्यसंहिता में, अपनी रीति पर, षष्टि पदार्थों की गणना में इनका उपयोग कियागया है। प्रतिपाद्य विषय की समानता होने पर भी इन दोनों क्रमों में तत्त्वों की गणना-मूलक यह भेद है।

(२) सांख्य के पाँच प्रकृति-विकृति (तन्मात्र-रूप), अहिर्बुध्न्यसंहिता में २३ से २७ तक 'मात्र' पद से साक्षात् निर्दिष्ट हैं। सांख्य के अनुसार यद्यपि २५ तत्त्वों की गणना में इनका इसी रूप में उपयोग है, षष्टिपदार्थों की गणना में नहीं। परन्तु संहिता में, साक्षात् षष्टि पदार्थों की गणना में इनका उपयोग किया गया है।

---

१. सांख्य में आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों के आधार पर तत्त्वों का परिगणन और विवेचन कियागया है। २५ तत्त्वों की गणना, आधिभौतिक दृष्टि से, तथा षष्टि पदार्थों की गणना आध्यात्मिक दृष्टि से है। आध्यात्मिक गणना में, आधिभौतिक दृष्टि से परिगणित २५ तत्त्व, दश मौलिक अर्थों में समाविष्ट होजाते हैं। अध्यात्म मार्ग के लिये अत्यावश्यक ५० प्रत्यय सर्गों का पृथक् प्रतिपादन कियागया है। इन दोनों को मिलाकर सांख्य में षष्टि पदार्थों की गणना पूर्ण होती है।

(३) संहिता में प्रकृति का निर्देश, सत्त्व-रजस्-तमस् (६ से ८ तक) को पृथक् गिनाकर कियागया है, 'प्रकृति' पद से प्रकृति का उल्लेख नहीं है। इसप्रकार सांख्य के २५ तत्त्वों में परिगणित एक तत्त्व को संहिता में तीन भागों में विभक्त कर षष्टि पदार्थों की गणना में उपयोग कियागया है। यदि संहिता में 'शक्ति' पद से प्रकृति का निर्देश मानाजाय, तो अधिक युक्तियुक्त होगा। इसप्रकार प्रधान [कारणरूप प्रकृति] एक तत्त्व का, एक पद से निर्देश होना संगत होता है। सत्त्व, रजस्, तमस् का पृथक् निर्देश, कारण की वैषम्य अवस्था का साधारण रूप से बोधक कहाजासकता है। यद्यपि पदार्थों की केवल साठ संख्या पूरी करने के लिये इसप्रकार का निर्देश कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। तथा इससे संहिताकार के षष्टि पदार्थ अथवा षष्टितन्त्रसम्बन्धी-ज्ञान पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। सांख्य में षष्टि पदार्थों की गणना में प्रकृति का स्वरूपेण उपयोग नहीं है, प्रत्युत उसके कुछ विशेष धर्मों की गणना में उपयोगिता के आधार पर प्रकृति का साठ पदार्थों में समावेश[1] मानागया है।

(४) संहिता में 'ब्रह्म' और 'पुरुष' पदों से पृथक् साक्षात् रूप में परमात्मा और जीवात्मा का निर्देश है। सांख्य में इन दोनों का 'पुरुष' पद द्वारा आधिभौतिक दृष्टि से तत्त्व गणना के अवसर पर ग्रहण कर लियागया है। आध्यात्मिक दृष्टि से षष्टि पदार्थ गणना में प्रकारान्तर से इनका समावेश है।

इसप्रकार अहिर्बुध्न्यसंहिता के षष्टि पदार्थों में परिगणित प्राकृत मण्डलान्तर्गत २६ तत्त्वों का सामञ्जस्य, सांख्य के २५ तत्त्वों में परिगणित २२ तत्त्वों के साथ स्थित होता है। सांख्य के इन २२ तत्त्वों में, १५ विकार, १ प्रकृति, अप्रकृति-अविकृति पुरुष, ५ प्रकृति-विकृति पदार्थ परिगणित होजाते हैं। प्रकृति-विकृति समाविष्ट बुद्धि और अहंकार, तथा विकृति-समाविष्ट मन का संहिता में उल्लेख नहीं हैं। इसप्रकार कहाजासकता है—बुद्धि, अहंकार, मन, इन तीनों अन्तःकरणों का अहिर्बुध्न्यसंहिता में उल्लेख नहीं कियागया।

(५) प्राकृतमण्डल में उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त, छह पदार्थों का उल्लेख और है। जिनमें १० संख्या पर प्रतिपादित 'प्राणतन्त्र' सांख्य के पाँच प्राण आदि होसकते हैं, जो अन्तःकरणों के सामान्य-वृत्तिमात्र हैं। यद्यपि सांख्य-मतानुसार प्राणों का, तत्त्वगणना में कोई उपयोग नहीं है। परन्तु संहिता में वृत्तियों के निर्देश से, उनके साधनभूत इन्द्रियों का निर्देश मान लेने के समान, प्राण आदि अन्तःकरण की सामान्यवृत्तियों से अन्तःकरण का निर्देश संहिता में मानलियाजाय, तो तीनों अन्तःकरणों का भी उल्लेख संहिता में आजाता है।

---

१. दश मौलिक अर्थों में इसका समावेश होजाता है, इसका स्पष्ट विवरण इसी अध्याय में आगे कियागया है।

संहिता में प्राण को एक गिना है, तथा उसका उपयोग साक्षात् षष्टि पदार्थों की गणना में माना है। सांख्य में प्राणवृत्तिक अन्तःकरण, पृथक् तीन संख्या में, २५ तत्त्वों की गणना के लिये उपयोगी माने गये हैं। इसप्रकार सांख्य में आधिभौतिक दृष्टि से परिगणित २५ तत्त्वों का संहिता के प्राकृत मण्डलान्तर्गत षष्टि पदार्थों में परिगणित २७ पदार्थों के साथ सामञ्जस्य होता है। परन्तु सांख्य के ये २५ तत्त्व, अध्यात्मदृष्टि से साठ पदार्थों की गणना के समय, दस मौलिक अर्थों में समाविष्ट माने जाते हैं। यह दोनों क्रमों का परस्पर भेद है।

(६) प्राकृतमण्डल के शेष पांच [नियति, काल, अक्षर, कर्तृ, सामि] पदार्थों का सांख्य में मुख्यतया साक्षात् वर्णन नहीं है। तत्त्व गणना में इनका किसी तरह का उपयोग नहीं है। इनमें से काल[1], कर्तृ[2], इन दो का सांख्य में यत्र-तत्र प्रासंगिक उल्लेख है। अक्षर और सामि का उल्लेख सर्वथा नहीं है। यदि नियति का अर्थ स्वभाव मानाजाय, तो जहां-तहां व्याख्या[3] ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। इसका सम्बन्ध, पुरुष तया प्रकृति इन दोनों की अपनी निजी स्थिति के साथ जोड़ा जासकता है। नियति का अर्थ, पुण्य-पाप रूप कर्म माने जाने पर इसका सम्बन्ध, जीव-पुरुष के साथ कहाजासकता है। इनको अतिरिक्त तत्त्व मानेजाने का कोई उल्लेख मूलसांख्य में उपलब्ध नहीं है।[4]

---

१. सांख्यसूत्र, १।१२॥ २।१२॥ ३।६०॥ ४।१९,२०॥ सांख्यकारिका ५०॥
२. सांख्यसूत्र, १।१०६,१६४॥ ५।४६॥ ६।५४,६४॥ सांख्यकारिका, १९, २०॥
३. सांख्यकारिका २७ पर गौडपादभाष्य।
४. पं० हरदत्त शर्मा एम्० ए० महोदय ने गौडपादभाष्य [पूना संस्करण] की भूमिका के २५ पृष्ठ पर लिखा है—'षष्टितन्त्रे च ब्रह्मपुरुषशक्तिनियतिकालाख्यानि पञ्च सर्गकारणानि पूर्वपक्षतयोपन्यस्तान्युपलभ्यन्ते'। अर्थात् षष्टितन्त्र में पूर्वपक्ष रूप से ब्रह्म, पुरुष, शक्ति, नियति और काल को सृष्टि का कारण बताया है। हरदत्त शर्मा महोदय ने सृष्टि के पाँच कारणों को पूर्वपक्ष रूप से उल्लिखित हुआ षष्टितन्त्र के किस स्थल में देखा, यह नहीं बताया। यदि उनका अभिप्राय अहिर्बुध्न्यसंहिता के इस प्रकरण से है, जिसमें ब्रह्म, पुरुष, शक्ति, नियति और काल, इनका उल्लेख है, तो निश्चय हैं, श्रीयुत शर्मा महोदय का उपर्युक्त लेख निराधार है; क्योंकि संहिता के इस प्रकरण में न कार्यकारण का प्रसंग है, और न पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष का। यहाँ केवल साठ पदार्थों की गणना कीगई है। जिसको 'षष्टितन्त्र' नाम का आधार कहा है। सम्भव है, श्री शर्मा का ध्यान यह लिखने से पूर्व सांख्यसप्तति की ६१वीं आर्या के माठर

उक्त 'सामि' पद के स्थान पर 'स्वामि' पाठ भी उपलब्ध होता है। यदि यह ठीक है, तो अक्षर, कर्तृ तथा स्वामि के सामञ्जस्य पर कुछ प्रकाश डाला जासकता है। वस्तुतः चेतन तत्त्व के सम्बन्ध में इनका निर्देश कियागया प्रतीत होता है। चेतन तत्त्व को सांख्य, अक्षर अर्थात् अविनाशी मानता है। उसका कर्तृत्व, अधिष्ठातृत्वरूप में प्रेरणा एवं सान्निध्यमात्र से मानागया है[1]। उसके स्वामी होने में सन्देह का कोई अवकाश नहीं। ब्रह्म अर्थात् परमात्मा अखिल विश्व का स्वामी है; जीवात्मा भी उसके कुछ अंश का। इसप्रकार इनका सामञ्जस्य कियाजासकता है। परन्तु सांख्य दृष्टि से साठ पदार्थों की गणना के लिये इस रूप में इनका उपयोग नहीं है।

(७) प्राकृतमण्डल के अनन्तर वैकृतमण्डल के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत है। वैकृतमण्डल के २८ पदार्थों में से, ८ से १२ तक पाँच, सांख्य के पाँच विपर्यय हैं। दश मौलिक अर्थों के अतिरिक्त, ५० प्रत्यय सर्गों में सर्वप्रथम इनका वर्णन है। सांख्य के षष्टि पदार्थों की गणना में इनका साक्षात् उपयोग है। संहिता में इन्हें साक्षात् षष्टि पदार्थों की गणना में उपयुक्त किया है। यह इन दोनों क्रमों की समानता है।

(८) १३ से १५ तक तीन सांख्य के तीन प्रमाण हैं। यद्यपि यहाँ संहिता में इन्हें षष्टि पदार्थों की गणना में उपयुक्त मानागया है, परन्तु सांख्य में किसी तरह की गणना के लिये इनका कोई उपयोग नहीं है। वैसे सांख्य में इनका प्रासंगिक वर्णन विस्तारपूर्वक कियागया है।

(९) १६ से १९ तक चार, बुद्धि के [सात्त्विक] धर्म हैं। न ये सांख्याभिमत अतिरिक्त तत्त्व हैं, और न इनका किसी तरह की गणना में कोई उपयोग है। प्रमाणों के समान इनका सांख्य में प्रासंगिक वर्णन अवश्य है।

(१०) प्राकृतमण्डल में [६ से ८ तक] "गुणतन्त्र" है; और वैकृतमण्डल

व गौडपाद कृत व्याख्याओं की ओर आकृष्ट हुआ हो; जिनके आधार पर लोकमान्य तिलक ने जगत्सर्ग के प्रति ईश्वर, पुरुष, काल, नियति आदि की कारणता का निषेध करने वाली अभिनव आर्या का उद्भावन किया। कदाचित् उसको श्री शर्मा ने सांख्य के पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया। परन्तु वस्तुतः वह सांख्य का पूर्वपक्ष न होकर उत्तरपक्ष अथवा सिद्धान्तपक्ष है। उस प्रसंग में जगत्सर्ग के प्रति ईश्वर आदि की त्रिगुणात्मिका प्रकृति की बराबरी (प्रतियोगिता) में—उपादानकारणता का निषेध है, निमित्तकारणता का नहीं। उस सब प्रसंग का आधार सांख्यषडध्यायी के कतिपय सूत्र हैं।

१. इस सिद्धान्त का विवेचन, 'सांख्यसिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक कियागया है।

में भी [२० वां] 'गुणकाण्ड' है। इनके प्रतिपाद्य विषय के भेद का कुछ पता नहीं लगसका। दोनों मण्डलों में निर्देश किये जाने का कोई कारण संहिता में उल्लिखित नहीं। दोनों जगह 'गुण' की गणना करके साठ पदार्थों की संख्या पूरी करने में असामञ्जस्य भी प्रतीत होता है। तथा संहिताकार के षष्टितन्त्र सम्बन्धी ज्ञान पर कुछ विपरीत प्रभाव ध्वनित होता है।

(११) २१ से २३ तक [लिंग, दृष्टि, आनुश्रविक] तीन, उक्त तीन प्रमाणों [१३ से १५ तक] के समान हैं। इनमें पुनरुक्तता प्रतीत होती है। अथवा निम्ननिर्दिष्ट रीति पर इनका विषय, भिन्न सम्भव है। प्रतीत होता है, मूल कारण को प्रमाणपूर्वक सिद्ध करने के लिये इन काण्डों का पृथक् निर्देश किया गया हो। जैसे कि—

(क) लिंगकाण्ड में अनुमान प्रमाण के आधार पर, अव्यक्त को सुखदुःख-मोहात्मक सिद्ध कियागया हो।

(ख) अव्यक्त के कार्यभूत इस दृश्यमान व्यक्त को, सुखदुःखमोहात्मक रूप से दृष्टिकाण्ड में प्रतिपादित कियागया हो।

(ग) आनुश्रविक काण्ड में, अव्यक्त तथा व्यक्त की सुखदुःखमोहात्मकता के प्रतिपादन के लिये, इस अर्थ को पुष्ट करने वाली शब्द प्रमाणभूत श्रुति स्मृतियों का निर्देश कियागया हो। फिर भी सांख्यमतानुसार षष्टि पदार्थों की गणना में इनका कोई उपयोग नहीं मानागया। यद्यपि सांख्य में प्रसंगवश इनका विवेचन जहाँ-तहाँ[1] आता है।

(१२) २४ वीं संख्या पर 'दुःखकाण्ड' है। सांख्य में त्रिविध दुःखों का[2] वर्णन है। परन्तु किसी तरह की पदार्थ गणना में वहाँ इनका उपयोग नहीं है।

(१३) २५ वां सिद्धिकाण्ड है। सांख्य में सिद्धियों की संख्या आठ मानी है। और षष्टि पदार्थों की साक्षात् गणना में वहाँ उनका उपयोग कियागया है। परन्तु संहिता में सिद्धि एक ही गिनाई है। सम्भव है, इस काण्ड का प्रतिपाद्य विषय, सांख्याभिमत ८ सिद्धियों का वर्णन न हो। क्योंकि इनको सामान्यरूप से एक संख्या में गिनाना, पदार्थ गणना के लिये सर्वथा अनुपयोगी है। सम्भव है, योगवर्णित सिद्धियाँ इस काण्ड का प्रतिपाद्य विषय हों, जिनका वर्त्तमान योगदर्शन के विभूतिपाद में वर्णन कियागया है। इसप्रकार से यदि सांख्यगत आठ सिद्धियों का वर्णन भी इस काण्ड का प्रतिपाद्य विषय मानलियाजाय, तो इसमें कोई विशेष बाधा नहीं है।

---

१. (क) सांख्यसूत्र, १।६२—६५॥१२९—१३७॥ सांख्यकारिका १४—१६॥
(ख) सांख्यसूत्र, १।१२५—१२६॥ सांख्यकारिका ११॥
२. सांख्यसूत्र, १।१॥ तत्त्वसमास २२॥ सांख्यकारिका १॥
३. सांख्यसूत्र, ३।४०, ४४॥ तत्त्वसमास १५॥ सांख्यकारिका ५१॥

(१४) २८ पर मोक्षकाण्ड है। सांख्य का, त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति रूप पुरुषार्थ अथवा अपवर्ग मोक्ष है। इसको कैवल्य आदि पदों से कहाजाता है। यद्यपि सांख्य में प्रसंगवश अनेक स्थलों[1] पर इसका वर्णन है। परन्तु किसी तरह की पदार्थ गणना में इसका उपयोग नहीं है।

(१५) वैकृत मण्डल के प्रथम तीन [सृष्टि, स्थिति, प्रलय], सांख्य में प्रसंगवश[2] वर्णित हैं। परन्तु उनका किसी तरह की पदार्थ गणना में कोई उपयोग नहीं है।

(१६) चतुर्थ और पंचम काण्ड, निग्रह तथा अनुग्रह विषयक बताये गये हैं। ये निग्रह, अनुग्रह सृष्टि के अवान्तर भेद हैं। सर्ग के प्रारम्भ काल की अमैथुनी सृष्टि को सांख्य में अनुग्रह[3] सर्ग कहागया है, अनन्तर होने वाली चौदह प्रकार की भौतिक सृष्टि को निग्रह सर्ग बताया है। सांख्य में इनका प्रसंगप्राप्त वर्णन होने पर भी तत्त्वगणना में कोई उपयोग नहीं है।

(१७) वैकृतमण्डल का छठा [भोग], पुरुषार्थ का अंग है। सांख्य में भोग[4] और अपवर्ग दोनों को पुरुषार्थ बताया है। इसलिये प्रसंगवश सांख्य में भोग का वर्णन अवश्य है, परन्तु पदार्थ गणना में इसका कोई उपयोग वहाँ नहीं है।

(१८) वैकृतमण्डल के शेष तीन [७-वृत्त, २६-काषाय, २७-समय], ऐसे पदार्थ हैं, जिनका सांख्य में वर्णन नहीं है। योग प्रकरणों में रागादि मलों के लिये 'कषाय'[5] पद का प्रयोग कियागया है। सम्भव है, इस काण्ड का प्रतिपाद्य विषय वही हो।

(१९) वैकृत मण्डल के २७ [समय] का, प्राकृत मण्डल के ५ [काल] से भेद विवेचनीय है। एक ही वस्तु का दो नामों से पदार्थ गणना में उपयोग कियाजाना असमञ्जस प्रतीत होता है। योगदर्शन [२।३१] में 'समय' पदका प्रयोग विशिष्ट अर्थ 'शपथ' के लिये हुआ है। किसी विषय में प्रतिज्ञा व प्रण करके दृढ़ता के साथ उसका पालन करना इसकी सीमा में आता है। सम्भव है, संहिता के 'समयकाण्ड' का इसी भावना को लक्ष्य कर कोई प्रतिपाद्य विषय

---

१. सांख्यसूत्र, १।१।। ३।६५, ७८, ८४।। तत्त्वसमास २०।। सांख्यकारिका, ४४, ६४-६६। ६८।।

२. सांख्यसूत्र, १। ६१।। २। ६-१२। १७, १८, २०-२२।। १। १२१।। तत्त्व-समास ५।६।१७।१८।। सांख्यकारिका, १५।२२।२४।२५।।

३. सांख्यसूत्र, १।१६४।। सांख्यकारिका ४२ पर माठरभाष्य। तत्त्वसमास, १७।

४. तत्त्वसमास १७।१८।। सांख्यकारिका ५२।५३।।

५. 'रागादयः खलु कषायाश्चित्तवर्तिनः' योगसूत्र, १।१५।। पर तत्त्ववैशारदी, वाचस्पति मिश्र कृत।

रक्खा गया हो। पर सांख्य में षष्टि पदार्थों की गणना के लिये इसका कोई उपयोग नहीं है।

(२०) यही प्रकार 'वृत्त' [संख्या ७] के विषय में समझना उपयुक्त होगा। 'वृत्त' पद 'आचार' [आचरण=क्रियात्मक घटना] के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सम्भव है, संहिता के इस काण्ड का प्रतिपाद्य विषय सदाचार आदि का उपपादन करना रहा हो। यद्यपि सांख्यगत षष्टि पदार्थ गणना में इसका कोई स्थान नहीं है। यह प्रसंग योग के प्रथम दो अंग यम और नियम की ओर संकेत करता है।

षष्टितन्त्र के दश मौलिक अर्थों के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद, और उसका सामञ्जस्य—

अहिर्बुध्न्यसंहिता में उपवर्णित षष्टितन्त्र के साठ पदार्थों का विवेचन करने के अनन्तर सांख्य के षष्टि पदार्थों के सम्बन्ध में कुछ निर्देश आवश्यक है। सांख्य में उपवर्णित साठ पदार्थों को दो भागों में विभक्त कियागया है। (१) पचास प्रत्ययसर्ग अर्थात् बुद्धिसर्ग। (२) दश मौलिक अर्थ। इनमें से—

(१) पचास प्रत्ययसर्गों[1] के सम्बन्ध में किसी आचार्य का कोई मतभेद नहीं है। सब मूल ग्रन्थों[2] और उनके व्याख्याग्रन्थों में इनका समानरूप से उल्लेख उपलब्ध होता है। सम्भव है, प्रत्ययसर्ग पठित पचास पदार्थों में से कुछ-एक पदार्थों के व्याख्यान करने में किन्हीं व्याख्याकार आचार्यों के परस्पर मतभेद हों, परन्तु पदार्थों के मौलिक स्वरूप को स्वीकार करने में किसीका मतभेद नहीं है।

---

१. प्रत्ययसर्ग में पचास पदार्थ ये हैं—
५ विपर्यय, ६ तुष्टि, ८ सिद्धि, २८ अशक्ति। इनका पृथक् निर्देश पीछे कियाजाचुका है।

२. सांख्यषडध्यायी, तत्त्वसमास, और सांख्यकारिकाओं को हमने यहाँ मूलग्रन्थ माना है। पञ्चशिख के उपलभ्यमान सूत्रों में ये अर्थ नहीं हैं। सम्भव है, अनुपलब्ध ग्रन्थ में हों। इसीलिये उसे यहाँ नहीं गिना है। व्याख्या-ग्रन्थ=सांख्यषडध्यायी,—अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु, महादेव। सांख्यकारिका—माठर, युक्तिदीपिका, गौडपाद, जयमंगला, वाचस्पति, चन्द्रिका। तत्त्वसमास—षिमानन्द, भावागणेश आदि के व्याख्यान, 'सांख्यसंग्रह' नाम से दो भागों में 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस' से प्रकाशित।

(२) परन्तु दश मौलिकार्थों के सम्बन्ध में अन्य सब आचार्यों से, चन्द्रिका [सांख्यकारिका की एक टीका] के रचयिता नारायणतीर्थ का मतभेद है। इस भेद को हम पीछे लिख चुके हैं। सुविधा के लिये उसका पुनः निर्देश किया जाता है—

चन्द्रिकाकार नारायणतीर्थ	अन्य सब आचार्य
(१) पुरुष	(२) एकत्व
(२) प्रकृति	(१) अर्थवत्त्व
(३) बुद्धि	(३) पारार्थ्य
(४) अहंकार	(४) अन्यत्व
(५) सत्त्व	(५) अकर्तृत्व
(६) रजस्	(३) बहुत्व
(७) तमस्	(७) अस्तित्व
(८) पञ्चतन्मात्र	(८) वियोग
(९) एकादश इन्द्रिय	(९) योग
(१०) पञ्च महाभूत	(१०) स्थिति

प्रतीत होता है, तीर्थ[1] ने सांख्य के २५ तत्त्वों को दश मौलिकार्थ माना है, कुछ तत्त्व उसी रूप में गिने हैं, और कुछ का वर्गीकरण करदिया है।

पुरुष=न प्रकृति न विकृति

प्रकृति=केवल प्रकृति [मूलप्रकृति]

इन दो तत्त्वों को उसी रूप में गिन लिया गया है। सात प्रकृति-विकृतियों में से दो-बुद्धि और अहंकार-को उसी रूप में गिना है। परन्तु पंचतन्मात्र का एक वर्ग मानकर उनको एक संख्या में गिना है। सोलह विकारों के दो वर्ग मान लिये हैं, एक इन्द्रियवर्ग दूसरा महाभूतवर्ग। इसतरह इन को दो संख्या में गिन लिया है। ये सब मिलकर सात मौलिकार्थ होते हैं, और उधर २५ तत्त्व पूरे होजाते हैं। मौलिकार्थों की दश संख्या पूरी करने के लिये, सत्त्व-रजस्-तमस् को पृथक् करके जोड़ा गया है। प्रकृति की गणना कर लिये जाने पर केवल संख्या पूर्त्ति के लिये 'सत्त्व-रजस्-तमस्' को पृथक् करके गिनना कुछ समंजस प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रकृति इनसे अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं है।

परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है। यह मत, तीर्थ का अपना मत मालूम नहीं देता। यहाँ पर उसका लेख इसप्रकार है—

"षष्टिपदार्था गणिता ग्रन्थान्तरे, यथा—

---

१. इस प्रकरण में चन्द्रिकाकार नारायणतीर्थ को, संक्षेप का विचार करके, हमने केवल 'तीर्थ' पद से स्मरण किया है।

पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिरहंकारो गुणास्त्रयः ।
तन्मात्रमिन्द्रियं भूतं मौलिकार्थाः स्मृता दश ॥
विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ।
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम् ॥
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः[1] इति ॥

तीर्थ के इस लेख से स्पष्ट है, उसने इन साठ पदार्थों का उल्लेख किसी ग्रन्थान्तर के आधार पर किया है। वह ग्रन्थान्तर कौन है ? इसका निर्णय करना कठिन है। इन श्लोकों में से अन्तिम डेढ़ श्लोक, जिसमें पचास प्रत्यय सर्गों का निर्देश है, ठीक वही हैं, जो वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमदी के अन्त में 'राजवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ से उद्धृत करके लिखे हैं[2]। चन्द्रिका के प्रथम श्लोक का चतुर्थ चरण भी मिश्रोद्धृत प्रथम डेढ़ श्लोक के अन्तिम चरण के साथ मिलता है। वाचस्पति मिश्र ने राजवार्त्तिक से जिन श्लोकों को सांख्यतत्त्व-कौमुदी के अन्त में उद्धृत किया है, वे श्लोक सांख्य के अन्य किसी ग्रन्थ में प्रस्तुत प्रसंग में उद्धृत हुए नहीं मिले। यद्यपि युक्तिदीपिका के प्रारम्भिक पन्द्रह श्लोकों में ये तीन श्लोक हैं। परन्तु वहां ये ग्रन्थकार की मूलरचना के अन्तर्गत है। तीर्थ ने अन्तिम डेढ़ श्लोक को, जिनमें पचास प्रत्ययसर्गों का उल्लेख है, वाचस्पति के ग्रन्थ से लिया हो। यह कारणान्तरों से सिद्ध है, कि चन्द्रिका लिखते समय तीर्थ के सन्मुख सांख्यतत्त्वकौमुदी विद्यमान थी।[3] तथा कौमुदी की पर्याप्त छाया चन्द्रिका में है।

अब प्रश्न यह है, कि तीर्थ ने वाचस्पतिप्रतिपादित दश मौलिकार्थों को क्यों छोड़ा ? और उनसे भिन्न दश मौलिकार्थों का किस आधार पर प्रतिपादन किया ? वाचस्पतिप्रतिपादित मौलिकार्थों को छोड़ देने का कारण बताने से पूर्व, तीर्थप्रतिपादित मौलिकार्थों के आधार का हम निर्देश करना चाहते हैं।

---

१. चन्द्रिका व्याख्या [सांख्यकारिका ७२]

२. वे श्लोक इसप्रकार हैं—
"तथा च राजवार्त्तिकम्—
प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता ।
पारार्थ्यञ्च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ॥
ज्ञेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश ।
विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ॥
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम् ।
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः ॥ इति"

३. इसका विवेचन इसी ग्रन्थ के 'सांख्यकारिका के व्याख्याकार' नामक अध्याय में विस्तारपूर्वक कियागया है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता में उपवर्णित षष्टितन्त्र के प्रथम प्राकृतमण्डल में ३२ पदार्थों के आधार पर ३२ तन्त्रों का निर्देश कियागया है। वहाँ पर प्रतिपादित २६ पदार्थों का सामंजस्य सांख्य के २५ तत्त्वों के साथ होता है, यह पीछे स्पष्ट कियाजाचुका है। संहिता में 'भूततन्त्र' और 'मात्रतन्त्र' का निर्देश है। यद्यपि वहाँ प्रत्येक की संख्या पाँच बताई है, परन्तु इनका निर्देश, एक-एक वर्गमानकर कियागया है। तीर्थ ने इन वर्गों को इसी रूप में स्वीकार किया है। क्योंकि उसने २५ तत्त्वों को दश संख्या में समाविष्ट करना है, इसलिये एक वर्ग को एक संख्या में गिना है।

संहिता में इन्द्रियों के दो वर्ग किये हैं, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्दिय, इनके लिये वहाँ 'ज्ञानतन्त्र' और 'क्रियातन्त्र' नाम दियेगये हैं। यद्यपि प्रत्येक की संख्या वहाँ पाँच मानीगई है, परन्तु तीर्थ ने दस संख्या के सामंजस्य के कारण सम्पूर्ण इन्द्रिय-वर्ग को एक संख्या में गिना है। इसप्रकार 'पंचभूत', 'तन्मात्र' और 'इन्द्रियवर्ग' को लेकर तीर्थ के विचार से तीन मौलिक अर्थ होजाते हैं; जिनका आधार अहिर्बुध्न्यसंहिता को कहाजासकता है।

संहिता में 'गुणतन्त्र' से तीन गुणों का पृथक् निर्देश स्वीकार किया है। क्योंकि वहाँ 'गुणतन्त्र' को तीन भागों में विभक्त माना है, ठीक उसी तरह तीर्थ ने सत्त्व-रजस्-तमस् को पृथक् तीन संख्याओं में गिना है; जबकि दोनों ग्रन्थकारों ने प्रकृति की पृथक् स्वतन्त्र गणना भी की है। यह दोनों की आश्चर्यजनक समानता है।

संहिता में 'ब्रह्मतन्त्र' का निर्देश है। यदि यहाँ सांख्यमतानुसार 'ब्रह्म' पद से प्रकृति[1] का ग्रहण कियाजाय, तो प्रकृति और पुरुष इन दो पदार्थों का निर्देश

---

१. "अव्यक्तं प्रकृतिर्माया प्रधानं ब्रह्म कारणम्। अव्याकृतं तमः पुष्पं क्षेत्रमक्षरनामकम्॥ बहुधात्मकादिनामानि तस्यामी ते जगुर्बुधाः।" सांख्यसंग्रह, पृष्ठ ५, पंक्ति १६-१८॥ 'प्रकृतिः प्रधानमधिकुरुते। ब्रह्म अव्यक्तं बहुधात्मकं मायेति पर्यायाः।' सांख्यकारिका २२ पर माठरभाष्य। भगवद्गीता में भी अनेक स्थानों पर 'प्रकृति' के लिये 'ब्रह्म' पद का प्रयोग कियागया है। देखिये-भगवद्गीता, १४।३-४॥

श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों के लिये 'ब्रह्म' पदका प्रयोग कियागया है।

'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥

तीर्थ के निर्देश के साथ पूर्णरूप से संतुलित होता है। दोनों के वर्णन की यह समानता उस समय और अधिक समीप प्रतीत होती है, जब प्रकृति का कथन कर देने पर दोनों ग्रन्थों में 'सत्त्व-रजस्-तमस्' का पृथक् उल्लेख समानरूप में पाते हैं। प्रकृति पद से उसकी साम्यावस्था तथा सत्त्व-रजस्-तमस् पदों से उसकी विषमावस्था का निर्देश कियागया है। सत्त्व आदि के प्रकाश आदि धर्म, विषमावस्था में इनके पृथक् निर्देश के प्रयोजक कहेजासकते हैं।

संहिताप्रतिपादित षष्टितन्त्र के इस भाग का 'प्राकृतमण्डल' नाम, तथा दस संख्या में वर्गीकृत, तीर्थद्वारा निर्दिष्ट इन पदार्थों के लिये मौलिक अथवा मूलिक नाम इस परिणाम को ध्वनित करते हैं, कि तीर्थ ने जिस ग्रन्थान्तर के आधार पर इन मौलिक अर्थों की गणना की है, वह अहिर्बुध्न्यसंहिता का यह लेख कहाजासकता है।

पचास प्रत्ययसर्गों का निर्देश करने के लिये तीर्थ ने वाचस्पति के ग्रन्थ में उद्धृत राजवार्तिक श्लोकों के अंतिम भाग (डेढ़ श्लोक) को अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया, और संहिता के आधार पर इन दस मौलिक अर्थों को अधिक युक्तियुक्त समझकर, वाचस्पति-प्रतिपादित अर्थों को छोड़ दिया। स्वीकृत श्लोकों के साथ सम्बन्ध करने के लिये तीर्थ ने इन दश मौलिक अर्थों को अनुष्टुप् छन्द में बांधकर उनके साथ जोड़ दिया, यही सम्भव प्रतीत होता है। यदि उक्त श्लोक उसी रूप में तीर्थ से पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य के ग्रन्थ में उपलब्ध होजाय; तो तीर्थ की दृष्टि के अनुसार वही 'ग्रन्थान्तर' मानलिया जायगा।

अब यह विवेचन करना आवश्यक है, कि दोनों प्रकारों से वर्णित दश मौलिकार्थ, क्या परस्पर भिन्न हैं? अथवा इनका यह भेद आपाततः प्रतीत होने वाला समझना चाहिये, तथा इनमें कुछ आन्तरिक सामंजस्य होसकता है, या नहीं? इन दोनों प्रकारों में से कौन-सा अधिक युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक है।

ऐतरेय आरण्यक (१।३।६) में 'प्रकृति' के अर्थ में 'ब्रह्म' पद का प्रयोग किया गया है वहाँ का लेख है—

'यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वागिति यत्र ह क्व च ब्रह्म तद्वाग्, यत्र वाक् तद्वा ब्रह्मे त्येतत्तदुक्तं भवति।" इस पर आचार्य सायण लिखता है—

'ब्रह्म एवाभिधेयं जगत्, पदार्थरूपेण यत्र यत्रास्ति, तत्र तत्राभिधायकं नाम, तथा यत्र यत्र वाचकः शब्दस्तत्र तत्राभिधेयपदार्थरूपं ब्रह्म इति।'

यहाँ दृश्यमान जगत् को, जो प्रकृति का कार्य है, 'ब्रह्म' पद से कहा गया है। यह कार्य द्वारा कारण का निर्देश है।

दस मौलिक अर्थ, २५ तत्त्वों के प्रतिनिधि हैं—

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह परिणाम सामने आता है, कि दोनों प्रकारों में अर्थों का कोई प्रबल भेद नहीं है। किसी सीमा तक केवल अर्थ के प्रतिपादन-प्रकार का भेद कहाजासकता है। तीर्थ तो स्पष्ट ही २५ तत्त्वों को वर्गीकृत करके दश मौलिक अर्थों के रूप में उपस्थित करता है। अन्य सब आचार्यों के मतानुसार कहे हुए दश मौलिक अर्थ अपने स्वरूप के साथ पच्चीस तत्त्वों का पूर्णरूप से प्रतिनिधित्व करते हैं, यह प्रमाणपूर्वक नीचे निर्दिष्ट किया जाता है।

वाचस्पति ने साठ पदार्थों का निर्देश करने के अनन्तर लिखा है—

"एकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यं च प्रधानमधिकृत्योक्तम्, अन्यत्वमकर्तृत्वं बहुत्वं चेति पुरुषमधिकृत्य, अस्तित्वं वियोगो योगश्चेत्युभयमधिकृत्य, स्थितिः स्थूल-सूक्ष्ममधिकृत्य[1]।"

अर्थात् पहले तीन धर्म प्रकृतिगत, अगले तीन पुरुषगत, और उससे अगले तीन उभयगत होने के कारण, ये नौ मौलिक अर्थ अपने उन स्वरूपों के साथ प्रधान और पुरुष का निर्देश करते हैं। दसवाँ 'स्थिति' नामक मौलिक अर्थ, स्थूल और सूक्ष्म भूतों व शरीरों को लक्ष्य करके निर्देश कियागया है, स्थूल शरीर पाञ्चभौतिक होने से पाँच स्थूलभूतों का प्रतीक है, और सूक्ष्म शरीर शेष अठारह तत्त्वों का प्रतीक है, क्योंकि उसकी रचना इन्हीं अठारह तत्त्वों के आधार पर बताई गई है। वे अठारह तत्त्व हैं–पाँच सूक्ष्म भूत [=पञ्च तन्मात्र], एकादश इन्द्रिय [मन के सहित], अहंकार और बुद्धि। इसप्रकार ये दश मौलिक अर्थ भी २५ तत्त्वों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं, इस दृष्टि से, दोनों प्रकारों के वर्णित मौलिकार्थों में कोई भेद नहीं रहजाता।

इस अर्थ का प्रतिपादन वाचस्पति के अतिरिक्त जयमंगला व्याख्या में कियागया है। वहाँ का लेख है—

एकत्वमर्थवत्वं पारार्थ्यं चेति प्रधानमधिकृत्योक्तम्। अन्यत्वमकर्तृत्वं बहुत्वं चेति पुरुषमधिकृत्य। अस्तित्वं योगो वियोगश्चेत्युभयमधिकृत्य। स्थितिः स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्य[2]।'

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका ७२।

२. जयमंगला व्याख्या, कारिका ५१। इस लेख से स्पष्ट होता है–वाचस्पति ने इस सन्दर्भ को यहींसे लेकर अपने ग्रन्थ में इसका उपयोग किया है। कारणान्तरों से सिद्ध है–जयमंगला व्याख्या, वाचस्पति से प्राचीन है। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन इसी ग्रन्थ के 'सांख्यकारिका के व्याख्याकार' नामक अध्याय में कियागया है।

इनके अतिरिक्त सांख्यकारिका के सर्वप्राचीन व्याख्याकार आचार्य माठर ने ७२वीं कारिका की व्याख्या में इसी अर्थ को संक्षेप से निर्दिष्ट किया है। चीनी अनुवाद में भी इसका संकेत मिलता है। इसलिये इन सब आधारों पर दश मौलिकार्थों के सम्बन्ध में जो परिणाम अभी प्रकट किया है, उसकी पुष्टि होती है।

दश मौलिकार्थों के इन दोनों प्रतिपादन-प्रकारों में कौनसा अधिक युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक है, इसका विवेचन आवश्यक है। यह निश्चित है, कि सांख्य में पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान से मुक्ति का होना बताया गया है। प्रामाणिकों का एक वचन है—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥

इसप्रकार २५ तत्त्वों के ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति का कथन इस बात को स्पष्ट करता है, कि अध्यात्म मार्ग में इन तत्त्वों का साक्षात् उपयोग है। ऐसी स्थिति में यद्यपि तीर्थ द्वारा प्रदर्शित दश मौलिकार्थ, अधिक संगत तथा युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं, क्योंकि तीर्थ के मौलिकार्थों में साक्षात् २५ तत्त्वों को गिनाया है।

परन्तु जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं, कि मुक्ति के लिये प्रकृति-पुरुष-विवेक ज्ञान के आवश्यक होने पर भी, प्रकृति और पुरुष के किन स्वरूपों को जानने के लिये हमें यत्न करना है; अर्थात् प्रकृति और पुरुष की किन विशेषताओं को हम जानें, जिससे उनके विवेक का हमें वास्तविक ज्ञान हो, तो हमारे सामने कुछ और वस्तु आती हैं। प्रकृति के स्वरूप को जानने के लिये उसके एकत्व का ज्ञान आवश्यक है, वह प्रयोजन वाली होती है, दूसरे के लिये प्रवृत्त होती है, वह कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है, उसका वास्तविक अस्तित्व है। जब वह पुरुष के साथ युक्त है, तब वह पुरुष के लिये शब्दादि के उपलब्धिरूप भोग को सिद्ध करती है। विवेकज्ञान हो जाने पर पुरुष से वियुक्त होजाती है, तब पुरुष के लिये अपवर्ग को सिद्ध करती हे।

इसीप्रकार पुरुष के सम्बन्ध में ये बातें आवश्यक ज्ञातव्य होती हैं, कि पुरुष प्रकृति से अन्य है, वह अकर्त्ता अर्थात् अपरिणामी है, स्वरूप से नाना है, उसका अस्तित्व वास्तविक है। वह जब प्रकृति से युक्त रहता है, तब बन्ध अवस्था में कहाजाता है। जब विवेकज्ञान होजाने पर प्रकृति से वियुक्त होता है, तब मुक्त या अपवर्ग अवस्था में कहाजाता है, भले ही वह त्रिगुण-व्यतिरिक्त होने से नित्य-मुक्त है। ये सब तथ्य हैं, जो अध्यात्ममार्ग पर जाने वाले व्यक्ति के लिये, प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध में जानने आवश्यक हैं, इन्हींके साक्षात् ज्ञान पर प्रकृति-पुरुष के विवेक का ज्ञान आधारित है। इसप्रकार दश मौलिकार्थों में से प्रथम नौ प्रकृति और पुरुष के प्रतीक हैं; तथा अस्तित्व आदि धर्मों व विशेषताओं के द्वारा अध्यात्म मार्ग में उनके उपयोग को स्पष्ट करते हैं।

यह स्थूल शरीर, जो हमारे सम्पूर्ण सांसारिक भोगों व मुक्ति-साधनों का आधार है, इसकी पांचभौतिकता, जन्म, मरण, नश्वरता, अशुचिता आदि भावनाओं की दृढ़ता से वैराग्य की उत्पत्ति होना, और सांसारिक भोगों की क्षण-भंगुरता को समझकर अध्यात्म मार्ग की ओर प्रवृत्त होना, ये सब बातें शरीर के उपादान, पाँच महाभूतों की वास्तविकता के ज्ञान पर आधारित हैं। एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाने का साधन, कर्म या धर्माधर्मों के आधारभूत सूक्ष्मशरीर की वास्तविकता को समझना अध्यात्ममार्ग की प्रवृत्ति के लिये अत्यावश्यक है। दश मौलिकार्थों में से दशवाँ अर्थ 'स्थिति' इनका प्रतीक है। अध्यात्ममार्ग में इस रूप से इनकी उपयोगिता को स्पष्ट करता है। ये सब चीजें, पच्चीस तत्त्वों के वे स्वरूप हैं, जिनका वास्तविक ज्ञान अध्यात्म-मार्ग में उपयोगी है। ये पदार्थ, २५ मूलभूत तत्त्वों के आधार पर वर्णित होने के कारण 'मौलिकार्थ' कहे जाते हैं।

तत्त्वों के विवेचन की दो दिशा—

पच्चीस तत्त्वों का इसप्रकार का विवेचन, कि—प्रकृति सत्त्वरजस्तोमयी है, सत्त्व आदि के, प्रकाश आदि धर्म हैं। प्रकृति से महत्तत्त्व और उससे अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है, सात्त्विक सृष्टि-इन्द्रियाँ, और तामस सृष्टि-तन्मात्र। तन्मात्र से पाँच सूक्ष्मभूतों द्वारा स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है, जिनका यह सब जगत् परिणाम है। पुरुष भोगों को किसप्रकार भोगता है? इन्द्रियाँ क्या कार्य करती हैं? अन्तःकरणों के कार्य क्या हैं?—प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध में ये सब बातें, तत्त्वों के आधिभौतिक विवेचन में उपयोगी हैं। यद्यपि यह विवेचन अथवा इनका ज्ञान अध्यात्ममार्ग में उपयोगी होता है, परन्तु वह उपयोग परम्परा से है, साक्षात् नहीं। प्रकृति आदि के जो एकत्व आदि धर्म कहेगये हैं, वे अध्यात्ममार्ग में साक्षात् उपयोगी हैं। इसलिये २५ मूलभूत तत्त्वों पर आधारित उन दश अर्थों को 'मौलिकार्थ' कहा है। तीर्थदर्शित दश मौलिकार्थों की कल्पना में यही न्यूनता है, कि वहाँ प्रकृति आदि के उन भावों को स्पष्ट नहीं कियागया, जिनके ज्ञान के आधार पर अध्यात्ममार्ग प्रस्फुटित होता है। अतएव प्राचीन आचार्यों ने जिन दश मौलिकार्थों का निर्णय किया है, वे अधिक युक्तिसंगत एवं प्रामाणिक प्रतीत होते हैं। उनमें २५ तत्त्वों का और उन्हीं पर आधारित उन धर्म अथवा विशेषताओं का भी समावेश है, जिनसे प्रेरित होकर कोई व्यक्ति अध्यात्ममार्ग में सफलता को प्राप्त करता है।

सांख्य ग्रन्थों के गम्भीर स्वाध्याय के परिणामस्वरूप, उनमें दो प्रकार से पदार्थों का विवेचन स्पष्ट होता है। एक आधिभौतिक दृष्टि से, दूसरा आध्यात्मिक दृष्टि से। २५ तत्त्वों का विवेचन आधिभौतिक दृष्टि से कियागया

है। तथा षष्टि पदार्थों का विवेचन आध्यात्मिक दृष्टि से हुआ है। २५ तत्त्वों के सम्बन्ध में कोई मतभेद सांख्यग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। इसीप्रकार षष्टि पदार्थों के सम्बन्ध में भी कोई गणना योग्य मतभेद सांख्य ग्रन्थों में नहीं हैं। दश मौलिकार्थों के सम्बन्ध में मतभेद का जो आधार कल्पना कियाजासकता है, उसका अभी विवेचन करदियागया है। परन्तु पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अहिर्बुध्न्यसंहिता नामक ग्रन्थ में जो सांख्य के षष्टि पदार्थों की गणना कीगई है, उसमें सांख्यप्रदर्शित षष्टि पदार्थों से अवश्य कुछ भेद प्रतीत होता है। इन दोनों का जहाँ तक सामञ्जस्य सम्भव है, उस सबका पीछे विवेचन करदिया है।

संहिता का षष्टितन्त्र, सांख्यसप्तति का आधार नहीं—

अहिर्बुध्न्यसंहिता में कुछ ऐसे पदार्थों को गिनाया गया है, जिनका सांख्यग्रन्थों में उल्लेख नहीं मिलता। जैसे—

४. नियनितन्त्र ६. अक्षर तन्त्र १२. सामितन्त्र	प्राकृतमण्डल	७. वृत्तकाण्ड २६. काषायकाण्ड २७. समयकाण्ड	वैकृतमण्डल

इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक पदार्थ हैं, जिनका सांख्यग्रन्थों में प्रासंगिक वर्णन है, षष्टि पदार्थों में उनको नहीं गिनागया। परन्तु संहिता, उनकी गणना षष्टि पदार्थों में करती है। इनका निर्देश पहले करआये हैं। ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं में उन्हीं षष्टि पदार्थों को स्वीकार किया है, जिनका सांख्यग्रन्थों में वर्णन है, अर्थात् पचास प्रत्ययसर्ग और दश मौलिकार्थ। इससे स्पष्ट होता है, ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं की रचना के लिये जिस 'षष्टितन्त्र' को आधार माना है; वह अहिर्बुध्न्यसंहिता में प्रदर्शित षष्टितन्त्र नहीं, क्योंकि इन दोनों के पदार्थ विवेचन में अन्तर है, जैसा ऊपर स्पष्ट करआये हैं। इसलिये वर्त्तमान षडध्यायी को कारिकाओं का आधारभूत 'षष्टितन्त्र' मानाजासकता है। ईश्वरकृष्ण ने अन्तिम ७२वीं कारिका में 'षष्टितन्त्र' का जो स्वरूप बताया है, वह सांख्यषडध्यायी में उपलब्ध होता है, अन्यत्र नहीं।

सांख्यकारिका के अन्यतम व्याख्याकार नारायणतीर्थ ने ७२वीं कारिका पर व्याख्या करते हुए, अपनी व्याख्या चन्द्रिका में इस अर्थ को स्वीकार किया है। तीर्थ लिखता है—

'तत्र यथा कपिलोक्तषडध्याय्यां चतुर्थाध्याये आख्यायिका पञ्चमे परवादः, तथात्र न वर्त्तत इति भावः।'

जिसप्रकार कपिलोक्त षडध्यायी में, चतुर्थाध्याय में आख्यायिका और पञ्चमाध्याय में परवाद हैं, उसप्रकार सांख्यकारिका में नहीं है। अर्थात् सांख्यकारिका में उन आख्यायिकाओं और परवादों को छोड़दियागया है। तीर्थ

के इस लेख से स्पष्ट है, वह षडध्यायी को कारिकाओं का आधार मानता है[1]। इन सब उल्लेखों के आधार पर यह परिणाम निर्धारित होता है, कि ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिकाओं की रचना के लिये जिस 'षष्टितन्त्र' को आधार माना है, वह वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी है। पूर्व समय में 'कपिलोक्त-षष्टितन्त्र' पद इसीके लिये व्यवहृत होता रहा है।

संहिता के षष्टितन्त्र-सम्बन्धी वणन का आधार—

इस प्रसंग में एक आवश्यक विवेचनीय बात रहजाती है, कि अहिर्बुध्न्य-संहिता में वर्णित षष्टितन्त्र का आधार क्या होसकता है ? यह निश्चित है, जिन षष्टि पदार्थों के वर्णन के आधार पर, षडध्यायी 'षष्टितन्त्र' है, जिनको सांख्यकारिका ने अपना आधार बनाया है, वे संहिता-प्रतिपादित षष्टितन्त्र के आधार नहीं है। तब संहिता में किस षष्टितन्त्र का वर्णन है ? इसका विवेचन कियाजाना आवश्यक है।

यह पहले लिखाजाचुका है, कि कपिल के षष्टितन्त्र पर पूर्वकाल में जो व्याख्याग्रन्थ, अथवा उसके सिद्धान्तों के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखेजातेरहे, वे लोक में 'षष्टितन्त्र' नाम से व्यवहृत होते रहे हैं। अभिप्राय है 'षष्टितन्त्र' पद 'षष्टितन्त्र शास्त्र' के लिये प्रयुक्त होता रहा है, केवल एक विशिष्ट मूलग्रन्थ के लिये नहीं। यही कारण है, इस शास्त्र के साथ, पञ्चशिख एवं वार्षगण्य आदि आचार्यों के नाम यत्र तत्र सम्बद्ध पाये जाते हैं। इन आचार्यों ने अवश्य षष्टितन्त्र के व्याख्याग्रन्थ अथवा सिद्धान्तों को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे। उन ग्रन्थों के कुछ सन्दर्भ खण्ड, अब भी जहाँ-तहाँ दार्शनिक ग्रन्थों में उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं।

---

१. तीर्थ ने उपर्युक्त पंक्ति में यह उल्लेख किया हैं, कि यह षडध्यायी कपिल प्रणीत है। जो आधुनिक विद्वान् यह समझते है, कि ईसवी चौदहवीं सदी के अनन्तर इन सूत्रों की किसीने रचना करदी; उनको इस लेख पर ध्यान देना चाहिये। नारायणतीर्थ का समय, अब से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष से अधिक पूर्व ही हैं। ऐसी स्थिति में तथाकथित सूत्र रचना के अति समीप काल में होने वाला यह नारायणतीर्थ यही धारणा रखता है; कि ये सूत्र कपिल-प्रणीत हैं। उस समय के साहित्य में इस बात का कहीं उल्लेख न होना, कि ये सूत्र कपिल के नाम पर किसी ने बना दिये हैं, प्रत्युत उसके विरुद्ध, कपिल-प्रणीतता के उल्लेखों का होना, इस बात को सर्वथा स्पष्ट करदेता है, कि चौदहवीं सदी के आसपास सूत्रों की रचना की कल्पना, सर्वथा निराधार और असंगत है।

पञ्चशिख के जो ग्रन्थ रहे होगे, वे अहिर्बुध्यसंहिता में वर्णित षष्टितन्त्र का आधार नहीं कहेजासकते; क्योंकि ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं में जिस षष्टितन्त्र की गुरुशिष्य-परम्परा का उल्लेख किया है, उसमें पञ्चशिख का नाम है। वह षष्टितन्त्र वही है, जिसको ईश्वरकृष्ण ने अपने ग्रन्थ का आधार मान कर स्वीकार किया है, जो संहिता के षष्टितन्त्र से भिन्न है। तात्पर्य है– पञ्चशिख, षष्टितन्त्रके उन सिद्धान्तों की परम्परा से सम्बद्ध है, जो षडध्यायी, तत्त्वसमास और सांख्यकारिकाओं में समानरूप से वर्णित हैं। परन्तु संहिता में उन सिद्धान्तों को उसी रूप में, सर्वात्मना स्वीकार नहीं कियागया। इसलिये पञ्चशिख के ग्रन्थ, संहितावर्णित षष्टितन्त्र के आधार नहीं मानेजासकते। यह मत, ईश्वरकृष्ण की अन्तिम उपसंहारात्मक कारिकाओं के अनुसार निर्धारित होता है।

सांख्यकारिका के व्याख्याकारों ने सांख्याचार्यों की जो सूचियाँ पृथक् निर्दिष्ट की हैं, उनमें से एक[1] सूची में वार्षगण्य का नाम है। ईश्वरकृष्ण ने स्वयं जो सूची आचार्यों की निर्दिष्ट की है, उसमें वार्षगण्य का नाम नहीं है। वहाँ केवल सर्वप्रथम अविच्छिन्न परम्परा से होने वाले, कपिल-आसुरि-पञ्चशिख इन तीन सांख्याचार्यों का उल्लेख है। इससे प्रकट होता है, वार्षगण्य आचार्य, पञ्चशिख से पर्याप्त समय अनन्तर हुआ। फिर भी वार्षगण्य को प्राचीन आचार्य मानाजाता है। पञ्चशिख के अनन्तर होने पर भी उसके प्रादुर्भाव का समय[2] पर्याप्त प्राचीन है।

प्रतीत होता है, वार्षगण्य ने अपने समय में विशेषतया योगशास्त्र पर ग्रन्थों का निर्माण किया, जो विषय दोनों शास्त्रों के समान हैं, योगशास्त्र के किसी भी ग्रन्थ में प्रतिपादित होने पर उनका मेल सांख्य के साथ होना स्वाभाविक है। परन्तु ऐसे भी विषय हैं, जिनका विशेष सम्बन्ध योग के साथ है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में वार्षगण्य को 'योगशास्त्रव्युत्पादयिता'[3] लिखा है। इससे स्पष्ट है वार्षगण्य के ग्रन्थ योगशास्त्र पर थे। हमारी धारणा है, अहिर्बुध्न्यसंहिता में जिस षष्टितन्त्र का वर्णन कियागया है, उसका आधार वार्षगण्य के ग्रन्थ अधिक सम्भव हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता के षष्टितन्त्र की, सांख्य के साथ उतनी

---

१. सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में ७१वीं कारिका की व्याख्या पर जो सांख्याचार्यों की सूची दीगई है, उसमें आचार्य वार्षगण्य का नाम निर्दिष्ट है।

२. वार्षगण्य के समय आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन, इसी ग्रन्थ के 'प्राचीन सांख्याचार्य' नामक अध्याय में कियागया है।

३. वेदान्तसूत्र २।१।३ के शांकरभाष्य पर भामती व्याख्या में।

समानता सम्भव है, जितनी दो समानशास्त्रों में होनी चाहिये। दोनों की समानता और विषमता का उल्लेख हम पीछे विस्तारपूर्वक कर आये हैं। यहाँ कुछ और ऐसे उपोद्बलक प्रमाण उपस्थित करना चाहते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होगा, कि अहिर्बुध्न्यसंहिता के षष्टितन्त्र का सामञ्जस्य, योग के साथ अधिक है, और उससे उक्त धारणा की पुष्टि होती है।

(१) संहितागत षष्टितन्त्र के विवेचन की १९ संख्या में हमने प्राकृतमण्डल के कालतन्त्र (५ संख्या) और वैकृतमण्डल के समयकाण्ड (२७ संख्या) का उल्लेख किया है। सांख्य में 'काल' और 'समय' इन दोनों पदों का भिन्न अर्थों में प्रयोग नहीं है। परन्तु संहिता में इन दोनों पदों का प्रयोग भिन्न अर्थों में कियागया है। इसलिये प्राकृतमण्डल में (५ वां) कालतन्त्र पृथक् गिनाया, और वैकृतमण्डल में (२७ वां) समयकाण्ड पृथक्। इसीप्रकार योग में इन दोनों पदों का भिन्न अर्थों में प्रयोग है। पातञ्जल योगदर्शन का सूत्र है—

'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्'[1]।

इस सूत्र में 'काल' और 'समय' इन दोनों पदों का भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। यहाँ 'समय' पद, काल के अर्थ में प्रयुक्त न होकर शपथ या आचार आदि अर्थों में हैं। यही अर्थ संहिता में स्वीकार कियाजासकता है। अन्यथा दोनों पदों का वहाँ समानार्थक प्रयोग मानने पर संहिता का असामञ्जस्य ही स्पष्ट होगा।

(२) वैकृतमण्डल का २६ वाँ काषायकाण्ड भी योग के साथ अधिक सामञ्जस्य रखता है। योग में रागादि मलों अथवा क्लेशों के लिये 'कषाय' पद का प्रयोग कियाजाता है। इस काण्ड में उन्हींका प्रतिपादन अधिक सम्भव है।

(३) वैकृतमण्डल के २२, २३ वें काण्डों का विषय भी संभवतः योगदर्शन (१। १५) के आधार पर लिया गया मानाजासकता है। वार्षगण्य ग्रन्थ के योगविषयक होने के कारण संहिता के–सांख्य में अवर्णित–पदार्थों की योग से तुलना की है।

(४) इसीप्रकार संहिता में 'ब्रह्म' पद से वर्णित इसप्रकार का ईश्वर, योग[2] में स्वीकार कियागया है। सांख्य में केवल अधिष्ठाता ईश्वर[3] मान्य है।

(५) प्राकृतमण्डल का ९ वाँ 'अक्षरतन्त्र' है, उसका सामञ्जस्य योग से अधिक प्रतीत होता है। इस तन्त्र में ऐसे अक्षरों या पदों का वर्णन होगा, जिनके

---

१. योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३१।
२. योगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र २३, २४।
३. सांख्य के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हमने 'सांख्यसिद्धान्त' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में किया है।

आधार पर ईश्वरप्रणिधान में सहायता होती है। इस तन्त्र का विषय योगदर्शन के समाधिपाद के २७, २८ सूत्रों के आधार पर निर्णय कियाजासकता है।

(६) वैकृतमण्डल के ७ वें वृत्तकाण्ड का विषय योगदर्शन के साधनपाद के सूत्र ३०, ३२ के आधार पर निश्चय कियाजाना संभव है। इन सूत्रों में यम और नियमों का उल्लेख है। योगी के लिये ये प्रथम आवश्यक कर्त्तव्य हैं। 'वृत्त' (आचार-आचरण-कर्मानुष्ठान) के साथ इनका सामंजस्य घटित होता है। इसके लिये योगदर्शन (२। १) सूत्र भी समायोज्य है।

गोल चक्र को 'वृत्त' कहते हैं। जन्म-मरण और उत्पत्ति-प्रलय का निरन्तर चलने वाला चक्र इस काण्ड का विषय कहाजासकता है, परन्तु पाँच कृत्य काण्डों में उत्पत्ति आदि का वर्णन आजाता है। 'पञ्च कर्मात्मानः' इस तत्त्वसमास के ११ वें सूत्र के आधार पर उत्पत्ति आदि पाँच कृत्यों का स्वीकार कियाजाना अधिक युक्तिसंगत है। 'सांख्यसंग्रह' नाम से प्रकाशित तत्त्वसमास सूत्रों की टीकाओं में ११ वें सूत्र पर बताये पांच कर्म, विवेचनीय है।[1]

यह सूत्र तत्त्वसमास की कतिपय टीकाओं में संख्या १३ पर निर्दिष्ट है। 'पञ्च कर्मात्मानः' सूत्र का अर्थ–पांच प्रकार के कर्म करने वाले व्यक्ति–कियागया है। उनके नाम निम्नप्रकार है—

(१) वैकारिक, (२) तैजस, (३) भूतादि, (४) सानुमान, (५) निरनुमान।

इनका विवरण इसप्रकार दियागया है—

(१) वैकारिक = शुभ कर्म करने वाला; इसमें सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है।
(२) तैजस = अशुभ कर्म करने वाला; जिसमें रजोगुण प्रधान रहता है।
(३) भूतादि = मोह के वशीभूत होकर अज्ञानमूलक कर्म करने वाला।
(४) सानुमान = मोह से अभिभूत होकर शुभ कर्म करने वाला।
(५) निरनुमान = मोह के वशीभूत होकर अशुभ कर्म करने वाला।

संसार में प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा शुभ-अशुभरूप में दो प्रकार के कर्म किये जाते हैं। सत्त्व आदि गुणों के प्रभाव से यथायथ सम्मिश्रित जो भी कर्म कियेजाते हैं; उन सबका समावेश उक्त पांच विधाओं में आजाता है। यह भी 'वृत्तकाण्ड' का विषय होना संभव है।

वृत्तकाण्ड का विषय, प्राणायाम के आधार पर, प्राण की वृताकार गति के

---

१. इस वृत्त-विवेचन के सम्बन्ध में कीथ और श्रैडर के लेख भी द्रष्टव्य और समालोच्य हैं। कीथ का 'सांख्यसिस्टम' पृ० ६०-६३। श्रैडर का Z.D. M.G. १९१४, पृ० १०२-१०७।

अनुसार भी निर्णय कियाजासकता है।[1]

(७) इसमें कोई सन्देह नहीं, कि योगशास्त्र में आधिभौतिक तत्त्वों का विवेचन सर्वथा सांख्यानुकूल मानागया है। इसलिये वार्षगण्य के इन पदार्थों का विवेचन उसी रूप में आसकता है। यह बात निश्चित है, कि सांख्य में करण तेरह [पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि] माने गये हैं। इस विषय में वार्षगण्य का अपना निजी सिद्धान्त भिन्न है। वह ग्यारह करण मानता[2] है। अहंकार और मन को वह बुद्धि से पृथक् नहीं मानता। हम देखते हैं–अहिर्बुध्न्यसंहिता में भी अहंकार और मनका, षष्टि पदार्थों में कहीं निर्देश नहीं कियागया। 'भोग' काण्ड से केवल बुद्धि का निर्देश है। ज्ञान, धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य इन बुद्धिधर्मों का स्पष्ट उल्लेख कर उसको और स्पष्ट किया है। इस आश्चर्यजनक समानता के कारण कहाजासकता है, कि अहिर्बुध्न्यसंहिता के षष्टितन्त्र का आधार वार्षगण्य का ग्रन्थ रहा होगा।

कापिल षष्टितन्त्र और संहिताकार—

इसके भी आधार हैं, कि संहिताकार को 'षष्टितन्त्र' के सांख्यीय साठ पदार्थों के सम्बन्ध में परिमार्जित ज्ञान होने पर भी कदाचित् पदार्थ-प्रतिपादन का वह क्रम संहिताकार को अभीष्ट नहीं था। सांख्य के २५ तत्त्वों का, संहिता-प्रतिपादित पदार्थों के साथ जो सामञ्जस्य हमने प्रथम प्रकट किया है, वे सब पदार्थ, षष्टि पदार्थों की गणना के अनुसार दश मौलिकार्थों में समाविष्ट हैं। प्रत्ययसर्ग के पाँच विपर्ययों का, संहिता के वैकृतमण्डल में साक्षात् निर्देश है। इसप्रकार सांख्य के षष्टि पदार्थों में से, संहिता में केवल १५ पदार्थ प्रतिपादित होते हैं, तथा ६ पदार्थ प्राकृतमण्डल के, एवं २३ पदार्थ वैकृतमण्डल के शेष रह जाते हैं, जिनका सांख्यीय साठ पदार्थों में से किसी के साथ कोई सामञ्जस्य नहीं होपाता। दूसरी ओर सांख्यप्रतिपादित षष्टि पदार्थों में से ४५ ऐसे पदार्थ शेष रहजाते हैं, जिनका संहिता में संकेत भी नहीं। इसप्रकार सांख्य के षष्टि पदार्थों के साथ, संहिता की गणना का सामञ्जस्य नहीं बैठता।

यह बात निश्चित है, यदि संहिताकार को सांख्यकारिका के आधारभूत षष्टितन्त्र और उसमें प्रतिपादित षष्टि पदार्थों की वास्तविकता अभीष्ट होती, तो इन पदार्थों की गणना में ऐसा गड़बड़ घोटाला न होपाता। इसलिये युक्तिमूलक संभावना यही है, कि कुछ वार्षगण्य के योगसम्बन्धी व्याख्याग्रन्थों के

---

१. इसके लिये देखें–सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३७७-३८१। अभ्यंकर सम्पादित पूना संस्करण।

२. देखें–युक्तिदीपिका, पृ० १३२-पं०२८।

आधार पर और कुछ इधर-उधर से सुन जानकर संहिताकार ने, कापिल षष्टि-तन्त्र के साठ पदार्थों की संख्या पूरी गिनाने का यत्न किया है। असफलता में यह प्रमाण पर्याप्त है, कि प्राकृतमण्डल में 'गुणतन्त्र' रखकर, फिर वैकृतमण्डल में भी 'गुणकाण्ड' गिनाया गया है। इस पर भी विशेषता यह है, कि प्राकृत-मण्डल के गुणतन्त्र में, सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीनों गुणों को पृथक्-पृथक् तीन संख्याओं में गिनकर भी साठ संख्या पूरी नहीं होपाई, और वैकृतमण्डल में फिर एक बार 'गुण' को गिन लिया गया। इन सब आधारों पर संभावित है-संहिता-कार को कापिल षष्टितन्त्र के साठ पदार्थों के शास्त्रानुकूल वाञ्छनीय ज्ञान में अपूर्णता रही हो; इसीलिये संहिता की षष्टि पदार्थ गणना में भूल हुई हैं।

यहाँ पर यह विचारणीय शेष रह जाता है, कि संहिताकार ने जिस किसी षष्टितन्त्र का उल्लेख किया हो; पर उसका सम्बन्ध उसने कपिल के साथ बताया है। हमारे सामने, कपिल से सम्बन्ध रखने वाले षष्टितन्त्र के सम्बन्ध में अब दो साक्षी उपस्थित हैं। एक ईश्वरकृष्ण और दूसरी अहिर्बुध्न्यसंहिता। दोनों में परस्पर पर्याप्त अन्तर है, जैसा कि प्रथम निर्देश कियागया है। ऐसी स्थिति में यह प्रकट होता है, कि षष्टितन्त्र की किसी शाखा का प्रतिपादन करने पर भी संहिताकार ने उसके मूल रचयिता का सम्बन्ध उसके साथ अनिवार्य माना है। योग भी सांख्य का एक विभाग है। उसके मौलिक सिद्धान्तों का आधार, षष्टितन्त्र[1] ही है, और षष्टितन्त्र का मूल रचयिता, कपिल के अतिरिक्त अन्य नहीं, इस तथ्य को संहिताकार भूल नहीं सका है। इसलिये संहिताप्रतिपादित षष्टितन्त्र का सम्बन्ध कपिल के साथ बताना, असामञ्जस्यपूर्ण नहीं कहाजासकता।

यह भी संभव है, कि संहिताकार षडध्यायी सूत्रों से परिचित हो, पर अध्यात्म मार्ग उसका मुख्य विषय होने के कारण वह उन्हीं विचारों को सन्मुख लाया, जो उसने समाधि मार्ग में उपयोगी समझे, और उनको भी वह षष्टितन्त्र के साथ सम्बद्ध करने के लिये प्रयत्नशील रहा। यह कहने में संकोच नहीं, कि यह उसका अपना प्रयत्न था, इस रूप में कोई प्राचीन मौलिक आधार उसके विचारों के लिये उपलब्ध नहीं होता। जहां तक संहिता के षष्टि पदार्थों की गणना का विचार है; इस सम्बन्ध में स्पष्ट है, कि संहिताकार का यह अपना सुविचारित प्रयत्न था, इस अंश में वार्षगण्य-वाङ्मय का कोई हाथ या पूर्ण

---

१. प्रकृति पुरुष के भेदज्ञान के लिये, अन्तिम साधन समाधि है। सांख्यसूत्र, ४।१४ और ५।११६ में इस अर्थ का संकेत किया है। सांख्य के इसी एक-देश को लेकर योगशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। समाधि का विस्तारपूर्वक विवेचन योग का विषय है, जो सांख्य का एक अंग है। सांख्य अथवा षष्टितन्त्र के सब मूलभूत सिद्धान्त, योग को मान्य हैं।

सहयोग नहीं रहा। वैसे साधारण रूप में वार्षगण्य के विचारों को उसने अपने लेख का आधार बनाया हो, यह संभव है।

षष्टितन्त्र का रूप, और आधुनिक विद्वान्—

कविराज पं० गोपीनाथ एम्०ए० ने जयमंगला [सांख्यकारिका की एक व्याख्या] की भूमिका में ५वें पृष्ठ पर लिखा है– "[1]अहिर्बुध्न्यसंहिता में षष्टितन्त्र का वर्णन इस बात को प्रकट करता है, कि यह ग्रन्थ साठ अध्यायों या प्रकरणों में था। पहले ३२ का प्राकृतमण्डल [जो 'तन्त्र' कहे जाते थे] और शेष २८ का वैकृतमण्डल [जो, काण्ड' कहे जाते थे] नाम था। चीन की परम्पराओं के अनुसार, साठ हज़ार श्लोकों का यह षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ, पञ्चशिख ने रचा था। अब यदि इस बात को स्वीकार करलियाजाता है, कि यह ग्रन्थ साठ अध्यायों अथवा प्रकरणों में विभक्त था, और प्रत्येक अध्याय में एक हजार श्लोक थे, और प्रत्येक अध्याय का विषय भिन्न था, तो राजवार्त्तिक और अहिर्बुध्न्यसंहिता इन दोनों ग्रन्थों के उल्लेख, चीन की परम्पराओं के साथ मेल खा सकते हैं।"

कविराज जी के इस लेख से यह बात स्पष्ट होती है, कि आपने तीनों [राजवार्त्तिक, अहिर्बुध्न्यसंहिता, चीनपरम्परा] स्थलों में केवल साठ संख्या के सामञ्यस्य को दिखाने का यत्न किया है। चीन परम्परा के अनुसार षष्टितन्त्र के साठ अध्यायों में कौन से साठ भिन्न विषय प्रतिपादित थे, यह अभी अज्ञानान्धकार से आवृत है, पर राजवार्त्तिक और संहिता के साठ पदार्थों के सामञ्जस्य के सम्बन्ध में कविराज जी ने कोई निर्देश नहीं किया। यदि केवल इतनी बात है, कि राजवार्त्तिक में साठ पदार्थों का नाम निदश किया है, संहिता में साठ अध्याय कहे गये हैं, और चीन परम्परा में साठ हजार श्लोकों का प्रवाद प्रचलित है, और इसप्रकार केवल साठ संख्या के सब स्थलों में समान होने

---

१. The account of षष्टितन्त्र in the अहिर्बुध्न्य संहिता [12. 18-30] shows that the work was in sixty chapters, thirty-two forming the so-called प्राकृतमण्डल [called तन्त्र] and the rest the वैकृतमण्डल [called काण्ड]. According to the Chinese tradition षष्टितन्त्र was by पञ्चशिख and consisted of sixty thousand verses. If it is assumed that the book was divided into sixty chapters, with one thousand verses in each, and that each chapter dealt with a separate topics, the statements of the राजवार्त्तिक and of the अहिर्बुध्न्यसंहिता may be reconcile to the Chinese tradition.

से इनका परस्पर सम्बन्ध या सामञ्जस्य संघटित होता है, तब कहना पड़ेगा, कि यह तीनों का सम्बन्ध या सामञ्जस्य,

मद्‌गृहे बदरीचक्रं त्वद्‌गृहे बदरीतरुः ।
बादरायणसम्बन्ध आवयोरस्तु सर्वदा ॥

के समान निरर्थक है। राजवार्त्तिक और संहिता के साठ पदार्थों में कोई ताल-मेल नहीं है, यह पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कियाजाचुका है। इसके अतिरिक्त संहिता में एक पदार्थ की अनेक स्थल और अनेक रूप में गणना, सांख्य में उपयुक्त पदार्थों की उपेक्षा, अनुपयुक्त तथा अनावश्यक पदार्थों की गणना आदि से यह स्पष्ट है, कि संहिताकार ने, जिस किसी भी तरह होसके, साठ की संख्या को पूरा करने का यत्न किया है।

चीन की प्रवाद-परम्पराओं के आधार पर यह कहाजाता है, कि साठ सहस्र श्लोकों के इस षष्टितन्त्र ग्रन्थ को पञ्चशिख ने बनाया। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि पञ्चशिख ने षष्टितन्त्र के विस्तृत व्याख्या ग्रन्थों को लिखा, चाहे वे ग्रन्थ साठ सहस्र श्लोकों में हों, अथवा साठ सौ श्लोकों में; या और न्यूनाधिक में; परन्तु यह निश्चित है–पञ्चशिख, मूल षष्टितन्त्र [आदि सांख्यग्रन्थ] का रचयिता नहीं है, न उसका ग्रन्थ, संहितावर्णित षष्टितन्त्र का आधार कहाजा-सकता है। इसको विस्तारपूर्वक पहले सिद्ध कियाजाचुका है। भारतीय प्रवाद-परम्परा इसके लिये प्रमाण है, कि सांख्य के सर्वप्रथम ग्रन्थ [मूल षष्टितन्त्र] की रचना सर्वज्ञकल्प परमर्षि कपिल ने की है। चीनदेशीय प्रवाद-परम्परा का यही आधार होसकता है, कि कापिल मूल षष्टितन्त्र पर जो विस्तृत व्याख्याग्रन्थ पञ्चशिख ने लिखे, वे लोक में षष्टितन्त्र नाम से ही व्यवहृत होते रहे। अन्यथा चीनदेशीय परम्परा की तुलना में, आधुनिक अनेक विद्वानों का, भारतीय प्रवाद-परम्परा की अप्रधानता का उद्घोषण करना, सर्वथा प्रमाणशून्य कहाजायगा। इसलिये भारतीय प्रवाद-परम्परा के आधार पर मूल षष्टितन्त्र का रचयिता परमर्षि कपिल, और चीन-देशीय प्रवाद-परम्परा के अनुसार, उसके विस्तृत व्याख्यानभूत षष्टितन्त्र का रचयिता पञ्चशिख[1], संगत होता है।

इस विषय में यह भी विचारणीय है, कि चीन की अनुश्रुतियां कोई स्वतन्त्र आधार नहीं रखतीं। वे तद्विषयक भारतीय अनुश्रुति, या साहित्य पर ही आधारित कहीजासकती हैं। यदि इसप्रकार की किसी भारतीय अनुश्रुति या

---

१. पञ्चशिख अथवा वार्षगण्य ने मूल षष्टितन्त्र की रचना नहीं की, उसका रचयिता परमर्षि कपिल है। उक्त दोनों आचार्य उसके व्याख्याकार आदि हैं। इस सबका विवेचन, इसी ग्रन्थ के 'कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र' नामक द्वितीय अध्याय में कियाजाचुका है।

साहित्य से उनकी टक्कर होजाती है, तो उनकी [अन्य देशीय जनश्रुतियों की] अमान्यता स्पष्ट है। उनके सन्तुलन में भारतीय पक्ष को प्रबल माना जायगा; क्योंकि वह आधारभूत है। ऐसी स्थिति में अन्य देशीय परम्पराओं का भ्रमपूर्ण होना सम्भव है।

षष्टितन्त्र के साठ अध्याओं की कल्पना, प्रत्येक अध्याय का भिन्न विषय, यह पञ्चशिख के व्याख्यानभूत षष्टितन्त्र में कहाजासकता है। क्योंकि उसने 'षष्टितन्त्र' के साठ पदार्थों में से प्रत्येक पदार्थ को लेकर एक एक अध्याय में विशद विवेचन किया।[1] सांख्यकारिका की जयमंगला नामक व्याख्या के एक वर्णन से यह बात स्पष्ट होती है, कि षष्टितन्त्र पहले से विद्यमान था, उसके एक एक पदार्थ को लेकर पञ्चशिख ने साठ खण्डों में प्रतिपादन किया; इसप्रकार एक ही ग्रन्थ के साठ खण्ड होगये, जिनमें साठ पदार्थों का व्याख्यान किया गया। जयमंगला का वह वर्णन इसप्रकार है—

"पञ्चशिखेन मुनिना बहुधा कृतं तन्त्रं षष्टितन्त्राख्यं षष्टिखण्डं कृतमिति। तत्रैव हि षष्टिरर्था व्याख्याताः।" [कारिका ७० पर]

पञ्चशिख का ग्रन्थ चाहे साठ खण्डों में हो, अथवा साठ अध्याय या प्रकरणों में, इन वर्णनों से इतना तो स्पष्ट है, कि पञ्चशिखने 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ के साठ पदार्थों के आधार पर अपने ग्रन्थ को साठ खण्डों में रचा, और प्रत्येक खण्ड में एक एक पदार्थ का विशद विवेचन किया। इसलिये पञ्चशिख, मूल षष्टितन्त्र का रचयिता नहीं। इसीलिये मूल 'षष्टितन्त्र' में, साठ अध्यायों या खण्डों की कल्पना नहीं कीजासकती। वहाँ तो केवल साठ पदार्थों का एक ग्रन्थ-रूप में आवश्यक वर्णन है; तथा उन पदार्थों के अनेक अवान्तर-स्वरूप अर्थों का प्रासंगिक उल्लेख है। अत एव वर्त्तमान षडध्यायी के षष्टितन्त्र न होने में यह युक्ति उपस्थित नहीं कीजासकती, कि इसमें साठ खण्ड या अध्याय नहीं हैं।

पञ्चशिख ने जिस षष्टितन्त्र के साठ पदार्थों का साठ खण्डों में विशद विवेचन किया, वही षष्टितन्त्र,[2] ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं का आधार है, जैसा

---

१. पञ्चशिख के नाम पर जो सूत्र या सन्दर्भ आजतक उपलब्ध होसके हैं, वे बहुत थोड़े हैं। उनके आधार पर न तो यह निश्चय कियाजासकता है, कि उनके ग्रन्थ के साठ खण्ड किसप्रकार के होंगे, और न इस बात का निर्णय होसका है, कि ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं का वे आधार हैं। यद्यपि ईश्वरकृष्ण का अपना वर्णन, आधार के प्रश्न को लेकर षडध्यायी के पक्ष में जाता है।

२. वह षष्टितन्त्र; संहिताप्रतिपादित षष्टितन्त्र नहीं होसकता, क्योंकि ईश्वरकृष्ण ने अपनी गुरु परम्परा में पञ्चशिख का उल्लेख किया है, और ईश्वरकृष्ण ने 'षष्टितन्त्र' के जिन साठ पदार्थों को अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया है, उसका सामञ्जस्य संहिता के पदार्थों के साथ नहीं है।

पूर्व विवेचनानुसार उसकी अन्तिम चार उपसंहारात्मक कारिकाओं से स्पष्ट होता है। उसने ७२वीं कारिका में षष्टितन्त्र की आनुपूर्वी का जो उल्लेख किया है, वह वर्त्तमान सांख्यसूत्रों [सांख्यषडध्यायी] में संघटित होता है, संहिता के षष्टितन्त्र के साथ उसका कोई सामञ्जस्य नहीं है। इसलिये तथा पूर्व-वर्णित अन्य हेतुओं से भी वर्त्तमान सांख्यसूत्रों के 'षष्टितन्त्र होने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है।

डॉ० पाण्डेय और 'षष्टितन्त्र'

डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय ने युक्तिदीपिका की भूमिका में सांख्य कारिका की ६९वीं आर्या के 'समाख्यातम्' पद, तथा ७०वीं आर्या के 'कृतम्' पद का सम्बन्ध ७०वीं आर्या में पठित 'तन्त्रम्' पद के साथ जोड़कर यह अभिप्राय प्रकट किया है, कि कपिल ने 'तन्त्र' का केवल मौखिक उपदेश दिया (समाख्यातम्); उस वाचिक उपदेश को लिपिबद्ध पञ्चशिख ने किया (कृतम्)। ईश्वरकृष्ण ने उसी षष्टितन्त्र का सप्तति आर्याओं में संक्षेप किया; जो पञ्चशिख ने लिपिबद्ध किया था। डॉ० पाण्डेय के विचार से कपिल सांख्यसिद्धान्त का केवल वाचिक उपदेष्टा है, उन सिद्धान्तों का लिपिबद्ध ग्रन्थरूप में रचयिता नहीं। यह भाव ईश्वरकृष्ण द्वारा प्रयुक्त, 'आख्यातम्' और 'कृतम्' इन कृदन्त क्रियापदों की विशेषता के आधार पर उभारा गया है।

विचारणीय है, ६९वीं आर्या के 'आख्यातम्' क्रियापद का कर्म क्या है ? क्या इसका 'कर्म' पद ढूंढ़ने के लिये हमें ७०वीं आर्या के 'तन्त्रम्' पद तक दौड़ना पड़ेगा ? प्रत्येक विज्ञ देखसकता है; 'आख्यातम्' क्रियापद का 'कर्म' ६९वीं आर्या में पठित है, वह है, 'पुरुषार्थज्ञानम्'। वहीं उसका एक विशेषण पठित है—'गुह्यम्'। स्पष्ट है—गुह्यज्ञान का कपिल ने आसुरि नामक शिष्य को मौखिक उपदेश किया। प्रत्येक ज्ञान का उपदेश—चाहे वह गुह्य हो या प्रकट—मौखिक या वाचिक ही कियाजाता है। आज भी प्रत्येक अध्यापक अपने अध्येता शिष्य को ज्ञान का उपदेश—या प्रवचन मौखिक ही करता है, ऐसा नहीं है, कि वह अपने शिष्य के हाथ में ग्रन्थ (Book) पकड़ा कर अपने आपको कृतकृत्य समझता हो। अध्ययन-अध्यापन पद्धति जो आज है, वही सदा रही है। पर इसप्रकार ज्ञान का उपदेश ज्ञान के लिपिबद्ध किये जाने का बाधक नहीं है। हमारे पास इसका क्या प्रमाण है ? कि कपिल ने ज्ञान का केवल मौखिक उपदेश किया, उसे लिपिबद्ध नहीं किया। डॉ० पाण्डेय ने 'आख्यातम्' क्रिया का अगली आर्या के 'तन्त्रम्' पद के साथ जो सम्बन्ध जोड़ा, वह अशास्त्रीय है। क्रिया की कर्माकांक्षा उसी आर्या में पठित 'ज्ञानम्' कर्म पद से शान्त होजाती है।

डॉ० पाण्डेय ने ७०वीं आर्या में पठित 'कृतम्' क्रिया का कर्म 'तन्त्रम्' बताया। वस्तुत: 'तन्त्रम्' कर्म केवल 'कृतम्' का नहीं, 'बहुधा कृतम्' का है। क्रिया-विशेषण को क्रिया से अलग करके अर्थ कियेजाने पर अनर्थ की संभावना बनी रहती है। 'तन्त्रं बहुधा कृतम्' वाक्य का अर्थ होगा–तन्त्र को बहुधा किया। यह बहुधाकरण एकीकृत का संभव है। केवल ज्ञान वाचिकरूप में प्रकट कियेजाने पर कभी एकीकृत नहीं रहता। किसी भी एक विचार (Idea) को वाणी द्वारा दुहराये-तिहराये जाने पर शब्द और आनुपूर्वी एकीकृत नहीं रहते, बिखर जाते हैं। यदि पद, मात्रा व पदानुपूर्वी अनेक बार कथन कियेजानेपर भी समान रहते हैं, तो वही 'सूत्र' व 'सन्दर्भ' का स्वरूप है। वह लिपिबद्ध हो, या न हो; वह एक रचना है; वह एकीकृत है, ऐसी ही एकीकृत रचना 'तन्त्र' का बहुधाकरण पञ्चशिख ने किया, यह 'तन्त्र' का बहुधाकरण हुआ है, जो पहले से अपने एकरूप में विद्यमान है।

बहुधाकरण दोनों प्रकार से संभव है–वाणीद्वारा और ग्रन्थ-रचना द्वारा। सांख्यकारिका के व्याख्याकारों ने दोनों प्रकारों का विभिन्न व्याख्याओं में निर्देश किया है। जिन व्याख्याकारों ने गुरु-शिष्य परम्परा के आधार पर अध्ययनाऽध्यापन प्रवृत्ति के निर्देशन द्वारा यह बताया, कि पञ्चशिख ने बहुत से शिष्यों को पढ़ाया व प्रचार किया; यह वाणी द्वारा तन्त्र का बहुधाकरण है। जयमंगला टीका में उक्त वाक्य [बहुधाकृतं तन्त्रम्'] की व्याख्या निम्नप्रकार है–'तेन–पञ्चशिखेन मुनिना 'बहुधा कृतं तन्त्रम्'–षष्टितन्त्राख्यम् षष्टिखण्डं कृतमिति'। मूल आर्या के 'तन्त्रम्' पद का अर्थ है–षष्टितन्त्राख्यम्,–षष्टितन्त्र नाम वाले को 'बहुधा' का अर्थ है–षष्टिखण्डम्,–साठ खण्डों में, कृतम्'–क्रिया। इससे दो तथ्य स्पष्ट होते हैं। (१) जिसके साठ खण्ड कियेगये, वह षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ या रचना पहले से विद्यमान है–(२) ये साठ खण्डवाला मूलग्रन्थ नहीं, व्याख्याग्रन्थ है। यह तथ्य जयमंगला की अगली पंक्ति से स्पष्ट होजाता है। 'उसने लिखा– 'तत्रैव हि षष्टिरर्था व्याख्याताः।' 'हि'–क्योंकि, 'तत्र'–वहाँ–साठ खण्डों में, 'एव'–ही, 'षष्टिरर्थाः' साठ अर्थ, 'व्याख्याताः'–व्याख्यान कियेगये है। स्पष्ट है– पञ्चशिख द्वारा रचित साठ खण्ड 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ की व्याख्या है। यह ग्रन्थ-रचना द्वारा मूल षष्टितन्त्र का बहुधाकरण है।

डॉ० पाण्डेय ने प्रस्तुत प्रसंग में 'तन्त्र' पद को 'ज्ञान' पर्याय [Idea] बताया है, और कहा है–'तन्त्र' पद सर्वत्र ग्रन्थ [Text] का वाचक नहीं होता। यह ठीक है, संस्कृत वाङ्मय में इस पद का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। पर जैसे यह सर्वत्र ग्रन्थ का वाचक नहीं; ऐसे ही सर्वत्र ज्ञान या विचार [Idea] का वाचक भी नहीं कहाजासकता। देखना चाहिये, प्रस्तुत प्रसंग में इसका क्या अर्थ उपयुक्त है। डॉ० पाण्डेय का तात्पर्य ऐसा प्रतीत होता है, कि

ईश्वरकृष्ण ने ६९वीं आर्या में 'ज्ञान' पद से जो अर्थ अभिव्यक्त किया, वही अर्थ ७०वीं आर्या में 'तन्त्र' पद से किया है। पर विचारणीय है, जब ग्रन्थकार ने किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति के विचार से क्रियापद को बदला; पहली आर्या में 'समाख्यातम्' और अगली में 'बहुधा कृतम्' रक्खा; तब कर्मपदों के प्रयोग की विशेषार्थ द्योतकता की उपेक्षा करना अयुक्त होगा। दूसरी आर्या में 'तन्त्र' पद की जगह 'ज्ञान' पद भी रक्खा जासकता था। स्पष्ट है, यहाँ 'तन्त्र' पद ज्ञान (Knowledge) या विचार (Idea) का वाचक न होकर ग्रन्थ (Text) का वाचक है।

एक बात और, 'कृतम्' का अर्थ डॉ० महोदय ने लिपिबद्ध [Recording] करना किस आधार पर किया है? 'यहाँ भी उपदेश करना' अर्थ क्यों नहीं? धातु की अनेकार्थकता के आधार पर ऐसा कहना निर्णायक न होगा। तब 'समाख्यातम्' का भी अर्थान्तर कियाजासकेगा। 'प्रददौ' के धात्वर्थ का निर्वाह भी कैसे कियाजायगा? सम्प्रदान का स्वरूप क्या होगा? धात्वर्थ के मनमाने संकोच में तथ्य की खोज करना मरुमरीचिका में तेल की खोज के समान है। कपिल ने शास्त्र की रचना की, जिसका नाम षष्टितन्त्र है; उसे अपने शिष्य को पढ़ाया; इस मान्यता में कोई ऐतिहासिक विशृंखलता नहीं है, ईश्वरकृष्ण को भी यह मान्य है। अन्तिम आर्या में उसका बयान [Statement) उक्त मान्यता का पोषक है।

वर्त्तमान में उपलब्ध सांख्यदर्शन ही षष्टितन्त्र है, या नहीं? इसी विवेचन के लिये प्रस्तुत इतिहास ग्रन्थ लिखागया है। इसका प्रथम प्रकाशन लगभग तीस वर्ष पूर्व हुआ। इस बीच अनेक अनुकूल-प्रतिकूल विचार सामने आये हैं। उसके पहले भी लगभग सौ वर्ष के अन्दर सांख्य विषय पर जो कुछ लिखागया, उसका सार केवल इतना है, कि यह सांख्यदर्शन आचार्य सायण के अनन्तर विक्रम की चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती के सन्धिकाल के आस-पास रचा जाकर कपिल के नाम पर प्रसारित कियागया। इस मान्यता के लिये जितने प्रमाण प्रस्तुत कियेगये, उन सबका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत इतिहास ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायों में किया गया है। संभवतः उन विवेचनों से प्रभावित होकर अब अनेक विद्वान यह कहने लगे हैं, कि प्राचीन कापिल षष्टितन्त्र का पर्याप्त अंश वर्त्तमान सांख्यदर्शन में मानाजासकता है, पर पूर्णरूप में यह कापिल रचना नहीं है। इसकी पुष्टि के लिये निम्नलिखित कारण बताये जाते हैं—

(१) षष्टितन्त्र साठ खण्डों में था, यह ऐसा नहीं है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में उन साठ विभागों का उल्लेख हुआ है; जिनका सन्तुलन वर्त्तमान सांख्यदर्शन में नहीं है।

(२) कपिल या पञ्चशिख जो षष्टितन्त्र के रचयिता कहेजाते हैं, बुद्धकाल

से बहुत पूर्व हुए हैं ? परन्तु इस दर्शन में उनके अवान्तर मतों का भी उल्लेख पाया जाता है।

(३) इस सांख्यदर्शन में ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यसप्तति की कतिपय कारिकाओं का अर्द्धभाग उपलब्ध होता है। यह सांख्यसप्तति से लियागया प्रतीत होता है।

(४) आजतक कोई ऐसा हस्तलेख उपलब्ध नहीं हुआ, जिसमें इस सांख्य-दर्शन को षष्टितन्त्र बताया हो।

वर्त्तमान षडध्यायात्मक सांख्यदर्शन को षष्टितन्त्र मानेजाने में येआ पत्तियाँ नई नहीं हैं, अनेक वर्ष पूर्व से उठाई जातीरही हैं। इन आपत्तियों का यथायथ विवेचन विस्तारपूर्वक प्रस्तुत इतिहासग्रन्थ में हुआ है। यथाक्रम उसका सार इतना है—

(१) सांख्य तत्त्वों के विवेचन में साठ पदार्थों के विभाजन का उपज्ञ कपिल है। उसका पूर्ण उल्लेख वर्त्तमान सांख्यदर्शन में उपलब्ध है। एक-एक पदार्थ का विस्तृत विवरण एक-एक खण्ड में पञ्चशिख ने किया। वह मूल कापिल षष्टि-तन्त्र का व्याख्याग्रन्थ है, उसके कलेवर की तुलना, रचना के रूप में मूल षष्टि-तन्त्र ग्रन्थ से करना अन्याय्य होगा। अहिर्बुध्न्यसंहिता में विवृत साठ पदार्थों का विस्तृत विवेचन व सन्तुलन प्रस्तुत इतिहास ग्रन्थ में विस्तार के साथ प्रदर्शित कियागया है।

(२) वर्त्तमान सांख्यदर्शन में जहाँ बौद्ध आदि मतों का उल्लेख है, वह अंश प्रक्षिप्त है। इस प्रक्षेप को सूत्रों की रचना और प्रसंग के आधार पर पर्याप्त सफलता के साथ पकड़ लियागया है। चुनौती उस शेष अंश को दीजानी चाहिये, जो इस तीस वर्ष के अन्तराल में नहीं दीगई। फलतः वह अंश सांख्यदर्शन के कापिल षष्टितन्त्र होने में प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालता।

(३) सांख्यदर्शन में आर्या छन्द के जो तीन सूत्र उपलब्ध हैं; उनका प्रामाणिक प्राचीन सूत्रपाठ आर्या छन्द में नहीं है, यह पुष्ट प्रमाणों के साथ यथाप्रसंग प्रस्तुत इतिहास में स्पष्ट किया है। अन्य अनेक साधनों द्वारा सूत्रस्थिति को निर्दोष सिद्ध कियागया है, जिसपर सांख्यकारिका के अनुकरण का आरोप निराधार होजाता है।

(४) हस्तलेख भले न मिलो, पर इस तथ्य को सिद्ध करने में समर्थ, अनेक पुष्ट प्रमाण इतिहास ग्रन्थ में यथाप्रसंग प्रस्तुत कियेगये हैं। ईश्वरकृष्ण की अन्तिम आर्या इसमें एक स्पष्ट प्रमाण है। संस्कृत वाङ्मय के प्राचीन अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनके रचयिताओं के नाम हस्तलेखों में उपलब्ध नहीं हुए; परन्तु परम्परा व अन्य सहयोगी साधनों से उनके रचयिताओं का कियागया निश्चय विद्वन्मान्य है। इसके लिये भास के नाटकों का उदाहरण दियाजासकता है। कौन

ऐसा विज्ञ व्यक्ति है—जो प्रत्येक ग्रन्थ के रचयिता का नाम हस्तलेख में दिखला सके। पर हमारा कहना है, जब ये सूत्र (वर्त्तमान सांख्यदर्शन) हस्तलेख से मुद्रण में आये, तब विना हस्तलेख में नाम हुए, कपिल का नाम इन पर किसने छाप दिया ? इसप्रकार की बे-बुनियाद लचर दलीलों से तथ्य को धूमिल करने का प्रयास करना न्यायोचित नहीं कहाजासकता। यह रचना कपिल की है, नाम चाहे सांख्यदर्शन हो, या षष्टितन्त्र; इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, एक रचना के अनेक नाम संभव हैं; व्यवहार में नामों की प्रसिद्धि या अप्रसिद्धि विभिन्न कालों में चलती रहती है।

जहाँ तक वर्त्तमान सांख्यदर्शनगत सूत्रों के प्राचीन वाङ्मय में उद्धरण का प्रश्न हैं; एक सुझाव इस विषय में आया है। सुझाव है–ये सन्दर्भ प्राचीन वाङ्मय में लुप्त हुए षष्टितन्त्र से लिये गये होंगे, वहींसे इन सूत्रों में आये, वर्त्तमान सांख्यदर्शन सूत्रों का ग्रथन उस काल के आस-पास हुआ, जब भारत से बौद्ध मत बाहर निकलने को था। इस दर्शन के ग्रथन में सांख्य की प्राचीन परम्पराओं का सहयोग प्राप्त कियागया, जिनमें ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका भी है। फलतः इसे कापिल षष्टितन्त्र नहीं कहाजासकता।

सुझाव बड़ा आकर्षक है। निवेदन है–क्या इस दर्शन में केवल उतने सन्दर्भ षष्टितन्त्र के हैं, जो वाङ्मय में विभिन्न लेखकों ने उद्धृत किये हैं, अथवा उनसे अतिरिक्त सन्दर्भ भी ऐसे हैं, जो षष्टितन्त्र के संभव हैं। फिर यह भी छाँटना होगा, कि वे ऐसे सन्दर्भ कितने हैं और कौनसे हैं ? पहला विकल्प इसलिये नहीं मानाजासकता, कि उतने ही सन्दर्भों को षष्टितन्त्र का मानने के लिये हमारे पास कोई निर्णायक प्रमाण नहीं है। अतः यही कहाजायगा, कि जो इस दर्शन में परम्परागत सांख्यसिद्धान्तों के अनुकूल सन्दर्भ हैं, वे षष्टितन्त्र के हैं; शेष इधर-उधर से लियेगये हैं। तो हमने यह कहकर क्या अपराध कर दिया, कि ये सांख्य-सन्दर्भ या सूत्र षष्टितन्त्र का रूप हैं। जो यहाँ कालान्तर में ख़ुराफ़ात भर दियागया, उसको हमने प्रक्षेप के रूप में प्रमाणपूर्वक स्पष्ट किया है। इतना अधिक कहा है, कि पदानुपूर्वी रूप में ये सन्दर्भ या सूत्र कपिल की रचना है। इस सुझाव के अनुसार इसके षष्टितन्त्र नाम में भी कोई बड़ी बाधा आड़े नहीं आती।[1]

◆◆

१. 'डॉ० पाण्डेय और षष्टितन्त्र' शीर्षक के नीचे का मैटर हमने स्वयं इसी संस्करण में जोड़ा है, प्रथम संस्करण में यह नहीं है। इसप्रकार के अन्य भी अनेक स्थल हैं। [ग्रन्थकार-उदयवीर शास्त्री]

चतुर्थ अध्याय

वर्त्तमान सांख्यसूत्रों के उद्धरण

इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय के आरम्भ में हमने उन तीन मौलिक आक्षेपों का उल्लेख किया है, जिनके आधार पर यह कहाजासकता है, कि ये उपलभ्यमान षडध्यायी सूत्र न प्राचीन हैं, न कपिलप्रणीत; प्रत्युत ईसा के चतुर्दश शतक के अनन्तर किसी अज्ञात व्यक्ति ने इनकी रचना करदी है। उनमें से प्रथम आक्षेप का विस्तारपूर्वक विवेचन द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में करदिया है। द्वितीय आक्षेप का विवेचन करने के लिये यह चतुर्थ अध्याय प्रारम्भ किया जाता है। द्वितीय आक्षेप का स्वरूप है—'शंकराचार्य, वाचस्पति, सायण और अन्य दार्शनिक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इन सूत्रों का कहीं उल्लेख नहीं किया, न इन सूत्रों के उद्धरण उनके ग्रन्थों में पाये जाते हैं, जबकि सांख्यकारिका के उद्धरण उन ग्रन्थों में मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है, सायण आदि के अनन्तर इन सूत्रों की रचना हुई होगी।

एक ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थ का उद्धृत न होना, उनकी पूर्वापरता का नियामक नहीं—

इस सम्बन्ध में वक्तव्य है—किसी एक ग्रन्थ की अर्वाचीनता के लिये यह साधक प्रमाण नहीं कहाजासकता, कि किन्हीं विशेष ग्रन्थों में उसके उद्धरण अथवा उल्लेख नहीं हैं। इस कथन को साधक प्रमाण मानलियाजाय, तो साहित्यिक प्राचीनता तथा अर्वाचीनता का दुर्ग सहसा भूमिसात् होजायगा। किसी भी लेख का पौर्वापर्य-विवेचन, विश्रृंखलित तथा अशक्य होजायगा। यद्यपि यह संभव है, किसी ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थ का उल्लेख, उसकी अपेक्षा अन्य ग्रन्थ की प्राचीनता का साधक कहाजासकता है, परन्तु उल्लेख न होना, अर्वाचीनता का साधक नहीं कहाजासकता। ऐसे अनेक प्रमाण हमारे सम्मुख विद्यमान हैं, कि एक प्राचीन ग्रन्थ के, उसी विषय के अर्वाचीन ग्रन्थ में कोई उल्लेख अथवा उद्धरण नही पाये जाते। क्या इससे हम उस प्राचीन ग्रन्थ को अर्वाचीन ग्रन्थ की अपेक्षा नवीन मान लेंगे? इसके लिये कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं।

(१) सायण ने ऋग्वेद भाष्य में, दो एक स्थलों पर वेङ्कटमाधव के अतिरिक्त, अपने से प्राचीन किसी भाष्यकार, का उल्लेख नहीं किया है। अभी तक स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्‌गीथ भट्टभास्कर आत्मानन्द आदि अनेक, सायण से प्राचीन भाष्यकारों के भाष्य, सम्पूर्ण या खण्डित रूप में उपलब्ध होचुके हैं। इनमें से प्रथम तीन और वेङ्कटमाधव[1] के भाष्यों को हमने आद्योपान्त गम्भीरता-पूर्वक पढ़ा है। सायणभाष्य में इनका उल्लेख अथवा उद्धरण न होने से इनकी प्राचीनता नष्ट नहीं होसकती। वेङ्कटमाधव ने अपना भाष्य सायण की अपेक्षा लगभग चार सौ वर्ष पूर्व लिखा, और स्कन्दस्वामी आदि तीनों भाष्यकार सायण से लगभग डेढ़ सहस्र[2] वर्ष पुराने हैं। सायण के वेदभाष्य में इनके उद्धरण या उल्लेख न होने से क्या इनको सायण की अपेक्षा अर्वाचीन मानाजासकता है?

---

१. ऋग्वेद का वेङ्कटमाधव कृत भाष्य हमारे स्नेही मित्र श्रीयुत डा० लक्ष्मण-स्वरूप M. A., D. Phil [Oxon] प्रिन्सिपल ओरियण्टल कालेज लाहौर ने सम्पादित किया है। इसके सम्पादन में हमने स्वयं पूर्ण सहयोग दिया है। लाहौर की मोतीलाल बनारसीदास फर्म इसको प्रकाशित कर रही है। तीन भाग प्रकाशित होचुके हैं। खेद है, कि पंजाब की राजनैतिक दुर्घटनाओं में इस ग्रन्थ की अन्तिम पाण्डुलिपि भी नष्ट होगई है। स्कन्द-स्वामी, नारायण और उद्‌गीथ इन तीनों आचार्यों ने मिलकर ऋग्वेद पर एक भाष्य लिखा है। भाष्य का प्रथम भाग स्कन्दस्वामी ने, मध्यभाग नारायण ने, तथा अन्तिम भाग उद्‌गीथ ने प्रस्तुत किया है। इसके प्रारम्भ का कुछ अंश मद्रास से प्रकाशित हुआ था, शेष उपलब्ध हस्तलिखित भाग को भी हमने देखा है: वेङ्कटमाधव की अनुक्रमणी [८।४।६॥ श्रीयुत कून्हन राज M. A., D. Phil द्वारा सम्पादित, तथा मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित] के एक श्लोक के आधार पर इन तीनों की मिलित रचना का निश्चय होता है। श्लोक इसप्रकार है—

> **"स्कन्दस्वामी-नारायण-उद्‌गीथ इति ते क्रमात्।**
> **चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम्॥"**

२. श्रीयुत डा० लक्ष्मणस्वरूप M. A., D. Phil. महोदय ने स्कन्दस्वामी का काल, ईसा के पञ्चमशतक का अन्त निश्चित किया है। निरुक्त, स्कन्दमहेश्वर टीका सहित की भूमिका, पृष्ठ ६५। वस्तुतः स्कन्दस्वामी का काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में है। शतपथ ब्राह्मण के भाष्य-कार हरिस्वामी ने अपने भाष्य किये जाने का समय ३०४७ कलिसंवत् लिखा है, जो ख्रीस्त संवत् से ५५ वर्ष पूर्व आता है। वहीं पर हरिस्वामी ऋग्वेद व्याख्याकार स्कन्दस्वामी को अपना अध्यापक गुरु लिखता है।

(२) इन्हीं सांख्यषडध्यायी सूत्रों पर अनिरुद्ध की एक वृत्ति है। इसको विज्ञानभिक्षु से प्राचीन और सर्वदर्शनसंग्रहकार माधव से अर्वाचीन कहाजाता है। यद्यपि अनिरुद्ध के इस काल में अनेक सन्देह हैं, फिर भी यह निश्चित है, कि अनिरुद्ध की अपेक्षा सांख्यसप्तति का रचयिता ईश्वरकृष्ण अतिप्राचीन आचार्य है। सांख्यसप्तति की रचना के अनन्तर इसकी कारिकाओं के उद्धरण, आर्य बौद्ध जैन साहित्य में जहाँ कहीं सांख्य का वर्णन आता है, प्रायः मिलते हैं। परन्तु अनिरुद्ध वृत्ति में सांख्यसप्तति की एक भी कारिका का उद्धरण नहीं है। न कहीं उसमें इनका किसी तरह का उल्लेख है। क्या इससे यह मानलियाजाय, कि अनिरुद्ध की अपेक्षा ईश्वरकृष्ण अर्वाचीन है?

(३) इसी तरह वेदान्ती महादेव की सांख्यसूत्रवृत्ति में ईश्वरकृष्ण का एक भी वाक्य उद्धृत नहीं है, न कहीं उसका उल्लेख है, जबकि इन दोनों ही वृत्तियों में अन्य अनेक ग्रन्थों के सन्दर्भ प्रमाणरूप में उद्धृत हैं।

(४) काश्मीरक सदानन्द यति विरचित अद्वैतब्रह्मसिद्धि के चतुर्थ मुद्गर प्रहार में एक वाक्य इसप्रकार है—

"व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्' इति सूत्रेण व्यक्तिभेदोपपादनात् अतिरिक्त-धर्मिकल्पने गौरवाच्च[1]।"

यह सूत्र सांख्यषडध्यायी के तीसरे अध्याय का दसवाँ है। इसीप्रकार एक और सूत्र—

"यद्यपि—'सप्तदशैकं लिङ्गम्' इत्यादिना लिंगशरीरप्रक्रिया प्रदर्शिता सापीष्टैव।" [पृष्ठ २६३]

इस ग्रन्थ में उद्धृत कियागया है। यह सांख्यषडध्यायी के तीसरे अध्याय का नौवां सूत्र है। प्रस्तुत अद्वैतब्रह्मसिद्धि ग्रन्थ ईसा के पञ्चदश[2] शतक के

हरिस्वामी का लेख है—"यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्त त्रिंशच्छतानि वै। चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

यः सम्राट् कृतवान् सप्त सोमसंस्थास्तथर्कश्रुतिम्।
व्याख्यां कृत्वाऽध्यापयन्मां स्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः॥

वेंकटमाधव का काल, कून्हनराज सम्पादित 'माधवानुक्रमणी' की भूमिका में देखें।

१. 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ २६०॥ कलकत्ता विश्वविद्यालय से ईसवी सन् १९३२ में प्रकाशित संस्करण के आधार पर अद्वैतब्रह्मसिद्धि की यह पृष्ठ संख्या दीगई है।

२. विज्ञानभिक्षु का समय अभीतक सन्दिग्ध है। इसलिये भिक्षु से परवर्ती होने पर भी, सदानन्द यति का यह समय, उसके ग्रन्थ की आभ्यन्तर परीक्षा के आधार पर निश्चित होता है। देखें—श्रीयुत वामन शास्त्री लिखित, इसी ग्रन्थ की भूमिका, पृष्ठ १३।

प्रारम्भ का है। विज्ञानभिक्षु को इसने अनेक स्थलों[1] पर स्मरण किया है, इसलिये अवश्य यह विज्ञानभिक्षु का पश्चाद्वर्त्ती विद्वान् है। सांख्यसिद्धान्त-प्रतिपादन के प्रसंग में प्रमाणरूप से ग्रन्थकार ने षडध्यायी सूत्रों को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है, सांख्यसप्तति की कोई कारिका अथवा उसका पद, इस ग्रन्थ में उद्धृत नहीं है। यह भी नहीं कहा जासकता, कि वह कारिकाओं से अपरिचित था। क्योंकि एक स्थल पर उसने वाचस्पति मिश्र के नाम से एक वाक्य लिखा है :—

"तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रैः—'सर्वे भावा हि पद्मावत्या व्याख्याताः' इति।" [[2]पृष्ठ २४]

जो सांख्यसप्तति की व्याख्या सांख्यतत्त्वकौमुदी[3] का है।

इसप्रकार अन्य अनेक ग्रन्थों के उद्धरण इस ग्रन्थ में होते हुए भी सांख्य-सप्तति का कोई उद्धरण नहीं है, जबकि सांख्यषडध्यायी के उद्धरण विद्यमान हैं। ग्रन्थकार की यह प्रवृत्ति एक विशेष भावना को प्रकट करती है। वह है—कोई ग्रन्थकार अपने विचारों के अनुसार, समानविषयक ग्रन्थों में से किसीको उद्धृत कर सकता है। इससे अनुद्धृत ग्रन्थ की उस समय में अविद्यमानता सिद्ध नहीं कीजासकती। इसीप्रकार शङ्कराचार्य आदि ने कारिकाओं को उद्धृत कर दिया है, सूत्रों को नहीं। केवल इस आधार पर उस काल में सूत्रों की अविद्यमानता सिद्ध करना असंगत है। यद्यपि शङ्कराचार्य आदि के ग्रन्थों में सांख्यसूत्रों के उद्धरण मिलते हैं। उनका निर्देश इसी अध्याय में आगे कियागया है।

(५) इसीप्रकार सर्वदर्शनसंग्रहकार ने अपने ग्रन्थ में सांख्यसप्तति के अनेक व्याख्यानों में से केवल एक वाचस्पति मिश्र के व्याख्यान को उद्धृत[4] किया है। क्या इससे यह परिणाम निकाला जासकता है, कि सांख्यसप्तति के अन्य व्याख्याकार माठर आदि, सायण से पीछे के हैं? इस सम्बन्ध में यही कहा

---

१. इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २७, पंक्ति १। पृ० २०, पं० २०-२३, तथा टिप्पणी ३ पर।
२. कलकत्ता विश्वविद्यालय से ईसवी सन् १९३२ में प्रकाशित संस्करण के आधार पर, अद्वैतब्रह्मसिद्धि की यह पृष्ठ संख्या दीगई है।
३. तुलना करें—'अनया च स्त्रिया सर्वे भावा व्याख्याताः' १३ कारिका पर सांख्यतत्त्वकौमुदी। उपर्युक्त पंक्ति तात्पर्यटीका अथवा भामती में भी उपलब्ध होती है।
४. सर्वदर्शनसंग्रह, १४ सांख्यदर्शन, पंक्ति ३१, पृष्ठ ३१८। पूना, सन् १९२४ ई० का अभ्यंकर-संस्करण।

जासकता है, कि पठन-पाठनप्रणाली में अधिक प्रचार के कारण सायण सांख्यतत्त्वकौमुदी को उपलब्ध व उद्धृत करसका; होते हुए भी माठर आदि व्याख्यानों का उसे पता न लगा, अथवा उनकी उपेक्षा करदी। इसीप्रकार अनेक सदियों से साधारण पठन-पाठनप्रणाली में न रहने के कारण सांख्यसूत्र, लुप्तप्राय से रहे, इसप्रकार उनकी उपेक्षा होती रही, और सांख्यकारिकाओं का प्रचार प्रसार होने के कारण, तात्कालिक विद्वान् प्रायः उन्हींका उल्लेख करते रहे। इसके अतिरिक्त शङ्कराचार्य या सायण कोई ऐसे केन्द्र नहीं हैं, कि जिस ग्रन्थ को उन्होंने उद्धृत[1] नहीं किया, उसकी उस समय में सर्वथा असत्ता मान ली जाय। इसप्रकार तो साहित्य क्षेत्र में विशृंखलताके बीज-वपन को कोई रोक न सकेगा, और उनमें अनुद्धृत अन्य सम्पूर्ण साहित्य से उस समय में निर्बाध नकार करदेना होगा।

इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है, कि तथाकथित उद्धरण के आधार पर ग्रन्थों का कालिक पौर्वापर्य प्रायः सन्दिग्ध रहता है। कारण है–उस पुराने काल में ग्रन्थ हाथ से लिखे जाकर पढ़े जाते थे। पठन-पाठन के समय प्रायः गुरुजन ग्रन्थ में लिखित विषय के अनुरूप कोई अन्यत्र का सन्दर्भ स्मृत होने पर छात्रों की पुस्तकों के हाशिये (प्रान्त भाग) पर उसे लिखा देते थे। पुस्तक और हाशिये पर समान चिह्न लगवादेते थे। यद्यपि हाशिये पर लिखायागया सन्दर्भ मूल पुस्तक के रचनाकाल से पर्याप्त पश्चाद्वर्त्ती रचना का होता था। कभी स्वयं अध्ययन करते समय विद्वज्जन ऐसे सन्दर्भ स्मरणार्थ हाशिये पर लिखदेते थे। उन प्रतियों से जो आगे प्रतिलिपि कीजाती थीं, उनमें वे हाशिये के सन्दर्भ चिन्हित स्थानों पर प्रतिलिपिकारों द्वारा सन्निविष्ट करदियेजाते थे। इसप्रकार हाशिये का बाह्य सन्दर्भ मूलग्रन्थ में सम्मिलित होजाता था। अनन्तर काल में उसे मूलग्रन्थ का भाग समझाजातारहा है। वे सन्दर्भ उद्धृतरूप में लिखेजाने के कारण अनन्तरवर्त्ती रचनाओं के होने पर भी अपने पूर्ववर्त्ती रचनाओं को पश्चाद्वर्त्ती सिद्ध करने में सहायक समझे जाते रहे हैं; जो वस्तुतः यथार्थ का शीर्षासन है। इसलिये उद्धरण की वास्तविकता को यथायथ समझकर ही उसके आधार पर रचनाओं के पौर्वापर्य का कथन संगत होगा। ऐसे कतिपय सन्दर्भों का हमने माठरवृत्ति और तन्त्रवार्त्तिक में पता लगाया है। इसके लिये द्रष्टव्य है, हमारी रचना 'वेदान्तदर्शन का इतिहास' पृष्ठ २७८-२८२।

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह के जैमिनि दर्शन में, पृ० २७३ [पूना, अभ्यंकर-संस्करण] पर सायण ने मालतीमाधव का उल्लेख किया है, मेघदूत आदि का नहीं। क्या इससे यह समझाजासकता है? कि सायण के समय में मेघदूत नहीं था?

इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की ओर से कहाजासकता है, कि यद्यपि सायण के ऋग्वेदभाष्य में स्कन्दस्वामी आदि के, तथा अनिरुद्ध और महादेव की सांख्यसूत्र-वृत्तियों में ईश्वरकृष्ण के उद्धरण एवं उल्लेख आदि नहीं है, तथापि प्रमाणान्तरों से यह बात सिद्ध है, कि सायण और अनिरुद्ध आदि की अपेक्षा स्कन्दस्वामी तथा ईश्वरकृष्ण आदि प्राचीन हैं। तथा सायण अनिरुद्ध आदि के ग्रन्थों में उनके उद्धरण अथवा उल्लेख न होने पर भी उनसे प्राचीन अन्य अनेक ग्रन्थों में उनके उद्धरण तथा उल्लेख पाये जाते हैं।

ठीक यही युक्ति इन सांख्यसूत्रों के लिये कहीजासकती है। यद्यपि शंकराचार्य, वाचस्पति और सायण आदि के ग्रन्थों में इनके उद्धरण तथा उल्लेख नहीं पाये-जाते, तथापि उनके लगभग समीप काल के तथा उनसे भी प्राचीन काल के अन्य अनेक ग्रन्थों में इन सूत्रों के उद्धरण तथा उल्लेख बराबर पाये जाते हैं, और इन आचार्यों के ग्रन्थों में भी कुछ सांख्यसूत्रों के उद्धरण हमने इसी अध्याय में आगे दिखलाये हैं। एतत्सम्बन्धी उल्लेखों का द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में पर्याप्त विवेचन करदियागया है। उनके आधार पर यह सिद्ध कर आये हैं, कि महर्षि कपिल ने 'षष्टितन्त्र' नामक एक ग्रन्थ की रचना की, और वह 'षष्टितन्त्र' वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी अथवा सांख्यप्रवचन सूत्र है। अब इस अध्याय में हम केवल इन सांख्यसूत्रों के उद्धरणों का निर्देश करेंगे।

सूत्रों का रचनाकाल, चतुर्दश शतक असंगत है—

कहाजाता है—इन सूत्रों की रचना, ईसा के चतुर्दश शतक के अनन्तर हुई है। परन्तु यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है, कि उसके समीप काल में लिखे जाने वाले साहित्य में किसी भारतीय विद्वान् ने इसका निर्देश नहीं किया। प्रत्युत इसके विपरीत उस समय से आज तक भारतीय परम्परा के विद्वानों की यही धारणा चली आती है, कि ये सूत्र कपिल-प्रणीत है।

सांख्यतत्त्वकौमुदी के आधुनिक प्रसिद्ध व्याख्याकार बालराम उदासीन ने अपनी व्याख्या में सूत्रों के अनेक उद्धरणों के साथ कपिल[1] का निर्देश किया है। शाकाब्द १८२६ के आश्विन मास की 'संस्कृतचन्द्रिका' नामक संस्कृत मासिक पत्रिका [कोल्हापुर से प्रकाशित] में पं० अप्पा शर्म्मा राशिवडेकर विद्या-

---

१. "तथा चाहुः महर्षिकपिलाचार्याः—'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्।" पृ० ६५, "सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' इति कापिलसूत्रेण" पृ० १७६। "त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः' इति कापिलं सूत्रं" पृ० १७७। यह पृष्ठनिर्देश निर्णयसागर प्रैस बम्बई से सं० १९६९ विक्रमी में प्रकाशित संस्करण के आधार पर कियागया है।

वाचस्पति का 'केन प्रणीतानि सांख्यसूत्राणि' शीर्षक एक लेख[1] प्रकाशित हुआ था। आपने इन सूत्रों को कपिलप्रणीत माना है।

तत्त्वसमास की 'सर्वोपकारिणी' टीका के प्रारम्भ में एक सन्दर्भ है—

"सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीता।"

यह वाक्य जिस सन्दर्भ का अंश है, उसका विवेचन हम प्रथम अध्याय में विस्तारपूर्वक कर आये हैं। यहाँ उसके उद्धृत करने का केवल इतना प्रयोजन है, कि अब से कुछ शताब्दी पूर्व अर्थात् सर्वोपकारिणी टीकाकार के समय विद्वानों की यह धारणा थी, कि यह षडध्यायी कपिल की रचना है। यद्यपि सर्वोपकारिणी टीका का रचनाकाल अभी तक निश्चित नहीं है, फिर भी इतना कहाजासकता है, कि यह रचना अब से कई शताब्दी[2] पूर्व की है।

विज्ञानभिक्षु सांख्यप्रवचन भाष्य के प्रारम्भ में लिखता है—

"श्रुत्यविरोधिनीरुपपत्तीः षडध्यायीरूपेण विवेकशास्त्रेण कपिलमूर्त्तिर्भगवानुपदिदेश।"

इस लेख से सर्वथा स्पष्ट है—वह षडध्यायी को भगवान् कपिल की रचना समझता है। उसने अन्तिम सूत्र पर अपने भाष्य की उपसंहार-पंक्तियों में फिर इस अर्थ को दुहराया है। वह लिखता है—

"तदिदं सांख्यशास्त्रं कपिलमूर्तिर्भगवान् विष्णुरखिललोकहिताय प्रकाशितवान्।"

विज्ञानभिक्षु का समय १५५० ईसवी सन् बतलाया जाता है, जो सांख्यसूत्रों के तथाकथित रचनाकाल से लगभग एक सौ वर्ष अनन्तर का है। इसका विवेचन षष्ठ अध्याय में द्रष्टव्य है।

सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार अनिरुद्ध ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है—

"अतिकारुणिको महामुनिर्जगदुद्दिधीर्षुः कपिलो मोक्षशास्त्रमारभमाणः प्रथमसूत्रं चकार।"

अनिरुद्ध के इस लेख से स्पष्ट है, वह इन सांख्यसूत्रों का रचयिता, कपिल को मानता है। इसका समय[3] १५०० ईसवी सन् कहाजाता है। अर्थात्

---

१. इस लेख का विस्तारपूर्वक विवेचन हमने इसी ग्रन्थ के पञ्चम अध्याय में किया है।

२. इसके काल का निर्णय 'सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार' नामक षष्ठ अध्याय में कियागया है।

३. अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु का समय हमने पं० वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर द्वारा सम्पादित; निर्णयसागर प्रैस बम्बई से प्रकाशित, 'सर्वदर्शनसंग्रह' के अन्तिम परिशिष्टों में संगृहीत सूची के आधार पर दिया है। परन्तु यह समयनिर्देश संगत नहीं है। विज्ञानभिक्षु आदि के समय का निर्णय हमने इसी ग्रन्थ के 'सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार' नामक षष्ठ अध्याय में किया है।

सांख्यसूत्रों के तथाकथित रचनाकाल से लगभग पचास वर्ष बाद । काल-विवेचन षष्ठ अध्याय में द्रष्टव्य है ।

वेदान्तसूत्रों पर श्रीकण्ठभाष्य के टीकाकार अप्पय्य दीक्षित ने इन सूत्रों को कपिल के नाम से उद्धृत किया है । वह २।२।१ सूत्र के भाष्य की टीका में लिखता है—

"प्रधानकारणवादे पक्षपातहेतुं 'परिच्छिन्नत्वान्न सर्वोपादानम्' इत्यादि-कापिलसूत्रोक्तं सूचयन् पूर्वपक्षयति-प्रधानेति ।"

"परिच्छिन्नत्वान्न सर्वोपादानम्' यह सांख्यषडध्यायी के प्रथम अध्याय का ७६ वां सूत्र है[1] । अप्पय्य दीक्षित ने इसको कपिलप्रणीत कहा है । इसीतरह श्रीकण्ठभाष्य २।२।८ की टीका में दीक्षित पुनः लिखता है—

तदेतत्-'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते' 'न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशः' इत्यादिकापिलसूत्रैः ।"

यहाँ दीक्षित ने सांख्यषडध्यायी के दो सूत्रों को उद्धृत किया है, और उन्हें कापिल अर्थात् कपिलप्रणीत कहा है । ये दोनों सूत्र यथाक्रम षडध्यायी में १।१९ और १।७ संख्या पर निर्दिष्ट हैं । अप्पय्य दीक्षित का समय खीस्ट पञ्चदश शतक का अन्त अथवा षोडश शतक का प्रारम्भ कहाजाता है । यदि इस काल को सर्वथा ठीक मानलियाजाय, तो सांख्यसूत्रों के तथाकथित रचनाकाल से इसका केवल पचास साठ वर्ष के लगभग अन्तर होता है, जो परस्पर पर्याप्त समीप है ।

यहाँ यह अत्यन्त विचारणीय है, कि सांख्यसूत्रों के तथाकथित रचनाकाल के इतने अधिक समीप होनेवाले अनिरुद्ध आदि विद्वानों का भी यह विचार है, कि ये सूत्र कपिलप्रणीत हैं । यदि यह सत्य मानाजाय, कि तथाकथित काल में किसी व्यक्ति ने इन सूत्रों की रचना करदी होगी, तब यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है, कि उन सूत्रों को तात्कालिक विद्वानों ने कपिलप्रणीत कैसे मान लिया ? और इसको सिद्ध समझकर उन्होंने उस ग्रन्थ पर व्याख्यान भी लिख डाले, तथा प्रमाणरूप में कपिल के नाम से उनको उद्धृत भी किया, जबकि उन्हें इन असत्य विचारों का विरोध करना चाहिये था । परन्तु आज तक भारतीय परम्परा के किसी विद्वान् का यह लेख नहीं है, कि ये सूत्र कपिल-रचित नहीं । प्रत्युत चतुर्दश शतक के अनन्तर काल की तरह पूर्व काल में भी उसी तरह विद्वान् इस शास्त्र को कपिल की रचना मानते और लिखते चले आ-रहे हैं । इस विषय का विवेचन हमने द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में विस्तारपूर्वक-

---

१. विरजानन्द वैदिक (शोध, संस्थान गाजियाबाद, के संस्करण में सूत्रसंख्या (४१) पर देखना चाहिये। सूत्रपाठ है-'परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम्' ।

करदिया है। यहाँ इस प्रसंग के उल्लेख का हमारा केवल यही अभिप्राय है, कि चतुर्दश शतक के पश्चाद्वर्त्ती और पूर्ववर्त्ती दोनों कालों में सांख्य की समान स्थिति का सामञ्जस्य ठीक-ठीक जानाजासके। क्योंकि इन सूत्रों के कपिल-रचित होने की भावना दोनों कालों में लगातार समान रूप से प्रवाहित रही है। इसलिये अब हम चतुर्दश शतक के पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों में आये इन सूत्रों के उद्धरणों को इस अध्याय में निर्दिष्ट करेंगे।

इन उद्धरणों के दो विभाग समझने चाहियें। एक-विक्रम के चतुर्दश शतक से लेकर पूर्वकाल की ओर ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति के रचना काल तक। दूसरा–उससे भी पूर्वकाल का। पहले प्रथम विभाग के उद्धरणों का निर्देश किया जाता है।

सूतसंहिता की टीका और सांख्यसूत्र—

(१) सूतसंहिता का व्याख्याकार विद्यारण्य, पृष्ठ ४०७[1] पर इसप्रकार लिखता है—

"अत एव सांख्यैरुच्यते-'सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था मूलप्रकृतिः' इति।"

सांख्य के इस वाक्य को उद्धृत करनेवाला यह विद्यारण्य, माधव मन्त्री है, जिसका अपर नाम सायण कहाजाता है। सूतसंहिता की टीका के प्रारम्भ में टीकाकार ने स्वयं लिखा है—

'वेदशास्त्रप्रतिष्ठात्रा श्रीमन्माधवमन्त्रिणा।
तात्पर्यदीपिका सूतसंहिताया विधीयते॥

इससे स्पष्ट है विद्यारण्य, माधवमन्त्री है, जो सायण के नाम से प्रसिद्ध है। उक्त वाक्य के निर्देश की रीति से स्पष्ट है, कि यह वाक्य किसी सांख्य ग्रन्थ से उद्धृत कियागया[2] है। इसमें कोई सन्देह का अवकाश नहीं है, कि सांख्य के उक्त अर्थ को बतलाने वाला कोई वाक्य सांख्यसप्तति में नहीं है। तात्पर्य है–'सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है' इस अर्थ का प्रतिपादक कोई वाक्य ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति में उपलब्ध नहीं होता। सांख्य के अन्य किसी ग्रन्थ में [तत्त्वसमास आदि में] भी यह वाक्य उपलब्ध नहीं; केवल सांख्य-षडध्यायी में इसप्रकार का पाठ उपलब्ध है। पहले अध्याय का ६१वां सूत्र है—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"

---

१. यह पृष्ठ संख्या मद्रास संस्करण के आधार पर दीगई है।
२. इस भाव को T.R. चिन्तामणि M.A. महोदय ने स्वीकार किया है। J.O.R. मद्रास १९२८।

इससे निश्चित होता है–माधव अथवा सायण से पूर्व यह सूत्र विद्यमान था। सायण ने सर्वदर्शनसंग्रह में भी इस भाव को इन्हीं पदों से प्रकट किया है। वह लिखता है—

"प्रकरोतीति प्रकृतिरिति व्युत्पत्या सत्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थाया अभिधानात्।"

[सांख्यदर्शन १४ प्रकरण पृष्ठ ३११ पं० ६-७ अभ्यंकर संस्करण]

सूतसंहिता की टीका में उद्धृत वाक्य के साथ सायण के इस लेख की समानता स्पष्ट है। षडध्यायी के सूत्र में सत्त्व रजस् तमस् के साथ 'गुण' पद का प्रयोग नहीं है, और 'प्रकृति' पद के साथ 'मूल' पद नहीं है, सर्वदर्शनसंग्रह में भी 'मूल' पद नहीं है। यह पाठभेद नगण्य है। इसी अध्याय में आगे ऐसे बहुत से उदाहरण संस्कृत साहित्य से दिखाये हैं, जिनसे स्पष्ट होगा, कि इसप्रकार के अनेक उद्धरण हैं, जिनमें प्रायः साधारण पाठभेद उपलब्ध होते हैं। इसलिये उक्त सूत्र सूतसंहिता की टीका में उद्धृत कियागया है, इस विचार के स्वीकार करने में कोई सन्देह नहीं रहजाता।

यह कहाजासकता है, कि यदि सायण से पूर्व ये सूत्र विद्यमान थे, तो उसने कारिकाओं के समान 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इनको उद्धृत क्यों नहीं किया? इसके कारणों का निर्देश प्रथम संक्षेप में कर आये हैं, और विस्तारपूर्वक इस अध्याय के अन्त तक होजायेगा। यहाँ पाठकों का ध्यान पुनः इस ओर आकृष्ट करना अभीष्ट है, कि 'सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है' इस अर्थ को जानने का मूलस्रोत, षडध्यायी के उक्तसूत्र के अतिरिक्त सांख्यशास्त्र के अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। इसलिये यह निश्चित है, कि संस्कृत वाङ्मय में जहाँ कहीं भी इन शब्दों के साथ इस अर्थ को प्रकट कियागया है, उस सबका मूल आधार निस्सन्देह षडध्यायी का यही सूत्र है। यह भी एक कारण है, कि जो अर्थ, सूत्र और कारिकाओं में समानरूप से उपलब्ध होते हैं, उनके निर्देश के लिये सायण ने, अधिक प्रचार के कारण कारिकाओं को उद्धृत किया है। परन्तु जो अर्थ, केवल सूत्रों में हैं, उनके लिये सूत्र को उद्धृत करना पड़ा है।

मल्लिनाथ और सांख्यसूत्र—

(२) नैषधीय-चरित के व्याख्याकार मल्लिनाथ ने प्रथम सर्ग के ५९वें श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अणुपरिमाणं मनः इति सूत्रणात्[1]।"

---

१. किन्हीं प्रतियों में 'सूत्रणात्' के स्थान पर 'तार्किकाः' पाठान्तर है। परन्तु उससे हमारे परिणाम में कोई अन्तर नहीं आता।

यहाँ पर 'सूत्रणात्' पद से स्पष्ट होता है, कि मल्लिनाथ इस वाक्य को किसी दर्शन का सूत्र समझकर उद्धृत कर रहा है। मन के अणुपरिमाण को बतलाने वाले सूत्र, न्याय तथा वैशेषिक में भी उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनकी पदानुपूर्वी का, उद्धृत सूत्र से सन्तुलन करने पर निश्चय होता है, कि मल्लिनाथ की दृष्टि उनकी ओर नहीं है। गौतमकृत न्यायसूत्रों में मन के अणुपरिमाण का निर्देशक सूत्र इसप्रकार है—

"**यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु**" [३।२।६३]

इसीप्रकार वैशेषिक सूत्रों में इस अर्थ का द्योतक सूत्र है—

"**तदभावादणु मनः**" [७।१।२३]

गौतम के 'यथोक्तहेतुत्वात्' का अभिप्राय है–अर्थग्रहण का अयौगपद्य[1]। अर्थात् घ्राणादि इन्द्रियों के द्वारा गन्ध आदि अर्थों का युगपत्–एकसाथ ग्रहण न कियाजाना, मन की अणुता को सिद्ध करता है। इसीप्रकार वैशेषिक के 'तदभावात्' का अर्थ–विभुता का न होना है। द्रष्टव्य है–इन सूत्रों की आनुपूर्वी, उद्धृत सूत्र के साथ समानता प्रकट नहीं कर रही। परन्तु उक्त अर्थ का प्रतिपादक षडध्यायीसूत्र, उद्धृत सूत्र के साथ अत्यधिक समानता रखता है। सूत्र है—

"**अणुपरिमाणं तत्**" [३।१४]

यहाँ सूत्र में 'तत्' सर्वनाम पद मन के लिये प्रयुक्त हुआ है। सूत्रकार ने प्रकरण के अनुसार साक्षात् 'मनस्' पद का निर्देश न करके 'तत्' सर्वनाम का प्रयोग किया है। परन्तु उद्धर्त्ता के ग्रन्थ में तो वह प्रकरण–प्रसंग नहीं है, इसलिये प्रतीत होता है–उसने सर्वनाम पद के स्थान पर, स्पष्ट प्रतीति के लिये साक्षात् मनस्-पद का प्रयोग किया। इसप्रकार यह निश्चित परिणाम निकलता है– मल्लिनाथ ने सांख्यसूत्र को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

कहाजासकता है–मल्लिनाथ ने सम्भवतः न्याय अथवा वैशेषिक सूत्र के आशय को लेकर स्वयं इस वाक्य की रचना करदी हो। परन्तु यह कथन संगत न होगा; क्योंकि मल्लिनाथ की शैली से यह बात प्रकट होती है, कि वह स्वयं इस वाक्य को उद्धृत कर रहा है। इसलिये यह स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रहजाती, कि यहाँ पर षडध्यायीसूत्र को उद्धृत कियागया है। अन्यथा उद्धर्त्ता अपने रचित वाक्य को 'सूत्रणात्' कहकर उल्लेख न करता।

---

१. इस सूत्र से कुछ पूर्व गौतम ने, एक शरीर में एक ही मन सिद्ध करने के के लिये हेतु दिया है–'तदयौगपद्यादेकं मनः'। उसी अयौगपद्य हेतु का इस सूत्र में अतिदेश कियागया है। इसीप्रकार वैशेषिक के इस सूत्र से पूर्व सूत्र है–'विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा'। इस सूत्र के 'विभवात्' हेतु के अभाव का उत्तरसूत्र में निर्देश कियागया है।

मल्लिनाथ का समय, ईसा के चतुर्दश शतक का पूर्वार्द्ध[1] बताया जाता है, जो निश्चित ही सायण के पीछे का नहीं है। यहाँ यह लिखदेना आवश्यक होगा, कि मन की अणुता का प्रतिपादन करने वाले कोई पद ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति में उपलब्ध नहीं हैं, जो उक्त उद्धरण के आधार कहेजासकें।

वर्धमान और सांख्यसूत्र—

उदयनकृत न्यायकुसुमाञ्जलि की 'प्रकाश' नामक व्याख्या का रचयिता प्रसिद्ध नैयायिक वर्धमान प्रथम स्तवक में लिखता है—

प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि—इति सांख्याः।"

वर्धमान के 'इति सांख्याः' इन पदों के निर्देश से प्रतीत होता है—उसने उक्त वाक्य को किसी सांख्य ग्रन्थ से उद्धृत किया है। सांख्यसप्तति में इस अर्थ को प्रकट करने के लिये निम्नलिखित कारिका है—

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।" [२२]

वर्धमान के उद्धृत वाक्य से कारिका की तुलना करने पर, इनकी परस्पर असमानता स्पष्ट प्रतीत होजाती है। कारिका के 'ततोऽहंकारः' पदों के स्थान पर वर्धमान 'महतोऽहंकारः' पद लिखता है। वर्धमान के उद्धृत 'तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि' ये पद तो निश्चित कर देते हैं, कि उक्त सन्दर्भ का उद्धर्त्ता, अपने उद्धरण का आधार, कारिका को नहीं समझ रहा। इसका एक विशेष कारण यह भी है, कि उस स्थिति में वर्धमान, कारिका को अविकलरूप में उद्धृत करता, उसका गद्यात्मक सन्दर्भ बनाने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। फिर वह भी कारिका के पदों के साथ समानता नहीं रखता। इसलिये निश्चितरूप से कहाजासकता है, कि वर्धमान के उद्धरण का आधार षडध्यायीसूत्र है। सूत्र इसप्रकार है—

प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि" [१।६१]

सूत्र के साथ, उद्धृत सन्दर्भ का पाठ सर्वथा समानता रखता है। केवल सूत्र के 'अहंकारात्' पद के स्थान पर वर्धमान ने 'तस्मात्' पद रख दिया है, जो उसके अव्यवहित पूर्व में पठित 'अहंकार' पद का परामर्श करता है। ऐसी स्थिति में यह पाठभेद सर्वथा नगण्य है।

वर्धमान का समय ईसा के त्रयोदश शतक[2] का प्रारम्भ अथवा द्वादश शतक का अन्त बताया जाता है, जो निश्चित ही सायण से प्राचीन है।

---

१. मल्लिनाथ के समय का निर्देश अभ्यंकर महोदय द्वारा सम्पादित सर्वदर्शन-संग्रह के परिशिष्ट में संगृहीत सूची के आधार पर दियागया है।

२. वर्धमान के समय का यह निर्देश, अभ्यंकर महोदय द्वारा सम्पादित सर्वदर्शनसंग्रह के परिशिष्ट में संगृहीत सूची के आधार पर दियागया है।

क्षीरस्वामी और सांख्यसूत्र—

(४) अमरकोष के प्रसिद्ध व्याख्याकार क्षीरस्वामी ने कालवर्ग के २९वें श्लोक की व्याख्या में लिखा है—

"प्रारम्भात् क्रियतेऽनया प्रकृतिः-सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था अव्यक्ताख्या ।"

क्षीरस्वामी ने जो यह प्रकृति का स्वरूप प्रस्तुत किया है, उसका आधार, षडध्यायी के [१।६१] सूत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहाजासकता । इसलिये क्षीरस्वामी के काल में इस सूत्र की विद्यमानता निश्चित होती है। क्षीरस्वामी का काल ईसा के एकादश शतक का अन्त[1] अनुमानित कियाजाता है, जो निश्चित ही सायण से प्राचीन है ।

जैन विद्वान् सिद्धर्षि और सांख्यसूत्र—

(५) प्रसिद्ध जैन विद्वान् सिद्धर्षि ने 'उपमितिभवप्रपञ्चा कथा' नामक अपने ग्रन्थ[2] में अनेक दार्शनिक मतों का प्रसंगवश निरूपण किया है । उनमें सांख्यमत का भी उल्लेख है। सिद्धर्षि के सन्दर्भ में सांख्यषडध्यायी का १ । ६१ सूत्र इसप्रकार सन्निहित है—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृतेः···महान्···बुद्धिरित्यर्थः । बुद्धेश्चाहंकारः ।····अहंकारादेकादशेन्द्रियाणि····पञ्चतन्मात्राणि···तेभ्यः ···पञ्च महाभूतानि ।···पुरुषः···।"

सांख्यसप्तति की २२वीं आर्या में तत्त्वों की उत्पत्ति का जो क्रम निर्देश कियागया है, वहाँ अहंकार से 'षोडशक गण' की उत्पत्ति कही है । इन्द्रिय और तन्मात्र का पृथक् निर्देश नहीं है, जैसा सूत्र में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त सिद्धर्षि के ग्रन्थ की प्रथम पंक्ति, उक्त सूत्र के साथ सर्वथा समानता रखती है, जबकि सांख्यसप्तति में उसका नितान्त अभाव है। 'कथा'-सन्दर्भ की तुलना के लिये सांख्यसूत्र देखिये—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृतेर्महान् । महतोऽहंकारः । अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियम् । तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि । पुरुषः ।"

यह तुलना निश्चय करादेती है, कि सिद्धर्षि ने उक्त सन्दर्भ, षडध्यायी के इस सूत्र के आधार पर लिखा है ।

---

१. देखें—अमरकोष, क्षीरस्वामी व्याख्यासहित की भूमिका ।

२. 'उपमितिभवप्रपञ्चा कथा' कलकत्ता से खीस्ट १८९९ में डॉक्टर पीटर पीटर्सन द्वारा प्रकाशित । पृष्ठ ६६६-७

सिद्धर्षि ने अपने ग्रन्थ को ९६२ विक्रम संवत्[1] में समाप्त किया था। इसके अनुसार ख्रीष्ट नवम शतक के अन्त में उक्त षडध्यायी सूत्र की विद्यमानता का निश्चय होता है। यह समय निश्चित ही सायण से कई सदी पूर्व है।

डॉ० कीथ ने लिखा[2] है, कि 'उपमितिभवप्रपञ्चा कथा' में जो सांख्यसूत्र उद्धृत हैं, वे षडध्यायी में उपलब्ध नहीं होते। परन्तु उक्त तुलना से यह स्पष्ट होजाता है, कि डॉ० कीथ के लेख की यथार्थता कहाँ तक है। कीथ जैसे विद्वान् के लिये इतना असत्य लिखना, सचमुच बहुत लज्जाजनक होना चाहिये।

वाचस्पति मिश्र और सांख्यसूत्र—

(६) प्रसिद्ध षड्दर्शन व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र ने सांख्यसप्तति की व्याख्या तत्त्वकौमुदी में ४७वीं आर्या की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अत एव 'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।"

तत्त्वसमास सूत्रों में १२वाँ सूत्र 'पञ्चपर्वा अविद्या' है। यह सूत्र तत्त्वकौमुदी में वार्षगण्य के नाम से किस प्रकार उद्धृत हुआ है, इसका विवेचन 'कपिल-प्रणीत षष्टितन्त्र' नामक द्वितीय अध्याय में करदियागया है। वस्तुतः मूल रूप से यह सूत्र तत्त्वसमास का है। वाचस्पति के लेख के आधार पर इस सम्बन्ध में दो विकल्प किये जासकते हैं—

(क) तत्त्वसमास के सूत्रों की रचना वार्षगण्य ने की हो; अथवा

(ख) तत्त्वसमास के इस सूत्र को वार्षगण्य ने अपने ग्रन्थ में स्वीकार कर लिया हो।

पहले विकल्प का असामञ्जस्य द्वितीय अध्याय में स्पष्ट कर दिया है।

---

१. उक्त ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक प्रशस्ति मुद्रित है, जो भीनमाल के जैन मन्दिर स्थित शिलालेख से लीगई है। सिद्धर्षि ने अपना काल उसमें लिखा है—

संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहितेऽतिलंघिते चास्याः।
ज्येष्ठे सितपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत्॥

यह ९६२ संवत्सर, डॉ० पीटर्सन महोदय ने इसी ग्रन्थ की भूमिका [पृष्ठ ७-१५] में विक्रम संवत् बताया है, जो ख्रीस्ट ९०४ में पड़ता है। डॉ० पीटर्सन का लेख ठीक है। ज्योतिर्गणना के अनुसार हमने स्वयं इसका निश्चय कराया है। इसप्रकार ख्रीस्ट नवम शतक के अन्त में षडध्यायी सूत्र की स्थिति निश्चित होती है।

२. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ ४८९।

क्योंकि वार्षगण्य से प्राचीन ग्राचार्यों के ग्रन्थों[1] में इन सूत्रों के उल्लेख पाये जाते हैं। अतएव–कदाचित् इस सूत्र को तत्त्वसमास सूत्रकार ने वार्षगण्य के ग्रन्थ से ले लिया है–इस तीसरे विकल्प की कल्पना करना ही अशक्य है। ऐसी स्थिति में दूसरा विकल्प स्वीकार कियाजासकता है। तब कह सकते हैं–तत्त्वसमास के इस सूत्र को वार्षगण्य ने अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया, और वाचस्पति ने वहाँ से इसको अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया। चाहे यह उद्धरण वार्षगण्य के ग्रन्थ को देखकर कियागया हो, अथवा परम्परा ज्ञान के आधार पर, दोनों स्थितियों में वाचस्पति मिश्र से पूर्व, इस सूत्र की विद्यमानता निश्चित है।

षडध्यायी सूत्रों को अर्वाचीन [ईसा के चतुर्दश शतक के अनन्तर रचित] मानते हुए भी अनेक आधुनिक[2] विद्वानों ने तत्त्वसमास सूत्रों को इनसे प्राचीन माना है। फिर भी हम देखते हैं, कि सायण अथवा शंकराचार्य के ग्रन्थों में इन सूत्रों के उद्धरण उपलब्ध नहीं होते। इसीतरह षडध्यायी सूत्रों को भी प्राचीन क्यों नहीं मानाजासकता? कुछ मनचले विद्वानों ने[3] तो इस विपर्यास के भय से तत्त्वसमास सूत्रों को भी सायण से अर्वाचीन कह दिया है। वस्तुतः उनका यह कथन उपहासास्पदमात्र है। सम्भवतः ऐसे व्यक्तियों ने अपने मस्तिष्क को इतना सुकुमार, श्रमहीन बना लिया है, उससे कुछ काम नहीं लेना चाहते। वे कुछ निराधार संकेतों के सहारे इस बात को समझे बैठे हैं, कि सायण ने जिस ग्रन्थ का उद्धरण अपने ग्रन्थों में नहीं दिया, वह अवश्य सायण से अर्वाचीन है। विशेषकर सांख्यविषयक ग्रन्थ तो अवश्य ही। चाहे सायण से प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में कितने ही उद्धरण हुआ करें, उन्हें इससे कोई प्रयोजन नहीं, अपना उल्लू सीधा होना चाहिये। इसप्रकार वाचस्पति मिश्र के समय अर्थात् विक्रम के नवम शतक से पूर्व तत्त्वसमास सूत्रों की विद्यमानता सिद्ध होती है।

इस सूत्र के प्रसङ्ग में अश्वघोष रचित बुद्धचरित[4] भी द्रष्टव्य है। १२वें अध्याय में बुद्ध को अराडकालाम के द्वारा अपने [अभिमत सांख्य] सिद्धान्त का उपदेश देते हुए, ३३ और ३७वें श्लोक का पूर्वार्द्ध यथाक्रम इसप्रकार है—

---

१. इसी अध्याय के अन्तिम भाग में देवल के ग्रन्थ से तत्त्वसमास सूत्रों के उद्धरणों का निर्देश कियाजायगा। वार्षगण्य की अपेक्षा देवल प्राचीन आचार्य है। देखें–इसी ग्रन्थ का 'सांख्य के प्राचीन आचार्य' नामक अष्टम अध्याय।

२. मैक्समूलर। टी. आर. चिन्तामणि [J. O. R. मद्रास १९२८] आदि।

३. गौडपादभाष्य सहित सांख्यकारिका, [ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना, १८३३ ई० संस्करण] की, डॉ० हरदत्त शर्मा M. A. लिखित भूमिका पृष्ठ २१, पंक्ति ४-६।

४. E. B. Cowell M. A., द्वारा सम्पादित, खीस्ट १८९३ का Oxford संस्करण।

"इत्यविद्या हि विद्वांसः पञ्चपर्वा समीहते ।"
"अनयाऽविद्यया बालः संयुक्तः पञ्चपर्वया ।"

अश्वघोष का समय ख्रीस्ट प्रथम शतक के समीप बताया जाता है, और तम मोह आदि को 'पञ्चपर्वा अविद्या' इन पदों से सांख्यतत्त्वसमास सूत्रों में सर्वप्रथम प्रदर्शित कियागया उपलब्ध होता है। यद्यपि अश्वघोष का समय ख्रीस्ट प्रथम शतक हो, परन्तु उसके द्वारा प्रतिपादित अराडकालाम की उक्तियाँ बुद्धकाल में मानी जायें, जबकि वे वस्तुतः कही गई थीं, तब सांख्य के इस सूत्र की स्थिति निश्चित ही बुद्धकाल से पूर्व माननी पड़ती है।

गोपालतापिनी और सांख्यसूत्र—

(७) कुछ उपनिषद् अति प्राचीन हैं। शेष अनेक उपनिषदों की रचना पर्याप्त अर्वाचीन काल तक होती रही है। प्राचीन उपनिषदों में सांख्यसिद्धान्त और पञ्चविंशति तत्त्वों का अनेक स्थलों पर वर्णन है। परन्तु एक उपनिषद् में सांख्य का सूत्र भी उपलब्ध होता है। उपनिषद् का सन्दर्भ इसप्रकार है—

"अव्यक्तमेकाक्षरम् । तस्मादक्षरान्महत् । महतोऽहंकारः । तस्मादहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि तेभ्यो भूतानि ।" [गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद् ९[1]]

सांख्यषडध्यायी का सूत्र है—

"प्रकृतेर्महान् । महतोऽहंकारः । अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि,···तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि ।" [१।६१]

उपनिषद् की पदानुपूर्वी सूत्र के साथ अत्यधिक समानता रखती है। कारिका की पदानुपूर्वी में इससे बहुत भेद है। इसलिये उपनिषद् के इस लेख का आधार षडध्यायीसूत्र होसकता है। यद्यपि यह उपनिषद् अर्वाचीन है, फिर भी इसका रचनाकाल ईसा के अष्टम नवम शतक तक में अनुमान कियाजासकता है, इसके अनन्तर नहीं।

कैयट और सांख्यसुत्र—

(८) व्याकरण महाभाष्य ४।१।३ के एक सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए कैयट लिखता है—

"सदपि लिंगं सूक्ष्मत्वात् प्रत्यक्षेणाशक्यं ग्रहीतम्, तत्कृतकार्यदर्शनादनुमीयते ।"

विद्यमान भी लिंग सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्षद्वारा नहीं जाना जासकता। उससे उत्पन्न कार्य के देखे जाने से उसका अनुमान होता है। कैयट का यह लेख

१. 'ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः' निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९२५ ईसवी सन् का संस्करण।

षडध्यायी के प्रथम अध्याय के १०९ और ११० सूत्रों के आधार पर लिखा हुआ कहाजासकता है। सूत्र इसप्रकार हैं—

"सौक्ष्म्यादनुपलब्धि। कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः।"

यद्यपि कहाजासकता है, कैयट का यह लेख सांख्यसप्तति की ८वीं कारिका के आधार पर क्यों न मानाजाय? परन्तु इसके न माने जाने का कारण यह है, कि कारिका में 'कार्य पद के साथ 'दर्शन' पद नहीं है, कैयट के पाठ में 'दर्शन' पद है, और सूत्र में भी 'दर्शन' पद है। इसलिये कैयट के इस लेख के आधार, षडध्यायी के उक्त सूत्र कहेजासकते हैं, कारिका नहीं। कैयट का पाठ सूत्रों के साथ अधिक मिलता है। कैयट का काल ईसा का एकादश शतक माना जाता है, जो सायण से निश्चित प्राचीन है।

पार्थसारथि मिश्र और सांख्यसूत्र—

(९) शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र, सांख्यमतखण्डन प्रसंग में लिखता है—

"न ह्यत्यन्तासतामुत्पत्तिः संभवति शशविषाणस्याप्युत्पत्तिप्रसंगात् असदुत्पत्तौ च सर्वत्र सर्वं स्यान्नियमो न स्यात्, तन्तुभ्यः पटो मृत्तो घट इति[1]।"

मिश्र का यह सन्दर्भ, सांख्य के 'नासदुत्पातो नृशृङ्गवत्' १।११४॥ और 'सर्वत्र सर्वदा सर्वासंभवात्' १।११६॥ इन सूत्रों के आधार पर लिखागया है। यद्यपि कहाजासकता है, इसका आधार, सांख्यसप्तति की ९वीं कारिका है, और इस सन्दर्भ के अनन्तर मिश्र ने इसको उद्धृत भी किया है। परन्तु जब हम इन तीनों की परस्पर तुलना करते हैं, तो स्पष्ट होजाता है, कि मिश्र के सन्दर्भ का आधार, सांख्य के उक्त सूत्र हैं। सन्दर्भ की प्रथम पंक्ति ११४ सूत्र के साथ अत्यधिक समानता रखती है।

नासदुत्पादः—न ह्यसतामुत्पत्तिः

नृशृंग=शशविषाण

सूत्र और सन्दर्भ के 'न—असत्—उत्पाद' इन पदों में परस्पर आश्चर्यजनक समानता दृष्टिगोचर होरही है, जब कि कारिका में इसके स्थान पर 'असदकरण' पद हैं। सूत्र के 'नृशृंग' पद के स्थान पर सन्दर्भ में 'शशविषाण' पद है, जिसका कारिका में सर्वथा अभाव है।

इसीप्रकार सन्दर्भ का अगला भाग सूत्र के साथ ही अधिक समानता रखता है। यद्यपि सूत्र और कारिका के 'सर्वासम्भवात्' तथा 'सर्वसम्भवाभावात्' पदों

---

१. शास्त्रदीपिका, सांख्यमतखण्डन प्रकरण, पृष्ठ ११४, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई से सन् १९२५ ईसवी में प्रकाशित संस्करण।

में कोई विशेष भेद नहीं है, परन्तु सन्दर्भ का 'सर्वत्र' पद, कारिका से अपना भेद और सूत्र के साथ अपनी समानता को प्रकट करता है। कारिका के 'सर्वसम्भवाभावात्' इस हेतु पद की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने 'सर्वं कार्यजातं सर्वस्माद् भवेत्' इसप्रकार पञ्चम्यन्त पद से अर्थ का प्रकाशन किया है। अन्य व्याख्याकारों ने भी प्रायः ऐसा ही किया है। परन्तु पार्थसारथि मिश्र ने उसी आशय को सप्तम्यन्त पदसे प्रकट किया है, जो सूत्र के साथ समानता रखता है। इस सन्दर्भ के अनन्तर ९वीं कारिका का उद्धरण, असदुत्पत्ति के बाधक हेत्वन्तरों का निर्देश कर देने के विचार से होसकता है। इससे स्पष्ट होता है, पार्थसरथि मिश्र के इस सन्दर्भ के आधार, सांख्य के उक्त सूत्र ही हैं।

यद्यपि पार्थसारथि मिश्र के समय का अभी तक ठीक निश्चय नहीं है, परन्तु इतना निश्चय है, कि सायण से यह प्राचीन है। यह कहाजासकता है, कि मिश्र के उक्त सन्दर्भ में सांख्यसूत्रों का उद्धरण नहीं है, फिर भी वहाँ सूत्रों की छाया से नकार नहीं कियाजासकता। वह भी सूत्रों की तात्कालिक विद्यमानता में प्रमाण है।

आचार्य श्रीकण्ठ और सांख्यसूत्र—

(१०) शैव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य श्रीकण्ठ ने वेदान्तसूत्रों के भाष्य में एक स्थल पर लिखा है--

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः—इत्यंगीकारात्।" [२।२।१]

सांख्यषडध्यायी के १।६१ सूत्र के प्रथम अंश को आचार्य श्रीकण्ठ ने यहाँ उद्धृत किया है। उद्धृत पाठ की आनुपूर्वी सूत्र के साथ अक्षरशः समानता रखती है। अन्तिम 'इत्यंगीकारात्' पदों से स्पष्ट है, कि श्रीकण्ठ उक्त वाक्य को किसी ग्रन्थ से उद्धृत कर रहा है।

श्रीकण्ठ के समय का यद्यपि अभीतक ठीक-ठीक निश्चय नहीं होसका है, परन्तु सम्भावना कीजाती है, कि यह ख्रीस्ट के नवम शतक का आचार्य हो, जो सायण से पर्याप्त प्राचीन है।

आचार्य गौडपाद और सांख्यसूत्र—

(११) सांख्यसप्तति के अन्यतम व्याख्याकार गौडपाद ने दो स्थलों पर प्रकृति का स्वरूप बतलाने के लिये जिन दो वाक्यों का उल्लेख किया है, वह षडध्यायी के एक सूत्र का भाग है। आचार्य गौडपाद पृष्ठ[1] १९ पर लिखता है—

१. बनारस प्रिन्टिंग प्रेस से कृष्णदास गुप्त द्वारा प्रकाशित संस्करण के आधार पर यह पृष्ठ संख्या दीगई है। क्रमशः कारिका १६ और २३ के गौडपाद-भाष्य में इन पाठों को देखें।

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम् ।"

इसके अनन्तर पुनः पृष्ठ २५ पर पाठ है—

"प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था ।"

षडध्यायी का सूत्र इसप्रकार है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।" [१।६१]

इतना ही नहीं, कि सांख्यसप्तति में इस आनुपूर्वी का पाठ ही न हो, प्रत्युत इस अर्थ को बतलानेवाला किसी तरह का पाठ नहीं है। सांख्य के उपलब्ध अन्य मौलिक[1] ग्रन्थों में भी इसप्रकार का कोई पाठ नहीं मिलता। इसलिये इस अर्थ का आधार पाठ षडध्यायीसूत्र के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। गौडपाद का समय विक्रमीय षष्ठ शतक के अन्त[2] अथवा सप्तम शतक के प्रारम्भ के समीप अनुमान कियागया है। यह गौडपाद, सायण तथा वाचस्पति आदि से निश्चित ही प्राचीन है।

हरिभद्रसूरि और सांख्यसूत्र—

(१२) जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थ—षड्दर्शनसमुच्चय—के सांख्यमत प्रकरण में लिखा है—

"सत्त्वं रजस्तमश्चेति ज्ञेयं तावद् गुणत्रयम् ।
एतेषां या समावस्था सा प्रकृतिः किलोच्यते ॥"

ये सन्दर्भ ३५ और ३६वें श्लोक के पूर्वार्द्ध हैं। इनकी रचना और आनुपूर्वी से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि ये सन्दर्भ, सांख्यषडध्यायी के १।६१ सूत्र के आधार पर लिखे गये हैं। इस अर्थ को सांख्यकारिकाओं में, किसी रूप में प्रकट नहीं कियागया। इसलिये इनका आधार षडध्यायीसूत्र कहाजासकता है। हरिभद्रसूरि का समय खीस्ट नवम शतक[3] का अन्त कहाजाता है।

---

१. तत्त्वसमास, पञ्चशिखसूत्र, वार्षगण्य के उद्धृत सन्दर्भ आदि से ही हमारा तात्पर्य है।

२. इसी ग्रन्थ के 'कारिका के व्याख्याकार' नामक अध्याय में गौडपाद का प्रसंग देखें।

३. यह समय-निर्देश, श्री वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह' की अन्तिम सूचियों के आधार पर दियागया है।

हरिभद्रसूरि, 'उपमितिभवप्रपञ्चा कथा' के कर्त्ता सिद्धर्षि का धर्मगुरु था। सिद्धर्षि ने अपना काल ९६२ संवत्सर लिखा है [देखें—भीनमाल जैन मन्दिर की प्रशस्ति, उक्त ग्रन्थ के प्रारम्भ में मुद्रित, पीटर्सन द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, १८९९ ईसवी संस्करण]। इस संवत्सर को विक्रम संवत् मानाजाकर, हरिभद्र का उक्त समय आता है।

शंकराचार्य और सांख्यसूत्र—

(१३) वेदान्तसूत्रों के भाष्यकार, आदि शंकराचार्य ने २।१।२९ सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है—

"ननु नैव तैर्निरवयवं प्रधानमभ्युपगम्यते, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा नित्यास्तेषां साम्यावस्था प्रधानं तैरेवावयवैस्तत्सावयवमिति ।"

शंकराचार्य के इस सन्दर्भ में 'तैः' इस प्रथम सर्वनाम पद से सांख्यों का ग्रहण कियाजासकता है । 'अभ्युपगम्यते' यह क्रिया-पद, उनके अभ्युपगम अर्थात् उनके किसी सिद्धान्त का निर्देश करता है । वह अभ्युपगम अथवा सिद्धान्त, अगले पदों से प्रकट कियागया है—'सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः तेषां साम्यावस्था प्रधानम् ।' सांख्य के इस सिद्धान्त का आधार, षडध्यायी का केवल १।६१ सूत्र होसकता है । यह पहले भी निर्देश कर आये हैं ।

वर्त्तमान सांख्यसूत्रों को अर्वाचीन कहने के पक्षपाती यह बतायें, कि यदि शंकराचार्य के समय में ये सूत्र नहीं थे, तो उसने किस आधार पर सांख्यों के इस 'अभ्युपगम' का उल्लेख किया है । सांख्यसप्तति अथवा सांख्य के अन्य किसी उपलब्ध ग्रन्थ में इस अभ्युपगम का उल्लेख नहीं पायाजाता । केवल सांख्यषडध्यायी में यह उपलब्ध है । इसलिये शंकराचार्य के समय में सांख्यसूत्रों का वर्त्तमान होना स्थिर होता है ।

(१४) आदि शंकराचार्य के वेदान्तसूत्र-भाष्य में सांख्यषडध्यायी का एक सूत्र और उपलब्ध होता है । २।४।९ सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है—

"अथवा तन्त्रान्तरीयाभिप्रायात् समस्तकरणवृत्तिः प्राण इति प्राप्तम् । एवं हि तन्त्रान्तरीया आचक्षते—'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' इति ।"

इस सन्दर्भ में 'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' यह सांख्य-षडध्यायी के दूसरे अध्याय का ३१वां सूत्र है ।

यहाँ कहाजासकता है, कि सांख्यसप्तति की २९वीं आर्या का उत्तरार्द्ध भाष्य में उद्धृत कियागया है, सांख्यषडध्यायी का सूत्र नहीं ।

परन्तु यह कहना युक्त न होगा, क्योंकि जिस पाठ को शंकराचार्य ने उद्धृत किया है, वह कारिका अथवा आर्या का रूप होना असम्भव है । उस पाठ में आर्या छन्द नहीं बन सकता । यह कहना भी निराधार होगा, कि शंकराचार्य ने कारिका के आधार पर कुछ पाठभेद करके ऐसा लिखदिया; क्योंकि उद्धृत वाक्य से पूर्व और अपर के 'आचक्षते' तथा 'इति' ये पद इस बात को स्पष्ट करते हैं, कि शंकराचार्य यहाँ तन्त्रान्तर के पाठ को उद्धृत कररहा है । वह पाठ आर्या की आनुपूर्वी में कभी संगत नहीं होसकता । यद्यपि उद्धृत पाठ में आर्या के पाठ

से बहुत साधारण भेद है, परन्तु वह भेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उस भेद के आधार पर सूत्र की वास्तविक आनुपूर्वी का पता लगता है।

यद्यपि षडध्यायी की मुद्रित पुस्तकों में इस समय सूत्र का पाठ कारिकानुसारी उपलब्ध होता है, परन्तु यह निश्चितरूप में कहाजासकता है, कि शंकराचार्य के समय सूत्रपाठ की वही आनुपूर्वी थी, जो उसने उद्धृत की है। पश्चात् कारिकापाठ के अभ्यास के कारण प्रमादवश लेखकों तथा अध्येता आदि के द्वारा सूत्रपाठ को कारिकानुसारी बनादियागया, शंकराचार्य का पाठ इस बात का प्रबल प्रमाण है। शांकरभाष्य के जितने प्रामाणिक संस्करण[1] उपलब्ध होते हैं, और जो भिन्न-भिन्न पाण्डुलिपियों के आधार पर, भिन्न-भिन्न प्रदेशों से प्रकाशित कियेगये हैं; सबमें यही एक पाठ है। पर अब शांकरभाष्य के हिन्दी [2]अनुवाद में जो पाठ दिये हैं, वे भ्रष्ट करदियेगये हैं। कारिकापाठ के अभ्यास के कारण, हिन्दी अनुवादकों ने शांकरभाष्य के पाठ को भी कारिकानुसारी बना दिया है, जो सर्वथा असंगत एवं अज्ञानतामूलक है।

जिन आधुनिक विद्वानों ने इस बात का बहुत ढिंढोरा पीटा है, कि सायण, वाचस्पति और शंकराचार्य के ग्रन्थों में इन सूत्रों के उद्धरण नहीं मिलते, वे आँखें खोलकर देखें। इन तीनों आचार्यों के ग्रन्थों में उद्धृत सांख्यसूत्रों का हमने निर्देश किया है। यदि पाश्चात्य विद्वानों की मनोवृत्ति के दास होकर हम पक्षपात के चश्मे को दृष्टि से न हटाना चाहें, तो दूसरी बात है। ऐसे लोगों के लिये भर्तृहरि लिखगया है—'ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति।'

गर्भोपनिषद् और सांख्यसूत्र—

(१५) गर्भोपनिषद् के तीसरे सन्दर्भ में तत्त्वसमास के निम्नलिखित दो सूत्र उपलब्ध होते हैं।

"अष्टौ प्रकृतयः। षोडश विकाराः।"

ये दोनों सूत्र, तत्त्वसमास के प्रथम और द्वितीय सूत्र हैं। इनमें सम्पूर्ण अचेतन वर्ग का संग्रह होजाता है। गर्भ में देहांगों के पूर्ण होने पर उपनिषद् में बतायागया है, कि इस देह में उक्त सम्पूर्ण तत्त्वों का समावेश है। 'अष्टौ

---

१. १. पूना संस्करण, २. वाणीविलास संस्करण, ३. चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस संस्करण, ४. बम्बई का मूलमात्र संस्करण, ५. रत्नप्रभा-भामती-आनन्दगिरि टीका सहित बम्बई संस्करण, ६. भामती-कल्पतरु-कल्पतरु-परिमल टीकानुटीका सहित बम्बई संस्करण।

२. १. ब्रह्मचारी विष्णुकृत हिन्दी अनुवाद, 'वेदान्तकेसरी' कार्यालय आगरा से प्रकाशित। २. अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी से प्रकाशित।

प्रकृतयः षोडश विकाराः शरीरे तस्यैव देहिनः ।' इसप्रकार प्राकृतिक शरीर के कारण-तत्त्वों का निर्देश, गर्भोपनिषद् में तत्त्वसमास के उक्त दो सूत्रों के उल्लेख द्वारा कियागया है। उपनिषद् का यह कथन सर्वथा सांख्यसिद्धान्त के अनुसार हुआ है।

यद्यपि सब उपनिषदों का काल एक नहीं है। इनके अनुयायियों का एक बहुत बड़ा समुदाय तो इनको भगवान् का निःश्वसित मानता है, पर अनुसन्धान करनेवाले के लिये यह विशेष महत्त्व नहीं रखता। फिर भी गर्भोपनिषद् का समय शंकराचार्य से पश्चात् नहीं कहाजासकता। यह ठीक है, कि शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र आदि के भाष्यों में गर्भोपनिषद् को कहीं उद्धृत नहीं किया है, परन्तु ईशादि ग्यारह और कौषीतकि उपनिषद् के अतिरिक्त अन्य अनेक उपनिषदों को वेदान्त सूत्रों के भाष्य में उद्धृत किया है। उनमें से ये नाम उल्लेखनीय हैं–जाबाल उपनिषद्, ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्, नारायण उपनिषद्। गर्भोपनिषद् इनकी अपेक्षा कहीं उच्चकोटि की उपनिषद् है। वह अवश्य शंकराचार्य के काल से पर्याप्त प्राचीन कहीजासकती है।

इस उपनिषद् में उक्त दो सूत्रों का उल्लेख आकस्मिक नहीं कहाजासकता। उपनिषत्कार के लेख से यह बात स्पष्ट होती है, कि वह सांख्य से परिचित था और यह जानता था, कि सांख्य, दुःखनिवृत्ति के मार्ग का प्रदर्शक शास्त्र है। उपनिषत्कार लिखता है—

"यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे। अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ॥ [४]

गर्भवास में अत्यन्त क्लेश का अनुभव करता हुआ चेतन, उक्त प्रार्थना करता है। उपनिषत्कार उस क्लेश के नाश के लिये सांख्य योग के अभ्यास का निर्देश करता है। इससे निःसन्दिग्ध कहाजासकता है, कि वह सांख्य योग से पर्याप्त परिचित था। ऐसी स्थिति में उसकी रचना के बीच, सांख्य सूत्रों का निर्देश सर्वथा सामञ्जस्यपूर्ण है।

भगवदज्जुकीय और सांख्यसूत्र—

(१६) 'भगवदज्जुकीयम्' नामक एक प्रहसन है, जो सन् १९२५ ईसवी में मद्रास से प्रकाशित हुआ है। इस प्रहसन में प्रसंगवश, तत्त्वसमास के कुछ सूत्र उद्धृत उपलब्ध होते हैं। प्रहसन का सन्दर्भ इसप्रकार है।

परिव्राजकः—अस्ति किंचिदपि ज्ञातम्।

शाण्डिल्यः—अत्थि, अत्थि। पभूदं पि अत्थि।

[अस्ति, अस्ति। प्रभूतमपि अस्ति]

परिव्राजकः—भवतु, श्रोष्यामस्तावत्।

शाण्डिल्य:—सुणादु भअवो। [शृणोतु भगवान्]—
अष्टौ प्रकृतय:, षोडश विकारा:, आत्मा, पञ्च वायव:, त्रैगुण्यम्, मन:, सञ्चर: प्रतिसञ्चरश्च इति। एव्वं भअवदा जिणेण पिडअ पुत्थएसु उत्तम् [एवं भगवता जिनेन पिटकपुस्तकेषु उक्तम्]
परिव्राजक:—शाण्डिल्य! सांख्यसमय एष:, न शाक्यसमय:।
शाण्डिल्य:—बुभुक्खाए, ओदणगदाए चिन्ताए अंज चिन्तिदं, अंज मन्तिदं, [बुभुक्षया ओदनगतया चिन्तया अन्यत् चिन्तितं अन्यत् मन्त्रितम्]।

एक आश्रम में शाण्डिल्य नामक ब्रह्मचारी भिक्षा की अभिलाषा से आता है। आश्रमवासी एक परिव्राजक के साथ उसका वार्त्तालाप इसप्रकार होता है—

परिव्राजक—आप कुछ जानते भी हैं ?
शाण्डिल्य—हाँ-हाँ, बहुत कुछ जानता हूँ।
परिव्राजक—जरा सुनें तो सही।
शाण्डिल्य—सुनिये श्रीमान,—
'अष्टौ प्रकृतय:, षोडश विकारा:, आत्मा, पञ्च वायव:, त्रैगुण्यम्, मन:, सञ्चर:, प्रतिसञ्चरश्च इति। इसप्रकार जिन भगवान् ने पिटक पुस्तकों में कहा है।
परिव्राजक—शाण्डिल्य! यह तो सांख्यसिद्धान्त है, शाक्यसिद्धान्त नहीं।
शाण्डिल्य—ओ:! भूख के कारण भात की चिन्ता में ध्यान चले जाने से, सोचा और कुछ था, कह और कुछ दिया।

'भगवदज्जुकीयम्' के इस प्रसंग में सांख्यसिद्धान्त के नाम पर कुछ सूत्र कहे गये हैं। ये सूत्र तत्त्वसमास के हैं। इनको निम्न रीति पर तत्त्वसमास से तुलना कियाजासकता है—

भगवदज्जुकीयम्	तत्त्वसमास	
अष्टौ प्रकृतय:	अष्टौ प्रकृतय:	सूत्र १
षोडश विकारा:	षोडश विकारा:	,, २
आत्मा	पुरुष:	,, ३
पञ्च वायव:	पञ्च वायव:	,, ११
त्रैगुण्यम्	त्रैगुयण्म्	,, ४
सञ्चर:	सञ्चर:	,, ५
प्रतिसञ्चरश्च	प्रतिसञ्चर:	,, ६

यहाँ केवल तीसरे सूत्र में पाठभेद है। तत्त्वसमास में 'पुरुष:' और भगवदज्जुकीयम् में 'आत्मा' पाठ है। यह पाठभेद नगण्य है, क्योंकि ये दोनों पद दार्शनिक साहित्य में चेतनसत्ता के लिये सामान्यरूप से प्रयुक्त होते हैं। मन:' तत्त्वसमास में नहीं है। शेष पाठ दोनों स्थलों पर समान है। इससे स्पष्ट

है–'भगवदज्जुकीयम्' के पाठ का स्रोत 'तत्त्वसमास' होसकता है, अन्य कोई ग्रन्थ नहीं ।

'भगवदज्जुकीयम्' का समय एक प्रकार से निश्चित-सा है । कांची[1] का पल्लववंशीय राजा महेन्द्रविक्रमवर्मन् खीस्ट के सप्तमशतक के मध्य में विद्यमान था। इसके मामण्डूर नामक स्थान के शिलालेख में 'भगवदज्जुकीयम्' प्रहसन और उसके कर्त्ता बोधायन कवि का उल्लेख है । इससे स्पष्ट होता हैं, कि उक्त कवि और उसका काव्य, राजा महेन्द्रविक्रमवर्मन् के समकालिक अथवा उससे पूर्व होसकते हैं । इसप्रकार सप्तम शतक के प्रारम्भिक भाग से अनन्तर 'भगवदज्जुकीयम्' का समय नहीं मानाजासकता, जो सायण और वाचस्पति से ही नहीं, प्रत्युत आदि शंकराचार्य के [अब तक माने हुए] तथाकथित काल से भी प्राचीन है[2] । ऐसी स्यिति में जो आधुनिक विद्वान सांख्यषडध्यायी सूत्रों को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिये यह युक्ति उपस्थित करते हैं, कि शंकर आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इनका उल्लेख नहीं किया है, वे इसका क्या उत्तर दे सकते हैं, कि शंकर आदि आचार्यों ने अपने से प्राचीन तत्त्वसमास सूत्रों का भी अपने ग्रन्थों में उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसलिये जिसप्रकार शंकर आदि के ग्रन्थों में, कारणान्तरों से सिद्ध प्राचीन तत्त्वसमास सूत्रों का उल्लेख न होने पर भी उनकी प्राचीनता नष्ट नहीं हो सकती; इसीप्रकार सांख्यषडध्यायी सूत्रों की, कारणान्तरों से सिद्ध प्राचीनता, केवल शंकर आदि के ग्रन्थों में उनका उल्लेख न होने से नष्ट नहीं कीजासकती । यद्यपि शंकराचार्य आदि के ग्रन्थों में हम सांख्यषडध्यायी सूत्रों के उल्लेखों का निर्देश कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में विरोधियों की उक्त युक्ति कोई महत्त्व नहीं रखती, फिर भी प्रतिबन्दी उत्तर की विवक्षा से यह निर्देश कर दिया है ।

युक्तिदीपिका में तत्त्वसमास सूत्र—

(१७) सांख्यकारिका की व्याख्या युक्तिदीपिका में २९वीं आर्या की व्याख्या करते हुए तत्त्वसमास के एक सूत्र 'पञ्च कर्मयोनयः' का उल्लेख है। केवल सूत्र

१. यह ऐतिहासिक भाग, श्रीयुत टी. आर. चिन्तामणि M.A. महोदय के एक लेख के आधार पर हैं, जो J.O.R. [जर्नल ऑफ् ओरियण्टल रिसर्च] मद्रास, ऐप्रिल १९२८ में प्रकाशित हुआ है ।

२. आद्य शंकराचार्य का काल खीस्ट सातवीं-आठवीं शताब्दी बताना नितान्त असंगत है । आचार्य का जन्मकाल विक्रम संवत् के प्रारम्भ से लगभग ४५२ वर्ष (५०९ खीस्ट) पूर्व, तथा मृत्युकाल विक्रम पूर्व लगभग ४१९ वर्ष (खीस्ट पूर्व ४७७ वर्ष के लगभग) है । इसके लिये द्रष्टव्य 'वेदान्त-दर्शन का इतिहास' आचार्य उदयवीर शास्त्री विरचित ।

का नहीं, प्रत्युत इन सूत्रों की एक प्राचीन व्याख्या के आधार पर युक्तिदीपिकाकार ने इस सूत्र का विशद व्याख्यान भी किया है। इसका निर्देश हम आगे छठे[2] अध्याय में करेंगे। जब इन सूत्रों की एक व्याख्या तथाकथित ख्रीस्ट पञ्चम शतक के अन्त तक होनेवाले युक्तिदीपिकाकार से प्राचीन मिलती है, तब इन सूत्रों के और भी प्राचीन होने में क्या सन्देह कियाजासकता है?

उद्योतकर और सांख्यसूत्र—

(१८) गौतम न्यायसूत्रों के वात्स्यायन भाष्य का व्याख्याकार उद्योतकर, अपने ग्रन्थ न्यायवार्तिक के ४५८ पृष्ठ पर[3] लिखता है—

"यदा भवन्तः—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थां प्रकृतिं वर्णयन्ति" [न्या० सू० ४।१।२१]

यहाँ उद्योतकर ने सांख्यसिद्धान्त का प्रत्याख्यान करने के लिये सांख्य-मत का निर्देश किया है। जिन पदों के द्वारा यह निर्देश कियागया है, वे अवश्य किसी सांख्याचार्य अथवा सांख्यग्रन्थ के होने चाहियें। उद्योतकर के 'भवन्तः' और वर्णयन्ति' ये पद इस बात को स्पष्ट करते हैं, कि इनके मध्य का पाठ अवश्य किसी सांख्यग्रन्थ का होगा। 'भवन्तः' पद प्रकरण के अनुसार सांख्याचार्य के लिये प्रयुक्त कियागया है, और 'वर्णयन्ति' क्रियापद उसकी रचना अथवा ग्रन्थ का निर्देश करता है। इसप्रकार उद्योतकर ने स्पष्ट ही सांख्यषडध्यायी के १।६१ सूत्र के प्रथम भाग को यहाँ उद्धृत किया है, जो सर्वथा 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' इसी आनुपूर्वी के साथ पढ़ा गया है। यह पहले लिखा जाचुका है, कि इस आनुपूर्वी के साथ अथवा किसी भी आनुपूर्वी के साथ इस अर्थ को सांख्य के अन्य किसी ग्रन्थ में प्रतिपादित नहीं कियागया। इसलिये उद्योतकर के इस लेख का आधार सांख्यषडध्यायी का उक्त सूत्र हो सकता है।

उद्योतकर का समय अभीतक सर्वथा निश्चित नहीं है। सर्वदर्शनसंग्रह के अभ्यंकर-संस्करण में दी हुई प्राचीन आचार्यों की सूची के अनुसार उद्योतकर का समय ६३५ ईसवी सन् बताया गया है। हमारे विचार से यह समय अशुद्ध प्रतीत होता है। उद्योतकर इतना अर्वाचीन आचार्य नहीं, जो ख्रीस्ट के सप्तम शतक में मानाजाय। स्वयं सूचीकार ने पृष्ठ ५०९ की टिप्पणी में समय-निर्देश के प्रति अपना अनिश्चय प्रकट किया है।

---

२. देखिये—'तत्त्वसमास सूत्रों के व्याख्याकार' नामक प्रसंग में '५—तत्त्वसमास सूत्रवृत्ति—'क्रमदीपिका' शीर्षक के नीचे (घ) चिन्हित सन्दर्भ।

३. चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस १९१५ ई० के संस्करण के आधार पर।

प्रत्यक्षलक्षण सूत्र [१।१।४] के न्यायवार्त्तिक[1] [पृ० ४०-४३] में कतिपय बौद्ध दार्शनिकों द्वारा कियेगये प्रत्यक्ष लक्षण का विवेचन उपलब्ध होता है। वहाँ 'अपरे पुनर्वर्णयन्ति' तथा 'अपरे तु मन्यन्ते' इत्यादि साधारण पदों द्वारा उन मतों का उल्लेख कर विवेचन प्रस्तुत किया है। इनका तात्पर्य प्रकट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने—वसुबन्धु और दिङ्नाग-कृत प्रत्यक्ष-लक्षण का यह विवेचन है,—ऐसा लिखा है। यद्यपि उद्योतकरने किसी बौद्ध दार्शनिक का नामोल्लेख नहीं किया, वाचस्पति द्वारा नामोल्लेख से वसुबन्धु दिङ्नाग आदि का वाचस्पति मिश्र से पूर्व होना निश्चित सिद्ध होता है; पर उद्योतकर के लिये इस आधार को निश्चित कोटि में रक्खाजाना उसके प्रति अन्याय होगा। जो प्रत्यक्ष-लक्षण न्यायवार्त्तिक में विवेचित हैं, क्या वसुबन्धु और दिङ्नाग उनके उपज्ञ हैं ? क्या प्रत्यक्ष-लक्षण का वैसा स्वरूप उनके पहले विवृत नहीं हुआ ? वाचस्पति के निर्देश को यथार्थ माने जाने पर वसुबन्धु और दिङ्नाग का परवर्त्ती उद्योतकर होगा; पर इन बौद्ध दार्शनिकों का तथाकथित काल भी पूर्णरूप से अनिर्धारित है।[2]

सांख्यसप्तति से प्राचीन ग्रन्थों में सांख्यसूत्र—

अभी तक उन ग्रन्थों से सांख्यषडध्यायी सूत्रों के उद्धरणों का उल्लेख किया है, जिनका समय सायण के समीप से लगाकर सांख्यसप्तति के रचनाकाल तक के मध्य में निर्धारित कियाजाता है। उन उद्धरणों के सम्बन्ध में यथास्थान यह निर्देश करते आये हैं, कि अमुक उद्धरण कारिका का क्यों नहीं होसकता, और सूत्र का क्यों होसकता है। परन्तु अब हम उन ग्रन्थों से इन सूत्रों के उद्धरणों का निर्देश करेंगे, जो सांख्यसप्तति की रचना से निश्चित पूर्व के हैं। इसलिये उन उद्धरणों का कारिका से तुलना करने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन और सांख्यसूत्र—

(१६) महर्षि गौतम-प्रणीत न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने सांख्य के सत्कार्य-सिद्धान्त को दिखलाते हुए ४।१।४८ सूत्र पर इसप्रकार लिखा है—

"प्राङ्निष्पत्तेर्निष्पत्तिधर्मकं नाऽसत्, उपादाननियमात्।"

---

१. वाराणसी चौखम्बा संस्करण, सन् १९१६ ईसवी।

२. द्रष्टव्य 'वेदान्तदर्शन का इतिहास'—विरजानन्द वैदिक (शोध) संस्थान, गाजियाबाद से प्रकाशित का—अध्याय १४।

इस सन्दर्भ में प्रारम्भ से 'नासत्' पर्यन्त प्रतिज्ञावाक्य है। उसकी सिद्धि के लिये 'उपादाननियमात्' हेतु दियागया है। यह हेतुपद सांख्यषडध्यायी के उस प्रकरण का सर्वप्रथम [१ । ११५] सूत्र है, जिसमें सत्कार्यवाद को सिद्ध कियागया है। इससे स्पष्ट होता है-वात्स्यायन ने सत्कार्य की सिद्धि के लिये यहाँ षडध्यायी के सूत्र को उद्धृत किया है।

वात्स्यायन मुनि ने ४ । १ । ५० सूत्र की अवतरणिका में इसी सूत्र को पुनः उद्धृत किया है। वह लिखता है—

"यत्पुनरुक्तं प्रागुप्पत्तेः कार्यं नासत्, उपादाननियमात् इति।"

इससे स्पष्ट होता है, वह सांख्यसिद्धान्त-सत्कार्यवाद की पुष्टि के लिये, सांख्य के द्वारा उपस्थापित हेतु का यहाँ निर्देश कर रहा है। इस अर्थ की सिद्धि के लिये यह हेतु षडध्यायी के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। इसलिये वात्स्यायन के समय में षडध्यायी की विद्यमानता को स्वीकार करना अनिवार्य होजाता है।

उक्त उद्धरण के सम्बन्ध में हरदत्त शर्मा M.A. के विचार, तथा उनका विवेचन—

सांख्य सूत्रों की प्राचीनता के सम्बन्ध में, अखिल भारतीय प्राच्य परिषद् [All India Oriental Conference] के १९२८ ईसवी सन् के लाहौर अधिवेशन में हमने एक निबन्ध[1] प्रस्तुत किया था। उसी आधार को लेकर हरदत्त शर्मा M.A. महोदय ने वहाँ प्रस्तुत विचारों के विरुद्ध कुछ उट्टंकनाएं की हैं। उनके सम्बन्ध में यहाँ कुछ प्रकाश डाल देना उपयुक्त होगा। वात्स्यायन के उक्त उद्धरण को लेकर शर्मा महोदय ने लिखा[2] है—

"नात्र सांख्यसूत्रेभ्यो वात्स्यायनकृतादानगन्धोऽपि अपितु विपरीतमेव सुवचम्।"

अर्थात् यहाँ पर सांख्यसूत्रों से वात्स्यायन के द्वारा कुछ लिये जाने का गन्ध भी नहीं है। अपितु इससे विपरीत कहना ही ठीक होगा। अर्थात् सांख्यसूत्रकार ने ही इस हेतु को वात्स्यायन से लिया है।

---

१. यह निबन्ध 'Antiquity of the Samkhya-Sutras शीर्षक से Proceedings of the 5th Oriental Conference, Lahore, 11. PP 855-882 में मुद्रित होचुका है।

२. सांख्यसप्तति के गौडपाद भाष्य का पूना संकरण, उपोद्घात पृष्ठ २२। यही उपोद्घात शर्मा जी ने सांख्यतत्त्वकौमुदी के स्वसंपादित संस्करण में भी मुद्रित कराया है।

शर्माजी[१] से पूछा जासकता है, कि आपको वात्स्यायन के सन्दर्भ में तो यह गन्ध नहीं आया, कि यह सूत्र अथवा हेतुपद सांख्यसूत्र से लियागया है, परन्तु सूत्रकारने वात्स्यायन के सन्दर्भ से यह हेतु लिया है, इसका गन्ध कैसे आगया ? इसके लिये आपकी घ्राणशक्ति इतनी तीव्र कैसे बन गई ? सांख्य के सूत्र में आपको यह गन्ध आजाने का क्या कारण है, आपने इसके लिये कुछ भी निर्देश नहीं किया।

पर यह स्पष्ट कर देना युक्त होगा, कि वात्स्यायन के सन्दर्भ में यह हेतुपद, सांख्यग्रन्थ से लियागया है। नैयायिक अथवा, गौतममतानुयायी, सत्कार्यसिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते, वे आरम्भवादी हैं। उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता को वे स्वीकार नहीं करते। यहाँ पर वात्स्यायन ने सत्कार्यवाद का अवतरण किया है, अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् नहीं होता, यह पक्ष अथवा सिद्धान्त वात्स्यायन का अपना नहीं है, यह सांख्य का सिद्धांत है। वाचस्पति मिश्र ने टीका करते हुए इस प्रसंग में लिखा है– **नासदुत्पद्यते······इत्याचक्षते सांख्याः'**। अब यदि वात्स्यायन उस पक्ष की सिद्धि के लिये उन्हीं आचार्यों के द्वारा उपस्थापित हेतु को यहाँ निर्दिष्ट करता है, जिन्होंने उस पक्ष को स्वीकार किया है, तो ठीक है, क्योंकि आगे उस पक्ष का वह प्रत्याख्यान करना चाहता है। यदि वह अपनी ओर से हेतु उपस्थित कर उसका खण्डन करता है, तो दूसरा उसे क्यों मानेगा ? दूसरे का खण्डन करने के लिये तो वही बात कही जासकती है, जो उसने स्वयं प्रथम स्वीकार की हो। ऐसी स्थिति में यदि वात्स्यायन स्वयं ऐसे हेतु की उद्भावना करता, और उसका खण्डन करता है, जिसको दूसरे ने नहीं माना, तो उसका कथन अनर्गल, असंगत ही कहाजायगा। इसलिये सिद्ध है–सांख्यसिद्धान्त के समर्थन के लिये सांख्य-पठित हेतु को यहाँ पर वात्स्यायन ने उद्धृत किया।

वात्स्यायन के दो सन्दर्भों का यहाँ निर्देश है। द्वितीय सन्दर्भ के सम्बन्ध में शर्मा महोदय लिखते हैं—

---

१. शर्मा जी, कुछ ही वर्ष पूर्व स्वर्गवासी होचुके हैं। खेद है, हम अपने अन्य विशेष कार्यों में संलग्न रहने के कारण उनके जीवन काल में इस ग्रन्थ को प्रकाशित न करसके। फिर भी श्रीयुत शर्मा जी के विचारों के अनुयायी जो अन्य विद्वान् हैं, उनसे हमारा नम्र निवेदन है, कि वे उनके प्रतिनिधि होकर इस पर विचार करें। आलोचना प्रसंग में यदि शर्मा जी के लिये कोई अनुपयुक्त शब्द प्रयुक्त होगये हों, तो हम दिवंगत आत्मा से विनयपूर्वक क्षमा के प्रार्थी हैं।

"यदि[1] 'इति' यह पद परग्रन्थ से उद्धृत वचन का द्योतक है, तो प्रथम सन्दर्भ में 'उपादाननियमात्' के आगे 'इति' पद का प्रयोग क्यों नहीं है ? और यह भी बात है, कि द्वितीय भाष्यखण्ड में 'इति' पद का प्रयोग 'उपादाननियमात्' इतने ही के साथ नहीं है, प्रत्युत 'प्रागुत्पत्तेः कार्यं नासत्, उपादाननियमात्' इतने सन्दर्भ के साथ है। यह सन्दर्भ, वात्स्यायन ने अपने पहले वाक्य में कुछ पदों का पारवर्त्तन करके यहाँ उद्धृत किया है।"

इस सम्बन्ध में निवेदन है—हमने कहीं ऐसी प्रतिज्ञा नहीं की है, कि पर-वाक्य के उद्धरण के साथ 'इति' पद का प्रयोग अवश्य होना चाहिये। परन्तु यदि किसी उद्धरण के साथ 'इति' पद का प्रयोग किया है, तो वह उस अर्थ को और स्पष्ट कर देता है। हम मान लेते हैं, कि वात्स्यायन ने प्रथमवाक्य में कुछ पदों का परिवर्त्तन करके द्वितीय सन्दर्भ लिखा है, परन्तु इसमें यह ध्यान देने की बात है, कि वात्स्यायन ने अपने ही पदों में परिवर्त्तन किया है, पर-पद में नहीं। हेतुपद को वात्स्यायन ने यहाँ भी उसी रूप में रहने दिया है। दोनों सन्दर्भों की परस्पर तुलना करने से यह स्पष्ट होजाता है, कि परिवर्त्तन केवल प्रतिज्ञापदों में कियागया है, हेतुपद में नहीं। क्योंकि प्रतिज्ञापद वात्स्यायन के अपने लिखे हुए हैं, उनमें चाहे जैसा परिवर्त्तन करने का उसको अधिकार है। परन्तु हेतुपद वात्स्यायन की अपनी रचना नहीं है, उसमें वह परिवर्त्तन नहीं करसकता था, इसीलिये हेतुपद को दोनों स्थलों में उसी आनुपूर्वी के साथ रक्खा गया है। 'प्रतिज्ञा' भाग में परिवर्त्तन कियेजाने से उसके उद्धृत होने का स्वरूप नष्ट होजाता है। वह उद्धरण उसीरूप में मानाजासकता था, जब उसी अविकलरूप में दुहराया जाता। उद्धरण पाठ का मानाजाता है, अर्थ का नहीं। ऐसी स्थिति में प्रतिज्ञा और हेतु दोनों के साथ 'इति' पद का सम्बन्ध होने पर भी हेतुपद के अबाधित स्वरूप को प्रकट करने में उसका सामर्थ्य नष्ट नहीं होगया। इस-प्रकार निश्चित होता है, कि 'इति' पद का पूरे सन्दर्भ से सम्बन्ध होने पर भी यह नहीं कहाजासकता, कि यह हेतुपद वात्स्यायन की अपनी रचना है।

---

१. "अत्रोच्यते—इह यदि 'इति' इति पदं परग्रन्थोद्धृतवचनद्योतकं, तर्हि किं नाम वात्स्यायनेन प्रथमे सन्दर्भे [४ । १ । ४८ भाष्ये] 'उपादाननियमात्' इत्यनन्तरं 'इति' इतिपदप्रयोगो न कृतः ? अथ च द्वितीये भाष्यखण्डे 'यत्पुनरुक्तं' इत्यादौ 'इति, इतिशब्दस्य सम्बन्धो न केवलं 'उपादाननियमात्' इत्येतावन्मात्रेण' अपि तु 'प्रागुत्पत्तेः कार्यं नासत् उपादाननियमात्' इत्येतावता सन्दर्भेणास्तीति स्फुटमेव। एष चोद्धारो वात्स्यायनेन स्वस्यैव पूर्वोक्तस्य वाक्यस्य किञ्चित्पदपरिवृत्त्या कृत इति।" सांख्यसप्तति गौड-पादभाष्य, ओरियण्टल बुक एजेंसी, पूना १९३३, संस्करण का उपोद्घात; पृष्ठ २२।

इतना ही नहीं, कि प्रतिज्ञापदों में परिवर्त्तन कर देने पर भी हेतुपद को वात्स्यायन ने ही अबाधित रूप में रक्खा हो, अपितु उद्योतकर ने भी इस प्रकरण में इस हेतुपद का इसी आनुपूर्वी के साथ तीन बार उल्लेख किया है। इसके पूर्व प्रसंगों में भेद होने पर भी हेतु के पदों में कोई परिवर्त्तन नहीं कियागया। यह प्रवृत्ति, निश्चितरूप से इस बात को सिद्ध करती है, कि हेतुपद की यह आनुपूर्वी अवश्य किसी सांख्यग्रन्थ की होनी चाहिये, जिसके प्रत्याख्यान के लिये आरम्भवादियों ने इतना बल लगाया है। ये सब बातें प्रमाणित करती हैं, कि वात्स्यायन ने इस हेतुपद को सांख्य से लिया है, सांख्य ने वात्स्यायन से नहीं।

यह भी ध्यान देने की बात है, कि सांख्यसप्तति में इस हेतु का 'उपादान-ग्रहणात्' इन पदों के साथ निर्देश कियागया है। सूत्र के 'नियम' पद की जगह ईश्वरकृष्ण ने 'ग्रहण' पद रक्खा है। यह निश्चितरूप से कहाजासकता है, कि छन्दोरचना से बाधित होकर ईश्वरकृष्ण ने ऐसा किया है। अन्यथा अर्थ का जो स्वारस्य 'नियम' पद में है, वह 'ग्रहण' में नहीं, इसकी वह उपेक्षा न करता। इससे भी प्रमाणित होता है, कि ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा वात्स्यायन[1] प्राचीन आचार्य है। वह सूत्रानुसारी हेतु पद का उद्धार कर सकता था, कारिकानुसारी हेतुपद का नहीं। उद्योतकरने भाष्य के अनुसार हेतुपद रक्खा है, ईश्वरकृष्ण के पाठ को स्वीकार नहीं किया। यह ध्यान देने की बात है, कि उद्योतकरने सांख्य-कारिका का अपने ग्रन्थ में कहीं उल्लेख नहीं किया, फिर भी इनके पौर्वापर्य के विषय में निश्चित मत देना अभी अन्वेषणसापेक्ष है। इस तथ्य को विस्तारपूर्वक पीछे सिद्ध कर दिया है, कि कारिकाओं की रचना इन्हीं सूत्रों के आधार पर कीगई है।

'उपादाननियमात्' उद्धरण के सम्बन्ध में यह आशंका कीजासकती है, कि इसके साथ सांख्य अथवा किसी सांख्याचार्य का नामोल्लेख नहीं है। इसलिये यह कैसे जानाजासकता है, कि यह सूत्र सांख्य से उद्धृत कियागया है?

हमारा निवेदन है—प्राचीन आचार्य, उद्धरण के साथ नाम-निर्देश के अभ्यासी नहीं थे। विशेष रूप से जहाँ वे अन्य मत का प्रत्याख्यान करते थे, वहाँ तो प्रायः नामोल्लेख करते ही नहीं थे। उनकी इस प्रवृत्ति में परापमान की संभावना से बचने की रुचि कारण कहीजासकती है। वात्स्यायन ने प्रकृत भाष्य में अनेक उद्धरण दिये हैं, पर बहुतों[2] के साथ किसी तरह का नामोल्लेख नहीं है। मन्त्र अथवा ब्राह्मण वाक्यों के साथ कहीं ऋक्[3] और ब्राह्मण पदों का अवश्य निर्देश है।

---

१. वात्स्यायन का समय इसी ग्रन्थ के परिशिष्टरूप 'उपसंहार' नामक प्रकरण में निर्धारित कियागया है।

२. न्यायवात्स्यायनभाष्य, २।१।५६॥ २।१।६३॥ ४।१।५७॥ ४।१।६०॥

३. न्यायवात्स्यायनभाष्य, ४।१।६१॥

एक अन्य स्थल पर विरुद्ध हेत्वाभास का उदाहरण देते हुए वात्स्यायन ने [१।२।६ सूत्र पर] लिखा है—

"सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधाद्,
अपेतोऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् ।"

इस पाठ के साथ न तो 'इति' पद लगा है, न यहाँ किसी ग्रन्थ अथवा आचार्य का नामोल्लेख है। इस सन्दर्भ में जिस अर्थ का निर्देश है, वात्स्यायन ने अपनी अगली पंक्तियों में उसका खण्डन किया है। यह निश्चित है, कि जो मत उक्त सन्दर्भ में प्रकट कियागया है, वह सांख्य-योग का है। इस प्रसंग में वाचस्पति मिश्र द्वारा किये हुए 'विकार' पद के अर्थ से यह बात सर्वथा स्पष्ट होजाती है। वह लिखता है—

अत्रोदाहरणभाष्यम्-यथा सोऽयं विकार इति। महदहंकारपञ्चतन्मात्रैका-दशेन्द्रियभूतसूक्ष्ममहाभूतानि विकारः[1] ।"

वात्स्यायन की ये पंक्तियाँ योग-व्यासभाष्य [३। १३] में उपलब्ध हैं। वहाँ 'सोऽयं विकारः' के स्थान पर 'तदेतत् त्रैलोक्यं' पाठ है। लिंग सामञ्जस्य के कारण 'अपेतः' के स्थान पर 'अपेतं'। परन्तु उद्योतकरने इस पाठ की ठीक वही आनुपूर्वी वार्त्तिक में दी है, जो व्यासभाष्य में है। वस्तुतः इस सन्दर्भ का मूल स्रोत वार्षगण्य का ग्रन्थ[2] है। वहाँ पर 'तदेतत् त्रैलोक्यं' ही पाठ है। इस पाठ से वात्स्यायन का पाठभेद सर्वथा नगण्य है। उस समय इस पाठभेद की कुछ स्थिति नहीं रहजाती, जब उद्योतकर मूल के अनुसार पाठ लिखता है। ऐसी स्थिति में यह निश्चित परिणाम निकलता है, कि वात्स्यायन ने इस सन्दर्भ को अवश्य व्यासभाष्य अथवा वार्षगण्य के ग्रन्थ से लिया है। परन्तु न इस सन्दर्भ के साथ 'इति' पद का प्रयोग है, और न यहाँ किसी ग्रन्थ अथवा आचार्य का नामोल्लेख है। फिर भी इस बात से नकार नहीं कियाजासकता, कि यह सन्दर्भ वात्स्यायन का अपना नहीं है।

ठीक यही स्थिति 'उपादाननियमात्' इस हेतुपद के सम्बन्ध में है। वह वात्स्यायन की अपनी रचना नहीं कहीजासकती, उसने वह हेतु सांख्यसूत्र से

---

१. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृष्ठ २३४। १८९८ ई० सन् का लाजरस संस्करण।

२. सांख्यसप्तति की व्याख्या युक्तिदीपिका में पृष्ठ ६७ पर 'तथा च वार्षगणाः पठन्ति' यह लिखकर एक सन्दर्भ उद्धृत किया है। उसका प्रथम भाग, यही उपर्युक्त सन्दर्भ है। 'वार्षगणाः' और 'वार्षगण्यः' के सम्बन्ध में तथा उक्त सन्दर्भ मूलरूप से वार्षगण्य का है, इस सम्बन्ध में, इसी ग्रन्थ के 'प्राचीन सांख्याचार्य' प्रकरण के वार्षगण्य प्रसंग को देखें।

उद्धृत किया है । यदि हरदत्त शर्मा एम्० ए० महोदय के अनुसार यह मानाजाय कि सांख्यसूत्रकार ने वात्स्यायन से इस हेतु को लिया है, तो इसको मानने में क्या बाधा होसकती है, कि 'सोऽयं विकारः' इत्यादि सन्दर्भ को व्यास अथवा वार्षगण्य ने वात्स्यायन से लिया है ? क्या शर्मा महोदय इसको स्वीकार करने के लिये तैयार होंगे ? वस्तुतः यह उनका दुराग्रहमात्र है, कि उक्त हेतु वात्स्यायन की रचना है। उन्होंने अपने कथन में कोई युक्ति या प्रमाण उपस्थित नहीं किया।

कारिकाओं की रचना के अनन्तर सूत्र की इस आनुपूर्वी का अन्य ग्रन्थों में उल्लेख होता रहा है। उद्योतकर का अभी निर्देश कियाजाचुका है। इसके अतिरिक्त समन्तभद्र विरचित आप्तमीमांसा अथवा अष्टसहस्री नामक जैन ग्रंथ का एक लेख इसप्रकार है—

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत् ।
मोपादाननियमो भून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥४२॥ [पृष्ठ १८८]

इस प्रसंग में उत्पत्ति से पूर्व कार्य की असत्ता न स्वीकार कियेजाने में 'उपादाननियम' को हेतुरूप से प्रस्तुत कियागया है । समन्तभद्र का समय खीस्ट का षष्ठ शतक आधुनिक[1] विद्वानों ने अनुमान किया है । यद्यपि यह अन्तिम निश्चय नहीं है ।

वात्स्यायन न्यायभाष्य में अन्य सांख्यसूत्र—

(२०) वात्स्यायन मुनि ने अपने न्यायभाष्य में ५।२।६ सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रसंगवश पुनः सांख्यषडध्यायी के दो सूत्रों को निर्दिष्ट किया है। इस सूत्र में 'हेत्वन्तर' नामक निग्रहस्थान का प्रतिपादन है । इस निग्रहस्थान का उदाहरण देने के लिये वात्स्यायन ने सांख्य के एक वाद को चुना है । सांख्यवादी कहता है–यह सम्पूर्ण व्यक्त अर्थात् दृश्यमान जगत्, एक प्रकृति का विकार है। इसकी सिद्धि के लिए वह 'परिमाणात्' हेतु प्रस्तुत करता है । नैयायिक इस हेतु को अनैकान्तिक बताते हुए कहता है–एकप्रकृति रुचक कुण्डल आदि और अनेक प्रकृति घट रुचक आदि' दोनों तरह के विकारों का 'परिमाण' देखाजाता है, तब तुम 'परिमाण' हेतु के आधार पर व्यक्त मात्र की एकप्रकृतिकता किसप्रकार सिद्ध करसकते हो ? इस दोष की उद्भावना होने पर सांख्यवादी दूसरा हेतु 'समन्वय' प्रस्तुत करता है । वह कहता है–यह सम्पूर्ण व्यक्त सुख-दुःख-मोह से समन्वित हुआ परिमाण से युक्त देखाजाता है; इसलिये इस व्यक्त का कारण, सुखदुःख-मोहात्मक एक प्रकृति है । इस प्रसंग में प्रस्तुत वाद की सिद्धि के लिये वात्स्या-

१. सर्वदर्शनसंग्रह, अभ्यंकर संस्करण की अन्तिम सूचियों के आधार पर।

यन, सांख्य की ओर से दो हेतु उपस्थित करता है–एक 'परिमाणात्', दूसरा 'समन्वयात्'। हम देखते हैं–ये दोनों हेतु, इसी आनुपूर्वी और इसी क्रम से सांख्यषडध्यायी के प्रथम अध्याय के १३० और १३१ वें सूत्र हैं।[1] ये वहाँ भी इसी अर्थ की सिद्धि के लिये निर्दिष्ट कियेगये हैं, जो प्रस्तुत प्रसंग में दिखाया है। इससे स्पष्ट है–वात्स्यायन ने इन हेतुसूत्रों को सांख्यषडध्यायी से लिया है।

यद्यपि ये दोनों हेतु सांख्यसप्तति [कारिका १५] में इसी आनुपूर्वी और क्रम के साथ विद्यमान हैं। परन्तु यह निश्चित मत है, कि वात्स्यायन के समय इन कारिकाओं की सत्ता न थी, और इस मान्यता को भी पहले निश्चितरूप से सिद्ध कियाजाचुका है, कि इन कारिकाओं की रचना, षडध्यायीसूत्रों के आधार पर हुई है। ऐसी स्थिति में वात्स्यायन इन हेतुओं को कारिका से नहीं लेसकता, इसका आधार षडध्यायी है। इसप्रकार इन कारिकाओं की रचना के पूर्व वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ में सांख्यषडध्यायी के तीन सूत्रों को उद्धृत किया है, यह निश्चित होता है।

अन्तिम दो उद्धरणों के सम्बन्ध में अन्य कारण इस बात के लिये उपस्थित करते हैं, कि वात्स्यायन ने इन हेतुओं को कारिका से नहीं लिया। १५वीं कारिका में इस हेतु को 'भेदानां परिमाणात्' इस रूप में उपस्थित किया है। यहाँ पर 'भेदानां' यह पद हेत्वर्थ को स्पष्ट करने के लिये कारिकाकार ने जोड़ा है। यदि वात्स्यायन, कारिका से इस हेतु को लेता, तो अवश्य वह इसी रूप में इसका निर्देश अपने भाष्य में करता, जैसा अन्य शंकर[2] आदि आचार्यों ने किया है; परन्तु वात्स्यायन ने 'भेदानां' पद के अतिरिक्त, हेत्वर्थ को स्पष्ट करने के लिये 'विकाराणां' पद का निर्देश किया है। यद्यपि इन दोनों पदों का भावार्थ एक है। दोनों आचार्यों ने मूल हेतुओं को अविकृत रूप में रक्खा है, जो सूत्रों में उपलब्ध हैं। ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्ती आचार्य प्रकृति-कार्यों के लिये प्रायः 'विकार' पद का प्रयोग करतेरहे हैं, 'भेद' पद का नहीं।[3]

---

१. यह सूत्रसंख्या प्रचलित पाठानुसार है, संस्थान द्वारा प्रकाशित सांख्यदर्शन में उक्त संख्या ३५ घटाकर देखना चाहिये।

२. वेदान्त सूत्र २।२।१ पर शंकराचार्य लिखता है—
बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतया...' '...परिमितानां भेदानां मूलांकुरादीनां...' ...बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां परिमितत्वात्...' '...बाह्याध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं...'

३. वात्स्यायन का 'सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति' उद्धरण द्रष्टव्य है।

व्याकरण भाष्यकार पतञ्जलि और सांख्यसूत्र—

व्याकरण महाभाष्य में ४।१।३ सूत्र पर पतञ्जलि ने लिखा है—

'षड्भिः प्रकारैः सतां भावनामनुपलब्धिर्भवति—अतिसन्निकर्षाद् अतिविप्रकर्षान्मूर्त्यन्तरव्यवधानात् तमसावृतत्वाद् इन्द्रियदौर्बल्याद् अतिप्रमादादिति ।

इस सन्दर्भ में, वस्तु के विद्यमान होते हुए, उसकी अनुपलब्धिके कारणों का निर्देश है। यह मानी हुई बात है, कि इन्द्रियों के द्वारा किसी वस्तु के ग्रहण किये जाने अथवा न किये जाने का वर्णन, दर्शनशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय कहा जाता है। व्याकरण शास्त्र का यह अपना विषय नहीं है। व्याकरण केवल शब्द की साधुता असाधुता में प्रमाण मानाजाता है। जिसप्रकार दर्शन अथवा साहित्य ग्रन्थों में अनेकत्र, शब्द की साधुता को बताने के लिये व्याकरण का उपयोग होता है, यद्यपि वह विषय, दर्शन अथवा साहित्य का अपना नहीं। इसीप्रकार व्याकरण के ग्रन्थों में प्रसंगवश अन्य अनेक तन्त्रों के उल्लेख आजाते हैं, यद्यपि वे व्याकरण के अपने प्रतिपाद्य विषय नहीं होते। उनके उल्लेख अवश्य उन शास्त्रों अथवा ग्रन्थों के आधार पर होते हैं, जिनके वे प्रतिपाद्य तिपय हैं। ठीक इसीतरह महाभाष्य का प्रस्तुत सन्दर्भ यहाँ अन्य किसी ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है, क्योंकि यह दर्शनशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। इसके लिये जब दर्शनों की ओर दृष्टि डालते हैं, तो सांख्यषडध्यायी के अतिरिक्त और किसी दर्शन में इसका मूल नहीं मिलता। उक्त सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए कैय्यट ने इसकी अवतरणिका में लिखा है—

"इतरो विद्यमानस्यापि लिंगस्य सौक्ष्म्यमनुपलब्धिकारणं दर्शयितुमाह—षड्भिरिति। "

इससे स्पष्ट होता है—पतञ्जलि ने अनुपलब्धि के इन कारणों को किसी दूसरे स्थल से लिया है। [अन्य दर्शनों में इनका मूल मिलता नहीं, और ईश्वर-कृष्ण की सातवीं कारिका इसका मूल इसलिये नहीं कहीजासकती, कि महा-भाष्यकार पतञ्जलि, ईश्वरकृष्ण से प्राचीन है, यह प्रामाणिकरूप में इतिहास से सिद्ध है।[1] इसलिये यह निश्चय है, कि पतञ्जलि के इस लेख के आधार, सांख्यषडध्यायी के प्रथमाध्याय के १०८ और १०९वें सूत्र होसकते हैं। ईश्वर-कृष्ण का काल भाष्यकार पतञ्जलि और आचार्य शंकर के अन्तराल में होना निश्चित है।

---

१. व्याकरण भाष्यकार पतञ्जलि शुंगवंशीय—मगध के राजा—पुष्यमित्र का समकालिक था। यह वंश मौर्यवंश के अनन्तर मगध की गद्दी पर आया। भारतीय इतिवृत्त के अनुसार मौर्यकाल कलियुग की द्वितीय सहस्राब्दी के पूर्वार्द्ध में आता है, जो विक्रम संवत् से लगभग १५०० वर्ष पूर्व है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण विचारणीय बात हमारे सामने आती है। सूत्रों में अनुपलब्धि के केवल पाँच कारणों का निर्देश है; परन्तु पतञ्जलि ने उनमें से एक की उपेक्षा करके तथा दो अन्य नये कारणों को मिलाकर, छह कारणों का निर्देश किया है, जबकि ईश्वरकृष्ण की कारिका में अनुपलब्धि के कारणों की संख्या आठ होगई है। संख्या का यह क्रम, उसके काल के क्रम पर एक निश्चित प्रभाव डालता है। इससे यह एक प्रमाणित सिद्धान्त प्रकट होता है, कि सांख्यसूत्र, जिनमें केवल पाँच कारणों का निर्देश है, सबसे प्राचीन हैं। पतञ्जलि और ईश्वरकृष्ण दोनों क्रमानुसार उनके अनन्तर हैं। यद्यपि महाभाष्य का उक्त सन्दर्भ किसीका उद्धरण नहीं है, तथापि इसके द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन कियागया है, उसका मूलस्रोत षडध्यायी के उक्त सूत्र हैं, इतना ही हमारा अभिप्राय है।

इस प्रसंग में यह आशंका करना, कि पतञ्जलि ने अन्य किसी चिरन्तन ग्रन्थ के आधार पर इसको लिख दिया होगा, उस समय तक सर्वथा असंगत है, जब तक किसी मान्य चिरन्तन ग्रन्थ में इसका मूल उपलब्ध नहीं होजाता। उपलब्ध होने पर भी दोनों स्थलों की पारस्परिक पूर्वापरता का विवेचन करना आवश्यक होगा।

इस सम्बन्ध में एक आशंका यह कीजासकती है, कि पतञ्जलि ने सांख्यसूत्रों के चार कारणों को अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया, शेष दो को स्वयं जोड़ा है। ऐसी स्थिति में जिसप्रकार पतञ्जलि दो कारणों की कल्पना करसकता है, उसीप्रकार शेष चार की करसकता है। फिर उसके लेख का कोई आधार मानेजाने की क्या आवश्यकता है?

परन्तु यह कहना संगत न होगा, क्योंकि दो और चार कारणों की कल्पना में महान अन्तर है। चार कारणों की पूर्व उपस्थिति में शेष दो कारणों की कल्पना साधार कहीजासकती है। अर्थात् जिस सिद्धान्त को पतञ्जलि ने उक्त सन्दर्भ से प्रकट किया है, उसकी सत्ता पहले से विद्यमान है, वह एक दार्शनिक विषय है, पतञ्जलि उसमें केवल कुछ योजना करदेता है। परन्तु सब कारणों की स्वतन्त्र कल्पना में पतञ्जलि ही इस सिद्धान्त का उपज्ञ कहाजायगा, जो माना नहीं जासकता। क्योंकि व्याकरण ग्रन्थ में उसका यह लेख निराधार एवं अप्रासंगिक होगा। वस्तुतः पतञ्जलि इस सिद्धान्त का आविष्कर्त्ता नहीं है, क्योंकि यह उसका प्रतिपाद्य विषय नहीं। ये विचार मौलिकरूप में उसे दार्शनिक परम्परा से प्राप्त होसकते हैं। अपनी प्रतिभा से उनमें कुछ और योजना कर देना अलग बात है, इससे मौलिक आधार की सत्ता नष्ट नहीं होजाती। यदि पतञ्जलि ने दर्शनशास्त्र का ग्रन्थ लिखते हुए यह सन्दर्भ लिखा होता, तो अवश्य उक्त आशंका के लिये अवकाश था, और इन स्थलों की पूर्वापरता का निश्चय

दुरूह होता, परन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं है। इसलिये पतञ्जलि के लेख का आधार सांख्यसूत्र को मानना युक्तिसंगत है, इसके अतिरिक्त सूत्र और भाष्य सन्दर्भ की समानता पर भी ध्यान देना आवश्यक है। सूत्र में हेतुनिर्देश का जो क्रम है, भाष्यसन्दर्भ में उसीका अनुसरण कियागया है। इसने स्वयं भी योगदर्शन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा, जिसके कतिपय उद्धृत सन्दर्भ मिलते हैं।

आयुर्वेद की उपलभ्यमान चरकसंहिता में भी प्रसंगवश अनुपलब्धि के इन कारणों का निर्देश कियागया है। वहाँ आठ कारणों का उल्लेख है। चरकसंहिता का पाठ इसप्रकार है—

"सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यान् मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः।"

[सूत्रस्थान, ११।८]

इस सन्दर्भ के कुछ पद महाभाष्य के पाठ से और कुछ सांख्यकारिका के पाठ से अधिक समानता रखते हैं। इससे प्रतीत होता है—उक्त दोनों पाठों के आधार पर इस सन्दर्भ की रचना कीगई। चरक का समय, ईसा से पूर्व प्रथम शतक का अन्त अथवा द्वितीय शतक का प्रारम्भ, सम्भावना कियाजाता है, जो अशुद्ध है। सांख्यसप्तति के रचयिता ईश्वरकृष्ण का समय भी इससे पूर्व है[1]। चरकसंहिता के संस्कर्त्ता चरक अपरनाम पतञ्जलि का काल ईश्वरकृष्ण से प्राचीन है। तब चरकसंहिता के पाठ में सांख्यकारिका की छाया का आधार यही सम्भव है, कि चरक के तृतीय संस्करण के अवसर पर दृढबल द्वारा सांख्यकारिका के अनुसार यह पाठ बढ़ा दियागया हो, अन्यथा महाभाष्य के साथ इसका साम्य होना चाहिये था।

सुश्रुतसंहिता और सांख्यसूत्र—

(२२) सुश्रुतसंहिता शारीरस्थान के प्रथमाध्याय में शरीररचना के विचार से कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख है। ये सिद्धान्त सांख्यषडध्यायी के कुछ सूत्रों के आधार पर लिखेगये प्रतीत होते हैं। अभिप्राय है—शरीररचना के आधार का प्रतिपादन करने के लिये सुश्रुतसंहिताकार ने जिन तत्त्वों का उल्लेख किया है, वे सांख्यसिद्धान्त के आधार पर हैं, सम्भवतः सांख्यषडध्यायी के सूत्रों से

---

१. इसी ग्रन्थ के 'सांख्यकारिका के व्याख्याकार' नामक सप्तम अध्याय में माठर का समय, ईसवी शतक का प्रारम्भकाल सम्भावित कियागया है, जो सांख्यकारिका का सर्वप्रथम व्याख्याकार है। उससे पर्याप्त पूर्व ईश्वरकृष्ण का समय युक्तिसंगत तथा उपयुक्त कहाजासकता है। आचार्य शंकर का जन्मकाल ईसा पूर्व ५०९ वर्ष है। ईश्वरकृष्ण शंकर से प्राचीन है।

लियेगये हैं, जैसाकि सुश्रुत के प्रस्तुत प्रकरण के पाठोंसे निश्चित होता है। वहाँ का पाठ इसप्रकार है—

"सर्वभूतानां कारणमकारणं **सत्त्वरजस्तमोलक्षणं**···**अव्यक्तं** नाम। **अव्यक्तान्महानुत्पद्यते** तल्लिङ्ग एव, तल्लिगाच्च **महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार** उत्पद्यते, स तु त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति, तत्र वैकारिकादहङ्कारात् तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव **एकादशेन्द्रियाणि** उत्पद्यन्ते,···भूतादेरपि तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव **पञ्चतन्मात्राणि** उत्पद्यन्ते,···**तेभ्यो भूतानि**···सर्व एवाचेतन एष वर्गः, **पुरुषः पञ्चविंशतितमः**।"

यह पाठ संहिता के तीसरे सूत्र से आठवें सूत्र तक में आजाता है। इस सन्दर्भ में साथ-साथ सांख्यसूत्र के मूलपदों की व्याख्या भी करदीगई है। हमने इस निर्देश में अधिक व्याख्यान अंश को छोड़ दिया है, जितना मूलपदों के साथ सम्बद्ध है, उतना यहाँ लिखा है। इस सन्दर्भ के स्थूलाक्षर पदों की ओर ध्यान दीजिये। उससे स्पष्ट होजायगा, कि इन स्थूलाक्षर पदों को इकट्ठा कर दें, तो हमारे सामने निम्नलिखित आनुपूर्वी का एक सन्दर्भ दृष्टिगोचर होता है—

"सत्त्वरजस्तमोलक्षणमव्यक्तम्, अव्यक्तान्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि, तेभ्यो भूतानि, पुरुषः पञ्चविंशतितमः"

सुश्रुत के उक्त सन्दर्भ को गम्भीरतापूर्वक पढ़ने से यह निश्चित धारणा होती है, कि उस सन्दर्भ में इन संगृहीत पदों को जब हम सांख्यषडध्यायी के १।६१ सूत्र के साथ तुलना करते हैं, तो इनमें एक आश्चर्यजनक समानता दृष्टिगोचर होती है। सूत्र का पाठ इसप्रकार है—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुषः, इति पञ्चविंशतिर्गणः।"

इन दोनों सन्दर्भों में उत्पत्ति के क्रम और पदों की अत्यधिक समानता है। थोड़ा-सा पदों का भेद, अर्थ की दृष्टि से सर्वथा नगण्य है। एक स्थल पर उत्पत्तिक्रम के निर्देश में विपर्यय दीखता है। सूत्र में अहंकार के कार्यों का निर्देश करते हुए प्रथम पञ्चतन्मात्र का और बाद में इन्द्रियों का निर्देश कियागया है। परन्तु सुश्रुत के सन्दर्भ में पहले इन्द्रियों का निर्देश है, और बाद में पञ्चतन्मात्र का। वस्तुतः यह विपरीत निर्देश बहुत महत्त्वपूर्ण है। वास्तविक उत्पत्तिक्रम के अनुसार सात्त्विक अहंकार से, प्रथम इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। अनन्तर तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्र की। क्रम के इस आधार का ध्यान रखते हुए, सूत्रपठित क्रम अवश्य कुछ शिथिल कहाजासकता है। प्रतीत होता है, सूत्रकार ने इसकी उपेक्षा करके, केवल अहंकार के कार्यों का निर्देश किया

है। परन्तु सुश्रुतकार ने क्रम के इस ग्राधार की वास्तविकता को महत्त्व देकर सूत्र के क्रम में यह संशोधन करदिया है। इसीलिये प्रतीत होता है, भूतों की उत्पत्ति का निर्देश करते समय सुश्रुतकार ने 'तेभ्यः' इस सर्वनाम पद का उपयोग किया है, क्योंकि उसके ग्रभिमतपाठ में 'तेभ्यः' इस पद से ग्रव्यवहित पूर्वपठित 'तन्मात्र' हैं, इसलिये सर्वनामपद से उसका परामर्श होने में कोई बाधा नहीं। परन्तु सूत्रकार के ग्रभिमत पाठ में ऐसा होना सम्भव न था। इसलिये सूत्रकार को इस स्थल पर 'तन्मात्रेभ्यः, इसप्रकार साक्षात् 'तन्मात्र' पद का उल्लेख करना पड़ा। इससे यह परिणाम निकलता है, कि पूर्व से विद्यमान सांख्य-सूत्र का सुश्रुतकार ने केवल व्याख्यान ही नहीं किया, प्रत्युत उसमें उपयुक्त संशोधन भी किया है। इस कारण सुश्रुत से पूर्व षडध्यायी की विद्यमानता स्थिर होती है।

१।६१ सूत्र के उक्त क्रम में सुश्रुत ने उपयुक्त संशोधन किया है, इसके लिये एक उपोद्वलक प्रमाण प्रस्तुत है। सुश्रुत से पर्याप्त पूर्व होनेवाले सांख्याचार्य देवल ने ग्रपने[1] ग्रन्थ में उक्त सूत्र का उल्लेख किया है। वहाँ जो पाठ दियागया है, वह सूत्रानुसारी है। ग्रर्थात् उसमें तन्मात्र का पाठ प्रथम है, ग्रौर इन्द्रियों का पीछे। इसलिये ग्रागे भी 'तेभ्यः' न पढ़कर 'तन्मात्रेभ्यः' पाठ दियागया है। इससे सूत्रपाठ की प्राचीनता का निश्चय होता है। तथा इस बात पर प्रकाश पड़ता है, कि सुश्रुत ने इस पाठ में ग्रवश्य संशोधन किया है। इस विपर्यय को साधारण पाठ-भेद नहीं कहाजासकता। इसी प्रकरण के प्रारम्भ में ३ ग्रौर ७ संख्या पर इस सूत्र का निर्देश है। उन उद्धरणों से भी सूत्रानुसारी मूल पाठ की पुष्टि होती है। यद्यपि उन उद्धरणों में इन्द्रियों का निर्देश नहीं है। इसके विपरीत ५ संख्या पर दिये उद्धरण में सुश्रुतानुसारी पाठ को स्वीकार कियागया है। इसप्रकार मध्यकालिक साहित्य में दोनों प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं।

यहाँ यह उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा, कि १।६१ सूत्र में सूत्रकार ने उद्देश मात्र से पदार्थों का निर्देश किया है। परन्तु द्वितीयाध्याय में जहाँ कार्यकारणभाव के ग्राधार पर इनका निर्देश कियागया है, सूत्रकार ने स्वयं 'एकादशपञ्च-तन्मात्रं तत्कार्यम्' इस १७वें सूत्र में इन्द्रियों का प्रथम निर्देश किया है, तन्मात्रों का पश्चात् किया[2] है। इसलिये १।६१ सूत्र का सुश्रुत द्वारा परिवर्त्तन स्वोपज्ञ नहीं कहाजासकता। तत्त्वों के उत्पत्तिक्रम के ग्रनुसार इस सूत्र में इन्द्रिय ग्रौर

---

१. देवल के उस ग्रन्थ का इसी ग्रध्याय में ग्रागे विस्तारपूर्वक निर्देश कियागया है।

२. 'उपमितिभवप्रपंचा कथा' के उद्धरण [संख्या ५ पर इसी प्रकरण में देखें] में भी यही क्रम निर्दिष्ट है।

तन्मात्रों का निर्देश है, इसलिये सुश्रुत निर्दिष्ट क्रम में, साक्षात् सूत्रकार का अपना लेख आधार है। इन स्थितियों में सुश्रुत से पूर्व उक्त सूत्र की स्थिति निश्चित माननी पड़ती है। जिस ग्रन्थ का वह सूत्र है, उसकी तात्कालिक सत्ता से नकार नहीं कियाजासकता।

सुश्रुतकार ने इस प्रकरण में सांख्य के अन्य कई सूत्रों का उल्लेख किया है। चतुर्थ सन्दर्भ के मध्य में मन का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है–'उभयात्मकं मनः'। इसी आनुपूर्वी में यह सांख्यषडध्यायी का २।२६ सूत्र है।

इसी प्रकरण के अष्टम सन्दर्भ में सुश्रुत का पाठ है—

"सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति।"

यह पाठ ३।५९ सांख्यसूत्र के आधार पर लिखागया प्रतीत होता है। सूत्र का पाठ इसप्रकार है—

"अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य।"

सुश्रुत के पाठ में 'उपदिशन्ति' 'उदाहरन्ति' क्रियापद यह स्पष्ट करते हैं, कि इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाले कोई अन्य आचार्य हैं। प्रस्तुत विषय के अनुसार वे, सांख्याचार्यों से अतिरिक्त अन्य कोई नहीं होसकते। इसलिये सांख्यग्रन्थों में इन सिद्धान्तों का उपदेश होना चाहिये। सुश्रुतकाल में 'सांख्यसप्तति' नहीं थी। तत्त्वसमास और पञ्चशिख आदि के उपलभ्यमान सूत्रों में, उक्त पदों के साथ इस अर्थ का प्रतिपादन उपलब्ध नहीं है। यह केवल षडध्यायी में उपलब्ध होता है। इसलिये सुश्रुत से पूर्व षडध्यायी की विद्यमानता अनिवार्य हैं।

नवम सन्दर्भ में सुश्रुत ने पुनः लिखा है—

"एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति।"

प्रकृति के ये धर्म, सांख्यसूत्र १।१२६ के आधार पर बतलाये गये हैं। सूत्र का पाठ है—

"त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः।"

इसप्रकार सुश्रुत के इस प्रकरण में सांख्यषडध्यायी के चार सूत्रों का उल्लेख कियागया है। इनके अतिरिक्त तत्त्वसमास के दो सूत्र इसी प्रकरण के षष्ठ सन्दर्भ में उद्धृत हैं। वे सूत्र हैं—

अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः।"

ये क्रमशः तत्त्वसमास के, प्रथम–द्वितीय सूत्र हैं। यद्यपि इस प्रकरण में सांख्यसिद्धान्तानुसार अन्य भी उल्लेख हैं, परन्तु वे संहिताकार के अपने शब्दों में प्रकट कियेगये हैं। इसलिये हमने उनकी सूत्रों के साथ तुलना करने से उपेक्षा करदी है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता और सांख्यसूत्र—

(२३) पञ्चरात्र सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रन्थ अहिर्बुध्न्यसंहिता में सांख्य का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। प्रसंगानुसार इसका अपेक्षित वर्णन पहले आचुका है। यहाँ कुछ ऐसे स्थलों का निर्देश कियाजाता है, जिनका पद-विन्यास और अर्थ, षडध्यायीसूत्रों के साथ अत्यधिक समानता रखता है। षष्ठ अध्याय के कुछ श्लोक इसप्रकार हैं—

"सत्त्वं रजस्तम इति त्रिधोदेति क्रमेण तत् ॥ ६ ॥
सत्त्वाद्रजस्तमस्तस्मात्तमसो बुद्धिरुद्गता ।
बुद्धेरहंकृतिस्तस्या भूततन्मात्रपञ्चकम् ॥ ३७ ॥
एकादशकमक्षाणां मात्रेभ्यो भूतपञ्चकम् ।
भूतेभ्यो भौतिकं सर्वमित्ययं सृष्टिसंग्रहः ॥१८॥"

इन श्लोकों में सत्त्वरजस्तमस् रूप प्रकृति तथा उसके बुद्धि आदि तेईस कार्यों का निर्देश है। यह वर्णन सांख्यषडध्यायी के १। ६१ सूत्र के साथ पूर्ण समानता रखता है। संख्या (२२) में सुश्रुतसंहिता के एक सन्दर्भ के साथ इसी सूत्र की तुलना करते हुए, प्रकट किया है, कि अहंकार के कार्यों का निर्देश करते समय सुश्रुतसंहिताकार ने सूत्र के क्रम में कुछ विपर्यय अथवा संशोधन किया है। परन्तु यहाँ अहिर्बुध्न्यसंहिता में हम सूत्रानुसारी क्रम को ही पाते हैं।[1] अर्थात् अहंकार कार्यों में सूत्र के अनुसार प्रथम पञ्चतन्मात्र का निर्देश, और बाद में एकादश इन्द्रियों का है। इसीलिये स्थूलभूतों की उत्पत्ति, 'मात्रेभ्यः' पद लिखकर सूत्रपाठ के अनुसार निर्दिष्ट हैं, जबकि सुश्रुतसंहिता में उसके संशोधित पाठ के अनुसर 'तेभ्यः' इस सर्वनाम पद के द्वारा निर्देश है।

इसके अतिरिक्त अहिर्बुध्न्यसंहिता में एक और स्थल पर 'प्रमाण' का निर्वचन सांख्यषडध्यायी में निर्दिष्ट 'प्रमाण' लक्षण के साथ अत्यधिक समानता रखता है। संहिता का पाठ है—

"मितिर्मा गदिता सद्भिः प्रकृष्टा मा प्रमा स्मृता ।
धीसाधकतमं यत्तत् प्रमाणमिति शब्द्यते ॥
[अध्याय १३। श्लोक $\frac{२}{५}$, $\frac{२}{६}$।]

सांख्यषडध्यायी में प्रमाण का लक्षण किया है—

"असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत्······प्रमाणम्।"
[१।८७]

---

१. यद्यपि अहिर्बुध्न्यसंहिता के भी ३०वें अध्याय में, जहाँ उत्पत्ति का वर्णन कियागया है, इन्द्रियों का पाठ प्रथम है, जो सांख्यषडध्यायी २।१७ के अनुसार युक्त है। परन्तु दोनों प्रकार के भूतों की उत्पत्ति को भी वहाँ संहिताकार ने अहंकार से माना है, जो अवश्य चिन्त्य प्रतीत होता है।

प्रमाण का लक्षण इस रूप में अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि प्रमाण के जो लक्षण जहाँ तहाँ कियेगये हैं, उनमें अर्थ तो प्रायः वही होता है, जो यहाँ प्रतिपादन कियागया है, परन्तु पदानुपूर्वी में सर्वत्र यत्किञ्चित् विलक्षणता देखीजाती है। फिर भी उक्त दोनों प्रस्तुत स्थलों में पदानुपूर्वी और अर्थ-प्रदर्शन प्रकार की समानता, यह प्रमाणित करती है, कि इन दोनों में से किसी एक ने, दूसरे का आश्रय लिया है। इस बात को प्रकट कर चुके हैं, कि संहिता में अनेक स्थलों पर सांख्य का उल्लेख कियागया है। इससे यह सिद्ध होता है, कि संहिताकार सांख्य से किसी सीमा तक अवश्य परिचित है। इस-प्रकार के एक और सूत्र का अभी निर्देश कियाजाचुका है। इससे यही परिणाम निकलता है, कि प्रमाण का स्वरूप दिखाने के लिये संहिताकार ने षडध्यायी का आश्रय लिया है। संहिता का 'शब्द्यते' क्रियापद इसका निश्चय करा देता है।

यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है, कि यद्यपि इसको स्वीकार किये जाने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती, कि संहिताकार से पूर्व ही न्यायादि सूत्रों की भी रचना होचुकी थी, परन्तु संहिता में सांख्य-योग के अतिरिक्त अन्य किसी दर्शन का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। प्रतीत होता है—दर्शनसूत्रों की अपेक्षा अर्वाचीन रचना होने पर भी संहिताकार ने अपने प्रतिपाद्य विषय के सामञ्जस्य की भावना से अपने ग्रन्थ में केवल सांख्य-योग का उल्लेख किया। अभिप्राय है, उसे अन्य दर्शनों की अपेक्षा सांख्यसिद्धान्त अभीष्ट थे। इसीलिये उसके अनेक लेख सांख्य के आधार पर हैं, जबकि अनेक आधार षडध्यायी के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। इससे निश्चित होता है, इस संहिता से सांख्यषडध्यायी अवश्य प्राचीन है, और यह, कि संहिताकार, षडध्यायी की प्राचीनता में स्वयं आस्था रखता था।

अहिर्बुध्न्यसंहिता का समय अभी तक निश्चित नहीं कियाजासका। यद्यपि इसे अधिक प्राचीन नहीं कहाजासकता, फिर भी इसका समय विक्रम से पूर्व समीप की शताब्दियों में मानाजाना चाहिये। इसके लिये अभी तक कोई निश्चायक प्रमाण उपस्थित नहीं कियेजासकते।

देवल और सांख्यसूत्र—

(२४) वेदान्त ब्रह्मसूत्र १।४।२८ पर भाष्य करते हुए शंकाचार्य ने सांख्य-सिद्धान्त के विषय में लिखा है—

"देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः।"

इससे स्पष्ट होता है, देवल ने अपने ग्रन्थ में सांख्य-सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। शंकराचार्य की यह साक्षी प्रकट करती है, कि उसने देवल के ग्रन्थ को देखकर ऐसा लिखा होगा। यद्यपि इस समय देवलरचित सम्पूर्ण ग्रन्थ कोई

उपलब्ध नहीं है, परन्तु राजा अपरादित्य ने याज्ञवल्क्य स्मृति की व्याख्या में देवल के ग्रन्थ का कुछ अंश उद्धृत किया है, जो सम्पूर्ण, सांख्य से सम्बन्ध रखता है। राजा अपरादित्य का समय ख्रीस्ट सन् का एकादश शतक मानाजाता है। संभव है, अपरादित्य ने देवल के ग्रन्थ को देखा हो, और उस समय तक वह ग्रन्थ विद्यमान रहा हो। अनन्तर विधर्मियों के आक्रमणों से जहाँ विशाल ग्रन्थ-भण्डारों को भस्मसात् किया गया, उनमें यह ग्रन्थ भी नष्ट होगया हो।

याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याकार अपरादित्य ने प्रायश्चित्त प्रकरण के १०६ वें श्लोक की व्याख्या करते हुए, देवल के ग्रन्थ को उद्धृत किया है। 'तत्र देवलः—' लिखकर वह ग्रन्थ का निर्देश इसप्रकार करता है—

[1] "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं सांख्यम्।...एतौ सांख्ययोगौ चाधिकृत्य यैर्युक्तितः समयतश्च पूर्वप्रणीतानि विशालानि गम्भीराणि तन्त्राणि इह संक्षिप्योद्देशतो वक्ष्यन्ते—

तत्र सांख्यानामेका मूलप्रकृतिः।...षोडश विकाराः। त्रयोदश करणानि।...पञ्च वायुविशेषाः। त्रयो गुणाः। त्रिविधो बन्धः। त्रीणि प्रमाणानि। त्रिविधं दुःखम्। विपर्ययः पञ्चविधः। अशक्तिरष्टाविंशतिधा। तुष्टिर्नवधा, सिद्धिरष्टधा। प्रत्ययभेदाः पञ्चाशत्।...इति दश मूलिकार्थाः। ...प्रकृतेर्महानुत्पद्यते, महतोऽहंकारः, अहंकारात्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च, तन्मात्रेभ्यो विशेषा इत्युत्पत्तिक्रमः।"

इस लेख से प्रतीत होता है, देवल के समय में सांख्यशास्त्र पर गम्भीर, विशाल ग्रन्थ विद्यमान थे, जिनका संक्षेप करके उसने अपने ग्रन्थ में सांख्यशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। उसके संक्षेप से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि जहाँ तक होसका है, उसने उन सिद्धान्तों को मूलग्रन्थ के शब्दों में, रखने का यत्न किया है। जो सूत्र तत्त्वसमास से, उनकी आनुपूर्वी में बिना किसी परिवर्तन के उद्धृत किये प्रतीत होते हैं, वे इसप्रकार हैं—

(१) **षोडश विकाराः।२।**
(२) **दश मूलिकार्थाः।१६।**
(३) **त्रिविधो बन्धः।१६।**
(४) **त्रिविधं दुःखम्।२२।**

---

१. अपरार्का टीका में उद्धृत देवल के सम्पूर्ण ग्रन्थ का यहाँ उल्लेख न कर हमने आवश्यक अंश को लिखा है। सम्पूर्ण उद्धृत ग्रन्थ, अष्टम अध्याय के 'देवल' प्रसंग में देखें।

निम्नलिखित सूत्रों में तत्त्वसमाससूत्रों से कुछ अन्तर है, परन्तु अर्थ सामञ्जस्य पर दृष्टि देने से यह अन्तर सर्वथा नगण्य है। दोनों की तुलना कीजिये—

तत्त्वसमास	देवल
(१) **त्रैगुण्यम्** ।४।	**त्रयो गुणाः ।**
(२) **त्रिविधं प्रमाणम्** ।२१।	**त्रीणि प्रमाणानि ।**
(३) **पञ्च वायवः ।** १०।	**पञ्च वायुविशेषाः ।**

निम्नलिखित सूत्र, जो देवल के सन्दर्भ में उल्लिखित हैं, सांख्यषडध्यायी सूत्रों से अक्षरशः समानता रखते हैं—

(१) **अशक्तिरष्टाविंशतिधा ।** ३।३८।

(२) **तुष्टिर्नवधा ।** ३।३९।

(३) **सिद्धिरष्टधा ।** ३।४०।

तत्त्वसमास में ये सूत्र विपरीत आनुपूर्वी के साथ उपलब्ध होते हैं—

(१) **अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः ।**

(२) **नवधा तुष्टिः ।**

(३) **अष्टधा सिद्धिः ।**

इस आनुपूर्वी में उद्देश्य और विधेय को उलट कर लिखागया है। इसप्रकार यह आनुपूर्वी इस धारणा को अत्यन्त स्पष्ट कर देती है, कि देवल ने इन सूत्रों को सांख्यषडध्यायी से लिया है। देवल के ग्रन्थ में उद्धृत निम्नलिखित सूत्र षडध्यायी सूत्रों के साथ अत्यधिक समानता रखते हैं—

सांख्यषडध्यायी	देवल
(१) **विपर्ययभेदाः पञ्च ।** ३।३७।	**विपर्ययः पञ्चविधः ।**
(२) **करणं त्रयोदशविधम्** ।२।३८।	**त्रयोदश करणानि ।**
(३) **प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्च तन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि** ।१।६१।	**प्रकृतेर्महानुत्पद्यते, ततोऽहंकारः अहंकारात् तन्मात्राणीन्द्रियाणि च तन्मात्रेभ्यो विशेषाः ।**
(४) **अध्यवसायो बुद्धिः** ।२।१३।	**अध्यवसायलक्षणो महान् बुद्धिः ।**
(५) **अभिमानोऽहंकारः** ।२।१६।	**अभिमानलक्षणोऽहंकारः ।**

याज्ञवल्क्य स्मृति पर अपरादित्य की व्याख्या में उद्धृत देवल के सम्पूर्ण सन्दर्भ को यहां निर्दिष्ट नहीं किया, केवल उतना अंश दिखाया है, जो सूत्रों के साथ समानता रखता है। शेष भाग अन्य अनेक सूत्रों के आशय को लेकर लिखा गया प्रतीत होता है। कुछ भाग यहां निर्दिष्ट सूत्रों की व्याख्या मात्र है, इस लिये उसकी तुलना करने में उपेक्षा कर दी है। इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है, देवल के समय सांख्यषडध्यायी ग्रन्थ विद्यमान था।

कुछ विद्वानों का यह विचार होसकता है, कि सांख्यसूत्रकार ने देवल के ग्रन्थ से इन वाक्यों को अपने ग्रन्थ में लेलिया होगा। इसलिये सूत्रों की प्राचीनता में सन्देह रहता है।

इस सम्बन्ध में निवेदन है, देवल ने स्वयं इसको स्वीकार किया है, कि मैं पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के आधार पर सांख्यसिद्धान्तों का कथन कररहा हूँ। उनको मैंने संक्षेप करके उद्देशरूप में लिखदिया है। यह विशेष ध्यान देने की बात है, कि देवल ने जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया है, उसको यहाँ 'तन्त्र' लिखा है, जो 'षष्टितन्त्र' की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। यह प्रथम लिखाजाचुका है, कि सांख्यषडध्यायी का दूसरा नाम 'षष्टितन्त्र' है। ऐसी स्थिति में देवल का सन्दर्भ, अवश्य किसी सांख्यग्रन्थ के आधार पर होना चाहिये।

यह कहना, कि देवल के लेख का आधार अन्य कोई ग्रन्थ रहा होगा, केवल कल्पनामूलक है। जब तक इसके अन्य आधार को उपस्थित न कियाजाय, उक्त विचार स्वीकार नहीं कियाजासकता। भारतीय परम्परा तथा अन्य कारणों से षडध्यायी की कपिल-प्रणीतता को सिद्ध कियाजाचुका है। इसलिये देवल के ग्रन्थ का आधार, षडध्यायी निर्बाध कहीजासकती है। आधुनिक कतिपय विद्वान् ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति को सांख्य का प्राचीन ग्रन्थ कहते हैं। उन्हें देवल के उक्त संदर्भ को आँखें खोलकर देखना चाहिये। वे अपने विचार प्रकट करते समय इस बात को भूल जाते हैं, कि सांख्यसप्तति स्वयं, एक अन्य ग्रन्थ के आधार पर लिखागया है। उसको किस प्रकार सर्वापेक्षया सांख्य का प्राचीन ग्रन्थ माना जासकता है?

देवल के ग्रन्थ का आधार, सांख्यसप्तति को कहना तो सर्वथा उपहासास्पद होगा। सांख्यसप्तति के किसी प्रकार के संकेत तक देवल सन्दर्भों में उपलब्ध नहीं हैं। देवल, ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन आचार्य है। इसके लिये कुछ प्रमाणों का यहाँ उल्लेख करते हैं।

(क) सांख्यसप्तति की ७२वीं आर्या में ईश्वरकृष्ण लिखता है—यह षष्टितन्त्र मुझ तक गुरु-शिष्यपरम्परा द्वारा प्राप्त हुआ। सांख्यसप्तति का व्याख्याकार आचार्य माठर उस गुरु-शिष्यपरम्परा को निम्नरीति पर स्पष्ट करता है।

"कपिलादासुरिणा प्राप्तम्……। ततः पञ्चशिखेन, तस्माद् भार्गवोलूक-वाल्मीकिहारीतदेवलप्रभृतीनागतम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्।"

माठर के इन शब्दों से यह नहीं कहाजासकता, कि ईश्वरकृष्ण का समय देवल के ठीक अनन्तर था। क्योंकि देवल के आगे लगा हुआ 'प्रभृति' पद इस बात को स्पष्ट करता है, कि देवल और ईश्वरकृष्ण के बीच में अनेक सांख्याचार्य होगये हैं, जिनका इस परम्परा में उल्लेख नहीं है। माठर के अनुसार कपिल-आसुरि-पञ्चशिख की अविच्छिन्न परम्परा के अतिरिक्त भार्गव, उलूक,

वाल्मीकि, हारीत और देवल इन पांच सांख्याचार्यों का साक्षात् नाम निर्देश किया है। सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका व्याख्या में जनक, वसिष्ठ, हारीत, बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषमेश्वर (अथवा-ऋषभ, ईश्वर) पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य, कौण्डिन्य और मूक इन बारह तेरह सांख्याचार्यों के नामों का उल्लेख है। इनमें केवल हारीत ऐसा नाम है, जिसका उल्लेख माठर ने भी किया है। सांख्यसप्तति की जयमंगला नामक व्याख्या में गर्ग और गौतम[1] इन दो सांख्याचार्यों का उल्लेख मिलता है। युक्तिदीपिकाकार ने सांख्यमत को स्वीकार करने वाले आचार्यों में नारायण, मनु और द्वैपायन इन तीन नामों का उल्लेख और किया है।

सांख्यकारिका के व्याख्याग्रन्थों के अतिरिक्त, साहित्य में अन्यत्र भी प्रसँगवश अन्य अनेक आचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है। जैगीषव्य, जनक और पराशर का उल्लेख बुद्धचरित [१२।६७] में कियागया है। जनक का नाम युक्तिदीपका में भी है। महाभारत [१२।३२३ ५९-६२] में अनेक सांख्याचार्यों के नामों का उल्लेख है। इससे यह निश्चित सिद्धान्त प्रकट होता है, कि देवल और ईश्वरकृष्ण के मध्य में अन्य अनेक सांख्याचार्यों का होना सर्वथा संभव है। इसलिये ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा देवल की प्राचीनता सुतरां सिद्ध है। ऐसी स्थिति में सांख्यसप्तति को, देवल के ग्रन्थ का आधार मानना सर्वथा असँगत तथा अप्रामाणिक है।

(ख) देवल की प्राचीनता का अन्य प्रबल प्रमाण है—महाभारत में अनेक स्थलों पर उसका उल्लेख, जिससे सांख्य के साथ उसका निश्चित सम्बन्ध प्रकट होता है।

महाभारत आदिपर्व, अध्याय[2] ६७, श्लोक २५ में देवल के पिता का नाम प्रत्यूष ऋषि उपलब्ध होता है।

सभापर्व [४।१६] में, युधिष्ठिर के सभा-प्रवेश के समय अनेक ऋषियों का सभा में उपस्थित होना बताया है। उनमें देवल का उल्लेख है। इस प्रसंग में देवल के साथ 'असित' पद का भी निर्देश है। असित, इसीका नामान्तर अथवा विशेषण के रूप में प्रयुक्त होतारहा है। शान्तिपर्व [२८१।१] में देवल के

---

१. इन सब आचार्यों का उल्लेख हमने प्रसंगानुसार इसी ग्रन्थ के द्वितीय तथा सप्तम अध्याय में भी किया है। कुछ विशेष निर्देश उन स्थलों से मालूम किये जा सकते हैं।

२. अध्याय और श्लोकों के निर्देश हमने, निर्णयसागर प्रैस बम्बई में मुद्रित, तथा टी० आर० कृष्णाचार्य व्यासाचार्य द्वारा सम्पादित, महाभारत के 'कुम्भघोण' संस्करण के आधार पर किये हैं।

साथ असित पद का प्रयोग है। आदिपर्व [१।१२४] में भी इसका उल्लेख है। सभापर्व के इस प्रसंग की वास्तविकता विचारणीय है।

शल्यपर्व [५१।७] में वर्णन है–देवल ने जैगीषव्य के योग-प्रभाव को देखकर गार्हस्थ्यधर्म को छोड़ा, और संन्यासधर्म स्वीकार किया।

शान्तिपर्व अध्याय २३६ में जैगीषव्य ने देवल को जितेन्द्रियता, रागद्वेषराहित्य, मानापमान में समता आदि गुणों का उपदेश किया है, और इससे ब्रह्म की प्राप्ति बताई है।

शान्तिपर्व अध्याय २८१ में नारद-देवल संवाद का निरूपण है। नारद के पूछने पर देवल ने भूतों के उत्पत्ति-प्रलय का वर्णन किया है। उपसंहार में पुण्यपापक्षयार्थ सांख्य[1] ज्ञान का विधान बताया है। इस अध्याय में अन्य अनेक वर्णन सांख्यसिद्धान्तों के अनुसार हैं। इससे सांख्य के साथ देवल का सम्बन्ध निश्चित होता है।

भगवद्गीता (१०।१३) में देवल का उल्लेख है। इन सब प्रमाणों से यह निश्चित होता है, कि देवल, ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन आचार्य था। इसलिये यह असम्भव है, कि देवल अपने ग्रन्थ में ईश्वरकृष्ण को उद्धृत करे या उसको अपने ग्रन्थ का आधार बनाये।

(ग) इसके अतिरिक्त, देवल के उपर्युक्त उद्धरणों में कोई ऐसा लेख नहीं है, जिसकी किसी प्रकार की समानता, ईश्वरकृष्ण के लेख के साथ प्रकट कीजासके। सांख्यषडध्यायीसूत्र तथा तत्त्वसमास के साथ, देवल के उद्धृत सन्दर्भ की समानता का निर्देश, अभी कियाजाचुका है।

इसप्रकार देवल उल्लिखित पूर्वोक्त उद्धरणों से स्पष्ट होजाता है–उसने सांख्यसिद्धान्तों का संक्षेप, सांख्यषडध्यायी और तत्त्वसमास के आधार पर किया है। अन्य भी ग्रन्थ रहे होंगे, जो उसके सामने विद्यमान थे। इनमें से तत्त्वसमास, सांख्यषडध्यायी का विषय-सूचीमात्र है। इसलिये सांख्यषडध्यायी की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है।

अपरादित्य की व्याख्या के अतिरिक्त, देवल का उक्त सन्दर्भ कृत्यकल्पतरु[2] नामक ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड में उपलब्ध होता है। दोनों स्थलों के पाठों में कोई अन्तर नहीं है, इससे देवल के ग्रन्थ की प्रामाणिकता पुष्ट होती है। इस प्रसङ्ग

---

१. "पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते।
तत्क्षये हृदि पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम्॥" [शान्तिपर्व २८१।३८]

२. गायकवाड ओरियण्टल सीरीज़, बड़ौदा से ईसवी सन् १९४५ में प्रकाशित। इस ग्रन्थ का रचयिता भट्ट श्री लक्ष्मीधर है। देवल का प्रस्तुत सन्दर्भ मोक्षकाण्ड के १००–१०१ पृष्ठ पर देखें।

में ऐसा सन्देह नहीं कियाजासकता, कि इन दोनों में से किसी एक ने दूसरे के ग्रन्थ से इस सन्दर्भ को प्रतिलिपि करलिया होगा। क्योंकि दोनों स्थलों पर सन्दर्भ की कुछ न्यूनाधिकता है। एक के द्वारा दूसरे की प्रतिलिपि कीजाने पर ऐसा न होसकता था। इससे अवगत होता है, इन दोनों ग्रन्थकारों ने मूलपाठ से प्रसङ्गानुसार पाठों को इच्छानुरूप उद्धृत किया है। इसी ग्रन्थ के अष्टम अध्याय के देवल प्रसङ्ग में उसके सब सन्दर्भ प्रस्तुत कियेगये हैं।

मैत्र्युपनिषद् और सांख्यसूत्र—

(२५) मैत्र्ययुपनिषद् [६।१०] में पाठ है—**"प्राकृतमन्नं त्रिगुणभेदपरिणामत्वाद् महदाद्यं विशेषान्तं लिंगम्"**

उपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण में प्रकृति-पुरुष के भोग्य-भोक्तृत्व का वर्णन है। उपर्युक्त वाक्य में कहा है–प्रकृति के विकार, पुरुष के अन्न हैं। तीन गुणों [सत्त्व, रजस्, तमस्] के विशेष परिणामों से ही ये विकार अपने स्वरूप का लाभ करते हैं। ये हैं–महत् से लगाकर विशेष पर्यन्त। ये सब पदार्थ पुरुष के भोज्य हैं। इसी प्रसङ्ग को षडध्यायीसूत्रों में इसप्रकार कहा है—

"गुणपरिणामभेदान्नानात्वम्।" [सांख्यदर्शन, २।२७]

इन दोनों की तुलना से स्पष्ट होता है–उपनिषत्कार ने इन सूत्रपदों को लेकर उक्त पंक्ति लिखी है। 'महदाद्यं विशेषान्तं' पद सांख्य में प्रतिपादित पदार्थों के उत्पत्तिक्रम की ओर संकेत कररहे हैं। 'महत् से लेकर विशेष पर्यन्त' यह कथन तभी होसकता है, जब इनका कोई व्यवस्थित क्रम हो। सांख्य में सर्वप्रथम कार्य 'महत्' तथा अन्तिम विकार 'विशेष' अर्थात् स्थूलभूत बताये गये हैं। सांख्य की इस उत्पाद-क्रम की विशिष्ट प्रक्रिया को मस्तिष्क में रखकर उपनिषत्कार उपर्युक्त पंक्ति लिखसका है। उत्पत्ति का यह क्रम सांख्य के [१।६१] सूत्र में निर्दिष्ट है। इस प्रसंग से उपनिषत्कार की अपेक्षा, सांख्य-सूत्रों की स्थिति पूर्वकाल में स्थिर होती है।

'षष्टितन्त्र' और 'सांख्यवृद्धाः' पदों से उद्धृत सांख्यसूत्र—

(२६) इसी ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में यह निर्धारित किया है, कि मूल षष्टितन्त्र का रचयिता कपिल है। उसी मूल षष्टितन्त्र के आधार पर लिखे गये पञ्चशिख, वार्षगण्य आदि के ग्रन्थ इसी नाम से व्यवहृत होते रहे हैं। सांख्यसप्तति की माठर व्याख्या में षष्टितन्त्र के नाम से एक वाक्य उद्धृत मिलता है। गौडपाद ने माठर का अनुकरण करते हुए अपने भाष्य में उस वाक्य को लिखा है। माठर लिखता है—

"अपि चोक्तं षष्टितन्त्रे—पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते।" [कारिका १७]

इसी स्थल पर गौडपाद लिखता है—

"तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे—पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते ।"

हम देखते हैं–इसी अर्थ को प्रतिपादन करने वाला, प्रायः इन्हीं पदों के साथ एक सूत्र षडध्यायी में उपलब्ध होता है । सूत्र है—

"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ।" [सां० सू० १।९६]

सूत्र की रचना और अर्थ के आधार पर प्रतीत होता है–माठर के उक्त उद्धरण का आधार यह सूत्र रहा हो । यद्यपि मूलसूत्र और उद्धृत वाक्य, दोनों का आशय समान है, परन्तु सूत्र में कुछ अधिक अर्थ का कथन है । फिर भी उस आशय को यदि हम प्रकट करें, तो अवश्य उन शब्दों में करसकते हैं, जिनमें माठर ने किया है, और जो सूत्र के साथ कुछ समानता रखते हैं । यह बात उस समय स्पष्ट होजाती है, जब हम सांख्यसूत्रों की अनिरुद्धकृत व्याख्या में, इस सूत्र की अवतरणिका को देखते हैं । अनिरुद्ध लिखता है—

"चेतनाधिष्ठानं विना नाचेतनं प्रवर्त्तते इत्याह—।"

इस अवतरणिका का रचनाक्रम, षष्टितन्त्र के नाम से उद्धृत उपर्युक्त वाक्य के साथ पर्याप्त समानता रखता है । अनिरुद्ध ने अपनी रचना में, अर्थ को प्रबल रूप में प्रकट करने के लिये दो निषेधार्थक पदों ['विना' और 'न'] का अधिक प्रयोग किया है । यदि इन पदों को अप्रयुक्त समझाजाय, तो दोनों वाक्यों की रचना एक होजाती है । माठर के 'पुरुष' और 'प्रधान' पदों की जगह पर अनिरुद्ध 'चेतन' और 'अचेतन' पदों का प्रयोग करता है । यह भेद, भेद नहीं कहाजासकता । यह निश्चय है–अनिरुद्ध ने उक्त पंक्ति, षडध्यायीसूत्र के भावार्थ को लेकर लिखी है । इसीलिये वह आगे 'इत्याह' कहकर उक्त सूत्र का अवतरण कर रहा है । ठीक इसी तरह, प्रतीत होता है–माठर ने षडध्यायी के इसी सूत्र के भावार्थ को लेकर षष्टितन्त्र के नाम से उपर्युक्त पंक्ति लिखी हो । यह निश्चितरूप से कहाजासकता है–अनिरुद्ध की पंक्ति का आधार, माठर का लेख नहीं है । अनिरुद्ध की अपेक्षा माठर के अतिप्राचीन होने पर भी इस बात के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, कि अनिरुद्ध ने अपनी पंक्ति माठर के लेख को देखकर लिखी है । अनिरुद्ध की समस्त रचना में सांख्यसप्तति का कोई संकेत तक नहीं है, माठरवृत्ति उसीकी व्याख्या है । फिर भी दोनों की एक समान रचना, दोनों के किसी एक आधार-स्रोत का अनुमान कराती है; वह स्रोत षडध्यायी का उक्त सूत्र कहाजासकता है ।

संस्कृत साहित्य में प्रायः यह देखाजाता है, कि अनेक आचार्य, दूसरे आचार्यों की उक्तियों के भावार्थ को लेकर अपनी वाक्यरचना को कभी-कभी उन्हींके नाम पर उद्धृत कर देते हैं, जिनकी उक्तियों के भावार्थ को उन्होंने लिया है । प्रतीत यह होता है, कि अन्य ग्रन्थ को उद्धृत करते समय, अनेक

बार वे उस ग्रन्थ को देखकर उद्धरण का उल्लेख नहीं करते, अपितु अपनी स्मृति के आधार पर उन वाक्यों को लिखदेते हैं। विपर्यय से कभी उन वाक्यों में ऐसे पदान्तरों का प्रयोग होजाता है, जो मूलग्रन्थ में नहीं होते। परन्तु वे वाक्य, उद्धृत उन्हींके नाम पर करदियेजाते हैं, जिनके मूलग्रन्थ से उन्हें लिया गया होता है।

प्रस्तुत उद्धरण के सम्बन्ध में यही बात कहीजासकती है। इसप्रकार यह उद्धरण हमको इस निश्चय पर लेजाता है, कि वर्त्तमान षडध्यायी के सूत्रों को षष्टितन्त्र के नाम पर उद्धृत कियाजातारहा है। इसी ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में यह सिद्ध करआये हैं, कि सांख्यषडध्यायी का दूसरा नाम षष्टितन्त्र है, जो सांख्य का मौलिक ग्रन्थ है। यद्यपि पञ्चशिख वार्षगण्य आदि प्राचीन आचार्यों की रचनायें इसी ग्रन्थ के विषयों को आधार बनाकर लिखीगई होने के कारण लोक में षष्टितन्त्र नाम से व्यवहृत होती रहीं।

अब ऐसे उदाहरणों का निर्देश कर देना अनुपयुक्त न होगा, जिनसे यह निश्चित होता है, कि अन्य आचार्यों के वाक्यों को–वाक्य में कुछ परिवर्तन हो-जाने पर भी–उन्हीं आचार्यों के नाम पर उद्धृत कियाजातारहा है, जिनके ग्रन्थ से उस मूलवाक्य को लियागया है। तथा कहीं ग्रन्थ के नाम पर ऐसे वाक्य उद्धृत करदियेगये हैं।

(क) हरिभद्र सूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नकृत 'तर्क-रहस्य दीपिका' नामक व्याख्या में, सांख्यमत प्रदर्शनपरक ४१वें श्लोक की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने लिखा है—

'आह च पतञ्जलिः—शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्नत-दात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते' इति।

हम देखते हैं–पतञ्जलि का कोई पाठ इस आनुपूर्वी में उपलब्ध नहीं है। पातञ्जल योगसूत्रों में एक सूत्र इसप्रकार है।

"द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।" [२।२०]

इस सूत्र का सर्वात्मना आशय गुणरत्न ने अपने ग्रन्थ में प्रकट किया है। प्रतीत होता है, गुणरत्न ने यह आशय निश्चित ही व्यासभाष्य से लेकर लिखा है। क्योंकि इस सूत्र पर भाष्य करते हुए व्यास लिखता है—

"शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नत-दात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते।"

व्यासभाष्य के इस सन्दर्भ में 'असौ' पद के स्थान पर 'पुरुषः पद रखकर और 'प्रत्ययानुपश्यः' इन सूत्र पदों को हटाकर केवल व्याख्याभाग का गुणरत्न ने उल्लेख किया है। यदि यह मानलियाजाय, कि गुणरत्न ने साक्षात् व्यास-भाष्य को उद्धृत किया है, तो भी उसें पतञ्जलि की उक्ति कहना असंगत

होगा । अतः वस्तुस्थिति यही है, कि पतञ्जलि के सूत्र का सर्वात्मना आशय होने के कारण, इसको पतञ्जलि की उक्ति कहदियागया है । क्योंकि इस अर्थ का वास्तविक एवं मौलिक आधार पतञ्जलि का सूत्र है ।

(ख) इसीप्रकार उक्त ग्रन्थ में ४३वें पद्य की व्याख्या करते हुए गुणरत्न पुनः लिखता है—

"ईश्वरकृष्णस्तु—'प्रतिनियताध्यवसायः श्रोत्रादिसमुत्थोऽध्यक्षम्' इति प्राह ।"

हम देखते हैं–ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति में प्रत्यक्ष का लक्षण इस आनुपूर्वी के साथ उपलब्ध नहीं होता । वहाँ केवल 'प्रतिविषयाऽध्यवसायो दृष्टम्' [का० ५] इतना पाठ है । फिर भी यह निश्चित है–गुणरत्न का उक्त लेख, इसी कारिका के आधार पर लिखागया है । इसलिये उसके उद्धरण में असामञ्जस्य की उद्भावना नहीं कीजासकती ।

(ग) इसी ग्रन्थ के न्यायमतप्रदर्शनपरक २४वें पद्य की, व्याख्या करते हुए गुणरत्न लिखता है—

तथा च नैयायिकसूत्रम्–आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफल दुःखापवर्गभेदेन द्वादशविधं तदिति प्रमेयम् ।"

गौतम के न्यायसूत्रों में इस आनुपूर्वी का कोई सूत्र नहीं है । प्रत्युत १।१।९ संख्या पर जो सूत्र उपलब्ध है, उसका पाठ केवल—

"आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्"

इतना है । गुणरत्न के उद्धृत पाठ में कुछ पाठ अधिक है ! फिर भी उसने 'नैयायिकसूत्रम्' कहकर उसको उद्धृत किया है । यह निश्चित है–कि उसका उक्त लेख, इस न्यायसूत्र के आधार पर है ।

(घ) सांख्यसप्तति की ५वीं आर्या की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में लिखा है—

"तथा चावट्यजैगीषव्यसंवादे भगवान् जैगीषव्यो दशमहाकल्पवर्त्तिजन्मस्मरणमात्मन उवाच—'दशसु महाकल्पेषु विपरिवर्त्तमानेन मया—' इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण ।"

वाचस्पति मिश्र के लेख से प्रतीत होता है–आवट्य–जैगीषव्य संवाद में जैगीषव्य ने जो कथन किया है, उसका आदि-भाग 'दशसु महाकल्पेषु विपरिवर्त्तमानेन मया' यह होना चाहिये । क्योंकि वाचस्पति स्वयं 'इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण' लिखरहा है । अतः यह अवश्य किसी ग्रन्थ का सन्दर्भ होना चाहिये, जिसके प्रारम्भिक पद उपर्युक्त हों । सांख्यतत्त्वकौमुदी के इस लेख की व्याख्या करते हुए बालराम उदासीन ने लिखा है—

"केन वचनेनोवाचेत्याकांक्षायां योगभाष्य [पा० ३, सू० १८] स्थित तद्वचनमाह–दशसु महाकल्पेषु–इति ।"

इससे प्रतीत होता है–३।१८ सूत्र पर योगभाष्य में जो आवट्य जैगीषव्य के संवाद का उल्लेख है, वहीं से जैगीषव्य के कथन को वाचस्पति मिश्र ने यहां उद्धृत किया है। परन्तु योगभाष्य के उक्त सन्दर्भ में इस पाठ को वाचस्पति-निर्दिष्ट आनुपूर्वी के अनुसार नहीं पाते। वहाँ पाठ इसप्रकार है—

"दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन"

इन दोनों पाठों में भेद होने पर भी आशय एक है, यद्यपि योगभाष्य में कुछ अधिक अर्थ का प्रतिपादन है। इस सम्बन्ध में यह नहीं कहाजासकता, कि वाचस्पति के लेख का कोई अन्य ग्रन्थसन्दर्भ आधार होगा। क्योंकि इसप्रकार का सन्दर्भ और कोई उपलब्ध नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने अपने लेख में योगभाष्य का नाम नहीं लिया है, परन्तु उसके 'ग्रन्थसन्दर्भ' पद प्रयोग के आधार पर बालराम उदासीन ने उस अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। इसलिये निश्चित है–वाचस्पति के उक्त लेख का आधार योगभाष्य स्थित सन्दर्भ होसकता है।

उद्धरणों के ये कुछ ऐसे उदाहरण उपस्थित कियेगये हैं, जो अपने मूल-ग्रन्थों में उसी आनुपूर्वी के साथ उपलब्ध नहीं होते। फिर भी उन नामों पर वे उद्धरण ठीक हैं, उनमें कोई असामञ्जस्य नहीं समझाजाता। माठर और गौडपाद व्याख्याओं में षष्टितन्त्र नाम से उद्धृत षडध्यायी सूत्र की भी यही स्थिति है। इससे षडध्यायी के षष्टितन्त्र अपर नाम होने पर प्रकाश पड़ता है, और इसकी प्राचीनता को प्रमाणित करता है।

इस बात को अनेक बार लिखाजाचुका है, कि पञ्चशिख आदि के ग्रन्थों के लिये 'षष्टितन्त्र' पद का प्रयोग होता रहा है। प्रस्तुत प्रसंग में यह अधिक संभव है, कि षष्टितन्त्र नाम से उद्धृत उक्त सूत्र, पञ्चशिख के ग्रन्थ का रहाहो, पञ्चशिख का ग्रन्थ, कपिलप्रणीत मूल षष्टितन्त्र का व्याख्यारूप था, इसलिये यह संभव है–षष्टितन्त्रापरनाम षडध्यायी के [१।६६] सूत्र का व्याख्याभूत यह सन्दर्भ पञ्चशिख का हो, जिसको माठर ने अपनी वृत्ति में उद्धृत किया है। पञ्चशिख और अनिरुद्ध दोनों अपने-अपने समय में इस सूत्र के व्याख्याकार हैं। दोनों के समय का अत्यधिक अन्तर होने पर भी व्याख्यान में आश्चर्यजनक समानता है। यदि इस बात को ठीक मानाजाय, कि 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते' यह पञ्चशिख का सन्दर्भ है, और षडध्यायी [१।६६] सूत्र की व्याख्या के रूप में लिखा गया है, तो षडध्यायीसूत्र की प्राचीनता व कपिलप्रणीतता में सन्देह नहीं रह-जाता।

(२७) सांख्यसप्तति की अन्यतम व्याख्या युक्तिदीपिका के १२३ पृष्ठ की ९-१० पंक्तियों में एक लेख इसप्रकार उपलब्ध होता है—

"एवं हि सांख्यवृद्धा आहुः–आहङ्कारिकाणीन्द्रियाण्यर्थं साधयितुमर्हन्ति नान्यथा ।"

इस उद्धृत वाक्य का स्पष्ट अर्थ है, कि इन्द्रियाँ, आहंकारिक होने पर अर्थ को सिद्ध करसकती हैं, भौतिक होने पर नहीं। षडध्यायी में यही अर्थ निम्नलिखत सूत्र से प्रतिपादित कियागया है।

"आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि" [२।२०]

युक्तिदीपिकाकार के लेख से यह स्पष्ट है–उसने उक्त वाक्य को कहीं से उद्धृत किया है। उससे यह भी ध्वनित होता है, कि कदाचित् उसने इस वाक्य को किसी ग्रन्थ से पढ़कर या देखकर उद्धृत न किया हो, प्रत्युत परम्परा के आधार पर इसे जाना हो। यह भी संभव है, कि इसी कारण प्रस्तुत वाक्य के पदविन्यास में कुछ अन्यथा होगया हो, परन्तु अर्थ में कोई भेद नहीं होपाया। ऐसी स्थिति में अधिक संभावना है, कि युक्तिदीपिकाकार के उद्धरण का मूल आधारस्रोत, षडध्यायी का उक्त सूत्र रहा हो।

यद्यपि 'सांख्यवृद्धाः' पद से, कपिल का ग्रहण हो, यह आवश्यक नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में एक उद्धरण इसी पद को लिखकर दिया है।

"यथाहुः सांख्यवृद्धाः—

असत्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसंगिभिः।

असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ॥इति [का० ९]

इसप्रकार के और भी लेख होसकते हैं, जिनका अभी तक हमें ज्ञान नहीं। वाचस्पति के लेख में 'सांख्यवृद्धाः' पद, कपिल के लिये नहीं कहाजासकता। संभव है, यह पद्य किसी अन्य प्राचीन पञ्चशिख अथवा वार्षगण्य आदि आचार्य का हो। परन्तु युक्तिदीपिका के उक्त उद्धरण के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही-जासकती। क्योंकि उसकी रचना, सूत्ररचना से पर्याप्त समानता रखती है। इसलिये उक्त उद्धरण का आधार, सूत्र को मानने में कोई असामञ्जस्य प्रतीत नहीं होता। एक साधारण पद का अनेक आचार्यों के लिये प्रयोग होने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है। भिन्न-भिन्न लिङ्गों के आधार पर, किस जगह किस आचार्य के लिये उस पद का प्रयोग कियागया है, इसका विवेचन कोई भी विवेचक अच्छी तरह करसकता है।

संख्या (२६) में निर्दिष्ट षष्टितन्त्र-सूत्र के लिये पञ्चशिख की रचना होने के विषय में जो विचार प्रस्तुत किया है, वह 'आहङ्कारिकाणीन्द्रियाण्यर्थं साधयितुमर्हन्ति नान्यथा' इस सन्दर्भ के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। सम्भव

है, यह पञ्चशिखसन्दर्भ हो, और षडध्यायी के [२।२०] सूत्र के व्याख्यानरूप में लिखागया हो।

मन निर्देश—

(२८) गौतमकृत न्यायसूत्र [१।१।४] का भाष्य करते हुए वात्स्यायन मुनि ने सुखादि प्रत्यक्ष के प्रसंग में मन को इन्द्रिय बताया है। परन्तु गौतमसूत्रों में मन के इन्द्रिय होने का कहीं उल्लेख नहीं आता, तब मन को इन्द्रिय कैसे मानाजाय ? इस आशंका का उत्तर वात्स्यायन ने दिया है—

"तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति।"

अभिप्राय है—गौतम सूत्रों में यद्यपि मन के इन्द्रिय होने का कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु अन्य शास्त्र में ऐसा उल्लेख पायाजाता है। हमने अपने शास्त्र में उसका प्रतिषेध नहीं किया, इसलिये हमको भी वह अभिमत है। इसप्रकार वात्स्यायन ने अन्य शास्त्र के उल्लेख पर मन को इन्द्रिय स्वीकार कर, सुखादि प्रत्यक्ष के सामञ्जस्य का निरूपण किया है।

विचारणीय है—किस अन्य शास्त्र में मन के इन्द्रिय होने का उल्लेख कियागया है ? हम देखते हैं—वैशेषिक में कोई ऐसा सूत्र नहीं है, जिसमें मन के इन्द्रिय होने का उल्लेख हो। मीमांसा और वेदान्त में भी कोई ऐसा सूत्र नहीं मिलता। पातञ्जल योगसूत्रों में भी कोई ऐसा निर्देश उपलब्ध नहीं होता। तब अन्ततः हमारी दृष्टि सांख्यषडध्यायी सूत्रों की ओर झुकती है, और हम देखते हैं—इस 'तन्त्र' में मन के इन्द्रिय होने का उल्लेख है। यदि वात्स्यायन का निर्देश, सांख्य की दृष्टि से कियागया मानलियाजाय, तो वात्स्यायन का, सांख्य के लिये 'तन्त्र' पद का प्रयोग विशेष महत्त्व रखता है। इस बात को प्रथम सिद्ध कियाजाचुका है, कि सांख्यषडध्यायी का दूसरा नाम षष्टितन्त्र है, और इसके अन्तिम आधे 'तन्त्र' पद से इसका व्यवहार होसकता है।

सांख्यषडध्यायी के द्वितीयाध्याय के १७ और १८वें सूत्रों में अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति का निर्देश है। अनन्तर १९वें सूत्र में उन इन्द्रियों की गणना कीगई है। सूत्र इसप्रकार है—

"कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्।"

पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ एक आन्तर [मन] इन्द्रिय को जोड़कर ग्यारह[1] इन्द्रियाँ होजाती हैं। २६वें सूत्र में पुनः उभयप्रकार की

---

१. सांख्य में इन्द्रियाँ ग्यारह मानीगई हैं, और करण तेरह। तात्पर्य है—बुद्धि और अहंकार को अन्तःकरण मानने पर भी इन्द्रिय संज्ञा नहीं दीगई। इसका विवेचन इसप्रकार है—तेरह करणों के दो भेद—बाह्यकरण और अन्तःकरण। बाह्यकरण दश—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय। अन्तःकरण

इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध होने के कारण मन को उभयात्मक इन्द्रिय माना है। इसके अतिरिक्त सांख्यषडध्यायी के ५।६९ सूत्र में भी इस अर्थ का स्पष्ट उल्लेख है। इसप्रकार सांख्यषडध्यायी ऐसा शास्त्र है, जिसमें मन के इन्द्रिय होने का साक्षात् उल्लेख मिलता है। फलतः उसीके आधार पर वात्स्यायन के उक्त लेख को समञ्जस कहाजासकता है। यद्यपि ईश्वरकृष्ण की २६, २७ कारिकाओं में इस अर्थ का उल्लेख है, परन्तु उससे पूर्ववर्ती वात्स्यायन उसका निर्देश नहीं करसकता। फिर गौतम के अभिप्राय के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ना तो सर्वथा असम्भव है। इस रीति पर वात्स्यायन और गौतम से भी पूर्व इन सूत्रों की स्थिति स्पष्ट होती है।

इस अध्याय में हमने षडध्यायी के अनेक सूत्रों के उद्धरण, संस्कृत साहित्य से चुन कर दिखलाये हैं। उनमें से सब सायणाचार्य से प्राचीन अथवा कुछ उसके समकालिक हैं, और अनेक वाचस्पति मिश्र तथा शंकराचार्य से भी प्राचीन हैं, और कुछ तो ईश्वरकृष्ण से भी प्राचीन हैं। ऐसी स्थिति में षडध्यायी सूत्रों की रचना, सायणाचार्य के अनन्तर मानना सर्वथा असंगत एवं अप्रामाणिक है। उन सब उद्धृत सूत्रों की एक सूची यहाँ दे देना उपयुक्त होगा।

(१) सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। [१,[1] ४, १०, ११, १२, १३, १८]

(२) अणुपरिमाणं तत् [मनः]। [२]

(३) प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि। [३]

(४) सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्च तन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियम्, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुषः। [५, ७, २३, २४]

तीन—मन-अहंकार-बुद्धि। इन्द्रियरूप में जब हम इनका विवेचन करेंगे, तब दश बाह्य इन्द्रिय, एक आन्तरिन्द्रिय। इसप्रकार इन्द्रिय ग्यारह हैं। बुद्धि और अहंकार इन्द्रिय नहीं। केवल करण हैं। 'इन्द्रिय' संज्ञा या नामकरण का मुख्य प्रवृत्तिनिमित्त-विषय के साथ करण का सीधा [साक्षात्-परम्परा से नहीं] सम्बन्ध होना है। जिस करण का अपने विषय के साथ सीधा सम्बन्ध होता है, किसी अन्य के द्वारा नहीं; उस करण की संज्ञा 'इन्द्रिय' मानीगई है। स्मरण एवं मानस प्रत्यक्ष आदि में मन का सीधा सम्बन्ध अपने विषय के साथ रहता है। अहंकार और बुद्धि अन्य करण के द्वारा ही किसी ज्ञान में साधन होते हैं, साक्षात् नहीं; अतः उनकी गणना 'इन्द्रिय' वर्ग में नहीं होती।

१. सूत्रों के आगे जो संख्या दीगई हैं, ये वे हैं, जिन संख्याओं पर इस प्रकरण में इन सूत्रों को उद्धृत कियागया है। इन सूत्रों तथा इनके उद्धरण स्थलों का निर्देश वहीं पर देखना चाहिये।

(५) सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः । [८, २१]
(६) कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः । [८]
(७) नासदुत्पादो नृश्रृंगवत् । [९]
(८) सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च । [१४]
(९) उपादाननियमात् । [१९]
(१०) परिमाणात् [२०]
(११) समन्वयात् । [२०]
(१२) विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य । [२१]
(१३) सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुषः, इति पञ्चविंशतिर्गणः । [२२]
(१४) अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य । [२२]
(१५) त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः [२२]
(१६) असन्निकृष्टार्थपरिच्छितिः प्रमा, तत्साधकतमं यत्तत्···प्रमाणम् । [२३]
(१७) अशक्तिरष्टाविंशतिधा । [२४]
(१८) तुष्टिर्नवधा । [२४]
(१९) सिद्धिरष्टधा । [२४]
(२०) विपर्ययभेदाः पञ्च । [२४]
(२१) करणं त्रयोदशविधम् । [२४]
(२२) अध्यवसायो बुद्धिः । [२४]
(२३) अभिमानोऽहंकारः । [२४]
(२४) गुणपरिणामभेदान्नानात्वम् । [२५]
(२५) तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् । [२६]
(२६) आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि । [२७]

तत्त्वसमास सूत्रों में से जो सूत्र हमें संस्कृत साहित्य में उद्धृत हुए उपलब्ध हुए हैं, उनकी सूची निम्नलिखित है—

(१) पञ्चपर्वा अविद्या । [६]
(२) अष्टौ प्रकृतयः । (१५, १६, २२]
(३) षोडश विकाराः [१५, १६, २२, २४]
(४) पुरुषः । [१६]
(५) पञ्च वायवः । [१६, २४]
(६) त्रैगुण्यम् । [१६, २४]
(७) सञ्चरः । [१६]

(८) प्रतिसञ्चरः । [१६]
(९) दश मूलिकार्थाः । [२४]
(१०) त्रिविधो बन्धः । [२४]
(११) त्रिविधं दुःखम् । [२४]
(१२) त्रिविधं प्रमाणम् । [२४]
(१३) पञ्च कर्मयोनयः । [१७]

इतनी सूची से यह न समझलेना चाहिये, कि इनके अतिरिक्त और कोई उद्धृत सूत्र न रहा होगा । विशाल साहित्य है, हमें जो कुछ मालूम होसका, यहाँ निर्देश करदिया है । अधिक परिश्रम करने पर और उद्धृत सूत्रों का पता लगायाजासकता है । परन्तु प्रकृत अर्थ [—षडध्यायी की प्राचीनता] को सिद्ध करने के लिये इतने उद्धरण भी पर्याप्त हैं ।

◆◆

पञ्चम अध्याय

सांख्यषडध्यायी की रचना

द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में निर्दिष्ट तीन आक्षेपों में से दो का समाधान विस्तारपूर्वक पिछले तीन अध्यायों में करदियागया। यह भी सिद्ध कियागया, कि वर्त्तमान सांख्यसूत्रों की रचना सांख्यसप्तति से बहुत पूर्व होचुकी थी। अब तीसरे आक्षेप का समाधान इस अध्याय में कियाजायगा। उसके लिये प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि क्या इन सम्पूर्ण सूत्रों को कपिल की रचना मानाजासकता है ? यदि हां, तो इन सूत्रों में, कपिल के अनन्तर होने वाले अनेक आचार्यों के मत, उनके अपने शास्त्रों के पारिभाषिक पदप्रयोग, तथा उनके खण्डन मण्डन का प्रतिपादन कैसे होसकता है ? यह अत्यन्त स्पष्ट है, कि सहस्रों वर्ष अनन्तर होनेवाले आचार्यों, उनके शास्त्रों और सिद्धान्तों का ज्ञान, प्रथम ही कपिल को होजाय, कदापि स्वीकार नहीं कियाजासकता, इसलिये यदि यह मानलियाजाय, कि इन सूत्रों में अनेक सूत्र ऐसे हैं, जिनको कपिल-प्रणीत नहीं कहाजासकता, वे अनन्तर काल में किन्हीं आचार्यों ने बीच में मिला दिये हैं, तो इस मान्यता के लिये भी प्रमाण की आवश्यकता होगी। यह विवेचन करना कठिन है, कि कौन-से सूत्र कपिलप्रणीत हैं, और कौन-से नहीं। इसलिये आवश्यक होजाता है, कि सूत्रों की रचना के सम्बन्ध में सूक्ष्म दृष्टि से विचार कियाजाय।

अप्पाशर्मा राशिवडेकर विद्यावाचस्पति के, सांख्यसूत्रों की प्राचीनता और कपिल-प्रणीतता सम्बन्धी विचार—

इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिये आधुनिक अनेक विद्वानों ने प्रयत्न किया है, परन्तु वे कहाँ तक सफल होसके, यह विचारणीय है। इनके लेखों को विद्वानों के सन्मुख उपस्थित कर देना उचित है। इसके सम्बन्ध में एक विस्तृत लेख, कोल्हापुर से प्रकाशित 'संस्कृतचन्द्रिका' नामक संस्कृत मासिक पत्रिका [१८२६ शाकाब्द के आश्विन मास के अङ्क] में दृष्टिगोचर हुआ। इसके लेखक हैं—अप्पाशर्मा राशिवडेकर विद्यावाचस्पति। लेख का शीर्षक है—'केन प्रणीतानि सांख्यसूत्राणि' अर्थात् 'सांख्यसूत्रों को किसने बनाया ?' इस लेख में लेखक

महोदय ने अनेक पूर्वपक्षों की कल्पना करके उनका समाधान करते हुए यह सिद्ध करने का यत्न किया है, कि ये षडध्यायी सांख्यसूत्र महर्षि कपिल के बनाये हुए हैं।

आपने सूत्ररचना के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष उपस्थित करते हुए लिखा है—"यद्यपि[1] अनेक प्राचीन वाक्यों से प्रमाणित होता है, कि ये सांख्यसूत्र कपिल के बनाये हुए हैं, फिर भी युक्तिविरुद्ध होने से यह बात मानी नहीं जासकती। क्योंकि श्रुति में कपिल को आदिविद्वान् कहा है। पाश्चात्य विद्वान् भी कपिल को प्रथम दार्शनिक स्वीकार करते हैं। इसलिये कपिल का सबसे प्राचीन होना

---

१. यह लेख संस्कृत में है, हमने उसका हिन्दी अनुवाद करके मूल में लिखा है। तुलना के लिये हम वह लेख अविकलरूप में यहाँ उद्धृत करते हैं—

"यद्यपि 'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यसूत्रप्रवर्त्तकः' इत्यादीनि विद्यन्त एव भूयांसि वचनानि श्रीमतः कपिलमुनेः सांख्यसूत्रप्रणेतृत्वे प्रमाणभूतानि, तथापि न तावद्भिः सांख्यसूत्राणां कपिलप्रणीतत्वं स्वीकर्त्तुं शक्यम्, युक्तिविरुद्धत्वात्। तथाहि—श्रूयते किल कपिलस्यादिविद्वत्वं वेदेषु—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानं च पश्येत्' इति। पाश्चात्या अप्यस्यादिदार्शनिकत्वमङ्गीकुर्वन्ति। आदिविद्वत्वाच्चास्य सर्वेभ्योऽपि प्राचीनत्वमर्थादुक्तं भवति। यश्च प्राचीनो नासावर्वाचीनानां मतान्यात्मना विरचिते प्रबन्धे निबद्धुं प्रभवेत्। यदि च निबध्नीयान्नासौ प्राचीनः किन्तु येषां मतान्यनेनोपनिबध्यन्ते ततोऽर्वाचीन एव स्यात्। एवं यदि महामुनिरादिविद्वान् कपिल एव सांख्यसूत्राणि प्राणेष्यन्नासौ स्वस्मात् परभाविनां षट्षोडशादिपदार्थवादिनां मतान्यात्मनः प्रबन्ध उपन्यभन्त्स्यत्। निबद्धानि पुनरेवंविधानि मतानि खण्डनीयतया सांख्यसूत्रेषु। यथा—

न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्। षोडशादिष्वप्येवम्।
न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः। नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः।
इत्यादिषु।

परभाविनश्च भगवतः कपिलात् षट्पदार्थवादिन इति नैतानि सांख्यसूत्राणि भगवता कपिलेन प्रणीतानि, किन्तु कणादादिभ्यः पराचीनेनैव केनापि इत्यवश्यमभ्युपेतव्यम्।

अथोच्यते वेदेषु सर्वेषामपि दर्शनानां बीजभूततयावस्थानेन न खलु तदनुवादस्यासम्भवविषयत्वमिति नानेन सांख्यसूत्राणां कपिलप्रणीतत्वं व्याहन्यत इति। तथापि न गतिः, सूत्रेषु ह्यमीषु दर्शनान्तराणामिव बौद्धादीनामपि मतान्यनूदितानि दृश्यन्ते। दृश्यते च श्रीशंकराचार्यमतखण्डनेऽपि प्रवृत्तिरेतेषाम्। ततश्चानुमीयते—श्रीशंकराचार्यतोऽप्यर्वाचीनेनैव केनापि संग्रथितानि सांख्यसूत्राणीति।"

स्पष्ट है, एक प्राचीन आचार्य अपने से अर्वाचीन आचार्यों के मतों को स्वरचित ग्रन्थ में किस प्रकार अन्तर्निविष्ट करसकता है ? यदि करता है, तो यह प्राचीन नहीं, किन्तु जिन आचार्यों के मतों को अपने ग्रन्थ में उपनिबद्ध करता है, उनसे यह अर्वाचीन ही होना चाहिये । इसप्रकार यदि आदिविद्वान् कपिल ही इन सूत्रों का प्रणेता होता, तो अपने से बाद में होनेवाले छह और सोलह आदि पदार्थ माननेवालों के मतों को अपने बनाये ग्रन्थ में किसप्रकार उपनिबद्ध करता ? परन्तु इन सांख्यसूत्रों में खण्डन के लिये इसप्रकार के मत उपनिबद्ध हुए दीखते हैं—

न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात् । षोडशादिष्वप्येवम् ।

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः । नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः । इत्यादि

ये समवाय या छह पदार्थ आदि माननेवाले गौतम आदि नैयायिक, भगवान् कपिल के बहुत बाद हुए हैं, इसलिये ये सांख्यसूत्र कपिलप्रणीत नहीं कहेजासकते । किन्तु कणाद आदि के बाद होनेवाले किसी आचार्य ने इन्हें बनाया है । यदि कहाजाय, सब दर्शनों के विचार वेद में बीजरूप से अवस्थित होने के कारण कपिल द्वारा उनका कथन करना असम्भव नहीं है; तो यह कहना भी उपयुक्त न होगा; क्योंकि इसके अतिरिक्त षडध्यायी सूत्रों में बौद्ध आदि अवैदिक दर्शनों के मत भी अनूदित देखे जाते हैं, इसलिये यह नहीं कहाजासकता, कि वेदमूलक दार्शनिक मतों को कपिल ने वेद से लेकर अनुवाद कर दिया है । शंकराचार्य के मत का खण्डन करने में भी इन सूत्रों की प्रवृत्ति देखी जाती है । इसलिये इन सब बातों से यही अनुमान दृढ़ होता है, कि शंकराचार्य से भी अर्वाचीन किसी आचार्य ने इन सूत्रों का ग्रथन किया है । ये सांख्यसूत्र कपिलप्रणीत नहीं कहेजासकते ।"

इस पूर्वपक्ष को उपस्थित कर लेखक महोदय ने इसका समाधान इसप्रकार प्रारम्भ किया है—"इन[1] ऊर्ध्वरेता मुनियों को एक अलौकिक प्रत्यक्ष होता है,

---

१. "अलौकिकं च प्रत्यक्षमूर्ध्वरेतसां मुनीनामेतेषां यस्य किल भूतं भवद् भावि च वस्तु विषयतामुपयाति । अत एव चामीभिरुपनिबध्यन्ते तेषां तेषां मतान्यात्मना संग्रथितेषु सूत्रेषु । अतएव च वेदान्तदर्शने जैमिनेरिव 'स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः' (३।४।४४), 'चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः' (३।१।६), 'चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः' (४।४।६) इत्येवं तेषां तेषां मुनीनां मतानि संगृह्यन्ते । जैमिनिरपि मीमांसादर्शने 'कालाभ्यासेऽपि बादरिः कर्मभेदात्' (८।३।६) 'क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत्कार्ष्णाजिनिः'(४।३।१७) इत्यादिसूत्रैर्भगवतो व्यासस्य कार्ष्णाजिनिप्रभृतीनां च मतं संजग्राह । भक्तिमीमांसायां च भगवान् शाण्डिल्यः 'तामैश्वर्यपरां काश्यपः परार्थत्वात्, (२६), 'नाम्नेति जैमिनिः सम्भवात्' (६१) 'फलमस्माद् बादरायणो दृष्टत्वात्' (६१) इति काश्यपादीनां मतानि प्रदर्शयामासेति । एवमन्यदप्यूह्यम् ।

जिसके कारण ये भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान की प्रत्येक वस्तु को दृष्टिगोचर करसकते हैं। इसीलिये इन मुनियों ने स्वरचित सूत्रों में उन उन आचार्यों के, विभिन्न मतों का कथन किया है। इसीलिये वेदान्तदर्शन में जैमिनि के समान कार्ष्णाजिनि (३।१।९), आत्रेय (३।४।४४) औडुलोमि (४।४६), आदि मुनियों के मतों का संग्रह कियागया है। जैमिनि ने भी मीमांसादर्शन में भगवान् व्यास (८।३।१७) और कार्ष्णाजिनि (४।३।१७) प्रभृति आचार्यों के मतों का संग्रह किया है। इसीप्रकार भक्तिमीमांसा में भगवान् शाण्डिल्य ने काश्यप (२९), जैमिनि (६१), और बादरायण (९१) आदि आचार्यों के मतों को दिखलाया है। इसप्रकार और भी ऊहा कर लेनी चाहिये।

इसी रीति पर मुनियों के अलौकिक प्रत्यक्षशाली होने से दर्शन आदि में बौद्ध आदि मतों का उपन्यास और उनका खण्डन देखाजाता है। जैसे न्यायदर्शन में शरीरात्मवादी चार्वाक के मत का खण्डन (३।१।४), और क्षणिकविज्ञानवादी बौद्धमत का उपन्यास (३।२।११) देखाजाता है। इसीप्रकार वेदान्तसूत्रों (२।२। २८ आदि) में विज्ञानवादी बौद्धमत का खण्डन उपलब्ध होता है। पुराणों में भी बौद्धमत के बोधक वाक्य दीखते हैं। विष्णुपुराण के तृतीय अंश का अट्ठारहवां अध्याय इसमें प्रमाण है। वाल्मीकि रामायण और महाभारत में भी बौद्ध आदि

अलोकिकप्रत्यक्षशालित्वादेव मुनीनां दर्शनादिषु बौद्धादिमताना-मुपन्यासस्तत्खण्डनञ्चोपलभ्यते। यथा न्यायदर्शने 'शरीरदाहे पातकाभावात्' (३।१।४) इत्यादिभिः सूत्रैः शरीरात्मवादिनश्चार्वाकस्य मतं खण्ड्यते। 'स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः' (३।२।११) इति क्षणिकविज्ञानवादिबौद्धमतमुपन्यस्यते। एवं 'नाभाव उपलब्धेः' (२।२।२८) इत्यादिषु व्याससूत्रेष्वपि विज्ञानवादिबौद्धमतखण्डनमुपलभ्यते। पुराणेष्वपि तावत् प्रत्यक्षीभवन्ति बौद्धमतावबोधकानि बचनानि। संदृश्यतां चात्रार्थे प्रमाणमिति विष्णुपुराणस्य तृतीयांशगतोऽष्टादशोऽध्यायः। रामायणेऽपि वाल्मीकीये श्रीमति च महाभारते बौद्धादिनामान्युपलभ्यन्ते। तत् किमङ्ग श्रीमद्द्वैपायनादिभ्योऽपि प्राचीनत्वमेवाभ्युपेयतां बौद्धादीनामुताहो अलौकिक-प्रत्यक्षशालित्वमेव मुनीनामिति स्वयमेव तावद् विचार्य विनिगद्यतामायुष्मता। यदि तु व्यासादीनां तथाविधप्रत्यक्षशालित्वमभ्युपगम्यते तदा किमपराद्धं श्रीमता कपिलेन, येन तस्यैव सूत्रैषु बौद्धादिमतोपन्यासो न सह्यते। तदुपनि-बन्धनाच्च साध्यतेऽर्वाचीनत्वमेतत्सूत्राणाम्। तदवश्यमङ्गीक्रियतां प्राचीन-तमेनालौकिकप्रत्यक्षशालिनैव महर्षिणा कपिलेन प्रणीतानि सम्प्रति संदृश्यमा-नानि सांख्यसूत्राणीति, नात्र बौद्धादिमतोपन्यासो न सम्भवतीति। नापि चायमेतेषामर्वाचीनत्वसाधनायालमिति।"

के नाम उपलब्ध होते हैं। तो क्या बौद्ध आदि को द्वैपायन आदि से प्राचीन मानना चाहिये ? अथवा मुनियों की अलौकिक प्रत्यक्षशालिता को इसका कारण मानना चाहिये। इसका निर्णय विद्वान् स्वयं करें। इस रीति पर यदि व्यास आदि ऋषियों को अलौकिक प्रत्यक्ष होजाने का सामर्थ्य स्वीकार कियाजाता है, तो फिर महर्षि कपिल ने ही क्या अपराध किया, जो उसके सूत्रों में बौद्ध आदि मतों के उपन्यास को सहन नहीं करते, और उसीके कारण सूत्रों की अर्वाचीनता को सिद्ध करते हो। इसलिये अत्यन्त प्राचीन अलौकिक प्रत्यक्षशाली महर्षि कपिल ने इन विद्यमान सांख्यसूत्रों की रचना की है, यह सिद्धान्त अवश्य स्वीकार करना चाहिये। ऐसी अवस्था में बौद्ध आदि मतों का उपन्यास सांख्यसूत्रों में सम्भव होसकता है, और इससे सूत्रों की अर्वाचीनता भी सिद्ध नहीं कीजासकती।"

अप्पाशर्मा के विचारों की अमान्यता—

लेखक महोदय के इस समाधान का सारांश केवल इतना है, कि प्रचीन मुनिजन त्रिकालदर्शी थे, इसीलिये वे अपने से हजारों वर्ष बाद होनेवाले आचार्यों के सिद्धान्तों का उल्लेख उन्हींके शब्दों द्वारा अपने ग्रन्थों में करसके। हमारे विचार में यह समाधान नितान्त हास्यास्पद है। आज इस बात को कोई स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं। यदि उस समय का कोई मुनि आज के रेडियो और एँटॉमिक बम आदि के आधुनिक रूप में आविष्कार के विषय में कोई ग्रन्थ लिखजाता, तो पण्डित जी के समाधान का कुछ महत्त्व समझाजासकता था।

आपने मीमांसा और वेदान्तदर्शन में कुछ आचार्यों के नामों का उल्लेख बताया है। इसमें सन्देह नहीं, कि वेदान्त और मीमांसा के कर्त्ता व्यास और जैमिनि समकालिक थे, व्यास के प्रधान शिष्यों में जैमिनि का नाम आता है[1],

---

१. ब्रह्मणो ब्राह्मणानाञ्च तथानुग्रहकांक्षया।
विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः॥
वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम्॥
[म० भा०, आदिपर्व, अ० ६४। श्लो० १३०, १३१]
विविक्ते पर्वततटे पाराशर्यो महातपाः।
वेदानध्यापयामास व्यासः शिष्यान् महातपाः॥
सुमन्तुं च महाभागं वैशम्पायनमेव च।
जैमिनिं च महाप्राज्ञं पैलं चापि तपस्विनम्॥
[म० भा०, शान्ति०, अ० ३३५। श्लो० २६, २७।]

पण्डित जी ने अपने लेख में इस बात को माना है । अन्य विद्वान् भी इससे पूर्ण सहमत हैं । ऐसी अवस्था में गुरु अपने ग्रन्थ में शिष्य के सिद्धान्त को और शिष्य अपने ग्रन्थ में गुरु के सिद्धान्त को स्थान दे सकता है; इसलिये मीमांसा में व्यास का उल्लेख और वेदान्त में जैमिनि का उल्लेख किसी विशेष सिद्धान्त का निर्णय नहीं करता । परन्तु कार्ष्णाजिनि, औडुलोमि और आत्रेय आदि आचार्यों का उल्लेख वेदान्त और मीमांसा में होने पर आपने इनको व्यास और जैमिनि से पश्चाद्भावी कैसे मानलिया ? इस नामोल्लेख से तो यही स्पष्ट होता है, कि ये आचार्य, व्यास और जैमिनि से प्राचीन थे, या उनके समकालिक थे । इसलिये इन आचार्यों का वेदान्त या मीमांसा में नामोल्लेख व्यास या जैमिनि की अलौकिक प्रत्यक्षशालिता का प्रमाण नहीं होसकता । यही बात शाण्डिल्यप्रणीत 'भक्तिमीमांसा' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित आचार्यों के सम्बन्ध में जानलेनी चाहिये । भक्तिमीमांसा में उल्लिखित आचार्य, शाण्डिल्य के प्राग्वर्त्ती होसकते हैं, पश्चाद्वर्त्ती नहीं ।

न्याय, वेदान्त सूत्रों में साक्षात् बौद्ध आदि मतों का खण्डन नहीं—

एक और महत्त्वपूर्ण बात पण्डितजी ने अपने समाधान में कही है । आपका विचार है–गौतम के न्यायसूत्र और व्यास के वेदान्त सूत्रों में बौद्ध आदि मतों का उपन्यास तथा खण्डन कियागया है । इस सम्बन्ध में एक विचार प्रस्तुत है– यद्यपि यह अभीतक सर्वांश में निर्विवाद सिद्ध नहीं होसका है, कि न्यायसूत्रप्रणेता गौतम का समय क्या है ? क्योंकि यहाँ इसका निर्णय करना उत्प्रकरण होगा, इसलिये यही मानलेते हैं, कि गौतम का समय बुद्ध से पूर्व है[1]; और ब्रह्मसूत्र-प्रणेता व्यास का समय निश्चित ही बुद्ध से पूर्व है, फिर भी यह प्रतिपादन करना कठिन है, कि इन सूत्रों में बौद्ध आदि मतों का उपन्यास या खण्डन कियागया है । क्योंकि गौतम आदि की अलौकिक प्रत्यक्षशालिता का उस समय तक निर्णय नहीं होसकता, जबतक यह सिद्ध न कर दियाजाय, कि गौतम आदि ने अपने पश्चाद्भावी बौद्ध आदि मतों का उपन्यास या खण्डन अपने सूत्रों में किया है । इस अर्थ को सिद्ध करने के लिये पण्डितजी ने जिन सूत्रों का पीछे उल्लेख किया है, उनमें कोई ऐसा लिंग नहीं है, जिससे यह प्रतीत हो, कि गौतम, बौद्ध आदि का साक्षात् खण्डन कररहा है । उदाहरण के लिये एक सूत्र लीजिये—

'शरीरदाहे पातकाभावात् ।' ३ । १।४ ।

इस प्रकरण में सिद्ध कियागया है–आत्मा, इन्द्रिय शरीर और मन से पृथक्

---

१. गौतम के समय का यथासम्भव निर्णय इस ग्रन्थ के परिशिष्टरूप 'उपसंहार' नामक प्रकरण में कियागया है ।

है। इससे पहले तीन सूत्रों में इन्द्रियों से आत्मा का भेद कियागया; अर्थात् इन्द्रियाँ आत्मा नहीं होसकतीं। अनन्तर इन तीन सूत्रों (४–६) में शरीर से आत्मा का भेद सिद्ध कियागया है। क्या गौतम इस बात को ध्यान में रखकर इन सूत्रों की रचना कररहा है, कि मैं बाद में होनेवाले चार्वाक के मत का खण्डन कररहा हूँ? हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं। इन सूत्रों में कोई ऐसा पद नहीं, कोई ऐसी रचना नहीं, जो इन सूत्रों के साथ चार्वाक का सम्बन्ध प्रकट करसके।

यह एक साधारण बात है–जब कोई दार्शनिक किसी वस्तु के स्वरूप का निर्णय करने के लिये उपस्थित होता है, तब उसके हृदय में उस वस्तु के अनुकूल या प्रतिकूल भावों का उदय होना स्वाभाविक है, अनुकूल भावों का संग्रह और प्रतिकूल भावों का प्रत्याख्यान करने से उस वस्तु के निर्दोष स्वरूप का निर्णय होसकता है। आत्मस्वरूप का निर्णय करने के लिये प्रवृत्त हुआ गौतम इस बात को देखता है, कि लोक में इन्द्रियाश्रय, शरीराश्रय और अन्तःकरणाश्रय व्यवहार ऐसे होते हैं, जो आत्मस्वरूप के निर्णय में–सन्देहजनक होने से–बाधक हैं। इसीलिये गौतम ने आत्मा को इनसे भिन्न सिद्ध करने के लिये इन तीन प्रकरणों की रचना की। जैसे आत्मा को मन और इन्द्रियों से अतिरिक्त सिद्ध करते समय गौतम यह नहीं सोचता, कि इस मत (इन्द्रियात्मवाद) को और कोई मानता है या नहीं? ठीक इसीप्रकार शरीर से अतिरिक्त सिद्ध करते समय गौतम को यह ध्यान नहीं है, कि चार्वाक इस मत को मानेगा। अभिप्राय है–केवल वादों के खण्डन-मण्डन का अवलम्बन कर आचार्यों के पौर्वापर्य का निर्णय करना असम्भव है; जब तक एक दूसरे की रचना में एक दूसरे के पद, स्पष्ट नामोल्लेख या रचना आदि का समावेश प्रतीत न हो।

वेदान्तसूत्रों में भी इसी तरह कोई पद या रचनासाम्य या नामोल्लेख आदि नहीं है, जिससे यह स्पष्ट होसके, कि व्यास ने यहाँ बौद्ध आदि मतों को लक्ष्य करके सूत्रों का निर्माण किया है। आजकल हम केवल भाष्यकारों का अभिप्राय लेकर इसप्रकार की व्याख्या करते हैं। यह निश्चित है–भाष्यकारों का समय उस समय के पश्चात् है, जब इन वादों को विशेष सम्प्रदायों ने अपना लिया था, इसलिये भाष्यकारों ने उन वादों को उन्हीं सम्प्रदायों के नाम से व्यवहृत किया, और केवल अभ्यासवश हम आज उसी तरह व्यवहार करते चले जारहे हैं

यह बात इसलिये भी पुष्ट होती है, कि शास्त्रों में अनेक ऐसे वाद हैं, जिनको अभीतक किसी सम्प्रदाय ने नहीं अपनाया, इसीलिये उनके साथ किसी सम्प्रदाय का नाम नहीं, वे शास्त्र में आज भी अपने नाम से व्यवहृत होते हैं। जैसे यहीं प्रकृत में दो वादों का नाम आया है–'इन्द्रियात्मवाद' और 'अन्तःकरणात्मवाद'। यदि आज आनन्दसमाजी 'इन्द्रियात्मवाद' को अपना लें,

तो सौ वर्षों के बाद यह स्थिर होजायगा, कि यह वाद आनन्दसमाज का सिद्धान्त है, क्या फिर हम यह सिद्ध करने के लिये तयार होंगे ? कि गौतम ने अपनी अलौकिक प्रत्यक्षशालिता के कारण सहस्रों वर्ष पहले इस वाद का खण्डन किया हुआ है। वास्तविकता यह है, कि प्रत्येक वाद का सद्भाव, प्रत्येक समय में होसकता है। इसलिये किसी ग्रन्थ में किसी वाद के उल्लेखमात्र से उसकी पूर्वापरता का निर्णय करना प्रामाणिक न होगा, जब तक किसी आचार्य का, शास्त्र का, रचना का तथा विशेष पारिभाषिक पदों का वहाँ उल्लेख न देखाजाय। क्योंकि केवल वाद का उल्लेख किसी आचार्य के मस्तिष्क की कल्पना होसकती है। विशेषकर, दार्शनिक आचार्यों के लिये यह साधारण-सी बात है, कि वे अपने मत को पुष्ट करने के लिये प्रथम अनेक वादों (मतों) को उपस्थित कर उनकी असारता प्रकट करते हैं। उनमें अनेक वाद केवल कल्पनामूलक होते हैं।

इन सब बातों पर विचार करते हुए निश्चय है–न्यायसूत्र या ब्रह्मसूत्रों में कोई ऐसे पद, नाम या रचनासाम्य नहीं हैं, जिनका अवलम्बन कर सूत्रों में चार्वाक बौद्ध आदि का सम्बन्ध जोड़ा जासके, जो इन सूत्रों की रचना के बाद हुए हैं। यदि उनमें से किसी का समय पूर्व हो, तो उसके लिये किसी का विरोध नहीं। परन्तु इसके विरुद्ध सांख्यसूत्रों में ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनमें कपिल के पश्चाद्भावी आचार्यों के सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख है। उदाहरण के लिये कतिपय सूत्र यहाँ उद्धृत हैं—

'न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्।' १। २५।

'न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः' । ५। ८५।

'षोडशादिष्वप्येवम् । ५। ८६।

'न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्' । ५। ९९।

'न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात् । ५। ९०।

इन सूत्रों की रचना से स्पष्ट है–इनका निर्माण गौतम और कणाद के सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर होसकता है। यहाँ स्पष्ट 'वैशेषिक' पद रक्खा हुआ है, और उसके साथ 'षट्पदार्थवादी'। कणाद के वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त और यह क्या होसकता है ? इसीतरह षोडशपदार्थवादी गौतम स्पष्ट है। वैशेषिक में समवाय नामक छठा पदार्थ मानागया है, गुणों में परिमाणचातुर्विध्य न्याय-वैशेषिक का एक अवान्तर मत है। यह सब रचना इसप्रकार की है, जो गौतम और कणाद के साथ इन सूत्रों का स्पष्ट सम्बन्ध जोड़ रही है। न्यायसूत्र और ब्रह्मसूत्रों की रचना ऐसी नहीं थी। इसलिये वे इन सूत्रों की रचना में उदाहरण नहीं होसकते। इसीलिये पण्डितजी का यह समाधान–कि त्रिकालदर्शी मुनिजन अपने पश्चाद्भावी आचार्यों के मतों का उपन्यास या खण्डन स्वरचित

ग्रन्थों में ग्रलौकिक प्रत्यक्षशालिता द्वारा करगये हैं–सर्वथा निर्मूल ग्रौर हेय है। ग्रतएव पण्डितजी के समाधानानुसार ये सूत्र कपिलप्रणीत नहीं कहेजासकते।

रामायण महाभारत ग्रादि में बौद्ध ग्रादि मतों का उल्लेख—

एक बात पण्डितजी ने ग्रपने लेख में ग्रौर प्रकट की है, कि वाल्मीकि रामायण, महाभारत तथा पुराणों में बौद्ध ग्रादि मतों का वर्णन ग्राता है। वाल्मीकि ग्रौर महाभारत तथा पुराणों के प्रणेता व्यास निश्चित ही बौद्धकाल से बहुत पूर्व होचुके हैं, इसलिये स्पष्ट है–उनके ग्रन्थों में बौद्ध ग्रादि का वर्णन उनकी ग्रलौकिक प्रत्यक्षशालिता के कारण होसकता हो। इस सम्बन्ध में इतना लिखना पर्याप्त होगा, कि रामायण महाभारत ग्रौर पुराणों में ग्रनेक ग्रंशों की रचना बहुत ग्रर्वाचीन काल तक होती रही है। सबसे प्रथम रामायण को लीजिये। लाहौर के लालचन्द ग्रनुसन्धान पुस्तकालय में बीस से ग्रधिक प्राचीन हस्तलेख रामायण के विद्यमान हैं, इनके पाठों में श्लोकों का ही नहीं, प्रत्युत ग्रध्यायों का भेद है। इसी पुस्तकालय से रामायण का ग्रन्थ प्रकाशित हुग्रा है, यह रामायण की पश्चिमोत्तर शाखा के ग्रनुसार सम्पादित कियागया है। इसके ग्रतिरिक्त रामायण की दो शाखा ग्रौर हैं–एक वङ्गोत्कल शाखा, दूसरी दाक्षिणात्य शाखा। लाहौर, कलकत्ता ग्रौर बम्बई की मुद्रित रामायणों को ग्राप परस्पर मिलाकर देखें, तो ग्रापको स्पष्ट होजायगा, कि उनमें ग्रध्यायों के ग्रध्यायों का भेद है। यह स्पष्ट है–स्वयं वाल्मीकि ने इसप्रकार रामायण की भिन्न रचना न की थी, यह सब कार्य विभिन्न देशों के मध्यकालिक पण्डितों का है। तीनों शाखाग्रों का इकट्ठा स्वाध्याय करने से यह स्पष्ट होजाता है, कि इनकी रचना कितने ग्रर्वाचीन काल तक होती रही है[1]।

---

१. ग्रनेक ग्राधुनिक ऐतिहासिक रामायण की रचना, महाभारत की रचना से बाद की सिद्ध करते हैं। उसमें एक यह युक्ति उपस्थित कीजाती है, कि महाभारत में राशियों का नामोल्लेखपूर्वकवर्णन कहीं नहीं, परन्तु रामायण में कई राशियों के नाम उपलब्ध होते हैं। क्योंकि ग्राधुनिक विद्वन्मण्डल ने इस बात को स्वीकार किया है, कि भारतीयों को वर्त्तमान राशियों का ज्ञान यूनान से प्राप्त हुग्रा है, इसलिये भारत के साथ यूनान का सम्पर्क होने से पहले महाभारत की रचना होचुकी थी, पर रामायण की रचना यूनान का सम्पर्क होने के बाद हुई। भारत से यूनान का सम्पर्क ईसा से पहले चौथी सदी में हुग्रा मानाजाता है। इससे सिद्ध होता है–रामायण की रचना उसके बाद हुई, क्योंकि उसमें राशियों का वर्णन स्पष्ट है।

नक्षत्रेदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह॥ ६॥

महाभारत के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों ने बताया है—इसको वर्त्तमान रूप सौति ने अब से लगभग २३०० वर्ष से कुछ पूर्व दिया है[१]। पुराणों के सम्बन्ध में कहना व्यर्थ है, इनके अनेक भागों की रचना तो अब से कुछ वर्ष पहले तक होती रही है। इन सब बातों को देखते क्या यह सम्भव नहीं, कि इन ग्रन्थों में बौद्ध आदि का वर्णन होसके ? इसलिये हमारे विचार में ऐसे प्रमाणाभासों को उपस्थित करके पण्डितजी सांख्यसूत्रों की प्राचीनता और कपिलप्रणीतता को सिद्ध करने में सफल नहीं होसके।

सांख्यसूत्रों की प्राचीनता और कपिल की रचना होने में श्री सत्यव्रत सामश्रमी के विचार—

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने 'निरुक्तालोचन' नामक ग्रन्थ में प्रसंगवश सांख्य के सम्बन्ध में कुछ लिखा है। यह सम्पूर्ण विवरण कलकत्ता से १९०७ ई० में प्रकाशित 'निरुक्तालोचन' के द्वितीय संस्करण के ९६ पृष्ठ से १०० वें पृष्ठ तक में कियागया है। आधुनिक अन्य विद्वानों की तरह यह तो सामश्रमी ने भी निर्भ्रान्त स्वीकार किया है, कि आस्तिक दर्शनकारों में कपिल सबसे प्रथम

पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः।
सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ ॥ १५ ॥
वा० रा०, बालकाण्ड अध्याय १८ (बम्बई निर्णयसागर संस्करण)

चाहे इस कथन से पूर्णरूप में यह सिद्ध न कियाजासके, कि सम्पूर्ण रामायण की रचना इसी समय हुई; पर फिर भी यह अवश्य मालूम होता है, ईसवी सन् के प्रादुर्भाव तक रामायण की रचना अंशतः होती रही होगी। यहाँ यह अवश्य ध्यान रहे, कि हमारा मत इससे सर्वथा भिन्न है, कि यूनान के सम्पर्क से पहले भारतीय आर्यों को राशिज्ञान नहीं था, इसका स्पष्टीकरण हम 'उपसंहार' नामक रचना में करेंगे।

१. वर्त्तमान महाभारत ग्रन्थ की रचना का समय अब से २३०० वर्ष अर्थात् ईसा से लगभग ४०० वर्ष पहले तक बतायाजाता है। यह बात ध्यान रखनी चाहिये, कि चाहे सम्पूर्ण महाभारत की रचना का यह काल न हो, पर इतना अवश्य स्वीकार कियाजासकता है, कि महाभारत की आंशिक रचना इस समय तक होती रही है। इसका सबसे अन्तिम संस्करण सौति का बनाया हुआ है। इन सब बातों का विवरण जानने के लिये राव बहादुर चिन्तामणि विनायक कृत 'महाभारत मीमांसा' और लोकमान्य तिलक का 'गीतारहस्य' देखना चाहिये।

आचार्य थे[1]। सांख्य के इस प्रकरण को, प्रचलित मनुसंहिता का समय निर्धारण करने के प्रसंग में सामश्रमी ने यहाँ स्थान दिया है, और यह सिद्ध किया है, कि इस भृगुप्रोक्त मनुसंहिता से सांख्यदर्शन बहुत प्राचीन है। इस सम्बन्ध में जो विद्वान्, विस्तृतरूप से श्री सामश्रमी का मत जानना चाहें, उन्हें निरुक्तालोचन के इस प्रकरण को देखना होगा। यहाँ उतने अंश का निरूपण अभीष्ट है, जो इस प्रसंग के लिये उपयोगी है।

यद्यपि इस प्रसंग में सामश्रमी ने सांख्यषडध्यायी सूत्रों की रचना के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट मत प्रकट नहीं किया, तथापि इस विषय को उन्होंने अछूता छोड़ दिया हो, ऐसा भी नहीं है। निरुक्तालोचन के ९८ वें पृष्ठ पर सामश्रमी लिखते हैं—"न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्' (सां० १।२५) यह सांख्यसूत्र के देखे जाने से सांख्यसूत्र तो दूसरे कपिल या पञ्चशिखाचार्य का बनाया होसकता है। इसप्रकार इस सूत्र के देखेजाने से सांख्यशास्त्र की षडध्यायी, वैशेषिक आदि के बाद बनी सिद्ध होती है, उससे पूर्व निर्मित हुआ सांख्यदर्शन नहीं[2]।"

सामश्रमी जी के विचारों की अमान्यता—

इससे स्पष्ट है–सामश्रमी इस सूत्र को सांख्य के मूलप्रवर्त्तक कपिल की रचना नहीं मानते। बात ठीक भी है, जब कपिल, आदि दार्शनिक विद्वान् हैं, तब वह अनन्तर प्रणीत वैशेषिक का उल्लेख कैसे करता? पर आप इस सूत्र को द्वितीय कपिल अथवा पञ्चशिखाचार्य का बनाया बताते हैं। यहाँ आपके लेखसे यह नहीं प्रतीत होता, कि केवल यह एक सूत्र द्वियीय कपिल या पञ्चशिखाचार्य का मिलाया हुआ है, या सम्पूर्ण षडध्यायी का निर्माण इन्होंने किया? इस बात को स्पष्ट करने के लिये आपने इसी प्रकरण में आगे तत्त्वसमास की व्याख्या सर्वोपकारिणी का एक उद्धरण देखकर बताया है, कि सांख्यषडध्यायी अग्नि के अवतार भगवान् कपिल की बनाई हुई है। पर इसके सम्बन्ध में हमने पहले दोनों अध्यायों में विस्तृत आलोचना की है, और अपना मत स्पष्टरूप से प्रकट

---

१. अस्मन्मते तु सांख्यदर्शनस्यैवास्तिकदर्शनेषु प्राथम्यम्, सांख्यप्रथमाचार्यस्य कपिलस्यैव 'आदिविद्वान्' इति प्रसिद्धेः"। निरुक्तालोचन पृ० ९७, पं० १३, १४।

२. 'न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्' (१ अ. २५) इति सांख्यसूत्रन्तु द्वितीयकपिलस्य वा पञ्चशिखाचार्यस्य वा भवितुमर्हति। तथा चैतत्सूत्र- दर्शनात् सांख्यशास्त्रीयषडध्याय्या एव वैशेषिकादिपरजत्वं सिध्यति, न तु सांख्यदर्शनस्य तत्पूर्वजस्य। निरुक्तालोचन, पृ० ९८।

करदिया है, इसलिये उसे फिर दुबारा लिखना व्यर्थ है। सारांश है, सूत्रषडध्यायी और तत्त्वसमास एक ही कपिल की रचना हैं। फिर सामश्रमी ने सन्दिहान होकर स्वयं यह लिखदिया है, कि शायद यह सूत्रषडध्यायी पञ्चशिखाचार्य की रचना हो। पर जिस (१।२५) सूत्र के आधार पर आप कहते हैं, कि यह कपिलप्रणीत नहीं; उसे आप पञ्चशिख-प्रणीत कैसे बताते हैं? क्या आपका यह अभिप्राय है, कि कपिल के समय में तो वैशेषिक न था, पर पञ्चशिख के समय से पूर्व वैशेशिक बन चुका था, क्योंकि ऐसा मानने पर ही आपका कथन संगत होसकता है। परन्तु यह बात किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं कहीजासकती, क्योंकि कपिल और पञ्चशिख समकालिक-जैसे हैं, यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। यद्यपि पञ्चशिख, कपिल का प्रशिष्य था, पर कपिल के रहते ही वह प्रौढ विद्वान् होचुका था, इसीलिये इन कापिलसूत्रों में पञ्चशिख का मत पायाजाता है। इसलिये स्पष्ट होता है, जो वैशेषिक कपिल के समय में नहीं था, वह पञ्चशिख के समय में भी नहीं होसकता। इन सब बातों का 'कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र' नामक द्वितीय अध्याय में विस्तारपूर्वक वर्णन करदिया है। ऐसी अवस्था में सामश्रमी का सूत्रषडध्यायी को पञ्चशिख-प्रणीत बताना नितान्त भ्रान्त है। मालूम होता है-सामश्रमी ने सूत्रों की रचना-सम्बन्धी आन्तरिक साक्षी का अवलम्ब न लेने के कारण ऐसा लिखदिया है। पर यह ध्यान रखने की बात है, कि (१।२५) सूत्र को देखकर ही आपको यह सन्देह हुआ है, कि कदाचित् ये सूत्र कपिल-प्रणीत नहीं होसकते। इस सम्बन्ध में अपना मत हम आगे प्रकट करेंगे। पर इतने से यह स्पष्ट है, कि सामश्रमी भी उन सन्दिग्ध स्थलों की कोई संगति लगाने में असफल रहे, और सूत्रों के कपिल-प्रणीत होने का निषेध कर बैठे।

सांख्यसूत्रों के सम्बन्ध में, लोकमान्य तिलक तथा सी० वी० वैद्य के विचार—

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक और चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने 'गीतारहस्य' और 'महाभारतमीमांसा' नामक ग्रन्थों में सांख्यशास्त्र पर अच्छा विचार किया है। परन्तु इन दोनों विद्वानों ने वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी की सूत्ररचना के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। इनके ग्रन्थों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि इनके हृदयों में ये भाव स्थिरता पागये हैं, कि इन सांख्यसूत्रों से सांख्य-सप्तति प्राचीन ग्रन्थ है। इसलिये सांख्यमत का प्रतिपादन करने में इन विद्वानों ने सांख्यसूत्रों की अपेक्षा सांख्यसप्तति का अवलम्ब लेना उचित समझा है। प्रतीत होता है-इन्होंने सांख्यसूत्रों को गम्भीर दृष्टि से देखने में उपेक्षा की है। सांख्य के उन सन्दिग्ध स्थलों को देखकर-जिनका वर्णन

हम अभी तक करते आरहे हैं—इनका यह विचार होजाना स्वाभाविक है, कि ये सूत्र कपिल-प्रणीत नहीं, पर सूत्रों को सप्तति के बाद का बताया जाना किस युक्ति से सिद्ध है, यह स्पष्ट नहीं किया। इस सम्पूर्ण अंश का विस्तृत व्याख्यान हम 'कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र' नामक द्वितीय अध्याय और 'षष्टितन्त्र अथवा सांख्यषडध्यायी' नामक तृतीय अध्याय में कर आये हैं। यहाँ केवल सूत्रों की आन्तरिक रचना-सम्बन्धी साक्षी के विषय में विचार करना है, और इस विषय पर लो० तिलक तथा श्रीयुत वैद्य दोनों मौन हैं।

श्री पं० राजाराम, और सांख्य के प्राचीन ग्रन्थ—

लाहौर के पं० राजाराम शास्त्री ने एक ग्रन्थ लिखा है—'सांख्य के तीन प्राचीन ग्रन्थ'। इसमें आपने २२ सूत्रवाले तत्त्वसमास, और योगसूत्रों के व्यास-भाष्य में उद्धृत कतिपय पञ्चशिख के सन्दर्भ तथा सांख्यसप्तति इन तीन ग्रन्थों को सांख्य के प्राचीन ग्रन्थ प्रमाणित किया है। इन सब बातों की विवेचना हम द्वितीय और तृतीय अध्याय में कर आये हैं, यहाँ केवल उतने अंश पर विचार करना है, जिसका उल्लेख सूत्रों की रचना के आधार पर कियागया है। पण्डित जी ने इस बात को बहुत बलपूर्वक सिद्ध करने का यत्न किया है, कि यह सांख्य-षडध्यायी कपिलप्रणीत नहीं होसकती। इसमें आपने मुख्यतया पांच युक्तियां उपस्थित की हैं।

सांख्यसूत्रों की अर्वाचीनता में पं० राजाराम प्रदर्शित युक्तियाँ—

(१) पहली युक्ति है—'पुराने आचार्यों (शंकराचार्य, चित्सुखाचार्य आदि) ने इन सूत्रों में से एक भी सूत्र कहीं उद्धृत नहीं किया'।

इस सम्बन्ध में इतना कह देना पर्याप्त है, कि जब न शंकराचार्य था और न कारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने जन्म लिया था, उससे प्राचीनकाल में भी अनेक सूत्रों के उद्धरण ग्रन्थों में पाये जाते हैं। उन सबका उल्लेख 'वर्त्तमान सांख्यसूत्रों के उद्धरण' नामक चतुर्थ अध्याय में कियागया है। इसलिये शंकराचार्य आदि के ग्रन्थों में इन सूत्रों का उद्धरण न होने पर यह नहीं कहाजासकता, कि ये सूत्र शंकराचार्य से अर्वाचीन हैं, या कपिल-प्रणीत नही हैं। यद्यपि शंकराचार्य आदि के ग्रन्थों में भी इन सूत्रों के उल्लेखों का निर्देश इसी ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में कियागया है। यदि पं० राजाराम इस कसौटी को पूरा समझते हैं, तो उन्हें एक बात का जवाब देना चाहिये। वर्त्तमान सांख्यषडध्यायी सूत्रों के उपलब्ध व्याख्याकारों में सबसे प्राचीन व्याख्याकार अनिरुद्ध समझाजाता है। अनिरुद्ध ने सूत्रों की व्याख्या में कहीं एक स्थल पर भी सांख्यसप्तति की किसी कारिका को उद्धृत नहीं किया, तो क्या इसका यह अभिप्राय समझना चाहिये,

कि अनिरुद्ध के समय ईश्वरकृष्णरचित सांख्यसप्तति नहीं थी ? यदि सचमुच उस समय तक सांख्यसप्तति नहीं थी, तब तो सूत्रों की प्राचीनता सुतरां सिद्ध हो गई। यदि अनिरुद्धव्याख्या में सप्तति का उद्धरण न होने पर भी सप्तति अनिरुद्ध-व्याख्या से प्राचीन है, तो शंकराचार्य आदि के ग्रन्थों में सूत्रों का उद्धरण न होने पर भी सूत्र उनसे प्राचीन होसकते हैं। ऐसी अवस्था में जबकि अन्य अनेक कारणों से सूत्रों की प्राचीनता और कपिल-प्रणीतता सिद्ध है,[1] तब केवल दो-चार ग्रन्थों में उद्धरण न होने से उनकी प्राचीनता का लोप कर देना न बुद्धिमत्ता है, न इसका कोई औचित्य है।

(२) दूसरी युक्ति है–'सूत्रों की रचना बहुत स्थलों पर कारिकाओं की रचना से मिलती है। क्योंकि कारिकाओं की रचना तो छन्दोबद्ध हुई है, पर सूत्र की रचना का छन्द में होना आकस्मिक नहीं कहाजासकता। इसलिये मालूम होता है–इन सूत्रों की रचना कारिकाओं के आधार पर कीगई है।' इसके लिये तीन उदाहरण उपस्थित किये हैं—

(क) हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।
(सांख्यसूत्र, १।१२४॥ सांख्यकारिका १०)

(ख) सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।
(सांख्यसूत्र २।३१॥ सांख्यकारिका २६)

(ग) सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात् (सांख्यकारिका २५)
सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात्। (सांख्यसूत्र २।१८)

पण्डित राजाराम जी का कहना है–प्रथम दो उदाहरणों में तो सूत्र और कारिका में मात्रा का भी भेद नहीं, सर्वथा एक हैं। तीसरे उदाहरण में केवल पुंनपुंसक का भेद है। वस्तुतः सूत्र कारिका एक ही हैं।

उक्त युक्तियों की अमान्यता—

इसमें सन्देह नहीं, आपाततः पं० राजाराम जी का कथन ठीक मालूम होता है। पर सूक्ष्मदृष्टि से ग्रन्थों का पर्यालोचन करने पर इसकी असत्यता स्पष्ट होजाती है। प्रथम सूत्र का जो पाठ पण्डित जी ने लिखा है, उसमें पाठ भेद है। सूत्रों के प्राचीन व्याख्याकार अनिरुद्ध ने उस सूत्र का पाठ इसप्रकार दिया है—

हेतुमदनित्यं सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।
यहाँ पर 'अव्यापि' पदकी सूत्रांशता का न होना स्पष्ट है। अनिरुद्ध व्याख्यान में यह पद नहीं है, न इसकी व्याख्या कीगई है। अनिरुद्ध व्याख्या के सम्पादक

---

१. देखें 'इसी ग्रन्थ का द्वितीय तथा चतुर्थ अध्याय।

डाक्टर रिचर्ड गार्वे (Dr Richard Garba) ने अपनी टिप्पणी में इस बात को स्पष्टकर दिया है। इससे सिद्ध है–'अव्यापि' पद सूत्रांश नहीं है, इसीलिये सूत्र की रचना छन्दोवद्ध नहीं कहीजासकती। प्रतीत होता है–विज्ञानभिक्षु या अन्य किसी लेखक ने कारिका के संस्कारवश यहाँ पर 'अव्यापि' पद को भ्रमवश जोड़दिया, और यह अनिरुद्ध के बाद जोड़ागया। इसलिये सूत्र को कारिका के आधार पर बना नहीं कहाजासकता, प्रत्युत कारिका सूत्र के आधार पर बनी कहीजासकती है, जैसा तृतीय अध्याय में सिद्ध कियागया है। दूसरे और तीसरे सूत्र के सम्बध में भी वहाँ विस्तारपूर्वक निर्देश करदियागया है।

यह मानने में कोई बाधा नहीं, कि सूत्रों में पद्यगन्धि रचना होसकती है। विद्वानों के मुख से अनायास वह आनुपूर्वी प्रकट होजाती है, उसमें उनका पद्य-रचना के विचार से कोई यत्न नहीं होता। इसलिये सांख्यसूत्रों में यदि दो एक सूत्र ऐसे आगये हों, तो केवल उतने से सूत्रों का निर्माण कारिकाओं के आधार पर कदापि नहीं बताया जासकता। पं० राजारामजी ने और भी ऐसे कई सूत्र इस प्रकरण में उद्धृत किये हैं, जिनमें से कुछ सूत्रों को मिलाकर तथा उनमें से कुछ घटा-बढ़ाकर उन्हें करिका का रूप दिये जाने का यत्न किया है। यदि इसी तरह नाक पूंछ काटकर उलटा सीधा करके सूत्रों की कारिका बना, उन्हें कारिकामूलक कहाजासकता है, तो पण्डित जी को अवश्य सन्तोष करना चाहिये, क्योंकि इस रीति पर सारे सूत्रग्रन्थों को कारिकामूलक कहाजासकता है। सूत्र और कारिकाओं का तुलनात्मक विचार करने के लिये तृतीय अध्याय में इन सब स्थलों को स्पष्ट करदियागया है।

(५) पं० राजाराम जी की पाँचवीं युक्ति फिर ऐसी है, जिसका सूत्ररचना से सम्बन्ध है। आप लिखते हैं–'सूत्रों की बनावट से यह सिद्ध होता है, कि सूत्र कारिका के ढाँचे में ढले हैं। जैसे कारिका १२ में है "प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः" सूत्र १।१२७ में है "प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः" यहां सूत्र की स्वतन्त्र बनावट "सुख-दुःखमोहाद्यैः" अच्छी होसकती थी।'

आपने सूत्र की वास्तविक रचना को कारिका के ढाँचे में ढला हुआ किस युक्ति से समझा है? यदि यह कहाजाय, कि कारिका सूत्र के आधार पर बनी है, तो इसका क्या उत्तर होगा? आप लिखते हैं–'सुखदुःखमोहाद्यैः' सूत्र की स्वतन्त्र बनावट अच्छी होसकती थी। पर आपने यह नहीं बताया, कि पहली बनावट में क्या परतन्त्रता और क्या बुराई है। वस्तुतः सूत्रकार चाहे 'सुखदुःखमोहाद्यैः' सूत्र बनाते, चाहे 'प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः' बनागये, इस बात में पं० राजारामजी, महर्षि कपिल पर अभियोग नहीं लगासकते। पर यह अवश्य है, कि कारिकाकार, सूत्रकार के शब्दों को कारिका में रखकर एक कमी अवश्य कर गया है। जो अर्थ सूत्र से प्रकट होजाता है, वह कारिका से नहीं होता, जिसका प्रकट होना

आवश्यक है। सूत्रकार ने प्रीति अप्रीति और विषाद को कहकर आगे 'आद्य' पद रक्खा है। जिससे सत्त्व, रजस् और तमस् के अन्य रूपों या विशेषताओं का ग्रहण होजाता है। जैसे प्रीति से दया, ऋजुता (सरलता), मृदुता, लज्जा, सन्तोष, विवेक, क्षमा आदि का ग्रहण होता है। अप्रीति से मान, मद, मत्सर, ईर्ष्या, लोभ आदिका तथा विषाद से वञ्चना, कृपणता, कुटिलता, अज्ञान आदि का संग्रह होजाता है। परन्तु कारिका में ऐसा कोई शब्द न होने से दया आदि के असंग्रह के कारण कारिका की रचना अपूर्ण है। सूत्र की रचना पूर्ण स्वतन्त्र एवं शास्त्रीय दृष्टि से उपयुक्त है। सम्भव है, छन्दोरचना से बाधित होकर कारिकाकार को वैसी रचना करनी पड़ी हो। कारिकाकार जहाँ तक होसकता है, सूत्रों के शब्दों में सूत्रकार के सिद्धान्त को रखना उचित समझता है। इसलिये अनेक स्थलों पर आर्थिक न्यूनता होने पर भी उसने इसी शैली का अनुसरण किया है। क्योंकि जिस षष्टितन्त्र के आधार पर ईश्वरकृष्ण कारिकाओं की रचना कर रहा है, उसके लिये उसके हृदय में स्थान होना अत्यन्त आवश्यक है।

यहाँ इतना और लिखदेना चाहते हैं, कि 'प्रीत्यप्रीतिविषाद्यैः' इस सूत्र की जो व्याख्या अभी कीगई है, वह केवल कल्पना नहीं है, प्रत्युत महर्षि कपिल के समकालिक उनके प्रशिष्य पञ्चशिखाचार्य ने इस सूत्र की यही व्याख्या की है। पञ्चशिखाचार्य का ग्रन्थ इसप्रकार है—

सत्त्वं नाम प्रसादलाघवानभिष्वंगप्रीतितितिक्षासन्तोषादिरूपानन्तभेदं समासतः सुखात्मकम्। एवं रजोपि शोकादिनानाभेदं समासतो दुःखात्मकम्। एवं तमोपि निद्रादिनानाभेदं समासतो मोहात्मकम्[1]।

ऐसी अवस्था में यह निश्चित है, कि सूत्र की रचना मौलिक स्वतन्त्र और सर्वथा पूर्ण है, और कारिका की रचना न्यून तथा सूत्राधीन है। इसलिये पं० राजाराम जी का विचार मान्य नहीं होसकता। इसके अतिरिक्त सूत्रगत प्रीति आदि पदों के प्रयोग में महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय रहस्य है–इन पदों के द्वारा सत्त्व, रजस्, तमस् के वास्तविक स्वरूप को अभिव्यक्त करना। सर्गादिकाल में सर्ग-रचना के लिये इन तत्त्वों के अन्योन्यमिथुनीभाव की प्रक्रिया को ये पद प्रकट करते हैं। आधुनिक विज्ञान ने परीक्षणों के आधार पर यह परिणाम प्रकट किया है, कि जगत् के मूलतत्त्व प्रोटोन्-इलैक्ट्रॉन्-न्यूट्रॉन् जब सर्गोन्मुख होते हैं, तब प्रोटोन् नाभिक '(न्यूक्लिअस्–) स्थिति में रहता है। यह केन्द्र में बैठा हुआ अपने अत्यधिक दबाव (प्रैशर=) से इलैक्ट्रॉन् को अपनी ओर आकर्षण करता है, परन्तु इलैक्ट्रॉन् तदाकारता (प्रोटीन् मुझे अपने अन्दर लीनकर खा न जाय, इस भय)

---

१. यह पञ्चशिख का ग्रन्थ विज्ञानभिक्षु ने इसी (१।१२७) सूत्र पर, इस अर्थ को प्रकट करने के लिये उद्धृत किया है।

से अपने आपको बचाने के लिये दूर रहना चाहता है, अर्थात् वहाँ से अपकर्षण चाहता है। प्रोटीन अपने प्रबल दबाव के कारण उसे दूर हटने नहीं देता। उसका परिणाम यह होता है, कि प्रोट्रोन् के चारों ओर तीव्र गति से इलैक्ट्रॉन् चक्कर काटने लगता है। सांख्य में प्रोटोन का प्रतीक सत्त्व और इलैक्ट्रॉन् का प्रतीक रजस् है। प्रोटोन् के दबाव-आकर्षण का स्वरूप सत्त्व के प्रीत्यात्मक रूप से प्रकट कियागया है। आकर्षण का मूल प्रीति है। इलैक्ट्रॉन् के दूर हटने का स्वभाव-अपकर्षण अथवा विकर्षण—रजस् के अप्रीति स्वरूप को स्पष्ट करता है। इन दोनों स्थितियों से हीन तमस् (न्यूट्रॉन्–Electrone) का स्वरूप 'विषाद' पद से अभिव्यक्त कियागया है। प्रीति आदि पदों के प्रयोग से मूल तत्त्वों की इस रहस्यमय प्रक्रिया को प्रकट करने का उपयुक्त प्रयास कपिलने किया है; जो सुख-दुःख, मोह पदों के प्रयोग से संभव नहीं। सुखादि पद केवल व्यावहारिक बाह्य परिस्थिति के अभिव्यञ्जक हैं। इसी व्यावहारिकता को लक्ष्यकर पञ्चशिख ने इस सूत्र के भाव को अपने उक्त सन्दर्भ में अभिव्यक्त किया है।

इसीके साथ पं० राजाराम जी ने एक और सूत्र दिया है, उसके सम्बन्ध में आप लिखते हैं—'कारिका ६७ में है "चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः"। सूत्र ३।८२ है "चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः" इस 'धृतशरीरः' पद को 'तिष्ठति' की आकांक्षा है। यह पद कारिका में विद्यमान है, सूत्र में अध्याहार करना पड़ता है।'

विचारणीय है, क्या इससे यह सिद्ध होजाता है, कि यह सूत्र कपिल की रचना नहीं, कारिकाओं के निर्माण के बाद किसीने बनादिया है? यदि सूत्र में क्रियापद का अध्याहार करना पड़ता है, तो इससे क्या हानि हुई? सूत्रों में तो अध्याहार करना ही पड़ता है, यदि सब कुछ सूत्र में आजाय, तो उसका सूत्रत्त्व क्या रहजायगा? सूत्र तो सदा व्याख्यापेक्षी होते हैं। पण्डित जी की यह तर्ककुशलता चमत्कारपूर्ण है—सूत्र में क्योंकि 'तिष्ठति' क्रियापद का अध्याहार करना पड़ता है, इसलिये वह कपिल का बनाया हुआ नहीं। आपके विचार से तो फिर कारिका कपिल की बनाई होजानी चाहिये, क्योंकि उसमें क्रियापद का अध्याहार नहीं करना पड़ता। कारिका के आधार पर यदि सूत्र की रचना होती, तो सूत्र में 'तिष्ठति' क्रियापद रखदियागया होता।

राजाराम जी के उक्त विचारों का आधार, तथा उसका विवेचन—

आगे पण्डितजी लिखते हैं, "सच तो यह है, कहाँ आदिविद्वान् भगवान् कपिल और कहाँ यह सूत्र, जिनमें वैशेषिक न्याय बौद्ध के अवान्तर भेदों के और नवीन परिष्कृत वेदान्त के पारिभाषिक शब्द लिखकर उनका खण्डन किया है। जिससे पायाजाता है, कि इन पारिभाषिक शब्दों के प्रचार के पीछे यह ग्रन्थ रचागया। केवल यही एक दर्शन है, जिसमें नव्यन्याय के ग्रन्थों की तरह

मंगलाचरण किया है—"मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति' ५।१।।"

पण्डित जी के इस लेख से स्पष्ट होजाता है, कि आपको इन सूत्रों के कपिल प्रणीत होने में क्यों सन्देह हुआ ? न्याय, वैशेषिक, बौद्ध तथा वेदान्त आदि के पारिभाषिक पदों को यहाँ देखकर, केवल पण्डितजी को नहीं, प्रत्युत अनेक विद्वानों को यह धोखा हुआ है, कि ये सूत्र कपिलप्रणीत नहीं। पर सच बात यह है, कि विद्वानों ने गम्भीर दृष्टि से इन सूत्रों के मनन करने में कमी की है। यदि सूत्रों की रचना-सम्बन्धी आन्तरिक साक्षी के लिये स्थिर यत्न कियाजाता, तो अभी तक यह निश्चय कियाजासकता था, कि जिन सूत्रों में न्यायादि के नाम या पारिभाषिक पदों का प्रयोग है, क्या वे क्रमिक प्राचीन रचना के साथ सम्बन्ध रखते हैं, या उन्हें किन्हीं विद्वानों ने मध्यकाल में सूत्रों के बीच मिला देने का यत्न किया है ? इसीको प्रस्तुत अध्याय में अच्छी तरह स्पष्ट करना है। पण्डित राजाराम जी ने यहाँ मंगलाचरण सम्बन्धी एक सूत्र उद्धृत किया है, इससे आपका यही प्रयोजन प्रतीत होता है, कि यह सूत्र कपिलप्रणीत नहीं होसकता। पर इसका यह अभिप्राय नहीं, कि शेष सब ग्रन्थ ही कपिल-प्रणीत नहीं है। इस बात का विवेचन करना पण्डित जी का कर्त्तव्य था। परन्तु आपने इस ओर ध्यान न देकर सब सूत्रों के कपिल-प्रणीत होने का निषेध करदिया, जैसा कि आपसे पहले अन्य आधुनिक विद्वान् प्रायः करते रहे हैं। इसी अध्याय में आगे स्पष्ट कियाजायेगा, कि षडध्यायी के अनेक सूत्र कपिल-प्रणीत क्यों नहीं हैं ? ऐसी अवस्था में सब सूत्रों को कपिल-प्रणीत न मानना युक्तिसंगत नहीं कहाजा-सकता। इसलिये पं० राजाराम जी का कथन इस विषय में मान्य नहीं हो-सकता[1]।

सांख्यसूत्रों पर प्रो० मैक्समूलर तथा प्रो० कीथ के विचार—

पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर और कीथ आदि ने स्वरचित ग्रन्थों में सांख्य-शास्त्र पर अपने विचार प्रकट किये हैं। वे इन सूत्रों का कपिलप्रणीत या प्राचीन नहीं मानते। इस बात को सिद्ध करने के लिये जो युक्तियाँ उन्होंने उपस्थित की हैं, उनका सूत्ररचना के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। जो कुछ है, उसका यथास्थान

---

१. इसी ग्रन्थ (सांख्य के तीन प्राचीन ग्रन्थ) की भूमिका में पं० राजाराम जी ने और भी कई ऐसी युक्तियाँ उपस्थित की हैं, जिनसे यह सिद्ध करने का प्रयत्न कियागया है, कि ये षडध्यायीसूत्र कपिलप्रणीत नहीं हैं। परन्तु उन युक्तियों का सूत्ररचना से कोई सम्बन्ध नहीं, इसलिये उनके सम्बन्ध का विचार अन्य प्रसंगों में यथास्थान कियागया है।

वर्णन करदियागया है, अन्य युक्तियों का–जिनका जिस प्रसंग के साथ सम्बन्ध है, वहाँ उनका–विचार कियागया है। अध्यापक मैक्समूलर ने 'तत्त्वसमास' को अवश्य कपिलप्रणीत और प्राचीन माना है। पर यह निश्चित है, कि 'तत्त्व-समास' षडध्यायी का विषयसंक्षेप–तालिका या सूचीमात्र–कहाजासकता है। इसीलिये इसका नाम 'तत्त्वसमास' है। समास संक्षेप को कहते हैं, पहले से विद्यमान विस्तार का संक्षेप होता है। यदि 'तत्त्वसमास' के कपिलप्रणीत होने में कोई सन्देह नहीं, तो 'सांख्यषडध्यायी' के कपिलप्रणीत होने में किसी प्रकार का सन्देह न होना चाहिये। कपिल ने प्रथम 'सांख्यषडध्यायी' का निर्माण कर, अनन्तर विषयसूची के रूप में इस 'तत्त्वसमास' को बनाया। 'तत्त्वसमास' को शास्त्र नहीं कहाजासकता, वह केवल शास्त्र की सूची या तालिका है। षडध्यायी शास्त्र है, तन्त्र, है, इसको 'सांख्यशास्त्र' या 'षष्टितन्त्र' कहने में कोई संकोच न होना चाहिये। 'तत्त्वसमास' की कपिलप्रणीतता और प्राचीनता को स्वीकार कर षडध्यायी की कपिलप्रणीतता और प्राचीनता का निषेध करना अशक्य है। इस विवेचन का सूत्रों की रचना के साथ जहाँ तक सम्बन्ध है, उस अंश में ये दोनों अध्यापक महोदय चुप हैं; पहले से ही यह निश्चय कर बैठे हैं, कि ये सूत्र अत्यन्त अर्वाचीन हैं, १४वीं या १५वीं सदी से पूर्व इनका अस्तित्व स्वीकार नहीं कियाजासकता।

पूर्वपक्ष का उपसंहार—

इन सब विद्वानों के विवरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि सूत्रों की रचना के सम्बन्ध में जितना मनन होना चाहिये था, उतना नहीं हुआ। एक दो विद्वानों को छोड़कर शेष ने तो सूत्रों को उठाकर देखने का कष्ट करना भी व्यर्थ समझा है। कुछ समय से–क्या पाश्चात्य और क्या भारतीय–प्राय: सब विद्वानों के मस्तिष्क में यह भाव स्थिर होगया है, कि सांख्य का प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ 'सांख्यसप्तति' है। सूत्रों की रचना किसी पण्डित ने बाद में कर डाली है। इस धारणा का विशेष कारण है, जिसका उल्लेख हम इस प्रकरण के आरम्भ में करचुके हैं। बात इतनी है, कि इन सूत्रों में अनेक अर्वाचीन आचार्यों के नाम लेकर सिद्धान्तों का खण्डन तथा उनके पारिभाषिक पदों का प्रयोग पाया जाता है। यह सब होने पर भी यह न समझाजासका, कि कारिकाओं के बाद–केवल बाद ही नहीं प्रत्युत कारिकाओं के आधार पर–सूत्रों की रचना क्यों मानीजाती है? हाँ! यह अवश्य कहाजासकता है, कि उपलभ्यमान सम्पूर्ण सूत्रों का रचयिता कपिल नहीं होसकता, क्योंकि कपिल अपने से सहस्रों वर्ष पीछे होनेवाले आचार्यों के मतों का उल्लेख उन्हींके शब्दों में कैसे करसकता है? इसीका विवेचन करने के लिये आवश्यक है, कि सूत्रों की रचना को गम्भीर

दृष्टि से मनन कियाजाय, और देखाजाय, कि क्या इनमें कोई ऐसी रचना है, जिसका कपिल के साथ सम्बन्ध नहीं ? सचमुच उसका निर्माण कपिल के द्वारा नहीं हुआ, वह अर्वाचीन रचना कपिल के सिर मढ़ी गई, और उसीने इस दार्शनिक साहित्य में एक विप्लव खड़ा करदिया, जिसके वेग में बड़े-बड़े विद्वान् भी बहगये, अथवा बहक गये; वास्तविक मार्ग का अन्वेषण न करसके ।

सांख्यसूत्रों की रचना, और उनमें प्रक्षिप्त अंश—

इस सम्बन्ध में सांख्यसूत्रों का अनेकवार अध्ययन करने से हमारा यह स्थिर मत होगया है, कि इनमें कई स्थलों पर प्रक्षेप हैं । कहीं पर एक सूत्र का है, कहीं दो का, कहीं चार का, और कहीं तो प्रक्षेपकर्त्ताओं ने कमाल करदिखाया है, तीस-तीस और पेंतीस-पेंतीस सूत्रों का इकट्ठा प्रक्षेप है । इन सब प्रक्षेपों का प्रमाणपूर्वक यथाक्रम उल्लेख प्रस्तुत अध्याय में हैं । इससे सर्वथा स्पष्ट होजायगा, कि जिन सूत्रों के आधार पर हम इस सम्पूर्ण कपिल की कृति को अर्वाचीन कह बैठते हैं, वे सूत्र ही किन्हीं आचार्यों ने बाद में यहाँ मिला दिये हैं । उनका शोध होने पर हम विशुद्ध सांख्यशास्त्र का निष्कलंक स्वरूप देख सकते हैं, तब निश्चय होजायगा, कि कपिलप्रणीत सांख्य का मूलग्रन्थ यही है ।

आक्षेप को समझने के लिये, प्रारम्भिक विषयोपक्रम—

षष्टितन्त्र अर्थात् सांख्यशास्त्र का प्रारम्भ इस सूत्र से होता है—

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' ।

सूत्र में शास्त्रारम्भ का प्रयोजन बतायागया है । इससे अगले पांच सूत्रों में यह सिद्ध किया है, कि दुःख की अत्यन्त निवृत्ति, औषध आदि दृष्ट उपायों तथा ज्योतिष्टोमादि वैदिक (अदृष्ट) उपायों से नहीं होसकती; क्योंकि ये उपाय स्वयं अपायी हैं, इनसे तीनों दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति अर्थात् मोक्षसिद्धि असम्भव है । इसलिये मोक्षप्राप्ति के हेतु इस सांख्यशास्त्र अर्थात् ज्ञानशास्त्र का आरम्भ अत्यन्त आवश्यक है । इसप्रकार छठे सूत्र तक शास्त्रारम्भ को दृढ़ करके आगे यह विचार उपस्थित होता है, कि अत्यन्तदुःखनिवृत्ति या मोक्ष उसीको होसकता है, जो बद्ध हो । इसलिये जबतक पुरुष के साथ बन्ध का योग प्रतिपादन न कियाजाय, मोक्षशास्त्र का आरम्भ अनुपयुक्त है । इस प्रकरण का प्रथम सूत्र है—

'न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः' ।

स्वभाव से आत्मा बद्ध नहीं कहाजासकता, क्योंकि स्वभाव के अनपायी होने से उसके हटाने के लिये अनुष्ठान करना असंगत है । शास्त्र अशक्य वस्तु की प्राप्ति के लिये कभी उपदेश नहीं करता, क्योंकि इसतरह का उपदेश न होने के बराबर है । कदाचित् कोई यह आशंका करे, कि चादर की स्वाभाविक सफेदी

रङ्ग देदेने से, और बीज की अंकुरजननशक्ति भून देने से जैसे नष्ट होजाती है, इसीतरह स्वभाव से बद्ध आत्मा का भी मोक्ष संभव होसकता है। उसे ध्यान रहना चाहिये, कि सांख्यमत में किसी वस्तु का सर्वथा नाश नहीं होता। चादर की सफेदी और बीज की अंकुरजननशक्ति का, कुछ समय के लिये तिरोभाव होजाता है। इसलिये यदि आत्मा को स्वभावतः बद्ध मानाजाय, और उस बन्ध का कुछ समय के लिये तिरोभाव मानलियाजाय, तो यह दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति नहीं कहीजासकती। इसका नाम पुरुषार्थ न होगा। ऐसी अवस्था में आत्मा को स्वभावतः बद्ध नहीं मानाजासकता। ये सब बातें ग्यारहवें सूत्र तक प्रतिपादन कीगई हैं। इससे आगे सत्रहवें सूत्र तक बन्ध के तथाकथित अन्य चार निमित्तों का प्रत्याख्यान है—काल, देश, अवस्था और कर्म, अर्थात् कालयोग से 'देशयोग से, अवस्थायोग से और कर्मयोग से आत्मा का बन्ध नहीं होसकता[1]।

इसके आगे अठारहवां सूत्र है—

'प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम्'।

प्रकृति के कारण बन्ध मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृति भी इस अंश में परतन्त्र है, कर्म या संयोग आदि के विना प्रकृति कुछ नहीं करसकती। इसप्रकार यहाँ तक आत्मा को बन्ध में डालने वाले सब सम्भावित निमित्तों का प्रत्याख्यान करदिया। आत्मा स्वभाव से बद्ध नहीं, और देश आदि का सम्बन्ध तथा प्रकृति भी उसको बद्ध नहीं करसकते, तो क्या फिर आत्मा का बन्ध है ही नहीं? यदि ऐसी बात है, तब मोक्षशास्त्र का उपदेश व्यर्थ है। जब बन्ध नहीं, तो मोक्ष कैसा? यह आशंका उपस्थित होने पर महर्षि कपिल उन्नीसवाँ सिद्धान्तसूत्र इसप्रकार लिखता है—

'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते'।

नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव आत्मा का 'तद्योग' अर्थात् बन्धयोग, 'तद्योग' के बिना अर्थात् प्रकृतियोग के विना नहीं होता। प्रकृतियोग बन्धयोग का कारण है। प्रकृति का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से आत्मा बद्ध होजाता है।

इसप्रकार सिद्धान्त का निरूपण होने पर यहाँ स्वभावतः आकांक्षा होती है, कि नित्य शुद्ध आदि स्वभाववाले आत्मा का प्रकृति के साथ सम्बन्ध, बिना किसी निमित्तान्तर के नहीं होसकता। ऐसी अवस्था में जिस तरह स्वभाव या देशकाल आदि के सम्बन्ध से आत्मा का बन्ध असंगत है, इसीप्रकार प्रकृतियोग से बन्ध कहना भी असंगत होगा। इसलिये इस आकांक्षा की पूर्ति होना अत्यन्त आवश्यक है, कि प्रकृतिसंयोग आत्मा के साथ कैसे? यहाँ यह ध्यान रखने की बात है, कि कपिल ने इस बात का उत्तर जिस सूत्र से दिया है, वह सूत्र, इस उन्नीसवें

१. सूत्र देखना चाहें, तो मूलग्रन्थ से देखिये।

सूत्र से अगला बीसवाँ सूत्र (आजकल के सूत्रक्रमानुसार) नहीं है। वर्त्तमान सूत्रक्रमानुसार उसकी संख्या ५५ है। वह इसप्रकार है—

'तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्'।

आत्मा का प्रकृति के साथ संयोग अविवेक के कारण होता है, इसलिये बन्ध के निमित्त प्रकृतिसंयोग को अन्य स्वभाव या कालयोग आदि निमित्तों के समान नहीं मानाजासकता।

१९वें सूत्र के अनन्तर एक लम्बा प्रक्षेप—

इन दोनों सूत्रों की रचना से स्पष्ट प्रतीत होरहा है, कि उन्नीसवें सूत्र के अनन्तर बीसवाँ सूत्र यह होना चाहिये। उन्नीसवें सूत्र के अन्तिम पद हैं 'तद्योगस्तद्योगादृते'। उन्हीं पदों को लेकर अगला सूत्र है—'तद्योगोऽप्यविवेकात्'। यह सूत्ररचना इतनी स्पष्ट है, कि अपने अव्यवहित आनन्तर्य के लिये किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती। शब्दकृत और अर्थकृत दोनों सम्बन्धों के आधार पर पहले सूत्र के ठीक अनन्तर दूसरा सूत्र आना चाहिये। इसलिये यह निस्सन्देह कहाजासकता है, कि बीसवें सूत्र से लेकर चौवनवें सूत्र तक कुल पैंतीस सूत्र यहाँ प्रक्षिप्त हैं। ये सूत्र प्रकरण विरुद्ध, असंबद्ध तथा पुनरुक्त आदि दोषों से दूषित हैं।

इन सूत्रों के सम्बन्ध में और कुछ विचार उपस्थित करने से पहले अविकल रूप में उनको यहाँ उद्धृत करदेना उपयुक्त होगा—

नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात्।
वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः।
विजातीयद्वैतापत्तिश्च।
विरुद्धोभयरूपा चेत्।
न तादृक्पदार्थाप्रतीतेः।
न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्।
अनियतत्वेपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम्।
नानादिविषयोपरागनिमित्तोऽप्यस्य।
न बाह्याभ्यन्तरयोरुपर[1]ज्योपरञ्जकभावोऽपि देशभेदात्[2] स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव।
द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था।
अदृष्टवशाच्चेत्।
न द्वयोरेककालायोगादुपकार्योपकारकभावः।

१. '०परञ्ज्योप०' विज्ञानभिक्षुः। २. 'देशव्यवधानात्' विज्ञानभिक्षुः।

पुत्रकर्मवदिति चेत् ।
नास्ति हि तत्र स्थिर एक[1] आत्मा यो गर्भाधानादिकर्मणा[2] संस्क्रियते ।
स्थिरकार्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् ।
न प्रत्यभिज्ञाबाधात् ।
श्रुतिन्यायविरोधाच्च ।
दृष्टान्तासिद्धेश्च ।
युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः ।
पूर्वापाये उत्तरायोगात् ।
तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न ।
पूर्वभाविमात्रे[3] न नियमः ।
न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः ।
तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि ।
शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद् विनाशस्य ।
अपवादमात्रमबुद्धानाम् ।
उभयपक्षसमानक्षेमादयमपि[4] ।
अपुरुषार्थत्वमुभयथा ।
न गतिविशेषात् ।
निष्क्रियस्य तदसम्भवात् ।
मूर्त्तत्वाद् घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः ।
गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ।
न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात् ।
निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ।
अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे[5] ।

वृत्तिकार अनिरुद्ध के मतानुसार इन सूत्रों में विशेषकर बौद्ध-जैनमत का प्रत्याख्यान है। अनिरुद्ध ने इन सूत्रों में निम्नलिखित रीति से प्रकरणों की कल्पना की है—

प्रक्षिप्त सूत्रों में प्रथम प्रकरण—

(१) अविद्यावाद का खण्डन (२०-२६ सूत्र तक)। इस प्रकरण का प्रारम्भ अनिरुद्ध इसप्रकार करता है—'अथाविद्यया तस्य बन्धो भविष्यतीत्यत आह'—

---

१. '०एकात्मा' वि० भि० । २. '०धानादिना सं०' वि० भि० ।
३. 'भावमात्रे' वि० भि० । ४. '०क्षेमत्वादय०' वि० भि०
५. इन सूत्रों का प्रक्षेप किस समय हुआ है, इसका निर्णय इसी प्रकरण के अन्त में कियाजायगा।

अर्थात् अविद्या के कारण आत्मा का बन्ध होजायगा, इसलिये कहा–। यहाँ इतना ध्यान देना उचित है, कि जब सूत्रकार ने आत्मा के बन्ध के सम्बन्ध में अपना स्थिर सिद्धान्त प्रकट करदिया, फिर इस बात की सम्भावना कहाँ रहजाती है, कि अन्य कारणों से आत्मा का बन्ध होसकता है। वह भी उस अवस्था में–जब अपना स्थिर सिद्धान्त प्रकट करने से पहले सूत्रकार ने स्वयं अनेक पूर्वपक्षमतों को इस सम्बन्ध में उपस्थित करदिया है। यदि ये पूर्वपक्षमत (२०-५४ सूत्र तक) सूत्रकार के द्वारा उपस्थित कियेगयेहोते, तो सूत्रकार अवश्य इन मतों को पहले पूर्वपक्ष के साथ प्रकट करता। इससे स्पष्ट होता है–यह सम्पूर्ण प्रकरण पश्चादवर्त्ती किसी विद्वान् का कार्य है।

विज्ञानभिक्षु लिखता है–इस प्रकरण (२०-२६ सुत्र तक) में वेदान्तप्रतिपाद्य अविद्या की बन्धहेतुता का खण्डन नहीं, किन्तु क्षणिकविज्ञानात्मवादी बौद्ध मत का खण्डन कियागया है। उसने यह स्पष्ट लिखा है—

एभिश्च सूत्रैर्ब्रह्ममीमांसासिद्धान्तो निराक्रियत इति भ्रमो न कर्त्तव्यः। ब्रह्ममीमांसायां केनापि सूत्रेणाविद्यामात्रतो बन्धस्यानुक्तत्वात्।.......। तस्मादत्र प्रकरणे विज्ञानवादिनां बन्धहेतुव्यवस्थैव साक्षान्निराक्रियते'

यहाँ यह भी एक ध्यान देने की बात है, कि 'न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्' यह सूत्र बौद्ध के मुख से कहलायागया है। वह कहता है–हम वैशेषिक या नैयायिकों की तरह छह या सोलह आदि नियत-संख्यक पदार्थों को माननेवाले नहीं हैं; इसलिये सत् और असत् से विलक्षण एक अविद्या नामक अतिरिक्त पदार्थ को मान लेने में क्या हानि है? इसका उत्तर सांख्य की ओर से यह दियागया है–'**अनियतत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम्**'। अनियतपदार्थवादी होनेपर भी जो पदार्थ युक्ति से सिद्ध नहीं होता, उसे कैसे स्वीकार करलें; ऐसे पदार्थ को मान लेना तो बालकों या पागलों जैसी बात होगी।

इस सूत्र से ज्ञात होता है–सांख्य भी अनियतपदार्थवादी है। इस बात को सूत्रका 'अनियतत्वेऽपि' पद स्पष्ट कररहा है। संभवतः इसलिये अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में अनेक स्थलों पर[1] सांख्य को अनियतपदार्थवादी कहा है।

इस सम्बन्ध में हमारा विचार है–यह सूत्र सांख्यसिद्धान्त के विरुद्ध लिखा गया है। सांख्य अनियतपदार्थवादी नहीं कहेजासकते। सांख्य में चेतन और

---

१. (१।४५ सूत्र पर) अनिरुद्ध लिखता है–किंचानियतपदार्थवादित्वादस्माकं यथोपपन्नः सम्बन्धोऽपि कश्चिद्भविष्यतीति का नो हानिः'। (१।५६ पर) पुनः लिखता है–'अथ भवतु गुणो वा द्रव्यं वा नास्माकं सिद्धान्तक्षतिः, अनियतपदार्थवादित्वात्। सूत्र ५।८५ और १०७ की अनिरुद्धवृत्ति भी द्रष्टव्य है।

अचेतन दो नियत एवं निश्चित वर्ग के तत्त्वों का विवेचन कियागया है। आधिभौतिक दृष्टि से उनको पच्चीस तथा आध्यात्मिक दृष्टि से साठ विभागों में विभक्त दिखायागया है। इसलिये सांख्यवादियों को अनियतपदार्थवादी नहीं कहाजासकता। इसी कारण (१।६१) सूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने अनिरुद्ध का प्रत्याख्यान करते हुए स्पष्ट लिखा है—'**एतेन सांख्यानामनियतपदार्थाभ्युपगम इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः**'। सांख्यों को अनियतपदार्थवादी कहना मूर्खों का प्रलाप है, इसकी उपेक्षा करनी चाहिये। कपिल ने स्वयं सूत्रों में तत्त्वों के इन विभागों को यथास्थान स्पष्ट किया है, फिर कैसे कहाजासकता है, कि सांख्य अनियतपदार्थवादी हैं। इसलिये यह सूत्र सिद्धान्तविरुद्ध होने से इस प्रकरण की प्रक्षिप्तता को स्पष्ट करता है।

प्रक्षिप्त सूत्रों में दूसरा प्रकरण—

(२) इन प्रक्षिप्त सूत्रों में दूसरा प्रकरण सत्ताईसवें सूत्र से इकतालीसवें सूत्र तक कल्पना कियागया है। इस प्रकरण (२७-४१ तक) का प्रारम्भ अनिरुद्ध ने इसप्रकार किया है—**बौद्धपक्षं निरस्यति।**' विज्ञानभिक्षु इसका प्रारम्भ करता है—'**अपरे नास्तिका आहुः—क्षणिका बाह्यविषयाः सन्ति, तेषां वासनया जीवस्य बन्ध इति तदपि दूषयति—।**' इस अवतरणिका से ज्ञात होता है—इस प्रकरण में क्षणिकबाह्यार्थवादी सौत्रान्तिक और वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्धों का खण्डन होना चाहिये। विज्ञानभिक्षु ने इसी प्रकरण के ३४वें सूत्र की जो अवतरणिका लिखी है, उससे ज्ञात होता है—वह इसमें एक और अवान्तर प्रकरण मानता है। वह लिखता है—**ननु बन्धस्यापि क्षणिकत्वादनियतकारणकोऽभावकारणको वा बन्धोऽस्त्वित्याशयेनापरो नास्तिकः प्रत्यवतिष्ठते—।** बन्ध के भी क्षणिक होने से बन्ध का कोई नियत कारण नहीं कहाजासकता, अथवा कारण का कथन करना ही असम्भव है, क्योंकि बन्ध के क्षणिक होने पर कारण की कल्पना सचमुच असंगत होगी, इस आशय से दूसरा नास्तिक प्रत्यवस्थान करता है—। विज्ञानभिक्षु की यह अवतरणिका युक्त प्रतीत नहीं होती। क्योंकि जब आप अवतरणिका में, बन्ध की क्षणिकता के सम्बन्ध में अनियतकारणता या अकारणता दोष उपस्थित कररहे हैं, तब आप उस सूत्र का अवतरण कैसे करसकते हैं, जिसमें प्रत्येक वस्तु की क्षणिकता को सिद्ध कियागया है? अनिरुद्ध ने इसकी अवतरणिका इसप्रकार लिखी है—'**आत्माऽस्थिरबोध इत्याह—।**' यह अवतरणिका ठीक है। वैसे तो इस प्रकरण में व्याख्याकारों के अनेक असांगत्य हैं, परन्तु यह बात प्रकरण में भेद डालने वाली है, इसलिये इसका उल्लेख करदिया है। इस प्रकरण के सूत्रों की रचना बड़ी शिथिल और भावहीन प्रतीत होती है।

इस सब के अतिरिक्त विशेष ध्यान देने योग्य अट्ठाईसवां (२८) सूत्र है—'न

बाह्याभ्यन्तरयोरुपरज्यो (ञ्ज्यो) परञ्जकभावोऽपि देशभेदात्, स्रुघ्नस्थ-पाटलिपुत्रस्थयोरिव'। सूत्र के अन्तिम पद हैं–'स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव'। यहाँ भारत के प्रचीन दो प्रसिद्ध नगरों का नामोल्लेख है–स्रुघ्न और पाटलिपुत्र। इससे स्पष्ट होता है–यह सूत्र कपिल-प्रणीत नहीं होसकता; क्योंकि कपिल के समय स्रुघ्न और पाटलिपुत्र की स्थिति नहीं थी, फिर वह इनका उल्लेख कैसे करता ? इससे निश्चित है–यह सम्पूर्ण प्रकरण किसी पण्डित ने बाद में यहाँ मिलादिया है।

इन सूत्रों के प्रक्षेप-काल का अनुमान—

स्रुघ्न-पाटलिपुत्र नामों के उल्लेख से इन सूत्रों के यहाँ मिलाये जाने के समय का अनुमान कियाजासकता है।[1] अलैग्ज़ेण्डर कनिंघम (Alexander Cunningham) ने अपनी पुस्तक 'एन्शण्ट ज्यॉग्रफी ऑफ इण्डिया'[1] (Ancient Geography of India) में ३६५ से ३६६ पृष्ठ तक स्रुघ्न का गवेषणापूर्ण ऐतिहासिक वर्णन लिखा है। आजकल इसको 'सुघ' कहते हैं, अब यह बहुत छोटा-सा गाँव है। ज़िला अम्बाले में जगाधरी से पूर्व 'बूड़िया' गाँव है, इसीसे दक्खिनपूर्व में दयालगढ़, मादलपुर और सुघ ये तीन छोटे-छोटे गांव हैं। भौगोलिक परिस्थिति से यह स्पष्ट ज्ञात होता है–ये सब गाँव किसी समय में एक बड़ी बस्ती के रूप में रहे होंगे। कनिंघम ने लिखा है–यहाँ बहुत पुराने चाँदी और ताँबे के सिक्के पायेगये हैं, जो दिल्ली के तंवर और चौहान राजाओं से लेकर ईसा से एक हज़ार वर्ष पहले तक के हैं। लगभग दो सहस्र वर्ष अन्तराल (एक हज़ार वर्ष ईसा से पहले और एक हज़ार वर्ष बाद) के सिक्कों का यहाँ पायाजाना सिद्ध करता है–उस समय स्रुघ्न एक विशाल समृद्धिशाली नगर था। ऐसे समय में उदाहरण के लिये उसका नाम लियाजाना संगत है। पाटलिपुत्र नगर अनेक वार बसता और उजड़ता रहा है, ऐसा इतिहासवित् बताते हैं। यहाँ पाटलिपुत्र का वह अभ्युदयकाल अपेक्षित है, जब स्रुघ्न नगर अपने पूर्ण उन्नत अभ्युदय के शिखर पर विद्यमान रहा। ऐसा समय कौन-सा संभव है; इसके निश्चय के लिये इन सूत्रों [२०-५४ तक] में विवृत व विवेचित मतों के पर्यालोचन से उपयुक्त प्रकाश पड़सकता है।

प्रक्षेप के प्रथम-प्रकरण में जहाँ अनिरुद्ध शांकराभिमत अद्वैत विचार से बन्ध के कारण का प्रतिषेध करना बताता है; वहाँ विज्ञानभिक्षु क्षणिकविज्ञान-वादी बौद्ध के विचार का प्रतिषेध कहता है। परन्तु बाईसवें सूत्र की व्याख्या

---

१. देखें–Alexander Cunningham की Ancient Geography of India पृष्ठ ३६७, ३६८। कलकत्ता से सन् १६२४ में प्रकाशित, श्रीसुरेन्द्र नाथ मजूमदार, शास्त्री, M A. द्वारा सम्पादित।

में स्वयं विज्ञानभिक्षु वेदान्तविषयक शांकरमत को आधुनिक वेदान्तिब्रुवों का मायावाद कहता हुआ उसे क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध से संगत मानकर उसका प्रतिषेध भी उक्त सूत्रों द्वारा स्वीकार करता है। पर यह स्मरण रखना चाहिये, वह (भिक्षु) ब्रह्ममीमांसा (ब्रह्मसूत्र-वेदान्त दर्शन) में शङ्कर द्वारा अभिव्यक्त कियेगये अद्वैत सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। तात्पर्य है, उसकी दृष्टि से ब्रह्ममीमांसा में जो सिद्धान्त इस विषय [आत्मा के बन्ध कारण] का प्रतिपादित है; उसका प्रतिषेध इन सूत्रों का विवेच्य विषय नहीं है।

इसका अभिप्राय है—अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु दोनों के विचार से आधुनिक मायावाद अर्थात् शांकरमत के आत्म-बन्धकारण का प्रतिषेध प्रस्तुत सूत्रों द्वारा कियागया है। इससे यह परिणाम स्पष्ट होता है, कि इन सूत्रों का प्रक्षेप शङ्कर-प्रादुर्भाव काल के पश्चात् होना चाहिये। शङ्कर के प्रादुर्भाव का वास्तविक काल विक्रम पूर्व पाँचवीं शती का मध्य [४५२ वर्ष पूर्व—५०६ बी० सी०] है। आधुनिक विद्वानों द्वारा अनुमानित तथाकथित काल [ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी] उक्त नगरों की स्थिति के साथ संगत नहीं होता। हर्षवर्धन-काल [ईसा की छठी शताब्दी] में पाटलिपुत्र बड़ा नगर नहीं मानाजाता था, वह इससे पहले ही नष्टप्राय होचुका था। निश्चित है, प्रसिद्धि एवं महानगर होने के आधार पर उसके नाम का उल्लेख इस काल से बहुत पहले ही कभी होसकता था। शंकर का काल यदि ख्रीस्ट आठवीं शती मानाजाता है, तो प्रक्षेप सूत्रों के प्रथम प्रकरण में शांकर मत का विवेचन नहीं आसकता था।

विक्रम की आठवीं शताब्दी में यमुना की भयङ्कर बाढ़ से स्रुघ्न भी ध्वस्त-प्राय होचुका था। स्वयं हमने उस प्रदेश को घूमकर देखा है, छोटा-सा गाँव सुघ अब ऊँची ढाँग पर बसा है, उसके कुछ पच्छिम की ओर काल एवं परिवर्त्तन के थपेड़ों से बचे हुए किसी गढ़ के से चिह्न दिखाई देते हैं। पूर्व की ओर का विस्तृत नगर का भाग बाढ़ में पूर्णरूप से ध्वस्त होगया था। अब यमुना का बहाव अनेक सदियों से मीलों पूर्व की ओर हट गया है। अब उस यमुना के खादर में न मालूम कितनी शताब्दियों से अनेक गाँव बसे हुए हैं। उत्तर में 'ताजेवाला' गाँव से लेकर नीचे दक्षिण की ओर 'बोगरीवाला' तक का इलाका अब भी इस नजरिये से देखा-जाँचाजासकता है। इसी खादर के पच्छिमी भाग में होकर 'ताजेवाला' से 'बोगरीवाला' तक नहर को बाँध कर लायागया है। बोगरीवाला में नहर को व्यवस्थित किया है। फलतः 'स्रुघ्न-पाटलिपुत्र' नगरों का नाम-निर्देश—विक्रम संवत् प्रारम्भ होने के आसपास से पूर्व तथा शङ्कर प्रादुर्भाव के पश्चात्—इतने अन्तराल काल में होना संभव है। वही काल [विक्रम पूर्व ४०० वर्ष से विक्रम की प्रथम शती तक का लगभग पाँच सौ वर्ष का अन्तराल काल] इन सूत्रों के प्रक्षेप का संभव है।

आज हम इस बात को स्पष्ट नहीं कहसकते, कि जिस समय प्रथम ही इन सूत्रों का षडध्यायी में मिश्रण कियागया, उस समय इसके विरुद्ध कुछ आन्दोलन उठा, या नहीं ? पर यह अवश्य कहाजासकता है, कि उस समय में प्रचारप्राप्त अथवा लोकमान्य ग्रन्थों में प्रक्षेप की प्रथा अवश्य प्रचलित थी। महाभारत के २४ हज़ार श्लोकों का एक लाख होजाना इसीका फल है। आजकल जो आयुर्वेद की 'चरकसंहिता' उपलब्ध है, वह अग्निवेश, चरक और दृढ़बल इन तीन आचार्यों द्वारा भिन्न समय में रचित परिष्कृत तथा परिवर्द्धित हुई है। इसलिये यह कहने में संकोच नहीं, कि उस समय के विद्वान् किसी प्रचलित ग्रन्थ को समयानुकूल बनाने अथवा अपनी मान्यताओं की स्थिरता के लिये उसमें विषयानुकूल उपयुक्त कुछ प्रक्षेप करदेना, और इस रीति से अपने विचार के अनुसार उसकी कमी को पूरा करना एवं अपने विचारों को स्थायित्व देना बुरा नहीं समझते थे; चाहे आज हमारा विचार कैसा ही हो; तथा इतिहास में उससे कितना ही गड़बड़-घोटाला होता हो।

प्रक्षिप्त सूत्रों में तीसरा प्रकरण—

(३) इन प्रक्षिप्त सूत्रों में तीसरा प्रकरण बयालीसवें सूत्र से सैंतालीसवें [४२-४७] सूत्र तक कल्पना कियागया है। अनिरुद्ध इसका प्रारम्भ यों करता है—'बाह्यवस्तूपरागाद् बन्ध इत्युक्तम्। ननु बाह्यं च वस्तु नास्ति, विज्ञानात्मकत्वाज्जगत इति विज्ञानवादिनं निराकरोति—' विज्ञानभिक्षु इस प्रकरण का अवतरण करता है—'अपरे तु नास्तिका आहुः—विज्ञानातिरिक्तवस्त्वभावेन बन्धोऽपि विज्ञानमात्रं, स्वप्नपदार्थवत्। अतोऽत्यन्तमिथ्यात्वेन न तत्र कारणमस्तीति, तन्मतमपाकरोति।' इन अवतरणिकाओं में कोई विशेष अर्थभेद नहीं, पर अनिरुद्ध ने स्पष्ट विज्ञानवादी का नाम लेदिया है। ४२, ४३, ४४ सूत्रों में साक्षात् बौद्धों के कई प्रसिद्ध पारिभाषिक पद प्रयुक्त हुए हैं। अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु दोनों व्याख्याकार इस प्रकरण का तात्पर्य, बौद्धों के शून्यवाद के खण्डन में समझते हैं। हमारे विचार में इन बौद्ध दार्शनिक पारिभाषिक पदों का प्रयोग और इसप्रकार के खण्डन-मण्डन की कल्पना, कपिल के समय में करना, सम्भावना से बाहर की बात है। इसलिये यही मानना ठीक होगा—ये सूत्र कपिल के पश्चात् बौद्धों के प्रभावकाल में उनके मतों का समावेश व प्रत्याख्यान करने के लिये यहाँ मिलायेगये, जैसाकि पिछले प्रकरण में निर्णय कियागया है।

प्रक्षिप्त सूत्रों में चतुर्थ प्रकरण—

(४) इन सूत्रों में चौथा प्रकरण अड़तालीसवें सूत्र से चौवनवें [४८-५४] सूत्र तक समाप्त कियागया है। इसका प्रारम्भ अनिरुद्ध ने इसप्रकार किया है—

'शून्यवादिनं निराकर्तु देहपरिमाण आत्मेति क्षपणकमतमाह"। अर्थात् शून्यवाद का निराकरण करने के लिये, आत्मा को देह-परिमाण माननेवाले क्षपणक (जैन) मत का कथन करते हैं–। विज्ञानभिक्षु ने इस प्रकरण का आरम्भ अन्य रीति से किया है। वह लिखता है–'**तदेवं बन्धकारणविषये नास्तिकमतानि दूषितानि। इदानीं पूर्वनिरस्तावशिष्टान्यास्तिकसम्भाव्यान्यप्यन्यानि बन्धकारणानि निरस्यन्ते**'। इसप्रकार बन्ध के कारणों को बताते हुए नास्तिक मतों का खण्डन करदिया है, अब पहले प्रत्याख्यान में शेष रहे हुए आस्तिकों के द्वारा सम्भावित अन्य बन्ध कारणों का भी निरास कियाजाता है।

एक ही सूत्र की दो भिन्न-भिन्न अवतरणिकाओं के होने से यहाँ हमारा ध्यान एक बात की ओर आकृष्ट होता है। वह है–इन दोनों अवतरणिकाओं के लिखे जाने का विभिन्न समय। अनिरुद्ध की अवतरणिका उस समय लिखीगई प्रतीत होती है, जब यहाँ बौद्ध धर्म के साथ जैनधर्म का प्राबल्य था, परन्तु विज्ञानभिक्षु की अवतरणिका जैनियों की प्रबलता का लोप होजाने पर तथा वर्त्तमान वैष्णव सम्प्रदायों के बल पकड़ने पर लिखीगई प्रतीत होती है। क्योंकि तात्कालिक आस्तिक सम्प्रदायों में वैष्णव आत्मा को अणु-परिमाण मानकर, उसमें गति, आगति मानते रहे हैं, इसलिये विज्ञानभिक्षु के विचारानुसार वैष्णव सम्प्रदाय के खण्डन के लिये इस सूत्र की रचना कीजासकती है। इसके सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन 'सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार' नामक षष्ठ अध्याय में कियाजायगा। इतना अवश्य कहाजासकता है–इन सूत्रों की रचना जैन आदि सम्प्रदायों का प्रत्याख्यान करने के विचार से कीगई है, यह सम्भव है।

प्रक्षिप्त प्रकरण के अन्तिम सूत्रों की पुनरुक्तता—

इस सबके अतिरिक्त प्रक्षिप्त प्रकरण के अन्तिम तीन सूत्र इस विचार को पुष्ट करने के लिये प्रबल प्रमाण हैं, कि ये सूत्र कपिलप्रणीत नहीं कहेजासकते। इन तीन सूत्रों के पाठक्रम में अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु ने परस्पर कुछ भेद करदिया है। अनिरुद्ध इन सूत्रों को इस क्रम से पढ़ता है—

न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात्।
निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति।
अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे।

परन्तु विज्ञानभिक्षु ने इनका क्रम इसप्रकार रक्खा हैं—

न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात्।
अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे।
निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति।

इन सूत्रों की रचना में सबसे पहले ध्यान देने की बात है–पुनरुक्ति दोष। व्याख्याकार इन सूत्रों को कर्म से बन्ध होने के प्रत्याख्यान में लगाते हैं, पर इस अर्थ का प्रतिपादन प्रथम १५, १६ सूत्र में कियाजाचुका है। यह सर्वथा कल्पना के बाहर है, कि महर्षि कपिल एक प्रकरण में एक ही बात को बतलाने के लिये दो स्थलों पर सूत्रों की रचना करता। यहाँ जिस बात को **'न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात्'** और **'अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे'** इन दो सूत्रों से प्रकट किया है, ठीक इसी बात को और इन्हीं शब्दों में कपिल ने प्रथम सोलहवें सूत्र में कहा है–**'न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च'**। इससे स्पष्ट है–ये दोनों सूत्र व्यर्थ तथा पुनरुक्त हैं। इसीप्रकार **'निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति'** सूत्र से प्रतिपाद्य अर्थ को **'असङ्गोऽयं पुरुष इति'** इस सूत्र के द्वारा प्रथम प्रकट करदियागया है। इन दो सूत्रों में यह भी ध्यान देने की बात है, कि दोनों जगह अन्त में 'इति' पद का प्रयोग कियागया है। प्रथम सूत्र **'असंगोऽयं पुरुष इति'** में 'इति' पद के प्रयोग की संगति स्पष्ट है; सम्भवतः है, वहाँ प्रथम पदों की श्रुति का उद्धरण बतलाने के लिये 'इति' पद का प्रयोग हुआ हो। श्रुति में साक्षात् इन्हीं पदों के द्वारा पुरुष को असङ्ग बतायागया है[1]। परन्तु अगले सूत्र **'निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति'** में 'इति' पद क्यों पढ़ागया? यह विचारणीय है। विज्ञानभिक्षु के सामने यह समस्या अवश्य उपस्थित हुई ज्ञात होती है। इसका समाधान करने के लिये उसने सूत्रों के पाठक्रम में भेद करदिया है, जैसा अभी ऊपर दिखायागया। उसने 'निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति' इस सूत्र को ५४वाँ सूत्र मानकर 'इति' पद की व्याख्या इसप्रकार की है–'इति शब्दो बन्धहेतुपरीक्षासमाप्तौ'। पर हमारे विचार में इति शब्द की व्याख्या ठीक नहीं मालूम होती। क्योंकि १९वें सूत्र में प्रकृतियोग को बन्धयोग का हेतु बताकर इस आकांक्षा को पूरा नहीं कियागया, कि प्रकृतियोग भी आत्मा के साथ कैसे? जबतक इसका उत्तर न देदियाजाय, प्रकरण की समाप्ति नहीं होनी चाहिये। इसलिये वर्त्तमान सूत्रसंख्या के अनुसार ५५वें सूत्र में प्रकरण को समाप्त कहाजासकता है, इससे पूर्व नहीं। ऐसी अवस्था में विज्ञानभिक्षु द्वारा 'इति' शब्द की युक्तता विचारणीय है। अथवा यह कल्पना कीजासकती है, कि प्रकरण के प्रक्षेपकर्त्ता ने अपनी रचना की समाप्ति का द्योतन करने के लिये यहाँ 'इति' पद का प्रयोग किया हो।

इन तीनों सूत्रों के पुनरुक्त होने का महादेव और विज्ञानभिक्षु को आभास हुआ है। उन्होंने इस दोष को हटाने के लिये यत्न भी किया है। पर वे अपने यत्न में सफल नहीं होसके। उन्होंने पहले सूत्र में 'कर्म' पद का अर्थ विहित-निषिद्ध कर्म किया है, और यहाँ उसका अर्थ विहित-निषिद्ध कर्म से जन्य 'अदृष्ट'

---

१. देखो–बृहदारण्यक उपनिषद, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, कण्डिका १५, १६॥

किया है ।[1] वस्तुतः व्याख्याकारों की यह अर्थभेद कल्पना केवल कल्पना है । जब 'कर्म' पद विहित-निषिद्ध कर्म और तज्जन्य अदृष्ट दोनों के लिये प्रयुक्त है, तब एक ही स्थल पर दोनों की बन्धहेतुता का निषेध होसकता है, उसके लिये अतिरिक्त सूत्ररचना निष्प्रयोजन है । यह भी बात है, कि जब विहितनिषिद्धकर्म बन्ध के हेतु नहीं होसकते, तब तज्जन्य अदृष्ट में बन्धहेतुता की कल्पना करना ही असंगत है । वस्तुतः अदृष्ट की कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं, वह केवल कर्मों के फल दिलाने का द्वार है । अर्थात् कर्म और फलों का परस्पर संयोजकमात्र है । यह स्वयं बन्ध का हेतु होजायगा, यह कल्पना दूरापेत है । इसलिये व्याख्याकारों द्वारा पुनरुक्ति दोष का उक्त समाधान संगत प्रतीत नहीं होता । इस सबपर विचार करते हुए यही कहाजासकता है, कि २०वें सूत्र से लगाकर ५४वें सूत्र तक का (३५ सूत्रों का) प्रकरण प्रक्षिप्त है, कपिल-प्रणीत नहीं ।

प्रक्षिप्तप्रकरण के अन्तिम सूत्र की अग्रिम सूत्र से असंगति—

इस मान्यता का एक अन्य उपोद्वलक है—व्याख्याकारों के द्वारा वर्त्तमान ५४वें सूत्र की ५५वें सूत्र से संगति न लगासकना । विज्ञानभिक्षु ५४वें सूत्र के 'इति' पद की व्याख्या के साथ उस सूत्र का व्याख्यान समाप्त करके ५५वें सूत्र की अवतरणिका का प्रारम्भ इसप्रकार करता है—

'तदेवं न स्वभावतो बद्धस्येत्यादिना प्रघट्टकेनेतरप्रतिषेधतः प्रकृतिपुरुषसंयोग एव साक्षाद्बन्धहेतुरवधारितः ।—'

अर्थात् इसप्रकार **'न स्वभावतो बद्धस्य'** (सू० ७) इत्यादि सूत्रसमूह से दूसरे वादों का खण्डन करके प्रकृति और पुरुष के संयोग को साक्षात् बन्ध का हेतु निर्णीत करदियागया है । विज्ञानभिक्षु के इस लेखानुसार देखना चाहिये—**'न स्वभावतो बद्धस्य'** यहाँ से लगाकर कितने प्रकरण से प्रकृति-पुरुष के संयोग को बन्ध का हेतु निश्चित किया है । यह स्पष्ट है—१९वें सूत्र में इस बात का निर्णय है, और उससे पहले इतर वादों का प्रतिषेध कियागया है । अनन्तर **'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते'** यह १९वाँ सूत्र है । इससे निश्चित है—प्रकृतिपुरुषसंयोग की बन्धहेतुता का निर्णायक प्रकरण ७वें सूत्र से १९वें सूत्र तक पर्यवसित है । अनन्तर विज्ञानभिक्षु अवतरणिका में लिखता है—

---

१. 'न हि विहितनिषिद्धकर्मणापि पुरुषस्य बन्धः' । १ । १६ पर विज्ञानभिक्षु । 'पूर्वं विहितनिषिद्धव्यापाररूपेण कर्मणा बन्धो निराकृतः । अत्र तु तज्जन्यादृष्टेनेति, १ । ५२ पर विज्ञानभिक्षु । पूर्वं विहितनिषिद्धव्यापाररूपकर्मणा बन्धो निराकृतः । इदानीमदृष्टकर्मणापि तं निरस्यति ।' १ । ५२ पर महादेव वेदान्ती ।

'तत्रेयमाशंका' । वहाँ (प्रकृतिपुरुषसंयोग की बन्धहेतुता के निर्णायक प्रकरण के सम्बन्ध में) यह आशंका है। विज्ञानभिक्षु उस आशंका को अवतरणिका में इसतरह प्रकट करता है—

ननु प्रकृतिसंयोगोऽपि पुरुषे स्वाभाविकत्वादिविकल्पग्रस्तः कथं न भवति। संयोगस्य स्वाभाविकत्वकादिनिमित्तकत्वे हि मुक्तस्यापि बन्धापत्तिरित्यादिदोषा यथायोग्यं समाना एवेति । तामिमामाशङ्कां परिहरति'—।

अर्थात् प्रकृतिसंयोग भी पुरुष में स्वाभाविकत्व आदि विकल्पों से ग्रस्त क्यों नहीं मानाजाता ? अभिप्राय है–७वें सूत्र से १८वें सूत्र तक बन्धयोग के जो निमित्त बताये गये हैं, उनका खण्डन करके १९वें सिद्धान्त सूत्र में बन्धयोग का निमित्त प्रकृतियोग को बताया है । अब आशंका यह है, कि प्रकृतियोग भी पुरुष के साथ स्वाभाविक है ? या किन्हीं निमित्तविशेषों से होता है ? यदि प्रकृतियोग को स्वाभाविक मानलियाजाय तो प्रकृतियोग के सदा रहने से आत्मा का मोक्ष न होंना चाहिये । यदि प्रकृतिसंयोग का निमित्त काल, देश आदि को मानाजाय, तो उसमें समानरूप से वे दोष उपस्थित होंगे, जो काल देश आदि को बन्ध का निमित्त मानने में बतायेगये हैं (१२वें सूत्र से १८वें सूत्र तक में) । ऐसी अवस्था में मुक्त पुरुष को भी बन्धयोग होजाना चाहिये । इस आशंका का परिहार करता है, ५५वें सूत्र से—

तद्योगोऽप्यविवेकात् न समानत्वम् ।

प्रकृतियोग भी पुरुष में अविवेकरूप निमित्त से होता है, इसलिये काल देश आदि निमित्तों के साथ इसकी समानता नहीं कहीजासकती ।

इस वर्णन से सिद्ध है–विज्ञानभिक्षु ५४वें सूत्र का ५५वें सूत्र से सम्बन्ध न जोड़सका, और ५५वें सूत्र की अवतरणिका के लिये उसे ७ से १९वें सूत्र तक के प्रकरण का अवलम्ब लेना पड़ा । इसलिये शब्दरचना के अतिरिक्त अर्थसम्बन्ध से भी १९ वें सूत्र के आगे यह ५५वाँ सूत्र आना चाहिये, यह निश्चित है । ऐसी अवस्था में २०वें सूत्र से ५४वें सूत्र तक पेंतीस सूत्रों के प्रक्षिप्त होने में कोई सन्देह शेष नहीं रहजाता ।

इस दिशा में अनिरुद्ध का यत्न—

यहाँ यह लिख देना आवश्यक है, कि ५४वें सूत्र का ५५वें सूत्र से सम्बन्ध जोड़ने के लिये व्याख्याकार अनिरुद्ध ने बड़े हाथ-पैर मारे हैं। यह पहले दिखा आये हैं, कि ५३ और ५४वें सूत्रों के क्रम में अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु का भेद है । अनिरुद्ध ने इन सूत्रों का क्रम इसप्रकार रक्खा है—

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ।

अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे ।

पहले सूत्र का अर्थ किया है—'यदि कर्म को आत्मा का धर्म मानाजाय, तो आत्मा को निर्गुण बतलाने वाली 'असङ्गों ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतियों के साथ विरोध होगा। दूसरे सूत्र का अर्थ है–अच्छा, कर्म आत्मा का धर्म मत हो, अन्य के धर्म से भी क्रियाविशेष होजायगा, क्योंकि आत्मा के व्यापक होने से उसका सबके साथ सम्बन्ध है, इसलिये कहा, कि अन्य के धर्म से क्रिया मानने पर अतिप्रसक्ति होगी, सबके साथ सम्बन्ध एक जैसा होने से मुक्त आत्माओं का भी बन्ध होजायगा।' यह व्याख्या करके अनिरुद्ध ५५वें सूत्र की अवतरणिका इस-प्रकार करता है–

'ननु तवापि धर्माधर्मव्यवस्थास्ति, बद्धस्य मुक्त्यर्थे प्रवृत्तिर्दृश्यते। तत्र यस्तव सिद्धान्तः, सोऽस्माकं भविष्यतीति समानमित्यत आह—।'

अर्थात् तेरे [सांख्य के] मत में भी तो धर्म और अधर्म की व्यवस्था है। बद्ध आत्मा की मुक्ति के लिये प्रवृत्ति भी देखीजाती है। इस विषय में जो तेरा सिद्धान्त है, वही हमारा होजायगा, यह दोनों पक्षों में समान है। इसलिये कहता है—

तद्योगेऽप्यविवेकान्न समानत्वम्।

धर्माधर्मयोगेऽपि न समानधर्मत्वम्, अविवेकात्। यदि तात्त्विको धर्माधर्मयोग आत्मनः स्यात्तदा तुल्यत्वम्। किं त्वविवेकादात्मनो धर्माधर्मयोगाभिमान इति क्व समानत्वम्।

अभिप्राय है–आत्मा के साथ धर्माधर्म का योग होने पर भी हमारे तुम्हारे मत में समानधर्मता नहीं होसकती, क्योंकि हम तो धर्माधर्म का योग अविवेक से मानते हैं, यदि आत्मा के साथ धर्माधर्म का योग वास्तविक होता, तो समानता होती।

अनिरुद्ध के मत का विवेचन—

१. इस विषय में सबसे पहली विचारणीय बात यह है, कि अनिरुद्ध ने यहाँ दो मत या पक्षों की समानता की कल्पना का प्रतिषेध इस सूत्र से किया हैं, और धर्माधर्म के आत्मयोग में अविवेक को निमित्त बताया है। धर्माधर्म प्रकृति के परिणाम हैं, इसी तरह इच्छा द्वेष सुख दुःख काम संकल्प विचिकित्सा आदि भी प्रकृति के परिणाम हैं, आत्मा के साथ इनका योग मानने के लिये क्या अब अविवेक से अतिरिक्त और कोई निमित्त ढूंढना चाहिये ? यदि यह कहाजाय, कि धर्माधर्म सबके उपलक्षण हैं, तो यही कहना होगा, कि प्रकृतियोग का निमित्त अविवेक है। अभिप्राय है–बन्धयोग का निमित्त प्रकृतियोग, और प्रकृतियोग का निमित्त अविवेक कहाजाना चाहिये, केवल धर्माधर्मयोग का नहीं।

२. दूसरी बात है–अनिरुद्ध ने अपना अर्थ ठीक करने के लिये सूत्र का पाठ बदल दिया है, 'तद्योगः' प्रथमान्त पाठ की जगह 'तद्योगे' सप्तम्यन्त पाठ बना दिया है, जबकि प्रथमान्त पाठ से उसका अर्थ संगत होसकता था। पर सप्तम्यन्त पाठ बनाकर भी वह अपने अर्थसांगत्य में सफलता प्राप्त न करसका।

३. तीसरी बात है–स्वयं अनिरुद्ध ने १९वें सूत्र की व्याख्या में लिखा है–

अविवेकं विना नात्मनः कदापि बन्धः, किंत्वविवेकाद् बन्ध इत्यभिमानः।

आत्मा का बन्ध अविवेक के विना कदापि नहीं होसकता, क्योंकि आत्मा स्वभावतः नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त है, इसलिये अविवेक से बन्ध का अभिमान ही कहना चाहिये। अब विचारणीय है–अविवेक को आत्मा के बन्ध का निमित्त सांख्य में कहाँ बतायागया है? हमारी दृष्टि में सबसे प्रथम स्थल ५५वां सूत्र ही है। अविवेक बन्ध का निमित्त प्रकृतियोग के द्वारा होसकता है, इसलिये प्रकृतियोग के प्रतिपादक १९वें सूत्र और अविवेक के प्रतिपादक ५५वें सूत्र के बीच अन्य किसी बात का कहाजाना सर्वथा असंगत है। इसलिये ५५वें सूत्र में अविवेक को केवल धर्माधर्म के योग का निमित्त बताना भी असंगत है। इन सब बातों को विचारते हुए निश्चित कहसकते हैं, कि इन सूत्रों का भाव समझने में अनिरुद्ध को भ्रम हुआ है, और वह ५४वें सूत्र के साथ ५५वें सूत्र की संगति लगाने में असफल रहा है। इसलिये २० वें सूत्र से ५४वें सूत्र तक [३५ सूत्रों] के प्रक्षेप में कोई बाधा उपस्थित कीजानी अशक्य है।

प्रथम तीन अध्यायों में और कोई प्रक्षेप नहीं—

इसके आगे प्रथम अध्याय और द्वितीय तृतीय अध्यायों में कोई ऐसा सूत्र या सूत्रांश नहीं मिला, जिसको प्रक्षिप्त कहाजासके, इसलिये सांख्यशास्त्र का यह सम्पूर्ण भाग कपिलप्रणीत है, यह निःसन्दिग्ध कहाजासकता है। साँख्य के इस भाग में उन पच्चीस तत्त्वों और साठ पदार्थों का विस्तृत वर्णन है, जिनके आधार पर इसे 'साँख्यशास्त्र' या 'षष्टितन्त्र' नाम मिला। इन्हीं तीन अध्यायों का संक्षेप ईश्वरकृष्ण ने कारिकारूप में किया है, इसका विस्तृत वर्णन इसी ग्रन्थ के 'षष्टितन्त्र अथवा सांख्य-षडध्यायी' नामक तृतीय अध्याय में करदियागया है।

चतुर्थ अध्याय में प्रक्षेप—

चतुर्थ अध्याय में एक सूत्रांश प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। वहां सूत्रों की पूर्वापर आनुपूर्वी इसप्रकार है—

लब्धातिशययोगात् तद्वत्। २४।
न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत्। २५।
गुणयोगाद् बन्धः शुकवत्। २६।

इनमें २५वें सूत्रका 'शुकवत्' पद प्रक्षिप्त है। इसके प्रक्षिप्त होनेके हेतुओं का निर्देश करने से पहले इन सूत्रों का अर्थ लिखदेना आवश्यक है। २४वें सूत्र का २५वें सूत्र से कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं है, इसलिये उसका यहां अर्थ दिखाना अनावश्यक है, केवल आनुपूर्वी दिखाने के लिये उसका उल्लेख किया है। २५वें सूत्र का अर्थ व्याख्याकारों ने विभिन्नरूप में किया है। अनिरुद्ध अर्थ करता है—

सरागस्यापि मुक्तिर्भविष्यतीति, अत्राह—'न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत्' रागोपहतस्य कामचारित्वमेव नास्ति, किं पुनर्मुक्तिरिति। यथा व्यासस्य सरागस्य न मुक्तिरिति। तत्सुतस्य शुकस्य वीतरागत्वान्मुक्तिर्भूता, एवम्।

अर्थात् रागयुक्त (संसारी) पुरुष की भी मुक्ति होजायेगी, इसलिये इस विषय में कहागया—राग से दबाए हुए पुरुष की कामचारिता ही नहीं है, फिर मुक्ति का तो कहना ही क्या? जैसे रागयुक्त व्यास की मुक्ति नहीं हुई, उसके पुत्र शुक की वीतराग होने से मुक्ति होगई, इस तरह।

इस अर्थ में कई बात विचारणीय हैं—

(१) सबसे प्रथम यह, कि जब अवतरणिका में यह कहागया है, कि—सराग की भी मुक्ति होजायगी, इसलिये सूत्र कहागया—सराग की मुक्ति नहीं होसकती। तब इस अर्थ में 'शुकवत्' उदाहरण कैसे दियाजासकता है? क्योंकि 'सराग की मुक्ति नहीं होसकती' इस बात को कहकर दृष्टान्त उसीका देना चाहिये था जिस सराग की मुक्ति न हुई हो, परन्तु यहाँ दृष्टान्त उसका पायाजाता है, जिसकी मुक्ति होगई है। इससे स्पष्ट है, यह दृष्टान्त सूत्रार्थ का अनुसारी नहीं है।

(२) दूसरी बात अनिरुद्ध के सूत्रार्थ के सम्बन्ध में यह है—इस दृष्टान्तविरोध को हटाने के लिये अनिरुद्ध ने पहले सूत्रार्थानुसारी व्यास का दृष्टान्त दिया है, जो सूत्र में नहीं, फिर सूत्रार्थ का व्यतिरेकी दृष्टान्त शुक का बताया है। क्या ऐसी अवस्था में, सूत्र में सूत्रार्थानुसारी व्यास का दृष्टान्त नहीं दियाजासकता था? यदि यह कहाजाये, कि सूत्ररचयिता ने व्यतिरेकी दृष्टान्त दिया होगा, क्योंकि व्यतिरेकी भी तो दृष्टान्त होता है। इसके विरुद्ध यही कहसकते हैं, कि सूत्रकार ने सम्पूर्ण शास्त्र में कहीं भी व्यतिरेकी दृष्टान्त नहीं कहा। ऐसी अवस्था में सूत्रकार की शैली के सर्वथा विरुद्ध इस एक स्थल में व्यतिरेकी दृष्टान्त कैसे मान लें? यदि कहीं अन्यत्र स्थल में सूत्रकारने व्यतिरेकी दृष्टान्त दिया होता, तो इसे भी मानलियाजाता।

(३) तीसरी बात सूत्रार्थ के सम्बन्ध में यह है—व्याख्याकार अनिरुद्ध ने सूत्र के 'रागोपहते' पद का अर्थ विभक्तिविपरिणाम करके 'रागोपहतस्य' किया है, और 'कामचारित्व' पद का कोई अर्थ नहीं किया। रागोपहत पुरुष के लिये कामचारिता का निषेध करता हुआ अनिरुद्ध, कामचारिता पद का क्या अर्थ समझ

रहा है, इसको कैसे समझें ? कामचारिता का साधारण अर्थ–इच्छानुसार आचरण करना इधर उधर घूमना फिरना–होता है, यह बात, (इच्छानुसार इधर उधर घूमना आदि) रागयुक्त पुरुष के लिये असम्भव है, यह कैसे कहाजासकेगा ? क्या रागी पुरुष में कामचारिता नहीं होती ? संसार में तो रागी पुरुष में ही कामचारिता अधिक देखीजाती हैं। ऐसी अवस्था में अनिरुद्धकृत सूत्रार्थ कुछ जंचता नहीं। यदि कामचारित्व पद का वह अर्थ मानाजाय, जो विज्ञानभिक्षु ने किया है, तब अनिरुद्ध का अर्थ सर्वथा असंगत कहाजायगा। विज्ञानभिक्षु सूत्र का अर्थ इसप्रकार करता है—

> **रागिसङ्गो न कार्य इत्याह—, न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत्' रागोपहते पुरुषे कामतः सङ्गो न कर्त्तव्यः। शुकवत्। यथा शुकपक्षी प्रकृष्टरूप इति कृत्वा कामचारं न करोति। रूपलोलुपैर्बन्धनभयात्। तद्वदित्यर्थः।**

अर्थात् रागी पुरुष का संग न करना चाहिये, इस बात को कहता है–रागी पुरुष में कामना (इच्छा-अपनी खुशी) से संग न करना चाहिये। तोते की तरह। जैसे तोता बड़े अच्छे रूप रंगवाला होता है, यह समझकर वह इच्छानुसार पुरुषों के साथ संग नहीं करता, (अपनी इच्छा से तो वह जंगलों में ही रहता है, आबादी में तोता बहुत कम पायाजाता है, तोतों की बड़ी-बड़ी डार जंगलों में देखीजाती है) क्योंकि उसे डर रहता है, कहीं रूप के लोभी मुझे बांधलें। इस तरह पर यह सूत्र का अर्थ हुआ।

अनिरुद्ध के अर्थ में जो ऊपर दोष दिखाये हैं, वे सब विज्ञानभिक्षु के अर्थ में नहीं हैं। इन दोनों अर्थों में यह एक बड़ा भेद है, जो 'शुक' पद के अर्थ का है। अनिरुद्ध के अनुसार यदि शुक पद का अर्थ, व्यास-पुत्र शुकदेव कियाजाता है, तो वह सूत्रार्थ के सर्वथा विपरीत होजाता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार यदि उसका अर्थ तोता कियाजाता है, तो सूत्रार्थ की संगति तो होजाती है, परन्तु एक और आपत्ति सामने आखड़ी होती है। वह है, अगले 'गुणयोगाद् बन्धः शुकवत्' सूत्र का 'शुकवत्' पद। अभिप्राय है–इस सूत्र के शुक पद का अर्थ सिवाय तोते के और कुछ नहीं होसकता। ऐसी अवस्था में पिछले सूत्र से यहां इस पद की अनुवृत्ति आसकती थी, फिर यहां 'शुकवत्' पद क्यों रक्खागया ? प्रतीत होता है, इस(२६वें) सूत्र में मौलिक रूप से 'शुकवत्' पद रक्खागया, क्योंकि पहले (२५वें) सूत्र में यदि वास्तविकरूप से 'शुकवत्' होता, तो दूसरे सूत्र में उसके पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि पहले सूत्र से इसमें उस पद की अनुवृत्ति के लिये कोई बाधा नहीं दीखती। पर दूसरे सूत्र में यह पद साक्षात् पढ़ागया है, इसलिये स्पष्ट मालूम होता है, कि पहले सूत्र में यह पद अवश्य न होगा। फिर यह आया कहां से ? यह विचारणीय है। रिचर्ड गार्बे (Richard Garbe) ने अपनी सम्पादित

अनिरुद्धवृत्ति में इस सूत्र पर एक टिप्पणी दी है[1]। उससे ज्ञात होता है–किन्हीं हस्तलिखित पुस्तकों में 'शुकवत्' पद 'कामचारित्वं' पद से प्रथम लिखा है। इससे यह परिणाम स्पष्ट होता है–सूत्रकार ने केवल 'न कामचारित्वं रागोपहते' इतना सूत्र लिखा। क्योंकि इस सूत्र का सम्बन्ध अगले सूत्र के साथ है, और दोनों को मिलाकर पूरा अर्थ होपाता है,[2] इसलिये सूत्रकार ने अगले २६वें सूत्र में दोनों सूत्रों का दृष्टान्त 'शुकवत्' देदिया। पर कालान्तर में सूत्रों की इस रचना को न समझते हुए, अथवा समझते हुए भी पहले ही सूत्र में अर्थ की पूर्णता करने के लिये, किसी लेखक ने 'शुकवत्' पद को प्रान्तभाग [Marjin] पर सूत्र के पहले लिख लिया, जैसाकि रिचर्ड गार्बे (Richard Garbe) की टिप्पणी से मालूम होता है। अनन्तर किसी अन्य लेखक ने उस पुस्तक से सूत्रों की प्रतिलिपि करते समय, यह सोचकर कि 'वत्' वाले पद सब सूत्रों के अन्त में लिखे हुए हैं, इस 'शुकवत्' पद को भी आरम्भ से उठाकर अन्त में जोड़ दिया। जिसके कारण सूत्र की उपलभ्यमान रचना बनगई। व्याख्या करते समय अनिरुद्ध को यह बात अवश्य खटकी मालूम होती है, कि इकट्ठे दोनों सूत्रों में 'शुकवत्' पद, एक ही अर्थ को कैसे कह सकता है ? इसलिये उसने पहले सूत्र में शुक का अर्थ व्यासपुत्र करडाला, चाहे वह शेष सूत्रार्थ से इसकी संगति न लगासका। उसके अनन्तरभावी व्याख्याकार विज्ञानभिक्षु ने इस अर्थ के असांगत्य को समझा, और शुक पद का सूत्रार्थानुसारी व्याख्यान किया। इस दशा में अर्थसंगति तो होगई, पर रचनासम्बन्धी न्यूनता अवश्य बनी रही। इसके लिये आवश्यक है–प्रथम सूत्र के 'शुकवत्' पद को प्रक्षिप्त समझा जाय।

'शुकवत्' पदके प्रक्षिप्त होने में उपर्युक्त तीन[3] युक्तियों के होते हुए भी, एक कल्पना और कीजासकती है। दोनों सूत्रों में समानार्थक 'शुकवत्' पद के

---

१. Thus A. C. like the other commentators; B. Puts शुकवत् before कामचारित्वं, [अ. ४. सू. २५ की टिप्पणी। पृष्ठ १७४)

२. प्रथमसूत्र में 'शुकवत्' पद न रहने से दोनों सूत्रों का अर्थ इसप्रकार होता है–रागी पुरुषों में इच्छानुसार (कामनावश) संग न करना चाहिये। २५। क्योंकि ऐसे पुरुषों का संग करने पर उनके गुण अर्थात् राग आदि के साथ सम्बन्ध होने से पुरुष बन्धन में पड़जाता है। तोते की तरह। जैसे तोता अपने गुणों या बहेलिये के फांसों से बांधाजाता है। वैसे ही पुरुष राग आदि से वद्ध होजाता है। सूत्र में 'गुण' पद श्लिष्ट है।

३. (क) अनिरुद्ध के अर्थ का असांगत्य। (ख) २६वें सूत्र में पुनः 'शुकवत्' पद का होना। (ग) रिचर्ड गार्बे (Richard Garbe) की टिप्पणी में निर्दिष्ट 'शुकवत्' पद का क्रमिक स्थान विपर्यय।

रहने पर अर्थसम्बन्धी असंगति तो कोई नहीं रहती, पर रचना की न्यूनता अवश्य प्रतीत होती है, इस अवस्था में कहसकते हैं–आचार्य की शैली ही ऐसी है, कि वह आनुपूर्वी से पढ़े हुए भी दो सूत्रों में समानार्थक दृष्टान्त पद एक से रखदेता है। उदाहरण के लिये सूत्रों से एक स्थल यहाँ उद्धृत हैं—

तत्कर्माजितत्वात्तदर्थमभिचेष्टा लोकवत्।

समानकर्मयोगे बुद्धेःप्राधान्यं लोकवल्लोकवत्। (अ.२. सूत्र४६, ४७)

परन्तु इसको सर्वथा नियम न समझना चाहिये, क्योंकि कई स्थलों पर सूत्रकार ने एक सूत्र में दृष्टान्त देकर, अगले सूत्र में आवश्यकता पड़ने पर केवल अतिदेश करदिया है। जैसे—

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य।

प्रणतिब्रह्म०—०र्बहुकालात्तद्वत्॥ (अ ४ सूत्र १८. १९)

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत्।

लब्धातिशययोगात् तद्वत् (अ ४ सूत्र २३, २४)

फिर भी यह अवश्य मानना पड़ेगा, कि अनिरुद्ध का अर्थ असंगत है, उसने रचना की सूक्ष्मता पर इतना ध्यान नहीं दिया, जितना देना चाहिये था। इसलिये वह सूत्रार्थ से विरुद्ध अर्थ करगया है। ऐसी अवस्था में यह स्थिर करने के लिये कोई बाधा नहीं है, कि इस २५वें सूत्र में व्यास-पुत्र शुकदेव का उल्लेख सर्वथा अप्रासंगिक एवं अमान्य है।

पाँचवें अध्याय के प्रक्षेप—

चतुर्थ अध्याय में और कोई ऐसा सूत्र या सूत्रांश नहीं है, जिसके सम्बन्ध में कपिलकृति-विषयक सन्देह उपस्थित कियाजासके। इसलिये पांचवें अध्याय के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत कियाजाता है। इस अध्याय का प्रथमसूत्र है :—

मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रु (द्भू) तितश्चेति।

सूत्र के सम्बन्ध में पं०राजाराम शास्त्री ने लिखा है, इस रूप में मङ्गलाचरण का विचार नव्यन्याय के ग्रन्थों में ही पायाजाता है। यह रचना प्राचीन अथवा कपिलकृत नहीं कहीजासकती। इसी आधार पर शास्त्री जी ने सांख्यषडध्यायी सूत्रों की अर्वाचीनता को पुष्ट किया है।

कार्य के प्रारम्भ में भगवान् का नामस्मरण अथवा किसी शुभ नाम का स्मरण मङ्गल कहाजाता है। इसप्रकार के आचरण की प्रथा, या उसके सम्बन्ध में विचार करना, नव्य नैयायिकों ने ही प्रारम्भ किया हो, ऐसा नहीं है। आर्य जाति में यह भावना अतिप्राचीन है। इसप्रकार का आचरण सदा से आर्यों में पायाजाता है, और जहाँ तहाँ आर्यसाहित्य में उसका उल्लेख भी मिलता है।

न्याय की जो शैली नवीन या नव्य नाम से कहीजाती है, उसका प्रारम्भ विक्रम की सातवीं शताब्दी के लगभग हुआ। परन्तु उससे बहुत पूर्व के साहित्य में इसप्रकार का मङ्गलाचरणसम्बन्धी विवेचन प्राप्त होता है। पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य में कई स्थलों पर[1] एक संदर्भ इसप्रकार उपलब्ध होता है—

(१) "किं पुनरनेन वर्ण्येन, किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तः, यस्मिन्नुपादीयमानेऽसंदेहः स्यात्? मङ्गलार्थम्। माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मंगलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषकाणि च अध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति।"

इस सन्दर्भ में मङ्गलाचरण से ग्रन्थ की समाप्ति (मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते), और अध्ययन तथा अध्यापन करने वालों का निर्विघ्न कार्यक्रम चलते रहना स्पष्ट निर्दिष्ट कियागया है, पतञ्जलि का समय आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के कथनानुसार विक्रम संवत् के प्रारम्भ से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व है।[2] ऐसी स्थिति में यह कहना, कि मङ्गलाचरणसम्बन्धी इसप्रकार के विवेचन आधुनिक हैं, अथवा नव्य नैयायिकों के ग्रन्थों में ही देखेजाते हैं; युक्त प्रतीत नहीं होता।

(२) दर्शन शास्त्रों के प्रारम्भिक[3] सूत्रों, अन्य सूत्रग्रन्थों तथा महाभारत आदि में माँगलिक पदों के प्रयोग की प्रवृत्ति, तथा मङ्गलाचरण की भावना स्पष्ट उपलब्ध होती है।

(३) अतिप्राचीन काल से 'ओङ्कार' [ओम्] और 'अथ' शब्द के प्रयोग को माँगलिक मानाजाना भारतीय साहित्य में प्रसिद्ध है। एक श्लोक गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा अज्ञातकाल से चला आता है—

"ओङ्कारश्चाथशब्दश्चद्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥"

---

१. व्याकरण महाभाष्य,पस्पशाह्निक १।१।१ सूत्र तथा १।३।१ सूत्र पर।

२. भाष्यकार पतञ्जलि का यह कालनिर्देश पूर्णतया सन्दिग्ध एवं चिन्त्य है। उसका काल पर्याप्त प्राचीन है। अन्तिम 'उपसंहार' अध्याय में इसका संक्षिप्त विवरण द्रष्टव्य है।

३. अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। सांख्य। अथ योगानुशासनम्। योगसूत्र। अथातो धर्मजिज्ञासा। मीमांसा। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। वेदान्त। अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। वैशेषिक। प्रमाणप्रमेय०। न्यायदर्शन। अथ शब्दानुशासनम्। महाभाष्य। वृद्धिरादैच्। पाणिनि। नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्। महाभारत।

(४) इसके अतिरिक्त अतिप्राचीन काल से प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में मन्त्रोच्चारण के द्वारा मंगलाचरण की प्रवृत्ति स्पष्ट देखीजाती है। प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में आज भी वे मन्त्र उल्लिखित हुए उपलब्ध होते हैं।

(५) मन्त्रों का उच्चारण करते समय उनके प्रारम्भ में 'ओम्' पद का उच्चारण अतिप्राचीन काल से आवश्यक समझा जातारहा है; यह मंगलाचरण की भावना से ही कियाजाता है। पाणिनि ने इस सम्बन्ध में एक नियम का उल्लेख किया है, मन्त्र के प्रारम्भ में 'ओम्' का उच्चारण प्लुत स्वर में होना चाहिए।[1] इसलिये कार्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण की प्रवृत्ति को नवीन नहीं कहाजासकता। कपिल के काल से बहुत पहले आर्य जनता इस प्रवृत्ति को निश्चितरूप में स्वीकार करती चली आई है। ऐसी स्थिति में कपिल का इस विषय पर विचार करना संगत है।

कपिल ने मंगलाचरण के तीन प्रयोजक हेतुओं का उल्लेख किया है, और उनके आगे 'इति' पद का प्रयोग कर इस बात का निर्धारण कर दिया है, कि इन हेतुओं के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयोजक हेतु की कल्पना नहीं कीजानी चाहिये। वे हेतु इसप्रकार हैं—

"शिष्टाचारात्, फलदर्शनात्, श्रुतितः"

शिष्ट पुरुषों का आचार इस बात के लिये सुन्दर उदाहरण है, कि कार्य के प्रारम्भ में व्यक्ति को मंगलाचरण अवश्य करना चाहिये। महाभारत, सूत्र-ग्रन्थों तथा उपनिषदों में इस प्रवृत्ति को प्रत्यक्षरूप में हम आज भी देख सकते हैं। इससे प्राचीन ऋषि मुनियों की मंगलाचरण की प्रवृत्ति स्पष्ट होजाती है।

शुभ कार्यों के करने से शुभ फल की प्राप्ति भी आवश्यक होती है। जो कार्य कियाजाता है, उसका फल अवश्य होता है, यह एक साधारण नियम है। मंगलाचरण शुभ कार्य है, हम उसके फल की इच्छा रक्खें या न रक्खें, फल तो अवश्य मिलेगा, और वह अच्छा ही होगा। इस विचार से कार्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण की भावना दृढ़ होती है। यह बात आर्य जनता में इतना अधिक घर किये हुए है, कि आज भी एक साधारण ग्रामीण तक जब अपने किसी कार्य को प्रारम्भ करता है, तो प्रथम भगवान् का नाम स्मरण अवश्य करता है।

श्रुति अर्थात् वेद के पाठ या अध्ययन क्रम से भी इस बात की पुष्टि होती है, कि कार्य के प्रारम्भ में भगवान् का नाम स्मरण अवश्य होना चाहिये, उसीको मंगलरूप कहागया है। वेद में स्पष्टरूप से कार्यारम्भ के अवसर पर भगवन्नामस्मरण का निर्देश उपलब्ध होता है। ऋ० [१।५७।४] का मन्त्रहै—

---

१. ओमभ्यादाने, पाणिनि, ८.२.८७॥

'इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।'' इसीलिये वेद के प्रत्येक मन्त्र के उच्चारण के प्रारम्भ में 'ओम्' का उच्चारण कियाजाता है । श्रुति के अध्ययनादि की यह परम्परा मंगलाचरण की प्रयोजक है । इसी व्यवस्था एवं तन्मूलक परम्परा के आधार पर पाणिनि [८ । २ । ८७] ने मन्त्र के प्रारम्भ में बोले जाने वाले परमात्मा के मुख्य नाम 'ओम्' पद की 'टि' को प्लुतरूप में उच्चारण करने का विधान किया है । पाणिनि से पूर्व और उसके काल में यह व्यवस्था निश्चित रही होगी, उसीके अनुसार यह विधान किया गया । इसप्रकार कपिल द्वारा कियागया यह वर्णन अर्वाचीन नही कहाजासकता ।

वस्तुत: कपिल का यह सूत्र मंगलाचरण के स्वरूप का निर्देश करता है । प्रत्येक ऐसा आचरण जो [शिष्टाचारात्] न्याय, पक्षपात रहित, [फलदर्शनात्] सत्य तथा [श्रुतित:] वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा के अनुसार यथावत् सर्वत्र और सदा अनुष्ठान में आवे, उसीको मंगलाचरण कहना चाहिये । किसी कार्य के प्रारम्भ से अवसान पर्यन्त उक्तरूप में उसका पूर्ण कियाजाना मंगलाचरण का वास्तविक स्वरूप है ।

पञ्चमाध्याय के [२-७३]७२ सूत्रों का विषय विवेचन—

इसके आगे दूसरे सूत्र से लेकर इस अध्याय में अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों पर विचार कियागया है । सबसे प्रथम दूसरे सूत्र से तिहत्तरवें सूत्र (२-७३) तक के प्रकरणों का निर्देश कर देना अपेक्षित हैं; क्योंकि इस प्रकरणसमुदाय में केवल ४ सूत्र ऐसे हैं, जिन्हें प्रक्षिप्त कहाजासकता है । ७४ वें सूत्र से जिस प्रकरण का प्रारम्भ कियागया है, उसमें अधिक सूत्र प्रक्षिप्त हैं, इसलिये उनका निर्देश अनन्तर कियाजायगा । दूसरे सूत्र से प्रकरणों का क्रम इसप्रकार है—

२—११=ईश्वरविवेचन
१२ =प्रधानकार्यत्वोपसंहार
१३—१९=औपनिषदिक अविद्यायोगनिराकरण
२०—२४=धर्माधर्मविचार
२५ =धर्मादि के अन्त:करणधर्म होने का निर्णय
२६—२७=सत्त्व आदि गुणों की सिद्धि
२८—३६=व्याप्तिविचार

१. हे इन्द्र ! परमैश्वर्ययुक्त परमात्मन् ! समस्त विश्व तुम्हारा ऐश्वर्य है । सबके द्वारा तुम्हारी स्तुति कीजाती है । ये हम सब तुम से ही प्रारम्भ कर-तुम्हारे ही नाम का सहारा लेकर-अपने आचरणों-कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं ।

३७—४४=शब्दार्थसम्बन्धविचार
४५ =वेदानित्यत्वविचार
४६—५०=वेदापौरुषेयत्वविचार
५१ =वेदप्रामाण्यविचार
५२—५६=ख्यातिविचार
५७—६०=प्रक्षिप्त सूत्र
६१—६४=आत्मनानात्वविचार
६५ =औपनिषदिक आत्मा, अविद्या, या उभय की जगदुपादान-कारणता का निषेध
६६—६८=आत्मा की औपनिषदिक चिदानन्दरूपता का निषेध
६९—७१=मन की जगदुपादानकारणता का निषेध
७२—७३=प्रकृतिपुरुषनित्यत्वोपसंहार

इन सब प्रकरणों में परस्पर क्रमिक सम्बन्ध विद्यमान है। उसको देखते हुए इनकी आनुपूर्वी को विशृंखलित नहीं कियाजासकता। इसलिये जो सूत्र यहाँ कालान्तर में मिलाये गये, वे स्वयं अपनी साक्षी देरहे हैं, क्योंकि उनका पूर्वापर प्रकरण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता। इसको स्पष्ट करने के लिये आवश्यक है, इन प्रकरणों के परस्पर क्रमिक सम्बन्ध का दिग्दर्शन करायाजाय। इन प्रकरणों को मुख्यतया दो भागों में बाँटा जासकता है—

(१) प्रथम प्रकरण है—२–२५=ईश्वर के स्वरूप का विवेचन।

इसमें प्रथम ईश्वर के स्वरूप का विवेचन करने के साथ यह बतायागया है, कि ईश्वर जगत् का अधिष्ठाता है, जगत् का उपादान नहीं। इसके अनन्तर श्रुति के आधार पर स्पष्ट कियागया है, कि इस जगत् का उपादान प्रकृति है (१२ सू०)। श्रुति के आधार पर जगत् को प्रकृति का कार्य बताने के कारण यह आशंका संभव है, कि उपनिषदों में आपाततः ऐसे संकेत उभारे जासकते हैं, जिनके आधार पर अविद्यायोगनिमित्तक ब्रह्म को जगत् का उपादान कहने में बल मिलता है, तब श्रुति के आधार पर प्रकृति को जगत् का उपादान क्यों और कैसे मानाजाय? इसका उत्तर १९वें सूत्र तक दिया है। अनन्तर, धर्माधर्म को जगदुत्पत्ति में निमित्त होने से, उनका विचार कियागया है। २५वें सूत्र में यह निर्णय करदियागया है, कि धर्माधर्म आदि, प्रकृति के संयोग से होते हैं, आत्मा के साथ इनका सम्बन्ध बिना प्रकृति सहयोग के नहीं होता। यहाँ प्रथम प्रकरण समाप्त होता है।

(२) दूसरा प्रकरण है—

२६–५६=सत्त्व आदि गुणत्रयरूप प्रधान की सिद्धि। २६ और २७ सूत्र में सुख-दुःख, मोह या सत्त्व-रजस्-तमस् का प्रत्यक्ष न होने से सर्वथा अभाव नहीं

कहाजासकता, क्योंकि अनुमान प्रमाण से इनकी सिद्धि होती है। प्रथम अध्याय में अनुमान प्रमाण से प्रकृति की सिद्धि प्रसंगवश अनेक स्थलों पर कीगई है।[1] इसलिये उसको यहाँ दुबारा लिखने की आवश्यकता नहीं। प्रसंगवश अनुमान के मूल–व्याप्ति का यहाँ विशद वर्णन कियागया है।

कदाचित् कतिपय विद्वानों का यह विचार होसकता है, कि इस प्रकरण में व्याप्ति का जो निरूपण है, वह गौतम के न्यायशास्त्र से लियागया हो ? पर यह विचार संगत नहीं, क्योंकि सांख्यशास्त्र में तीन प्रमाणों की प्रस्तावना मौलिक है–प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रथम अध्याय में तीनों प्रमाणों का स्पष्ट वर्णन है[2]। इनके सम्बन्ध में यह नहीं कहाजासकता, कि प्रमाणों के ये नाम गौतम के न्याय से लियेगये हैं। क्योंकि कपिल प्रथम दार्शनिक है। जब इस बात में कोई सन्देह नहीं, कि उसने प्रकृति, महत् आदि तत्त्वों का अन्वेषण कर सबसे प्रथम इसको जनता के सन्मुख प्रस्तुत किया, तब इसमें भी सन्देह नहीं होनाचाहिये, कि इन तत्त्वों के विवेचन के लिये उसने प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की मौलिक उद्भावना की। क्योंकि प्रमाणों के बिना तत्त्वों का विवेचन असम्भव है। यह अधिक संभव है, कि गौतम ने इन प्रमाणों को यहाँ से लिया, और उनमें एक 'उपमान' प्रमाण अधिक मिलाकर उनकी संख्या चार करदी। गौतम ने प्रमाणों के नाम वे ही रक्खे, जो कपिल ने। आश्चर्य है–कपिल ने शब्द का लक्षण जिस आनुपूर्वी में किया है, ठीक उसी आनुपूर्वी में गौतम ने शब्द का लक्षण किया है[3]। इसप्रकार जब कपिल प्रमाणों के साथ अनुमान प्रमाण की उद्भावना, करसकता है, तब अनुमान के प्रयोग की उद्भावना करना उसके लिये स्वाभाविक है। प्रतिज्ञा हेतु और दृष्टान्त के सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये 'व्याप्ति' आदि का विवेचन अप्रासंगिक नहीं कहाजासकता। कपिल ने अपने अनेक सूत्रों में हेतु और उदाहरण के प्रयोगों को दिखाया है[4]। इसलिये निश्चित है–अनुमान सम्बन्धी व्याप्ति

१. देखिये, प्रथम अध्याय के सूत्र ६२-६५; ६७; ७९; ११०; ११४-११८; १२९-१३२; १३५-१३७। इन स्थलों के अतिरिक्त छठे अध्याय में भी इसका निरूपण कियागया है।

२. देखिये सांख्यसूत्र अध्याय १, सूत्र ८६ से १०१ तक।

३. सांख्यदर्शन अ० १, सूत्र १०१, और न्यायदर्शन अ० १, आ० १, सूत्र ७ की परस्पर तुलना कीजिये।

४. देखिये सांख्यसूत्र अ० १, सूत्र ३, ५६, ५९, ६०, ७९, ९९, ११९, १२२, १२९, ये इतने स्थल केवल प्रथमाध्याय से दिये हैं, और उन्हींका निर्देश कियागया है, जिनमें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण तीनों अवयव दिखाये हैं। प्रतिज्ञा के साथ केवल हेतु या उदाहरण, तो अनेक सूत्रों में निर्दिष्ट कियेगये हैं। अगले अध्यायों में ऐसे अनेक सूत्र हैं, जिनमें तीनों अवयवों का निर्देश कियागया है।

आदि की उद्‌भावना, कपिल की अपनी सम्पत्ति है, सांख्य ने उसे और कहीं से उधार नहीं लिया। इसप्रकार व्याप्ति का निरूपण गौतमसूत्रों में तो कहीं है भी नहीं। इस रीति से पञ्चमाध्याय के इस प्रकरण में २६ से ३६ सूत्र तक अनुमान के बल पर प्रकृति को सिद्ध कियागया है।

अनन्तर शब्द प्रमाण आता है, शब्द से भी मूल-उपादान प्रधान सिद्ध होता है, इसलिये शब्द अर्थ के सम्बन्ध का विवेचन ३७वें सूत्र से प्रारम्भ होता है। यह विचार ४४वें सूत्र तक कियागया है। फिर ४५ से ५१ सूत्र तक वेदों के अनित्यत्व, अपौरुषेयत्व और प्रामाण्य का विवेचन है। ध्वनि-रूप में अनित्य होने पर भी वेद का प्रामाण्य, सांख्यको अभिमत है। इससे यह भी स्पष्ट सिद्ध है, कि सांख्य, शब्दमात्र को अनित्य मानता है। अनित्य होने पर भी वेद की प्रमाणता स्वीकार कर सांख्य, शब्द के बल पर भी प्रकृति की सिद्धि मानता है। इसप्रकार अनुमान और शब्द के आधार पर प्रधान की सिद्धि के लिये इस प्रकरण में अनुमान और शब्द का विस्तृत विवेचन कियागया हे। इसके अनन्तर प्रत्यक्षमूलक, प्रधान की सत्यता, सिद्ध करने के लिये ख्याति का विचार प्रारम्भ होता है। यह विचार ५२ से ५६ सूत्र तक में है। लोक में प्रत्येक व्यक्ति को जो भ्रान्त-प्रतीति होती हैं, उनके निर्णय के अनुसार जगत् के मूल उपादानकारण का निर्णय कियाजाता है, दार्शनिक प्रक्रिया में इस विचार को ख्यातिविचार कहा-जाता है। इस रीति पर सांख्यमतानुसार प्रत्यक्ष मूलक भी, उपादानकारण प्रधान की सिद्धि कीजाती है। इसप्रकार तीनों प्रमाणों से प्रधान आदि की सिद्धि का प्रकरण ५६ सूत्रतक समाप्त होता है। इसके आगे ५७ से ६० तक चार सूत्र प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। वे सूत्र इसप्रकार हैं—

प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः।
न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः।
पूर्वसिद्धसत्त्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य।
सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्सिद्धसाधनम्।

इसके आगे ६१ सूत्र से आत्मा के नानात्व का साधक प्रकरण प्रारम्भ होता है। ख्याति के अनन्तर आत्मनानात्व का साधक प्रकरण होना चाहिये। क्योंकि आत्मा का भेद या अभेद ख्याति पर अवलम्बित है, इसलिये ख्याति और आत्म-नानात्व विचार के मध्य में शब्द की स्फोटात्मकता या शब्द की नित्यता का निषेध अप्रासंगिक प्रतीत होता है। यहाँ शब्द का न पूर्वप्रकरण के साथ सम्बन्ध है, और न अपर के। इस पूर्वापर प्रकरण के सम्बन्ध के अतिरिक्त यह भी है, कि शब्द का अनित्यत्व इसी अध्याय में पहले सिद्ध करदियागया है[1]। फिर

---

१. शब्द का अनित्यत्व, शब्दमय वेदों की अनित्यता को बताते हुये ४५वें सूत्र में निर्णय करदियागया है।

उसको अनावश्यक दोहराना असंगत है। इसलिये ये चारों (५७ से ६० तक) सूत्र अप्रासंगिक तथा पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं।

६१ से ६४ तक आत्मनानात्वविचार प्रकरण, पहले २५ सूत्र तक के प्रकरण का शेष है, परन्तु २६वें सूत्र से प्रारम्भ होने वाले द्वितीय प्रकरण में प्रधान की सिद्धि और उसकी जगदुपादानकारणता को दृढ़ करने के लिये आत्मोपादान-कारणता का प्रत्याख्यान करना आवश्यक था, इसलिये उससे पूर्व आत्मनानात्व को सिद्ध करके ६५वें सूत्र में आत्मा की उपादानकारणता, तथा दोनों की मिलित उपादानकारणता का प्रत्याख्यान कर, ६६ से ६८ सूत्र में आत्मा के आपाततः प्रतीयमान औपनिषद स्वरूप का खण्डन किया है। आगे ६९ से ७१ सूत्र तक में मन की उपादानकारणता का निषेध कियागया है। इसप्रकार ग्रन्थकार ने प्रधान की उपादानकारणता की पूर्णरूप से पुष्टि की है। आगे ७२ और ७३ सूत्र में, प्रकरण के उपसंहार के बहाने, पुरुष और प्रकृति के अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थ को अनित्य बताकर सांख्यसिद्धान्त को स्पष्ट करदिया है। इसप्रकार प्रारम्भ से ७३वें सूत्र तक पुरुष और प्रकृति का विस्तृत विवेचन है।

मुक्ति के स्वरूप का निरूपण—

इसके आगे ७४वें सूत्र से वह प्रकरण प्रारम्भ होता है, जिसके लिये इस शास्त्र का निर्माण हुआ। वह है–अत्यन्त पुरुषार्थ, या मुक्ति। सांख्यमत से मुक्ति के स्वरूप का निरूपण करने के लिये सूत्रकार प्रथम, कल्पना के आधार पर मुक्ति के अनेक स्वरूप दिखलाकर साथ में उनका निषेध भी करतागया है। सूत्रों की रचना और अर्थप्रतिपादनक्रम को समझने के लिये यहाँ सूत्रों का निर्देश करदेना आवश्यक है। इस प्रकरण में अधिक सूत्रों का प्रक्षेप है, उसको समझने के लिये भी सूत्रों का निर्देश आवश्यक है। पहले प्रारम्भ से उन सूत्रों को लिखते हैं, जिनमें काल्पनिक मुक्तिस्वरूप को कहकर सूत्रकार उसका निषेध करतागया है। सूत्र इसप्रकार हैं—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मकत्वात्।
न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत्।
न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य।
नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात्।
न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात्।
□ एवं शून्यमपि।
□ संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि।
न भागयोगोऽभागस्य।
नाणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात्तदुच्छित्तेरितरवियोगवत्।
नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत्।

इन सूत्रों में आनन्दाभिव्यक्ति, विशेषगुणोच्छेद, विशेषगति, आकारोपरागोच्छेद, सर्वोच्छेद, भागयोग, अणिमादिसिद्धियोग, इन्द्रादिपदयोग (स्वर्गादि) इन आठों के मुक्तिस्वरूप होने का निषेध कियागया है। इन सूत्रों के बीच में ☐ चिह्नित दोनों सूत्र प्रक्षिप्त हैं। एक तो पूर्वापर सूत्रों के साथ उनकी रचना नहीं मिलती, दूसरे इन दोनों सूत्रों का आशय अन्य सूत्रों में आगया है, इसलिये ये व्यर्थ हैं, कपिल-कृति नहीं। **'एवं शून्यमपि'** इस सूत्र का भाव, इससे पहले सूत्र में आचुका है, सर्वोच्छेद ही शून्यवादी की मुक्ति संभव है, सूत्रकार ने इस अर्थ को प्रकट करने के लिये **'शून्य'** पद का प्रयोग न कर **'सर्वोच्छेद'** पद का प्रयोग किया है, यह एक ध्यान देने योग्य बात है। दूसरा सूत्र **'संयोगाश्च वियोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्'** इस प्रसिद्ध लौकिक आभाणक को किसीने यहाँ चस्पां कर दिया। इस सूत्र से मुक्ति का जो स्वरूप सामने आता है, वह 'सर्वोच्छेद' से अतिरिक्त नहीं है। इसलिये यह सूत्र आर्थिक दृष्टि से व्यर्थ है, तथा रचना भी पूर्वापर सूत्रों के साथ मेल नहीं खाती। ऐसी अवस्था में ये दोनों सूत्र निश्चित प्रक्षिप्त कहेजासकते हैं। यह अधिक संभव है-जिस सूत्र में 'सर्वोच्छेद' मुक्ति का स्वरूप बताया, उसको किसी अध्येता-अध्यापयिता आदि ने-सन्तुलित करने की भावना से-इन दोनों सूत्रात्मक सन्दर्भों को हाशिये पर लिखदिया हो; जो कालान्तर में उस प्रति से अन्य प्रतिलिपि करने पर सूत्रपाठ के अन्तर्गत होगये हों।

मुक्ति निरूपण प्रकरण के मध्य में ३२ सूत्रों का प्रक्षेप—

अब इन सूत्रों के आगे जिनमें काल्पनिक मुक्तिस्वरूपों का निषेध कियागया है-या तो सूत्रकार को अन्य ऐसे काल्पनिक मुक्तिस्वरूपों का निषेध करना चाहिये, या अपने सिद्धान्त से मुक्ति के स्वरूप का निरूपण करना चाहिये, तभी प्रकरण-संगति होसकती है। परन्तु **'नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत्'** इस (प्रचलित वर्त्तमान क्रम के अनुसार) ८३ सूत्र के आगे एक तीसरा प्रकरण चल पड़ता है, जिसका पूर्व प्रकरण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। यदि सूत्रकार ने मुक्तिस्वरूप के सम्बन्ध में अपना कोई मत आगे न दिया होता, तो यह समझना स्वाभाविक था, कि प्रकरण यहीं समाप्त होजाता है; और ८४ सूत्र से दूसरा प्रकरण प्रारम्भ होता है। पर ऐसा नहीं है, सूत्रकार ने स्वयं ११६ सूत्र से ११९ सूत्र तक अपने सिद्धान्त के अनुसार मुक्ति का विचार किया है। यदि यहाँ पर मुक्ति के सम्बन्ध में केवल एक आध ही सूत्र होता, तो सम्भवतः उस सूत्र को उत्प्रकरण कहने को तयार होजाते, पर यहाँ इकट्ठे चार सूत्रों को उत्प्रकरण कहना असंगत होगा, जब सूत्रकारने अन्य अनेक वादों का निषेध करने के लिये, एक-एक वादका निषेध कर केवल आठ सूत्र लिखे हैं, तब अपने सिद्धान्त का निरूपण करने के लिये चार

सूत्रों का लिखाजाना उपयुक्त ही है। ऐसी अवस्था में इस प्रकरण को इकट्ठा कर देने के लिये–जिसके बिना सूत्ररचना उछृंखलित रहती है–आवश्यक है, कि ८३ सूत्र के आगे ११६वां सूत्र जोड़ाजाय। इस आधार पर ८४ सूत्र से ११५वें सूत्र तक का सम्पूर्ण प्रकरण प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। इस लम्बे प्रकरण का पूर्वापर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, तथा परस्पर भी इन सूत्रों का कोई शृङ्खलाबद्ध सम्बन्ध नहीं है। इनमें से अनेक सूत्र पुनरुक्त तथा सांख्यमत के विरुद्ध भी हैं। उन ८४ से ११५ तक सूत्रों का क्रम इसप्रकार है—

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः।
न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः।
षोडशादिष्वप्येवम्।
नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः।
न तन्निर्भागत्वं कार्यत्वात्।
न रूपनिबन्धनात् प्रत्यक्षत्वनियमः।
न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात्।
अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात्प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य।
न तदपलापस्तस्मात्।
नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः।
न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः।
निजधर्माभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात्तदुपलब्धेः।
न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि।
न संबन्धनित्यतोभयानित्यत्वात्।
नाजः संबन्धो धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात्।
न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्।
उभयत्राप्यन्यथासिद्धेः प्रत्यक्षमनुमानं वा।
नानुमेयत्वेन क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतोरेवापरोक्षप्रतीतेः।
न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात्।
न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात्।
नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा।
न तेजोऽपसर्पणात्तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः।
प्राप्तार्थप्रकाशलिंगाद् वृत्तिसिद्धिः।
भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः संबन्धार्थं सर्पतीति।
न द्रव्ये नियमस्तद्योगात्।
न देशभेदेऽप्यन्योपादानतास्मदादिवन्नियमः।
निमित्तव्यपदेशात्तद्व्यपदेशः।

ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसंकल्पजसांसिद्धिकं चेति न नियमः ।
सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात्तद्व्यपदेशः पूर्ववत् ।
न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितस्तत्सिद्धेः ।
भोक्तुरधिष्ठानाद् भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसक्तेः ।
भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात् ।

ये कुल ३२ सूत्र यहाँ, बाद में मिलाये गये ज्ञात होते हैं। यदि इन सूत्रों को यहाँ से हटा दियाजाय; तो अध्याय के प्रारम्भ से ही—जैसा पूर्व दिखाया गया है—सम्पूर्ण प्रकरण क्रमिकरूप में शृंखलाबद्ध होजाते हैं। ८३ सूत्र के आगे ११६ वां सूत्र जोड़ने से किस प्रकार प्रकरण सुसंगत होता है, इस बात को प्रकट करने के पहले, इस प्रक्षिप्त प्रकरण के सम्बन्ध में लिखदेना आवश्यक है।

ये ३२ सूत्र प्रक्षिप्त क्यों हैं ?—

इस प्रकरण का सबसे पहला सूत्र है—

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः ।

इसमें इन्द्रियों की भूतप्रकृतिकता का निषेध है, और इन्द्रियों को अहंकार से उत्पन्न हुआ बताया है। यह सूत्र यहाँ सर्वथा प्रकरण विरुद्ध है। ८३ सूत्र तक मुक्तिस्वरूप का वर्णन है, आगे ११६ सूत्र में फिर वही वर्णन प्रारम्भ हो जाता है; इस सूत्र का मुक्तिस्वरूप के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकरण-विरोध के अतिरिक्त यह सूत्र पुनरुक्त भी है। सूत्रकार प्रथम लिखआया है—

आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि । अ० २, सू० २० ।

फिर यहाँ इस सूत्र को लिखने की आवश्यकता नहीं रहजाती। इसलिये यह सूत्र कपिलरचित नहीं होसकता।

आगे दो सूत्र वैशेषिक और न्यायमत में दूषण देने के लिये किसीने मिलाये हैं—

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ।

षोडशादिष्वप्येवम् ।

इन दोनों सूत्रों में बताया है—पदार्थ छह या सोलह ही हैं, इसका कोई नियम नहीं, तथा इन छह या सोलह पदार्थों के ज्ञान से मुक्ति नहीं होसकती। परन्तु यह बात प्रकृत में संगत नहीं मालूम होती, क्योंकि प्रकरण केवल मुक्ति के स्वरूप को बतलाने के लिये है, छह या सोलह पदार्थों की इयत्ता का निषेध करने के लिये नहीं; और न छह या सोलह पदार्थों के ज्ञान से मुक्ति होने का निषेध करने के लिये। ज्ञान से मुक्ति होती है, यह निश्चित है, प्रकृति और पुरुष के विवेक-ज्ञान से मुक्ति होती है, इसका निर्णय अन्यत्र करदियागया है।[1] इन दोनों सूत्रों

१. देखिये—सांख्यषडध्यायी। अ० १ सू० ८३। अ० ३ सू० २३, ८४।

से न्याय वैशेषिक मतानुसार, मुक्ति के स्वरूप का कुछ भी प्रकाशन नहीं होता । यद्यपि गौतम तथा कणाद के सूत्रों के अनुसार इक्कीस प्रकार के दुःखों का अत्यन्त नाश होजाना मोक्ष है,[1] यहाँ सांख्य में भी, सब दुःखों के तीन प्रकार होने के कारण, त्रिविध दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति को परमपुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष कहा है। फिर भी न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य के मोक्षस्वरूप प्रतिपादन में भेद है। सूत्रकार परमर्षि कपिल ने पिछले सूत्रों में, मुक्तिस्वरूप के सम्बन्ध में एक ऐसे वाद का निषेध किया है, जो न्याय-वैशेषिक मत के अनुकूल प्रतीत होता है। वह सूत्र है—**न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत्**' विशेष गुणों का उच्छेद होजाना मुक्ति नहीं; क्योंकि आत्मा निर्धर्मक है, उसके कोई गुणरूप धर्म नहीं होते। इस सूत्र में निषिद्ध, मुक्ति का स्वरूप न्याय-वैशेषिक मत से मिलता है, चाहे यह, मिलान प्रकारान्तर से है। क्योंकि गौतम या कणाद ने कोई ऐसा सूत्र नहीं कहा, जिसमें विशेष गुणों के उच्छेद को मुक्ति बताया गया हो, पर यह है बिल्कुल सच, कि न्याय-वैशेषिक की मुक्ति में आत्मा के विशेष गुणों का सर्वथा उच्छेद होजाता है। इससे स्पष्ट है—यदि सम्पूर्ण षडध्यायी का निर्माण गौतम कणाद के सूत्रों की रचना के बाद हुआ होता, तो यहाँ अवश्य उनके मतानुसार मुक्ति के स्वरूप का निषेध करने के लिये '**न विशेषगुणोच्छित्तिः**' की जगह '**नैकविंशतिदुःखध्वंसः**' या केवल '**दुःखध्वंसः**' ऐसा सूत्र बनाया जाता।

---

१. '**तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः**' गौतमकृत न्यायसूत्र अ० १, आ० १, सू० २२। यहाँ 'तत्' शब्द का अर्थ भाष्यकार वात्स्यायन ने दुःख किया है। उद्योतकर ने भी 'तेन शरीरादिना दुःखान्तेन' यह अर्थ किया है। शरीर से लेकर दुःख पर्यन्त इक्कीस प्रकार के दुःख इसप्रकार लिखे हैं—"एकविंशतिप्रभेदभिन्नं पुनर्दुःखम्—शरीरं षडिन्द्रियाणि षड्विषयाः षड्बुद्धयः सुखं दुःखञ्चेति। शरीरं दुःखायतनत्वाद् दुःखम्, इन्द्रियाणि विषया बुद्धयश्च तत्साधनभावात्। सुखं दुःखानुषङ्गात्। दुःखं स्वरूपत इति" (बनारस चौखम्बामुद्रित; न्यायवार्तिक पृष्ठ २, प्रथम सूत्रकी अवतरणिका में)। शरीर दुःख का आयतन होने से, छह इन्द्रियां छह विषय और छह बुद्धियाँ दुःख के साधन होने से, सुख दुःख-मिश्रित होने से और दुःख स्वरूप से ही दुःख है। इस तरह ये २१ प्रकार के दुःख हैं। वस्तुतः दुःख के ये २१ प्रकार, सामञ्जस्यपूर्ण नहीं हैं। छह विषयों में सुख दुःख के आजाने से उनकी पृथक् गणना करना असंगत है। वैशेषिक भी तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति बताकर उसी क्रम को अंगीकार करते हैं, जो गौतमीय न्याय के दूसरे सूत्र में कहागया है। इसलिये इनके मत में भी दुःख का न रहना ही मोक्ष है। देखिये—वैशेषिक सूत्र, अ० १, आ० १, सूत्र ४; और ६।२।१६॥ तथा इनका उपस्कार।

पर क्योंकि इस मूल षडध्यायी की रचना के समय गौतम-कणाद के सूत्र नहीं थे, इसलिये सांख्यसूत्रकार ने स्वयं एक वाद की कल्पना करके उसका निषेध किया है। या यह कहाजासकता है कि यह वाद कपिल के समय में भी था, जिसका उन्होंने निषेध किया, परन्तु उस समय उसकी परिष्कृति इसप्रकार नहीं हुई थी, जैसी कि गौतम कणाद ने अपने समय में की। इसीलिये मौलिक वाद में समानता होने पर भी, गौतम कणाद की रचना में कोई ऐसा शब्द नहीं, जहां विशेषगुणोच्छेद को मुक्ति कहा हो; जबकि उनके मुक्तिस्वरूप का परिणाम यही निकलता है। इसलिये **'न विशेषगुणोच्छित्तिः'** इस सूत्र में सिद्धान्तरूप से न्याय वैशेषिक की मुक्ति का निषेध आजाता है, फिर इन दो सूत्रों की रचना सर्वथा अप्रासंगिक, पुनरुक्त तथा व्यर्थ है। इसलिये यह रचना कपिल की नहीं कही जासकती।

प्रो० मैक्समूलर ने सूत्रों की इस आन्तरिक रचना को गम्भीरता से न समझकर अपनी 'The six systems of Indian Philosophy' नामक पुस्तक के ११८ पृष्ठ पर 'सांख्यसूत्र' यह शीर्षक देकर इसप्रकार लिखा है—

"[1]सांख्यसूत्र जो हमें मिलते हैं, उद्धरणों से भरे हुए हैं। स्पष्ट तौर पर वे वैशेषिक और न्याय को लक्षित करते हैं, जब वे पहले के छह और दूसरे के सोलह पदार्थों की परीक्षा करते हैं; जब वे अणुओं को लक्षित करते हैं, तब हम जानते हैं, उनके मन में वैशेषिकदर्शन का भाव है। और एक जगह पर [१।२५] स्पष्ट तौर पर वैशेषिकों का नाम लियागया है। श्रुति जिसके सम्बन्ध में यह आशा कीजाती है, कि सांख्य उसकी उपेक्षा करे, अनेक स्थलों पर उसको; और एक जगह पर [५।१२३ में] स्मृति को भी प्रमाण मानागया है। वामदेव के सम्बन्ध में, जिसका वर्णन श्रुति स्मृति दोनों में आता है, यह कहागया है, कि उसने मोक्ष प्राप्त किया। व्यक्ति रूप से सनन्दन और पञ्चशिखाचार्य का नाम आता है। जहां सामान्यरूप से 'आचार्य' कहागया है, वहां कपिल और अन्य आचार्यों से अभिप्राय है।"

---

१. "The Samkhya-Sutras, as we Possess them, are very chary of references. They clearly refer to Vaiseshika and Nyaya, when they examine the six categories of the former (V,85) and the sixteen Padarthas of the latter (V, 86). Whenever they refer to the Anus or atoms we know that they have the Vaiseshika philosophy in their minds; and once the Vaiseshikas are actually mentioned by name (I, 25). Sruti, which the Samkhyas were Supposed to disregard, is very frequently

प्रो० मैक्समूलर के इस लेख का अब कुछ महत्त्व नहीं रहजाता, जब यह प्रकरण, और पहले अध्याय का वह प्रकरण जिसमें वैशेषिकों का स्पष्ट नाम लियागया बताया है, प्रक्षिप्त सिद्ध कर दिये गये हैं। जब यह भाग कपिल की कृति ही नहीं है, तब वास्तविक कापिलसूत्रों पर इसका प्रभाव क्या हो सकता है? प्रो० महोदय ने जो श्रुति के प्रमाण मानेजाने में सांख्यसूत्रों से उपेक्षा की आशा का अभूतपूर्व उद्भावन किया है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। जब सांख्य साक्षात् शब्द को अन्यतम प्रमाण मानता है, तब उससे श्रुति की उपेक्षा की आशा करना, मैक्समूलर ही समझ सकते हैं। पाँचवें अध्याय के १२३ सूत्र में जो आपने स्मृति के प्रमाण माने जाने की बात कही है, उसके सम्बन्ध में अभी स्पष्ट कियाजायगा, कि वह सूत्र प्रक्षिप्त है। वामदेव का नाम आने से सूत्रों की प्राचीनता में कोई बाधा नहीं, वह बहुत प्राचीन ऋषि है। सनन्दन कपिल का समकालिक आचार्य था, और पञ्चशिख कपिलाचार्य का प्रशिष्य। कपिल के समय में ही इसकी विद्वता का लोहा मानाजानेलगा था, इसलिये कपिल ने बड़ी प्रसन्नता, वात्सल्य एवं औदार्य से उसका नाम अपने ग्रन्थ में दिया। यह द्वितीय अध्याय में स्पष्ट कर आये हैं। ऐसी अवस्था में मैक्स-मूलर महोदय का कथन सर्वथा निर्मूल है।

इसके आगे दो [८७, ८८] सूत्रों में परमाणु की नित्यता का निषेध किया गया है—

नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः।
न निर्भागत्वं कार्यत्वात्।

परमाणु नित्य नहीं होसकता, क्योंकि उसकी कार्यता श्रुति में देखीजाती है, कार्य होने से वह निरवयव नहीं होसकता। इन दोनों सूत्रों का ८५, ८६ सूत्रसे कोई सम्बन्ध नहीं है, मुक्तिनिरूपण के पूर्वापर प्रकरण से सम्बन्ध होना तो दूर की बात है। प्रकरणविरोध के अतिरिक्त ये सूत्र पुनरुक्त भी हैं; क्योंकि परिच्छिन्न की उपादानता और नित्यता का निषेध प्रथम अध्याय में करदिया गया है।[1] यदि उस स्थल की अपेक्षा यहाँ कुछ अधिक विस्तार होता, या और

appealed to, Smriti once (V, 123), and Vamadeva, whose name occurs in both Sruti and Smriti, is mentioned as one who had obtained spiritual freedom. But of individual philosophers we meet only with Sanandana Acharya (VI, 69) and panchashikha (V, 32; VI, 68), while the teachers, the Acharyas, when mentioned in general, are explained as comprehending Kapila himself, as well as others.

१. सांख्यषडध्यायी, अध्याय १, सूत्र ७६, ७७। संस्थान से प्रकाशित सांख्य-दर्शन में यह सूत्र [१।४१; ४२] संख्या पर देखने चाहियें।

किसी तरह की विशेषता होती; तो यह समझलियाजाता, कि यहाँ परवाद-प्रतिषेध प्रकरण में उसको विस्तारपूर्वक दिखायागया है। पर ऐसा है नहीं; प्रत्युत प्रथम अध्याय का स्थल अधिक भावपूर्ण और उपयुक्त प्रतीत होता है। इन दोनों सूत्रों को यहाँ किसने क्या सोचकर मिलाया होगा, नहीं कहाजासकता। पर सम्भवतः प्रतीत होता है–८५, ८६ सूत्र में न्याय-वैशेषिकाभिमत पदार्थों की संख्या के सम्बन्ध में बताकर, न्याय-वैशेषिक का अन्य जो मत सामने आया, वह प्रक्षेप्ता उसीका प्रतिषेध करता चलागया है। इस सिलसिले में कहीं वह सांख्य-सिद्धान्त के विरुद्ध भी लिखगया है। ऐसी अवस्था में इन सूत्रों को कपिल की रचना मानना विद्वत्ता नहीं कहीजासकती। तथा इन सूत्रों के साथ, विना गम्भीर विचार किये सम्पूर्ण षडध्यायी को कपिल की रचना न मानना भी इसी कोटि में समझना चाहिये।

अगले ८९ सूत्रमें, न्याप-वैशेषिकाभिमत, द्रव्यप्रत्यक्ष में रूप की कारणता का निषेध है। भला इस सूत्र का भी प्रकरण के साथ क्या सम्बन्ध है? व्याख्याकारों ने लिखा है–द्रव्यप्रत्यक्ष में यदि रूप को कारण मानाजाय, तो प्रकृति-पुरुष का साक्षात्कार नहीं होसकता, क्योंकि उनमें रूप नहीं। इसी बात का निषेध करने के लिये यह सूत्र लिखागया। पर यह बात कितनी हास्यास्पद है। थोड़ी देर के लिये मान लीजिये, कि द्रव्यप्रत्यक्ष में रूप को कारणता नहीं है, तो क्या व्याख्याकार प्रकृति-पुरुष का सांख्यमत से चक्षुद्वारा प्रत्यक्ष होना प्रतिपादन करेंगे? उनके विचार से तो फिर प्रकृति-पुरुष का साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य होजाना चाहिये। पर क्या सांख्यमत यह बात स्वीकार करने को तैयार है? प्रकृति पुरुष का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता? इस बात का प्रतिपादन सूत्रकार कपिल ने प्रथम अध्याय में विस्तारपूर्वक करदिया है।[१] समाधिसम्पत्ति से पुरुष और प्रकृति के साक्षात्कार या विवेकज्ञान की अवस्था में द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति, रूप की कारणता का नाम लेना धृष्टतामात्र है। वहाँ तो नैयायिक और काणाद भी रूप को धता बता देते हैं। ऐसी अवस्था में कपिल इस सूत्र को बनाता, यह एक आश्चर्य की बात है। यह सूत्र तो सांख्यमत को न समझकर किसीने लिख दिया है।

ठीक यही हालत ९० सूत्र की है। इस सूत्रमें न्याय-वैशेषिकाभिमत परि-माणचातुर्विध्य का निषेध है। अर्थात् परिमाण के चार भेद नहीं होसकते। आश्चर्य तो यह है, कि साथ में हेतु रूप से यह भी कहदियागया है, कि परिमाण के दो ही भेद हैं। क्या सांख्यमत में न्याय आदि की तरह गुण-गुणी की कल्पना

१. सांख्यषडध्यायी, अध्याय १, सूत्र १०८, १०९। संस्थान के प्रकाशन में इस संख्या से ३५ घटाकर सूत्र देखना चाहिये।

है ? क्या परिमाण गुण की अतिरिक्त कल्पना करके उसके भेदों की कल्पना, सांख्यमत के अनुसार कहीजासकती है ? ऐसी अवस्था में सांख्यतत्त्वों की २५ संख्या की क्या गति होगी ? सांख्य में तो वैशेषिकाभिमत गुण की अतिरिक्त कल्पना ही असंगत है, फिर उस के भेदों का कथन करना तो हास्यास्पद ही समझाजासकता है। इसलिये यह सूत्र सांख्यमतविरुद्ध होने से कपिलप्रणीत नहीं कहाजासकता। वस्तुतः सांख्यमत में प्रत्येक परिमाण, द्रव्यात्मक ही है। जो द्रव्य जैसा विभु अणु, लम्बा चौड़ा, छोटा बड़ा, चौखुंटा तिखुंटा होगा, वह परिमाण उस द्रव्य से अतिरिक्त, सांख्यमत में कोई वस्तु नहीं। इसका विस्तृत वर्णन 'सांख्यसिद्धान्त' नामक रचना में कियागया है।

इसके आगे ९१-९३ तीन सूत्रों में सामान्य अर्थात् जाति का विचार किया गया है। इन सूत्रों का अभिप्राय है, सामान्य एक भावरूप पदार्थ है, उसका अपलाप (निषेध) नहीं कियाजासकता। हमको जो **'स एवायं घटः'** (यह वही घट है) ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है, वह सामान्य को विषय करता है, इसलिये सामान्य को अवश्य स्वीकार करना चाहिये। इसके आगे ९४ सूत्र **'न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः'** का अवतरण करते हुए विज्ञानभिक्षु ने लिखा है— **'ननु सादृश्यनिबन्धना प्रत्यभिज्ञा भविष्यति तत्राह।'** आशंका उठाई गई है, कि प्रत्यभिज्ञान के लिये सामान्य की क्या आवश्यकता है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान तो सादृश्यमूलक सिद्ध होजायगा। इसका उत्तर दियागया है,—**'न तत्त्वान्तरं सादृश्यं।'** अर्थात् सादृश्य कोई भिन्न तत्त्व नहीं है। अब विचारणीय है— सादृश्य के भिन्न तत्त्व न होने पर भी प्रत्यभिज्ञा तन्मूलक क्यों नहीं होसकती ? इस रीति पर तो अब प्रत्यभिज्ञा को सामान्यमूलक होने से सामान्य को अवश्य अतिरिक्त पदार्थ मानाजाना चाहिये, जो सांख्यमत के सर्वथा विरुद्ध है। यदि सामान्य को अतिरिक्त पदार्थ न मानकर तन्मूलक प्रत्यभिज्ञान की कल्पना होसकती है, तो सादृश्य ने ही क्या अपराध किया है ? प्रत्यभिज्ञा को सादृश्यमूलक क्यों न मानलियाजाय ? वस्तुतः ये सूत्र न्याय-वैशेषिक के समान 'सामान्य' की कल्पना करके लिखेगये प्रतीत होते हैं। पर सांख्यमत में यह कल्पना असंगत है, क्योंकि यहाँ सामान्य या जाति की अतिरिक्त सत्ता नहीं मानी गई। सूत्रकार ने प्रथमाध्याय में इस बात को स्वयं स्पष्ट करदिया है।[1]

---

१. सांख्यषडध्यायी, अ० १, सूत्र १५४, १५५। यहाँ पहले सूत्र में 'जाति' पद का प्रयोग हुआ है। विज्ञानभिक्षु ने उस का अर्थ एकरूपता या समानरूपता किया है। यही अर्थ अगले सूत्र से स्पष्ट होजाता है। उस सूत्र का अर्थ है—तत्त्वज्ञानी यथार्थदृष्टि से समझ लेता है, कि मैं अतद्रूप अर्थात् आत्मान्तर से भिन्न हूँ। यह बात व्यक्तिभेद होने पर, रूपमें समानता होने से ही बन

अगले ६५ और ६६ सूत्र में भी सादृश्य के स्वरूप का निषेध किया है। वस्तु की अपनी स्वाभाविक शक्ति के प्रकट होने को भी सादृश्य नहीं कहसकते, और न संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का ही नाम सादृश्य है; यही दोनों सूत्रों का आशय है। फिर सादृश्य है क्या वस्तु ? इसको यहाँ सूत्रों में नहीं बतायागया। ६४ सूत्र की व्याख्यामें विज्ञानभिक्षु ने लिखा है–**'भूयोऽवयवादिसामान्यादतिरिक्तं न सादृश्यमस्ति।'** बहुत से अवयव आदि की समानता के अतिरिक्त सादृश्य कोई वस्तु नहीं। जब यही बात है, तो सादृश्य और सामान्य में भेद क्या रहा ? यह तो दोनों एक ही वस्तु बन गईं। ऐसी अवस्था में यह सामान्य और सादृश्य के भेद का विचार सर्वथा असंगत तथा अशास्त्रीय है। इस रीति पर इन असम्बद्ध सूत्रों का रचयिता कपिलाचार्य नहीं होसकता।

इसके आगे ६७ सूत्र में संज्ञा और संज्ञी दोनों की अनित्यता के कारण उनके सम्बन्ध को भी अनित्य बतायागया है। परन्तु सम्बन्धी के अनित्य होने पर भी सम्बन्ध नित्य होसकता है, यह आशंका करके ६८ सूत्र में नित्य सम्बन्ध का निषेध कियागया है। विचारणीय है–यहाँ संज्ञा के अनित्य मानेजाने पर भी संज्ञीमात्र को अनित्य कैसे कहागया ? प्रकृति पुरुष भी संज्ञी हैं, तो क्या इनको भी अनित्य मानाजाय ? और जब सूत्रकार स्वयं कहआये हैं, कि **'प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम्'** (५।७२) प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त सब-कुछ अनित्य है, तब सम्बन्ध के नित्य होने की आशंका कहाँ रहजाती है ? इसलिये ये सूत्र पुनरुक्त, सांख्यमत-विरोधी तथा उत्प्रकरण हैं।

आगे ६६ और १०० इन दो सूत्रों में समवाय का निषेध कियागया है। पर ६८ सूत्र से जब नित्य सम्बन्ध का निषेध करदियागया, तब इन सूत्रों की क्या आवश्यकता थी ? आश्चर्य तो विज्ञानभिक्षु की अवतरणिका को देखकर होता है। वहाँ लिखा है—**'नन्वेवं नित्ययोर्गुणगुणिनोर्नित्यः समवायो नोपपद्येत तत्राह—'**। अर्थात् जब ६८ सूत्र में नित्यसम्बन्ध का निषेध कियागया है, तो इसप्रकार नित्य गुण-गुणी का नित्य समवाय उपपन्न न होसकेगा ? इस विषय

सकती है। अनिरुद्ध ने यहाँ सूत्रमें 'तद्रूप' ही पाठ माना है, और उसका अर्थ कैवल्य किया है। तात्पर्य यह है, कि तत्त्वज्ञान से आत्मा स्वरूप में स्थित होजाता है। उसके उस रूप की अन्य आत्माओं में समानता होने पर भी, अन्य आत्माओं का बद्ध रहना व्यक्तिभेद को स्पष्ट करता है। इससे यही परिणाम निकलता है, कि सूत्रकार ने यहाँ स्वरूप-समानता को ही जाति कहा है, समानता सदा भेदघटित होती है, और वह आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं। संस्थान से प्रकाशित सांख्यदर्शन में–उक्त संख्या में से ३५ घटाकर–ये सूत्र देखने चाहियें।

कहागया—समवाय है ही नहीं, इत्यादि। बात यह है, कि विज्ञानभिक्षु नित्य गुण-गुणी का नित्य समवाय बताकर यह प्रकट करना चाहता है, कि अनित्य गुण-गुणी का नित्य समवाय नहीं होता। और तो कुछ इसका आशय हो नहीं सकता। ऐसी अवस्था में विज्ञानभिक्षु जिस मत से इस सूत्र की अवतरणिका कररहा है, उसके सर्वथा विरुद्ध लिखगया है, क्योंकि नैयायिक और वैशेषिक समवाय को किसी अवस्था में भी अनित्य नहीं मानते, और सम्बन्धी को अनित्य मानकर भी सम्बन्ध के नित्यत्व की आशंका करके जो ९८ सूत्र को विज्ञान-भिक्षु ने अवतीर्ण किया है, उसका अवतार सिवाय समवाय के और किसीके लिये हो नहीं सकता। क्योंकि सम्बन्धी के अनित्य होने पर भी सम्बन्ध की नित्यता सिवाय समवाय के और कहीं नहीं है। इसलिये विज्ञानभिक्षु ९९ सूत्र की अव-तरणिका करते हुए गड़बड़ा गये हैं। विचारे इन विश्रृंखलित सूत्रों की कहाँ तक संगति लगाते। सचमुच ये सूत्र अनर्थक हैं। अनिरुद्ध ने ९८ सूत्र में नित्यसंयोग का प्रतिषेध माना है। नित्यसंयोग वैशेषिक तो मानते नहीं।[1] नैयायिक विभुद्वय का नित्यसंयोग मानते हैं। क्या सचमुच कपिल इस एक साधारण अवान्तर मत का खण्डन करने बैठते, यह बात ध्यान में आसकती है? प्रत्येक विद्वान् इस बात को समझसकता है, कि अत्यन्त-पुरुषार्थ के लिये प्रकृति-पुरुष के विवेकज्ञान में नित्यसंयोग के निषेध करने का कुछ भी उपयोग नहीं। अगर कुछ होसकता है, तो वह केवल इतना है–जिसका प्रतिपादन सूत्रकार इसी अध्याय के ७२ सूत्र में कर आये हैं। इससे स्पष्ट है–ये सूत्र कपिल की कृति नहीं। अन्य किसी विद्वान् ने बाद में मिलादिये हैं।

१०१ सूत्रमें, 'क्रिया केवल अनुमान से जानी जाती है, यह बात नहीं, किन्तु उसका प्रत्यक्ष भी होता है' यह निरूपण कियागया है। यह सूत्र यहाँ क्यों लिखागया, इसका पूर्वापर के साथ क्या सम्बन्ध है, इसमें किस मत का खण्डन कियागया है, यह कुछ भी मालूम नहीं होता। अनिरुद्ध और महादेव की अवतरणिकाओं से इस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अनिरुद्ध के व्याख्यान से तो यह बात प्रकट होती है, कि क्रिया का अनुमान कभी नहीं होता, वह सदा प्रत्यक्ष होजाती है। जब सूत्र की रचना से यह स्पष्ट प्रतीत होरहा है, कि क्रिया अनुमेय भी है, और प्रत्यक्ष भी। पर विज्ञानभिक्षु ने जो कथा बांचनी शुरू की है, उसको देखकर हैरानी होती है, विज्ञानभिक्षु ने इसप्रकार अवतरणिका लिखी है—

---

१. 'नास्त्यजः संयोगो नित्यपरिमण्डलवत् पृथगनभिधानात्।···। विभूनां तु परस्परतः संयोगो नास्ति युतसिद्ध्यभावात्'। (प्रशस्तपादभाष्य, पृ० १४०, १४१। लाजरस कम्पनी, बनारस में मुद्रित। सं० १९५१)

'प्रकृतेः क्षोभात् प्रकृतिपुरुषसंयोगः, तस्मात् सृष्टिरिति सिद्धान्तः' । प्रकृति के क्षोभ से प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है, और उससे सृष्टि, यह सिद्धान्त है, पर यह सिद्धान्त विज्ञानभिक्षु का होगा, सांख्य का तो यह सिद्धान्त हो नहीं सकता। क्योंकि सूत्रकार ने अनेक स्थलों पर प्रकृति-पुरुष के संयोग का कारण अविवेक बताया है,[1] क्षोभ नहीं। क्षोभ तो प्रकृति-पुरुष का संयोग होने पर होसकता है, यदि क्षोभ को संयोग का कारण मानाजाय, तो क्षोभ का निमित्त क्या होगा? अविवेक के लिये यह आशंका नहीं उठाई जासकती, क्योंकि सूत्रकार ने अविवेक को[2] अनादि माना है, शास्त्र का भी यही रहस्य है। क्षोभ को अनादि नहीं मानाजासकता, फिर तो कभी प्रलय होना ही नहीं चाहिये। क्षोभ होते ही वैषम्य होगा, और यह सर्ग की अवस्था है। इसके अतिरिक्त यदि 'क्षोभ' प्रकृतिपुरुष के संयोग का कारण है, तो मुक्त आत्मा को भी प्रकृति-संपर्क में आना आनिवार्य होजायेगा। इसलिये विज्ञानभिक्षु का यह सिद्धान्त सांख्यसिद्धान्त नहीं होसकता। आगे वह लिखता है—

'तत्रायं नास्तिकानामाक्षेपः—नास्ति क्षोभाख्या कस्यापि क्रिया, सर्वं वस्तु क्षणिकं यत्रोत्पद्यते तत्रैव विनश्यतीत्यतो न देशान्तरसंयोगोन्नेया क्रिया सिद्ध्यतीति। तत्राह—' ।

यह सब विज्ञानभिक्षु की अपनी कल्पना है, शास्त्र का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। इसीलिये यह सूत्र सांख्यविषय से सम्बद्ध नहीं कहाजासकता, और न यह कपिल की कृति होसकता है।

इससे अगला १०२ वां सूत्र तो सर्वथा सांख्यमत के विरुद्ध है। सूत्र है—**न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात्'** । विज्ञानभिक्षु इसकी अवतरणिका लिखता है—**'द्वितीयाध्याये शरीरस्य पाञ्चभौतिकत्वादिरूपैर्मतभेदा एवोक्ताः, न तु विशेषोधृतः। अत्रापरपक्षं प्रतिषेधति—'** । तीसरे[3] अध्याय में आये हुए सूत्र इसप्रकार हैं—

पाञ्चभौतिको देहः । १७ ।
चातुर्भौतिकमित्यन्ये । १८ ।
ऐकभौतिकमपरे । १९ ।

---

१. सांख्यषडध्यायी, अ० १, सू० ५५, १०६। अ० ३ सूत्र ३८, ७१, ७४। अ०, ६ सूत्र २७।

२. सांख्यषडध्यायी, अ० ६, सू० १२।

३. १०२ सूत्र की अवतरणिका में विज्ञानभिक्षु ने—द्वितीयाध्याय में शरीर के पाञ्चभौतिक आदि रूप से मतभेद दिखाये गये हैं—यह लिख दिया। पर द्वितीयाध्याय के बजाय, वे सूत्र तृतीयाध्याय में हैं। नहीं कहाजासकता, यह मुद्रण का दोष है, या विज्ञानभिक्षु को भ्रम होगया हो।

इन सूत्रों से स्पस्ट प्रतीत होरहा है, कि इनमें १८ और १९ वाँ सूत्र ही दूसरे मतों को बतलानेवाले हैं। एक के बाद में 'अन्ये' और दूसरे के अन्त में 'अपरे' पद लगा हुआ है। इसलिये १७ सूत्र में जो मत दियागया है, वह सांख्य का अपना है। व्याख्याकार अनिरुद्ध ने तो १७ सूत्र की अवतरणिका में स्पष्ट ही लिखदिया है—**विप्रतिपत्तौ सत्यां स्वमतमाह**'। विप्रतिपत्ति होने पर अपना मत कहते हैं—फिर अगले १८, १९ दोनों सूत्रों की अवतरणिका लिखी है—'**का विप्रतिपत्तिरित्याह—**'। वह विप्रतिपत्ति कौनसी है ? वह इन दो सूत्रों द्वारा बताईगई है। विज्ञानभिक्षु ने स्वयं इन सूत्रों की अवतरणिका '**मतान्तरमाह**' इसप्रकार की है। यद्यपि विज्ञानभिक्षु ने १९ सूत्र की व्याख्या में यह लिखा है, कि पञ्चम अध्याय में इसी पक्ष को सिद्धान्तरूप से कथन कियाजायगा। परन्तु जो मत 'अपरे' पद देकर प्रकट कियागया है, वह कपिल का अपना सिद्धान्त-पक्ष कैसे होगा ? यह नहीं समझाजासका। इससे स्पष्ट है—देह को चातुर्भौतिक या ऐकभौतिक मानना दूसरों का मत है, और पाञ्चभौतिक देह का मानना सांख्य का अपना मत है। इसलिये देह की पाञ्चभौतिकता का निषेध करने वाला यह १०२ वाँ सूत्र सांख्यमत के विरुद्ध है, इसीलिये यह कपिल की रचना सम्भव नहीं।

प्रो० कीथ को इस प्रकरण और विशेष कर इस सूत्र को समझने में बहुत भ्रम हुआ है। उसने अपनी 'The Samkhya System' नामक पुस्तक के ९७ पृष्ठ पर लिखा है,[१] "और स्थूल शरीर, जो कि वास्तव में पार्थिव है, उसके बढ़ने का विस्तार लिखा हुआ है, और शरीर तीन भूत—पृथिवी जल तेज से बना हुआ भी नहीं है, जैसाकि वेदान्त मानता है। और न यह चातुर्भौतिक या पाञ्चभौतिक है, जैसाकि आमतौर पर मानाजाता है ; और जो महाभारत में पञ्चशिख के नाम से दियागया है। शेष चार भूत शरीर के

१. कीथ का मूल लेख इसप्रकार है—

On the other hand, further details are given of the process growth of the grossbody, which is really composed of earth, not of three elements, fire, water and food, that is earth, as in the view of the Vedanta, nor of four, five as in the popular view, which in the epic is attributed to the Panca-sikha himself. The other four elements aid only in producing the stability of the body : water sustains the blood, fire the heat of the body, air the breath and ether the windpipe.

उपष्टम्भकमात्र हैं" इत्यादि। कीथ का यह विचार सर्वथा भ्रमपूर्ण है, कि यह सांख्य, शरीर की वास्तविक ऐकभौतिकता अर्थात् पार्थिवता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है, यह मत वास्तव में न्याय-वैशेषिक का है। गौतम और कणाद दोनों ने शरीर को स्पष्टरूप में पार्थिव माना है[1]। वेदान्त भी शरीर की केवल त्रैभौतिकता अंगीकार करता है, यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि वह भूतों को पञ्चीकृत मानता है, उसके सिद्धान्त में कोई वस्तु ऐसी नहीं, जो पाँचों भूतों से मिलकर न बनी हो। वेदान्तमत में शरीर की त्रैभौतिकता का कीथ को धोखा हुआ है। इसका मूल छान्दोग्य की एक श्रुति कहीजासकती है। पर यह ध्यान रखना चाहिये, वेदान्तमतानुसार उस श्रुति में 'त्रिवृत्' पद पांचों भूतों के पञ्चीकरण का उपलक्षण है। भाष्यकार टीकाकार तथा वेदान्त के अन्य ग्रन्थ-कारों ने इस मत को इसीतरह स्वीकार किया है।[2] यद्यपि हमारा विचार इसके

१. देखिये—गौतम न्यायसूत्र, वात्स्यायनभाष्य सहित, अ० ३, आ० १, सू० २८, २९। और कणाद वैशेषिक सूत्र, शङ्करोपस्कार सहित, अ० ४, आ० २, सू० २—४।

२. छान्दोग्यश्रुति इसप्रकार है–'तासां त्रिवृत्तं त्रिवृतमेकैकामकरोत्, इत्यादि, अध्याय ६, खण्ड ३, ४। चौथे खण्ड की चौथी कण्डिका की व्याख्या में भाष्यकार शङ्कराचार्य ने स्पष्ट लिखा है–'यथा तु त्रिवृत्कृते त्रीणि रूपाणी-त्येव सत्यं तथा पञ्चीकरणेऽपि समानो न्याय इति'। इसकी व्याख्या करते हुए आनन्दगिरि ने लिखा है–'यदा पञ्चापि भूतानि प्रत्येकं द्वेधा विभज्य पुनरेकैकं भागं चतुर्धा कृत्वा स्वभागातिरिक्तेषु पूर्वेषु भागेष्वेकैकशो निक्षि-प्यन्ते, तदा पञ्चीकरणं श्रुत्युपलक्षितं लभ्यते'। वेदान्त ब्रह्मसूत्रों में 'अ० २, पा० ४, सू० २०-२२ तक' यह विचार आया है। वहां गोविन्दप्रणीत रत्नप्रभा नामक व्याख्या में ये पंक्तियाँ हैं—'तासां तिसृणां देवतानामेकैकां देवतां तेजोबन्नात्मना त्र्यात्मिकां करिष्यामीति श्रुतिः पञ्चीकरणोपलक्ष-णार्था। छान्दोग्येऽप्याकाशवाय्वोरुपसंहारस्योक्तत्वात्'। इसके अतिरिक्त विद्यारण्य स्वामी ने पञ्चदशी के प्रथम प्रकरण में वेदान्तमत से पञ्चीकरण का स्पष्टरूप में वर्णन किया है। श्लोक इसप्रकार हैं—

तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने।
पञ्चीकरोति भगवान्प्रत्येकं वियदादिकम् ॥ २६ ॥
द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते ॥ २७ ॥

आगे शरीर को भी स्पष्टरूप से पाञ्चभौतिक लिखा है—

स्यात्पञ्चीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः। ३४।

अनुरूप नहीं है। छान्दोग्य के 'त्रिवृत्' पद का अर्थ, सत्त्व, रजस्, तमस् की अन्योन्यमिथुनवृत्तिता ही, संगत होसकता है। शरीर में पृथिवी के अतिरिक्त अन्य भूतों को उपष्टम्भक (सहायक-केवल निमित्त कारण-उपादान नहीं) मानना भी न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त है, सांख्य और वेदान्त का नहीं। मूल सांख्य इन विचारों को किसी तरह नहीं स्वीकारता, क्योंकि ये विचार उसके सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत हैं। प्रतीत होता है—किसी नैयायिक ने अपने विचारों को यहाँ मिला दिया है। बाद में सब व्याख्याकार, सूत्रों की क्रमिक रचना पर ध्यान न देने के कारण धोखे में पड़ते रहे हैं। कीथ को विज्ञानभिक्षु की व्याख्या देखकर भ्रम हुआ हो, यह संभव है। पर आंख मूंदकर उसने इस बात को कैसे स्वीकार करलिया, यही आश्चर्य है। कीथ ने यहाँ पर एक और बात लिखी है—[1] महाभारत में पञ्चशिख की ओर से कहागया है—शरीर पाञ्चभौतिक है।[2] यह सर्वथा युक्त है, क्योंकि यह एक सांख्य का प्रधान आचार्य है, और उसने वहाँ सांख्य का मत दिखलाया है। फिर भी कीथ को यह न सूझा, कि सांख्य के इस प्रसिद्ध मूल ग्रन्थ में शरीर को पार्थिव कैसे कहाजासकता है?

इस सूत्र की अनिरुद्ध-व्याख्या से उस समय और भी आश्चर्य होता है, जब वहाँ देखते हैं, कि वह तीसरे अध्याय के १७ वें सूत्र की अवतरणिका में तो लिख आया है, कि—'**विप्रतिपत्तौ सत्यां स्वमतमाह**—'। और यहाँ पर उस स्वमत का प्रतिषेध होता देखकर भी चुप रहता है, तथा पहली अवतरणिका के विरुद्ध लिख देता है। महादेव तो स्पष्ट कहता है—'**पञ्चभूतारब्धं शरीरमिति दूषयति**—'। अब इन व्याख्याकारों को क्या कहाजाय? जिस टहने पर बैठे हैं, उसीकी जड़ पर कुल्हाड़ा चला रहे हैं।

इन सब बातों पर विचार करते हुए यह निश्चयपूर्वक कहाजासकता है, कि सांख्य, शरीर को पाञ्चभौतिक मानता है। कपिल ने अपना यह सिद्धान्त [३।१७ में] स्पष्ट करदिया है। इसलिये शरीर की पाञ्चभौतिकता का निषेध

---

१. कीथ के मूल लेख में epic (ऍपिक) पद हैं। यह रामायण महाभारत दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। पर रामायण में पञ्चशिख का वर्णन नहीं, इसलिये हमने यहाँ केवल महाभारत का नाम लिखा है।

२. महाभारत में शान्तिपर्व के २२० अध्याय से २२२ तक जनक और पञ्चशिख के संवाद का जो अनुवाद भीष्म ने युधिष्ठिर के प्रति किया है, उसमें तीन श्लोक निम्नलिखित उपलब्ध हैं—

भूव्योमतोयानलवायवोऽपि, सदा शरीरं प्रतिपालयन्ति।
इतीदमालक्ष्य रतिः कुतो भवेद्विनाशिनो ह्यस्य न कर्म विद्यते ॥२२०।५०।

करनेवाला यह १२० वां सूत्र सांख्यमत के सर्वथा विरुद्ध है। यह सूत्र कपिल-रचित नहीं होसकता।

१०३ सूत्र में शरीर सम्बन्धी विचार है, स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्मशरीर होता है, यही बात इस सूत्र में बताई गई है। पर इसका निरूपण तृतीयाध्याय के ११, १२ सूत्रों में आचुका है। विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट लिखा है,—**'इदं च सूत्रं तस्यैव स्पष्टीकरणमात्रार्थम्'**। यह सूत्र केवल पहले सूत्रों को स्पष्ट करने के लिये है, इसका यहां और कोई प्रयोजन नहीं। स्पष्ट है, यह सूत्र पुनरुक्त हैं, कपिल की कृति नहीं कहाजासकता।

इसके आगे १०४ से ११० तक इन्द्रिय, इन्द्रियवृत्ति तथा उनकी रचना के सम्बन्ध में विचार कियागया है। इन सूत्रों का आशय है—इन्द्रियां अर्थों को प्राप्त होकर उनको प्रकाशित करती हैं। चक्षुरिन्द्रिय तैजस नहीं, क्योंकि वृत्ति के द्वारा इन्द्रिय का विषयदेश में उपसर्पण होना उपपन्न होजाता है। प्राप्त अर्थ का प्रकाश होने से वृत्ति की सिद्धि होती है, चक्षु आदि इन्द्रिय विषय के साथ सम्बन्ध करने के लिये सर्पण करती है; इसलिये वृत्ति, चक्षु का कोई अंश या गुण नहीं होसकती। यह कोई नियम नहीं है, कि वृत्ति पद का प्रयोग द्रव्य में ही होसकता है, अथवा वृत्ति के द्रव्य न होने पर भी उसमें क्रिया नहीं होसकती। इन्द्रियां आहंकारिक हैं, उनमें भौतिक व्यवहार निमित्तवश होता है। ११वें सूत्र तक का अभिप्राय इतना ही है।

लगभग यही श्लोक फिर दुबारा अगले अध्याय में इसप्रकार लिखा गया है—

खं भूमितोयानलवायवोऽपि सदा शरीरं प्रतिपालयन्ति। (पूर्ववत्)
॥ ५१ ॥

२२२ अध्याय में फिर एक श्लोक इसप्रकार है—

आकाशो वायुरूष्मा च स्नेहो यश्चापि पार्थिवः।
एष पञ्चसमाहारः शरीरमपि नैकधा ॥ ८ ॥

इन श्लोकों का आशय स्पष्ट है, पृथिवी जल तेज वायु आकाश ये पाँचों सदा शरीर की प्रतिपालना—रक्षा करते हैं। अर्थात् यह शरीर पाँचों भूतों का बना हुआ है, यह विचार कर इसमें रति कैसे होवे? अन्तिम श्लोक में इस भाव को अत्यन्त स्पष्ट करदिया है,—आकाश वायु तेज जल और पृथिवी इन पाँचों का समाहार ही शरीर है, वह किसी एक प्रकार का नहीं है। इस श्लोक में एक बात और ध्यान देने योग्य है, सांख्य में भूतों की उत्पत्ति का जो क्रम स्वीकार कियागया है, ठीक वही क्रम (आकाश, वायु-तेज-जल-पृथिवी) इस श्लोक में विद्यमान है। तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] में भी यही क्रम है।

विषय विचार से ये सब सूत्र पुनरुक्त हैं, क्योंकि इन्द्रियों की आहंकारिकता और वृत्तियों के सम्बन्ध में विस्तृत विचार द्वितीयाध्याय में आचुका है। वह भी एक दो सूत्र में नहीं, प्रत्युत २०वें सूत्र से ३३ सूत्र तक इन्हीं सब बातों का विवेचन कियागया है। इसके अतिरिक्त इन सूत्रों में जो वृत्तिस्वरूप का प्रतिपादन किया है, वह सांख्यमतानुकूल नहीं। वृत्ति का स्वरूप १०७वें सूत्र में बताया है। अनिरुद्ध ने यहाँ वृत्ति को अहंकार से उत्पन्न एक भिन्न तत्त्व मानलिया है, और साथ ही लिखदिया है, क्योंकि हम अनियतपदार्थवादी हैं। महादेव ने अनिरुद्ध का अनुकरण किया है। यह याद रखना चाहिये, इस अनियतपदार्थवादिता का इसी प्रकरण में अन्यत्र प्रत्याख्यान किया है। यह निश्चित है—सांख्य को अनियतपदार्थवादी नहीं कहाजासकता। इसलिये अनिरुद्ध के अनुसार यहाँ सांख्यविरोध स्पष्ट है। विज्ञानभिक्षु ने लिखा है,—'**चक्षुरादेर्भागो विस्फुलिङ्गवद्विभक्तांशो रूपादिवद्** गुणश्च न **वृत्तिः। किन्तु तदेकदेशभूता भागगुणाभ्यां भिन्ना वृत्तिः**'। यहाँ 'भाग' पद का अर्थ विज्ञानभिक्षु ने विभक्त अंश किया है, जैसे आग की चिनगारी आग का ही एक विभक्त अंश है। इसतरह वृत्ति न तो, चक्षु आदि का कोई विभक्त अंश, और न रूपादि के समान उसका कोई गुण है। किन्तु चक्षु आदि इन्द्रिय का एकदेशभूत ही वृत्ति है, जो विभक्त अंश और गुण से अतिरिक्त है। विज्ञानभिक्षु के उपर्युक्त लेख का इतना ही अर्थ है। इसमें चक्षु आदि के एकदेश को वृत्ति मानना, सांख्यमत के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। क्योंकि परिणामवाद में इसप्रकार एकदेश की कल्पना असंगत है। इसीलिये सांख्य में इन्द्रिय या अन्तःकरण के विषयाकारपरिणाम को वृत्ति मानागया है। वह इन्द्रिय या अन्तःकरण का विषयाकारपरिणाम इन्द्रिय और अन्तःकरण से भिन्न नहीं होता, ऐसी अवस्था में वृत्ति को इन्द्रिय या अन्तःकरण का एकदेश मानना सांख्यमत के अनुकूल नहीं। विज्ञानभिक्षु ने स्वयं इसी सूत्र की व्याख्या में आगे प्रसंगवश लिखा है—'**बुद्धिवृत्तिरपि···द्रव्यरूप एव परिणामः**' जब बुद्धिवृत्ति, बुद्धि का परिणाम है, तब उसे बुद्धि का एकदेश कैसे कह सकते हैं? दही दूध का परिणाम है, दूध का एकदेश दही नहीं होता। सत्कार्यसिद्धान्त के अनुसार, परिणाम, परिणामी, से भिन्न नहीं है, तब वृत्ति परिणामी वृत्तिमान् से भिन्न कैसे? इसीलिये गौतम न्यायसूत्रों में सांख्यमत से वृत्ति और वृत्तिमान् के अभेद को पूर्वपक्ष बनाकर, उसका प्रत्याख्यान किया गया है।[1] इन सब बातों पर विचार करते हुए, यह दृढ़तापूर्वक कहाजासकता

---

१. गौतम न्यायसूत्रों में तृतीयाध्याय के द्वितीय आन्हिक के प्रारम्भ से ही बुद्धिपरीक्षा का प्रकरण चलता है। प्रारम्भ के १० सूत्रों को वात्स्यायनभाष्य सहित पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होजाता है, कि वृत्ति और वृत्तिमान् के अभेद का प्रात्याख्यान कर, भेद की स्थापना कीगई है।

है, कि अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु कृत दोनों व्याख्याओं के अनुसार यह सूत्र साँख्यमत के विरुद्ध है। विज्ञानभिक्षु अपने ही लेख में विरोध करगया है, फिर सूत्र का सांख्य मत के साथ साँगत्य तो दूर की बात है।

१११, और ११२ सूत्र में फिर शरीरविषयक वर्णन है। अनिरुद्ध ने ११० सूत्र में भी शरीरविषयक वर्णन माना है, जबकि विज्ञानभिक्षु उसका अर्थ इन्द्रिय-विषयक करता है। १११ सूत्र में शरीरभेदों का वर्णन, और ११२ में शरीर को पार्थिव मानकर, उसमें अन्य भूतों के केवल निमित्त होने का वर्णन किया गया है। परन्तु जब इस बात को स्पष्ट सिद्ध करदियागया है, कि सांख्य का मत शरीर को पाञ्चभौतिक मानना है, तब यह सूत्र निरर्थक तथा सांख्यमत के विरुद्ध होजाता है। यह निश्चित विचार है, इस सूत्र में न्यायमत को बताया है, सांख्यमत को नहीं। ऐसी अवस्था में इन सूत्रों को कपिल-प्रणीत मानना कहाँ तक ठीक है? विद्वान् स्वयं समझ सकते हैं।

११३ से ११५ तक तीन सूत्रों में—शरीर के साथ प्राण का क्या सम्बन्ध हो सकता है—इस बात का निरूपण कियागया है। पहले सूत्र में बताया है, प्राण देह का आरम्भक नहीं। फिर यह आशंका होने पर, कि गर्भावस्था में प्राण के न होने से शुक्र-शोणित सड़ जायगा, यह कहागया है, कि भोक्ता अधिष्ठाता के रहने से मातृगर्भ में शरीर का निर्माण होजाता है, यदि भोक्ता अधिष्ठाता न हो, तो अवश्य वह शरीर सड़जाय। इतने से यही आशय स्पष्ट होता है, कि उस अवस्था में प्राण के न रहते भी भोक्ता के अधिष्ठातृत्व से शरीर ठीक बनजाता है। पर अगले सूत्र में विज्ञानभिक्षु के व्याख्यानानुसार शरीर का साक्षात् अधिष्ठाता प्राण मानलिया है, और प्राणसंयोगमात्र से पुरुष को अधिष्ठाता माना है। ऐसी अवस्था में इस लेख में ही पूर्वापर विरोध होजाता है। सूत्रकार इस विषय का प्रातिपादन १।९६ और २।३१ में कर आया है। इसीका उपसंहार करते हुए ६।६० में इसको स्पष्ट करदिया है, कि गर्भावस्था में शरीर विकृत क्यों नहीं होता? वहाँ प्राण का कोई उल्लेख नहीं है, और न यहां की तरह, उस जगह प्राण को साक्षात् अधिष्ठाता माना है। प्राणों के सम्बन्ध में कुछ विप्रतिपत्ति है, विज्ञानभिक्षु ने २।३१ सूत्र की व्याख्या में प्राणों को वायु से अतिरिक्त मानकर उन्हें इन्द्रियों की वृत्ति बताया है, और वेदान्तमत के साथ इसका ऐकमत्य दिखाया है। पर अन्य अनेक आचार्य प्राणों को वायुरूप मानते हैं, कदाचित् सूत्रकार का भी इस ओर संकेत है। फिर भी, प्राण वायु है, या उससे अतिरिक्त? इसका निर्णय हम 'सांख्यसिद्धान्त' नामक रचना में करेंगे, यहां इतना लिखदेना आवश्यक है, कि यदि प्राण को वायु मानाजाय, तब तो शरीर के प्रति उसकी कारणता निर्बाध है, उसे हटाया नहीं जासकता। यदि इन्द्रियवृत्ति ही प्राण है, तब गर्भ की शुक्र-शोणित अवस्था में यह सिद्ध करना कठिन है, कि वहाँ इन्द्रियों

को वृत्ति-लाभ होता है। यद्यपि लिंगशरीर के वहाँ होने से इन्द्रिय का सद्भाव मानाजासकता है। पर उनको उस अवस्था में वृत्ति-लाभ होता है, यह प्रतिपादन करना कठिन है। दोनों अवस्थाओं में इन सूत्रों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

इसप्रकार ८४ सूत्र से ११५ सूत्र तक कुल ३२ सूत्रों का प्रक्षेप स्पष्ट है। इनमें से अनेक सूत्र सांख्यमत के विरुद्ध हैं, अनेक पुनरुक्त हैं, बहुत ऐसे हैं, जिनका परस्पर ही विरोध है। इन सब बातों को उन स्थलों में स्पष्ट करदिया है, इसलिये ये सूत्र कपिल-प्रणीत नहीं कहेजासकते।

मुक्तिस्वरूप के बोधक सूत्रों की प्रकरण-संगति—

पहले लिखाजाचुका हैं—८३ सूत्र के आगे ८४वां सूत्र वह होना चाहिये, जो ११६वीं संख्या पर उपलब्ध है। इन सूत्रों का आनन्तर्य किन हेतुओं से आवश्यक है, इसका अब निरूपण करेंगे। ११६ सूत्र से लेकर जितने सूत्रों का सम्बन्ध आनुपूर्वी से ८३ सूत्र के आगे है, वे सूत्र इसप्रकार हैं—

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता।
द्वयोः सबीजत्वमन्यस्य (त्र) तद्धतिः।
द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ।
वासनयाऽनर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम्।

इनमें से पहले ११६वें सूत्र की अवतरणिका विज्ञानभिक्षु ने इसप्रकार की है—"**विमुक्तमोक्षार्थं प्रधानस्य**' (२।१) **इत्युक्तं प्राक्। तत्र कथमात्मा नित्यमुक्तः बन्धमुक्तो बन्धदर्शनात् इति परेषामाक्षेपे नित्यमुक्तिमुपपादयितुमाह**—"। विज्ञानभिक्षु ने यहाँ इस सूत्र के अवतरण के लिये द्वितीयाध्याय के प्रथमसूत्र का अतिदेश किया है। इससे इतना स्पष्ट है, कि विज्ञानभिक्षु ११५वें सूत्र से इस सूत्र का कोई सम्बन्ध न जोड़ सका। पर उसने यहाँ जिस सूत्र का अतिदेश किया है, उसकी यहाँ आवश्यकता न थी, क्योंकि अवतरणिका के अन्तिम पदों में विज्ञानभिक्षु लिखता है—'**परेषामाक्षेपे नित्यमुक्तिमुपपादयितुमाह**—'यह नित्यमुक्ति का उपपादन सांख्य का अपना मत है, इसका प्रतिपादन वहीं होना चाहिये था, जहां अन्यमतानुसार मुक्तिस्वरूपों का प्रत्याख्यान कियागया है। यह प्रत्याख्यान इसी अध्याय के ७४ सूत्र से ८३ सूत्र तक कियागया है। ठीक उसीके अनन्तर इस सूत्र का क्रम होना चाहिये, क्योंकि अन्य मुक्तिस्वरूपों का निराकरण कर स्वमतानुसार मुक्तिस्वरूप का स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक और क्रमानुसारी है। वैसे तो सांख्यमतानुसार मुक्ति का स्वरूप प्रसंगवश पहले वर्णन कियाजाचुका है।[1] पर यहाँ इतने पूर्वपक्षों के बाद उसका निरूपण

१. देखो-सांख्यषडध्यायी-अध्याय २, सूत्र ३४। अध्याय ३, सूत्र ६५।

अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये, ज्ञात होता है, यहाँ मुक्तिविषयक अन्य कई विशेषतायें बताई गई हैं, जो अगले सूत्रों में स्पष्ट हैं। ऐसी अवस्था में ८३ सूत्र और ११६ सूत्र के बीच में किसी अन्य प्रकरण का होना उत्प्रकरण कहा जायगा, क्योंकि इन सूत्रों की रचना अपने बीच में और किसीको सहन नहीं करती। विज्ञानभिक्षु को ११६ सूत्र का सम्बन्ध ११५ सूत्र से न जोड़ सकने पर इस सूत्र की अवतरणिका में ७४ से ८३ तक के प्रकरण का अतिदेश करना चाहिए था, यही उचित और युक्तिसंगत था। अनिरुद्ध और महादेव की अवतरणिकाओं से भी ११५ सूत्रका इन चार सूत्रों से कोई सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता। इन सब बातों पर विचार करते हुए यह निश्चित है, कि ८४ सूत्र से लेकर ११५ सूत्र तक की रचना कपिल की नहीं है। प्रो० मैक्समूलर ने जिसका उल्लेख इसी प्रकरण में पूर्व कियाजाचुका है, कहा है—इन सूत्रों में वैशेषिक का नाम, छह या सोलह पदार्थों का वर्णन, जैन तथा बौद्ध आदि का खण्डन आनेसे, ये सूत्र कपिल रचित नहीं कहेजासकते। हम इससे सहमत हैं, अवश्य वे सूत्र जिनमें इस प्रकार के वर्णन हैं, कपिलरचित नहीं होसकते। इसीको स्पष्ट करने के लिये युक्तिपूर्वक इन प्रक्षेपों का उद्घाटन किया है। पर प्रो० मैक्समूलर का यह विचार अवश्य असङ्गत होगा, कि बीच में कुछ सूत्रों के कपिल-प्रणीत सिद्ध न होने पर, सम्पूर्ण शास्त्र को कपिल-प्रणीत होने से नकार करदियाजाय।

चार सूत्रों का और प्रक्षेप—

११६ सूत्र से आगे १२० से १२३ तक चार सूत्र और प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। क्योंकि १२४वें सूत्र में अध्याय की समाप्ति तक देहात्मवाद या भूतचैतन्यवाद का निराकरण कियागया है। यह वर्णन मुक्तिनिरूपण के ठीक अनन्तर प्रारम्भ होजाना चाहिये। इसका कारण यह है—मुक्तिस्वरूप का प्रकरण प्रारम्भ होने से पहले पुरुष और प्रकृति के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु को अनित्य बताया है; अनन्तर मुक्ति का निरूपण है। सांख्यमतानुसार मुक्तिस्वरूप का निष्कर्ष किसी पुरुष के प्रति प्रकृति का अपना कार्य बन्द करदेना है।[1] आधुनिक सांख्यमत में वस्तुगत्या बन्ध या मोक्ष पुरुष के न कहे जाकर प्रकृति के कहे जाते हैं।[2] परन्तु उनका प्रभाव पुरुष पर होता है। इसप्रकार शास्त्र-सर्वस्व बन्ध और मोक्ष का अवलम्ब प्रकृति पर ही है। जब यह कहाजासकता है, कि पुरुष को अतिरिक्त मानने की क्या आवश्यकता है? जब बन्ध और मोक्ष प्रकृति के धर्म हैं, कर्तृत्व भी प्रकृति का धर्म हैं, तब चैतन्य भी प्रकृति का ही अवस्थाविशेष या धर्म मान

१. सांख्यषडध्यायी अ० २, सू० ३४, अ० ३, सू० ६५; ६६; ७०।
२. सांख्यषडध्यायी अध्याय ३ सू० ७१, ७२।

लेना चाहिये। इस आधिभौतिकवाद में किसी अतिरिक्त चेतन की सत्ता स्वीकार करना असंगत होगा। ऐसे पूर्वपक्ष का समाधान मुक्तिस्वरूप के ठीक अनन्तर आना चाहिये। यह समाधान १२४ सूत्र से प्रारम्भ होता है, तथा इसीमें अध्याय समाप्त होजाता है। १२० से १२३ तक सूत्र, जिनका पूर्वापर के साथ कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं है, इसप्रकार हैं—

एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्त्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहुकल्पना-प्रसक्तेः।

न बाह्यबुद्धिनियमः।[1]

वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत्।

स्मृतेश्च।

इनमें से किसी सूत्र का भी सम्बन्ध अनन्तरित पूर्व प्रकरण के साथ नहीं हैं। विज्ञानभिक्षु ने पहले सूत्र का सम्बन्ध, तीसरे अध्याय के ८३ सूत्र से जोड़ने का यत्न किया है। पर विज्ञानभिक्षु के उस सूत्र के अर्थ, और इस सूत्र में विरोध स्पष्ट ज्ञात होता है। विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्रकी अवतरणिका में लिखा है, जीवन्मुक्त लगातार एक ही अर्थ को हमारी तरह भोगता हुआ देखाजाता है, यह बात संगत न होगी; क्योंकि पहले भोग को उत्पन्न करके पहला संस्कार नष्ट होजायगा, दूसरे संस्कार का ज्ञान के द्वारा प्रतिबन्ध होजाने से कर्म के समान उदय न होगा।[2] इसलिये कहागया है—एक संस्कार भोग को सम्पन्न करेगा, प्रत्येक भोग के प्रति संस्कार-भेद न मानना चाहिये। परन्तु तीसरे अध्याय के ८३ सूत्र के व्याख्यान से स्पष्ट होता है, विज्ञानभिक्षु एक क्रिया के प्रति अनेक संस्कार मानता है। उस सूत्र की व्याख्या इसप्रकार है:— '**शरीरधारणहेतवो ये विषयसंस्कारास्तेषामल्पावशेषात् तस्य शरीरधारणस्य सिद्धिरित्यर्थः।**' इससे स्पष्ट है, शरीर धारणरूप एक क्रिया के प्रति विज्ञानभिक्षु अनेक संस्कार मानरहा है। इसी अर्थ के द्योतन के लिये यहां 'संस्काराः' बहुवचनान्त पद प्रयुक्त कियागया है। एक भोग व्यक्ति के प्रति एक संस्कार का होना एक बात है। समानजातीभ नाना भोग-व्यक्तियों के प्रति एक संस्कार का होना दूसरी बात है। लगातार एक अर्थ विषयक भोग होने पर भी भोग-व्यक्ति नाना होसकती हैं, और संस्कार भी नाना होसकते है। इसमें सांख्यमत

१. विज्ञानभिक्षु ने इन दोनों सूत्रों को एक मानकर व्याख्या की है।

२. विज्ञानभिक्षु की अवतरणिका इसप्रकार है—
संस्कारलेशतो जीवन्मुक्तस्य शरीरधारणमिति तृतीयाध्याये प्रोक्तम्। तत्रायमाक्षेपः। जीवन्मुक्तस्य शश्वदेकस्मिन्नप्यर्थेऽस्मदादीनामिव भोगो दृश्यते। सोऽनुपपन्नः। प्रथमं भोगमुत्पाद्यैव पूर्वसंस्कारनाशात् संस्कारान्तरस्य च ज्ञानप्रतिबन्धेन कर्मवदनुदयादिति। तत्राह—एकः संस्कार क्रियानिर्वर्त्तकः—इत्यादि।

का कोई विरोध नहीं है। संस्कारों के नानात्व की कल्पना नहीं करनी; वे तो सिद्ध हैं। प्रत्युत उनके नानात्व में एकता की कल्पना असंगत होगी। यदि समानजातीय नाना संस्कार हैं, तो वे क्यों नहीं एक अर्थ में लगातार भोग को पैदा कर सकते? जैसे-जैसे वे भोगे जायेंगे, वैसे-वैसे उनका नाश होता जायगा। ज्ञान से अगले नये कर्मों का उदय रोक दियाजाता है, प्रारब्ध को नहीं हटाया जाता है। ऐसी अवस्था में नाना संस्कारों के होने पर भी एक ही अर्थ में भोग उपपन्न होजाता है। फिर यह १२०वां सूत्र अनर्थक, प्रकरण विरुद्ध तथा सांख्य-मत के विरुद्ध है। विज्ञानभिक्षु इसकी संगति लगाने के लिये इतने पीछे दौड़े, पर फिर भी उनके अपने ही लेख में विरोध होगया।

अगले तीनों सूत्र उद्भिज्ज या स्थावर शरीर के सम्बन्ध में है। विज्ञानभिक्षु ने सूत्रों की अवतरणिका में लिखा है—'**उद्भिज्जं शरीरमस्तीत्युक्तम्। तत्र बाह्यबुद्ध्यभावाच्छरीरत्वं नास्तीति नास्तिकाक्षेपमपाकरोति—**'। उद्भिज्ज शरीर है, इस बात को पहले कहदियागया है, पर जिस प्रकरण में यह कहागया है, वह प्रकरण प्रक्षिप्त सिद्ध कियाजाचुका है। इसी अध्याय के १११ वें सूत्र में स्थूलशरीर के भेद बताते हुए उद्भिज्ज का नाम-निर्देश किया है। इस अध्याय में ८४ से ११५ तक सूत्र प्रक्षिप्त हैं। इसलिये तन्मूलक यह तीन सूत्रों का प्रकरण बाद में मिलायागया प्रतीत होता है। मुक्तिस्वरूप के निरूपण और देहात्म-वाद के बीच में केवल उद्भिज्ज का वर्णन, प्रकरण विरुद्ध प्रतीत होता है। इस रीति पर ये सूत्र कपिल-प्रणीत नहीं कहेजासकते।

प्रकरण का उपसंहार—

'सांख्यषडध्यायी की रचना' नामक पञ्चम अध्याय में उन स्थलों का स्पष्टीकरण करदिया है, जिनको सांख्यषडध्यायी की अर्वाचीनता सिद्ध करने के लिये साक्षीरूप से प्रस्तुत कियाजाता है। आधुनिक विद्वान् उन स्थलों की कपिल-प्रणीतता में सन्देह करके सम्पूर्ण शास्त्र के कपिल-प्रणीत न होने का निश्चय कर बैठते हैं। हम इतने अंश में उन विद्वानों से सहमत हैं, कि ये स्थल अवश्य कपिल-प्रणीत नहीं हैं। पर इतने स्थल के कपिल-प्रणीत न होने से समस्त शास्त्र को कपिल-प्रणीत न मानना, सूक्ष्मविवेचकता का परिचायक नहीं है। इस अध्याय में उन स्थलों को इस रीति पर स्पष्ट करदियागया है, कि कपिल-प्रणीत सूत्रों पर उसका कोई प्रभाव नहीं है। जिन सूत्रों को हम कपिल-प्रणीत, और इसलिये अत्यन्त प्राचीन देखते हैं, उनमें कोई ऐसी बात नहीं रहजाती, जिसका अवलम्बन कर उन सूत्रों की अर्वाचीनता सिद्ध करने का साहस कियाजासके। इसलिये निश्चित रूप में षडध्यायी ग्रन्थ को कपिल-प्रणीत और आदि दर्शन मानना श्रेयस्कर युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक है।

षष्ठ अध्याय

सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार

सांख्यसूत्रों से अभिप्राय सांख्यषडध्यायी और तत्त्वसमास दोनों है। इस अध्याय में इन दोनों के व्याख्याकारों का निर्देश कियाजायेगा। उनके काल आदि का निर्णय करने का भी प्रयत्न कियाजायगा। प्रथम सांख्यषडध्यायी के व्याख्याकारों के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत है।

पञ्चशिख आदि के व्याख्याग्रन्थ—

यद्यपि पञ्चशिख आदि के प्राचीन ग्रन्थ षडध्यायी के व्याख्यान कहेजासकते हैं, परन्तु आज वे ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, और वे व्याख्यान इसप्रकार के रहे प्रतीत होते हैं, जैसे वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद भाष्य। तात्पर्य है—उनमें प्रत्येक सूत्र की पृथक् व्याख्या नहीं कीगई प्रतीत होती, प्रत्युत सूत्रों के सम्पुट आशय को लेकर उसी आधार पर स्वतन्त्ररूप से ग्रन्थ की रचना करदीगई है। आज वह रचना पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है। उसके कतिपय खण्डवाक्य यत्र तत्र ग्रन्थों में उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं। उन सबका संग्रह इसी ग्रन्थ के 'सांख्य के प्राचीन आचार्य' नामक प्रकरण के पञ्चशिख प्रसंग में कर दिया है। ये बहुत थोड़े वाक्य हैं, इसके आधार पर कोई निश्चित परिणाम नहीं निकालाजासकता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि पञ्चशिख वाक्यों में से अनेक, षडध्यायी सूत्रों के साथ पर्याप्त समानार्थकता रखते हैं। तथा कई बातें ऐसी हैं, जो षडध्यायी में मूलरूप अथवा उद्देशरूप में हैं, और पञ्चशिख वाक्यों में उनका विशदीकरण प्रतीत होता है। उसके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर देना उपयुक्त है।

(१) षडध्यायी के द्वितीयाध्याय में प्रकृति के महदादि कार्य और उनके स्वरूप का निर्देश कियागया है। १३-१५ सूत्रों से महत्तत्त्व का निर्देश करने के अनन्तर महत्कार्य अहंकार का स्वरूप १६वें सूत्र में निरूपण किया है। यहाँ सूत्रकार ने अहंकार के अन्य अवान्तर भेदों का कोई निर्देश नहीं किया। प्रसंगवश १८वें सूत्र में केवल एक वैकारिक भेद का उल्लेख है। अन्यत्र भी षडध्यायी में अहंकार के अवान्तरभेदों का निरूपण नहीं है। परन्तु पञ्चशिख के एक सन्दर्भ में इनका स्पष्ट विवरण है। सन्दर्भ इसप्रकार है—

"एतस्माद्धि महत आत्मनः, इमे त्रय आत्मानः सृज्यन्ते–वैकारिक-तैजस-भूतादयोऽहङ्कारलक्षणाः। अहमित्येवैषां सामान्यलक्षणं भवति, गुणप्रवृत्तौ च पुनर्विशेषलक्षणम्[1]।"

इस सन्दर्भ को ध्यानपूर्वक देखने पर यह प्रतीत होता है–जैसे षडध्यायी के 'अभिमानोऽहंकारः' इस १६वें सूत्र का यह व्याख्यान हो। सांख्यसप्तति में इन तीनों भेदों का उल्लेख है, और सप्तति के प्रायः सब व्याख्याकारों[2] ने इस बात को स्वीकार किया है, कि अहंकार के तीन अवान्तरभेद और उनके ये नाम, प्राचीन आचार्यों ने निर्दिष्ट किये हैं। प्राचीन आचार्य से उनका अभिप्राय इस प्रसंग में पञ्चशिख आदि से होसकता है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि जो अर्थ सूत्रकार ने दिग्दर्शनमात्र के लिये मूलरूप में निर्दिष्ट किया है, पञ्चशिख ने अपने सन्दर्भ में उसीका विशदीकरण किया है, जिनका उल्लेख परवर्ती आचार्य अथवा व्याख्याकार बराबर करते आये हैं।

(२) 'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' [१।९६] यह षडध्यायी का सूत्र है। इसकी व्याख्या पञ्चशिखसूत्रों में इसप्रकार कीगई है—

"[3]पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते।"

"महदादिविशेषान्तः सर्गो बुद्धिपूर्वकत्वात्।……एवंतस्माद् ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नस्तस्मात् प्रत्ययसर्गः।"

(३) 'आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि' [२।२०] यह एक षडध्यायीसूत्र है। इसकी व्याख्या पञ्चशिख सन्दर्भों में इसप्रकार उपलब्ध होती है—

"आहङ्कारिकाणीन्द्रियाण्यर्थं साधयितुमर्हन्ति नान्यथा।"[4]

(४) 'साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम्' यह सांख्यषडध्यायी [६।४२] का सूत्र है। इसमें प्रकृति की सर्ग और प्रलय रूप दो अवस्थाओं का वर्णन कियागया है। निम्नलिखित पञ्चशिख सन्दर्भ में इसीका व्याख्यान है।

"प्रधानं स्थित्यैव वर्त्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्, तथा गत्यैव वर्त्तमानं

---

१. इसी ग्रन्थ के अष्टम अध्याय में निर्दिष्ट पञ्चशिख सन्दर्भों में संख्या १० पर देखिये।
२. आर्या २५। इस पर व्याख्या माठर, युक्तिदीपिका, गौडपाद, चन्द्रिका।
३. इसी ग्रन्थ के अष्टम अध्याय में निर्दिष्ट पञ्चशिख सन्दर्भों में संख्या ३ तथा १५ पर देखें।
४. इसी ग्रन्थ के अष्टम अध्याय में निर्दिष्ट पञ्चशिख सन्दर्भों की सूची में संख्या १४ पर देखें।

विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्, उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा ।[1]

प्रसंगवश पञ्चशिख के सन्दर्भों से यहाँ यह भाव प्रकट किया है, कि ये सन्दर्भ षडध्यायीसूत्रों के व्याख्यानभूत संभावना कियेजासकते हैं, परन्तु इस प्रसंग में हमारा अभिप्राय सूत्रों के उन व्याख्याकारों से है, जिन्होंने प्रत्येक सूत्र पर पृथक्-पृथक् व्याख्या लिखी है। षडध्यायी सूत्रों पर अभी तक ऐसे तीन व्याख्याग्रन्थ प्रकाशित होसके हैं।

१. अनिरुद्धवृत्ति

२. महादेव वेदान्ती कृत वृत्ति

३. विज्ञानभिक्षु कृत भाष्य

४. इनके अतिरिक्त एक और व्याख्या, पञ्चनद विश्वविद्यालय के लाहौर स्थित पुस्तकालय में विद्यमान है। यह अभी अप्रकाशित है, इसका हस्तलेख तमिल लिपि [अथवा-ग्रन्थलिपि] में है। इस व्याख्या के रचयिता का नाम पुस्तकालय की सूची में रामभद्रयतिशिष्य लिखा हुआ है।[2] इन सब व्याख्या तथा व्याख्याकारों के सम्बन्ध में क्रमशः विचार प्रस्तुत है।

अनिरुद्ध-वृत्ति—

अनिरुद्ध-वृत्ति के दो संस्करण हमारे सन्मुख हैं। (१)–डॉ० रिचर्ड गार्बे द्वारा सम्पादित, बंगाल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता से सन् १८८८ ईसवी में प्रकाशित। (२) जीवानन्द विद्यासागर फर्म, कलकत्ता से सन् १९१६ ईसवी में प्रकाशित तृतीय संस्करण। महामहोपाध्याय श्री प्रमथनाथ तर्कभूषण कृत टीका भी इसके साथ मुद्रित है। तर्कभूषण महोदय ने इसके प्रारम्भ में एक छोटी-सी भूमिका संस्कृत में लिखी है। अनिरुद्ध के काल आदि सम्बन्धी विवेचन में आपने रिचर्ड गार्बे के अनुसन्धानों का संस्कृत में अनुवाद करदिया है, जो उसने अपने संस्करण की भूमिका में निर्दिष्ट किये हैं। इसलिये तत्सम्बन्धी विवेचन, हम डॉ० गार्बे के लेखानुसार करेंगे।

---

१. इसी ग्रन्थ के अष्टम अध्याय में, पञ्चशिख सन्दर्भ सूची की ४ संख्या पर देखें।

२. खेद के साथ लिखना पड़ता है, इस अध्याय के लिपिबद्ध होने के अनन्तर ही राजशासन में परिवर्त्तन होने के कारण पञ्चनद (पञ्जाब) प्रान्त का विभाजन होगया। हमको लाहौर अचानक छोड़ना पड़ा। अब राजनैतिक बाधाओं के कारण, तमिल लिपि के हस्तलेख के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं कीजासकती। वह हस्तलेख लाहौर के पुस्तकालय में रहगया।

सांख्यसूत्रों के उपलभ्यमान व्याख्याग्रन्थों में अनिरुद्धवृत्ति की प्राचीनता—

इन व्याख्यानों में अनिरुद्धवृत्ति सबसे प्राचीन है। वेदान्ती महादेव ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में लिखा है—

"दृष्ट्वानिरुद्धवृत्तिं बुद्ध्वा सांख्यीयसिद्धान्तम्।
विरचयति वृत्तिसारं वेदान्त्यादिर्महादेवः।"

इससे स्पष्ट है–अनिरुद्ध की वृत्ति को देखकर उसने अपने 'वृत्तिसार' को लिखा। प्रथमाध्याय के अन्त में वह फिर इसको दुहराता है—

"अत्र मामकसन्दर्भे नास्ति कापि स्वतन्त्रता।
इति ज्ञापयितुं वृत्तिसार इत्यभिधा कृता॥
परवाक्यानि लिखता तेषामर्थो विभावितः।
कृता संदर्भशुद्धिश्चेत्येवं मे नाफलः श्रमः॥"

इसमें सन्देह नहीं–वेदान्ती महादेव ने अनेक सूत्रों का अर्थ करने में बड़ी विशेषता[1] प्रकट की है। फिर भी उसने अभिमानरहित होकर अभिमत आधार का स्पष्ट उल्लेख करदिया है। इससे वेदान्ती महादेव की अपेक्षा, अनिरुद्ध की प्राचीनता निश्चित है। वेदान्ती महादेव की तरह, यद्यपि विज्ञानभिक्षु ने अनिरुद्ध का कहीं नामोल्लेख नहीं किया, परन्तु सांख्यसूत्रों पर उसके भाष्य की आन्तरिक परीक्षा से इसका निश्चय होजाता है, कि विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध पर्याप्त प्राचीन है।

डा० रिचर्ड गार्बे[2] ने F. E. Hall, द्वारा सम्पादित सांख्यसार के उपोद्घात के आधार पर, विज्ञानभिक्षु कृत सांख्यप्रवचन भाष्य से ऐसे स्थलों की एक सूची दी है, जिनके आधार पर विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा, अनिरुद्ध की प्राचीनता सिद्ध होती है। इस सूची में भाष्य के आठ स्थलों का उल्लेख है। चार में सूत्रों के पाठभेदों का उल्लेख है, तीन स्थल ऐसे हैं, जिनसे 'कश्चित्' अथवा 'यत्तु' कहकर अनिरुद्ध के विचारों का खण्डन कियागया है। एक स्थल में एक सूत्र-भेद का निर्देश है। वे सब इसप्रकार हैं—

प्रकृतिनिबन्धना चेदिति पाठे १।१८।

---

१. वेदान्ती महादेव के प्रसंग में इसी अध्याय में कुछ विशेषताओं का निर्देश कियाजायगा।

२. डा० रिचर्ड गार्बे द्वारा सम्पादित, रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल कलकत्ता से १८८८ ईसवी सन् में प्रकाशित, सांख्यसूत्रों की अनिरुद्धवृत्ति का प्राक्कथन, पृष्ठ ७।

अक्षसम्बन्धात् साक्षित्वमिति पाठे १।१६१।[1]
इतरवियोगवदिति पाठे ५।८२।[2]
जडव्यावृत्ताविति पाठे ।६।५०।

विज्ञानभिक्षु ने सूत्रों के इन पाठभेदों का अपने भाष्य में उल्लेख किया है। ये सब पाठभेद अनिरुद्ध-स्वीकृत सूत्रपाठ में उपलब्ध होते हैं। इससे विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। १, १६ ॥ २, ४६ ॥ ५, १०० सूत्रों के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने 'कश्चित्' अथवा 'यत्तु' पदों से जिन विचारों का खण्डन किया है, वे उन्हीं सूत्रों पर अनिरुद्धवृत्ति में उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त ५, १२१ सूत्र पर विज्ञानभिक्षु लिखता है—

'न बाह्यबुद्धिनियम इत्यंशस्य पृथक् सूत्रत्वेऽपि सूत्रद्वयमेकीकृत्येत्थमेव व्याख्येयम् ।
सूत्रभेदस्तु दैर्ध्यभयादिति बोध्यम् ।''

अनिरुद्ध ने अपनी व्याख्या में इन दोनों सूत्रों को पृथक् माना है, जैसाकि विज्ञानभिक्षु ने लिखा है।

अनिरुद्ध की प्राचीनता में अन्य प्रमाण—

डॉ० रिचर्ड गार्बे द्वारा प्रदर्शित इन स्थलों की परस्पर तुलना करके हमने स्वयं परीक्षा करली है; ये सब स्थल ठीक हैं। इनके अतिरिक्त सांख्यप्रवचन भाष्य में और भी ऐसे स्थल हैं, जिनसे उक्त अर्थ की पुष्टि होती है, तथा निर्दिष्ट स्थलों से भी वे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ उनका क्रमशः निर्देश किया-जाता है—

(क) १, ६१ सूत्र पर भाष्य करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखता है—

"एतेन सांख्यानामनियतपदार्थाभ्युपगम इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः"

सांख्यों की अनियतपदार्थवादिता का उद्घोषण, अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में छह सात स्थलों पर किया है। संभव है और कोई स्थल हमारी आँखों से ओझल रहगया हो, परन्तु इतनी वार भी एक अर्थ का कथन करना, इस सम्बन्ध में उसके विचारों की दृढ़ता को प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त है। अनिरुद्ध के वे लेख इसप्रकार है।—

---

१. यह सूत्र संख्या सांख्यदर्शन के प्रचलित पाठ के अनुसार है। इस सूत्रसंख्या में से ३५ घटाकर १।१२६ संख्या पर संस्थान से प्रकाशित संस्करण में प्रस्तुत सूत्र देखाजासकता है।

२. इस संख्या में से ५ घटाकर संख्या ७७ पर संस्थान संस्करण में सूत्र द्रष्टव्य है।

"किञ्चानियतपदार्थवादित्वादस्माकं" १।४५।
"नास्माकं सिद्धान्तक्षतिः, अनियतपदार्थवादित्वात्" ।१।५६।
"अनियतपदार्थवादित्वात्सांख्यानाम् ५।८५।
"अनियतः पदार्थो यतः" ५।१०७।
"अनियतत्वात् पदार्थानाम्" ५।१०८।
"अनियतत्वात् पदार्थस्य" ६।३८।

यद्यपि एक स्थल पर वेदान्ती महादेव ने भी इसी तरह अपना मत प्रकट किया है। वह लिखता है—

"अनियतपदार्थवादिनो हि सांख्याः"५ ।१०७।

परन्तु यह संभव है, उसने अपना मत अनिरुद्ध के आधार पर प्रकट किया हो। इसका विवेचन हम महादेव के प्रसंग में करेंगे।

प्रकृत में विज्ञानभिक्षु के इस लेखसे—सांख्यों को अनियतपदार्थवादी कहना मूढ़प्रलाप है—यह बात निश्चित होजाती है, कि अवश्य विज्ञानभिक्षु से पूर्ववर्ती किसी सांख्याचार्य ने इस मतका निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है, और विज्ञानभिक्षु अपने विचार उस मत से सर्वथा विपरीत रखता है। इसीलिये उक्त कथन को उसने मूढप्रलाप कहा है। इससे उसकी विरोधी भावना और प्रत्याख्यान की दृढ़ता स्पष्ट प्रतीत होती है। हम देखते है, विज्ञानभिक्षु ने जिन विचारों का प्रत्याख्यान किया है, वे केवल अनिरुद्ध के ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। संभवतः विज्ञानभिक्षु के काल में अनिरुद्ध के विचार पर्याप्त प्रसार पाचुके थे। उनको हटाने के विचार से उसने उन्हें प्रबल धक्का लगाने का प्रयत्न किया, और अपने ग्रन्थ में जगह-जगह पर उनका खण्डन किया है।

(ख) १।६६ सूत्र पर भाष्य करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखता है—

"कश्चित्तु बुद्धिगतया चिच्छायया बुद्धेरेव सर्वार्थज्ञातृत्वमिच्छादिभिर्ज्ञानस्य सामानाधिकरण्यानुभवादन्यस्य ज्ञानेनान्यस्य प्रवृत्त्यनौचित्याच्चेत्याह । तदात्माज्ञानमूलकत्वादुपेक्षणीयम् । एवं हि बुद्धेरेव ज्ञातृत्वे 'चिदवसानो भोगः' इत्यागामिसूत्रद्वयविरोधः । पुरुषे प्रमाणाभावश्च । पुरुषलिंगस्य भोगस्य बुद्धावेव स्वीकारात् ।"

यहाँ पर 'कश्चित्' पद से प्रदर्शित पूर्वपक्ष का आशय है—बुद्धि में चेतन की छाया के कारण बुद्धि ही सब अर्थों की ज्ञाता कहीजासकती है। इच्छा और ज्ञान का सामानाधिकरण्य हम अनुभव करते हैं। यह उचित नहीं, कि ज्ञान आत्मा को हो, और प्रवृत्ति बुद्धि में हो। इसलिये बुद्धि को ही सब अर्थों का ज्ञाता मानना चाहिये। यह पूर्वपक्ष का आशय है। विज्ञानभिक्षु इसका उत्तर देता है—उक्त कथन उपेक्षणीय है, क्योंकि ऐसा कथन करने वाला, आत्मा के स्वरूप को नहीं समझ सका। यदि बुद्धि को ज्ञाता मानलिया

जाय, तो आगामी सूत्र के साथ विरोध होगा, क्योंकि उसमें चेतन आत्मा को भोग होने का कथन कियागया है, अचेतन बुद्धि को नहीं। फिर पुरुष की सिद्धि में कोई प्रमाण भी नहीं कहाजासकेगा। क्योंकि उक्त कथन के अनुसार पुरुष-लिंग भोग को बुद्धि में स्वीकार करलियागया है।

विज्ञानभिक्षु के उत्तर से यह बात निश्चित होती है, कि वह अपने प्रतिपक्षी का आशय यह समझरहा है, कि प्रतिपक्षी भोग को बुद्धि में मानता है, पुरुष को केवल उसका अभिमान होजाता है। स्पष्ट है—ये विचार अनिरुद्धवृत्ति में उपलब्ध होते हैं। प्रथमाध्याय के ९७, ९८ और ९९[1] सूत्रों की अनिरुद्धवृत्ति को गम्भीरतापूर्वक देखने से उक्त विचार स्पष्ट होजाते हैं। वहाँ से उतना अंश यहाँ उद्धृत है, जो प्रकृत में उपयोगी है।

वायुयुक्तो बुद्ध्यादिर्जीवः, न त्वात्मा जीवः, आहारादिविशेषकार्येऽपि जीवानामेव कर्त्तृत्वं आत्मनोऽपरिणामित्वात् ।९७।···तात्त्विकरूपबोद्धृत्वान्महतोऽन्तःकरणस्य वाक्यार्थोपदेशः। तत्प्रतिबिम्बितत्त्वाच्च पुरुषस्य बोद्धृत्वाभिमानः ।९८।···अन्तःकरणस्य बुद्धौ पुरुषच्छायापत्त्या तच्चैतन्येनोज्ज्वलितस्य चेतनत्वाभिमानादधिष्ठातृत्वम् ।···" ९९।

इस सन्दर्भ की प्रथम पंक्तियों में अनिरुद्ध ने बुद्धि को जीव बताया है, और आहार आदि विशेष कार्यों का कर्त्तृत्व भी बुद्धि में माना है, आत्मा में नहीं, क्योंकि वह अपरिणामी है। आहार आदि कार्य भोगरूप हैं, इसप्रकार अनिरुद्ध भोग को बुद्धि का धर्म मानता है। अनन्तर अगली पंक्तियों में ज्ञान के लिये शास्त्रोपदेश भी अन्तःकरण के लिये मान्य है। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने के कारण आत्मा को बोद्धृत्व का केवल अभिमान होता है। इसप्रकार ज्ञान और इच्छा का सामानाधिकरण्य भी समञ्जस होजाता है। अन्तिम पंक्तियों में पुरुष की छाया से बुद्धिगत चैतन्य का होना बतायागया है। ये सब अर्थ 'कश्चित्' पद से निर्दिष्ट विज्ञानभिक्षु द्वारा उद्भावित पूर्वपक्ष में विद्यमान है। इससे स्थिर होता है—विज्ञानभिक्षु ने १।९९ सूत्र के भाष्य में 'कश्चित्' पदों के द्वारा अनिरुद्धमत का प्रत्याख्यान किया है।

(ग)—इसके अतिरिक्त २।३२ सूत्र के विज्ञानभिक्षुकृत भाष्य में फिर एक मत का खण्डन कियागया है। यहाँ पर भी 'कश्चित्' पद के द्वारा उस मत का निर्देश है। विज्ञानभिक्षु लिखता है—

"कश्चित्तु निर्विकल्पकं ज्ञानमेवालोचनमिन्द्रियजन्यञ्च भवति। सविकल्पकं तु मनोमात्रजन्यमिति श्लोकार्थमाह। तन्न।"

---

१. इन संख्याओं में से ३५ घटाकर संस्थान के संस्करण में ये सूत्र देखने चाहियें।

इन पंक्तियों के लिखने से पूर्व विज्ञानभिक्षु ने श्लोकवार्तिक के दो भिन्न-भिन्न अर्द्ध श्लोकों[1] को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। इस पूर्वपक्ष सन्दर्भ में आये 'श्लोकार्थ' के '**श्लोक**' पद से श्लोकवार्त्तिक का उद्धृत द्वितीय अर्द्ध अभिप्रेत है। अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में श्लोकवार्तिक के उक्त श्लोक को प्रत्यक्षलक्षण [१।८६] सूत्र पर प्रसंगवश उद्धृत किया है, और उद्धृत करने से पूर्व स्वलिखित सन्दर्भ में उसके अर्थ का निरूपण किया है। जिसके आधार पर विज्ञानभिक्षु ने पूर्वपक्ष सन्दर्भ में '**इति श्लोकार्थमाह**' लिखा है। अनिरुद्ध का लेख इसप्रकार है—

"सविकल्पकमपि प्रत्यक्षं संगृहीतम्।···अदुष्टसाक्षात्कारिप्रमाजनकसामग्रीजनितं प्रत्यक्षम्। तदुभयं, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च। किन्तु सादृश्यात् संस्कारोद्बोधद्वारेण स्मृत्या नामजात्यादिसंविदुत्पद्यते। अत एवाधिकप्राप्त्या सविकल्पकमिति विशेषसंज्ञा।···तथा च···संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते। संज्ञिनः सा तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा॥ ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया। बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन संमता॥"

इस संदर्भ में अनिरुद्ध ने निर्विकल्पक सविकल्पक दोनों को प्रत्यक्ष कहा है। वह कहता है—सादृश्य से संस्कारों के उद्बुद्ध होजाने पर स्मृति के द्वारा उस वस्तु के नाम जाति आदि का ज्ञान उत्पन्न होजाता है। इस अधिक प्राप्ति के कारण उसकी '**सविकल्पक**' यह विशेष संज्ञा रखदीगई है। इसीकी पुष्टि के लिये उसने आगे श्लोकवार्तिक उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है—अनिरुद्ध सविकल्पक ज्ञान को स्मृति से उत्पन्न हुआ मानकर उसकी मनोमात्रजन्यता को स्वीकार करता है। क्योंकि स्मृति मनोमात्रजन्य होती है। इससे अनिरुद्ध के मत में आलोचन-मात्र निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रियजन्य है, यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है। इसप्रकार विज्ञानभिक्षु ने २।३२ सूत्र के भाष्य में '**कश्चित्तु**' कहकर अनिरुद्ध के मत का खण्डन किया है, यह बात स्थिर होजाती है।

प्रकृत में बालराम उदासीन का विचार, और उसका विवेचन—

सांख्यतत्त्वकौमुदी के व्याख्याकार श्रीयुत बालराम उदासीन ने २७वीं आर्या की व्याख्या में लिखा है—२।३२ सूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने उक्त

१. वे श्लोक इसप्रकार हैं—
अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। [श्लोकवार्तिक ११२]
परं पुनस्तथा वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिस्तथा। [श्लोकवार्त्तिक १२०]
द्वितीय अर्द्ध के पाठ में मूलग्रन्थ से कुछ अन्तर है। अनिरुद्ध के पाठ में भी भिक्षु के पाठ से दो तीन पदों का अन्तर है।

सन्दर्भ से वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ का खण्डन किया है, जो २७वीं आर्या में व्याख्यात है ।

प्रतीत होता है, इसके समझने में श्रीयुत उदासीन महोदय को भ्रम हुआ है । क्योंकि वाचस्पति मिश्र ने यद्यपि उक्त श्लोकवार्तिक को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है, परन्तु उसका अर्थ कुछ नहीं किया । ऐसी स्थिति में विज्ञान-भिक्षु-प्रदर्शित पूर्वपक्ष के **'इति श्लोकार्थमाह'** पद अनर्थक होजायेंगे । इसके अतिरिक्त, विज्ञानभिक्षु ने उक्त स्थल में वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ का खंडन नहीं किया है, इस विचार में प्रबल प्रमाण यह है, कि भिक्षु अपने भाष्य में उक्त मत-प्रत्याख्यान के अनन्तर लिखता है—

"स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे ।"

इससे स्पष्ट है—**'कश्चित्'** पदों से जिसके मत का उद्धार किया है, यहाँ **'स एव'** पदों से उसीका अतिदेश कियाजासकता है । अब यदि यह मान लियाजाय, कि **'कश्चित्तु'** कहकर विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ का खंडन किया है, तो यहाँ **'स एव'** पदों से वाचस्पति का ग्रहण करना होगा, जो सर्वथा असंगत है । क्योंकि भिक्षु का यह लेख सांख्यषडध्यायी के २।३२ सूत्र पर है । इसका अभिप्राय होगा—वाचस्पति ने इस सूत्र का अमुक प्रकार से व्याख्यान किया है । परन्तु सूत्रों पर वाचस्पति का कोई व्याख्यान नहीं है । और **'स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे'** इन पदों से विज्ञानभिक्षु ने जिस सूत्रार्थ का निर्देश किया है, वह वही है, जो २।३२ सूत्र का अनिरुद्धकृत व्याख्यान[1] है । इसलिये श्रीयुत उदासीन महोदय का यह कथन असंगत है, कि उक्त भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पति का खंडन किया है ।

इस सम्बन्ध में डॉ० रिचर्ड गार्बे का विचार, तथा उसका विवेचन—

डॉ० रिचर्ड गार्बे ने स्वसम्पादित अनिरुद्धवृत्ति के उपान्त्य पृष्ठ पर, श्रीयुत बालराम उदासीन के समान इस विचार को स्वीकार किया है, कि सांख्यसूत्र २।३२ पर विज्ञानभिक्षु ने **'कश्चित्'** पद से वाचस्पति मिश्र का निर्देश किया है, और **'स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे'** इस विज्ञानभिक्षु-वाक्य के असामञ्जस्य का

१. डॉ० गार्बे सम्पादित अनिरुद्धवृत्ति ग्रन्थ में निर्दिष्ट सूचियों के अनन्तर, ग्रन्थ के उपान्त्य पृष्ठ पर डॉ० रिचर्ड गार्बे ने लिखा है, २।३२ सूत्र का व्याख्यान अनिरुद्ध ने, सांख्यसप्तति की ३०वीं आर्या के वाचस्पति मिश्र कृत व्याख्यान के आधार पर किया है । परन्तु डॉ० गार्बे का यह कथन सर्वथा :संगत है, इसका विस्तारपूर्वक विवेचन इसी अध्याय में आगे कियागया है ।

समाधान यह किया है, कि स्वर्गीय डॉ० भगवान् लाल इन्द्रजी द्वारा विज्ञानभिक्षु के भाष्य का जो हस्तलिखित ग्रन्थ डॉ० रिचॅर्ड गार्बे को प्राप्त हुआ है, उसमें 'स एव' के स्थान पर **'सम एव'** पाठ है। जिसका यह अभिप्राय होजाता है, कि समान व्याख्याता ने जो अर्थ किया है, उसकी ओर विज्ञानभिक्षु का निर्देश है। वह समान व्याख्याता अनिरुद्ध होसकता है। इसलिये **'कश्चित्'** पद से वाचस्पति मिश्र का निर्देश मानने पर भी अगले वाक्य के साथ इसका कोई असामञ्जस्य नहीं होता।

गॉर्बे महोदय का यह सम्पूर्ण विवरण भ्रान्तिमूलक है। क्योंकि इन्द्र जी से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ के जिस पाठ को आपने ठीक समझा है, वह सर्वथा असंगत है। कोई भी संस्कृतज्ञ ऐसी वाक्यरचना नहीं करसकता, और न संगत समझ सकता है, जिसको गार्बे महोदय ने ठीक समझा है। उसके अनुसार वाक्य के **'एव'** और **'अपि'** पद सर्वथा अनर्थक होजाते हैं। इस वाक्य में ये दोनों ऐसे पद हैं, जो उपर्युक्त **'कश्चित्'** वाले वाक्य के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। इनके प्रयोग में, इस सम्बन्ध को कोई विचलित नहीं करसकता। फिर **'स एव'** इत्यादि वाक्य से जिस अर्थ को प्रकट कियागया है, उसके लिये **'समः'** पद के साथ वाक्यरचना, आजतक साहित्य में कहीं नहीं देखी गई। वस्तुतः प्रस्तुत पदों और वाक्य के स्वारस्य को न समझकर गॉर्बे महोदय ने यह निराधार कल्पना करडाली है।

'स एव' के स्थान पर 'सम एव' पाठ में भी वाचस्पति का समान व्याख्याता अनिरुद्ध नहीं कहाजासकता। कोई दो व्यक्ति समान व्याख्याता तभी कहे-जासकते हैं, जब वे किसी एक मूल ग्रन्थ के व्याख्याता हों। प्रकृत में ऐसा नहीं है। सूत्र पर वाचस्पति का व्याख्यान नहीं, सांख्यसप्तति पर अनिरुद्ध का नहीं। तब ये समान व्याख्याता कैसे ? फिर 'स एव' इत्यादि वाक्य का लेखक विज्ञान-भिक्षु है। उसकी दृष्टि से समान व्याख्याता अनिरुद्ध संभव है। 'सम एव' पाठ में यही अर्थ संभव है, कि जो अर्थ 'कश्चित्' ने श्लोकवार्त्तिक-सन्दर्भ का किया, उसी अर्थ को वह सूत्र से भीं अभिव्यक्त करता है। तब भिक्षु का समान व्या-ख्याता अनिरुद्ध संगत है। वाचस्पति ने तो न वार्त्तिक श्लोक का व्याख्यान किया, न सूत्र का। अतः गॉर्बे का कथन असंगत है। ऐसी स्थिति में विज्ञान-भिक्षु का वह निर्देश, अनिरुद्ध के लेख को लक्ष्य करके लिखागया मानाजासकता है, वाचस्पति मिश्र के लेख को नहीं।

(घ) विज्ञानभिक्षु के द्वारा अपने ग्रन्थ में अनिरुद्ध के उल्लेख की यह और भी प्रबल साक्षी है, जो हमने ऊपर की पंक्तियों में प्रसङ्गवश उद्धृत की है। अर्थात्—

"स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे"।

इसके अनन्तर विज्ञानभिक्षु उस सूत्रार्थ का निर्देश इसप्रकार करता है—

"बाह्येन्द्रियमारभ्य बुद्धिपर्यन्तस्य वृत्तिरुत्सर्गतः क्रमेण भवति। कदाचित्तु व्याघ्रादिदर्शनकाले भयविशेषाद् विद्युल्लतेव सर्वकरणेष्वेकदैव वृत्तिर्भवतीत्यर्थं इति, तदप्यसत्"[1]।

अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में २।३२ सूत्र का यही अर्थ किया है। यद्यपि अनिरुद्ध के पद और आनुपूर्वी सर्वथा यह नहीं है, परन्तु अर्थ यही है, और कुछ पद भी। अर्थ की एकता को प्रकट करने के विचार से विज्ञानभिक्षु ने अपने सन्दर्भ के अन्त में 'इत्यर्थ इति' लिखा है। इससे स्पष्ट होता है—उसने अनिरुद्ध के अर्थ को लिया है, पदानुपूर्वी को नहीं। अनिरुद्ध का लेख इसप्रकार है—

"क्रमशश्च मन्दालोके चौरं दृष्ट्वेन्द्रियेण वस्तु विचारयति, ततः चौरोऽयमिति मनसा संकल्पयति, ततो धनं गृह्णातीत्यहंकारेणाभिमन्यते, ततः चौरं गृह्णामीति बुद्ध्याध्यवस्यति। अक्रमशश्च रात्रौ विद्युदालोके व्याघ्रं दृष्ट्वा झटित्यपसरति। तत्र चतुर्णामेकदा वृत्तिः।"

इन दोनों लेखों की परस्पर तुलना करने पर हम देखते हैं—विज्ञानभिक्षु संक्षेप से इस बात को लिख देता है, कि बाह्य चक्षुरादि इन्द्रिय से लेकर बुद्धि-पर्यन्त करणों की साधारणतया वृत्ति क्रमपूर्वक होती है। परन्तु कभी व्याघ्र आदि के दीखजाने पर भयविशेष से बिजली के कौंधने की तरह सब करणों में एक साथ वृत्ति होजाती है। यही अर्थ अनिरुद्ध ने चक्षु मन अहंकार और बुद्धि की वृत्तियों को पृथक्-पृथक् क्रमशः दिखलाकर प्रकट किया है, और अन्तिम पंक्तियों में विज्ञानभिक्षु ने अनिरुद्ध के पदों को भी पकड़ने का प्रयत्न किया है। इस तुलना से निश्चित होता है—विज्ञानभिक्षु ने इस प्रसंग में अनिरुद्धकृत सूत्रार्थ का प्रत्याख्यान किया है। इन सब निर्देशों के आधार पर विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध की प्राचीनता सुतरां सिद्ध है।

डॉ० रिचर्ड गॉर्बे के विचार, तथा अनिरुद्ध के काल का अनिश्चय—

इतने मात्र से अनिरुद्ध के काल का विशेष निर्णय नहीं कियाजासकता। इससे केवल विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध की प्राचीनता सिद्ध होती है, उसके विशेष काल का कोई निर्णय नहीं होता, इसका अधिक निर्णय करने के लिये डॉ० रिचर्ड गॉर्बे ने कुछ अनुमान किये हैं। डॉ० गॉर्बे[1] ने लिखा है—सांख्यषडध्यायी के १।३४ सूत्र पर अनिरुद्धवृत्ति की जो प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं, वे सायणरचित सर्वदर्शनसंग्रह के बौद्धदर्शन की कुछ पंक्तियों का सार है। सर्वदर्शन

---

१. सांख्यसूत्र-अनिरुद्धवृत्ति की भूमिका, पृष्ठ ८,९। रायल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ता से १८८८ ईसवी सन् में प्रकाशित।

संग्रह का सन्दर्भ, डॉ० गॉर्बे ने इसप्रकार उद्धृत किया है—

"नचायमसिद्धो हेतुः अर्थक्रियाकारित्वलक्षणस्य सत्त्वस्य......तच्चार्थक्रिया-कारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्"

सांख्यषडध्यायी के १।३४ सूत्र पर अनिरुद्ध का लेख इसप्रकार है—

"सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वं, तच्च क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्"

इससे डॉ० गॉर्बे महोदय ने यह अनुमान किया है, कि अनिरुद्ध का लेख सायण के लेख का सार होने से अनिरुद्ध, सायण के अनन्तर होनेवाला आचार्य है। सायण की स्थिति ख्रीस्ट के चतुर्दश शतक के अन्तिम भाग [१३८० ईसवी सन् के आस पास] में मानीजाती है। इसलिये अनिरुद्ध का काल ख्रीस्ट चतुर्दश शतक के अनन्तर होना चाहिये। दूसरी ओर विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध की प्राचीनता सिद्ध कीजाचुकी है। विज्ञानभिक्षु का काल[1] ख्रीस्ट षोडश शतक का उत्तरार्द्ध आंका गया है। इसलिये अनिरुद्ध का समय ख्रीस्ट पञ्चदश शतक में अनुमानित कियाजासकता है।

इसकी पुष्टि के लिये डॉ० रिचर्ड गॉर्बे ने एक और प्रमाण उपस्थित किया है "सांख्यषडध्यायी के २।३२ सूत्र पर अनिरुद्ध ने एक वाक्य लिखा है–"उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत्"। यही वाक्य साहित्यदर्पण में [१।४।५। पर] है। 'व्यतिभेद' पदका प्रयोग बहुत विरल देखाजाता है। न्यायसूत्र ४।२।१८ में इसका प्रयोग है, जो भिन्न अर्थ में है। इसलिये मेरा विचार है, कि उक्त दोनों स्थलों में से किसी एक ने दूसरे का अनुवाद किया है। मैं यह कल्पना नहीं करसकता, कि अनिरुद्ध जैसे अप्रसिद्ध दार्शनिक लेखक का, साहित्यदर्पणकार अनुकरण करे। इसलिये यही प्रतीत होता है, कि अनिरुद्ध ने साहित्यदर्पण से इस पंक्ति को लिया है। यदि इसको ठीक मानाजाय, तो अनिरुद्ध साहित्यदर्पणकार से पश्चाद्वर्त्ती होगा, जो ख्रीस्ट पञ्चदश शतक के मध्य में विद्यमान मानाजाता है। इसलिये अनिरुद्ध का समय १५०० A.D. निर्धारित कियाजासकता है।"

डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे के विचारों की समीक्षा—

डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे के उपर्युक्त लेख के सम्बन्ध में निवेदन है–डॉ० गॉर्बे ने वास्तविकता को समझने में मूल से ही भूल की है। सर्वदर्शनसंग्रह और सांख्यसूत्रवृत्ति के जिस सन्दर्भ को उन्होंने परस्पर तुलना करके यह परिणाम निकाला है, कि अनिरुद्ध का लेख, सायण के लेख का सार है, सर्वथा असङ्गत है; क्योंकि इस परिणाम के निकालने में आपने कोई हेतु या प्रमाण उपस्थित नहीं किया। डॉ० गॉर्बे महोदय के मस्तिष्क में यह भावना कार्य कर रही प्रतीत होती है, कि

१. F.E. Hall द्वारा सम्पादित सांख्यसार की भूमिका, पृष्ठ ३७ के अनुसार।

जब सांख्यसूत्र ही सायण के पीछे के हैं, तो सूत्रवृत्ति का प्रश्न ही क्या ? पर अब इस भावना को मिथ्या सिद्ध कियाजाचुका है। इसलिये डॉ० गॉर्बे का यह चित्रण, विना भित्ति के निराधार कहाजासकता है।

यदि यह सिद्ध कियाजासकता, कि उक्त पंक्तियों को सर्वप्रथम सायण ने इस रूप में लिखा है, तो यह मानने के लिये अवकाश था, कि अनिरुद्ध का लेख उसका सार है। पर क्या कोई विद्वान्, इस बात को कह सकता है, कि इन पंक्तियों को सर्वप्रथम सायण ने इस रूप में लिखा है ? जिन विद्वानों ने दार्शनिक साहित्य का आलोडन किया है, वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं, कि उक्त वाक्यसमूह बौद्धदर्शन में अर्थ के प्रतिपादन का एक साधारण प्रकार है। बौद्ध-दर्शन पर जो विवेचन करेगा, वह उक्त पदावली को भूल नहीं सकता। इसलिये क्यों न यह मानाजाय, कि उक्त दोनों लेखों का आधार कोई दूसरा स्रोत है। इसके मानने में कोई आधार अथवा प्रमाण नहीं है, कि अनिरुद्ध ने इसको सायण से लिया है। प्रत्युत इसके विपरीत कल्पना कीजासकती है। इसके लिये प्रथम उपोद्बलक यह है—

(क) सायण संग्रहकार है, उसने अपने समस्त प्रतिपाद्य विषय को उन-उन दर्शनों के ग्रन्थों से चुना है। संग्रह में दूसरे के भावों और पदों का आजाना स्वतः सिद्ध है। परन्तु अनिरुद्ध के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। वह एक निश्चित अर्थ के व्याख्यान के लिये प्रवृत्त हुआ है, सायण की तरह संग्रह के लिये नहीं। वह अपने ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों को उद्धृत कर सकता है, खण्डन मण्डन करसकता है। परन्तु अनिरुद्ध की १।३४ सूत्र की पंक्तियों में ऐसी कोई बात नहीं है।

(ख) कहाजासकता है—अपने ग्रन्थ के लिखने में दूसरे ग्रन्थों से अनिरुद्ध ने लाभ उठाया हो, और इस पंक्ति को सायण के ग्रन्थ से लेलिया हो। परन्तु यह कल्पना भी अर्थहीन और उपहासास्पद है, क्योंकि अनिरुद्ध इस एक ही पंक्ति को सायण से उधार लेता, यह स्वीकार कियाजाना कठिन है। अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में प्रसंगवश जैन और चार्वाक आदि मतों का खण्डन किया है, वहाँ भी सर्वदर्शनसंग्रह के आधार पर लिखी गई कोई पंक्ति मिली होती। पर ऐसा नहीं है। इसलिये उक्त पंक्ति के सम्बन्ध में भी यह नहीं कहाजासकता, कि अनिरुद्ध ने सायण के ग्रन्थ से ली है।

(ग) सायण से बहुत प्राचीन ग्रन्थों में भी इस पंक्ति को हम उल्लिखित पाते हैं। वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में ३। २। १७ सूत्र पर लिखा है—

(अ) "सत्वं नामार्थक्रियाकारित्वं......।......अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्व-

मिति तच्च क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्"[1]

(आ) इसके अतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकर प्रणीत '**सन्मतितर्क**' (बौद्धग्रन्थ) की अभयदेवसूरि कृत व्याख्या में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

"घटादिः पदार्थोऽर्थक्रियाकारी क्रमाक्रमाभ्यां प्रत्यक्षसिद्धः······अतो यत्र सत्त्वं तत्र क्रमाक्रमप्रतीतावपि क्षणिकत्वप्रतीतिरेव।"[2]

हम देखते हैं, अनिरुद्ध के लेख की आनुपूर्वी और पद, वाचस्पति मिश्र के लेख से अधिक समानता रखते हैं। यह नहीं कहाजासकता, कि इस समानता का क्या कारण होगा। सम्भव है, यह आकस्मिक हो। फिर भी इन निर्देशों से यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है, कि इस कथन में कोई प्रमाण नहीं, कि अनिरुद्ध ने सायण की पंक्ति का सार लिखा है। ऐसी स्थिति में अनिरुद्ध का काल निर्णय करने के लिये सायण को पूर्व-प्रतीक नहीं मानाजासकता।

विज्ञानभिक्षु के काल का निर्धारण इसी प्रकरण में हम आगे करेंगे। यह निश्चित है, कि कथित काल (१५०० ख्रीस्ट शती) से विज्ञानभिक्षु अवश्य प्राचीन है, और अनिरुद्ध के काल का अनुमान करने के लिये उसे पर-प्रतीक मानाजासकता है।

डॉ० रिचँर्ड गॉर्बे ने '**उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत्**' इन वाक्य के आधार पर विवेचन करने में भी भूल की है। यह वाक्य एक दार्शनिक लोकोक्ति के समान है। इन्द्रियों की आशुवृत्तिता को प्रकट करने के लिये उदाहरणरूप में उपस्थित कियाजाता है। यह एक समझने की बात है, कि इसका सम्बन्ध साहित्य की अपेक्षा दर्शन से अधिक है। साहित्यदर्पण में जहाँ इसका[3] उल्लेख है, वहाँ व्यंग्य प्रतीति के क्रम अक्रम को लेकर कियागया है। व्यंग्यज्ञान, विभावादि की प्रतीति के कारण होता है। कारण की विद्यमानता में कार्यगत अक्रम संभव नहीं, परन्तु जहाँ क्रम संलक्षित नहीं होता, उसे 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' कहाजायेगा। इसी प्रसंग में कारणक्रम की असंलक्षितता को प्रकट करने के लिये उक्त पंक्ति का उल्लेख कियागया है।

यह होसकता है—'व्यतिभेद' पद का प्रयोग बहुत कम होता हो, परन्तु इस बात का पद के अर्थ पर कोई प्रभाव नहीं है। न्यायसूत्र ४।२।१८ में प्रयुक्त 'व्यतिभेद' पद का डॉ० गॉर्बे ने कोई भिन्न अर्थ समझा है, यद्यपि उस भिन्न

---

१. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, पृष्ठ ३८७, लॉजरस मैडिकल हॉल यन्त्रालय बनारस का, ईसवी सन १८९८ का संस्करण।
२. सन्मतितर्क, अभयदेवसूरिकृत व्याख्या, पृष्ठ ३२५, पं० ४, ७-८, बम्बई संस्करण।
३. साहित्यदर्पण ४।५ में।

अर्थ का कोई निर्देश नहीं कियागया। परन्तु हम देखते हैं–इन दोनों स्थलों में 'व्यतिभेद' पद का समान अर्थ में प्रयोग हुआ है। हिन्दी भाषा में इसको 'भेदना' अथवा 'छेदना' कहसकते हैं। यद्यपि न्यायसूत्र ४।२।१८ में आशुवृत्तिता का कोई प्रसंग नहीं है, परन्तु परमाणु में आकाश व्याप्त होने से उसे भेद डालता है, यह अभिप्राय स्पष्ट है। आशुवृत्तिता का भाव 'उत्पलपत्रशत' के सहप्रयोग से प्रकट होता है। यह सर्वथा एक कल्पनामात्र है, कि अनिरुद्ध इसको साहित्यदर्पण से ले सकता है, अथवा दोनों में कोई एक, अवश्य दूसरे का अनुवाद है। वस्तुतः यह एक लोकोक्ति के समान है, जिसका प्रयोग, विषय-ग्रहण में इन्द्रियों की क्रमिकता अक्रमिकता बताये जाने के प्रसंग में प्रायः दार्शनिक विद्वान् करते हैं। इसप्रकार के दो एक स्थलों का यहाँ निर्देश कियाजाता है—

(क) "अत एव अवग्रहादिज्ञानानां कालभेदानुपलक्षणेऽपि क्रमोऽभ्युपगन्तव्यः उत्पलपत्रशतव्यतिभेद इव।"[1]

(ख) "न चोत्पलपत्रशतव्यतिभेदवदाशुवृत्तेः क्रमेऽपि यौगपद्यानुभवाभिमानः।"[2]

इन निर्देशों से सिद्ध है–साहित्यदर्पण का यह लेख, अनिरुद्ध के उक्त वाक्य का मौलिक आधार लेख, नहीं है। वस्तुतः साहित्यदर्पणकार ने इसको किसी अन्य स्रोत से लिया है। क, ख, चिन्हों पर लिखे दोनों सन्दर्भ अभयदेव सूरि के हैं, जो निश्चय ही साहित्यदर्पणकार से पहले होने वाला आचार्य है। ऐसी स्थिति में इस वाक्य के आधार पर अनिरुद्ध का काल निर्णय नहीं कियाजासकता, और इसलिये अनिरुद्ध कालनिर्णय में साहित्यदर्पण को पूर्व-प्रतीक कहना सर्वथा असंगत है।

भारतीय परम्पराओं और शास्त्रीय मर्यादाओं से पूर्ण अभिज्ञ न होने के कारण प्रायः युरोपीय विद्वान् ऐसे प्रसंगों में भ्रान्त होजाते हैं। यह और भी खेदजनक है, कि भारत के प्राचीन विद्वानों को भी, निराधार कल्पनाओं का सहारा लेकर ये लोग, अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रायः प्रयत्न करते देखेजाते हैं। उनमें से अधिक की प्रवृत्ति, निष्पक्ष वास्तविकता की ओर झुकती हुई नहीं दीखती।

अनिरुद्ध का कालनिर्णय करने के लिये प्रथम विज्ञानभिक्षु के काल का निर्णय होना आवश्यक है। क्योंकि यह निश्चित है–अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु से प्राचीन है। इसका अभी पीछे विवेचन कियाजाचुका है।

---

१. सिद्धसेनदिवाकर रचित 'सन्मतितर्क' की, अभयदेवसूरि रचित व्याख्या, बम्बई संस्करण, पृष्ठ ४१०, पं० २७, २८।

२. वही ग्रन्थ, पृष्ठ ४७७, पंक्ति ३३, ३४।

अनिरुद्ध के पर-प्रतीक विज्ञानभिक्षु का काल—

अभी तक विज्ञानभिक्षु का समय आधुनिक विद्वानों ने विक्रमी षोडश शतक का अन्त तथा खीस्ट षोडश शतक का मध्यभाग अर्थात् १५५० ईसवी सन्[1] के लगभग माना है। डॉ० कीथ[2] ने भिक्षु का समय १५५० ईसवी सन् माना है। विज्ञानभिक्षु के काल के सम्बन्ध में एक नई सूचना और प्राप्त हुई है। 'ब्रह्म-विद्या' नामक अडियार लाईब्रेरी बुलेटिन, फर्वरी १९४४ में श्रीयुत P.K. गोडे एम० ए० महोदय का लेख प्रकाशित हुआ है, उसका सारांश इसप्रकार है—

विज्ञानभिक्षु-काल के सम्बन्ध में P.K. गोडे महोदय के विचार—

"योरुपीय विद्वान् Aufrecht ने संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों के स्वरचित सूचीपत्र में भावागणेश के बनाये निम्न ग्रन्थों का निर्देश किया है—

कपिलसूत्र टीका
चिच्चन्द्रिका प्रबोधचन्द्रोदय टीका
तत्त्वप्रबोधिनी तर्कभाषाटीका
तत्त्वसमासयाथार्थ्यदीपन
योगानुशासनसूत्रवृत्ति

ये पाँचों टीका या व्याख्याग्रन्थ हैं। पहली दोनों टीका, भावा रामकृष्ण के पौत्र भावा विश्वनाथ दीक्षित के पुत्र, भावा गणेश दीक्षित की कृति हैं। Burnell (बर्नेल) कहता है, कि तीसरी टीका, गोविन्द दीक्षित और उमा के पुत्र गणेश दीक्षित की कृति है। प्रबोधचन्द्रोदय की टीका में भावा गणेश ने अपने पिता का नाम विश्वनाथ और माता का नाम भवानी लिखा है। श्रीयुत गोडे महोदय इस

---

१. F.E. Hall, Preface to the Samkhyasara, P. 37, note. Dr. Richard Garbe, Preface to the Samkhya-Sutra Vritti, by Anirudha, P. 8. सर्वदर्शनसंग्रह, अभ्यंकर संस्करण, [प्रतिदर्शनं प्रवृत्तानां ग्रन्थकाराणां सूची ४], पृ० ५३४, ५३५। Winternitz; Indian Literature, German Fdn, P. 457. Das Gupta; History of Indian Philosophy, Vol 1, pp. 212, 221;

२. History of Sans. Literature, 489 [ब्रह्मविद्या, अडियार् बुलैटिन, १७।२।४४, पृ० २३ के आधार पर]। परन्तु डॉ० कीथ ने ही अपने The Samkhya System नामक ग्रन्थ में विज्ञानभिक्षु का समय, षोडश शतक का मध्य ही माना है, वह लिखता है—"......in the commentery of Vijnanabhiksu on the Samkhya Sutra, and in his Samkhya-sara, written about the middle of the sixteenth century A. D." १९२४ ईसवी सन् का द्वितीय संस्करण, पृ० ११४।

पर संभावना करते हैं, कि क्या यह होसकता है, कि विश्वनाथ की गोविन्द के साथ और भवानी की उमा के साथ एकता हो ?

अन्तिम दो टीकाओं के सम्बन्ध में F.E. Hall ने अपनी बिब्लिओग्रेफी (कलकत्ता १८५६, पृ० ४, ११) में लिखा है–तत्त्वसमासयाथार्थ्यदीपन का रचयिता भावा गणेश दीक्षित है, जो भावा विश्वनाथ दीक्षित का पुत्र था, और विज्ञानभिक्षु का शिष्य, जिसका उल्लेख उसने स्वयं किया है। इसीप्रकार योगानुशासनसूत्रवृत्ति भी विज्ञानभिक्षु के शिष्य और भावा विश्वनाथ दीक्षित के पुत्र भावा गणेश दीक्षित की रचना है। भावा गणेश नाम में 'भावा' पद उपनाम है। इसका उल्लेख, भावा गणेश ने प्रबोधचन्द्रोदय टीका के प्रथम श्लोक में अपने वंश का वर्णन करते हुए, स्वयं किया है। वह लिखता है—

"आसीद्भावोपनामा भुवि विदितयशा रामकृष्णोऽतिविज्ञ-
स्तस्माद् गौर्यां विनीतो विविधगुणनिधिर्विश्वनाथोऽवतीर्णः।
तस्मात् प्रख्यातकीर्त्तेः विविधमखकृतः प्रादुरासीद् भवान्यां,
श्रीमत्यां यो गणेशो भुवि विदितगुणा तस्य चिच्चन्द्रिकास्तु।"

इस वर्णन से यह परिणाम निकलता है, कि रामकृष्ण भावा तथा गौरी का पुत्र विश्वनाथ हुआ, एवं विश्वनाथ और भवानी का पुत्र गणेश हुआ, जो चिच्चन्द्रिका का कर्त्ता है। विज्ञानभिक्षु का शिष्य यह भावा गणेश वह व्यक्ति है, जिसका उल्लेख बनारस के एक निर्णयपत्र[1] में पायागया है। यह निर्णयपत्र शक संवत् १५०५ अर्थात् १५८३ ईसवी सन् में लिखागया। उसमें कई विद्वानों के हस्ताक्षर हैं, जो उस समय अपने-अपने ब्राह्मणवर्ग के मुखिया थे। उनमें सर्वप्रथम भावा गणेश का नाम है। वहाँ का लेख इसप्रकार है—

"तत्र संमतिः। भावये गणेश दीक्षित प्रमुख चिपोलणे"

हमारी यह धारणा है, कि निर्णयपत्र में जिस 'भावये गणेश दीक्षित' के हस्ताक्षर हैं, यह वही 'भावा गणेश' व्यक्ति है, जो विज्ञानभिक्षु का शिष्य प्रसिद्ध है। इससे इन दोनों के कालनिर्णय में बड़ी सहायता मिलजाती है। यद्यपि निर्णय पत्र में 'भावये' पद है, और नामके पहले जोड़ागया है। आजकल की परम्परा के अनुसार यह नाम के पीछे जोड़ा जाता है। जैसे 'भावा गणेश' की जगह 'गणेश भावे' कहाजायगा। फिर भी 'भावये' 'भावे' अथवा 'भावा' ये पद एक ही भाव को प्रकट करते हैं, इस निर्णयपत्र में एक 'भावये हरि भट्ट' का उल्लेख है, जो 'भावये गणेश दीक्षित प्रमुख चिपोलणे' का भाई अथवा चाचा संभव होसकता है। इसप्रकार १५८३ ईसवी सन् के निर्णयपत्र में हरिभट्ट भावये

---

१. R.S. Pimputkar द्वारा बम्बई से १९२६ ईसवी सन् में प्रकाशित 'चितड़े भट्ट प्रकरण' पृष्ठ ७६ देखना चाहिये।

अथवा भावे और गणेश दीक्षित भावये अथवा भावे का उल्लेख उस समय बनारस में भावे परिवार की स्थिति को सिद्ध करता है, चाहे बर्त्तमान भावे परिवार अथवा संस्कृत के विद्वान् मेरे इन भावा गणेश सम्बन्धी निर्देशों को भले ही न मानें।

उपर्युक्त आधारों पर यह स्पष्ट होजाता है, कि भावा गणेश ख्रीस्ट षोडश शतक के उत्तर अर्ध में अर्थात् १५५० से १६०० ईसवी सन् के मध्य में विद्यमान था। यदि इस विचार को स्वीकार करलियाजाता है, तो भावागणेश के गुरु विज्ञानभिक्षु का समय बड़ी सरलता से १५२५ से १५८० ईसवी सन् के मध्य में कहीं भी निश्चय कियाजासकता है। यह वर्णन Winternitz आदि विद्वानों के, विज्ञानभिक्षु के काल सम्बन्धी विचारों को पुष्ट करता है, और कीथ (Keith) के विचारों का विरोध, जबकि उसने विज्ञानभिक्षु का समय[1] १६५० ईसवी सन् के लगभग बताया है।"

P.K. गोडे महोदय के विचारों का विवेचन—

यह ऊपर की पंक्तियों में श्रीयुत गोडे महोदय के लेख का सारांश दियागया है। इसका विवेचन करने के लिये हमने इसके निम्नलिखित भाग किये हैं—

(क) भावा गणेश के ग्रन्थ।

(ख) विज्ञानभिक्षु का शिष्य भावा गणेश।

(ग) निर्णयपत्र में उल्लिखित भावये गणेश दीक्षित।

इन्हीं आधारों को लेकर यथाक्रम इसका विवेचन प्रस्तुत है।

(क) भावागणेश के ग्रन्थ—भावागणेश के ग्रन्थों की सूची जो पीछे दीगई है, उसमें से तर्कभाषा टीका के सम्बन्ध में एक सन्देह उत्पन्न होता है। तर्कभाषा की टीका तत्त्वप्रबोधिनी के हस्तलिखित ग्रन्थ का वर्णन करते हुए Burnell प्रकट करता है, कि इस ग्रन्थ का रचयिता गणेश दीक्षित है, उसने ग्रन्थारम्भ में एक श्लोक के द्वारा अपने माता-पिता को नमस्कार किया है। उसने अपनी माता का नाम उमा, और पिता का नाम गोविन्द दीक्षित प्रकट किया है। Burnell के इस वर्णन के अनुसार स्पष्ट होता है, कि तर्कभाषा टीका का रचयिता गणेश दीक्षित था, भावा गणेश नहीं। गणेश दीक्षित और भावा गणेश ये दोनों पृथक् व्यक्ति हैं। द्वितीय ने तत्त्वयाथार्थ्यदीपन और योगानुशासनसूत्रवृत्ति के प्रारम्भ में अपना नाम भावा गणेश दिया है, केवल गणेश अथवा गणेश दीक्षित नहीं।

इसके अतिरिक्त एक बात और है—गणेश दीक्षित के पिता का नाम गोविन्द

---

१. ३५९ पृष्ठ की टिप्पणी संख्या २ में 'सांख्यसिस्टम' के आधार पर लिखागया है, कि कीथ विज्ञानभिक्षु का समय १६वीं सदी का मध्य ही मानता है।

दीक्षित और माता का नाम उमा है। इसके विपरीत भावा गणेश के पिता का नाम विश्वनाथ और माता का नाम भवानी है। इन नामों का निर्देश स्वयं ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में किया है। यह बात किसी तरह सम्भव नहीं मानीजासकती, कि वही एक व्यक्ति एक स्थान पर अपने माता-पिता का नाम कुछ और लिखे, तथा दूसरे स्थान पर कुछ और। इसलिये इन भिन्न नाम निर्देशों से यह स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि तर्कभाषा टीका का रचयिता गणेश दीक्षित, उस व्यक्ति से सर्वथा भिन्न है, जिसने प्रबोधचन्द्रोदय की टीका चिच्चन्द्रिका की रचना की है। इसलिये श्रीयुत गोडे महोदय की यह सम्भावना सर्वथा निराधार है, कि भावा विश्वनाथ को गोविन्द दीक्षित और उमा को भवानी समझलियाजाय, और इन दोनों ग्रन्थकारों को एक व्यक्ति मानाजाय। विश्वनाथ और गोविन्द नामों में तो कोई समता ही नहीं, और फिर एक के साथ 'भावा' और दूसरे के साथ 'दीक्षित' उपनाम लगा हुआ है। उमा और भवानी इन नामों में समता की सम्भावना कीजासकती है। परन्तु वह भी सर्वथा निराधार है, क्योंकि इसप्रकार के अनेक नामों का होना सर्वथा सम्भव है। अन्य अनेक स्त्रियों के नाम इसीके जोड़ पर पार्वती, गौरी आदि होसकते हैं। केवल इन नामों के आधार पर उन व्यक्तियों की एकता को सिद्ध नहीं किया जासकता। भावा गणेश की चिच्चन्द्रिका के प्रारम्भिक श्लोक में उसकी माता का नाम भवानी और दादी का नाम गौरी निर्दिष्ट कियागया है। यदि केवल नामों के आधार पर उमा तथा भवानी की एकता की सम्भावना कीजाय, तो यहाँ गौरी और भवानी की एकता को कौन रोक सकेगा? ऐसी स्थिति में श्रीयुत गोडे महोदय द्वारा सम्भावित नामों की एकता, निराधार तथा असंगत ही है। लोक में एक नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं। नाम साम्य से उनको एक नहीं मानाजाता। पर गोडे महोदय भिन्न नाम वाले व्यक्तियों को—जिनके माता-पिता के नाम भी भिन्न हैं—एक बनाना चाहते हैं। क्या यह ऐतिहासिक तथ्य का उपहास नहीं है?

अब इस परिणाम तक पहुँचने पर, कि भावा गणेश और गणेश दीक्षित भिन्न व्यक्ति हैं, हमारे सन्मुख एक विचारणीय बात और आती है—भावा गणेश ने अपने नाम के साथ अपने ग्रन्थों में कहीं भी 'दीक्षित' पद का प्रयोग नहीं किया है। हमारे सामने तीन ग्रन्थों के लेख विद्यमान हैं, चिच्चन्द्रिका, तत्त्वयाथार्थ्यदीपन और योगानुशासनसूत्रवृत्ति। ऐसी स्थिति में सूचीपत्रकार Aufrecht और F.E. Hall आदि ने हस्तलिखितग्रन्थसम्बन्धी अपने निर्देशों में इस नाम के साथ 'दीक्षित' पद का प्रयोग किस आधार पर किया है, यह चिन्तनीय है।

गोडे महोदय के लेखानुसार Aufrecht की सूची में हम देखते हैं—भावा गणेश की रचनाओं में तर्कभाषा-टीका का भी उल्लेख है। इससे प्रतीत होता

है–प्रबोधचन्द्रोदय-टीका और तर्कभाषा-टीका के रचयिताओं को सूचीपत्रकार ने एक व्यक्ति समझा है। सम्भवत: उन्होंने केवल 'गणेश' इस नाम की समता को देखकर, दूसरे नाम के साथ प्रयुक्त 'दीक्षित' पद को पहले नाम के साथ भी जोड़ दिया। हमारे विचार में यह सूचीपत्रकारों की कल्पना ही कहीजासकती है। कम-से-कम इतना निश्चित है, कि भावा गणेश नाम के साथ 'दीक्षित' पद का प्रयोग, उसके अपने लेखों के आधार पर नहीं है। फिर भी सूचीकारों ने इस नाम के साथ इस पद का प्रयोग करके, अन्य नामों के साथ, भ्रान्तिमूलक समानता का प्रदर्शन किया है। प्रतीत होता है, उन्होंने अपनी कोई एक धारणा बनाली है, जिसने उन्हें पथभ्रष्ट किया है।

(ख) **विज्ञानभिक्षु का शिष्य भावा गणेश**—भावा गणेश के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह एक मुख्य बात है, कि वह विज्ञानभिक्षु का शिष्य था। उसने अपने ग्रन्थों में अपने गुरु का बड़े आदर और अभिमान के साथ उल्लेख किया है। हम देखते हैं–तत्त्वसमासयाथार्थ्यदीपन और योगानुशासनसूत्रवृत्ति के प्रारम्भ में भावा गणेश ने अपने गुरु को सादर नमस्कार करके ग्रन्थ का आरम्भ किया है। केवल प्रारम्भ में ही नहीं, प्रत्युत इन ग्रन्थों के मध्य[1] में भी प्रसंगवश जहाँ-तहाँ अपने गुरु का स्मरण किया है। परन्तु प्रबोधचन्द्रोदय की टीका चिच्चन्द्रिका में उसने अपने गुरु का स्मरण नहीं किया। वह यहाँ केवल अपने वंश का उल्लेख करता है, और वह भी केवल उल्लेख; यह नहीं कि माता-पिता आदि को नमस्कार कियागया हो। विज्ञानभिक्षु का शिष्य भावा गणश, जिसप्रकार तत्त्वसमासयाथार्थ्यदीपन और योगानुशासनसूत्रवृत्ति में अपने गुरु को नमस्कार करता है, और उसका स्मरण करता है, इसप्रकार चिच्चन्द्रिका में किसी रूप में भी गुरु का स्मरण न कियाजाना खटकता अवश्य है। चाहे यह स्थिति यहाँ तक न मानीजासके, कि चिच्चन्द्रिकाकार को उससे भिन्न व्यक्ति मानलियाजाय, क्योंकि इसका निश्चय होजाने पर–कि उक्त ग्रन्थों का रचयिता एक ही व्यक्ति है–गुरुस्मरण की विषमताओं के लिये अन्य सम्भावना कीजासकती हैं। परन्तु इनके एक व्यक्ति होने में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

कहाजासकता है–विज्ञानभिक्षु, भावा गणेश का सांख्य-योग का गुरु रहा होगा, इसलिये सांख्य-योग के ग्रन्थों में उसका स्मरण कियागया है। साहित्यज्ञान को, सम्भव है उसने वंश-परम्परा से प्राप्त किया हो। यद्यपि वंश का उल्लेख, गुरुस्मरण का बाधक नहीं कहाजासकता। इसलिये चिच्चन्द्रिका में गुरु का स्मरण न कियाजाना इस ओर आकृष्ट करता है, कि भावा गणेश और गणेश दीक्षित भिन्न व्यक्ति हैं।

१. तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, सांख्यसंग्रह, पृष्ठ ८५, ८८, चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से जून १९१८ ईसवी सन् में प्रकाशित।

वाराणसीय निर्णयपत्र के सम्बन्ध में कुछ शब्द—

(ग) **निर्णयपत्र में उल्लिखित भावये गणेश दीक्षित**—अब यह निर्णयपत्र विचारणीय हैं, जिसका उल्लेख ऊपर कियागया है। यद्यपि यह स्पष्ट है, कि निर्णयपत्र में जो हस्ताक्षर कियेगये हैं, उस हस्ताक्षरकर्त्ता व्यक्ति का, हस्ताक्षरों के आधार पर विज्ञानभिक्षु अथवा विश्वनाथ-भवानी के साथ कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। यह केवल कल्पना पर अवलम्बित है, कि हस्ताक्षरकर्त्ता व्यक्ति, विज्ञानभिक्षु का शिष्य एवं विश्वनाथ-भवानी का पुत्र था। तथापि अन्य कारणों के आधार पर इसका विवेचन करना उपयुक्त होगा, कि इस व्यक्ति का विज्ञानभिक्षु के शिष्य के साथ सम्बन्ध जोड़ना कहाँ तक युक्तिसंगत कहाजा-सकता है।

निर्णयपत्र का लेख है—'भावये गणेश दीक्षित प्रमुख चिपोलणे'। प्रथम हम 'भावये' पद के सम्बन्ध में विवेचन करना चाहते हैं। चिच्चन्द्रिका के प्रथम श्लोक में भावा गणेश ने जिस उपनाम का उल्लेख किया है, वह 'भावा' पद है 'भावये' नहीं। एक व्यक्ति, जो ग्रन्थ रचना के समय अपना उपनाम 'भावा' लिख रहा है, वह हस्ताक्षर करने के समय 'भावा' न लिख कर 'भावये' लिखे, यह सम्भव नहीं,। यह बड़े आश्चर्य की बात है, कि अन्यत्र सर्वत्र एक व्यक्ति 'भावा' लिखता है, और एक स्थल पर हस्ताक्षर के समय 'भावये' लिख दे। यह विषमता विना कारण के नहीं कहीजासकती। इसका कारण यही होसकता है, कि चिच्चन्द्रिका का रचयिता, निर्णयपत्र पर हस्ताक्षरकर्त्ता नहीं है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है, कि भावा गणेश ने अपने नाम के साथ कहीं भी 'दीक्षित' पद का प्रयोग नहीं किया। इससे प्रतीत होता है—यह उसके नाम का अंश नहीं है। फिर वह हस्ताक्षर करते समय ऐसा क्यों करता? ऐसी स्थिति में अवश्य यह व्यक्ति, विज्ञानभिक्षु के शिष्य से कोई व्यतिरिक्त कहाजा-सकता है।

'प्रमुख चिपोलणे' पद केवल इस बात को प्रकट करते हैं, कि वह चित्पावन परिवार का मुखिया था। प्रमुख होने से यह कल्पना करना, कि अवश्य वह कोई मूर्द्धन्य विद्वान् व्यक्ति था, और इसलिये विज्ञानभिक्षु के शिष्य की ओर हमारा झुकाव होता है, सर्वथा निराधार होगा। क्योंकि परिवारों की प्रमुखता के लिये अद्वितीय विद्वान् होना आवश्यक नहीं है, प्रत्युत उस परिवार की प्रतिष्ठा और प्राचीन परम्परा ही विशेष आवश्यक होते हैं। जो व्यक्ति, भारतीय साधारण जनता की परम्पराओं से परिचित हैं, वे अच्छी तरह जान सकते हैं, कि परिवारों का मुखियापन, धन अथवा विद्या के ऊपर अवलम्बित नहीं होता, उसके लिये परिवार की परम्परागत प्रतिष्ठा मुख्य अवलम्बन होता है। यह

अलग बात है, कि वह फिर धनवान् अथवा विद्वान् होजाय। इसलिये यह निश्चित रूप से नहीं कहाजासकता, कि चित्पावन ब्राह्मण परिवारों का प्रमुख होने से वह हस्ताक्षरकर्त्ता अवश्य अद्वितीय विद्वान् था, और इसलिये वह विज्ञानभिक्षु के शिष्य से अतिरिक्त और कोई नहीं होसकता था।

इसके विपरीत, उसके अद्वितीय विद्वान् न होने में हस्ताक्षर के साथ 'भावये' पद का प्रयोग उपोद्बलक कहाजासकता है। वर्त्तमान परम्परा के अनुसार भी इस उपनाम पद का रूप 'भावे' है, 'भावा' नहीं। यह 'भावये' पद, 'भावे' के अधिक समीप है, 'भावा' के नहीं। प्रतीत होता है—धीरे-धीरे 'भावये पद 'भावे' के रूप में परिवर्त्तित होगया है। यह उपनाम का साधारण जनता में प्रयुक्त होने वाला रूप है, जिसकी उपेक्षा, हस्ताक्षरकर्ता नहीं करसका। परन्तु विज्ञानभिक्षु के विद्वान् शिष्य ने उसकी उपेक्षा की, और सर्वत्र 'भावा' पद का प्रयोग किया। इसलिये निर्णयपत्र में हस्ताक्षर करनेवाला व्यक्ति, विज्ञानभिक्षु का शिष्य नहीं कहाजासकता। वह अवश्य कोई अन्य व्यक्ति है। ऐसी स्थिति में यह निर्णयपत्र भावा गणेश अथवा उसके गुरु विज्ञानभिक्षु के काल का निर्णय करने में सर्वथा अनिर्णायक है, अक्षम है।

इसमें सन्देह नहीं, कि विज्ञानभिक्षु और भावा गणेश परस्पर गुरु-शिष्य थे। इनमें से किसी एक के काल का निर्णय होने पर दूसरे के काल का निर्णय सरलता से कियाजासकता है। परन्तु यह कार्य उक्त निर्णयपत्र के आधार पर अब कियाजाना अशक्य है। इसलिये किसी अन्य आधार का अन्वेषण करना आवश्यक होगा।

विज्ञानभिक्षु के काल का निर्णायक, सदानन्द यति का काल—

विज्ञानभिक्षु के समय का निर्णय करने के लिये, सदानन्द यति के काल पर प्रकाश डालना आवश्यक है। उसने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। हमें जितने ग्रन्थ अवगत होसके हैं, वे निम्नलिखित हैं—

पञ्चदशी[1] टीका
अद्वैत दीपिका—विवरण

---

१. पञ्चदशी विद्यारण्य की मूल रचना है। अद्वैतदीपिका का रचियता नृसिहाश्रम है। सदानन्द यति ने अपनी स्वतन्त्र रचना अद्वैतब्रह्मसिद्धि [द्वितीय संस्करण, पृ० २२२] में नरसिहाश्रम के नाम पर एक सन्दर्भ उद्धृत किया है। परन्तु उसी आनुपूर्वी के साथ वह सन्दर्भ अद्वैतदीपिका में उपलब्ध नहीं है। यद्यपि इसप्रकार के भाव अनेक स्थलों पर ध्वनित होते हैं। देखें, द्वितीयभाग, पृ० ३४३। १९१९ ईसवी सन् का लाजरस बनारस संस्करण। संभव है, वह सन्दर्भ नरसिहाश्रम के किसी अन्य ग्रन्थ का हो।

अद्वैतब्रह्मसिद्धि
वेदान्तसार
जीवन्मुक्तिप्रक्रिया

इनमें पहले दो व्याख्याग्रन्थ और शेष तीनों स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। सदानन्द यति, वेदान्त के शांकर सम्प्रदाय का कट्टर अनुयायी था। उसकी रचनाओं में 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें उसने शांकर मत के विरोधी मतों का प्रबल खण्डन किया है। वेदान्त के आधार पर शैव और वैष्णव मतों की विचारधारा में कुछ मौलिक भेद हैं। शांकर सम्प्रदाय, शैव मतानुयायी है। वैष्णव मत में आजकल मुख्य चार उपधारा उपलब्ध होती हैं, जिनके प्रवर्त्तक निम्न आचार्य है—

श्री रामानुजाचार्य
श्री माध्वाचार्य
श्री वल्लभाचार्य
श्री निम्बार्काचार्य

ये आचार्य, शांकर सम्प्रदाय के साक्षात् विरोध में आते हैं। सदानन्द यति, शांकर सम्प्रदाय का प्रबल अनुयायी है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है, कि शांकर विचारधारा के विरोधी इन आचार्यों के मतों का वह अपने ग्रन्थ में प्रत्याख्यान करे, जो इसी प्रयोजन में लिखागया है। फलतः उसके ग्रन्थ के पर्यालोचन से पता लगता है, कि अपने समय तक विद्यमान किसी भी शांकर विरोधी मत को उसने नहीं बख्शा। इसप्रकार के किसी विचार की छीछालेदार करने में उसने कोई कोर कसर नहीं रक्खी।

हम देखते हैं–वैंष्णव सम्प्रदाय की उक्त चार विचारधाराओं में से वह केवल प्रथम दो का अपने ग्रन्थ में उल्लेख करता है[1], शेष दो का नहीं। जबकि पुष्टिमार्ग का प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य, शांकर विचारों का प्रबल विरोधी है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि श्री वल्लभाचार्य के अपने मत-संस्थापन से पूर्व ही सदानन्द यति अपना ग्रन्थ लिख चुका होगा। शांकर विरोधी विचारों के लिये जो भावनायें उसने अपने ग्रन्थ में प्रकट की हैं, उनसे स्पष्ट होता है–यदि उसके समय तक वल्लभमत की संस्थापना होचुकी होती, तो वह किसी भी अवस्था में उसका खण्डन किये बिना न रहसकता था, जबकि रामानुज और माध्व दोनों का उसने नाम लेकर खण्डन किया है। इसलिये यह निश्चित है, कि सदानन्द, वल्लभाचार्य से पूर्व होचुका था।

---

१. अद्वैतब्रह्मसिद्धि, १९३२ ईसवी सन् का द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १३०, और १४३।

यहाँ अनायास यह कहाजासकता है, कि किसी ग्रन्थ में किसीका उल्लेख न होना, ग्रन्थ से पूर्व उसकी अविद्यामानता का परिचायक नहीं होसकता। हम स्वयं इसको प्रथम लिख आये हैं, और ऐसा मानना युक्तियुक्त है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा नहीं है, यहाँ स्थिति सर्वथा विपरीत है। अद्वैतब्रह्मसिद्धि में वल्लभाचार्य के नाम का उल्लेख न होने की ओर हमारा कोई विशेष निर्देश नहीं है। प्रत्युत हमें देखना यह है, कि शांकर विचारों के विरोधी मतों का खण्डन करने के लिये ही यति सदानन्द का यह प्रयत्न है। इसके अनुसार वैष्णव सम्प्रदाय के रामानुज और माध्व मतों का उसने खण्डन किया है, ऐसी स्थिति में उसने वल्लभ मत की उपेक्षा क्यों की? इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये। इस प्रसंग में उक्त आपत्ति का प्रदर्शन तभी कियाजासकता था, जब कि सदानन्द, रामानुज आदि को केवल प्रमाणरूप में उपस्थित करता। जैसे कि सदानन्द ने अपने-ग्रन्थ में किसी एक विचार के निरूपण के लिये नरसिंहाश्रम के सन्दर्भ का निर्देश किया है, विद्यारण्य के सन्दर्भ का नहीं किया, जबकि विद्यारण्य ने भी अपनी रचना में उसी विचार को निरूपित किया है। इस अवस्था में हम यह नहीं कहसकते, कि अमुक प्रसंग में विद्यारण्य का उल्लेख न होने से वह सदानन्द से पूर्व अविद्यमान था। क्योंकि यह सदानन्द की अपनी इच्छा अथवा मानसिक विद्या-विकास पर निर्भर करता है, कि वह अपने ग्रन्थ में नरसिंहाश्रम को उद्धृत करे, अथवा विद्यारण्य को। जबकि, जिस प्रसंग में वह इनको उद्धृत करना चाहता है, वह प्रसंग उन दोनों के ग्रन्थों में समान-रूप से विद्यमान है। क्योंकि ऐसी स्थिति, प्रस्तुत प्रसंग में नहीं है, इसलिये हमें इस बात के कारण का अनुसन्धान करना पड़ेगा, कि जब सदानन्द, शांकरमत विरोधी रामानुज और माध्व मतों का खण्डन करता है, तब और भी अधिक विरोध रखनेवाले वल्लभ मत की उपेक्षा उससे क्योंकर होगई? इसका कारण सिवाय इसके और कुछ नहीं कहाजासकता, कि सदानन्द के समय तक वल्लभ मत की स्थापना नहीं होपाई थी। इसीलिये सदानन्द के ग्रन्थ में निम्बार्क मत के उल्लेख का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उस मत की स्थापना तो वल्लभ मत के भी अनन्तर हुई है। अत एव यह निश्चित होजाता है, कि सदानन्द, वल्लभाचार्य से पूर्व होचुका था।

इतिहास से सिद्ध है—वैष्णव वेदान्त के विशुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य का प्रादुर्भाव विक्रमी सम्वत् १५३५ में हुआ। इसप्रकार १४७८-७९ ईसवी सन् में श्री वल्लभ का प्रादुर्भाव[1] मानाजाता है। यह आवश्यक है, कि

---

१. इसी कारण सर्वदर्शनसंग्रह में वल्लभ-दर्शन का उल्लेख नहीं है, क्योंकि सर्वदर्शनसंग्रहकार सायण माधवाचार्य का समय १३८० ईसवी सन् के

सम्प्रदाय स्थापना के समय कम से कम आयु मानने पर भी बीस-पच्चीस वष आयु का होना असामञ्जस्यपूर्ण न होगा। ज्ञानसम्पादन में भी इतना समय लगसकता है। इसलिये यह अनुमान कियाजासकता है, कि श्री वल्लभ ने १५०० ईसवी सन् के लगभग अपने मत की स्थापना की, और सदानन्द यति उससे पूर्व स्वर्गवासी होचुका था। सदानन्द को वल्लभ के अधिक-से-अधिक समीप लाने पर भी यह स्वीकार करना पड़ता है, कि वह १५०० ईसवी सन् से पूर्व अवश्य अपना जीवन पूरा करचुका था। ऐसी स्थिति में सदानन्द यति का समय, खीस्ट पंचदश शतक का मध्य (१४२० से १४६० तक अथवा उसके कुछ पूर्व के लगभग) मानना उचित होगा। सदानन्द यति के अन्यतम ग्रन्थ वेदान्तसार के सम्बन्ध में लिखते हुए डॉ० कीथ ने सदानन्द का यही काल स्वीकार किया है। उसने लिखा[1] है, कि सदानन्द का समय १५०० ईसवी के पूर्व मानाजाना युक्त है।

सदानन्द यति के ग्रन्थ में विज्ञानभिक्षु का उल्लेख—

सदानन्द यति के समय का निर्णय होजाने पर विज्ञानभिक्षु का काल सरलता से निश्चय कियाजासकता है। सदानन्द यति ने अपने ग्रन्थ अद्वैतब्रह्मसिद्धि में विज्ञानभिक्षु का उल्लेख किया है। वह लिखता[2] है।

"यच्चात्र सांख्यभाष्यकृता विज्ञानभिक्षुणा समाधानत्वेन प्रलपितम्"

इससे स्पष्ट है, सांख्यज्ञान के लिये सदानन्द यति ने विज्ञानभिक्षुकृत सांख्य-भाष्य का अध्ययन किया था, और वेदान्त के विरोध में विज्ञानभिक्षु ने जिस प्रसंगागत मत का समाधान किया है, सदानन्द उसका, खण्डन करने के लिये यहाँ उल्लेख कररहा है। इससे यह धारणा पुष्ट होती है, कि सदानन्द यति के समय तक विज्ञानभिक्षु के भाष्य का पठन-पाठन प्रणाली में पर्याप्त प्रचार होचुका था। इसलिये अनुमान कियाजासकता है, कि विज्ञानभिक्षु, सदानन्द यति की अपेक्षा पर्याप्त पहले होचुका होगा।

सदानन्द ने अपने उक्त ग्रन्थ में एक और स्थल पर विज्ञानभिक्षु के भाष्य से

लगभग बतायाजाता है, जो निश्चित ही वल्लभ के पूर्व है। जबकि रामानुज और माध्व [पूर्णप्रज्ञ] दर्शन का उल्लेख उक्त संग्रह में विद्यमान है।

१, The classical example is to found in the वेदान्तसार of सदानन्द, a work written before A. D. 1500, [The Samkhya System. P. 116. द्वितीय संस्करण, १६२४ ई० सन्]।

२. अद्वैतब्रह्मसिद्धि, कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित, द्वितीय संस्करण, पृ० २७ पर।

उसके स्वरचित कुछ श्लोकों को उद्धृत किया है। वे श्लोक इसप्रकार[1] हैं।

"प्रमाता चेतनः शुद्धःप्रमाणं वृत्तिरेव नः।
प्रमार्थाकारवृतीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।
साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं वक्ष्यते स्वयम्॥
अतः स्यात् कारणाभावाद् वृत्तेः साक्ष्येव चेतनः। इति"

इसके अतिरिक्त विज्ञानभिक्षु के सांख्यभाष्य में उद्धृत कुछ श्लोक और भाष्य के सन्दर्भ को सदानन्द यति ने एक और स्थल पर सांख्यभाष्य का नाम लेकर उद्धत किया है। सदानन्द का लेख इसप्रकार है।

"सांख्यभाष्यकृद्भिश्चोदाहृतम्,

'अक्षपादप्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः।
त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंऽशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः॥
जैमिनीये च वैयासे विरुद्धोंऽशो न कश्चन।
श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने श्रुतिपारं गतौ हि तौ॥

इति पराशरोपपुराणादिभ्योऽपि ब्रह्ममीमांसाया ईश्वरांशे बलवत्वम्' इति।

'सांख्यशास्त्रस्य तु पुरुषार्थ-तत्साधन-प्रकृतिपुरुषविवेकावेव मुख्यो विषय इति ईश्वरप्रतिषेधांशबाधेऽपि नाप्रामाण्यम्। यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायात्' इति।"

' ' इन चिन्हों के मध्य का सम्पूर्ण पाठ विज्ञानभिक्षु के सांख्यभाष्य का है। यह प्रथम सूत्र की अवतरणिका में उपलब्ध[2] है।

विज्ञानभिक्षु का निश्चित काल—

इन लेखों से स्पष्ट होजाता है–विज्ञानभिक्षु, सदानन्द के समय से इतना पूर्व अवश्य होचुका था, जितने समय में उसके ग्रन्थों का साधारण पठन-पाठन प्रणाली में पर्याप्त प्रचार होसका। इस काल की अवधि, उस समय की स्थितियों को देखते हुए, यदि एक शतक मानलीजाय, तो कुछ अधिक नहीं है। इसके

---

१. उक्त ग्रन्थ में २६० पृष्ठ पर। विज्ञानभिक्षु ने इनको १।८७ [यह संख्या प्रचलित सूत्रक्रमानुसार है। इसमें से ३५ घटाकर ५२ संख्या पर संस्थान-प्रकाशित सांख्यदर्शन में द्रष्टव्य है] सूत्र पर, सूत्रार्थ का संग्रह दिखलाने के लिये स्वयं रचना करके अपने भाष्य में लिखा है।
२. विद्याविलास प्रेस बनारस १९०९ ईसवी सन् में प्रकाशित, सांख्यदर्शन के विज्ञानभिक्षु कृत सांख्यप्रवचन भाष्य के पृष्ठ ४ पर यह सन्दर्भ विद्यमान है।

अनुसार विज्ञानभिक्षु का समय खीस्ट चतुर्दश शतक का मध्यकाल आता है। यदि उस अवधि को अर्द्धशतक भी मानाजाय, तो भी चतुर्दश शतक के नीचे विज्ञानभिक्षु का समय खींचा नहीं जासकता। यह लगभग वही समय है, जो सायण माधवाचार्य का है। ऐसी स्थिति में विज्ञानभिक्षु को सायण का समकालिक अथवा उससे कुछ पूर्ववर्त्ती आचार्य कहाजासकता है, पश्चाद्वर्त्ती कदापि नहीं। इस धारणा में हमें कोई विरोध दिखाई नहीं देता।

आज तक किसी विद्वान् ने कोई ऐसा साक्षात् प्रमाण उपस्थित नहीं किया, जो विज्ञानभिक्षु के इस काल में बाधक हो। आधुनिक विद्वान् यही कहते हैं, कि जब सूत्रों की रचना चौदहवीं सदी के बाद हुई है, तब भाष्य का उसके पूर्व होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, वह तो अवश्य और भी पीछे होना चाहिए। परन्तु आधुनिक विद्वानों की इस विचारधारा का हम पहले विस्तारपूर्वक विवेचन कर चुके हैं। एक मिथ्या आधार पर तथ्य इतिहास को झुठलाना न्याय्य नहीं।

हमारा अभिप्राय है–आधुनिक पाश्चात्य और उनके अनुयायी अनेक भारतीय विद्वान् किसी भ्रान्ति के आधार पर ही इस बात को मान बैठे हैं, कि षडध्यायी सूत्रों की रचना खीस्ट चतुर्दश शतक के अनन्तर हुई। परन्तु हमारा निवेदन है–आप अपने मस्तिष्क से इस विचार को निकाल दीजिये, और फिर सोचिये–ऐसे कौन से हेतु उपस्थित किये जासकते हैं, जिनके आधार पर विज्ञानभिक्षु का उक्त समय मानने में बाधा हो। यह कहाजाचुका है–सायण ने स्वयं अपने ग्रन्थ में सांख्यसूत्रों को उद्धृत किया है, और वह सांख्य का नाम लेकर किया[1] है। उस आनुपूर्वी का पाठ सिवाय षडध्यायी के, और किसी उपलभ्यमान सांख्यग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं, कि सूत्र और कारिका इन दोनों की समान विद्यमानता में अनेक ग्रन्थकार आचार्यों ने केवल सूत्रों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है, अनेकों ने कारिकाओं को; और बहुतों ने यथासम्भव दोनों को उद्धृत किया है। यह सब लेखक की इच्छा और परम्परा पर निर्भर करता है।

यदि इन उद्धरणों के सम्बन्ध की गम्भीर विवेचना में उतरा जाय, तो यह बहुत स्पष्ट होता है, कि बौद्ध और जैन साहित्य तथा उनसे प्रभावित दूसरे साहित्य में कारिकाओं के उद्धरण अधिक मिलते हैं। परन्तु आर्य परम्परा के साहित्य में सूत्रों के उद्धरण बहुत अधिक हैं, यद्यपि कारिकाओं के भी पर्याप्त हैं। इस विवेचना से यह परिणाम स्पष्ट प्रतीत होजाता है, कि बौद्ध अथवा जैन आचार्यों की यह प्रवृत्ति, उस काल के अनन्तर सम्भावना कीजासकती है,

---

१. देखिये इसी ग्रन्थ का 'वर्त्तमान सांख्यसूत्रों के उद्धरण' नामक चतुर्थ अध्याय उद्धरण संख्या १।

जब इन षडध्यायी सूत्रों में बौद्ध जैन मत के खण्डन सूत्रों का प्रक्षेप होचुका होगा, जैसाकि इसी ग्रन्थ के पञ्चम अध्याय में निर्देश किया है। ऐसी स्थिति में षडध्यायीसूत्रों की प्राचीनता सर्वथा अबाधित है। इसलिये सूत्रों के इस कल्पित तथाकथित रचनाकाल को लेकर, विज्ञानभिक्षु के उक्त कालनिर्णय में कोई बाधा उपस्थित नहीं कीजासकती, और इसीलिये आधुनिक विद्वानों का यह कालनिर्णय सम्बन्धी दुर्ग–कि सांख्यसूत्रों की रचना चतुर्दश शतक के अनन्तर मानकर सूत्र-व्याख्याता आचार्यों के काल का निर्णय करना–सहसा भूमिसात् होजाता है। ऐसी स्थिति में इन आधारों पर विज्ञानभिक्षु का समय खीस्ट चतुर्दश शतक के मध्य [१३५० ईसवी सन्] के समीप पूर्व ही मानाजासकता है।

महामहोपाध्याय श्रीयुत हरप्रसाद शास्त्री महोदय ने अपने एक लेख [JBORS=जर्नल आफ बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसायटी, Vol ९, सन् १९२३, पृष्ठ १५१-१९२] में विज्ञानभिक्षु का समय, खीस्ट एकादश शतक बताया है। परन्तु इस समय को निश्चितरूप में स्वीकार करने के लिये कोई प्रमाण अभी हमारे सन्मुख नहीं है। इतना निश्चयपूर्वक कह सकते हैं, कि चतुर्दश शतक के मध्यभाग से पश्चात्, विज्ञानभिक्षु का समय नहीं होसकता।

अनिरुद्ध के काल पर विचार—

विज्ञानभिक्षु के काल का निर्णय होने पर, अनिरुद्ध के काल पर अब स्पष्ट प्रकाश पड़सकता है। कम से कम अनिरुद्ध काल की अपर-प्रतीक के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कहाजासकता है, कि वह विज्ञानभिक्षु से पूर्ववर्त्ती आचार्य है। इसके लिये विज्ञानभिक्षु के सांख्यभाष्य से अनेक संकेतों का निर्देश इसी अध्याय में प्रथम करदियागया है।

डा० रिचर्ड गार्बे ने सांख्यसूत्रों पर अनिरुद्धवृत्ति की भूमिका में, सांख्य-सूत्र १।३४ की वृत्ति को, सर्वदर्शनसंग्रह के बौद्ध प्रकरण की एक पंक्ति के आधार पर लिखा बताया है, और [२।३२] सूत्र के 'उत्पलपत्रशतव्यतिभेद' दृष्टान्त को साहित्यदर्पण की एक पंक्ति के आधार पर। इन्हीं निर्देशों पर अनिरुद्ध के काल का निर्णय किया है। परन्तु अभी पिछले पृष्ठों में डॉ० गार्बे के इस भ्रमपूर्ण लेख का विस्तारपूर्वक विवेचन और प्रत्याख्यान करदियागया है।

अनिरुद्धवृत्ति में वाचस्पति का अनुकरण तथा डॉ० रिचॅर्ड गार्बे—

[२।३२] सूत्र की अनिरुद्धव्याख्या के सम्बन्ध में डॉ० गॉर्बे महोदय[1] ने

---

१. डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे द्वारा सम्पादित, एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता से ई० सन् १८८८ में प्रकाशित सांख्यसूत्र-अनिरुद्धवृत्ति के अन्त में पद-सूची के अनन्तर संयुक्त किये उपान्त्य पृष्ठ पर।

लिखा है—व्याख्या का उत्तरार्द्ध, सांख्यकारिका की ३०वीं आर्या के वाचस्पति मिश्रकृत व्याख्यान की आरम्भिक पंक्तियों के आधार पर अनिरुद्ध ने लिखा है। परन्तु जब इन दोनों स्थलों की सूक्ष्मदृष्टि से तुलना करते हैं, तो यह स्पष्ट होजाता है, कि डॉ० गॉर्बे महोदय का उक्त लेख, भ्रान्ति पर अवलम्बित है। वाचस्पति मिश्र उक्त कारिका के व्याख्यान में, इन्द्रियों की अपने विषयों में क्रमिक और अक्रमिक दोनों प्रकार की प्रवृत्ति को वास्तविक मानता है। परन्तु अनिरुद्ध ने सूत्र के 'अक्रमशः' पद की उदाहरण सहित व्याख्या कर देने पर इन्द्रियों की अक्रमिक प्रवृत्ति को वास्तविक नहीं माना। उसने प्रतीयमान अक्रम स्थल में भी क्रम को वास्तविक माना है। और 'उत्पलपत्रशतव्यतिभेद' का दृष्टान्त देकर यह निर्णय किया है, कि क्रम की प्रतीति न होने के कारण उक्त स्थल में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को अक्रम कहागया है, वस्तुतः वहाँ पर भी क्रम रहता है। यह सब वाचस्पति मिश्र के व्याख्यान में सर्वथा नहीं है। ऐसी स्थिति में डॉ० गॉर्बे महोदय ने किसप्रकार अनिरुद्ध के इस लेख को वाचस्पति के आधार पर बताया, यह बात समझ में नहीं आती; जबकि वाचस्पति मिश्र से भी प्राचीन अन्य व्याख्याकारों ने इस कारिका का जो अर्थ किया है, उसके साथ, प्रकृत सूत्र में अनिरुद्ध के अर्थ की सर्वथा समानता देखीजाती है।

माठरवृत्ति और युक्तिदीपिका दोनों व्याख्याओं में, प्रतीयमान अक्रम के उदाहरण स्थल में भी क्रम को वास्तविक माना है। माठरवृत्ति का लेख इसप्रकार है—

> **"ह्रस्वकालत्वाद् विभागो न शक्यते वक्तुं ततो युगपदित्युच्यते। यथा बालपत्रशतं सूच्यग्रेण विद्धमिति।"**

अत्यन्त अल्पकाल में सहसा उस प्रकार की प्रतीति होजाने के कारण हम उसके विभाग का कथन नहीं करसकते, इसीलिये ऐसे स्थलों में इन्द्रियों [एक बाह्येन्द्रिय तथा तीन अन्तःकरणों] की प्रवृत्ति को युगपत् कहदियाजाता है; जैसे सौ कोमल पत्तों की एक राशि को एकदम सुई से बींधने पर एक साथ सबके बींधे जाने की प्रतीति होती है, यद्यपि उनके बींधे जाने में क्रम अवश्य विद्यमान रहता है।

युक्तिदीपिकाकार अक्रम के उदाहरण स्थलों में निश्चित ही क्रम का कथन करता है, और युगपद्वृत्तिता को अयुक्त बतलाता है। वह लिखता है—

> **"मेघस्तनितादिषु क्रमाननुगतेर्युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिरित्येतदयुक्तम्"**

मेघगर्जन आदि के सुनने में, क्रम की प्रतीति न होने के कारण, श्रोत्र मन अहंकार और बुद्धि वस्तुतः एकसाथ प्रवृत्त होजाती है, ऐसा मानना अयुक्त है।

इन तुलनाओं से स्पष्ट है, वाचस्पति मिश्र के द्वारा प्रतिपादित अर्थ से विपरीत[1] अर्थ का निर्देश करता हुआ अनिरुद्ध किसी भी अवस्था में वाचस्पति का अनुकरण

---

१. वस्तुतः इन्द्रियों की क्रमिकता और अक्रमिकता को लेकर व्याख्याकारों की दो विचारधारा उपलब्ध होती हैं। इस अर्थ का निर्देश करने के लिये मूल पद इसप्रकार हैं—

क्रमशो ऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः। सांख्यसूत्र २।३२॥

चतुष्टयस्य युगपत् क्रमशश्च वृत्तिः। सांख्यकारिका ३०।

सूत्र में उक्त अर्थ को बहुत संक्षेप से कहागया है। वहां न तो यह उल्लेख है, कि इनमें से कौन वास्तविक अथवा कौन अवास्तविक है, और न यह उल्लेख है, कि कहाँ क्रमिकता मानीजाय और कहाँ अक्रमिकता। पहली बात कारिका में भी नहीं है, परन्तु 'दृष्ट' और 'अदृष्ट' [**दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः, कारिका ३०**] पदों को रखकर दूसरी बात का उल्लेख कारिका में कियागया है, और इसी आधार को लेकर व्याख्याकारों की दो विचारधाराओं का प्रस्फुटन हुआ है। कारिका में 'दृष्ट' पद का अर्थ वर्त्तमान और 'अदृष्ट' का अतीत अनागत है। इसलिये जब हम वर्त्तमान में किसी पदार्थ को जानते हुए होते हैं, अथवा जाने हुए पदार्थ का स्मरण या प्रत्यभिज्ञान करते हैं, अथवा अनुमान या शब्द प्रमाण से किसी अतीत या व्यवहित पदार्थ को जानते हैं, तब इन सब अवस्थाओं में इन्द्रिय युगपत् प्रवृत्त होती हैं, अथवा क्रमशः यही विचारणीय है। इस सम्बन्ध में माठर और युक्तिदीपिकाकार का निर्णय है, कि दृष्ट और अदृष्ट सब स्थलों में इन्द्रियों की वृत्ति क्रमशः होती है। अर्थात् बाह्य इन्द्रिय का अपने विषय के साथ सम्बन्ध होकर इसका तदाकार परिणाम प्रथम, अनन्तर मन से संकल्प, अहंकार से अभिमान और बुद्धि से निश्चय होता है। यही इन्द्रियों की वृत्ति का क्रमपूर्वक होना है। जहाँ मेघगर्जन आदि में शब्द के ज्ञान के लिये यह कहाजाता है कि यहाँ श्रोत्र मन अहंकार और बुद्धि की वृत्ति एक साथ होजाती है, वहाँ भी उक्त दोनों व्याख्याकार वृत्ति को क्रमपूर्वक मानते हैं। इनके अनन्तर होनेवाला गौडपाद इसका विवेचन इसप्रकार करता है—

दृष्ट में युगपत् और क्रमशः दोनों प्रकार वृत्ति होती है, और अदृष्ट में केवल क्रमशः।

इसके अनन्तर होनेवाला जयमंगलाव्याख्याकार गौडपाद के अनुसार ही विवेचन करता है। और उदाहरण में 'अन्धकार' विद्युदालोक' आदि का उल्लेख करता है। इसके अनन्तर वाचस्पति मिश्र, दृष्ट और अदृष्ट दोनों में युगपत् और क्रमशः दोनों प्रकार से इन्द्रियवृत्ति मानता है, और उदाहरण में जयमंगला के समान 'अन्धकार' और विद्युदालोक' के उल्लेख के साथ जयमंगला

करनेवाला नहीं कहाजासकता। प्रत्युत अनिरुद्ध ने जिस अर्थ का निर्देश किया है, वह माठर और युक्तिदीपिकाकार आदि प्राचीन व्याख्याकारों के अर्थ के साथ अत्यधिक समानता रखता है।

में निर्दिष्ट 'सर्पसन्दर्शन' के स्थान पर 'व्याघ्रदर्शन' का उल्लेख करता है। इस परम्परा से यह बात प्रतीत होती है, कि इन्द्रियों की क्रमिकता और अक्रमिकता के सम्बन्ध में कारिका के प्राचीन व्याख्याकार उसी सिद्धान्त को मानते रहे हैं, जिसको अनिरुद्ध ने २।३२ सूत्र की व्याख्या में निर्दिष्ट किया है। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या में प्रतिपादित अर्थ के क्रमिक परिवर्तन पर जब दृष्टि डालते हैं, तो एक और परिणाम भी स्पष्ट होता है। वह है–वेदान्तिक विचारों प्रभावित हुए लेखकों द्वारा किसप्रकार सांख्यसिद्धान्त विकृत कियेगये हैं, इसका ए एक उदाहरण और मिलजाता है। सांख्य का इन्द्रियों की वृत्ति के सम्बन्ध मुख्य सिद्धान्त यही है, कि उनकी प्रवृत्ति क्रमिक होती है, युगपत् नहीं। यद्य सूत्र में इसका स्पष्ट विवेचन नहीं है, पर सूत्र सदा व्याख्यापेक्षी होते हैं। प व्याख्याकारों ने सूत्र के अक्रमशः पद का यही व्याख्यान किया, कि क्रम व प्रतीति न होने के कारण ऐसा [अक्रमिक होना] कहाजाता है। कारिका क प्राचीन व्याख्याताओं ने इसी अर्थ का प्रतिपादन किया। गौडपाद की व्याख्या से उस अर्थ में परिवर्तन होने लगा, और वाचस्पति मिश्र के समय तक वह सर्वथा एक विकृतरूप में स्थिर होगया। उसके अनन्तर सबने लेखकों उसी अर्थ को सांख्यमत के रूप में मानना स्वीकार किया। विज्ञानभिक्षु ने २।३२ सूत्र में अनिरुद्ध का खण्डन कर, वाचस्पति मिश्र की अपेक्षा एक और कदम आगे बढ़कर, इन्द्रियों के उक्त क्रम और अक्रम का विवेचन केवल बाह्य इन्द्रियों के आधार पर प्रस्तुत किया। उसके साथ मन की अणुता और अनणुता को भी जोड़ दिया, इसीके अनुसार ३०वीं कारिका की तत्त्वकौमुदी व्याख्या पर टीका लिखते हुए श्री बालराम उदासीन ने इसी आधार पर मन की अणुता अनणुता का विवेचन किया है। वस्तुतः सूत्र और कारिका में जो प्रतिपाद्य अर्थ अभिमत है, उसके साथ मन की अणुता और अनणुता से कोई प्रयोजन नहीं है। अभी स्पष्ट कर आये हैं, कि एक बाह्येन्द्रिय का अपने विषय के साथ सम्बन्ध होने पर क्रमशः मन अहंकार और बुद्धि की वृत्तियां उद्भव में आती हैं। यही प्रस्तुत प्रसंग में इन्द्रियवृत्तियों की क्रमिकता अक्रमिकता का विवेचन है। केवल बाह्य इन्द्रियों का अपने विषय में युगपत् या क्रमशः प्रवृत्त होना, प्रस्तुत प्रसंग का विवेचनीय विषय नहीं है। फिर मन के परिमाण का इससे क्या प्रयोजन ? यदि भिक्षु और उदासीन महोदयों के कथनानुसार मन को मध्यम परिमाण मानलियाजाय, तो सर्वदा सम्पूर्ण बाह्य इन्द्रियों की अपने अपने विषय में युगपत् प्रवृत्ति को कौन नियमन करसकता है ? जो अनुभव के सर्वथा विरुद्ध है। इसलिये इस प्रसंग में इन दोनों विद्वानों के व्याख्यान अप्रासंगिक एवं असंगत है।

केवल अक्रम के उदाहरण की समानता को लेकर ऐसा कहना अयुक्त होगा, क्योंकि किसी उदाहरण का निर्देश किसी लेखक के साथ सम्बद्ध नहीं कहाजा-सकता। एक ही उदाहरण को अनेक लेखक बिना एक-दूसरे के परिचय के देसकते हैं, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में भय की भावना का प्रदर्शन करने के लिये उदाहरण का निर्देश है। उसमें सर्पदर्शन, व्याघ्रदर्शन, चौरदर्शन आदि इसी प्रकार के उल्लेख कियेजासकते हैं। ये सर्वथा साधारण हैं, इनका किसी विशेष लेखक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी समय में किसी उदाहरण का कोई भी लेखक उल्लेख करसकता है, अनेक लेखक एक उदाहरण का भी उल्लेख करसकते हैं। फलत: अनिरुद्ध के उक्त लेख को वाचस्पति का अनुकरण कहना सर्वथा भ्रान्ति पर आधारित कहाजासकता है।

डॉ० रिचर्ड गॉर्बे ने इसीप्रकार के एक और प्रसंग का उल्लेख, पहले उल्लेख के साथ किया है। वह लिखता है—सांख्यसूत्र [१।८९] की अनिरुद्ध व्याख्या के अन्त में एक श्लोक उद्धृत है, जो २७वीं सांख्यकारिका की तत्त्वकौमुदी व्याख्या से लियागया है।

इस सम्बन्ध में कुछ निवेदन करने से पूर्व, उस श्लोक को यहां उद्धृत कर देना उपयुक्त होगा। श्लोक है—

"ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्यावसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन संमता॥"

[श्लोकवार्त्तिक १२०। प्रत्यक्षलक्षणपरक ४ सूत्र]

यह श्लोक कुमारिलभट्टरचित श्लोकवार्त्तिक का है। जिसका पता ऊपर निर्दिष्ट है। डॉ० गॉर्बे ने ऐसा कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया, जिससे यह निश्चित कियाजासके, कि अनिरुद्ध ने वाचस्पति के ग्रन्थ से इस श्लोक को लिया है। यह क्यों नहीं कहाजासकता, कि दोनों ने इस श्लोक को मूल ग्रन्थ से लिया? इस कथन को सप्रमाण तया युक्त भी कहाजासकता है। अनिरुद्ध ने मूलग्रन्थ से इस श्लोक को अपने ग्रन्थ में लिया, इसके लिये एक प्रमाण यह उपस्थित कियाजासकता है।

वाचस्पति मिश्र ने जहां उक्त श्लोक को उद्धृत किया है, उसके साथ पहले, दो श्लोक और उद्धृत किये हैं; जिनमें से दूसरा श्लोकवार्त्तिक के उसी प्रकरण का ११२वां श्लोक है। पहले के मूलस्थान को हम अभी तक मालूम नहीं कर सके। यद्यपि अनिरुद्ध ने श्लोकवार्त्तिक के ११२वें श्लोक में प्रतिपादित निर्विकल्पक ज्ञान का, अपनी वृत्ति में इसी प्रसंग में उल्लेख किया है, परन्तु उसकी प्रामाणिकता के लिये वह इस श्लोक को उद्धृत नहीं करता, केवल १२०वें श्लोक को उद्धृत करता है। यदि वह इस [१२०वें श्लोक] को वाचस्पति के ग्रन्थ से उद्धृत करता, तो अवश्य वह ११२वें श्लोक को भी यहां उद्धृत करदेता।

इतना ही नहीं, प्रत्युत, उसने १२०वें श्लोक के उद्धरण से ठीक पहले एक और श्लोक उद्धृत[1] किया है, जो वाचस्पति के ग्रन्थ में नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि इस [१२०वें] श्लोक को अनिरुद्ध, वाचस्पति के लेख से नहीं ले रहा।

वाचस्पति और अनिरुद्ध के लेखों की गॉर्बे निर्दिष्ट समानता; उनके पौर्वापर्य की निश्चायक नहीं—

इसके अतिरिक्त डॉ० रिचर्ड गॉर्बे ने सांख्यसूत्रों पर अनिरुद्धवृत्ति की भूमिका में एक और सूची इसप्रकार की दी है, जिसमें सात ऐसे स्थलों का निर्देश किया गया है, जिनको अनिरुद्ध वृत्ति में वाचस्पति के आधार पर लिखागया बताया है। वे सब स्थल ऐसे हैं, जो कुछ साधारण उक्तियों के रूप में कहेजासकते हैं, और कुछ समान पदों के व्याख्यानरूप हैं, ऐसे स्थलों में किसी प्रकार के अर्थ-भेद की सम्भावना नहीं होती। जब एक ही अर्थ का अनेक लेखक प्रतिपादन करते हैं, तब उसमें कुछ समानता का आजाना असंभावित नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि वाचस्पति और अनिरुद्ध के लेखों में कहीं कुछ समानता का आभास प्रतीत होता हो, तो वह इनके पौर्वापर्य का निश्चायक नहीं कहाजासकता। यदि प्रमाणान्तरों से किन्हीं दो व्यक्तियों की पूर्वापरता का निश्चय होजाता है, तब उनके लेखों की थोड़ी समानता भी उस अर्थ को दृढ़ करनेमें अवश्य उपोद्बलक साधन कहीजासकती है। हम देखते हैं—अनिरुद्ध के लेख की जो समानता डॉ० गॉर्बे ने वाचस्पति के लेख के साथ निर्दिष्ट की हैं, वे कुछ अंशों को लेकर ही हैं। ऐसा नहीं है, कि वाचस्पति का कोई लेख, अविकल आनुपूर्वी से अनिरुद्ध के ग्रन्थ में उपलब्ध होरहा हो। इसप्रकार किसी अंश को लेकर अनिरुद्ध के उन लेखों में माठरवृत्ति के साथ समानता भी स्पष्ट प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में यह कैसे निश्चय कियाजाय? कि अनिरुद्ध का वह लेख, माठर के आधार पर लिखागया है, अथवा वाचस्पति मिश्र के? हमारा अभिप्राय है—एक ही विषय पर लिखनेवाले लेखकों का पौर्वापर्य का निश्चय जब तक कारणान्तरों से न होजाय, केवल उनके लेखों में आभासमान समानता के आधार पर एक को पूर्व और दूसरे को पर नहीं कहाजासकता।

---

१. वह श्लोक इसप्रकार है—

> "संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते।
> संज्ञिनः सा तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा॥"

जिसप्रकार अनिरुद्ध ने इसको अपने मूलस्थान से उद्धृत किया है, इसीप्रकार १२०वें श्लोक को भी अपने मूलस्थान श्लोकवार्त्तिक से उद्धृत किया है, वाचस्पति के ग्रन्थ से नहीं।

इतने लेख से यह तात्पर्य कदापि नहीं है, कि अनिरुद्ध, वाचस्पति मिश्र से पूर्ववर्ती आचार्य होना चाहिये; क्योंकि हमारे सन्मुख इसका कोई साक्षात् प्रमाण अभी तक उपस्थित नहीं है। हमारा तात्पर्य इतना ही है, कि वाचस्पति और अनिरुद्ध के लेखों की गॉर्बे निर्दिष्ट समानता, उनके पौर्वापर्य की निश्चायक नहीं होसकती, अर्थात् अनिरुद्ध के काल की पूर्वप्रतीक, वाचस्पति मिश्र को नहीं कहा-जासकता। कुमारिल भट्ट के श्लोक अनिरुद्धवृत्ति में उद्धृत हैं, और उन उद्धरणों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है। इससे इतना तो निश्चय-पूर्वक कहाजासकता है, कि अनिरुद्ध, कुमारिल से पीछे का आचार्य है। यह पहले निश्चय कर आये हैं, कि विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध पर्याप्त प्राचीन है।

विज्ञानभिक्षु से पर्याप्त प्राचीन अनिरुद्ध—

पर्याप्त प्राचीन हमने क्यों कहा ? इसका विशेष कारण है, यह निश्चित है—विज्ञानभिक्षु से पूर्व अनिरुद्धवृत्ति की रचना होचुकी थी। निश्चित ही विज्ञान-भिक्षु ने अनिरुद्धवृत्ति को पढ़ा और मनन किया था। विज्ञानभिक्षु के प्रारम्भिक **'पूरयिष्ये वचोऽमृतैः'** इन पदों के होने पर भी हम देखते हैं, कि उसने सांख्य को पूरा करने के लिये सूत्रों पर केवल विस्तृत भाष्य ही लिखा है, सांख्य के सूत्रों में कोई अभिवृद्धि नहीं की है। जितने सूत्रों पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य है, वे सब वही हैं, जिन पर अनिरुद्ध, वृत्ति लिख चुका था। उन सूत्रों में कोई विपर्यय अथवा पूर्ण करने के विचार से अधिक योजना विज्ञानभिक्षु ने नहीं की। फिर भी उसने इसे 'कालार्कभक्षित' बताया है। अभिप्राय है—जिस वस्तु को उसने 'कालार्कभक्षित' कहा, और अपने वचनों से उसे पूरा करने की आशा दिलाई; वह यदि केवल सांख्यसूत्र हैं, तो उनको अमृत वचनों से पूरा करने का क्या अभिप्राय होसकता है ? यह स्पष्ट नहीं होता, जबकि उसने सूत्रों में कोई पद तक भी अपनी ओर से नहीं जोड़ा है। इसलिये प्रतीत होता है, उसका संकेत, वृत्तिसहित सूत्रों की ओर है। सूत्रों के समान वृत्ति भी इतनी जीर्ण और अप्रचारित अवस्था में होचुकी थी, कि सूत्रों की महत्ता के लिये उसका कोई प्रभाव नहीं था। उसी स्थान को, विस्तृत भाष्य लिखकर विज्ञानभिक्षु ने अपने वचनामृतों से पूर्ण किया है, और जिस भावना से वह इन चिरन्तन सूत्रों का उद्धार करने के लिये प्रवृत्त हुआ था, उसमें सफल होसका। सांख्यसूत्रों का फिर प्रचार हुआ, और इनका पठन-पाठन परम्परा में प्रचलन हुआ। इस कारण संभव है—अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु से पर्याप्त प्राचीन होगा। यही सब समझकर 'पर्याप्त' पद का प्रयोग किया है।

यह अनुमान करना अनुचित न होगा: कि पर्याप्तता के लिये न्यून से न्यून दो शतक का तथा साधारण रूप से तीन शतक का अन्तर मानना उपयुक्त है।

यदि इन दोनों व्याख्याकारों में तीन शतक का अन्तर सम्भावना कियाजाय, तो अनिरुद्ध का समय विक्रम एकादश शतक के लगभग होना चाहिये । अर्थात् १०५० से ११०० विक्रमी के आसपास ।

अनिरुद्ध के इस कालनिर्णय में अन्य युक्ति—

अनिरुद्ध के इस कालनिर्णय की पुष्टि में एक और स्वतन्त्र प्रमाण प्रस्तुत है। सांख्यषडध्यायी के १।४८ सूत्र की अवतरणिका में अनिरुद्ध ने आत्मा को परिच्छिन्न परिमाण बतलाने के लिये जैन मत[1] का उल्लेख किया है । अभिप्राय है–अनिरुद्ध की दृष्टि में दार्शनिक विचारों के आधार पर केवल जैन दर्शन ऐसा है, जो आत्मा को परिच्छिन्न परिमाण मानता है। यही समझकर उक्त सूत्र की अवतरणिका में अनिरुद्ध जैन मत का अवतार[1] करता है ।

परन्तु विज्ञानभिक्षु ने ऐसा नहीं किया । उसने आस्तिक[2] सम्भाव्य मत का आश्रय लिया है । प्रकृत सूत्र में आत्मा के एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाने की गति के आधार पर, उसके परिच्छिन्न-परिमाण पर प्रकाश पड़ता है। इस समय इन दोनों व्याख्याताओं के सूत्रार्थ या उसकी युक्तायुक्तता के विवेचन से कोई प्रयोजन नहीं, केवल इतना अभिमत है, कि आत्मा की परिच्छिन्नता के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए अनिरुद्ध जैन दर्शन का नाम लेता है, परन्तु विज्ञानभिक्षु इसका सम्बन्ध आस्तिक दर्शन से मानता है । यह स्पष्ट है– विज्ञानभिक्षु जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन समझता है । तब विज्ञानभिक्षु के कथनानुसार देखना चाहिये, कि आस्तिक दर्शन में कौन ऐसे आचार्य हैं, जो आत्मा को परिच्छिन्न-परिमाण मानते हैं । यह बात सभी विद्वानों के लिये स्पष्ट है, कि रामानुज आदि वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य ऐसा मानते हैं । स्पष्ट है, जैन दर्शन और रामानुजादि दर्शन में आत्मा को परिच्छिन्न मानागया है ।

प्रस्तुत प्रसंग में अनिरुद्ध ने इस निर्देश के लिये जैन मत का उल्लेख किया है, रामानुजादि का नहीं । परन्तु विज्ञानभिक्षु इस प्रसंग में आस्तिक पद से रामानुजादि का निर्देश करता है । इससे परिणाम निकलता है–अनिरुद्ध के विचारानुसार उसके समय तक कोई ऐसा आस्तिक दर्शन नहीं था, जो आत्मा को परिच्छिन्न-परिमाण मानता हो । इसीलिये उसने इस प्रसंग में जैन दर्शन का निर्देश किया । परन्तु विज्ञानभिक्षु के समय से पूर्व आस्तिकों में रामानुजादि के

---

१. "देहपरिमाण आत्मा इति क्षपणकमतमाह" अनिरुद्धवृत्ति, अवतरणिका १।४८ सूत्र पर।

२. नास्तिकमतानि दूषितानि । इदानीं···आस्तिकसम्भाव्यान्यपि···निरस्यन्ते । विज्ञानभिक्षु भाष्य, १।४८ सूत्र की अवतरणिका ।

दर्शन इस विचार के पोषक बन चुके थे। इसलिये उसने पूर्वसूत्रों से नास्तिक मतों का खण्डन कर यहां आत्मपरिच्छिन्नता के लिये आस्तिक मत का अवतार किया है। इससे स्पष्ट होता है–अनिरुद्ध का काल, रामानुज मत की स्थापना से पूर्व होना चाहिये। रामानुज का प्रादुर्भावकाल विक्रम एकादश शतक के अन्त से द्वादश शतक के अन्तिम [१०८९—११७६[1]] भाग तक कहाजाता है। ऐसी स्थिति में अनिरुद्ध का समय विक्रम एकादश शतक का प्रारम्भिक भाग अथवा उससे कुछ और पूर्व माना जाना चाहिये, पश्चात् नहीं। यह काल ख्रीष्ट दसवीं शती में आता है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है, कि अनिरुद्ध ने द्वैतवाद के मूल आधार सांख्यशास्त्र पर व्याख्या लिखते हुए भी जहां कहीं वेदान्त सम्बन्धी विचार प्रकट करने का अवसर आया है, केवल शांकर मत का आभास ध्वनित किया है, रामानुज का नहीं, जो द्वैतवादी होने के नाते उसके लिये अधिक उपयुक्त होसकता था। इससे भी अनिरुद्ध का समय, रामानुज से पूर्व होना प्रकट होता है।

उद्धरणों के आधार पर—

सांख्यषडध्यायी की अनिरुद्धवृत्ति में एक सौ के लगभग उद्धरण उपलब्ध होते हैं। उनके आधार पर विचार करने से अनिरुद्ध का उक्त काल स्वीकार किये जाने में कोई बाधा नहीं आती। यद्यपि अभीतक कुछ उद्धरणों के मूल स्थानों का पता नहीं लगसका, पर जहां तक देखपाये हैं, वे उद्धरण बारहवीं सदी अथवा उसके अनन्तर लिखे जानेवाले ग्रन्थों में मूल रूप से उपलब्ध नहीं हैं। केवल एक श्लोक ऐसा उपलब्ध हुआ है, जो प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में है। अनिरुद्धवृत्ति में वह इसप्रकार उद्धृत है।

"एकमेव परं ब्रह्म सत्यमन्यद् विकल्पितम्।
को मोहः कस्तदा शोक एकत्वमनुपश्यतः।"[2]

यह श्लोक प्रबोधचन्द्रोदय में इसप्रकार है—

"एकमेव सदा ब्रह्म सत्यमन्यद् विकल्पितम्।
को मोहः कस्तदा शोक ऐकात्म्यमनुपश्यतः॥"[3]

इन दोनों पाठों में बहुत थोड़ा अन्तर है। प्रथम चरण में अनिरुद्ध 'परं' पद रखता है, और नाटक में उसके स्थान पर 'सदा' पद है। यह सर्वथा नगण्य

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, अभ्यंकर संस्करण, पृ० ५१४ के आधार पर।
२. षडध्यायी ६।४४ सूत्र पर उद्धृत। पृष्ठ २८०, रिचर्ड गॉर्बे संस्करण।
३. प्रबोधचन्द्रोदय नाटक, अङ्क ५, श्लोक १५।

अन्तर है। चतुर्थ चरण में थोड़ा अन्तर है। परन्तु उस अन्तर में एक विशेष बात यह है, कि अनिरुद्ध का पाठ मूल के बिल्कुल साथ है, और नाटक का पाठ रूपान्तर[1] कियागया है। इससे प्रतीत होता है–अनिरुद्ध का पाठ मौलिक और प्राचीन है, तथा नाटक का परिवर्तित और अर्वाचीन। अभिप्राय है–यह श्लोक नाटककार की अपनी रचना नहीं है। पूर्वरचित श्लोक को दो एक पदों का विपर्यय करके अपने नाटक में लेलिया है। इस नाटक में अन्य अनेक ऐसे श्लोक हैं, जो वस्तुतः नाटककार से प्राचीन आचार्यों के[2] हैं, उनको कुछ परिवर्तन से अपने सांचे में ढाल–अथवा उसी रूप में–यहाँ लिखदियागया है। इसलिये यह श्लोक इस बात का निर्णायक नहीं होसकता, कि अनिरुद्ध ने प्रबोधचन्द्रोदय से इस श्लोक को लिया है।

इसके अधिक निर्णय के लिये आवश्यक है–प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की रचना के काल पर प्रकाश डालाजाय। इस सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों ने क्या निर्णय किया है, इसका विचार न कर हम केवल प्रबोधचन्द्रोदय की अपनी साक्षी पर इसका निश्चय करने का यत्न करते हैं।

नाटक की प्रारम्भिक भूमिका में चन्द्रात्रेय [चन्देल] वंश के राजा कीर्त्तिवर्मा का उल्लेख है। वहां यह निर्देश कियागया है, कि चेदिपति रुद्र ने चन्देल वंश के राजाओं का उच्छेद करदिया था। अब राजा कीर्त्तिवर्मा ने वर्तमान चेदिपति को परास्त कर चन्देल वंश के आधिपत्य को पुनः स्थापित करने का सफल प्रयास किया है। उसी विजय के उपलक्ष्य में राजा कीर्त्तिवर्मा के सन्मुख इस नाटक का अभिनय कियाजारहा है।

इतिहास से निश्चित है–चन्देल वंश का राजा कीर्तिवर्मा ११०८–११५५ विक्रमाब्द में महोबा[3] की गद्दी पर प्रतिष्ठित रहा है। इसने चेदिपति[4] कर्ण

१. इस श्लोक का उत्तरार्ध ईशोपनिषद् की ७वीं श्रुति के आधार पर है। अनिरुद्धवृत्ति में मूलश्रुति के अनुसार पाठ है। नाटक में उसका रूपान्तर करदिया है। ईशोपनिषद् का पाठ है—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।' 'एकत्वम्' के स्थान पर नाटक में 'ऐकात्म्यम्' पाठान्तर कियागया है।

२. प्रबोधचन्द्रोदय के चतुर्थ अंक का १९ श्लोक [खीस्ट १९३६ के त्रिवेन्द्रम संस्करण के आधार पर], इसकी तुलना कीजिये, भर्तृहरि कृत वैराग्यशतक श्लोक २७ के साथ॥ प्र० चन्द्रो० २। १९, २०, २२, श्लोक, तुलना करें चार्वाक मत के साथ॥ पुनः अंक ६ का २० श्लोक, तुलना कीजिये, मुण्डकोपनिषद् ३।१।१ के साथ।

३. महोबा, जि० बांदा यू० पी० में चन्देल वँश का प्रसिद्ध अभिजन है।

४. चेदिपति कर्ण हैहय वँश का राजा था। इसका निवास बुन्देलखण्ड में दहाल

अथवा लक्ष्मीकर्ण को युद्ध में परास्त किया। इसका समय शिलालेखों के आधार पर १०९८–११२७ विक्रमाब्द[1] निश्चित है। ऐसी स्थिति में उक्त नाटक के अभिनय का काल '१११२ विक्रमाब्द के आसपास निश्चित होता है। क्योंकि विजय के उपलक्ष्य में राजा कीर्तिवर्मा के सन्मुख इस नाटक का अभिनय किया गया, जो स्वयं नाटक में उल्लिखित है। इससे स्पष्ट होजाता है–अनिरुद्धवृत्ति और प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में जो श्लोक समानरूप से उपलब्ध होता है, उसके आधार पर भी अनिरुद्ध का काल विक्रम एकादश शतक के अनन्तर नहीं खींचा जासकता।

वस्तुस्थिति यह है, कि इस श्लोक का मूल स्थान कोई अन्य है, जहां से इन दोनों ग्रन्थकारों ने इसको लिया। अनिरुद्ध के पाठ में प्राचीनता की सम्भावना का निर्देश अभी ऊपर कियागया है। यदि दुर्जनतोषन्याय से इस बात पर आग्रह कियाजाय, कि उक्त श्लोक का मूल स्थान नाटक है, तो भी हमारे अनुमान में कोई बाधा नहीं। यह निश्चित है, कि रामानुज मत की स्थापना के पूर्व अनिरुद्ध का समय होना चाहिये। रामानुज मत की स्थापना का काल विक्रम द्वादश शतक का अन्तिम भाग मानाजाता है। इसलिये अनिरुद्ध का समय विक्रम एकादश शतक के अन्तिम भाग के समीप से और पीछे मानाजाना संभव नहीं।

महादेव वेदान्ती

महादेव वेदान्ती और अनिरुद्धवृत्ति—

सांख्यषडध्यायी सूत्रों के अन्यतम व्याख्याकार महादेव वेदान्ती ने अपनी व्याख्या अनिरुद्धवृत्ति के आधार पर लिखी है, और इसीलिये व्याख्या का नाम 'वृत्तिसार' रक्खा है। यह बात इसके प्रथमाध्याय के उपक्रम तथा उपसंहार श्लोकों से स्पष्ट होजाती है। महादेव का उपक्रम श्लोक इसप्रकार है—

"दृट्ष्वानिरुद्धवृत्तिं बुद्ध्वा सांख्यीयसिद्धान्तम्।
विरचयति वृत्तिसारं वेदान्त्यादिर्महादेवः॥"

प्रथमाध्याय के उपसंहार श्लोक इसप्रकार हैं—

"अत्र मामकसन्दर्भे नास्ति कापि स्वतन्त्रता।
इति ज्ञापयितुं वृत्तिसार इत्यभिधा कृता॥

नामक स्थान था, जिसको हिन्दी में 'डभाल' कहते हैं। इसी प्रदेश का पुराना नाम चेदि है।

१. Dynastice History of Northarn India by H. C. Ray के अनुसार Epigraphy Indica Vol. 1, P. 219 के आधार पर।

परवाक्यानि लिखता तेषामर्थो विभावितः ।
कृता संदर्भशुद्धिश्चेत्येवं मे नाफलः श्रमः ॥"

महादेव और डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे—

महादेव के निश्चित काल को बतलानेवाला कोई प्राचीन लेख अभी तक उपलब्ध नहीं होसका। आधुनिक विद्वानों ने इस सन्बन्ध में जो अनुमान किये हैं, उनके आधार पर महादेव, विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा पश्चाद्वर्त्ती आचार्य है। डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे[1] के अनुसार षडध्यायी, के प्रथम दो अध्यायों में महादेव ने विज्ञानभिक्षु के भाष्य की प्रतिलिपिमात्र की है। परन्तु इस बात को छिपाने के लिये उसने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में विज्ञानभिक्षु का नाम न लिखकर अनिरुद्ध का नाम लिखदिया है।

महादेव के सम्बन्ध में गॉर्बे का यह कथन, सचमुच महादेव पर एक महान एवं कटु आक्षेप है। परन्तु इन दोनों व्याख्याकारों के सन्दर्भों की जब गम्भीरता-पूर्वक परस्पर तुलना करते हैं, तो एक और भावना सन्मुख आती है। वह यह है, कि कदाचित् ऐसा संभव होसकता है, कि विज्ञानभिक्षु ने ही अपनी व्याख्या का आधार, महादेव की व्याख्या को बनाया हो। क्योंकि इन दोनों की तुलना करने पर महादेव की व्याख्या अपने रूप में बहुत स्वाभाविक और पूर्ण मालूम देती है, जबकि विज्ञानभिक्षु के भाष्य में उसका अधिक विस्तार तथा ऊहा-पोहपूर्वक अन्य विवेचन सम्मिलित हैं।

महादेव, विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा प्राचीन है—

यदि इस भावनो को हम अपने मस्तिष्क से दूर करदें, कि विज्ञानभिक्षु जैसा भाष्यकार दूसरे का अनुकरण कैसे करसकता है ? और निष्पक्ष होकर इसकी विवेचना में प्रवेश करें, तो बहुत सी सचाई हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है।

(अ) सबसे प्रथम हम देखते हैं, महादेव ने स्पष्ट अनिरुद्ध का उल्लेख किया है, और उसकी वृत्ति को देखकर अपनी व्याख्या के लिखेजाने का निर्देश किया है। यदि सचमुच उसने विज्ञानभिक्षु के भाष्य की प्रतिलिपि की होती, तो वह विज्ञानभिक्षु का नाम लिखने में क्यों संकोच करता ? छिपाने की भावना उस समय संगत होसकती थी, जब वह किसीके नाम का उल्लेख न करता। विज्ञानभिक्षु के अतिरिक्त, अनिरुद्ध का नाम लिखदेने से उसे कोई लाभ नहीं

---

१. डॉ० रिचॅर्ड गॉर्बे सम्पादित अनिरुद्धवृत्ति की भूमिका, पृष्ठ ५ पर। बंगाल एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित, खीस्ट १८८८ का संस्करण।

होता। किसीका भी नाम लिखे, वह अनुकरणकर्त्ता तो कहलायेगा ही। इस सम्बन्ध में कोई भी विद्वान् यह समझसकता है, कि महादेव इतना मूर्ख तो न होगा, कि वह इस बात को न जानपाता। आखिर विज्ञानभिक्षु का नाम न लेकर अनिरुद्ध का नाम लेने में उसका क्या लाभ होगा ? और उसने वास्तविकता को क्यों छिपाया होगा ? यह बात स्पष्ट नहीं होती।

(आ) प्रथमाध्याय के उपसंहार श्लोकों में उसने स्पष्ट लिखा है—मेरे संदर्भ में कोई स्वतन्त्रता नहीं है, इसीलिये मैंने इसका नाम वृत्तिसार रक्खा है। वस्तुतः यह केवल उसकी विनम्रता का द्योतक है। अनेक सूत्रों में उसने बहुत-से विशेष अर्थों का उद्भावन किया है। ऐसी मनोवृत्ति का व्यक्ति असत्य लिखेगा, यह बात समझ में नहीं आती। फिर यदि वह विज्ञानभाष्य का अनुकरण करता, तो अपनी रचना का नाम 'भाष्यसार' रखता, वृत्तिसार क्यों ?

आगे उपसंहार के द्वितीय श्लोक में उसने अपनी रचना के सम्बन्ध में अत्यन्त स्पष्ट विवरण दिया है। वह कहता है—दूसरे के वाक्यों को लिखते हुए मैंने उनके अर्थों का विभावन अर्थात् प्रकाशन या खुलासा किया है, और पाठ का संशोधन किया है। इसलिये मेरा परिश्रम व्यर्थ न समझना चाहिये।

महादेव के इस लेख से स्पष्ट है—वह दूसरे की सर्वथा प्रतिलिपि नहीं कर रहा, प्रत्युत पूर्वप्रतिपादित अर्थों को स्पष्ट करने के लिये उसका प्रयत्न है। उसका स्वयं निर्दिष्ट यह वर्णन, तभी संगत होसकता है, जब हम यह मानते हैं, कि उसने अनिरुद्ध-निर्दिष्ट अर्थों का स्पष्टीकरण किया है। अन्यथा महादेव की रचना को यदि विज्ञानभाष्य की प्रतिलिपि मानाजाय, तब उसकी कोई प्रतिज्ञा सत्य नहीं कहीजासकती। क्योंकि प्रतिलिपि में न अर्थ का विभावन है, और न सन्दर्भ का संशोधन। इसलिये यह मानलेना अत्यन्त असंगत है, कि महादेव ने विज्ञानभाष्य की प्रतिलिपि की है। जो कुछ और जितना महादेव ने किया है, वह स्पष्ट उसने स्वयं लिखदिया है। मूर्ख भी चोर, कभी अपने आपको चोर नहीं कहता। महादेव विद्वान् होकर भी ऐसा क्यों करता ?

(इ) ग्रन्थ की आन्तरिक साक्षी इस बात को प्रमाणित करती है, कि महादेव ने विज्ञान का अनुकरण नहीं किया। षडध्यायी के १।६१ सूत्र[1] पर विज्ञानभिक्षु लिखता है—

"एतेन सांख्यानामनियतपदार्थाभ्युपगम इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः।"

सांख्य अनियतपदार्थवादी हैं, इस कथन को विज्ञानभिक्षु, मूर्खों का प्रलाप बतलाता है। अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में अनेक स्थलों पर सांख्यों को अनियत-

---

१. यह सूत्र संख्या प्रचलित सूत्रक्रमानुसार है। इसमें से ३५ घटाकर संस्थान से प्रकाशित संस्करण में सूत्र संख्या समझनी चाहिये।

पदार्थवादी लिखा[1] है। अनिरुद्ध के समान महादेव ने भी इस वाद को स्वीकार किया है। षडध्यायी ५।१०७ सूत्र पर महादेव लिखता है—

"अनियतपदार्थवादिनो हि सांख्याः।"

इससे स्पष्ट होता है—महादेव के द्वारा विज्ञानभाष्य की प्रतिलिपि करना तो दूर की बात है। यदि उसने विज्ञानभाष्य को देखा भी होता, तो वह या तो इस वाद को अस्वीकार कर देता, जिसको विज्ञानभिक्षु ने मूर्खों का प्रलाप कहा है। अथवा यदि स्वीकार करता, तो विज्ञान के लेख पर कुछ न कुछ आलोचना अवश्य लिखता। वह जानबूझकर इस बात को कैसे सहन करगया, कि जिस वाद को विज्ञानभिक्षु मूर्खों का प्रलाप कहरहा है, उसीको वह चुपचाप स्वीकार करले। इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि महादेव ने विज्ञानभिक्षु के भाष्य को नही देखा। इसके विपरीत यह कहाजासकता है, कि विज्ञानभिक्षु ने इन वृत्तियों का आधार लेकर अपने भाष्य को विशदरूप में प्रस्तुत किया है। महादेव की वृत्ति को तो उसने अपने भाष्य में सर्वात्मना अन्तर्निविष्ट करलिया है। परन्तु अनेक स्थानों पर सूत्रार्थ करने में अनिरुद्ध का अनुसरण किया है। इसप्रकार 'कालार्कभक्षित' सांख्य को अपने वचनामृतों से पूर्ण करने की प्रतिज्ञा को विज्ञानभिक्षु ने ठीक तरह निभाया है।

(ई) ग्रन्थ की एक और आन्तरिक साक्षी इस बात का प्रमाण है, कि महादेव, विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा पूर्ववर्त्ती व्याख्याकार है। षडध्यायी के ३।६ सूत्र पर विज्ञानभिक्षु लिखता है—

"एकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि बुद्धिश्चेति सप्तदश, अहंकारस्य बुद्धावेवान्तर्भावः।...एतान्येव सप्तदश लिंगं मन्तव्यं, न तु सप्तदश एकं चेत्यष्टादशतया व्याख्येयम्।"

विज्ञानभिक्षु ने अहंकार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके लिंगशरीर के घटक अवयवों की संख्या सत्रह मानी है। सूत्र के 'सप्तदशैकं' पद को 'सप्तदश च एकं च' इस समाहार द्वन्द्व के आधार पर एक पद मानकर, लिंगशरीर के घटक अवयवों की, जिन व्याख्याकारों ने अठारह संख्या मानी है, विज्ञानभिक्षु ने उसका खण्डन किया है। हम देखते हैं—अनिरुद्ध के समान महादेव ने भी सूत्र के 'सप्तदशैकं' पद में समाहार द्वन्द्व मानकर लिंगशरीर के अठारह अवयवों का उल्लेख किया है। महादेव का लेख इसप्रकार है—

"सप्तदश च एकं चेति समाहारद्वन्द्वः। बुद्ध्यहंकारमनांसि पञ्च सूक्ष्मभूतानि दशेन्द्रियाणीति सूक्ष्मं, लिंगमिति चोच्यते।"

---

1. इसी अध्याय का प्रारम्भिक भाग देखें।

इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है–महादेव ने विज्ञानभिक्षु के ग्रन्थ को नहीं देखा। यदि वह विज्ञान का अनुकरण करता, तो उसके समान लिंगशरीर के अवयवों की सत्रह संख्या मानता, जैसा विज्ञानभिक्षु के पश्चाद्वर्त्ती अन्य व्याख्याकारों ने उसका अनुकरण किया है। इसका उल्लेख हमने 'तत्त्वसमास सूत्रों के व्याख्याकार' प्रकरण में किया है। यदि महादेव विज्ञानभिक्षु के मत को स्वीकार न करता, तो अपने से विरुद्ध उसके व्याख्यान के सम्बन्ध में कुछ आलोचना करता, जैसे विज्ञानभिक्षु ने अपने विरुद्ध व्याख्यान की की है। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है, कि विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा महादेव पूर्ववर्त्ती व्याख्याकार है।

प्रकरण का उपसंहार—

अब हम इन व्याख्याकारों का क्रम और समय इसप्रकार निर्दिष्ट कर सकते हैं—

(१) अनिरुद्ध–विक्रम एकादश शतक के मध्य के लगभग,
(२) महादेव–विक्रम त्रयोदश शतक के अन्तिम भाग के लगभग।
(३) विज्ञानभिक्षु–विक्रम चतुर्दश शतक के उत्तरभाग के लगभग।

नागेश आदि व्याख्याकारों के सम्बन्ध में हमने यहाँ कोई उल्लेख नहीं किया, क्योंकि उनके समय आदि का विषय विवादास्पद नहीं है, और षडध्यायी सूत्रों की खीस्ट चतुर्दश शतक के अनन्तर रचना मानने या न मानने पर उसका कोई प्रभाव नहीं है। इसलिये उसका उल्लेख ग्रन्थ के अनावश्यक कलेवर को बढ़ाना होता। अतः समीप के व्याख्याकारों का उल्लेख करने की यहाँ उपेक्षा करदी है।

तत्त्वसमास सूत्रों के व्याख्याकार

षडध्यायी के अतिरिक्त कपिल की एक और रचना तत्त्वसमास सूत्र हैं। इनकी संख्या कमसे कम २२, और अधिक से अधिक २५ है।[१] कहीं-कहीं सत्ताईस सूत्रोंका उल्लेख मिलता है। इन सूत्रों की कई व्याख्या मुद्रित होचुकी हैं। इन

१. संख्या की न्यूनाधिकता का कोई निश्चित कारण नहीं कहाजासकता। किसी व्याख्याकार ने एक सन्दर्भ के विभाग कर अनेक सूत्र बना दिये हैं, तो किसी ने उसे एक ही सूत्र रहने दिया है। कुछ व्याख्याताओं ने ग्रन्थों में अन्तिम सन्दर्भ का व्याख्यान नहीं किया है, इस कारण भी वहां सूत्रसंख्या न्यून होगई है। बालराम उदासीन द्वारा परिशोधित तथा व्याख्यात सांख्यतत्त्व-कौमुदी की भूमिका पृष्ठ २ में सूत्रों की संख्या सत्ताईस बताई गई है।

व्याख्याओं का एक संग्रह खीस्ट १९१८ में चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस से 'सांख्यसंग्रह' नाम से प्रकाशित हुआ था। उसमें निम्नलिखित व्याख्या संगृहीत हैं—

(१) सांख्यतत्त्वविवेचन, श्री षिमानन्द विरचित।
(२) तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, श्री भावा गणेश विरचित।
(३) सर्वोपकारिणी टीका,
(४) सांख्यसूत्रविवरण,
(५) क्रमदीपिका-तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति,[1]

सांख्य पर कुछ स्वतन्त्र निबन्ध—

इन व्याख्याओं के अतिरिक्त ग्रन्त में कुछ स्वतन्त्र निबन्धों को संगृहीत कर मुद्रित करदियागया है। इसप्रकार के निम्नलिखित चार निबन्ध हैं—

(१) सांख्यतत्त्वप्रदीपिका—

मुद्रित पुस्तक में लेखक के नाम का निर्देश करने वाली कोई पुष्पिका नहीं दीगई। परन्तु प्रारम्भ के द्वितीय श्लोक से इसके रचयिता का पता लगता है। श्लोक इसप्रकार है—

"भट्टकेशवसम्भूतसदानन्दात्मजः सुधीः ।
यजुर्वित् केशवः प्राह किञ्चित् सांख्ये यथामति ॥"

इससे ज्ञात होता है–यजुर्वित् केशव ने इस निबन्ध की रचना की, जो सदानन्द का पुत्र और भट्ट केशव का पौत्र था। इसके काल का अभी तक कोई निश्चय नहीं कियाजासका। ग्रन्थकार ने स्वयं इसका कुछ निर्देश नहीं किया है। इसमें संदेह नहीं, यह निबन्ध नवीन प्रतीत होता है। स्पष्ट होता है–यह लेखक, सिद्धान्तमुक्तावली के कर्त्ता विश्वनाथ पञ्चानन से अर्वाचीन है। पञ्चानन का समय खीस्ट सप्तदश शतक का प्रथम अर्द्ध[2] कहाजाता है। अर्थात् १६३० ईसवी सन् के लगभग। यह निबन्ध सांख्य विषय पर एक साधारण रचना है। तत्त्वसमास सूत्रों की व्याख्या इसमें नहीं है, और न इसमें इन सूत्रों के क्रम के अनुसार अर्थ का निरूपण है।

---

१. मुद्रित पुस्तक में इन अन्तिम तीन रचनाओं के रचयिताओं का कोई निर्देश नहीं है।

२. अभ्यंकर सम्पादित सर्वदर्शनसंग्रह, पूना संस्करण की अन्तिम सूचियों के आधार पर।

(२) सांख्यतत्त्वप्रदीप—

इसकी अन्तिम पुष्पिका से प्रतीत होता है–इसका रचयिता कविराज यति हैं, जो परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री वैकुण्ठ यति का शिष्य था। यह रचना भी सांख्य विषय पर एक साधारण निबन्धमात्र है। इसमें न तत्त्वसमास सूत्रों की व्याख्या है, और न अर्थनिर्देश ही सूत्र-क्रम के अनुसार है। रचना के पर्यालोचन से प्रतीत होता है–यह सांख्यतत्त्वकौमुदी के आधार पर संक्षिप्त-सा निबन्ध लिखागया है। रचना अत्यन्त नवीन है, काल का निर्णय नहीं कियाजासका।

इस लेखक ने संग्रह के १५६ पृष्ठ पर **'उक्तञ्च सांख्यमूलकारेण'** यह कह कर **"सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्"** यह सांख्यसप्तति की आठवीं आर्या का प्रारम्भिक भाग उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है–संभवतः यह लेखक सांख्यसप्तति को सांख्य का मूल ग्रन्थ समझता रहा हो। परन्तु इस रचना को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर धारणा एक और दिशा को झुकजाती है। लेखक ने अपनी रचना में सांख्यतत्त्वकौमुदी का अत्यधिक आश्रय लिया है, और एक स्थल पर सांख्यतत्त्वकौमुदी की पंक्तियों को 'सांख्यचार्यों' के नाम पर लिखा है। सांख्यसंग्रह के १६० पृष्ठ पर उसका लेख है—

**"कार्यकारणयोरभेदसाधकं प्रमाणं चोक्तं सांख्याचार्यैः।
तद्यथा-न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यते तद्धर्मत्वात्
इह यद्यतो भिद्यते तत् तस्य धर्मो न भवति यथा गौरश्वस्य,
धर्मश्च पटस्तन्तूनां तस्मान्नार्थान्तरम्।"**

'तद्यथा' के आगे सम्पूर्ण सन्दर्भ सांख्यतत्त्वकौमुदी[1] का है। इससे स्पष्ट है–वह सांख्याचार्य पद से वाचस्पति मिश्र का स्मरण कररहा है। इसप्रकार के प्रयोग से ध्वनित होता है, कि यह लेखक अत्यन्त अर्वाचीन व्यक्ति है। प्रकृत में अभिप्राय है, कि वाचस्पति की कृति को वह सांख्य की व्याख्या और उसका मूल, सांख्यकारिका को समझता है, क्योंकि उसीकी यह व्याख्या है। लेखक ने अपनी रचना में इस व्याख्या का अत्यधिक आश्रय लिया है, इसलिये यह जिस ग्रन्थ की व्याख्या है, उसको उसने मूल पद से उल्लेख किया है। उसके लेख का यह अभिप्राय नहीं निकालाजासकता, कि वह सांख्यकारिकाओं को सांख्य का मूल ग्रन्थ समझता हो। क्योंकि उसने उक्त पंक्ति के आगे लिखा है—

"मतपर्यालोचनेन यन्मतं कपिलसूत्रनिबद्धं प्रधानसाधनानुगुणं तदेव युक्तिसहम्"

इससे स्पष्ट है–वह कपिल के द्वारा सूत्रों की रचना को स्वीकार करता है, और उनमें जिन विचारों या अर्थों का प्रतिपादन कियागया है, उन्हीं अर्थों का

---

१. नवम सांख्यकारिका की तत्त्वकौमुदी में यह पाठ है। पृष्ठ १५७। बालराम उदासीन संस्करण। संवत् १९६९ में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित।

निरूपण कारिका आदि में मानता है। इसलिये उक्त पंक्ति में 'सांख्यमूल' पद से उसका अभिप्राय सांख्यतत्त्वकौमुदी व्याख्या के मूल ग्रन्थ से प्रतीत होता है।

(३) तत्त्वमीमांसा—

इसकी अन्तिम पुष्पिका से ज्ञात होता है—इसके रचयिता का नाम आचार्य कृष्णमित्र है, जो रामसेवक का पुत्र और देवीदत्त का पौत्र था। यह रचना भी सांख्यतत्त्वकौमुदी के आधार पर सांख्यविचारों का प्रतिपादक एक साधारण निबन्धमात्र है। यह कब रचा गया, इसका कुछ निश्चय नहीं, पर यह है—अत्यन्त नवीन।

(४) सांख्यपरिभाषा—

इसका नाममात्र ही 'सांख्यपरिभाषा' है। सांख्यतत्त्वों की परिभाषा इसमें सर्वथा नहीं है। 'अथ गुरुः' 'अथ शिष्यः' 'अथ शुद्धत्यागः' इत्यादि शीर्षक देकर गद्य अथवा पद्य में कुछ रचना कीहुई है। एक स्थल पर 'अथाद्वैतभक्तिः' शीर्षक है, और कुछ गद्य तथा पद्य दिया हुआ है। प्रतिपाद्य विषय से सांख्य का कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। विषय निर्देश असम्बद्ध-सा है। रचयिता का पता नहीं, रचना अत्यन्त नवीन है।

तत्त्वसमाससूत्र-व्याख्या—

इसके अनन्तर तत्त्वसमास सूत्रों की उन पांच व्याख्याओं का विवेचन प्रस्तुत है, जिनका उल्लेख अभी ऊपर कियागया। मुद्रित क्रम के अनुसार विवेचन का क्रम रक्खा है। रचनाकाल के अनुसार इनका क्रम, इस विवेचन के अनन्तर स्फुट होसकेगा।

(१) सांख्यतत्त्वविवेचन—

इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोक से इसके रचयिता का नाम श्री षिमानन्द[1] निश्चित है। इसके पिता का नाम रघुनन्दन था, और निवासस्थान का नाम

---

१. सांख्यसंग्रह ग्रन्थ के सम्पादक श्री विन्ध्येश्वरीप्रसाद ने टिप्पणी में लिखा है कदाचित् यह नाम 'क्षेमेन्द्र' होगा, सम्भवतः 'षिमानन्द' मातापिता के लाड़-प्यार का नाम हो, और सर्वत्र वही प्रसिद्ध होने के कारण यहां भी उसीका उल्लेख कियागया हो। इसी व्यक्ति की एक और रचना 'नवन्यायरत्नाकर' अथवा 'नवकल्लोल' (पंजाब यूनिवर्सिटी लाईब्रेरी, लाहौर) नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है। वहां भी इसका नाम षिमानन्द और पिता का नाम रघुनन्दन दीक्षित लिखा है। [खेद है, लाहौर के पाकिस्तान में चले जाने से यह ग्रन्थ वहीं रहगया। इस ग्रन्थ को हमने स्वयं वहाँ देखा है]

इष्टिकापुर[1] अथवा इष्टकापुर।

इस ग्रन्थ के दो विभाग कियेजासकते हैं, एक में सूत्रों का व्याख्यान है, और दूसरा निबन्धात्मक है, जिसमें स्वतन्त्ररूप से सांख्यमत का निरूपण किया गया है।

प्रथम भाग में जितने सूत्रों की व्याख्या कीगई है, उनकी संख्या बाईस है। मुद्रित पुस्तक में तीन सूत्र मोटे टाईप में और छापे हुए हैं। उनपर व्याख्या नहीं है। परन्तु व्याख्याकार ने प्रारम्भिक चतुर्थ श्लोक में पच्चीस[2] सूत्र होने का निर्देश किया है। कई व्याख्याओं में इसके सप्तम सूत्र को तीन सूत्रों में विभक्त करके लिखा है।

इस ग्रन्थ में प्रथम सूत्र के व्याख्यान का प्रारम्भिक अधिक भाग, भावा गणेश की व्याख्या 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' के आधार पर लिखागया प्रतीत होता है। इतने भाग में गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण है। इसके अनन्तर प्रथम सूत्र का शेष व्याख्यान और आगे के सम्पूर्ण सूत्रों का व्याख्यान पद्य में उपनिबद्ध किया गया है। केवल १३वें पृष्ठ पर एक जगह चार पंक्ति गद्यरूप हैं। यह सम्पूर्ण भाग, क्रमदीपिका नामक तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति का अक्षरशः श्लोकानुवाद है। इस-प्रकार इस ग्रन्थ का यह प्रथम सूत्रव्याख्यात्मक भाग अन्य पूर्ववर्ती दो ग्रन्थों के आधार पर लिखागया ज्ञात होता है।

षिमानन्द का काल—

तत्त्वयाथार्थ्यदीपन का रचयिता भावा गणेश, षिमानन्द से पूर्ववर्त्ती आचार्य है। इसके लिये एक प्रमाण षिमानन्द के ग्रन्थ से उपस्थित कियाजाता है।

सांख्यसिद्धान्त में सूक्ष्मशरीर अठारह तत्त्वों का संघात मानागया है। तेरह करण और पाँच सूक्ष्मभूत। सांख्यकारिका के सब व्याख्याकारों[3] ने इस सिद्धान्त

---

१. संभवतः यह स्थान संयुक्तप्रदेश [अभी एक सप्ताह से उत्तरप्रदेश] का आजकल प्रसिद्ध 'इटावा' नामक नगर होगा।

२. "एवं पृष्टो मुनिः प्राह निर्विण्णाय कृपानिधिः। पञ्चविंशतिसूत्राणि व्याख्यातानि महात्मभिः॥"

३. माठरवृत्ति, कारिका ४०। और कारिका ५२ की अवतरणिका। गौडपाद भाष्य, कारिका ४२। सुवर्णसप्तति, कारिका, ४०, ४१, ४२। जयमंगला, कारिका, ४०। सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका ४०।

सुवर्णसप्तति के विद्वान् सम्पादक न० अय्यास्वामी शास्त्री ने इसी पुस्तक की भूमिका के ४० पृष्ठ पर यह लिखा है, कि सुवर्णसप्तति में सूक्ष्मशरीर के सात अवयव माने हैं, और सम्भवतः गौडपाद भाष्य में आठ। यह इन दोनों व्याख्याओं में एक पर्याप्त समानता प्रतीत होती है,

जबकि अन्य व्याख्याओं में स्पष्ट अठारह अवयवों का उल्लेख है, और ईश्वरकृष्ण की कारिका भी इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं करती। भूमिका लेखक के विचार में सुवर्णसप्तति के उक्त लेख का आधार कोई षष्टितन्त्र जैसा प्राचीन ग्रन्थ होगा, जबकि सूक्ष्मशरीर के अवयवों के सम्बन्ध में विद्वानों का अनिश्चयात्मक ज्ञान रहा होगा।

श्री शास्त्री महोदय के इस लेख के संबन्ध में निवेदन है—ईश्वरकृष्ण ने ४०वीं कारिका में सूक्ष्मशरीर के अवयवों का स्पष्ट निर्देश किया है। उसके पद हैं—'महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्'। महत् से लेकर सूक्ष्मपर्यन्त लिंगशरीर होता है। कारिकाओं में निर्दिष्ट, तत्त्वों के उत्पत्तिक्रम के अनुसार गणना करने पर 'महत्' से लेकर 'सूक्ष्मभूत' पर्यन्त १८ तत्त्व होजाते हैं। फिर कारिकाकार के संबन्ध में यह सन्देह कैसे कियाजासकता है, कि उसने इसके लिये कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया।

सुवर्णसप्तति और गौडपाद की व्याख्या में भी इस अर्थ का स्पष्ट उल्लेख है। प्रतीत होता है, ४०वीं कारिका की प्रारम्भिक पंक्तियों में सुवर्ण-सप्तति के एक लेख से संभवतः शास्त्री महोदय को ऐसा भ्रम होगया हो। वहां पर **'एतानि सप्त सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते'** ऐसा लिखा है। यहां सात, बुद्धि अहंकार और पांच तन्मात्र हैं। एकादश इन्द्रियों का निर्देश नहीं है। हमारा निवेदन है—यदि सूक्ष्मशरीर के साथ एकादश इन्द्रियों का निर्देश यह व्याख्याकार कहीं भी न करता, तो कहाजासकता था, कि वह केवल इन सात तत्त्वों को सूक्ष्मशरीर का अङ्ग मानता है। परन्तु व्याख्याकार ने कुछ पंक्तियों के बाद ही इस अर्थ को स्पष्ट करदिया है। वह लिखता है—

"तत्सूक्ष्मशरीरमेकादशेन्द्रियसंयुक्तं···त्रीन् लोकान् संसरति"।

इससे व्याख्याकार का अभिमत स्पष्ट होजाता है, वह सूक्ष्मशरीर में अष्टादश तत्त्वों को मानता है। कदाचित् कोई कहसकता है, कि यहाँ व्याख्याकार ने केवल सूक्ष्मशरीर के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध बताया है, सूक्ष्मशरीरमें उनका समावेश नहीं। इन्द्रियां पृथक् हैं, और सात तत्त्वों का शरीर पृथक्। उक्त पंक्ति में उन दो के केवल सम्बन्ध का निर्देश है। परन्तु यह कहना संगत न होगा। क्योंकि व्याख्याकार यदि सर्वत्र सूक्ष्मशरीर में इन सात तत्त्वों का उल्लेख करता, तब ऐसा कहना उचित होता। परन्तु व्याख्याकार ने प्रकारान्तर से भी इस अर्थ का निर्देश किया है। वस्तुतः सूक्ष्मशरीर के सम्बन्ध में यह विवेचन समझे रहना चाहिये, कि इन अठारह तत्त्वों में से पांच सूक्ष्मभूत आश्रयरूप होते हैं, और तेरह करण आश्रित।

इन सबका मिलित समुदाय सूक्ष्मशरीर या लिंगशरीर कहलाता है। इसी आधार को लेकर अनेक स्थलों पर सुवर्णसप्तति व्याख्याकार ने लिंगशरीर के तत्त्वों का निर्देश किया है।

१०वीं आर्या की व्याख्या में चीनी अनुवाद का एक पाठ इसप्रकार है—

"......त्रयोदशविधकरणैः सूक्ष्मशरीरं संसारयति।"

४१वीं कारिका की व्याख्या में वह लिखता है—

"तस्मात् सूक्ष्मशरीरं विहाय, त्रयोदशकं न स्थातुं क्षमते"

पुनः ४२ कारिका की अवतरणिका में लिखता है—

"इदं सूक्ष्मशरीरं त्रयोदशकेन सह......संसरति।"

फिर ४२ वीं कारिका की व्याख्या में लिखता है—

"सूक्ष्मशरीरमप्येवं त्रयोदशकेन संयुक्तं......अश्वाद्यात्मना परिणमते।"

पुनः ६२वीं कारिका की व्याख्या में उल्लेख है—

"पञ्चतन्मात्ररूपसूक्ष्मशरीरं त्रयोदशविधकरणैर्युक्तं...त्रिविधलोकसर्गान् संसरति।

इन लेखों से स्पष्ट है—यदि व्याख्याकार सूक्ष्मशरीर में केवल सात तत्त्वों को मानता, तो उसका यह—एकादश इन्द्रियों के साथ बुद्धि और अहंकार को जोड़कर त्रयोदश करण का सूक्ष्मशरीर के साथ निर्देश करना सर्वथा असंगत होजाता। इसलिये यही कहाजासकता है, किसी अर्थ विशेष को स्पष्ट करने के लिये यह केवल अर्थ-निर्देश के विविध प्रकार हैं।

जहाँ केवल सात का निर्देश कियागया है, वहाँ आदि और अन्त के तत्त्वों का निर्देश है, मध्यवर्त्ती तत्त्वों का उससे प्रतिषेध नहीं होजाता, जब कि अन्य स्थलों पर उन सब का निर्देश कियागया है।

इसके सम्बन्ध में यह भी कल्पना कीजासकती है, कि संभवतः यहाँ कुछ पाठ खण्डित होगया हो। इस समय जो पाठ उपलब्ध है, उसके 'सप्त' और 'सूक्ष्म' इन दो पदों के मध्य में कदाचित् **'इन्द्रियाणि चैकादश'** इतना पाठ और हो। क्योंकि इसी कारिकाव्याख्या की अगली पंक्ति के आधार पर, जिसका हमने अभी ऊपर उल्लेख किया है, इस तरह के पाठ की यहाँ संभावना होसकती है। इसके अतिरिक्त कम से कम इन उपर्युक्त लेखों के रहते इतना तो अवश्य कहाजासकता है, कि सूक्ष्मशरीर सम्बन्धी ये लेख किसी ऐसी अवस्था के बोधक नहीं होसकते, जबकि इसके सम्बन्ध में विद्वानों का अनिश्चयात्मक ज्ञान था। षष्टितन्त्र के काल में इसका अनिश्चयात्मक ज्ञान था, इसके लिये कोई आधार नहीं है।

को समानरूप से स्वीकार किया है। सांख्यकारिका की चालीसवीं आर्या[1] में ईश्वरकृष्ण ने इसी विचार को माना है। सांख्यषडध्यायी में सूत्र है—'सप्तदशैकं लिङ्गम्' [३।६] इसका अर्थ भी अनिरुद्ध व्याख्याकार ने सप्तदश-सत्रह और एक अर्थात् अठारह किया है। उपर्युक्त १८ तत्त्वों से लिंगशरीर की रचना स्वीकार की है। सांख्यषडध्यायी के उपलभ्यमान व्याख्यानों में अनिरुद्ध का व्याख्यान सबसे प्राचीन है। उसके अनन्तर होनेवाले महादेव ने भी उक्त सूत्र का यही अर्थ किया है।

सर्वप्रथम विज्ञानभिक्षु ऐसा व्यक्ति है, जिसने सूक्ष्मशरीर में सत्रह तत्त्वों का समावेश माना। अथवा यह कहाजासकता है, कि षडध्यायी के उक्त सूत्र [३।६] का उसने ऐसा अर्थ किया है, और बुद्धि अहंकार को एक गिन कर सूक्ष्मशरीर में सत्रह तत्त्वों का समावेश माना है। पर वस्तुतः उन तत्त्वों के अठारह रहने पर भी, दो को एक जगह गिनकर उनकी संख्या सत्रह मानी है। विज्ञानभिक्षु से पूर्व किसी अन्य आचार्य का ऐसा लेख हमें अभी तक नहीं मिला। अर्थात् लिंगशरीर के अवयवों की सत्रह संख्या सम्बन्धी विचारधारा का उद्भावन

गौडपाद भाष्य में भी सूक्ष्मशरीर के अठारह तत्त्वों का उल्लेख है। ४२वीं कारिका की व्याख्या में वह लिखता है—

"लिंगं सूक्ष्मैः परमाणुभिस्तन्मात्रैरुपचितं शरीरं त्रयोदशविधकरणोपेतं मानुषदेवतिर्यग्योनिषु व्यवतिष्ठते।"

यहाँ स्पष्ट सूक्ष्मशरीर के अठारह तत्त्वों का निर्देश है। ४० कारिका की व्याख्या में आदि अन्त के तत्त्वों का उल्लेख किया है, इससे मध्यगत इन्द्रियों का निषेध नहीं होजाता, अन्यथा मूल कारिका के पदों की व्याख्या का सामञ्जस्य न होसकेगा। मूल कारिका के पदों से स्पष्ट है—सूक्ष्मशरीर में अठारह तत्त्व होते हैं। सूक्ष्मशरीर में सात या आठ ही तत्त्वों का होना, कारिका के किन पदों का अर्थ मानाजासकता है? वस्तुतः ऐसा अर्थ किये जाने पर, मूल से व्याख्या का निश्चित ही विरोध होगा। ऐसी स्थिति में सहस्रों वर्ष पुराने, किन्हीं खण्डित विपर्यस्त या उपेक्षित पाठों के आधार पर निश्चित सिद्धान्तों में सन्देह की उद्भावना उस समय तक रुचिकर नहीं होसकती, जब तक उनका सूक्ष्म पर्यालोचन न करलियाजाय। ऐसी भावना पल्लवग्राहि-पाण्डित्य के धनी पाश्चात्य लेखकों की दासता का ही द्योतन कराती है।

१. ईश्वरकृष्ण की मूल कारिका के सम्बन्ध में हमने उक्त टिप्पणी में निर्देश कर दिया है। श्री शास्त्री महोदय ने इस बात को स्वीकार किया है, कि २२, २४, २५, ३६ कारिकाओं को मिलाकर देखने से यह अर्थ स्पष्ट होता है।

करने वाला सर्वप्रथम आचार्य विज्ञानभिक्षु प्रतीत होता है। इसीके अनुसार षिमानन्द ने अपने ग्रन्थ के निबन्धात्मक द्वितीय भाग में पृष्ठ ३९ पर इस मत को स्वीकार किया है। संभवतः उसने विज्ञानभिक्षु के लेख के आधार पर अपना यह मत प्रकट किया हो, और इस सम्बन्ध में अन्य प्राचीन व्याख्याकारों या लेखकों के विचार की उपेक्षा करदी हो। षिमानन्द अवश्य विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अर्वाचीन है। और उसके लेख में श्रद्धा रखता प्रतीत होता है। भावा गणेश, विज्ञानभिक्षु का प्रसिद्ध शिष्य था, इसलिये उसका अनन्तरवर्त्ती समकालिक भी था। ऐसी स्थिति में भावा गणेश के ग्रन्थ का अपने ग्रन्थ में आश्रय लेना षिमानन्द के लिये स्वाभाविक है।

क्रमदीपिका व्याख्या, जिसका षिमानन्द ने अक्षरशः श्लोकानुवाद किया है, वह भावा गणेश से प्राचीन है। इसका निर्देश 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' के प्रसंग में कियाजायगा। इसलिये यह कल्पना नहीं कीजासकती, कि क्रमदीपिका, षिमानन्द के ग्रन्थ के आधार पर लिखीगई। अतएव यह अनुमान संगत होसकता है, कि सांख्यतत्त्वविवेचन अपने पूर्ववर्त्ती अन्य दो ग्रन्थों के आधार पर लिखागया है।

षिमानन्द के एक और ग्रन्थ का इस प्रसंग के प्रारम्भ की टिप्पणी में उल्लेख कियाजाचुका है। इसका नाम 'नवन्यायरत्नाकर' अथवा 'नवकल्लोल' है। इसका निश्चय नहीं करसके, कि अभी तक यह ग्रन्थ कहीं प्रकाशित हुआ या नहीं ? परन्तु इसकी एक हस्तलिखित प्रति, पञ्चनद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में संख्या ६५६१ पर सुरक्षित है। उसके प्रारम्भिक श्लोक और अन्तिम पुष्पिका के आधार पर इस बात का निश्चय होजाता है, कि सांख्यतत्त्वविवेचन और इस ग्रन्थ का रचयिता षिमानन्द एक ही व्यक्ति है। प्रारम्भिक चतुर्थ पञ्चम श्लोक इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। श्लोक हैं—

"चिकीर्षति षिमानन्दः सरसं हृदयंगमम्।
ग्रन्थं संभाविसुधियां न्यायरत्नाकरं नवम्॥
येन न्यायसुधाम्भोजमपूरि श्रवणे मम।
शान्तावत्तमसं चांतः ? संतं दिनकरं स्तुमः॥"

ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका इसप्रकार है—

"इति श्री कान्यकुब्जतिलक इष्टकापुरनिवासिदीक्षितरघुनन्दनसुतषिमानन्दकृते नवन्यायरत्नाकरे गौतमसूत्रव्याख्यानरूपो नवकल्लोलः समाप्ति समाप्तः॥ संवत् १७४८॥ ॥श्री भवाणीशहायः॥"

नवन्यायरत्नाकर के इन उल्लेखों से दो बातों का और अधिक पता लग जाता है।

(१) पञ्चम श्लोक में षिमानन्द ने अपने गुरु दिनकर का नाम-निर्देश किया है। दिनकर, षिमानन्द का न्यायशास्त्र का गुरु प्रतीत होता है।

(२) इस प्रति का, संवत् १७४८ में लिखाजाना।

यदि षिमानन्द के गुरु दिनकर को, मुक्तावली का व्याख्याकार दिनकर मिश्र समझाजाय, तो इनका कालसम्बन्धी विवेचन अधिक स्पष्ट होजाता है सर्व-दर्शनसंग्रह की अन्तिम सूचियों में अभ्यंकर महोदय ने दिनकर का समय ख्रीस्ट १६६० लिखा है। परंतु इस प्रतिलिपि का संवत् १७४८ है, जो १६६१ ख्रीस्ट में आता है। इस प्रतिलिपि के अन्तिम 'श्री भवाणीशहाय:' पदों से यह बात प्रतीत होती है—यह प्रति ग्रन्थकार की स्वयं लिखी हुई नहीं है। प्रत्युत किसी अन्य व्यक्ति ने, किसी पहली प्रति के आधार पर प्रतिलिपि की है। उस प्रति-लिपिकार ने संवत् और इन अन्तिम पदों का उल्लेख किया है। षिमानन्द स्वयं इस तरह के अशुद्ध पदों का प्रयोग नहीं करसकता था। संवत् का निर्देश यदि वह स्वयं करता, तो उसे श्लोकबद्ध कर सकता था, जैसाकि लेखक की इच्छा होने पर श्लोकरूप में अपना संवत् लिख देने की प्रथा रही है। इसप्रकार से पृथक् संवत् लिखने की प्रथा, ग्रन्थ रचयिताओं में नहीं पाई जाती। अभिप्राय है—यह संवत् प्रतिलिपि का है, षिमानन्द की रचना का नहीं। ऐसी स्थिति में षिमानन्द का काल अवश्य इससे कुछ पूर्व मानाजाना चाहिये। इसलिये ख्रीस्ट सप्तदश शतक के पूर्वार्द्ध में उसका विद्यमान होना सामञ्जस्यपूर्ण होसकता है, और वही काल दिनकर का भी मानाजासकता है। तात्पर्य है—ख्रीस्ट सप्तदश शतक के पूर्वार्द्ध के अनन्तर षिमानन्द का काल नहीं मानाजाना चाहिये।

इसके अतिरिक्त 'नवन्यायरत्नाकार' के प्रारम्भिक तृतीय श्लोक के आधार पर एक उद्योतचन्द्र नामक राजा का निर्देश मिलता है। जो सम्भवत: षिमानन्द का आश्रयदाता होगा। अथवा षिमानन्द उसकी राज्य-सीमा में निवास करता होगा। षिमानन्द ने सपरिवार उसकी रक्षा के लिये भगवान् से प्रार्थना की है। श्लोक इसप्रकार है—

आनन्दः सच्चिदात्माद्वय इति निगमैर्लक्षितो योगिनां च,
ध्येयः कर्त्रांस्य[1] भर्त्राप्ययमपि विदधन्मूर्तिभेदैरनन्तः।
अव्यक्तो व्यक्तरूपो गणितबहुगुणोऽचिन्त्यशक्तिर्नियन्ता,
रामः पायादपायात् परिवृतिसहितोद्योतचन्द्रं धरेशम्॥

यह राजा उद्योतचन्द्र किस भूभाग का किस काल में शासन कररहा था, इन सब बातों का अभी निर्णय करना हमारे लिये कठिन है।

षिमानन्द की रचना के काल का निर्देश करने के लिये जो साधन उपलब्ध होसके हैं, उनका उल्लेख करदियागया है। इसप्रकार उपर्युक्त आधारों पर

---

१. हस्तलिखित प्रति में पाठ यही पढ़ा गया है। परन्तु इसकी अर्थसंगति ठीक नहीं होती। कदाचित् वहाँ 'कर्त्तास्य भर्त्ताप्ययमपि' यह पाठ होना चाहिये।

केवल इतना कहाजासकता है, कि षिमानन्द का काल खीस्ट सप्तदश शतक के प्रारम्भिक भाग के आस-पास सम्भव है। विज्ञानभिक्षु के पूर्व-निर्दिष्ट काल के अनुसार भावा गणेश का समय खीस्ट चतुर्दश शतक का अन्त होसकता है। उसके अनन्तर ही षिमानन्द का काल अनुमान कियाजाना चाहिये।

तत्त्वसमास सूत्रों पर भावा गणेश की व्याख्या—

२. तत्त्वयाथार्थ्यदीपन

इस ग्रन्थ का रचयिता विज्ञानभिक्षु का शिष्य भावा गणेश है, यह इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोकों से स्पष्ट है। तीसरे श्लोक के आधार पर ज्ञात होता है– भावा गणेश ने इस व्याख्या के लिखने में, तत्त्वसमास सूत्रों की पञ्चशिखकृत व्याख्या का आश्रय लिया[1] है, और भिन्न-भिन्न स्थलों पर पञ्चशिख का नाम लेकर चार श्लोक उद्धृत किये हैं।

भावा गणेश की व्याख्या का आधार—

अभी तक तत्त्वसमास सूत्रों पर पञ्चशिख के नाम की कोई व्याख्या उपलब्ध नहीं हुई। परन्तु इस भावना से–कि भावा गणेश ने अपनी व्याख्या के लिखने में किसी प्राचीन व्याख्या का आश्रय लिया है–सांख्यसंग्रह में मुद्रित तत्त्वसमास सूत्रों की पाँचों व्याख्याओं की परस्पर तुलना करके गंभीरतापूर्वक देखने पर एक यह विचार उपस्थित होता है, कि भावागणेश ने अपनी व्याख्या के लिखने में जिस प्राचीन व्याख्या का आश्रय लिया, वह संभवतः 'क्रमदीपिका' नाम की व्याख्या है, जो उक्त संग्रह में संख्या पाँच पर मुद्रित है। यहाँ इसके रचयिता के नाम का कोई निर्देश नहीं मिलता। निश्चयपूर्वक कहाजासकता है, कि यह व्याख्या कपिल के प्रशिष्य पञ्चशिख की रचना नहीं होसकती, क्योंकि इसमें कुछ कारिकाओं के निर्देश[2] मिलते हैं। एक स्थल ('पुरुषः' इस सूत्र) पर स्वयं व्याख्याकार, पञ्चशिख का सांख्याचार्यों में इसप्रकार नाम उल्लेख करता है—

> "एवं तावत् सांख्याचार्याः कपिलासुरिपञ्चशिखपतञ्जलिप्रभृतयो बहून् पुरुषान् वर्णयन्ति।"

पञ्चशिख स्वयं यह उल्लेख कैसे करता ? फिर भी यह निःसन्दिग्ध है, कि यह पर्याप्त प्राचीन व्याख्या है। संभव है–इसी व्याख्या के आधार पर भावा गणेश ने अपनी रचना की हो।

---

१. समाससूत्राण्यालम्ब्य व्याख्यां पञ्चशिखस्य च।
भावा गणेशः कुरुते तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम् ॥३॥

२. देखिये, 'दश मूलिकार्थाः' इस सूत्र की व्याख्या।

यद्यपि भावा गणेश अपनी रचना में यह लिखता है, कि उसने अपनी कृति में पञ्चशिख की व्याख्या का आश्रय लिया है, और हम यह कहरहे हैं, कि उसकी व्याख्या का आधार 'क्रमदीपिका' पञ्चशिख की रचना नहीं होसकती। इस विरुद्ध स्थिति में प्रतीत यह होता है, कि आज की तरह भावा गणेश के समय में भी क्रमदीपिका के रचयिता का नाम अज्ञात था। परन्तु इस परम्परा के आधार पर, कि पञ्चशिख सांख्य का व्याख्याता है, तथा इस व्याख्या की प्राचीनता को देखकर, उसने सम्भवतः इसको पञ्चशिख की कृति समझा हो। इन दोनों व्याख्याओं की परस्पर तुलना से यह निश्चित होजाता है, कि 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' का आधार 'क्रमदीपिका' अधिक सम्भव है।

तत्त्वयाथार्थ्यदीपन और क्रमदीपिका की परस्पर समानता—

यह धारणा उस समय और भी पुष्ट होजाती है, जब तत्त्वयाथार्थ्यदीपन में पञ्चशिख के नाम से उद्धृत श्लोकों के प्रसंग की क्रमदीपिका से तुलना करते हैं। सर्वथा वही प्रकरण और वही अर्थ। पहला उद्धरण भावा गणेश ने इसप्रकार दिया है–[सांख्यसंग्रह, पृष्ठ ९१]

"तथा चोक्तं पञ्चशिखेन प्रमाणवाक्यम्—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे स्थितः।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः[1] ॥"

क्रमदीपिका में यह श्लोक जहाँ उल्लिखित है, उसके पूर्वापर प्रसंग के साथ भावा गणेश व्याख्या की सर्वथा समानता है। क्रमदीपिका में इसके उद्धरण के कोई चिह्न नहीं दियेगये। जिससे यह स्पष्ट सम्भावना होती है, कि कदाचित् यह रचना मूलरूप से क्रमदीपिकाकार की हो। यद्यपि इस श्लोक को सांख्यकारिका के प्रायः सब प्राचीन व्याख्याकारों ने अपनी व्याख्याओं[2] में उद्धृत किया है। परन्तु इसके मूल लेखक का नाम नहीं दिया। यदि इस बात को ठीक समझाजाय, कि इसका मूल लेखक क्रमदीपिकाकार है, तब इस व्याख्या की रचना का काल अतिप्राचीन होजाता है, अर्थात् माठर से भी प्राचीन, पर ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं के पश्चात्।

---

१. अलबेरूनी ने अपने यात्रावर्णन में इस श्लोक को पराशरपुत्र व्यास का लिखा है। देखिये, 'अलबेरूनी का भारत' हिन्दी संस्करण, पृ० ५४-५५ और १३२।

२. माठरवृत्ति, कारिका २२॥ गौडपादभाष्य, कारिका २७॥ सुवर्णसप्तति-शास्त्र, कारिका २, ३७॥ जयमंगला, कारिका १। इन सब स्थलों में उद्धरण चिह्न उपलब्ध होते हैं।

इसके आगे भावा गणेश अपनी व्याख्या में पञ्चशिख के नाम पर एक और श्लोक उद्धृत करता है। वह लिखता है—

"सर्वतत्त्वानां ज्ञानफलं चोक्तं पञ्चशिखधृतवाक्येन—
तत्त्वानि यो वेदयते यथावद् गुणस्वरूपाण्यधिदैवतं च।
विमुक्तपाप्मा गतदोषसङ्घो गुणांस्तु भुंक्ते न गुणैः स भुज्यते॥"
[सांख्यसंग्रह पृ० ७२]

यद्यपि यह श्लोक तत्त्वसमाससूत्रों की अन्य[1] व्याख्याओं में भी उपलब्ध होता है, उनमें कुछ थोड़ा-सा पाठभेद है; परन्तु 'तत्त्वानि' पद के स्थान पर अन्य व्याख्यानों में जो पाठ है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। सांख्यतत्त्वविवेचन और सांख्यसूत्रविवरण दोनों व्याख्यानों में 'चत्वारि' पाठ है। पिछली व्याख्या में इसी पद का अर्थ किया हुआ है। परन्तु भावा गणेश ने 'तत्त्वानि' पाठ मान कर इस पद की विशेष व्याख्या की है। भावा गणेश का यह पाठ, क्रमदीपिका के पाठ से सर्वथा समानता रखता है, और पूर्वापर प्रसंग भी सर्वथा एक है। इससे यही धारणा होती है, कि भावा गणेश की व्याख्या का आधार कदाचित् यही व्याख्या हो।

आगे चल कर भावा गणेश, पञ्चशिख के नाम पर दो श्लोक और उद्धृत करता है। वह लिखता है–[सांख्यसंग्रह पृ० ८१, ८२]

"उक्तं च पञ्चशिखाचार्यैः—
प्राकृतेन तु बन्धेन तथा वैकारिकेण च।
दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्त्तते॥ इति॥
मोक्षत्रैविध्यं चोक्तम्—
आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृच्छ्रक्षयात् तृतीयन्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्[2]॥"

ठीक इसी प्रसंग में ये दोनों श्लोक क्रमदीपिका में विद्यमान हैं, कुछ साधारण पाठभेद[3] अवश्य है। इनके अतिरिक्त क्रमदीपिका की रचना-शैली कुछ प्राचीन प्रतीत होती है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्यषडध्यायी के १। १२७ सूत्र की व्याख्या

---

१. सांख्यतत्त्वविवेचन षिमानन्दकृत। सांख्यसंग्रह, पृ० १६। सांख्यसूत्रविवरण। सांख्यसंग्रह, पृ० १०८।
२. विज्ञानभिक्षु ने इस श्लोक को, योगवार्त्तिक [२। १८ सूत्र की व्याख्या] में पञ्चशिखवाक्य लिखा है, तथा १। २४ की व्याख्या में 'पञ्चशिख-धृतवाक्य'।
३. प्रथम श्लोक का चतुर्थ चरण क्रमदीपिका में 'बन्धोऽयं च निगद्यते' है। और द्वितीय श्लोक के तृतीय चरण में क्रमदीपिका का पाठ 'कृच्छ्रक्षयात्' के स्थान पर 'कृत्स्नक्षयात्' है।

में पञ्चशिखाचार्य के नाम से जिस सन्दर्भ का उल्लेख किया है, उससे सर्वथा मिलता-जुलता सन्दर्भ तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति में (सांख्यसंग्रह के) १२७ पृष्ठ पर उपलब्ध होता है। वृत्ति में कोई ऐसा चिह्न नहीं है, जिससे इस सन्दर्भ का यहाँ उद्धृत होना निश्चय कियाजासके। इससे यह सम्भावना कीजासकनी है, कि भावा गणेश ने कदाचित् इसीका आश्रय लिया हो।

दोनों का प्राचीन एक स्रोत ही, समानता का कारण—

इन समानताओं के होते हुए उक्त सम्भावना सर्वथा युक्तियुक्त एवं मान्य नहीं कहीजासकती। हम भावा गणेश के लेख को—कि उसने अपनी रचना में पञ्चशिख की व्याख्या का अवलम्ब लिया है—भ्रम के आधार पर नहीं कह सकते। इस बात के लिये हमारे पास कोई प्रबल प्रमाण नहीं है, कि एक ऐसी व्याख्या को, जो पञ्चशिख की नहीं है, भावा गणेश ने केवल कर्त्ता का नाम अज्ञात होने के कारण पञ्चशिख की समझ लिया हो। एक और बात है, अन्तिम दो श्लोक जो पञ्चशिख के नाम पर भावा गणेश ने उद्धृत किये हैं, क्रमदीपिका में भी वे उद्धरण के रूप में उल्लिखित हैं। इसलिये क्रमदीपिकाकार की वह अपनी रचना नहीं है। ऐसी स्थिति में वह इस व्याख्या को पञ्चशिख की कैसे समझता, जबकि वह इन श्लोकों को साक्षात् पञ्चशिख के नाम पर उद्धृत कर रहा है। इसलिये यहाँ अधिक युक्तियुक्त दो अनुमान कियेजासकते हैं, (१) इन दोनों व्याख्याकारों ने पञ्चशिख की किसी प्राचीन व्याख्या का अनुकरण किया है, अथवा (२) पञ्चशिख की व्याख्या का क्रमदीपिकाकार ने तथा क्रमदीपिका का भावा गणेश ने अनुकरण किया है, और इसीलिये इन दोनों में इतनी उल्लेखयोग्य समानता आगई है। दूसरे अनुमान में, यह अवश्य है, कि भावा गणेश ने क्रमदीपिका को, परम्पराद्वारा पञ्चशिख के आधार पर बनी हुई समझकर, अपनी व्याख्या का आधार, पञ्चशिख व्याख्या को लिखदिया है। क्रमदीपिका का कर्त्ता अज्ञात होने से, अपने ग्रन्थ की प्रामाणिकता को सन्देहरहित बनाने के लिये सम्भवत: उसने ऐसा किया हो। क्रमदीपिका की लेखशैली को देखते हुए यह सम्भावना कीजासकती है, कि उसके रचयिता ने पञ्चशिख व्याख्या का अत्यधिक अनुकरण किया है, जिससे उसकी रचना में प्राचीनता की झलक बनी रही है।

इस सब विवेचन से यह स्पष्ट होजाता है, कि तत्त्वसमास सूत्रों पर पञ्चशिख की कोई प्राचीन व्याख्या अवश्य रही होगी, जो निश्चित ही इन सूत्रों की सबसे प्राचीन व्याख्या थी। उस व्याख्या के आकार प्रकार का कुछ अनुमान, क्रमदीपिका और तत्त्वयाथार्थ्यदीपन के आधार पर कियाजासकता है। पञ्चशिख के कुछ श्लोकों का भी हमें इससे निश्चित ज्ञान होजाता है। सम्भव

है, क्रमदीपिका और तत्त्वयाथार्थ्यदीपन में पञ्चशिख के कुछ और भी श्लोक हों, जिनके साथ उसका नाम नहीं लिखा गया। पञ्चशिखव्याख्या के प्रसंग में कुछ ऐसे श्लोकों को संगृहीत करने का यत्न कियाजायगा। भावा गणेश के काल का निर्धारण पहले कियाजाचुका है।

(३) सर्वोपकारिणी टीका—

मुद्रित पुस्तक में इस टीका के रचयिता का नाम निर्दिष्ट नहीं है। इस विषय पर प्रकाश डालने के लिये और भी कोई साधन उपलब्ध नहीं होसके। इसकी शैली और अर्थों में बड़ी विशेषता है। "अध्यात्मम्, अधिभूतम्, अधिदैवम्" इन सूत्रों के अर्थ, इसमें अन्य सब व्याख्याओं से भिन्न कियेगये हैं।

सर्वोपकारिणी टीका में इन सूत्रों पर तीन प्रकार के दुःखों का विवेचन किया है, जबकि अन्य सब व्याख्यानों में अध्यात्म आदि का विश्लेषण अन्यथा उपलब्ध होता है। सर्वोपकारिणी में तीन दुःखों का यहीं विवेचन करके अन्त में 'त्रिविधं दुःखम्' इस सूत्र का उल्लेख नहीं पायाजाता, जबकि अन्य सब व्याख्याओं में यह सूत्र पृथक् व्याख्यात है।

इसके अतिरिक्त ९-१२ सूत्रों का अर्थ सर्वोपकारिणी में बहुत आकर्षक है। अन्य सब व्याख्यानों में इन सूत्रों का समान अर्थ किया है, परन्तु सर्वोपकारिणी के अर्थ में[1] नवीनता और विशेष हृदयग्राहिता है। इन विशेष अर्थों के आधार पर हमारा विचार है–यह व्याख्या अन्य व्याख्याओं की अपेक्षा नहीं करती। इसमें कोई सन्देह नहीं–इसका रचयिता अवश्य प्रतिभाशाली और स्वतन्त्र विचारों का विद्वान् था।

इसके अतिरिक्त एक बात और है, 'सांख्यसूत्रविवरण' नामक व्याख्या के अतिरिक्त शेष तीनों व्याख्याओं में दश मूलिक अर्थों को बतलाने के लिये एक उपजाति श्लोक को उद्धृत कियागया है, जो अतिप्राचीन श्लोक है, ईश्वरकृष्ण से भी प्राचीन। इसका उल्लेख सप्तम अध्याय में 'युक्तिदीपिका' व्याख्या के प्रसंग में कियागया है। सर्वोपकारिणी व्याख्या में यह श्लोक नहीं है। प्रत्युत 'तथा च राजवार्त्तिकम्' कहकर सांख्यतत्त्वकौमुदी में जो श्लोक उद्धृत हैं, वही श्लोक 'सांख्यसूत्रविवरण' में केवल 'तदुक्तम्' कह कर उद्धृत किये हैं। इससे भी परिणाम निकलता है, कि इसने अन्य व्याख्याओं की अपेक्षा नहीं की।

---

१. सर्वोपकारिणी में यथाक्रम ये अर्थ किये हैं–पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राणादि वायु, और उनके कार्य। जबकि अन्य सब व्याख्याओं में समान रूप से इनके और ही अर्थ कियेगये हैं। वे वहीं से देखने चाहियें, विस्तारभय से हमने यहाँ उनको नहीं लिखा।

सर्वोपकारिणी टीका और महादेव वेदान्ती—

इस व्याख्या के प्रारम्भ में एक निर्देश उपलब्ध है, जिसको अभी तक अन्यत्र नहीं देखागया। व्याख्याकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भिक भाग में दो कपिल नामक व्यक्तियों का उल्लेख किया है, जिन दोनों का सांख्य से सम्बन्ध बतलाया है। एक विष्णु का अवतार कपिल, इन तत्त्वसमाससूत्रों का रचयिता और दूसरा अग्नि का अवतार कपिल, सांख्यषडध्यायी का रचयिता। यह सब ग्रन्थकार ने वृद्धों के ऐतिह्य के आधार पर लिखा है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्यषडध्यायी के अन्तिम सूत्र पर यह निर्देश किया है, कि किसी वेदान्ती ने अग्नि के अवतार कपिल को सांख्यषडध्यायी का रचयिता बताया है, और अन्त में भिक्षु ने इस कथन का प्रत्याख्यान किया है। अभी तक किसी वेदान्ती के ग्रन्थ में इसप्रकार का उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ। सम्भव है, विज्ञानभिक्षु का निर्देश इसी व्याख्या की ओर हो, और उसके ज्ञान में इस व्याख्या का रचयिता कोई वेदान्ती हो। क्या यह सम्भावना संगत होगी, कि यह वेदान्ती कदाचित् महादेव हो, जिसने सांख्यषडध्यायी पर वृत्ति लिखी है।

इसकी विशेष परीक्षा के लिये जब हम महादेव वेदान्ती के वृत्तिसार, और इस व्याख्या की सूक्ष्मदृष्टि से परस्पर तुलना करते हैं, तो कुछ ऐसे चिह्न अवश्य मिलजाते हैं, जिनसे इस सम्भावना के सत्य होने की ओर झुकाव होसकता है।

इस व्याख्या का प्रारम्भ जिस ढंग पर कियागया है, वह वृत्तिसार के साथ पर्याप्त समानता रखता है। तत्त्वसमास सूत्रों की अन्य व्याख्याओं का प्रारम्भ इससे सर्वथा भिन्न है। इस व्याख्या का प्रारम्भ, महादेव के वृत्तिसार के समान अनिरुद्ध की वृत्ति से भी समानता रखता है। वृत्तिसार में महादेव ने अनिरुद्ध के अनुकरण का स्वयं उल्लेख किया है, सम्भवतः वह भावना यहाँ भी अपना कार्य कररही हो।

व्याख्या के मध्य में भी कुछ समानता उपलब्ध होती हैं। इसके लिये षडध्यायीसूत्र ३। ४२, ४३ की महादेव व्याख्या, और तत्त्वसमास सूत्र १४, १५ की व्याख्या द्रष्टव्य हैं।

सांख्यषडध्यायी की व्याख्या में ३। ४४ सूत्र पर महादेव ने जो अर्थ किया है, वह सांख्यकारिका की ५१वीं आर्या के वाचस्पतिकृत अर्थ का सर्वथा अनुकरण है। इस व्याख्या में भी १७वें सूत्र पर, ७२वीं आर्या के वाचस्पतिमिश्रकृत व्याख्यान का अनुकरण है। श्लोक के उद्धरण द्योतक पदों को सर्वथा उसी रूप में लिखा है, जो अन्यत्र नहीं पायाजाता।

यद्यपि ये समानताएँ स्वतन्त्ररूप में कोई महत्त्व नहीं रखतीं, जब तक इस बात के लिये कोई अन्य प्रबल प्रमाण उपलब्ध न हो, कि यह रचना महादेव की

होसकती है। परन्तु सम्भावना के आधार के लिये हमने इनका उल्लेख किया है, जिससे तुलना में इनका उपयोग कियाजासके।

विज्ञानभिक्षु के 'यत् तत्र वेदान्तिब्रुवः कश्चिदाह' वाक्य में 'वेदान्तिब्रुवः' प्रयोग से सहसा 'महादेव वेदान्ती' की ओर दृष्टि जाती है। वही 'वेदान्ती' पद से कहाजानेवाला 'वेदान्तिब्रुव' होसकता है। सर्वोपकारिणी टीका के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र अग्न्यवतार कपिल की कल्पना का संकेत उपलब्ध नहीं होता; अतः सब परिस्थितियों के सारभूत यह अधिक सम्भव है, कि इस टीका का रचयिता 'महादेव वेदान्ती' हो। यदि यह सम्भावना सही मानीजाय; तो महादेव वेदान्ती का काल विज्ञानभिक्षु से पूर्व प्रमाणित होता है।

(४) सांख्यसूत्रविवरण—

सांख्यसंग्रह के अन्तर्गत मुद्रित प्रति में इस व्याख्या के रचयिता का नाम-निर्देश नहीं कियागया। इसमें सूत्रों के अर्थ अन्य प्राचीन व्याख्याओं के अनुसार पायेजाते हैं। कोई उल्लेखयोग्य विशेषता इस व्याख्या में नहीं है। इतना अवश्य कहाजासकता है, कि इसमें तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति-क्रमदीपिका की रचनाशैली के अनुकरण का यत्न कियागया है।

ग्रन्थसूचियों के सूचीपत्र[१] के अनुसार इस रचना के सम्बन्ध में एक सूचना और उपलब्ध होती है। उससे ज्ञात होता है–इसका रचयिता कोई कृष्ण नामक विद्वान् था। इसके काल अथवा स्थान आदि के सम्बन्ध में कोई निश्चित विचार उपयुक्त साधनों के अभाव में प्रकट नहीं कियेजासकते।

(५) तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति-क्रमदीपिका—

मुद्रित पुस्तक में इसके रचयिता का नाम उल्लिखित नहीं है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ लाहौर[२] में विद्यमान हैं। उनमें भी रचयिता का नाम निर्दिष्ट नहीं है। यह व्याख्या अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है। निम्नलिखित आधारों पर यह बात कहीजासकती है।

इस व्याख्या की प्राचीनता के आधार—

(क) इसकी रचनाशैली प्राचीन प्रतीत होती है। ग्रन्थारम्भ उसी ढंग पर कियागया है, जो सांख्यकारिका की माठरवृत्ति में उपलब्ध होता है। प्रत्येक

---

१. Vide, Catologues Catalogurum by Monnier Williams, V.I. Parisista P. 787 Samkhya-Sutra-Vivarana by Krishna N.W. 388.

२. एक, डी. ए. वी. कालिज के लालचन्द पुस्तकालय में और दूसरी पंजाब युनिवर्सिटी लाइब्रेरी में।

सन्दर्भ के प्रारम्भ करने की जो शैली है, वह सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में देखीजाती है। इन दोनों व्याख्याओं के काल का निर्धारण अगले सप्तम प्रकरण में किया है।

(ख) अट्ठाईस अशक्तियों में एकादश इन्द्रियवध का निर्देश करने के लिये सांख्यग्रन्थ में एक श्लोक का उल्लेख मिलता है। सर्वप्रथम इस श्लोक को हम सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में इसप्रकार पाते हैं।

"बाधिर्यमान्ध्यमघ्रत्वं मूकता जडता च या।
उन्मादकौष्ठ्यकौण्यानि क्लैव्योदावर्त्तपंगुता:[1] ॥"

इसके अनन्तर उक्त अर्थ के निर्देश के लिये प्राय: सब व्याख्याकारों[2] ने इस श्लोक का उल्लेख किया है, और इसमें कुछ शब्दों का हेर-फेर तथा परिष्कार होतारहा है। वाचस्पति मिश्र के समय तक इस श्लोक का परिष्कृत रूप इसप्रकार उपलब्ध होता है—

"बाधिर्यं कुष्ठितान्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा।
मूकताकौण्यपंगुत्वे क्लैव्योदावर्त्तमन्दता:[3] ।"

वाचस्पति मिश्र के पश्चाद्वर्त्ती प्राय: सब व्याख्याकारों ने अपने ग्रन्थों में इसी पाठ को स्वीकार किया है, और प्राय: कोई भी व्याख्याकार इस श्लोक का उल्लेख करना नहीं भूला, चाहे वह षडध्यायी का व्याख्याकार है, अथवा तत्त्वसमास सूत्रों का। युक्तिदीपिका से प्राचीन, सांख्यकारिका के व्याख्याकार, माठर ने अपनी व्याख्या में इस श्लोक का उल्लेख नहीं किया, साधारण गद्य में ही एकादश इन्द्रियवधों का निर्देश है। वस्तुत: प्रतीत होता है–उस समय तक इस श्लोक की रचना नहीं हुई थी, अथवा यों कहिये, कि माठर को इस श्लोक का अवगम न था। कुछ भी हो, उसी श्रेणी में तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति-क्रमदीपिका को भी रक्खाजासकता है। इस व्याख्या में उक्त पद्य नहीं, साधारण गद्य में उक्त अर्थ का निर्देश है।

---

१. युक्तिदीपिका, खीस्ट १९३८ का, कलकत्ता संस्करण, पृ० १५५।

२. सांख्यकारिका के व्याख्याकारों के काल का क्रम अगले सप्तम अध्याय में देखना चाहिये।

३. सांख्यकारिका ४९ पर सांख्यतत्त्वकौमुदी में। वाचस्पति के पश्चाद्वर्त्ती व्याख्यानों में अन्तिम पद 'मन्दता' के स्थान पर 'मुग्धता' या 'मत्तता' पाठ भी उपलब्ध होते हैं, [सांख्यसंग्रह पृ० ७७ और १११ तथा सांख्य-षडध्यायी पर, अनिरुद्ध, महादेव एवं विज्ञानभिक्षु के व्याख्यान, सूत्र ३।३८-॥३।४२]

(ग) दश मूलिक अर्थों का निर्देश करने के लिये एक प्राचीन उपजाति श्लोक का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं। उसके साथ का एक सन्दर्भ जयमंगला और सांख्यतत्त्वकौमुदी में सर्वथा समानरूप में उपलब्ध होता है, जिसमें यह बतलाया गया है, कि अमुक अर्थ, प्रकृति अथवा पुरुष अथवा दोनों में रहता है। इस अर्थ को इनसे पिछले व्याख्याकारों ने भी इसी रूप में प्रकट किया है, अथवा किसीने नहीं भी किया। परन्तु कारिकाओं के प्राचीन व्याख्याकार माठर ने इसी अर्थ को दूसरे शब्दों में प्रकट किया है। तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति-क्रमदीपिका ने माठर के शब्दों का अनुकरण किया है, जयमंगला और सांख्यतत्त्वकौमुदी के शब्दों का नहीं। यद्यपि अपनी रचना के अनन्तर ये व्याख्याएँ अध्ययन अध्यापन परम्परा में अत्यन्त प्रसिद्ध रही हैं। इससे यह प्रकाश पड़ सकता है, कि क्रमदीपिका का लेख माठर के[२] आधार पर, इनसे पहले रचागया होगा।

(घ) सांख्यकारिकाओं की व्याख्याओं में अनेक ऐसे उद्धरण हैं, जिनके मूल स्थान का अभी पता नहीं लगसका। जयमंगला और युक्तिदीपिका के कुछ उद्धृत श्लोक, तत्त्वसमाससूत्र की इस क्रमदीपिका व्याख्या में उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनके साथ उद्धरण के कोई चिन्ह नहीं हैं। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है, कि उद्धरण के साथ कोई चिन्ह होना चाहिये, फिर भी यदि उसके मूल स्थान की अन्यत्र संभावना न हो, और पूर्वापर रचना के साथ इसप्रकार की अनुकूलता हो, जिससे उस वाक्य का उद्धृत होना निश्चित न कियाजासके, तो यह सम्भावना होसकती है, कि वह रचना ग्रन्थकार की अपनी हो। इसप्रकार का एक श्लोक जयमंगला टीका में उद्धृत है, जिसका मूल क्रमदीपिका में सम्भावना कियाजासकता है। २०वीं सांख्यकारिका की जयमंगला व्याख्या में इसप्रकार पाठ है—

> **"तथा चोक्तम्—**
> **प्रवर्त्तमानान् प्रकृतेरिमान् गुणांस्तमोऽभिभूतो विपरीतदर्शनः।**
> **अहंकरोमीत्यबुधोऽभिमन्यते तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यनीश्वरः ॥ इति"**

यही श्लोक क्रमदीपिका में विना उद्धरण चिन्हों के उपलब्ध[३] होता है।

---

१. जयमंगला, कारिका ५१ पर ॥ सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका ७२ पर।

२. देखिये, माठरवृत्ति, कारिका ७२॥ तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति, (सांख्यसंग्रह) पृष्ठ १३६।

३. सांख्यसंग्रह, पृष्ठ १२४। चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस, संस्करण। यहाँ पर श्लोक के द्वितीय चरण के एक पद में थोड़ा पाठभेद है; 'विपरीतदर्शनः' के स्थान पर 'विपरीतदर्शनात्' पाठ है। परन्तु इससे अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता। ऐसा भेद सर्वथा नगण्य है।

इसके पूर्वापर सन्दर्भ इसप्रकार के हैं, जिनसे यहाँ पर इस श्लोक के उद्धृत होने का निश्चय नहीं कियाजासकता। प्रत्युत इसके आगे इसी अर्थ की पुष्टि के लिये ग्रन्थकार ने 'अत्राह' लिखकर महाभारत (भगवद्गीता) के कुछ श्लोकों को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट होजाता है, कि पहला श्लोक ग्रन्थकार की अपनी रचना है। यदि यह बात ठीक प्रमाणित मानीजाती है, तो निश्चय ही यह व्याख्या जयमंगला टीका से प्राचीन कहीजासकती है।

इसके अतिरिक्त युक्तिदीपिका व्याख्या में २६ वीं आर्या की व्याख्या करते हुए, व्याख्याकार ने तत्त्वसमास के 'पञ्च कर्मयोनयः' इस सूत्र का उल्लेख किया है, और उसका विशद व्याख्यान किया है, जो क्रमदीपिका का अधिक विस्तार प्रतीत होता है। इसी प्रसंग के कुछ श्लोक युक्तिदीपिका में उद्धृत कियेगये हैं, वे इसप्रकार हैं—

"आह च—

वाचि कर्मणि संकल्पे प्रतिज्ञां यो न रक्षति।
तन्निष्ठस्तत्प्रतिज्ञश्च धृतेरेतद्धि लक्षणम्॥

अनसूया ब्रह्मचर्यं यजनं याजनं तपः।
दानं प्रतिग्रहः शौचँ श्रद्धाया लक्षणं स्मृतम्॥

सुखार्थी यस्तु सेवेत विद्यां कर्म तपांसि वा।
प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखायां स तु वर्त्तते॥

द्वित्वैकत्वपृथक्त्वं नित्यं चेतनमचेतनं सूक्ष्मम्।
सत्कार्यमसत्कार्यं विविदिषन्तव्यं विविदिषायाः॥

विषपीतसुप्तमत्तवदविविदिषा ध्यानिनां सदा योनिः।
कार्यकारणक्षयकरी प्राकृतिका गतिः समाख्याता॥

यह सब विषय कुछ पद्य और कुछ गद्य रूप में, क्रमदीपिका में उपलब्ध है। प्रथम तीन श्लोक सांख्यसूत्रवृत्ति में थोड़े पाठभेद के साथ विद्यमान हैं। चतुर्थ श्लोक युक्तिदीपिका में आर्या छन्द में है, तत्त्वसमासवृत्ति में अनुष्टुप् छन्द हैं, और पाठभेद भी है। अनुष्टुप् छन्द से आर्या छन्द कुछ संवारा गया प्रतीत होता है। अनुष्टुप् छन्द के पहले और पीछे सूत्रवृत्ति में जो गद्य पंक्तियाँ हैं, युक्तिदीपिका में उनको भी एक आर्या का रूप प्राप्त होगया है। इसके अतिरिक्त तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति में इन श्लोकों के साथ आगे पीछे कोई उद्धरण चिन्ह नहीं हैं। इन सब तुलनाओं से प्रतीत होता है—युक्तिदीपिकाकार ने 'पञ्च कर्मयोनयः' इस प्रसंगकथित तत्त्वसमाससूत्र का व्याख्यान करने में, उक्त व्याख्या का आश्रय लिया होगा।

क्रमदीपिका का संभावित काल—

इन सब तुलनाओं से यह परिणाम स्पष्ट निकल आता है, कि तत्त्वसमास-सूत्रवृत्ति एक प्राचीन व्याख्या होनी चाहिये, जिसका समय युक्तिदीपिका से पूर्व और माठरवृत्ति के पश्चात् निर्धारित कियाजासकता है। युक्तिदीपिका का समय खीस्ट पञ्चम शतक के पूर्वभाग और माठरवृत्ति का समय खीस्ट शतक का प्रारम्भकाल[1] अनुमान किया है, इनके मध्य में कहीं इस वृत्ति की रचना का काल कहाजासकता है।

इसके 'क्रमदीपिका' नाम का विवेचन—

इस व्याख्याके 'क्रमदीपिका, नाम के सम्बन्ध में कुछ विवेचनीय है। एक नमस्कार श्लोक के अनन्तर व्याख्या का प्रारम्भ इस पंक्ति से होता है।

"अथातस्तत्त्वसमासाख्यसांख्यसूत्राणि व्याख्यास्यामः।"

इससे प्रतीत होता है—सम्भवतः इस रचना को 'तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति' इस नामसे व्यवहृत कियाजातारहा हो। इस पुस्तक की मुद्रित प्रति में अन्तिम पुष्पिका 'इति श्रीतत्त्वसमासाख्यसूत्रवृत्तिः समाप्ता' इसप्रकार है। परन्तु उप-संहार के दो श्लोकों में से अन्तिम श्लोक[2] इस व्याख्या का नाम 'क्रमदीपिका' उल्लेख करता है, और इस नाम का कारण भी बताता है—इन सांख्यसूत्रों का क्रमानुरूप व्याख्यान कियाजाना। इससे यह भावना ध्वनित होती है, कि सम्भ-वतः इससे पूर्व इन सूत्रों का क्रमशः व्याख्यान न हुआ हो। आचार्यों ने यत्र तत्र प्रसंगवश उल्लिखित सूत्रों का थोड़ा बहुत या विस्तृत व्याख्यान किया हो। ऐसी स्थिति में सबसे प्रथम, सूत्रों का क्रमपूर्वक व्याख्यान करनेवाली यही रचना होगी, तभी इसका यह नाम उस अर्थ के आधार पर सार्थक कहाजासकता है। इस रचना की सुरक्षा के लिये इस श्लोक में ग्रन्थ के परिमाण का भी निर्देश कर दियागया है। दयानन्द कालिज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में जो इस रचना की हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है, उसकी अन्तिम पुष्पिका[3] में 'क्रमदीपिका' नाम का निर्देश है।

भावा गणेश की व्याख्या के प्रसंग में, हम पञ्चशिख की एक व्याख्या का प्रथम उल्लेख कर आये हैं। वहाँ यह भी कहा है, कि भावा गणेश की व्याख्या का

---

१. युक्तिदीपिका और माठरवृत्ति के काल का विवेचन इसी ग्रन्थ के 'सांख्य-कारिका के व्याख्याकार' नामक सप्तम अध्याय में कियागया है।

२. सांख्यसूत्रक्रमेणैषा व्याख्याता क्रमदीपिका।
अनुष्टुप्छन्दसां चात्र ज्ञेयं श्लोकशतत्रयम्॥

३. इति श्रीसांख्यसूत्रक्रमदीपिका समाप्ता।

आधार पञ्चशिख का व्याख्याग्रन्थ रहा होगा। इस सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है, कि सांख्यसूत्रों पर पञ्चशिख के जो व्याख्याग्रन्थ होंगे, वे इसीप्रकार के रहे होंगे, जैसाकि वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद भाष्य है। अन्य सूचनाओं से भी यह बात प्रतीत होती है, कि पञ्चशिख के व्याख्याग्रन्थ सांख्य-सिद्धान्तों के विशेष तत्त्वों[1] को लेकर विस्तारपूर्वक लिखे गये थे। उनमें सब सूत्रों के प्रसंगवश यत्र तत्र उल्लेख और उनके व्याख्यानों की सम्भावना हो-सकती है। सूत्रक्रम के अनुसार अभी तक पञ्चशिख के किसी व्याख्याग्रन्थ का पता नहीं लगा है, और न कहीं ऐसा कोई उल्लेख मिला है। इससे प्रतीत होता है–इस व्याख्याकार ने पञ्चशिख के व्याख्याग्रन्थ से उन-उन सूत्रव्याख्यानों को चुनकर सूत्रक्रम के अनुसार यह व्याख्या लिखी हो, इस विशेषता के आधार पर इसका 'क्रमदीपिका' नामकरण हुआ।

भावा गणेश की व्याख्या में जो श्लोक पञ्चशिख के नाम पर उद्धृत किये गये हैं, इस वृत्ति में उनके उल्लेख-क्रम की समानता का आधार यही होसकता है, कि इन दोनों व्याख्याकारों के विषय-निर्देश का क्रम एक है, अर्थात् सूत्रक्रम के अनुसार व्याख्या का लिखना। तत्त्वसमाससूत्र-वृतिकार और भावा गणेश का अपने-अपने काल में सूत्रव्याख्या के लिये समान प्रयत्न था। भावा गणेश ने पञ्च-शिख का उल्लेख कर दिया है, दूसरे वृत्तिकार ने उसकी अपेक्षा नहीं समझी। परन्तु सर्वप्रथम इसप्रकार का प्रयत्न होने के कारण, उसने अपने ग्रन्थ में सूत्रक्रम के अनुसार व्याख्या किये जाने का उल्लेख किया है। भावा गणेश ने इसकी उपेक्षा की है। क्योंकि यह कार्य उससे पूर्व होचुका था। यह सम्भव है–उसने इस व्याख्या को देखा न हो, परन्तु सूत्रानुसारी व्याख्याओं के उससे पूर्व होजाने का परम्परागत मौखिक ज्ञान उसे अवश्य होगा। यह और अधिक सम्भव है, कि भावा गणेश को यह ज्ञान, परम्परा के आधार पर हो, कि क्रमदीपिका, पञ्चशिख के व्याख्याग्रन्थ के आधार पर लिखी गई है, और इसीलिये उसने क्रमदीपिका को अपनी व्याख्या का आधार बनाकर, उसका निर्देश ग्रन्थ की प्रामाणिकता के लिये पञ्चशिख के नाम से कर दिया हो। इसप्रकार भावा गणेश ने चाहे साक्षात पञ्चशिख की व्याख्या को सूत्रार्थ में अपना आधार बनाया हो, अथवा क्रमदीपिका द्वारा; दोनों अवस्थाओं में तत्त्वसमास सूत्रवृत्ति (क्रमदीपिका) की प्राचीनता अवश्य प्रमाणित होजाती है।

कापिलसूत्रविवरण अथवा कापिलसूत्रवृत्ति—

अभी तक 'सांख्यसंग्रह' में मुद्रित तत्त्वसमास सूत्रों की पाँच व्याख्याओं का उल्लेख कियागया है। इनके अतिरिक्त एक और व्याख्या कलकत्ता से सन्

---

१. तुलना करें, सांख्यसप्तति, आर्या ७० की जयमंगला व्याख्या।

१८६० ईसवी में प्रकाशित[1] होचुकी है। इसका नाम 'कापिलसूत्रविवरण' ग्रन्थ की अन्तिम मुद्रित पुष्पिका के आधार पर प्रतीत होता है। परन्तु ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोक में ग्रन्थकार ने 'कापिलसूत्रवृत्ति' लिखा है। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक के आधार पर इस व्याख्या के रचियता का नाम माधव है। अन्तिम पुष्पिका में रचयिता के नाम का निर्देश इसप्रकार कियागया है—

"इति श्रीवेदान्तवागीशश्रीहरिहरात्मजेन परमहंसाचार्यमाधवपरिव्राजकेन विरचितं कापिलसूत्रविवरणं समाप्तम्।"

यह आचार्य माधव परिव्राजक कौन है, और किस समय हुआ? इसका निश्चय अभी तक नहीं कियाजासका। इतना निश्चय है—यह व्याख्याकार सांख्यभाष्यकार विज्ञानभिक्षु से अर्वाचीन है। 'पञ्च कर्मयोनयः' इस तत्त्वसमास सूत्र की व्याख्या में सांख्यभाष्यकार विज्ञानाचार्य का उल्लेख है।

श्री बालराम उदासीन द्वारा सम्पादित तथा व्याख्यात सांख्यतत्त्वकौमुदी के उपोद्घात (पृष्ठ २) में पाण्डेय श्रीकान्त शर्मा महोदय ने लिखा है—इन २७ सूत्रों पर श्री विद्यारण्य स्वामी ने व्याख्यान किया है, और वह मुद्रित व प्रकाशित होचुका है। परन्तु अभी तक हम ऐसी प्रकाशित व्याख्या का पता नहीं लगासके, जिसका रचयिता श्री विद्यारण्य स्वामी था। पाण्डेय महोदय ने भी उस व्याख्यान के मुद्रण-प्रकाशन आदि के विषय में कुछ नहीं बताया—वह कब और कहाँ से प्रकाशित हुआ, और किसने प्रकाशित कराया। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहाजासकता, कि श्री पाण्डेय महोदय ने कदाचित् माधव परिव्राजक की इस व्याख्या को विद्यारण्य स्वामी की रचना समझलिया हो। क्योंकि ऐसा कहाजाता है, कि प्रसिद्ध वेदभाष्यकार माधव का परिव्राजक अवस्था का नाम विद्यारण्य[2] था। इसप्रकार नाम-साम्य से ऐसा भ्रम होना सम्भव है। एक बात अवश्य है, विद्यारण्य अथवा माधव मन्त्री की प्रसिद्ध रचनाओं में प्रारम्भिक श्लोकों की जो एक समानता सर्वत्र देखी जाती है, वह इस कापिलसूत्रवृत्ति के प्रारम्भिक श्लोक[3] में नहीं है। तथा विद्यारण्य के अन्य ग्रन्थों की रचना के

---

१. इसके प्रकाशक हैं—श्रीभुवनचन्द्र वसाक, ८ नीमतला घाट स्ट्रीट्, कलकत्ता। १६ नूतन पगयापटी नारायण यन्त्रालय में मुद्रित।

२. यह बात सूतसंहिता के टीकाकार विद्यारण्य स्वामी के प्रारम्भिक श्लोकों के आधार पर कहीजासकती है, कि यह विद्यारण्य-अपरनाम माधव मन्त्री था। इसने अपनी टीका में एक सांख्यसूत्र को उद्धृत किया है। देखिये, प्रस्तुत ग्रन्थ का चतुर्थ अध्याय, उद्धरण संख्या १।

३. अचिन्त्यमव्यक्तमनादिमव्ययं जगन्निदानं परमाक्षरं विभुम्।
प्रणम्य वाचा मनसा च कायकैर्विनिर्ममे कापिलसूत्रवृत्तिकाम्॥

सम्मुख, इसकी रचना भी अत्यन्त शिथिल है। इतना अवश्य है—इस में वेदान्त सम्बन्धी विचार सर्वथा स्पष्ट हैं।

माधव मन्त्री अथवा सायण की रचनाओं में ग्रन्थारम्भ के श्लोकों की जो समानता पाई जाती है, उसको यदि अधिक महत्त्व न दियाजाय, और यह मान लियाजाय, कि कदाचित् किसी रचना में इसका व्यक्तिक्रम होसकता है, तथा इस आधार पर प्रस्तुत रचना को उसी माधव की मानाजाय, जिसका अपर नाम सायण अथवा विद्यारण्य था, तो यह मानना आवश्यक होगा, कि विज्ञानभिक्षु का समय, सायण से कुछ पूर्व ही था, जैसा प्रथम, विज्ञानभिक्षु के कालनिर्णय में प्रकट कियागया है।

पञ्चशिख व्याख्या—

भावा गणेश ने तत्त्वसमास सूत्रों की अपनी व्याख्या के प्रारम्भ में इस बात का उल्लेख किया है, कि इन सूत्रों पर पञ्चशिख की कोई व्याख्या थी। अभी तक ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होसका, जिसके आधार पर यह निश्चित कहाजासके, कि वर्त्तमान सूत्रक्रम के अनुसार इन सूत्रों पर पञ्चशिख की कोई व्याख्या थी। पञ्चशिख के नाम पर उद्धृत जितने वाक्य अभी तक उपलब्ध होसके है, उनसे यही अनुमान होता है, कि पञ्चशिख के ग्रन्थ, सांख्य-सिद्धान्तों का आश्रय लेकर स्वतन्त्ररूप में लिखे गये होंगे, और उनमें यथा-स्थान इन सूत्रों के व्याख्यान समाविष्ट होंगे। पञ्चशिख के व्याख्याग्रन्थ सम्भवतः इसीप्रकार के होंगे, जैसा कणाद के वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपादभाष्य है। पीछे अन्य आचार्यों ने उन्हीं व्याख्याग्रन्थों के आधार पर सूत्रों के क्रम का अनुरोध कर अपने व्याख्यानों को लिखा। उपलभ्यमान व्याख्याग्रन्थों में इसप्रकार का एक व्याख्याग्रन्थ, तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति अर्थात् क्रमदीपिका हैं, जो वर्त्तमान व्याख्याओं में सबसे प्राचीन प्रतीत होता है, जैसा अभी हम निर्देश करचुके हैं।

पिछले पृष्ठों में चार ऐसे श्लोकों का उल्लेख किया है, जो भावा गणेश कृत व्याख्या में पञ्चशिख के नाम पर उद्धृत, क्रमदीपिका में भी उसी प्रसंग पर उपलब्ध हैं। इन व्याख्याओं का गम्भीर अध्ययन इस सम्भावना को अभिव्यक्त करता है—कदाचित् इनमें और भी ऐसे सन्दर्भ हों, जो पञ्चशिख की रचना कहेजासकें; यद्यपि वे पञ्चशिख के नाम से उद्धृत नहीं हैं। ऐसे कतिपय श्लोक क्रमदीपिका से उद्धृत करते हैं, जिनके सम्बन्ध में यह सम्भावना होसकती है, कि ये पञ्चशिय की रचना हों।

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा च नित्यं रसगन्धवर्जितम् ।
अनादिमध्यं महतः परं ध्रुवं प्रधानमेतत् प्रवदन्ति सूरयः[1] ।।
[2]अहं शब्दे अहं स्पर्शे अहं रूपे अहं रसे ।
अहं गन्धे अहं स्वामी धनवानहमीश्वरः ।।
अहं भोगी अहं धर्मेऽभिषिक्तोऽसौ मया हतः ।
अहं हनिष्ये बलिभिः परैरित्येवमादिकः ।।
धर्माख्यं सौहित्यं यमनियमनिषेवणं प्रख्यानम् ।
ज्ञानैश्वर्यविरागाः प्रकाशनमिति सात्त्वकी वृत्तिः ।।
रागः क्रोधो लोभः परपरिवादोऽतिरौद्रताऽतुष्टिः ।
विकृताकृतिपारुष्यं प्रख्यातैषा तु राजसी वृत्तिः ।।
प्रमादमदविषादा नास्तिक्यं स्त्रीप्रसंगिता निद्रा ।
आलस्यं नैर्घृण्यमशौचमिति तामसी वृत्तिः[3] ।।
बाह्यकर्माणि संकल्प्य प्रतीतं योऽभिरक्षति ।
तन्निष्ठस्तत्प्रतिष्ठश्च, धृतेरेतद्धि लक्षणम् ।।
स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च यजनं याजनं तपः ।
दानं प्रतिग्रहो होमः श्रद्धाया लक्षणं स्मृतम् ।।
सुखार्थं यस्तु सेवेत ब्रह्मकर्मतपांसि च ।
प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखेयं परिकीर्तिता[4] ।।

---

१. इस श्लोक की तुलना कीजिये, कठोपनिषद् १।३।१५। के साथ । उपनिषद् के सन्दर्भ को, प्रकृति का स्वरूप वर्णन करने की दिशा में कितने सुन्दर रूप में उपस्थित कियागया है ।

२. इसप्रकार के प्रयोग माठरवृत्ति [२४ आर्या] और युक्तिदीपिका [आर्या २४ पृ० ११५] में उपलब्ध होते हैं । सम्भवतः उनका आधार यह पञ्चशिखवाक्य होगा ।

३. इन तीन आर्या छन्दों में जिस अर्थ का निरूपण है, वह गद्यरूप में विज्ञान-भिक्षु ने सांख्यषडध्यायी १।१२७ सूत्र पर पञ्चशिखाचार्य के नाम से उद्धृत किया है । वह गद्य सन्दर्भ भी इस व्याख्या में अन्यत्र उपलब्ध होता है । [द्रष्टव्य, क्रमदीपिका व्याख्या, पृ० १२७, 'सांख्यसंग्रह' चौखम्बा संस्करण सन् १९२०]

४. ये तीनों श्लोक थोड़े पाठभेद से युक्तिदीपिका, १९३८ के कलकत्ता संस्करण पृ० १२८ पर उद्धृत हैं । युक्तिदीपिका के इस स्थल के पाठ इतने शुद्ध नहीं हैं ।

एकत्वं च पृथक्त्वं च नित्यं चैवमचेतनम् ।
सूक्ष्मं सत्कार्यमक्षोभ्यं ज्ञेया विविदिषा च सा[1] ॥
प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।
इत्येते वायवः पञ्च शरीरेषु शरीरिणाम् ॥
अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं, परार्थमन्यत्वमकर्तृता च ।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः[2] ॥
स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः ।
ज्ञानवान् शीलसम्पन्न आप्तो ज्ञेयस्तु तादृशः[3] ॥

इसप्रकार ये तेरह श्लोक इस व्याख्या में उद्धृत ऐसे सम्भव हैं, जो पञ्चशिख की रचना हों। यदि इस सम्भावना को सत्य की सीमा तक मानाजाय, तो पञ्चशिख के नाम से उद्धृत पिछले चार श्लोकों को मिलाकर सत्रह संख्या ऐसे श्लोकों की होजाती है, जिन्हें पञ्चशिख की रचना कहाजासकता है।[4]

---

१. युक्तिदीपिका में यह आर्या छन्द में है। दो आर्याओं में, एक में विविदिषा और दूसरी में अविविदिषा का लक्षण कियागया है। इस वृत्ति में अविविदिषा के लक्षण का श्लोक नहीं है। परन्तु अर्थ का क्रम और व्युत्पादन सर्वथा स्पष्ट है। परन्तु युक्तिदीपिका में इन आर्याओं का पाठ अस्पष्टार्थक है। विविदिषा और अविविदिषा के क्रम में विपर्यय भी करदिया है। तथा इनके जो लक्षण कियेगये हैं, वे इनके स्वरूप को बतलाने में अस्पष्ट हैं।

२. यह पद्य देवल के ग्रन्थ में उद्धृत पायाजाता है। देवल के ग्रन्थ का वह सन्दर्भ, याज्ञवल्क्यस्मृति की अपरादित्य रचित अपरार्का नामक व्याख्या में प्रायश्चित्ताध्याय, श्लोक १०६ पर उद्धृत है। यह सांख्याचार्य देवल, ईश्वरकृष्ण से बहुत प्राचीन काल में होचुका है। 'सांख्य के प्राचीन आचार्य' नामक प्रकरण में इसका विस्तृत उल्लेख कियागया है। तथा प्रसंगवश अन्यत्र भी कई स्थलों में इसका उल्लेख किया है।

३. यह श्लोक माठरवृत्ति और जयमंगला टीका में, पांचवीं आर्या की व्याख्या में उद्धृत है। वहाँ उत्तरार्द्ध के पाठ में कुछ भेद है। माठर का पाठ इसप्रकार है—

'पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः'

जयमंगला का पाठ है—

'निर्वैरः पूजितः सद्भिराप्तो ज्ञेयः स तादृशः।'

४. 'सांख्य के प्राचीन आचार्य' नामक अष्टम अध्याय में पञ्चशिख के प्रसंग में उन सब वाक्यों के संग्रह का प्रयत्न किया है, जिन्हें पञ्चशिख की रचना मानागया है, अथवा मानाजाना सम्भव है।

इसमें सन्देह नहीं–इन तत्त्वसमास सूत्रों के सम्बन्ध में पञ्चशिख का व्याख्यान सबसे प्राचीन है, पञ्चशिख कपिल का प्रशिष्य था, उसने कपिल की रचना के आधार पर विस्तृत व्याख्यान ग्रन्थ लिखे, यह प्रमाणपूर्वक पीछे दिखला चुके हैं। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में तत्त्वसमास सूत्रों की छह व्याख्याओं का विवेचन किया है। इनकी रचना के कालक्रम के अनुसार इनको इसप्रकार व्यवस्थित कियाजासकता है—

(१) तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति क्रमदीपिका=ख्रीस्ट द्वितीय अथवा तृतीय शतक के लगभग ?
(२) सर्वोपकारिणी
(३) तत्त्वयाथार्थ्यदीपन
(४) सांख्यतत्त्वविवेचन
(५) सांख्यसूत्रविवरण
(६) कापिलसूत्रविवरण, अथवा कापिलसूत्रवृत्ति।

◆◆

सप्तम अध्याय

सांख्यसप्तति के व्याख्याकार

सांख्यसप्तति की पांच प्राचीन व्याख्या—

अनेक आचार्यों ने सांख्यकारिका पर व्याख्याग्रन्थ लिखे हैं। सम्भव है, उनमें से कुछ अभी तक अनुपलब्ध हों, परन्तु जो उपलब्ध हैं, उनके सम्बन्ध में भी बहुत बातें अज्ञात हैं। इस अध्याय में निम्नलिखित व्याख्याग्रन्थ और उनके रचयिताओं के काल आदि के सम्बन्ध में प्रकाश डालने का प्रयास कियागया है।

व्याख्याग्रन्थ	व्याख्याकार
(१) माठरवृत्ति	आचार्य माठर।
(२) युक्तिदीपिका	[अज्ञात], संदिग्ध नाम—वाचस्पति मिश्र। सम्भावित नाम—राजा।
(३) गौडपाद भाष्य	आचार्य गौडपाद।
(४) जयमंगला	[अज्ञात], संभावित नाम—शंकर , संदिग्ध नाम—शंकराचार्य।
(५) तत्त्वकौमुदी	वाचस्पति मिश्र।

पाँच व्याख्याओं के नाम—

माठरवृत्ति का रचयिता आचार्य माठर है, कर्त्ता के नाम से यह वृत्ति प्रसिद्ध है। गौडपाद भाष्य भी, उसके कर्त्ता आचार्य गौडपाद के नाम से प्रसिद्ध है। वाचस्पति मिश्र ने स्वयं अपने व्याख्याग्रन्थ के अन्तिम उपसंहारात्मक श्लोक में अपने और व्याख्याग्रन्थ के नाम का निर्देश करदिया है। मिश्रने लिखा है—

> "मनांसि कुमुदानीव बोधयन्ती सतां मुदा।
> श्रीवाचस्पतिमिश्राणां कृतिस्तात् तत्त्वकौमुदी ॥"

युक्तिदीपिका के नाम का निश्चय, उसके अन्तिम उपसंहारात्मक चार श्लोकों में से द्वितीय श्लोक के आधार पर होजाता है, श्लोक इसप्रकार है—

> "इति सद्भिरसंभ्रान्तैः कुदृष्टितिमिरापहा।
> प्रकाशिकेयं सर्गस्य धार्यतां युक्तिदीपिका ॥"

ग्रन्थ के नाम का निश्चय होने पर इस ग्रन्थ के रचयिता का अभी निश्चय नहीं होपाया है। इसके सम्पादक महोदय ने जहाँ तहाँ ग्रन्थ की टिप्पणियों में,

अनेक संदिग्ध विषयों को भूमिका में स्पष्ट करने का उल्लेख किया है। परन्तु किन्हीं अज्ञात कारणों से अभीतक वह भूमिका प्रकाशित नहीं होपाई। इस ग्रन्थ के हस्तलेख के अन्त में जो पंक्ति निर्दिष्ट है, उससे प्रतीत होता है—यह ग्रन्थ श्री वाचस्पति मिश्र की रचना है। यह लेख अत्यन्त संदिग्ध है। यदि इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम वाचस्पति मिश्र मानलियाजाय, फिर भी यह निश्चित है, कि यह वाचस्पति, षड्दर्शनव्याख्याकार वाचस्पति नहीं है।[1]

जयमंगला व्याख्या का नाम उसके प्रथम श्लोक से निश्चित होजाता है। श्लोक इसप्रकार है—

"अधिगततत्त्वालोकं लोकोत्तरवादिनं प्रणम्य मुनिम्।
क्रियते सप्ततिकायाष्टीका जयमंगला नाम॥"

परन्तु इस व्याख्या के रचयिता के सम्बन्ध में अभी तक पूर्ण निश्चय नहीं होपाया। षड्दर्शनव्याख्याकार वाचस्पति मिश्र के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के काल आदि का भी पूर्ण निश्चय नहीं है। इस अध्याय में इन्हीं सब बातों पर यथासम्भव प्रकाश डालने का यत्न कियागया है।

वाचस्पति मिश्र

तत्त्वकौमुदी का रचनाकाल—

षड्दर्शनव्याख्याकार वाचस्पति मिश्र का समय सर्वथा निश्चित है। यद्यपि सांख्यतत्त्वकौमुदी में उसने अपने समय अथवा इस ग्रन्थ के प्रारम्भ या समाप्ति के संवत्सर का कोई निर्देश नहीं किया, परन्तु न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका की समाप्ति पर गौतम के मूल न्यायसूत्रों का संपादन कर, उनका 'न्यायसूचीनिबन्ध' नाम से उल्लेख किया है। उसकी समाप्ति पर कुछ उपसंहारात्मक श्लोक हैं। उनमें से अन्तिम एक श्लोक में ग्रन्थ समाप्ति के संवत्सर का निर्देश है। वहाँ लिखा है—

"न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वंकवसुवत्सरे॥

इसके अनुसार सं० ८९८ (विक्रमी) में श्री वाचस्पति मिश्र ने इस ग्रन्थ को समाप्त किया। पाँचवीं कारिका की व्याख्या में वाचस्पति लिखता है—

"सर्वं चैतदस्माभिर्न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकायां व्युत्पादितमिति नेहोक्तं विस्तरभयात्।" [बालरामोदासीन संस्करण, पृ० १०५]

नवम कारिका की व्याख्या करते हुए, सांख्यतत्त्वकौमुदी में पुनः लिखा है—

---

१. इस सम्बन्ध के प्रमाणों का उल्लेख इसी अध्याय में प्रसंगवश आगे कियागया है।

'अभावात्तु भावोत्पत्तौ० इत्यादि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामभिहित-मस्माभिः ।'' [बालरामोदासीन संस्करण, पृ० १४७]

सत्रहवीं कारिका की व्याख्या पर पुनः लिखा है—

''०—सर्वानुमानोच्छेदप्रसंगः इत्युपपादितं न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका-यामस्माभिः ।'' [बालरामोदासीन संस्करण, पृ० २२४–२६]

सांख्यतत्त्वकौमुदी के इन उल्लेखों से स्पष्ट है–न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका की रचना तत्त्वकौमुदी से पहले होचुकी थी। इस आधार पर तात्पर्यटीका तथा न्यायसूचीनिबन्ध के समाप्ति के संवत्सर में दो वर्ष और जोड़कर सांख्यतत्त्व-कौमुदी की रचना का संवत्सर ९०० विक्रमी मानलिया है। जो खीस्ट ८४३ में आता है।

वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ विक्रमी संवत्—

वाचस्पति के कालनिर्णायक पद्य के सम्बन्ध में यह आशंका कीजासकती है, कि उस पद्य का 'वत्सर' पद विक्रमी संवत् के लिये प्रयुक्त हुआ है, अथवा शक संवत् के लिये? अभिप्राय है–वाचस्पति का समय ८९८ विक्रमी संवत् मानना चाहिये, अथवा शक संवत्? इस सम्बन्ध में हमारा निश्चय है–यह विक्रमी संवत् स्वीकार कियाजानाचाहिये। इसके लिये कतिपय युक्ति प्रस्तुत हैं।

(क) वाचस्पतिकृत तात्पर्यटीका पर उदयनाचार्य ने तात्पर्यपरिशुद्धि नामक व्याख्या लिखी है। उदयनाचार्य ने अपने समय का द्योतक एक पद्य लक्षणावली नामक लघुकाय निबंध के अन्त में इसप्रकार लिखा है—

''तर्काम्बरांकप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः ।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ॥''

इससे स्पष्ट है–उदयनाचार्य ने ९०६ शालिवाहन शक में लक्षणावली को समाप्त किया। यदि वाचस्पति के श्लोक में 'वत्सर' पद का अर्थ शक समझा जाय, तो इसका अभिप्राय होगा–वाचस्पति मिश्र ने ८९८ शक में तात्पर्यटीका[1] को समाप्त किया। यदि तात्पर्यपरिशुद्धि की समाप्ति का संवत्, लक्षणावली का संवत् मानलियाजाय [जोकि स्वभावतः लक्षणावली के संवत् से पहले माना

---

१. वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका की रचना के समय गौतम न्यायसूत्रों का जो पाठ विवेचनापूर्वक निर्णय किया, उसीके अनुसार तात्पर्यटीका के अन्त में उन सूत्रों को यथाक्रम लिख दिया। यह तात्पर्यटीका के एक परिशिष्ट के समान है। इसीका नाम न्यायसूचीनिबन्ध है, जिसके अन्त में उक्त श्लोक लिखा गया है। इसलिये उस संवत् का सम्बन्ध तात्पर्यटीका की समाप्ति के साथ निर्दिष्ट करदिया है।

जाना चाहिये], तो इन दोनों [तात्पर्यटीका और तात्पर्यपरिशुद्धि] ग्रन्थों में केवल आठ वर्ष का अन्तर होता है। यह बात सरलता से स्वीकार नहीं की-जासकती, कि विना पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त हुए, तात्पर्यटीका पर तात्पर्यपरिशुद्धि जैसी टीका लिखे जाने का यत्न कियाजासके।

यह उस समय और भी विचारणीय है, जब देखते हैं, कि उदयनाचार्य भी वाचस्पति का समकक्ष विद्वान् था। यदि वे दोनों एक काल में हों, तो विना किसी पारस्परिक विशेष सम्बन्ध के यह संभावना नहीं कीजासकती, कि एक दूसरे के ग्रन्थ पर व्याख्या लिखे। अभिप्राय है–तात्पर्यटीका लिखे जाने के अनन्तर, अपनी उपयोगिता के कारण पठनपाठनप्रणाली में स्वीकार कियेजाने, और उसके फलस्वरूप विद्वज्जगत् में प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिये पर्याप्त समय की अपेक्षा होनी चाहिये। जिससे प्रभावित होकर तात्पर्यपरिशुद्धि जैसी व्याख्या लिखने की आवश्यकता उदयनाचार्य को अनुभव हुई। इसप्रकार की परिस्थिति को आठ वर्ष जैसे अत्यल्प काल में प्राप्त करना असम्भव है। इसलिये वाचस्पति के पद्य में 'वत्सर' पद का अर्थ शक नहीं समझना चाहिये।

तात्पर्यपरिशुद्धि के प्रारम्भ में उदयनाचार्य ने एक श्लोक द्वारा वाचस्पति मिश्र के सम्बन्ध में अत्यन्त आदरातिशय प्रकट किया है, इससे स्पष्ट है–उदयन के समय तक वाचस्पति मिश्र अपनी कृतियों के आधार पर विद्वन्मण्डल में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त करचुका था। उदयन का श्लोक इसप्रकार है—

"मातः सरस्वति पुनः पुनरेष नत्वा बद्धाञ्जलिः किमपि विज्ञपयाम्यवेहि।
वाक्चेतसोर्मम तथा भव सावधाना वाचस्पतेर्वचसि न स्खलतो यथैते॥"

वाचस्पति के सम्बन्ध में इस आदरातिशय के प्रदर्शन से इन दोनों विद्वानों की स्थिति पर विचार करते हुए, निश्चित अनुमान कियाजासकता है, कि उदयनाचार्य वाचस्पति मिश्र को अपने से पर्याप्त प्राचीन जानता है। वाचस्पति के श्लोक में 'वत्सर' पद का विक्रमी संवत् अर्थ कियेजाने पर उदयनाचार्य से १४३ वर्ष पूर्व वाचस्पति की स्थिति स्पष्ट होती है, जो उक्त भावनाओं के बनने के लिये अत्यन्त उपयुक्त समय है। यह बात आठ वर्ष के अत्यन्त अल्पकाल में संभव नहीं मानीजासकती, और वह भी दोनों ग्रन्थकारों के सम-सामयिक होने की दशा में।

'वत्सर' पद के सम्बन्ध में डा० गंगानाथ झा के विचार—

(ख) महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा ने सांख्यतत्त्वकौमुदी[1] की भूमिका

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी का यह संस्करण ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना से १९३४ ईसवी सन् में प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन उक्त झा महोदय ने किया है।

में वाचस्पति का समय ८९८ विक्रमी संवत् स्वीकार किया है। श्रीयुत झा महोदय ने लिखा है–मिथिला प्रदेश में स्थित सिमरौनगढ़ी के शिलालेख[1] से यह प्रतीत होता है–शक १०१९ अर्थात् ११५४ विक्रमी संवत् और १०९७ ईसवी सन् में नान्यदेव नामक राजा ने इस वास्तु का निर्माण कराया। ईसा की ग्यारहवीं सदी के अन्तिम भाग में नान्यदेव राजा हुआ। झा महोदय के अभिप्रायानुसार इससे कुछ सदी पूर्व मिथिला प्रदेश पर नेपाल के राजाओं का आधिपत्य था। नेपाल पर्वतीय प्रदेश होने के कारण वहाँ के राजा शिबिकाओं में [आजकल की भाषा में इन्हें डांडी कहते हैं] पुरुषों के कन्धों पर चलते थे, इसलिये उनको नरवाहन कहाजाता था। ऐसे ही किसी प्रतापी राजा के मिथिला पर प्रभुत्व के समय, वाचस्पति मिश्र ने अपने भामती नामक निबन्ध को समाप्त किया है। भामती के एक उपसंहार श्लोक में वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

> "नृपान्तराणां मनसाप्यगम्यां भ्रूक्षेपमात्रेण चकार कीर्तिम्।
> कार्तस्वरासारसुपूरितार्थसार्थः स्वयं शास्त्रविचक्षणश्च॥
> नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्त्तुं नच पारयन्ति।
> तस्मिन्महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः॥"

श्लोक के अन्तिम चरण का 'नृग' पद उक्त राजा की नरवाहनता को स्पष्ट करता है। इससे निश्चय होता है–वाचस्पति के समय मिथिला पर नेपाल के किरात राजाओं का पूर्ण आधिपत्य था।

झा महोदय के विचार में असामञ्जस्य—

यद्यपि झा महोदय ने अपने विवरण में वाचस्पति का समय ८४१ ईसवी सन् अर्थात् ८९८ विक्रमी संवत् यथार्थ स्वीकार किया है, शक संवत् नहीं। परन्तु इस प्रसंग में जो साधन उपस्थित किये हैं, वे अपर्याप्त हैं। क्योंकि इतिहास और ताम्रपत्रों के आधार पर यह बात स्पष्ट होती है, कि खीस्ट नवमशतक के प्रारम्भ से मिथिला पर नेपाली राजाओं का प्रभुत्व नहीं था, प्रत्युत मिथिला पर पालवंश के राजाओं का आधिपत्य था। खीस्ट ८१० से ८४९ तक पालवंश का एक बहुत पराक्रमी और यशस्वी राजा देवपाल[2] नामक बड़ा दानी और धार्मिक

---

१. सिमरौनगढ़ी के शिलालेख में प्रस्तुत प्रसंग के लिये उपयोगी श्लोक इस प्रकार है—

"नन्देन्दुबिन्दुविधुसम्मितशाकवर्षे, तच्छ्रावणे सितदले मुनिसिद्धतिथ्याम्।
स्वातीशनैश्चरदिने करिवैरिलग्ने, श्री नान्यदेवनृपतिर्विदधीत वास्तुम्॥"

२. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, वॉल्यूम १, श्री रमेशचन्द्र मजूमदार द्वारा संपादित। पृष्ठ ९६—१५२।

मनोवृत्ति का था। वाचस्पति ने भामती के अन्त में जिस राजा का उल्लेख किया है, वह देवपाल सदृश प्रतापी और विद्वान् राजा सम्भव है।

राजा देवपाल के लिये नृग पद का प्रयोग—

हमारे विचार से वाचस्पति के उक्त पद्य में 'नृग' शब्द नरवाहनता का द्योतक नहीं है। प्रत्युत भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध 'नृग' नामक राजा की समानता, देवपाल में दिखलाने के लिये इस शब्द का प्रयोग कियागया है। इस विचार को, भामती की व्याख्या वेदान्तकल्पतरु के इस प्रसंग के पद पुष्ट करते हैं। वहाँ भामती के उक्त पद्य का संकलितार्थ करते हुए लिखा है—

**"तथाविधः सार्थो यस्य प्रकृतत्वेन वर्त्तते स नृगस्तथेत्यपरः।
नृग इति राज्ञ आख्या[1]।"**

इससे स्पष्ट है—भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध 'नृग' नामक राजा के गुणों का ध्यान रखते हुए, प्रतापी धार्मिक देवपाल को 'अपर नृग' कहागया है। ताम्र-पत्रों में अन्यत्र भी 'नृग' नाम का इसप्रकार उल्लेख आता है। एक ताम्रपत्र का लेख है—

**"भूमिप्रदानान्न परं प्रदानं दानाद् विशिष्टं परिपालनं च।
सर्वेऽतिसृष्टां परिपाल्य भूमिं नृपा नृगाद्यास्त्रिदिवं प्रपन्नाः[2]॥"**

उस समय के इतिहास में तत्कालीन राजाओं की, प्राचीन प्रसिद्ध राजाओं के साथ समानता दिखलाने के लिये अन्य भी अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। उनमें से कुछ इसप्रकार हैं—

(१) समुद्रगुप्त (३३०–३७५ ईसवी सन्) के सम्बन्ध में एक लेख इस प्रकार है—

विस्मारिता नृपतयः पृथुराघवाद्याः[3]।

(२) इसीप्रकार यशोधरवर्मन् (५३२ ईसवी सन् के लगभग) के सम्बन्ध में एक लेख है—

**स श्रेयोधाम्नि सम्राडिति मनुभरतालर्कमान्धातृकल्पे।
कल्याणे हेम्नि भास्वान् मणिरिव सुतरां भ्राजते यत्र शब्दः।[4]**

---

१. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई संस्करण पृ० १०२१।
२. Khoh (खोह) कॉपर प्लेट, महाराज संक्षोभ, [२०९ गुप्त संवत्, ५२८ ईसवी सन्] फ्लीट गुप्त इन्स्क्रिप्शन्ज्, पृष्ठ ११५, पंक्ति २३।
३. एरण का शिलालेख, फ्लीट् गुप्त इन्स्क्रिप्शन्ज, संख्या २।
४. मन्दसोर शिलास्तम्भ, फ्लीट् गुप्त इन्स्क्रिप्शन्ज, संख्या ३३।

(३) राजा गोपाल (७५० ई० सन् के लगभग) के सम्बन्ध का एक ऐसा ही लेख है—

वृष्टान्ते सति कृतिनां सुराज्ञि यस्मिन्
श्रद्धेयाः पृथुसगरादयोऽप्यभूवन्[1] ॥

इसप्रकार वाचस्पति मिश्र के लेख में भी 'नृग' पद के प्रयोग से नृग के समान दानी और प्रजावत्सल महनीयकीर्त्ति राजा देवपाल का उल्लेख किया गया है[2]। अब यदि हम वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ विक्रमी संवत् समझते हैं, तो निश्चित ८४१ ख्रीस्ट के समीप उसका समय आता है, जो मिथिला पर राजा देवपाल के प्रमुत्व का समय है, और वाचस्पति का वर्णन सर्वथा उसकी स्थिति के अनुकूल है।

'वत्सर' पद का 'विक्रम संवत्' अर्थ समञ्जस है—

इसके विपरीत यदि 'वत्सर' पद का अर्थ शक (संवत्) समझते हैं, तो ८९८ शक, ख्रीस्ट ९७६ सन् आता है। अब देखना चाहिये—इस समय मिथिला पर किस राजा का प्रमुत्व था ? इतिहास[3] से मालूम होता है—पाल राज्य की अत्यधिक अवनति का यह काल था। मिथिला की प्रजा ने कुछ समय पूर्व पाल राज्य के विरुद्ध एक क्रान्ति कर दी थी, और मिथिला प्रदेश का बहुत बड़ा भाग पाल राज्य से निकल चुका था। मिथिला में उस समय किसी एकच्छत्र प्रतापी राजा का इतिहास से पता नहीं लगता। ऐसी स्थिति में वाचस्पति के द्वारा नृग के समान प्रतापी और धार्मिक राजा का वर्णन अनर्गल-सा होजाता है।

---

१. नालन्दा कॉपर प्लेट, देवपालदेव लेखित।

२. 'तस्मिन् महीपे महनीयकीर्त्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः'

Unfortunately there is (as Professor Ludars informs me) no epigraphical record of this king and we cannot say when or where he lived. [Introduction, "The Yoga-System of Patanjali," by J. H. Woods. P. 22.

परन्तु उक्त अध्यापक महोदय इस बात का निर्णय न करसके, कि वाचस्पति के श्लोक में 'नृग' पद तत्कालीन किसी राजा का साक्षात् नाम नहीं, प्रत्युत उसकी उपमा के लिये प्रयुक्त हुआ है। जैसाकि भामती के व्याख्याकार अमलानन्द सरस्वती ने वेदान्तकल्पतरु में स्पष्ट करदिया है।

३. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, वाल्यूम १, श्री रमेशचन्द्र मजूमदार द्वारा सम्पादित। पृष्ठ ९६-१५२।

खीस्ट ९८८ के बाद पालवंश के एक ऐसे राजा का उल्लेख इतिहास[1] में आता है, जिसने पालवंश के नष्ट राज्य का उद्धार किया। इस राजा का नाम महीपाल था। इसने मिथिला को पुन: विजय किया। इससे लगते हुए पूर्वकाल में मिथिला पर किसी एकच्छत्र राजा का राज्य इतिहास से पता नहीं लगता। 'वत्सर' का अर्थ, शक (संवत्) मानने पर वाचस्पति के १२ वर्ष बाद महीपाल का समय प्रारम्भ होता है। ऐसी स्थिति में वाचस्पति के वर्णन का विषय महीपाल को कदापि नहीं कहाजासकता। इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है– वाचस्पति के 'वत्सर' पद का विक्रमी संवत् अर्थ समझना ही सामञ्जस्यपूर्ण है।

'वत्सर' पद का अर्थ 'विक्रम संवत्' नहीं, अपितु शालिवाहन 'शक' है, दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य का मत—

दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने इस सम्बन्ध में कुछ नई सूचनाएं प्रकाशित कराई हैं[2]। उनके आधार पर आपने 'वत्सर' पद का अर्थ 'शक' (संवत्) मानने की प्रेरणा दी है। आपके लेख का सारांश इसप्रकार है—

(१) वाचस्पति ने भामती में शङ्कराचार्य के प्रतिद्वन्द्वी भास्कर का खण्डन किया है, शङ्कर का काल यद्यपि अनिश्चित है, फिर भी उसे ८०० ईसवी सन् में समझना चाहिये। इसलिये वाचस्पति का समय जल्दी से जल्दी १००० ईसवी सन् के लगभग मानाजासकता है।

(२) बौद्ध मत का खण्डन करते हुए, तात्पर्यटीका के पृष्ठ ३३९ पर[3] अपोह शब्द के अर्थ-प्रसंग में वाचस्पति एक उद्धरण इसप्रकार देता है—

"यथाह भदन्तधर्मोत्तरः—

'बुद्ध्या कल्पितया विविक्तमपरैर्यद्रूपमुल्लिख्यते।
बुद्धिर्नो न बहि' इति।"

यह सन्दर्भ, शेरबेट्स्की Stcherbatsky के लेखानुसार, तिब्बती भाषा में सुरक्षित, धर्मोत्तरप्रणीत 'अपोहप्रकरण' नामक रचना के आधार पर है। वाचस्पति के द्वारा 'धर्मोत्तर' के साथ आदरणीय 'भदन्त' पद का प्रयोग करने से प्रतीत होता है–धर्मोत्तर, वाचस्पति से लगभग एक सौ वर्ष पुराना होगा।

---

१. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, वॉल्यूम १, श्री रमेशचन्द्र मजूमदार द्वारा सम्पादित। पृष्ठ ९६-१५२।
२. देखिये–'जर्नल ऑफ दि गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिट्यूट' प्रयाग, Vol. २ Part ४ अगस्त १९४५, पृ० ३४९ से ३५६।
३. तुलना करें, न्यायकन्दली पृ० १८७, बनारस का विजयानगरं सीरीज संस्करण। तात्पर्यटीका का उक्त पृष्ठ भी इसी सीरीज के संस्करण का है।

तिब्बती आधारों पर धर्मोत्तर, राजा वनपाल [ख्रीस्ट नवम शतक का मध्य] का समकालिक था। वस्तुतः धर्मोत्तर, पालवंश के चार पाँच राजाओं के अनन्तर आया। राजतरंगिणी [४।४९८] में भी धर्मोत्तर का उल्लेख है। वहाँ इसे जयापीड (८०० ई० सन्) का समकालिक बताया है। यह कथन तिब्बती साक्षी के कुछ अधिक विरुद्ध नहीं है, और हम धर्मोत्तर को सरलता से ख्रीस्ट नवम शतक के पूर्वार्ध में रखसकते हैं। इसलिये वाचस्पति दशम शतक से पूर्व नहीं रखाजासकता।

(३) न्यायलीलावती[1] में निम्नलिखित एक सन्दर्भ है—

"तदिदं चिरंतनवैशेषिकमतदूषणं भूषणकारस्यातित्रपाकरम्। तदियमाम्नातता भासर्वज्ञस्य यदयमाचार्यमप्यवमन्यते। तथा च तदनुयायिनस्तात्पर्याचार्यस्य सिंहनादः–संविदेव हि भगवतीत्यादि"

तात्पर्यटीका [लाजरस संस्करण, पृ० २७७] में वाचस्पति ने इसको उद्धृत किया[2] है। इसप्रकार वल्लभाचार्य [११०० ई० सन्] के अनुसार वाचस्पति का समय, न्यायभूषण के रचयिता भासर्वज्ञ के बाद आता है। न्यायभूषण में भासर्वज्ञ ने बौद्ध पण्डित प्रज्ञाकर गुप्त [गणकारिका G.O.S. Intre. P.I.] के विचारों का खण्डन किया है। इसप्रकार भासर्वज्ञ का जल्दी से जल्दी का काल ख्रीस्ट नवम शतक रक्खाजासकता है।

(४) किरणावली[3] के पृष्ठ ११४ पर उदयन ने कालनिरूपण प्रसंग में एक सन्दर्भ इसप्रकार उद्धृत किया है—

"न चात्माकाशौ तथा भवितुमर्हतो विशेषगुणवत्वात्
पृथिव्यादिवदित्याचार्याः।"

तात्पर्यटीका पृष्ठ २८० [लाजरस संस्करण] में वाचस्पति का लेख इस प्रकार है—

---

१. निर्णयसागर प्रेस बम्बई का मूल संस्करण, पृष्ठ ३३।

२. In the न्यायलीलावती occurs the following passage तदिदं चिरंतन.........भगवतीत्यादि, which is also quoted by Vacaspati Misra in his Tatparyatika (P. 227)

वस्तुतः तात्पर्यटीका के उक्त पृष्ठ में 'संविदेव भगवती वस्तूपगमे नः शरणं' यह पाठ है। उद्धरण वहाँ कोई नहीं है। इसलिये भट्टाचार्य महोदय को यह लिखना चाहिये था, कि न्यायलीलावती में तात्पर्याचार्य के जिस सिंहनाद का निर्देश है, वह तात्पर्यटीका के उक्त स्थल में उपलब्ध होता है।

३. चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस संस्करण।

"अपि चाकाशात्मानौ न परापरव्यतिकरकारणम्,
असाधारणगुणयोगित्वात्, पृथिव्यादिवत् ।"

परन्तु किरणावली के व्याख्याकार वर्धमान ने यहाँ 'आचार्य' पद से व्योमशिवाचार्य का ग्रहण किया है, वाचस्पति का नहीं। इससे यही परिणाम निकाला जासकता है, कि वर्धमान, वाचस्पति को व्योमशिवाचार्य से पीछे समझता है।

इस सम्बन्ध में यह एक ध्यान देने की बात है-व्योमवती [पृ० ३४२-३] कन्दली [पृ० ६४, १६८-६] तात्पर्यटीका [पृ० २८०-१] और लीलावती पृ० २८३] के सम्बन्धित सन्दर्भों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन इस बात को प्रकट करता है, कि वाचस्पति सहित ये सब विद्वान् यहाँ समानरूप से किसी एक युक्ति का विरोध कररहे हैं, जिसको लीलावती में 'भूषण' के नाम पर दर्शाया गया है। लीलावती का पाठ है—

"न च परत्वापरत्वसिद्धिरपि, बहुतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वेनैव तदुपपत्तेः इति भूषणः[1] ।"

उदयन और श्रीधर की अपेक्षा व्योमशिव पूर्ववर्ती आचार्य है, इस विचार को व्योमवती, कन्दली और किरणावली से पाँच[2] स्थलों की परस्पर तुलना करके पुष्ट कियाजासकता है। व्योमशिव का समय, ख्रीस्ट दशम शतक का[3] पूर्वार्ध, अनुमान कियाजाना चाहिये, जबकि उदयन के 'आचार्य' पद का वर्धमान ने 'वाचस्पति' अर्थ न कर 'व्योमशिव' किया है, तब व्योमशिव की अपेक्षा वाचस्पति को परवर्त्ती मानने पर वाचस्पति का समय ख्रीस्ट दशम शतक का उत्तरार्द्ध ही स्वीकार कियाजासकता है। इसप्रकार वाचस्पति का 'वस्वङ्कवसु' [८६८] वत्सर, शक संवत् मानना चाहिये। ८६८ शक संवत् में ७८ जोड़ने से ९७६ ईसवी सन् बनजाता है, जो ठीक दशम शतक का उत्तरार्ध भाग है।

(५) भट्टाचार्य महोदय ने पांचवीं युक्ति में लिखा है-उपर्युक्त विचार और भी पुष्ट होजाते हैं, जब हम देखते हैं, कि श्रीधर ने न्यायकन्दली में वाचस्पति की रचना के साथ कहीं भी परिचय प्रकट नहीं किया है, उदाहरण के लिये 'तमस्' के वर्णन में श्रीधर ने दो श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनके रचयिता का नाम अज्ञात है। श्लोक हैं—

"तदुक्तम्—

न च भासामभावस्य तमस्त्वं वृद्धसम्मतम् ।
छायायाः कार्ष्ण्यमित्येवं पुराणे भूगुणश्रुतेः ॥

---

१. लीलावती मूल, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृ० २५।
२. पाँच स्थलों को देखें—जर्नल ऑफ़ दि गंगाराम झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, अगस्त, १९४५, पृ० ३५१।
३. उक्त जर्नल, पृ० ३५१-२।

दूरासन्नप्रदेशादिमहदल्पचलाचला ।
देहानुवर्त्तिनी छाया न वस्तुत्वाद्विना भवेत् ।।" इति ।

ये श्लोक वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका [पृ० ७६] में वार्त्तिककार के नाम से उद्धृत किये हैं। उसके पाठभेद को देखकर यह कहाजासकता है, कि इन दोनों ने इन श्लोकों को एक स्थान से नहीं लिया है, तथा परस्पर एक-दूसरे के आधार का परिचय नहीं।

श्रीधर[1] ने सांख्य के सत्कार्यवाद का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। वहां पर '**असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः**' इत्यादि एक पुरानी कारिका उद्धृत कीगई है। आपाततः देखने पर यह बात मालूम होती है, कि श्रीधर ने ९वीं सांख्यकारिका की वाचस्पति मिश्र लिखित 'तत्त्वकौमुदी' के शब्दों का खण्डन किया है, जहां उक्त पुरानी कारिका उद्धृत है। परन्तु उन सन्दर्भों का सूक्ष्म परीक्षण इस बात को सिद्ध करता है, कि श्रीधर ने ठीक जिन शब्दों का उद्धरण अथवा खण्डन किया है, वे वाचस्पति के नहीं हैं, और उक्त कारिका भी, जो उक्त प्रसंग पर दोनों ग्रन्थों में उद्धृत है, सांख्यकारिका की एक प्राचीन व्याख्या युक्तिदीपिका[2] में भी उपलब्ध होती है। इसीप्रकार न्यायकन्दली[3] में प्रसंगवश सांख्यकारिका ६७ की व्याख्या कीगई है, परन्तु इस कारिका के '**अकारणप्राप्तौ**' पद का जो विशेष व्याख्यान वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में किया है, कन्दली में उसका पता नहीं। श्रीधर का यह मौन–जबकि उसने धर्मोत्तर का साक्षात् नाम लिया है–इस बात को सिद्ध करता है, कि वाचस्पति का समय ८४१ ई० सन् असंभव है। वाचस्पति के अपने समय से यह पूरा १५० वर्ष पहले है।

दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के मत की समीक्षा और उसकी निराधारता—

इन आधारों पर दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य महोदय ने वाचस्पति मिश्र का समय १००० खीस्ट के लगभग निश्चित किया है, और इसलिये '**वस्वङ्कवसुवत्सरे**' में 'वत्सर' पद से शकनृपति के संवत् का निर्देश होना प्रमाणित किया है। उनके प्रत्येक आधार का यथाक्रम आलोचन प्रस्तुत है—

(१) शंकराचार्य के समय के सम्बन्ध में भट्टाचार्य महोदय ने स्वयं लिखा है, कि उसके समय का अभी तक ठीक निश्चय नहीं है। इसलिये उसका ८०० खीस्ट, इतना निश्चित केन्द्र नहीं हैं, जिसके आधार पर अन्य आचार्यों के समय का निश्चय कियाजासके। अनिश्चय की बुनियाद पर निश्चय की

१. न्यायकन्दली, लाजरस बनारस संस्करण, पृ० १४३-४४।
२. कलकत्ता संस्कृत सीरीज़ संस्करण, पृ० ६१।
३. न्यायकन्दली, उक्त संस्करण, पृ० २८४।

दीवार खड़ी नहीं कीजासकती। इतना अवश्य कहाजासकता है, कि शंकर से वाचस्पति अर्वाचीन है, परन्तु उनके कालभेद को नियत नहीं कियाजासकता। इसलिये शंकर से दो सौ वर्ष वाचस्पति का अन्तर, आधारहीन कल्पनामात्र है। शंकर के प्रतिद्वन्द्वी भास्कर का वाचस्पति के द्वारा भामती में, खण्डन[1] किये जाने पर भी उसके समय पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालता। क्योंकि भास्कर का समय भी अभी अनिश्चित है। इसलिये मूल आधार का अनिश्चय होने से यह युक्ति, वाचस्पति के समय का निर्णय करने में कोई बल नहीं रखती।

आद्य आचार्य शंकर के काल का विवेचन करने में पाश्चात्य ईसाई लेखकों ने–आचार्य द्वारा स्थापित मठों में सुरक्षित सामग्री का उपयोग करने की–पूर्ण उपेक्षा की है। इन मठों की आचार्य-परम्परा अथवा शिष्यानुगत वंशानुक्रम इस तथ्य के सबल प्रमाण हैं, कि आद्य आचार्य शंकर का जन्म ५०९ वर्ष ईसा-पूर्व में हुआ; तथा देहावसान ४७७ ईसापूर्व में। आचार्य का जीवनकाल ३२ वर्ष छह मास के लगभग रहा। जन्मकाल सम्बन्धी स्पष्ट स्वतन्त्र लेख भी मठों में सुरक्षित हैं। मठों की परम्परा एक-दूसरे से सन्तुलित हैं। केवल शृंगेरी मठ अपने मध्यकाल में लगभग आठ सौ वर्ष तक उच्छिन्न रहा, पुनः जीर्णोद्धार काल से उसकी परम्परा उपलब्ध है, पहली नष्ट है। शत्रुओं द्वारा मठ के उच्छिन्न होने पर किसीप्रकार बचे अधिकारी कुडली नामक स्थान में आकर आश्रय पासके। परन्तु पूर्व मठ से अपनी ऐतिहासिक सामग्री आंशिक रूप में भी अपने साथ लाने में असमर्थ रहे। कुडली मठ अब भी चालू है। वर्त्तमान शृंगेरी और कुडली मठ की परम्परा को आनुपूर्वी से मिलाने पर अन्य मठों के साथ इसका कालिक सामञ्जस्य पूर्णरूप में होजाता है। शंकर और वाचस्पति के काल में दो सौ वर्ष का अन्तर क्या? यह तो लगभग साढ़े तेरह सौ वर्ष का अन्तर है। इससे वाचस्पति का काल ८९८ विक्रमी संवत् मानेजाने में कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता[2]।

(२) वाचस्पति ने तात्पर्यटीका [पृ० ३४९] में बौद्ध विद्वान् धर्मोत्तर का नाम लेकर उसके एक सन्दर्भ को उद्धृत किया है। इसप्रकार का उल्लेख दोनों

१. भामती में भास्कर का खण्डन किन स्थलों पर कियागया है, इसका कोई निर्देश भट्टाचार्य महोदय ने अपने लेख में नहीं किया। फिर भी हमें इस बात के स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं, कि भास्कर, वाचस्पति की अपेक्षा प्राचीन है।
२. आद्य शंकराचार्य के काल के लिये देखें–'वेदान्तदर्शन का इतिहास' आचार्य उदयवीर शास्त्री कृत; विरजानन्द वैदिक (शोध) संस्थान, गाजियाबाद से सन् १९७० में प्रकाशित।

को समानकालिक मानने पर भी सर्वथा संभव है। धर्मोत्तर के साथ 'भदन्त' पदका प्रयोग इस बात का निर्णायक नहीं होसकता, कि धर्मोत्तर वाचस्पति से सौ वर्ष पूर्व होना चाहिये, तथा इसीलिये आदरणीय भदन्त पद का प्रयोग कियागया है। वाचस्पति, कोई धर्मोत्तर का अनुयायी नहीं है, जो प्राचीनता के विचार से उसके लिये आदरभाव प्रकट करे। प्रत्युत वह उसका विरोधी है, विरोधी के लिये इसप्रकार के प्रयोग, शालीनता के द्योतक एवं समकाल में अधिक संभव हैं। वस्तुतः इस प्रयोग में आदर की कोई भावना नहीं। इससे तो विरोधिताप्रदर्शन पर ही अधिक प्रकाश पड़ता है। फिर हम लोग स्वयं अपने समकालिक बौद्ध विद्वानों के लिये[1] बराबर इस पद का प्रयोग करते हैं। इसलिये वाचस्पति के द्वारा धर्मोत्तर के साथ 'भदन्त' पद का प्रयोग उसकी प्राचीनता को नहीं, प्रत्युत समकालिकता को अधिक प्रकट करता है। भट्टाचार्य महोदय ने धर्मोत्तर का समय ख्रीस्ट नवम शतक का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया है, वाचस्पति ने भी स्वयं अपना यही समय निर्दिष्ट किया है। इसके अतिरिक्त राजतरंगिणी [४।४९८] के आधार पर वाचस्पति को जयापीड का समकालिक होना चाहिये। जयापीड का समय ८०० ई० सन् है। यह तिब्बती साक्षी के भी कुछ अधिक विरुद्ध नहीं है। यह भी नहीं कहाजासकता, कि तिब्बती साक्षी इस विषय में कुछ अधिक प्रामाणिक हो। इसलिये यदि धर्मोत्तर का समय ख्रीस्ट आठ सौ मानाजाता है, तो वाचस्पति के ८४१ ख्रीस्ट समय होने में कोई असामञ्जस्य नहीं कहाजासकता। संभव है, समकालिक होनेपर भी धर्मोत्तर, आयु में वाचस्पति से कुछ अधिक हो और इसीलिये उसने धर्मोत्तर के लिये भदन्त पद का प्रयोग किया हो। केवल इस पद के प्रयोग से, वाचस्पति की अपेक्षा धर्मोत्तर का एक सौ वर्ष पूर्व होना निश्चित नहीं कियाजासकता। इसलिये वाचस्पति के 'वत्सर' पद का विक्रम संवत् ही अर्थ समझना प्रामाणिक होगा।

(३) न्यायलीलावती के एक सन्दर्भ के आधार पर भट्टाचार्य महोदय ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है, कि वाचस्पति मिश्र का समय भासर्वज्ञ के बाद आता है। परन्तु प्रतीत होता है—उक्त सन्दर्भ को ठीक समझने के

---

१. आजकल सब लोग, भदन्त राहुल सांकृत्यायन और भदन्त आनन्द कौसल्यायन इन नामों को बोलते और लिखते हैं। ये दोनों बौद्ध विद्वान् इस समय वर्त्तमान हैं। इनमें से दूसरे सज्जन हमारे समीप कुछ दिन अध्ययन भी करते रहे हैं। परन्तु यथावसर सदा हम इन्हें भदन्त पद के साथ बुलाते व लिखते हैं। अब कुछ दिनों से राहुल के साथ, लिखने में महापण्डित पद का प्रयोग भी कियाजानेलगा है। राहुल से हमारा पर्याप्त समीप सम्बन्ध रहा है।

लिये यत्न नहीं कियागया, और भासर्वज्ञ तथा वाचस्पति मिश्र की पूर्वापरता का परिणाम, एक भ्रान्ति पर प्रकट करदियागया है। इस प्रसंग को अधिक स्पष्ट करने के लिये न्यायलीलावती के उक्त सन्दर्भ का यहाँ अर्थ करदेना उपयुक्त है।

चिरंतन वैशेषिक मत में दूषण देना, भूषणकार [न्यायभूषण के रचयिता भासर्वज्ञ] के लिये अत्यन्त लज्जाजनक है। यह भासर्वज्ञ के लिये एकप्रकार से शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन है, जो वह आचार्य का भी तिरस्कार करता है। क्योंकि चिरंतन वैशेषिक मत के अनुयायी [तात्पर्यटीका के रचयिता आचार्य वाचस्पति मिश्र] का यह सिंहनाद [उद्घोषण–कथन] है, कि 'संविदेव भगवती' इत्यादि।"

इस सन्दर्भ से स्पष्ट होता है–चिरंतन वैशेषिक मत में दूषण देकर भूषण-कार भासर्वज्ञ ने आचार्य का अपमान किया है। यहाँ पर 'आचार्य' पद से वाचस्पति मिश्र का ग्रहण कियाजासकता है। क्योंकि अगली हेतुगर्भित पंक्ति में उसीके ग्रन्थ और सन्दर्भ का निर्देश है। इसलिये वाचस्पति मिश्र को भासर्वज्ञ से पूर्ववर्त्ती माने विना, भासर्वज्ञ के द्वारा उसके अपमान की कल्पना नहीं की जासकती। इसप्रकार इस सन्दर्भ के आधार पर जो परिणाम भट्टाचार्य महोदय ने प्रकट किया है, उससे सर्वथा विपरीत परिणाम निकलता है। भासर्वज्ञ का समय भट्टाचार्य महोदय ने ख्रीस्ट नवम शतक लिखा है। ऐसी स्थिति में वाचस्पति अवश्य उससे पूर्व होना चाहिये। इसप्रकार ख्रीस्ट नवम शतक के पूर्वार्ध में वाचस्पति का होना अत्यन्त स्पष्ट एवं प्रामाणिक है। इस आधार पर भी वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ विक्रमी संवत् होना चाहिये।

प्रतीत होता है–भट्टाचार्य महोदय को न्यायलीलावती के उक्त सन्दर्भ में 'तदनुयायिनः' पद का अर्थ समझने में भ्रान्ति हुई है। संभवतः आपने 'तत्' शब्द, भासर्वज्ञ का परामर्शक समझा है, और इसप्रकार वाचस्पति मिश्र को भासर्वज्ञ का अनुयायी समझकर आपने भासर्वज्ञ को उससे पूर्ववर्त्ती मानलिया है। परन्तु आपका ध्यान इस असामञ्जस्य की ओर नहीं गया, कि उस अवस्था में भासर्वज्ञ की कृति को लज्जाजनक और उसको आचार्य का अपमान करनेवाला कैसे बतायागया? वस्तुतः यहाँ 'तत्' पद 'चिरंतन वैशेषिक मत' का परामर्शक है। उसके अनुयायी वाचस्पति ने जो 'संविदेव हि भगवती' इत्यादि कथन किया है, उसकी कुछ भी अपेक्षा न करके भूषणकार भासर्वज्ञ ने चिरंतन वैशेषिक मत में दूषण दिया है, इसलिये उसकी यह चेष्टा लज्जाजनक है, और आचार्य [वाचस्पति मिश्र] के अपमान की द्योतक है। क्योंकि उसके लेख की भासर्वज्ञ ने कुछ भी पर्वाह न की। इस न्यायलीलावती के सन्दर्भ में भासर्वज्ञ

के विरुद्ध एक मीठी चुटकी लीगई है, जो स्पष्ट ही वाचस्पति मिश्र को उससे पूर्ववर्त्ती सिद्ध करती है।

(४) किरणावली की एक पंक्ति के 'आचार्याः' पद से वर्धमान ने व्योमशिव का ग्रहण किया है, वाचस्पति का नहीं, जबकि 'आचार्याः' नाम से उल्लिखित पंक्ति वाचस्पति के ग्रन्थ में विद्यमान है। भट्टाचार्य महादेव ने इससे यह परिणाम निकाला है, कि वर्धमान, व्योमशिव को वाचस्पति मिश्र से पूर्ववर्त्ती आचार्य समझता है। इसीलिये 'आचार्याः' पद से उसने व्योमशिव का ग्रहण किया, वाचस्पति का नहीं।

परन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। प्रथम तो यह ध्यान देने की बात है कि, यदि उदयन की पंक्ति के 'आचार्य' पद से वर्धमान ने व्योमशिव का ग्रहण किया है, तो इससे केवल इतना परिणाम निकाला जासकता है, कि व्योमशिव, उदयन की अपेक्षा पूर्ववर्त्ती है। वाचस्पति का तो इससे कोई सम्बन्ध नहीं। सम्बन्ध न होने का मुख्य कारण यह है, कि उदयन ने प्रशस्तपाद भाष्य की व्याख्या में उक्त पंक्ति को लिखा है, यह प्रशस्तपाद भाष्य के जिन पदों की व्याख्या के सम्बन्ध में लिखीगई है, उन पदों की जिस आचार्य ने उस प्रकार की व्याख्या की हो, उसीका ग्रहण 'आचार्याः' पद से कियाजासकता है। वर्धमान इस बात को जानता था, और आज हम सब अच्छी तरह जानते हैं, कि प्रशस्तपाद भाष्य पर वाचस्पति ने कोई व्याख्या नहीं लिखी है। तब उदयन उसका किसप्रकार अतिदेश करसकता था, और वर्धमान कैसे 'आचार्य' पद से उक्त प्रसंग में वाचस्पति का ग्रहण करता। व्योमशिव प्रशस्तपाद भाष्य का व्याख्याता है, उदयन ने 'आचार्य' पद से जिस सिद्धान्त का निर्देश किया है, उसी प्रसंग में उसी रूप में वह सिद्धान्त व्योमशिव के व्याख्यान में विद्यमान है। तब उदयन के 'आचार्य' पद से वर्धमान, वाचस्पति का ग्रहण कैसे करता? यह कोई भी बुद्धि-जीवी समझसकता है।

आप कह सकते हैं–वाचस्पति के ग्रन्थ में उसीतरह की पंक्ति उपलब्ध होती हैं। हम कहते हैं–हुआ करे, उसका प्रशस्तपाद भाष्य के व्याख्यान से कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी एक वस्तु की सिद्धि के लिये अनुमान कियेजाने पर उनके पदों की समानता सर्वत्र सर्वथा सम्भव है। अनुमानप्रयोग, गणित के समान समझने चाहियें। प्रत्येक व्यक्ति दो और दो चार कहेगा और लिखेगा। एक वस्तु के प्रतिपादन में अनुमानप्रयोगों का समान होना साधारण बात है। विचारना तो यह है, कि प्रशस्तपाद भाष्य की व्याख्या करते हुए उदयन, जब किन्हीं पदों की भिन्न व्याख्या का अतिदेश करता है, तब वह वाचस्पति मिश्र का उल्लेख कैसे करसकता है? क्योंकि वाचस्पति मिश्र प्रशस्तपाद भाष्य का व्याख्याता नहीं हैं। इसलिये प्रशस्तपादभाष्य के अन्यतम पूर्ववर्त्ती व्याख्याता व्योमशिव का

वह अतिदेश करता है, इसीलिये वर्धमान 'आचार्य' पद से व्योमशिव का ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में वाचस्पति के समय पर इस उल्लेख का कोई प्रभाव नहीं पड़सकता।

इस बात के स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होसकती, कि उदयन और श्रीधर की अपेक्षा व्योमशिव पूर्ववर्त्ती आचार्य है। उसका समय भट्टाचार्य महोदय ने ख्रीस्ट दशम[1] शतक का प्रारम्भ अनुमान किया है। परन्तु

---

१. विभूतिभूषण भट्टाचार्य ने अपने लेख [दि जर्नल ऑफ़ दि गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिटट्यूट, प्रयाग, Vol. 3. Part 1. नवम्बर १९४५, पृष्ठ ४१-४६] में व्योमशिवाचार्य का काल, ख्रीस्ट अष्टम शतक का प्रारम्भ, निश्चित किया है। व्योमवती [पृ० ३९२] की 'श्रीहर्ष' देवकुलमिति ज्ञाने, और 'अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वमात्मनि कर्तृत्वकरणत्वयोरसम्भव इति बाधकम्' इन पंक्तियों के आधार पर व्योमशिवाचार्य को थानेश्वर के राजा प्रसिद्ध श्रीहर्ष अथवा हर्षवर्धन का समकालिक बताया है। हर्ष का समकालिक मानने पर व्योमशिव का समय, ख्रीस्ट सप्तम शतक का पूर्वार्ध होना चाहिये। इस आपत्ति से बचने के लिये श्रीयुत विभूतिभूषण महोदय ने व्योमशिव को हर्ष का [A younger contemporary of king Harsa] कनिष्ठ समकालिक कहा है। अर्थात् हर्ष जब अपनी आयु के अन्तिम दिनों में था, तब व्योमशिव युवावस्था में पदार्पण कर रहा था। लेखक संभवत: इस बात को बतलाना चाहरहा है, कि व्योमशिव ने प्रशस्तपादभाष्य की व्योमवती टीका श्रीहर्ष की विद्यमानता में लिखी थी। हर्ष का अन्तिम वर्ष ६४५ ईसवी सन् है। यदि उस समय व्योमशिव की आयु ३० वर्ष की मानलीजाय, जो कम से कम माननी आवश्यक है, तो अष्टम शतक के प्रारम्भ चरण तक जीने के लिये उसे ८० वर्ष और जीना चाहिये, जो असमञ्जस प्रतीत होता है। उसकी शेष आयु के इतने लम्बे समय की किसी अन्य रचना का भी पता नहीं लगता। वस्तुत: व्योमवती की श्रीहर्ष सम्बन्धी पंक्तियों के आधार पर यह नहीं कहाजा-सकता, कि व्योमवती हर्ष की विद्यमानता में लिखी गई। यह बात निश्चित है, कि मंगलाचरण कियेजाने पर भी ग्रन्थ की समाप्ति न होने के उदाहरण रूप में, कादम्बरी की प्रसिद्धि उस समय होचुकी थी, जब व्योमवती लिखी गई। यह हम नहीं कहसकते, कि हर्ष का देहान्त पहले हुआ या बाणभट्ट का, फिर भी इस प्रसिद्धि का समय हर्ष के कुछ समय बाद हो, यह संभव है। व्योमवती की ३९२ पृष्ठ की पंक्तियां भी इसमें कोई बाधक नहीं हैं। ऐसा उल्लेख चाहे जब होसकता है, उसमें मृत या जीवित का बन्धन नहीं।

उसके इस समय का अथवा वर्धमान के लेख का वाचस्पति के कालनिर्णय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये अपने स्वतन्त्र आधारों पर वाचस्पति का समय, खीस्ट नवम शतक का पूर्वार्ध निश्चित है। इसप्रकार वाचस्पति का **'वस्वङ्कवसु [८९८] वत्सर'**, शक संवत् न माना जाकर विक्रमी संवत् मानाजाना चाहिये।

(५) भट्टाचार्य महोदय का विचार है–श्रीधर ने न्यायकन्दली में वाचस्पति की रचना के साथ परिचय प्रकट नहीं किया है। 'तमस्' में वर्णन में जो दो श्लोक न्यायकन्दली और न्यायकणिका में श्रीधर तथा वाचस्पति मिश्र ने उद्धृत किये हैं, यह संभव है, उन दोनों ने इन श्लोकों को एक ही स्थल से न लिया हो। परन्तु इन दोनों ग्रन्थों में उद्धृत प्रस्तुत श्लोकों का कुछ पाठभेद इस बात का निर्णायक नहीं कहाजासकता, कि इनमें से एक ने दूसरे का परिचय प्राप्त नहीं किया था। क्योंकि पाठभेद, बाद में लेखकों के द्वारा होना संभव है, और यह आगे स्पष्ट करने का यत्न करेंगे, कि श्रीधर को वाचस्पति की रचना का परिचय प्राप्त था।

श्रीधर ने सांख्य के सत्कार्यवाद का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। वहां पर **'असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः'** इत्यादि एक प्राचीन कारिका उद्धृत कीगई है। आपाततः देखने पर कोई यह भले ही कह दे, कि श्रीधर ने इस कारिका को 'तत्त्वकौमुदी' से उद्धृत न कर, 'युक्तिदीपिका' से किया होगा। परन्तु उस प्रसंग के सन्दर्भों का सूक्ष्म परीक्षण इस बात को स्पष्ट सिद्ध कर देता है, कि श्रीधर ने यह कारिका वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी से उद्धृत की है; युक्तिदीपिका से नहीं। इसके अधिक स्पष्टीकरण के लिये उक्त प्रसंग के तीनों ग्रन्थों के पाठों को यहाँ उद्धृत कर देना आवश्यक है। प्रथम तत्त्वकौमुदी और कन्दली के पाठों को उपस्थित कियाजाता है—

तत्त्वकौमुदी	कन्दली
असदकरणादिति–असच्चेत् कारणव्यापारात्पूर्वं कार्यं नास्य सत्त्वं कर्त्तुं केनापि शक्यं···सतश्चाभिव्यक्ति-	असदकरणात्–न ह्यसतो गगन-कुसुमस्य सत्त्वं केनचिच्छक्यं कर्त्तुं सतश्च सत्कारणं युक्तमेव तद्धर्मत्वात्

व्योमशिव का समय, खीस्ट अष्टम शतक का प्रारम्भ, स्वीकार करने में पुरन्दर के स्थापित मठ की परम्परा अच्छा प्रमाण है। परन्तु उक्त आधारों पर व्योमशिव को श्रीहर्ष का कैसा भी समकालिक बताना निराधार और व्यर्थ है। व्योमशिव का यह काल भी हमारे विचार में कोई बाधा नहीं डालता, और न वाचस्पति के [८९८ विक्रमी = ८४१ A. D.] काल पर कोई प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

रुपपन्ना, यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्य, ···असतः करणे तु न निदर्शनं किञ्चिदस्ति ।	दृष्टं हि तिलेषु सत एव तैलस्य निष्पीडनेन करणं असतस्तु करणे न निदर्शनमस्ति ।
इतश्च···सदेव कार्यम्—उपादानग्रहणात्—उपादानानि कारणानि तेषां ग्रहणं कार्येण सम्बन्धः···सम्बन्धश्च कार्यस्याऽसतो न संभवति तस्मात् सदिति ।	इतश्च सत्कार्यम्—उपादानग्रहणात्—उपादानानि कारणानि तेषां कार्येण ग्रहणं कार्यस्य तैः सह सम्बन्धः तस्मात् तत्कार्यं सदेव अविद्यमानस्य सम्बन्धाभावात् ।
असम्बद्धमेव कारणैः कस्मात् कार्यं न जन्यते तथा चासदेवोत्पस्यतेऽत आह—सर्वसम्भवाभावादिति । असंबद्धस्य जन्यत्वे असंबद्धत्वाविशेषेण सर्वं कार्यजातं सर्वस्माद् भवेत्, न चैतदस्ति, तस्मात्···सम्बद्धं संबद्धेन जन्यत इति ।	असम्बद्धमेव कार्यं कारणैः क्रियते इति चेन्न, सर्वसम्वाभवात् । असम्बद्धत्वाविशेषे सर्वं सर्वस्माद् भवेत्, न चैवम्, तस्मात् कार्यं प्रागुत्पत्तेः कारणैः सह सम्बद्धम् ।
यथाहुः सांख्यवृद्धाः—'असत्त्वेनास्ति संबन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः । असंबद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः' ।। इति ।	यथाहुः—'असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः । असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ।' इति ।
स्यादेतत्—असंबद्धमपि सत् तदेव करोति यत्र यत्कारणं शक्तं शक्तिश्च कारणस्य कार्यदर्शनादवगम्यते,···सा शक्तिः शक्तकारणाश्रया सर्वत्र वा स्यात् शक्य एव वा ? सर्वत्र चेत् तदवस्थैवाव्यवस्था, शक्ये चेत् कथमसति शक्ये तत्र इति वक्तव्यम् ।	अपिच—शक्तस्य जनकत्वमशक्तस्य वा ? अशक्तस्य जनकत्वे तावदतिप्रसक्तिः शक्तस्य जनकत्वे तु किमस्य शक्तिः सर्वत्र, क्वचिदेव वा ? सर्वत्र चेत् सैवातिव्याप्तिः; अथ क्वचिदेव, कथमसति तस्मिन् कारणस्य शक्तिर्नियतेति वक्तव्यम् ।

इन दोनों ग्रन्थों के प्रस्तुत पाठों की तुलना में स्पष्ट देख सकते हैं; कि कन्दली के पद, आनुपूर्वी, व्याख्याशैली, किसी अर्थ का उस रूप में प्रस्तुत करना, ये सब बातें तत्त्वकौमुदी के साथ कितनी अधिक समानता रखती हैं। कन्दली के पाठ, सांख्यकारिका की अन्य किसी व्याख्या के साथ समानता नहीं रखते। यदि श्रीधर ने, वाचस्पतिकृत तत्त्वकौमुदी के साथ परिचय रक्खे विना स्वतन्त्र रूप से इस कारिका की व्याख्या लिखी होती; तो कारिकाओं की अन्य प्राचीन व्याख्याओं के समान, इसमें भी इतनी बिशेषता या विभिन्नता अवश्य होती, जिससे हम इसप्रकार की समानता दिखलाने में असमर्थ रहते, जैसीकि अन्य व्याख्याओं के साथ कन्दली की असमानता स्पष्ट है ।

जहाँ तक कन्दली में सांख्य की उक्त प्राचीन कारिका के उद्धरण का सम्बन्ध है, निश्चयपूर्वक कहाजासकता है, कि कन्दलीकार ने यह कारिका, तत्त्वकौमुदी से ली है। क्योंकि सांख्यसप्तति की जितनी पुरानी व्याख्या है, उनमें से केवल दो व्याख्याओं में उक्त कारिका उद्धृत है, एक सांख्यतत्त्वकौमुदी, दूसरी युक्तिदीपिका में। युक्तिदीपिका की व्याख्याशैली कन्दली की व्याख्या से किसी रूप में समानता नहीं रखती।

युक्तिदीपिका का पाठ इसप्रकार है—

यदुक्तं सतो निष्पन्नत्वात् क्रियाऽनुत्पत्तिरिति तस्य व्याघातः। अथ मतमसत्यपि सम्बन्धे निष्पत्तिर्भवतीति, तेन कारकव्यापारवैयर्थ्यप्रसंगः। प्रागपि च कारकोपादानात् कार्यनिष्पत्तिप्रसंग इति। उक्तञ्च—

असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारकैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥ इति।
आह-ननु च मध्यमे काले कर्त्रादिभिः कार्यं क्रियते।
कः पुनरसौ मध्यमः काल इति ?

इसके अतिरिक्त कन्दली में जिस क्रम पर उक्त कारिका को उद्धृत किया है, वह युक्तिदीपिका से भिन्न है। युक्तिदीपिका में 'असदकरणात्' इस प्रथम हेतु की व्याख्या में उक्त कारिका उद्धृत है। परन्तु कन्दली में 'सर्वसम्भवाभावात्' इस तृतीय हेतु की व्याख्या में उद्धृत कीगई है, जो सांख्यतत्त्वकौमुदी के साथ समानता रखती है। इसके पूर्वापर के पाठ भी तत्त्वकौमुदी के साथ आश्चर्यजनक समानता रखते हैं। कन्दली के पाठों के साथ तुलना के विचार से युक्तिदीपिका के प्रस्तुत पाठों की कुछ भी समानता नहीं है। इन तुलनाओं के आधार पर निश्चित रूप से कहाजासकता है, कि कन्दलीकार श्रीधर अवश्य वाचस्पति की कृति तत्त्वकौमुदी से पूर्ण परिचित था। दोनों की इतनी अधिक समानता को आकस्मिक नहीं कहाजासकता। यह कल्पना तो सर्वथा उपहासास्पद होगी, कि वाचस्पति मिश्र ने इस आर्या की व्याख्या करने में कन्दली का आश्रय लिया हो।

वाचस्पति के साथ कन्दलीकार के अपरिचय को प्रकटकरने वाला एक और प्रमाण, भट्टाचार्य महोदय ने इसप्रकारबताया है—सांख्यसप्तति की ६७वीं आर्या का व्याख्यान कन्दली [पृ० २८४] में है। इस आर्या के 'अकारणप्राप्तौ' पद का वाचस्पति ने एक विशेष अर्थ किया है, जो कन्दली में उपलब्ध नहीं है। इसलिये कन्दलीकार, वाचस्पति से परिचित नहीं था।

इस कथन से यही अभिप्राय निकालाजासकता है, कि यदि श्रीधर वाचस्पति से परिचित होता, तो अवश्य वह उक्त पद के वाचस्पतिकृत अर्थ को अपने ग्रन्थ में स्थान देता। परन्तु श्रीधर के इस प्रकरण को सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होजाता है, कि श्रीधर इस प्रकारण में वाचस्पति का अनुकरण कर ही

नहीं सकता था। उसने प्रसंग उठाया है—मुक्ति केवल ज्ञान से होती है, अथवा ज्ञान-कर्म समुच्चय से ? श्रीधर ज्ञानकर्मसमुच्चय से मुक्ति मानता है, और तत्त्वज्ञान होजाने पर सञ्चित कर्मों का नाश भी भोग के द्वारा मानता है, जैसे प्रारब्ध कर्मों का अन्य सब आचार्य मानते हैं। श्रीधर का कहना है, कि तत्त्वज्ञान, जिसप्रकार प्रारब्ध कर्म का नाश नहीं करसकता, इसीप्रकार सञ्चित कर्मों का नाश भी नहीं करसकता। तत्त्वज्ञान की विशेषता यही है, कि तत्त्वज्ञान होजाने के अनन्तर जो कर्म कियेजाते हैं, वे फलोत्पादक नहीं होते। तत्त्वज्ञान के अनन्तर भी—क्योंकि पूर्वकर्मों का फल भोगना है—इसलिये तत्त्वज्ञान होने पर तत्काल शरीरपात नहीं होजाता, प्रत्युत कुलाल जिसप्रकार एक बार चाक को चलाकर छोड़ देता है, और चाक फिर भी कुछ समय तक प्रेरणावश चलता रहता है, इसीप्रकार तत्त्वज्ञानी का शरीर प्रारब्ध कर्मों के उपभोग तक संस्कारवश स्थित रहता है। इसी प्रसंग में श्रीधर ने सांख्यसप्तति की उक्त आर्या को उद्धृत किया है।

सांख्यसप्तति के व्याख्याकारों ने, सञ्चित धर्माधर्म और तत्त्वज्ञान के अनन्तर होनेवाले [अनागत—क्रियमाण] धर्माधर्म, इन दोनों को 'अकारणप्राप्तौ' पद में संगृहीत करलिया है। अर्थात् उनके विचार के अनुसार तत्त्वज्ञान, सञ्चित कर्मों का नाश करदेता है, तथा अनागत कर्मों में फलोत्पादकता को भी नहीं होने देता। इसी भावना को लेकर सप्तति के व्याख्याकारों ने उक्त पद का अर्थ किया है, और उन व्याख्याकारों में एक वाचस्पति भी है। परन्तु श्रीधर के साथ इस प्रसंग में यह भावना नहीं है। वह सञ्चित कर्मों का नाश तत्त्वज्ञान से नहीं मानता, इसलिये प्रस्तुत आर्या के उक्त पद का अर्थ करने में, अन्य व्याख्याकारों का अनुकरण न करने के लिये वह बाध्य हुआ है।

इसके अतिरिक्त न्यायकन्दली [पृ० २७९] में एक और आर्या [सांख्यकारिका ६५] का श्रीधर ने उल्लेख किया है। यद्यपि उसकी व्याख्या बहुत संक्षेप से कीगई है, परन्तु उसकी एक पंक्ति तत्त्वकौमुदी के साथ अत्यधिक समानता रखती है, जबकि वह आनुपूर्वी सांख्यकारिका की अन्य किसी व्याख्या में उपलब्ध नहीं है। पंक्ति है—

तत्त्वकौमुदी	कन्दली
निष्क्रियः स्वस्थ इति रजस्तमोवृत्तिकलुषया बुद्ध्या असंभिन्नः	उदासीनः स्वस्थः रजस्तमोवृत्तिकलुषत (?) या बुद्ध्या असम्भिन्नः

इन सब तुलनाओं के आधार पर, यह विश्वास कियाजासकता है, कि श्रीधर अवश्य वाचस्पति से परिचित था, और सांख्यवर्णन के प्रसंग में तत्त्वकौमुदी का

उसने आश्रय लिया है। यह आवश्यक नहीं है, कि वाचस्पति का साक्षात् नामोल्लेख कियेजाने पर ही श्रीधर उससे परिचित समझाजाय। इसलिये यह निश्चित कहाजासकता है, कि वाचस्पति अवश्य श्रीधर से पूर्ववर्त्ती है।

यदि यह मानलियाजाय, कि श्रीधर ने अपने ग्रन्थ में वाचस्पति का स्मरण नहीं किया है, तो भी इस अपरिचय के आधार से वाचस्पति के समय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि यह आवश्यक नहीं है, कि कोई विद्वान् यदि किसी अन्य विद्वान् को जानता है, तो अवश्य अपने ग्रन्थ में उसका उल्लेख करे। यदि ऐसा हो, तो भट्टाचार्य महोदय के कथनानुसार कन्दली में युक्तिदीपिका अथवा उसके रचयिता का अवश्य उल्लेख होना चाहिये था। अथवा सप्तति के अन्य व्याख्याकार माठर गौडपाद आदि के भी कन्दली में अनुल्लेख-मूलक अपरिचय के कारण, उनको श्रीधर का परवर्त्ती मानलेना चाहिये। वस्तुतः इसप्रकार के अपरिचय की युक्ति पूर्वापरता की निश्चायक कदापि नहीं मानीजासकती।

भट्टाचार्य महोदय ने अपने लेख[1] में, जो सूचनाएँ वाचस्पति के 'वत्सर' पद का शक संवत् अर्थ समझने के लिये उपस्थापित की हैं, उन सबका विवेचन करदियागया है। इससे उन सूचनाओं की निराधारता स्पष्ट होजाती है। वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ विक्रमी संवत् स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रहती।

'वत्सर' पद के विक्रमाब्द अर्थ में डॉ० कीथ, डॉ० वुड्ज्, डॉ० गंगानाथ झा आदि की सम्मति—

(ग) डॉ० कीथ ने वाचस्पति के 'वत्सर' पद को विक्रमाब्द माना है। [देखें, Indian logic and atomism P. 29-30. और हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ ४७४, ४७७, ४८३, ४९०]।

इसीप्रकार अध्यापक वुड्ज् ने वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ

---

१. इस लेख का अन्तिम भाग, उदयन के काल का निर्णय करने में लिखागया है। उसका विवेचन यहाँ अप्रासंगिक होने से छोड़ दिया है। वाचस्पति के कालनिर्णय पर इसका कोई प्रभाव नहीं। उदयन के 'तर्काम्बरांकप्रमितेषु' पद में, जो भट्टाचार्य महोदय ने 'तर्कस्वरांक' इसप्रकार के पाठभेद का प्रदर्शन किया है, वह सर्वथा निराधार और भट्टाचार्य महोदय की अपनी कल्पना है। श्रीधर और उदयन समकालिक थे, यह स्पष्ट है। उदयन का ९०६ शक संवत् काल सर्वथा ठीक है। वाचस्पति का समय पीछे खींच लाने पर, उनको उदयन के पद में पाठभेद की मनघड़न्त अनुचित कल्पना करनी पड़ी है। न उसमें कुछ तथ्य है, न वह विद्वज्जनोचित है।

'विक्रम संवत्' स्वीकार किया[1] है। योगदर्शन के इंग्लिश अनुवाद की भूमिका [पृ० २२] में उक्त अध्यापक महोदय ने कुछ अन्य विद्वानों के विचार इस सम्बन्ध में इसप्रकार प्रकट किये हैं—

कुसुमाञ्जलि (कलकत्ता, १८६४ ई० सन् का संस्करण) की भूमिका (पृ० १०) में अध्यापक कावॅल ने बताया है, कि वाचस्पति मिश्र खीस्ट दशम शतक में निवास करता था।

श्रीयुत बॉथ[2] महोदय ने निश्चय किया है, कि वाचस्पति मिश्र, खीस्ट एकादश शतक के अन्त, अथवा द्वादश शतक के प्रारम्भ में विद्यमान था।

अध्यापक मैक्डॉनल्ड,[3] वाचस्पति का समय, खीस्ट एकादश शतक के समीप अनन्तर स्थिर करता है।

ये सब निश्चय न्यूनाधिक रूप में, इस विचार पर आधारित हैं, कि वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में ७२ आर्या पर जिस 'राजवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ को उद्धृत किया है, वह भोजराज की, अथवा उसके नाम पर कीहुई, रचना है। उसका दूसरा नाम रणरङ्गमल्ल था, और वह १०१८ से १०६० खीस्ट में धारा नगरी में राज्य करता था। बनारस कॉलिज के पं० काशीनाथ शास्त्री अष्टपुत्र ने डॉ० फिट्ज् एडवर्ड हॉल को विश्वास दिलाया था, कि राजवार्त्तिक का एक हस्तलिखित ग्रन्थ[4] कई वर्ष तक उनके अधिकार में रहा है। परन्तु अब हमारे पास कोई ऐसा विश्वसनीय आधार नहीं है, जिसमें 'राज' पद का अर्थ उक्त भोजराज समझाजासके।

इसीप्रकार अध्यापक पाठक ने धर्मकीर्ति और शंकराचार्य सम्बन्धी अपने एक लेख[5] में वाचस्पति के काल का निर्णय करने के लिये बताया है, कि बोधारण्य के शिष्य श्री भारती ने, सांख्यतत्त्वकौमुदी के अपने संस्करण[6] में 'राजवार्त्तिक' पद से पहले 'भोज' पद भी अन्तिम टिप्पणी में मुद्रित किया है। इसलिये प्रतीत होता है–यह राजवार्त्तिक भोजराज का है। क्योंकि वाचस्पति मिश्र उसको उद्धृत

१. J.H. Woods कृत योगदर्शन व्यासभाष्य के इंग्लिश अनुवाद की भूमिका। पृ० २१-२३।
२. [Bull. des Rol. de I' Ind, 1893, P. 271.]
३. Hist. of Sans. Lit, P. 393.
४. डॉ० हाल् सम्पादित, सांख्यप्रवचनभाष्य, १८५६, पृ० ३३।
५. [See JRAS Bombay Branch, Vol. XXVIII, No. 48, 1891, P. 89, and also the table in the same Journal P. 235, No. 49, note 74] वुड्ज्कृत योगदर्शन की भूमिका, पृ० २२ के अनुसार।
६. बनारस जैनप्रभाकर प्रैस, १८८६, पृ० १८२।

करता है, इसलिये वह अवश्य भोजराज से पीछे होना चाहिये। इसप्रकार वाचस्पति का समय खीस्ट दशम शतक के अनन्तर ही आसकता है।

परन्तु अन्य सभी हस्तलिखित प्रतियों में 'राजवार्त्तिक' के साथ 'भोज' पद का उल्लेख नहीं है, इसलिये यह निश्चयपूर्वक नहीं कहाजासकता, कि रणरंगमल्ला-परनामक भोजराज व्यक्ति का 'राजवार्त्तिक' ग्रन्थ से कोई सम्बन्ध था। इसीलिये इस ग्रन्थ की तिथि के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित बात नहीं कहीजासकती।

वस्तुतः प्रस्तुत भोजराज ने योगसूत्रवृत्ति के प्रारम्भिक पञ्चम श्लोक में अपने रचित ग्रन्थों का जो निर्देश किया है, उसमें 'राजवार्त्तिक' का उल्लेख नहीं है। इसलिये वाचस्पति के द्वारा उद्धृत 'राजवार्तिक' ग्रन्थ का, उक्त भोजराज के साथ सम्बन्ध जोड़ना मौलिक भ्रम है। इसीलिये इस उद्धरण के आधार पर वाचस्पति का समय उक्त भोजराज काल के पश्चात्, खीस्ट दशम शतक के अनन्तर सिद्ध नहीं कियाजासकता।

प्रतीत होता है–इस ग्रन्थ के नाम के साथ 'राज' पद देखकर विना किसी अनुसन्धान के, भोज का सम्बन्ध इसके साथ जोड़दियागया है। तत्त्वसमाससूत्र के एक व्याख्याकार[१] ने तो इस नाम में से 'राज' पद को हटाकर साक्षात् 'भोज' पद का सन्निवेश कर दिया है।

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ 'शक संवत्' समझा है। उनका कहना[२] है–अपोहसिद्धि के रचयिता ने वाचस्पति मिश्र के सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिये बहुत यत्न किया है, और उसने उदयन का न उल्लेख किया और न खण्डन किया है, जिसका समय शक संवत् ९०५[३] है, जो ९८३ ईसवी सन् होता है। उक्त शास्त्री महोदय अपने ग्रन्थ[४] में इसी परिणाम पर पहुँचे हैं, कि वाचस्पति के समय का सामञ्जस्य तभी हो सकता है, जब उसके 'वत्सर' पद का अर्थ शक संवत् मानाजाय।

श्रीयुत[५] नीलमणि चक्रवर्त्ती M.A. महोदय, हरप्रसाद शास्त्री के उक्त

---

१. देखिये, इसी प्रकरण का 'युक्तिदीपिका' प्रसंग।

२. Bibl. Ind. 1910, P. 3.

३. J.H. Woods ने योगदर्शन की भूमिका पृ० २३ पर यही संवत् लिखा है। वस्तुतः यहाँ ९०६ शक संवत् होना चाहिये, उदयन ने लक्षणावली में अपना समय 'तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः' लिखा है। जो खीस्ट सन् ९८४ आता है।

४. Notices of Sanskrit Manuscripts, second series, Vol. II, P. XIX.

५. JASB. Vol. 3, 1907, P. 205. Chronology of Indian Authors, a supplement to Miss Duff's Chronology of India.

परिणाम को सन्देहपूर्ण समझते हैं[1]।

इसके अतिरिक्त वाचस्पति का समय ८९८ शक संवत् मानने पर उदयन से उसका केवल सात-आठ वर्ष का अन्तर, हमारे सन्मुख एक और जटिल समस्या उत्पन्न करदेता है। उदयन ने वाचस्पति मिश्र के लिये जो भावना, 'तात्पर्यपरिशुद्धि' के प्रारम्भ में प्रकट की है, वह इतने थोड़े अन्तर में सम्भव नहीं। वस्तुत: इस अन्तर को, अन्तर ही नहीं कहना चाहिये, यह तो समकालिकता का निश्चायक है। तब यह एक और विशेष ध्यान देने की बात है, कि अपोह-सिद्धिकार, वाचस्पति मिश्र से इतना अन्तरंग परिचय प्रकट करता है, परन्तु उदयन का नाम तक नहीं लेता, जो अपने समय का मूर्द्धन्य नैयायिक विद्वान् था। यद्यपि हरप्रसाद शास्त्री ने अपोहसिद्धिकार के काल पर कोई प्रकाश नहीं डाला; तथापि अपोहसिद्धिकार के वाचस्पतिविषयक विवरण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है—कि वाचस्पति मिश्र और उदयन के काल में परस्पर इतना अधिक अन्तर है, कि अपोहसिद्धिकार जब वाचस्पति मिश्र का उल्लेख अथवा उसके मत का खण्डन कररहा है, उस समय उदयन निश्चित ही भविष्यत् के गर्भ में रहा होगा। फलत: इसका ध्यान रखते हुए, वाचस्पति का निर्दिष्ट 'वत्सर' पद, ८९८ विक्रमी संवत् में ही स्थिर कियाजासकता है। जो ख्रीस्ट ८४१ सन् में आता है।

डॉ० गंगानाथ झा ने वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ विक्रमाब्द माना है।[2] इसका पहले भी प्रसंगवश उल्लेख आचुका है।

विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी का मत और उसका विवेचन—

श्रीयुत विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी ने न्यायवार्त्तिक की भूमिका[3] में वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ 'शक संवत्' बताया है। उन्होंने लिखा है—भामती के अन्त में वाचस्पति मिश्र ने जिस नृग राजा का उल्लेख किया है, उस अर्वाचीन राजा नृग का निर्देश, शार्ङ्गधरपद्धति' में कियागया है। वहाँ विशेष राजवंशों के वर्णन में दो श्लोक इसप्रकार हैं—

"आविन्ध्यादाहिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसंगात्,
उद्ग्रीवेषु प्रहर्त्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्नः।

---

१. जे. एच. वुड्ज् कृत योगदर्शन भूमिका, पृ० २३ के आधार पर।

२. Poona Oriental Series No. 59. Gautama's Nyaya Sutras, by Ganganatha Jha. P. 17. The Poona Orientalist July-October 1945 के अनुसार।

३. चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस से प्रकाशित 'न्यायवार्त्तिक भूमिका' पृ० १४५-१४७।

आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् म्लेच्छविच्छेदनाभिः,
देवः शाकम्भरीन्द्रो जगति विजयते बीसलः क्षोणिपालः ।।
ब्रूते सम्प्रति चाउहानतिलकः शाकम्भरीभूपतिः,
श्रीमान् विग्रहराज एष विजयी सन्तानजानात्मनः ।
अस्माभिः करदं व्यधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरालं भुवः,
शेषस्वीकरणाय मास्तु भवतामुद्योगशून्यं मनः ।
इमौ नृगनृपतिपाषाणयज्ञयूपप्रशस्तौ[1]"

इन दोनों श्लोकों के अन्त में जो पंक्ति शार्ङ्गधर ने लिखी है, उसीके आधार पर द्विवेदी महोदय ने एक अर्वाचीन नृग की कल्पना करडाली है, जो सर्वथा असंगत है।

वस्तुस्थिति यह है—ये दोनों श्लोक 'दिल्ली-तोपरास्तम्भ' पर खुदे हुए हैं। फ़िरोजशाह तुग़लक, ईसा की चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध[2] में इस स्तम्भ को तोपरा (जि० अम्बाला) नामक स्थान से दिल्ली में उठवा लाया था। यह स्तम्भ आज भी दिल्ली में विद्यमान है। वस्तुतः यह अशोक का स्तम्भ है, और उसके अन्य पाषाणस्तम्भों के समान इस पर उसके सात आदेश ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण हैं। शाकम्भरी (वर्त्तमान-सांभर) का राजा वीसलदेव (ख्रीस्ट तेरहवें शतक का उत्तरार्द्ध) तीर्थयात्रा के लिये जब पर्वत प्रदेश की ओर जारहा था, उसे शिवालक की उपत्यका में यह स्तम्भ मिला। उसने अशोक की प्रशस्तियों के नीचे के रिक्त स्थानों पर उक्त दो श्लोकों में अपनी प्रशस्ति खुदवा दी। चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब फिरोजशाह तुग़लक इसे दिल्ली उठवाकर लाया, उसने तात्कालिक पण्डितों के द्वारा इस स्तम्भ पर खुदे लेखों को पढ़वाने का बहुत यत्न किया। परन्तु उस समय ब्राह्मी के लेख किसी से नहीं पढ़े गये। यह बहुत सम्भव है, कि उन लेखों के पढ़ने का यत्न करने वालों में शार्ङ्गधर[3] भी हो। क्योंकि वीसलदेव की प्रशस्ति के लेख उसी समय की लिपि में उत्कीर्ण थे, उनको उसने ठीक पढ़ लिया, और अपने संग्रह में उन्हें उचित स्थान दिया। परन्तु ब्राह्मी के लेख न पढ़े जाने के कारण, अवश्य उसे यह भ्रम हुआ, कि ये स्तम्भ प्राचीन नृग राजा का यज्ञयूप होगा, इसी भ्रान्ति पर उसने अपने संग्रह में श्लोकों के पीछे उक्त पंक्ति लिख दी है, परन्तु अब तो उन स्तूपों का एक-एक अक्षर पढ़ाजाचुका है, उनका किसी नृग नामक राजा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

---

१. शार्ङ्गधरपद्धति, श्लोक १२५४-५५ ।।

२. वी० ए० स्मिथ का इतिहास।

३. शार्ङ्गधर पद्धति का समय १३६३ ख्रीस्ट है, [कीथ रचित, हिस्ट्री ऑफ़ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर]।

न वहाँ पर किन्हीं विशेष राजवंशों का वर्णन है, जैसा द्विवेदी महोदय ने उल्लेख किया है 'शार्ङ्गधरपद्धति' ग्रन्थ केवल विविधविषयक सूक्तियों का संकलनमात्र है। संकलयिता शार्ङ्गधर के नाम पर ग्रन्थ का नाम है। उसके एक भाग में 'वृक्षायुर्वेद' संकलित है। इसीप्रकार अन्य विविध विषय।

इन स्तूपों को नृग के पाषाणयज्ञयूप समझलेना, शार्ङ्गधर के लिये कोई आश्चर्यजनक न था। आधुनिक काल में भी जब इन प्राचीन प्रशस्तियों के पढ़ने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ, तब तात्कालिक पण्डितों ने अपनी अज्ञानता को बहलाने के लिये इनके साथ बड़ी अद्भुत कहानियों का उद्‌भावन किया।[1] कहीं पाण्डवों का वनवास के समय सांकेतिक लिपि में अपनी बातों का लिख देना बतायागया, तो कहीं स्तूप के नीचे या आसपास प्राचीन अतुल धन का भण्डार होना बताया गया; जिनका उक्त प्रशस्तियों से अंशतः भी कोई सम्बन्ध नहीं था। इसी तरह की एक बात शार्ङ्गधर ने अपने समय में कल्पना करडाली, कि ये पाषाण स्तम्भ नृग राजा के यज्ञयूप हैं।[2]

ऐसी स्थिति में भामती के 'नृग' पद का जो अर्थ हमने समझा है, वह अधिक संगत एवं प्रामाणिक है। द्विवेदी जी ने अपने लेख में और कोई ऐसी युक्ति व प्रमाण उपस्थित नहीं किये, जिनके आधार पर 'वत्सर' पद का अर्थ शक संवत् मानाजासके।

वाचस्पति के एकादशशतकवर्ती न होने में अन्य ऐतिहासिक प्रमाण—

(घ) ऐतिहासिक आधार पर एक अन्य प्रमाण इसके लिये उपस्थित किया-जाता है, कि वाचस्पति का समय ख्रीस्ट का एकादश शतक किसी अवस्था में स्वीकार नहीं कियाजासकता। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में एक श्लोक इसप्रकार है—

"नैवाश्रावि गुरोर्मतं न विदितं कौमारिलं दर्शनम्,
तत्त्वज्ञानमहो न शालिकगिरां वाचस्पतेः का कथा।" [अंक २, श्लोक ३]

इसमें वाचस्पति का उल्लेख है। यह भी इससे प्रतीत होता है, कि श्लोक की रचना के समय दार्शनिक आचार्यों में यह प्रतिष्ठित समझाजाता था। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का रचनाकाल, ख्रीस्ट १०५५ के लगभग है। इसी ग्रन्थ

---

१. एशियाटिक रिसर्चेज़, वॉल्यूम ५ पृष्ठ १३६। सेन्टिनरी रिव्यू ऑफ़ दि एशियाटिक सोसायटी, बंगाल।

२. प्राचीन भारत में महादानी उदार 'नृग' नामक एक धार्मिक राजा हुआ। उसने अनेक यज्ञ अश्वमेध आदि अपने जीवनकाल में कराये। उसके जीवन सम्बन्धी विवरण महाभारत एवं पुराणों में उपलब्ध हैं। (द्रष्टव्य, 'महाभारत नामपदसूची' में 'नृग' पद, गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित)।

के षष्ठ अध्याय में अनिरुद्ध काल के प्रसंग में इसका उल्लेख कर आये हैं। महोबा के चन्देल राजा कीर्त्तिवर्मा के सन्मुख इस नाटक का अभिनय, उसकी एक विजय के उपलक्ष्य में कियागया था। इस बात का उल्लेख स्वयं इस नाटक की प्रारम्भिक भूमिका में विद्यमान है। राजा कीर्त्तिवर्मा का राज्यकाल शिलालेखों[1] के आधार पर १०५१–१०९८ ईसवी सन् निश्चित है। ऐसी स्थिति में वाचस्पति का समय खीस्ट एकादश शतक का अन्त कैसे मानाजासकता है? अवश्य ही इस नाटक की रचना से पर्याप्त पूर्व वाचस्पति का समय होना चाहिये। प्रभाकर और कुमारिल की कोटि में तभी उसकी गणना समञ्जस होसकती है।

इन सब आधारों पर यह निर्णीत होजाता है, कि वाचस्पति के 'वत्सर' पद का अर्थ विक्रमाब्द है, शालिवाहन शक नहीं। इसप्रकार ८९८ विक्रम संवत्, ८४१ खीस्ट में आता है। वाचस्पति का यही काल निश्चित होता है। इसको आधार मानकर अब सांख्यसप्तति की अन्य व्याख्याओं के काल का निर्धारण कियाजायगा।

जयमंगला टीका

हमारे पास इस टीका की जो प्रति है, उसका सम्पादन पं० हरदत्त शर्मा एम० ए० ने किया है। यह ओरियण्टल सीरीज़ कलकत्ता में श्री डा० नरेन्द्रनाथ लॉ द्वारा प्रकाशित, ईसवी सन् १९२६ का प्रथम संस्करण है। श्रीयुत शर्मा जी के प्रस्तावना-गत लेख के अनुसार यह ग्रन्थ दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर सम्पादित कियागया है। यद्यपि पाठों का संशोधन अपूर्ण रह गया है, फिर भी इस दुष्प्राप्य ग्रन्थ का सम्पादन कर श्री शर्मा जी ने अक्षय पुण्य का लाभ किया है। इस देन के लिये विद्वज्जगत् सदा हृदय से उनका कृतज्ञ रहेगा।

टीकाकार और गोपीनाथ कविराज—

इस संस्करण के साथ कविराज पं० गोपीनाथ एम० ए० महोदय ने अनुसन्धानपूर्ण भूमिका लिखकर इसकी उपयोगिता को बढ़ा दिया है। कविराज जी ने इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध में दो बातों का वर्णन किया है—

(१) ग्रन्थ का कर्त्ता शंकराचार्य नहीं, प्रत्युत शंकरार्य है।

(२) यह शंकरार्य बौद्ध था।

इस ग्रन्थकर्त्ता के काल के सम्बन्ध में न तो शर्मा जी ने और न कविराज जी ने कुछ निर्देश किया। ग्रन्थकर्त्तासम्बन्धी उपर्युक्त दो निर्णयों का विवेचन करने के पूर्व हम इसके काल के सम्बन्ध में कुछ निर्देश कर देना चाहते हैं।

---

१. Dynastic History of Northern India, by H.C. Ray के अनुसार Epigraphia Indica Vol. I. P. 219 के आधार पर।

टीका का रचनाकाल—

सांख्यसप्तति की ५१वीं आर्या की व्याख्या करते हुए, वाचस्पति मिश्र ने 'ऊह' 'शब्द' 'अध्ययन' 'सुहृत्प्राप्ति' और 'दान' इन पाँच सिद्धियों के जो अर्थ किये हैं, वे अन्य प्राचीन व्याख्याकारों के अर्थों से कुछ भेद रखते हैं। वाचस्पति मिश्र ने उक्त पदों के अपने अभिमत अर्थों का प्रतिपादन करने के अनन्तर स्वयं 'अन्ये व्याचक्षते' यह लिखकर प्राचीन व्याख्याकारों के अर्थ का निर्देश किया है। यद्यपि वे अर्थ, माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका, गौडपादभाष्य और जयमंगला व्याख्या में समानरूप से उपलब्ध होते हैं, परन्तु उन अर्थों को प्रकट करने के लिये 'अन्ये व्याचक्षते' कहकर जिस सन्दर्भ को वाचस्पति ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है; वह सन्दर्भ, अति सामान्य तथा उपेक्षणीय शब्दभेद के साथ केवल जयमंगला व्याख्या में उपलब्ध होता है। तुलना के लिये वे दोनों सन्दर्भ यहाँ उद्धृत हैं—

जयमंगला	सांख्यतत्त्वकौमुदी
जन्मान्तरसंस्कृतधियो यस्य बन्धमोक्षकारणमुत्प्रेक्षमाणस्य प्रधानपुरुषान्तरज्ञानमुत्पद्यते तस्य सिद्धिरूहहेतुका···।	अन्ये व्याचक्षते-विनोपदेशादिना प्राग्भवीयाभ्यासवशात्तत्त्वस्य स्वयमूहनं यत् सा सिद्धिरूहः।
यस्य सांख्यशास्त्रपाठमन्यदीयमाकर्ण्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते सा सिद्धिः शब्दहेतुका···।	यस्य सांख्यशास्त्रपाठमन्यदीयमाकर्ण्य ज्ञानमुत्पद्यते सा सिद्धिः शब्दः, शब्दपाठान्तरभावात्।
यस्य शिष्याचार्यसम्बन्धेन सांख्यशास्त्रं शब्दतोऽर्थतश्चाधीत्य ज्ञानमुत्पद्यते, तस्याध्ययनहेतुका। अध्ययनेन हि तत्परिज्ञानात्।	यस्य शिष्याचार्यसम्बन्धेन संवादेन सांख्यशास्त्रं ग्रन्थतोऽर्थतश्चाधीत्य ज्ञानमुत्पद्यते साऽध्ययनहेतुका सिद्धिरध्ययनम्।
सुहृत्प्राप्तिरिति। योऽधिगततत्त्वं सुहृदं प्राप्य ज्ञानमधिगच्छति तस्य सुहृत्प्राप्तिपूर्विका। मित्रं हि स्नेहात् ज्ञानं प्रकाशयति।	सुहृत्प्राप्तिरिति। यस्याधिगततत्त्वं सुहृदं प्राप्य ज्ञानमुत्पद्यते सा ज्ञानलक्षणा सिद्धिस्तस्य सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धिहेतुः। दानेन ह्याराधितो ज्ञानी ज्ञानं प्रयच्छति।	दानं च सिद्धिहेतुः। धनादिदानेनाराधितो ज्ञानी ज्ञानं प्रयच्छति।

इस तुलना से स्पष्ट होजाता है—यह सन्दर्भ वाचस्पति मिश्र ने जयमंगला व्याख्या से उद्धृत किया है। इस उद्धरण का उपसंहार करते हुए वाचस्पति ने

जो वाक्य लिखा है, उससे उक्त अर्थ का और स्पष्टीकरण होजाता है। उपसंहार वाक्य है—

"अस्य च युक्तायुक्तत्वे सूरिभिरेवावगन्तव्ये इति कृतं परदोषोद्भावनेन सिद्धान्तमात्रव्याख्यानप्रवृत्तानामिति।"

केवल सांख्यसिद्धान्तों के व्याख्यान में प्रवृत्त हुए वाचस्पति मिश्र ने स्वयं परदोषों का उद्भावन न करके इन अर्थों की युक्तता अथवा अयुक्तता के विचार को विद्वानों पर छोड़ दिया है।

जयमंगला, सांख्यतत्त्वकौमुदी से प्राचीन—

इसप्रकार इन उपक्रम और उपसंहार वाक्यों से निश्चित होजाता है—ऊक्त सन्दर्भ को वाचस्पति मिश्र ने किसी अन्य प्राचीन व्याख्याग्रन्थ से उद्धत किया है। वह व्याख्याग्रन्थ जयमंगला होसकता है, जैसा ऊपर की तुलना से स्पष्ट है। इसके परिणामस्वरूप, यह कहाजासकता है, कि जयमंगला व्याख्या, वाचस्पति मिश्र से प्राचीन है।

उक्त सन्दर्भ के अतिरिक्त और भी एक दो स्थलों पर वाचस्पति मिश्र ने जयमंगला व्याख्या का उपयोग किया है। ५१वीं आर्या की व्याख्या का उपसंहार करते हुए जयमंगलाकार ने सांख्य के प्रसिद्ध दश मौलिक अर्थों का एक उपजाति छन्द से निर्देश किया है। वे दश मौलिक अर्थ, किन मूल तत्त्वों के आधार पर कहेगये हैं, इसका स्पष्टीकरण जयमंगलाकार ने उपजाति छन्द के अनन्तर पठित अपने ग्रन्थ में किया है। वाचस्पति मिश्र ने अन्तिम ७२वीं आर्या की व्याख्या में दश मौलिकार्थों का अनुष्टुप्[1] छन्द से निर्देश किया है, और उन श्लोकों के अनन्तर दश मौलिकार्थों के आधारभूत मूल तत्त्वों का स्पष्टीकरण करने के लिये शब्दशः उसी सन्दर्भ का उल्लेख है, जो जयमंगला में उपजाति छन्द के अनन्तर [५१वीं आर्या पर] है। वह सन्दर्भ इसप्रकार है—

जयमंगला	सांख्यतत्त्वकौमुदी
एकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यं चेति प्रधानमधिकृत्योक्तम्। अन्यत्वमकर्तृत्वं बहुत्वं चेति पुरुषमधिकृत्य। अस्तित्वं योगो वियोगश्चेत्युभयमधिकृत्य। स्थितिः स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्य।	एकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यं च प्रधानमधिकृत्योक्तम्। अन्यत्वमकर्तृत्वं बहुत्वं चेति पुरुषमधिकृत्य। अस्तित्वं वियोगो योगश्चेत्युभयमधिकृत्य। स्थितिः स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्य।

---

१. इन दश मौलिकार्थों के निर्देशक उपजाति और अनुष्टुप् छन्दों के सम्बन्ध में इसी अध्याय में आगे विस्तारपूर्वक विवेचन कियागया है।

इस सन्दर्भ की तुलना, वाचस्पति मिश्र से जयमंगला की प्राचीनता को स्पष्ट कर देती है। इसके अतिरिक्त एक और प्रसंग इसप्रकार है। तेरहवीं आर्या में 'इष्ट' पद का प्रयोग हुआ है–'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टं'। यहाँ सत्त्व गुण के लघु और प्रकाशक धर्मों का निर्देश कियागया है। माठर की व्याख्या से यह प्रतीत होता है, कि उसने 'इष्ट' पदार्थ को भी सत्त्व का धर्म माना है। माठर का लेख है—

"यत्···सत्त्वलक्षणं तल्लघुत्वप्रकाशकलक्षणं च।···।
इष्टं च स्वरूपसाधनहेतुत्वात।"

सत्त्वगुण लघु और प्रकाशक होता है, और वह इष्ट भी है, क्योंकि वह स्वरूप-साधन का हेतु है। सत्त्वोद्रेक होने पर आत्मरूप का बोध होने की सम्भावना होती है, रजस् और तमस् में यह स्थिति असम्भव है, इसलिये वे 'इष्ट' नहीं होसकते। यह माठर आचार्य के लेख का अभिप्राय है। इससे स्पष्ट है–'लघु' और 'प्रकाशक' के समान माठर ने 'इष्ट' पदार्थ को भी सत्त्व का धर्म माना है। यद्यपि किसी अन्य परवर्ती व्याख्याकार ने इष्ट पद का ऐसा अर्थ नहीं किया। गौडपाद ने इस पद की व्याख्या ही नहीं की, युक्तिदीपिकाकार ने इसको क्रियापद माना है। जयमंगला में इस पद के साथ सांख्याचार्य पद को जोड़कर इसके क्रियापद होने को स्पष्ट कर दिया है। जयमंगला का लेख इसप्रकार है—

"इष्टं सांख्याचार्याणां सत्त्वं लघुस्वभावं प्रकाशं च।"

सत्त्व का लघुस्वभाव और प्रकाशक होना सांख्याचार्यों को अभिमत है। जयमंगला में 'इष्ट' पदार्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये सांख्याचार्य पद को इसके साथ जोड़ा है। इसके अनुकरणस्वरूप, वाचस्पति मिश्र इस पद के साथ सांख्याचार्य पद को जोड़ना नहीं भूला। मिश्र की पंक्ति है—

"सत्त्वमेव लघु प्रकाशकमिष्टं सांख्याचार्यैः।"

इन प्रसंगों से स्पष्ट है–वाचस्पति मिश्र ने अपनी व्याख्या में यत्र तत्र जयमंगला का उपयोग किया है। इसलिये जयमंगला, वाचस्पतिकृत तत्त्वकौमुदी से अवश्य प्राचीन व्याख्या है।

उक्त स्थलों के अतिरिक्त तत्त्वकौमुदी के और भी अनेक स्थल ऐसे हैं, जिनकी तुलना जयमंगला से कीजासकती है। उदाहरण की दृष्टि से कतिपय ऐसे स्थलों का निर्देश कर देना अनावश्यक न होगा।

जयमंगला	तत्त्वकौमुदी
(क) "प्रसवो धर्मोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि"	"प्रसवरूपो धर्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि" [कारिका ११]

(ख) "तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशमेकगुणम्। शब्दतन्मात्रप्रतिसंहितात् स्पर्शतन्मात्राद् द्विगुणो वायुः। ताभ्यां प्रतिसंहिताद् रूपतन्मात्रात् त्रिगुणं तेजः। तैः प्रतिसंहिताद्रसतन्मात्रात् चतुर्गुणा आपः। चतुर्भिः प्रतिसंहितात् गन्धतन्मात्रात् पञ्चगुणा पृथिवीति।"[1]

'तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणं शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्दस्पर्शगुणः शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रात् तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणं, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथवी जायत इत्यर्थः।" [कारिका २२]

(ग) "यथान्धकारे विद्युत्सम्पाते कृष्णसर्पसन्दर्शने युगपदालोचनाध्यवसायाभिमानसंकल्पानि भवन्ति।"[2]

"यथा-यदा सन्तमसान्धकारे विद्युत्सम्पातमात्राद् व्याघ्रमभिमुखमतिसन्निहितं पश्यति तदा खल्वस्यालोचनसंकल्पाभिमानाध्यवसाया युगपदेव प्रादुर्भवन्ति।" [कारिका ३०]

(घ) "पूर्वोत्पन्नम् इत्यादि। प्रधानेनादिसर्गे प्रतिपुरुषमुत्पादितत्त्वात् पूर्वोत्पन्नम्। असक्तमप्याह। तन्न क्वचिद् विहन्यते, पर्वतमपि भित्त्वा गच्छति।"

"पूर्वोत्पन्नम् इति। पूर्वोत्पन्नं प्रधानेनादिसर्गे प्रतिपुरुषमेकैकमुत्पादितम् असक्तं अव्याहतं शिलामप्यनुप्रविशति।" [कारिका ४०]

इन सन्दर्भों की तुलना से स्पष्ट है—वाचस्पति मिश्र ने अपनी व्याख्या में जयमंगला का उपयोग किया है। अतः इन आधारों पर निश्चय है—जयमंगला व्याख्या, वाचस्पति मिश्र की व्याख्या से प्राचीन है। 'भारतीयदर्शन' नामक ग्रन्थ के विद्वान् रचयिता श्रीयुत बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य ने

---

१. जयमंगलाकार ने यह अर्थ माठरवृत्ति के अनुकूल किया है। युक्तिदीपिकाकार ने इस तन्मात्रानुप्रवेश के माठरसिद्धान्त का ३८वीं कारिका पर खण्डन किया है। युक्तिदीपिका से अर्वाचीन होनें पर भी जयमंगलाकार ने इस प्रसंग में माठर के मत को स्वीकार किया है, और वाचस्पति ने इसको प्रायः जयमंगला के शब्दों में अपनालिया है। युक्तिदीपिका और माठर का कालसम्बन्धी विवेचन इसी प्रकरण में आगे कियागया है।

२. जयमंगलाकार ने यह अर्थ युक्तिदीपिका के अनुकूल किया है। युक्तिदीपिका के प्रसंग में दोनों पाठों की तुलना देखें। वाचस्पति ने जयमंगला का अनुकरण किया है, 'कृष्णसर्प' की जगह 'व्याघ्र' पद का प्रयोग विशेष है।

अपने ग्रन्थ के ३२१ पृष्ठ पर जयमंगला व्याख्या की रचना का समय १४ शतक के आसपास बताया है, जो उपर्युक्त आधारों पर सर्वथा अशुद्ध कहाजासकता है।

जयमंगला टीका के रचयिता का नाम—

इस व्याख्या के रचयिता का नाम शंकर है। हरदत्त शर्मा एम० ए० ने इस ग्रन्थ की समाप्ति पर जो पुष्पिका [Colophon] दी है, वह इसप्रकार है—

"इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्येण श्रीशंकरभगवता कृता सांख्यसप्ततिटीका।"

यहां शंकर के साथ 'भगवत्' पद का प्रयोग, व्याख्याकार की प्रतिष्ठा के विचार से कियागया प्रतीत होता है, यह ग्रन्थकार के नाम का अंश नहीं है। इसलिये व्याख्याकार का नाम केवल 'शंकर' कहाजाना चाहिये। शर्मा जी ने ग्रन्थ के आवरण पृष्ठ पर "श्रीशंकराचार्यविरचिता जयमंगला नाम सांख्यसप्ततिटीका" ऐसा उल्लेख किया है। शंकर के साथ 'आचार्य' पद जोड़ देने से यह सन्देह होजाता है, कि कदाचित् यह शंकर, प्रस्थानत्रयी का भाष्यकार 'आदि शंकराचार्य' तो नहीं है? उस समय यह सन्देह और दृढ़ होजाता है, जब हम इसके गुरु का नाम गोविन्द पाते हैं। प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार और जयमंगला-व्याख्याकार दोनों के गुरुओं का नाम गोविन्द है। तथा दोनों स्थलों पर गोविन्द के साथ 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य' ये विरुद्ध लगे हुए हैं। वस्तुतः यह एक आकस्मिक घटना है, कि प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार शंकर और सांख्यसप्तति के व्याख्याकार शंकर, इन दोनों के गुरुओं का नाम 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपाद' है। नामोंके साथ विरुद का प्रयोग अनन्तरवर्त्ती लेखकों का कार्य सम्भव है। गुरुओं का नामसाम्य होने पर भी ये दोनों शंकर एक नहीं कहेजासकते। इनकी लेखशैली से परिचित कोई भी विद्वान् इनकी विभिन्नता को स्पष्ट प्रतीत करसकता है। अन्य ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर भी इनको एक व्यक्ति मानाजाना संभव नहीं।

टीका की अन्तिम पुष्पिका—

सांख्यसप्तति की अन्तिम पुष्पिका (Colophon) के आधार पर जयमंगला व्याख्या की भूमिका[1] में कविराज गोपीनाथ एम. ए. ने 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य' विरुदों को शंकर के साथ सम्बद्ध लिखा है। कविराज जी का यह लेख भ्रमपूर्ण

---

१. The present Commentary is attributed to शंकाचार्य in the colophon where he is, as elsewhere in his works, described as परमहंसपरिव्राजकाचार्य and disciple of गोविन्दभगवत्पाद, [जयमंगलाव्याख्या की भूमिका, कविराज लिखित, पृष्ठ ८]

है, क्योंकि पुष्पिका में ये विरुद केवल गोविन्द के साथ सम्बद्ध हैं, 'श्रीमत्परम-हंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्येण' यह समस्त पद पृथक् है, और 'श्रीशंकरभगवता' यह पृथक् है। पूर्व पद के 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य' इस अंश का शंकर के साथ सम्बन्ध कथन करना सर्वथा असंगत है। फिर इस नाम के साथ 'आचार्य' जोड़कर हरदत्त शर्मा एम. ए. ने आवरण पृष्ठ पर 'शंकराचार्यविरचिता जयमंगला' किस आधार पर लिखा है? हम नहीं समझ सके। इसप्रकार के लेख से पाठकों को भ्रम होसकता है। सम्भवत: इसी भ्रम के आधार पर कविराज जी ने इस पुष्पिका को प्रक्षिप्त[1] बता दिया है। इसको प्रक्षिप्त उसी स्थिति में कहाजासकता है, जब किन्हीं प्रबल प्रमाणों से यह सिद्ध होजाय, कि इस पुष्पिका में प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार शंकर को जयमङ्गला का रचयिता लिखागया है। पर यह तो अभी तक सिद्ध नहीं है। केवल नाम-साम्य से किन्हीं व्यक्तियों का अभिन्न होना नहीं कहाजासकता। इसलिये प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार शंकर से जयमंगला व्याख्याकार शंकर सर्वथा भिन्न है। पुष्पिका का स्वरूप इन दोनों को अभिन्न समझे जाने का निश्चायक नहीं है, इसलिये पुष्पिका को प्रक्षिप्त कहना भी असंगत है।

कामन्दकीय नीतिसार की टीका जयमंगला का रचयिता शंकरार्य है, शंकर नहीं—

कामन्दकीय नीतिसार की जयमंगला नामक टीका का रचयिता शंकरार्य भी इस शंकर से सर्वथा भिन्न है। कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला में सब पुष्पिका [Colophon] "इति[2] शंकरार्यकृतायां कामन्दकीयनीतिसार-पञ्चिकायां जयमंगलायां...नाम...सर्गः" इसी रूप में उपलब्ध हैं।

(१) एक भी स्थल पर 'आर्य' पद रहित शंकर नाम का उल्लेख नहीं कियागया है। सर्वत्र 'शंकरार्य' इतने नाम का निर्देश मिलता है।

(२) किसी भी स्थल में गुरु के नाम का निर्देश नहीं है। इसके विपरीत सांख्यसप्तति की व्याख्या जयमंगला की पुष्पिका में शंकर नाम के साथ 'आर्य' पद नहीं है, और विरुदसहित गुरु का नाम निर्दिष्ट है। इससे स्पष्ट होता है

---

१. But I am inclined to suspect that the colophon is an interpolation and that the work is not by शंकराचार्य (जयमंगला भूमिका पृष्ठ ८)

२. यह पाठ हमने ईसवी सन् १९१२ के त्रिवेन्द्रम् [अनन्तशयन] संस्करण के आधार पर दिया है। कामन्दकीय नीतिसार के इस संस्करण का सम्पादन त. गणपति शास्त्री ने किया है।

कामन्दकीय नीतिसार के व्याख्याता का नाम 'शंकरार्य' है, न कि शंकर', जबकि सांख्यसप्तति के व्याख्याकार का नाम केवल 'शंकर' है। इसलिये ये दोनों व्याख्याकार एक नहीं कहेजासकते।

कामन्दकीय नीतिसार और वात्स्यायनकामसूत्र की 'जयमंगला' नामक टीकाओं के रचयिता, क्या अभिन्न व्यक्ति हैं? इस सम्बन्ध में श्री गुलेरी महोदय का मत—

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी बी. ए. महोदय ने, कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला और वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला के रचयिता को एक व्यक्ति सिद्ध[1] किया है। उनका कथन है—कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला का रचयिता शंकरार्य ही वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला नामक व्याख्या का रचयिता है। इसके लिये वे निम्नलिखित हेतु उपस्थित करते हैं—

(१) दोनों टीकाओं के प्रारम्भिक नमस्कार श्लोकों की समानता। कामन्दकीय नीतिसार की टीका में नमस्कार श्लोक इसप्रकार है—

"कामन्दकीये किल नीतिशास्त्रे प्रायेण नास्मिन् सुगमाः पदार्थाः।
तस्माद् विधास्ये जयमंगलाख्यां[2] तत्पञ्चिकां सर्वविदं प्रणम्य॥"

वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला में प्रारम्भिक नमस्कार श्लोक निम्नलिखित है—

"वात्स्यायनीयं किल कामसूत्रं प्रस्तावितं कैश्चिदिहान्यथैव।
तस्माद् विधास्ये जयमंगलाख्यां टीकामहं सर्वविदं प्रणम्य।

(२) वात्स्यायन कामसूत्र में १।२।४४ सूत्र है—

"यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश।"

इस सूत्र पर जयमंगला टीका इसप्रकार है—

"दाण्डक्य इति संज्ञा। भोज इति भोजवंशजः, अभिमन्यमानोऽभिगच्छन्। स हि मृगया गतो भार्गवकन्यामाश्रमपदे दृष्ट्वा जातरागो रथमारोप्य जहार। ततो भार्गवः समित्कुशानादायागत्य तामपश्यन्नभिध्याय च यथावृत्तं राजानमभिशशाप। ततोऽसौ सबन्धुराष्ट्रः पांसुवर्षेणावष्टब्धो ननाश। तत्स्थानमद्यापि दण्डकारण्यमिति गीयते।"

---

१. इण्डियन एण्टिक्वेरी १९१३ ईसवी, पृष्ठ २०२–३।
२. सांख्यसप्तति की व्याख्या जयमंगला की भूमिका में पृ० ९ पर, श्रीयुत कविराज गोपीनाथ जी ने 'तत्पञ्जिकां' यह पाठ दिया है।

कामन्दकीय नीतिसार के प्रथम सर्ग का ५८ श्लोक है—

"दाण्डक्यो नृपतिः कामात् क्रोधाच्च जनमेजयः ।
लोभादैलस्तु राजर्षिर्वातापिर्हर्षतोऽसुरः ॥५८॥

इस श्लोक के प्रथम चरण की जयमंगला नामक व्याख्या में व्याख्याकार शंकरार्य इसप्रकार लिखता है—

"तत्र दण्डको नाम भोजवंशमुख्यः । तन्निमित्तप्रसिद्धनामा दाण्डक्यो नाम । स च मृगयां गतस्तृषितो भृग्वाश्रमं प्रविश्य तत्कन्यां रूपयौवनवतीमेकाकिनीं दृष्ट्वा जातरागस्तां स्यन्दनमारोप्य स्वपुरमाजगाम । भृगुरपि समित्कुशादीनादाय वनादागत्य तामपश्यन्नभिध्याय च यथावृत्तं ज्ञात्वा जातक्रोधस्तं शशाप 'सप्तभिरहोभिः पांशुवृष्ट्या सबन्धुराष्ट्रो विपद्यतामिति । स तयाक्रान्तस्तथैव ननाश ।"

(३) इन लेखों की समानता के परिणामस्वरूप इन दोनों ग्रन्थों की टीकाओं का कर्त्ता 'शंकरार्य' है, और उसीने दोनों जगह इसका नाम 'जयमंगला' रक्खा है । यह नामसाम्य भी रचयिता के एक होने का कारण है । जैसे कालिदास के ग्रन्थों पर मल्लिनाथ की 'संजीवनी' टीका है ।

गुलेरी महोदय के मत का असामंजस्य—

गुलेरी महोदय के इस परिणाम से हम सहमत नहीं होसके । पूर्वोक्त दोनों हेतुओं के सम्बन्ध में हमारा कथन है–लेखों की इसप्रकार समानता, एक लेखक द्वारा दूसरे लेखक का अनुकरण करने पर भी सम्भव है । यह लेखक की एकता का असन्दिग्ध हेतु नहीं कहाजासकता । क्योंकि इसप्रकार के समान लेख, भिन्न-कर्तृक ग्रन्थों में प्रायः मिलजाते हैं । इसका कारण एक लेखक के द्वारा दूसरे लेखक का अनुकरण करना कहाजासकता है । इसके उदाहरण के लिये वात्स्यायन कामसूत्र के प्रस्तुत सूत्र को ही लेलीजिये । अक्षरशः यही सूत्र कौटलीय अर्थशास्त्र १।६। में उपलब्ध है । सूत्र है—

"यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश ।"

क्या इन दोनों ग्रन्थों के इन सूत्रों की अक्षरशः समान आनुपूर्वी के आधार पर यह कहाजासकता है, कि इन दोनों ग्रन्थों का रचयिता एक है ? यदि इनकी एकता प्रमाणान्तर से पुष्ट होती है, तो उसके मानने में कोई बाधा नहीं । परन्तु किसी सूत्र या सन्दर्भ की केवल समानता–प्रमाणान्तर के अभाव में–उनके लेखकों की एकता के लिये निर्बाध प्रमाण नहीं है । ऐसी समानता एक-दूसरे के अनुकरण में भी सम्भव है ।

इसके अतिरिक्त, दाण्डक्य भोज की घटना एक ऐतिहासिक वस्तु होने से इसके

वर्णन में समानरूपता आसकती है। घटना के एक होने पर उसके वर्णन के शब्दों में कदाचित् समानता होना सम्भव है। इसप्रकार का एक और उदाहरण प्रस्तुत है। कौटलीय अर्थशास्त्र में सूत्र है—

"लोभादैलश्चातुर्वर्ण्यमत्याहारयमाणः।" [अधि० १ अध्या० ६]

लोभ के वशीभूत होकर ऐल पुरुरवा नाम का राजा, जब अत्यधिक कर आदि लगाकर जनता को पीड़ित करने लगा, तब वह जनता के क्रोध से नष्ट करदियागया। यहाँ पर ऐल के लोभ का स्वरूप मूलसूत्र में निर्दिष्ट करदिया है। गणपति शास्त्री[1] ने इस सूत्र की व्याख्या इसप्रकार लिखी है—

"लोभादैलः पुरुरवा नाम राजा चातुर्वर्ण्यमतिमात्रधनहरणेन पडियंश्चातुर्वर्ण्यकोपान्नष्टः।"

मूल सूत्र का यह अर्थ कर देने के अनन्तर टीकाकार ने इस सम्बन्ध के एक और ऐतिह्य का उल्लेख किया है। यद्यपि अर्थशास्त्र के मूल सूत्र में इस ऐतिह्य का कोई संकेत नहीं मिलता। ऐतिह्य का उल्लेख इसप्रकार कियागया है—

"लोभादैलो नैमिशीयब्राह्मणयज्ञशालां प्रविश्य ततोऽपरिमितं धनं हर्त्तुमुद्युक्तो ब्राह्मणशापान्नष्ट इत्यैतिह्यं कैश्चिद् वर्ण्यते।"

अब ऐल के लोभ का उल्लेख कामन्दकीय नीतिसार में देखते हैं। यहाँ केवल **'लोभादैलो राजर्षिः'** [काम० नी० १।१५] पद हैं, कौटलीय अर्थशास्त्र के सूत्र के समान, यहाँ लोभ के स्वरूप का निर्देश नहीं है। जयमंगला व्याख्याकार शंकरार्य ने, पद्य के इस भाग की व्याख्या करते हुए केवल उपर्युक्त ऐतिह्य का इसप्रकार निर्देश किया है—

"लोभादैलस्तु इति। ऐलः पुरुरवाः। स किल नैमिशारण्यवासिभिर्यज्ञसंरक्षणार्थमुपनिमन्त्रितः सर्वानेव सौवर्णान् भाजनविशेषान् दृष्ट्वा लोभादाहर्तुमारब्धः। ततस्तैरस्य यज्ञक्रियाविरोधोद्विग्नैर्वज्रगर्भैः कुशैरभिहतो ननाश।"

टीकाकार के भिन्न होने पर भी दोनों स्थलों पर ऐतिह्य का समान वर्णन है। भिन्न लेखक होने पर भी इसप्रकार की घटनाओं के रचनाक्रम की समानता एक दूसरे के अनुकरण से सम्भव होजाती है। अनुकरण न होने पर भी एक घटना के विभिन्नकर्त्तृक वर्णन में भाषासाम्य की सम्भावना रहती है।

---

१. त. गणपति शास्त्री ने अपनी इस 'मूला' नामक टीका के सम्बन्ध में ग्रन्थ की भूमिका में स्वयं लिखा है, कि मद्रासी भाषा में प्राप्त, कौटलीय अर्थशास्त्र की एक प्राचीन व्याख्या को हमने संस्कृत रूप दिया है।
"लोभादैलः पुरुरवा नाम राजा चातुर्वर्ण्यमतिमात्रधनहरणेन पीडयंश्चातुर्वर्ण्यकोपान्नष्टः।"

कामसूत्र-टीका जयमंगला का रचयिता 'शंकरार्य' है, यह उल्लेख कहीं नहीं मिलता—

इसके अतिरिक्त वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला के किसी प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ में ग्रन्थकार का नाम 'शंकरार्य' उपलब्ध नहीं होता। चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से जयमंगला के दो प्रकाशन हुए हैं, उनमें से एक में ग्रन्थकर्त्ता का नाम 'जयमंगल' और दूसरे में 'यशोधर' मुद्रित हुआ है। इस भेद का कोई कारण ग्रन्थ के प्रकाशक अथवा सम्पादक ने निर्दिष्ट नहीं किया। पहले संस्करण में 'जयमंगल' का नाम और दूसरे में 'यशोधर' का है। पं० दुर्गाप्रसाद जी सम्पादित बम्बई संस्करण में 'यशोधर' का नाम है। इससे अनुमान होता है—चौखम्बा संस्कृत सीरीज का प्रथम संस्करण जिन हस्तलेखों के आधार पर मुद्रित हुआ है, उनमें ग्रन्थकर्त्ता का नाम जयमंगल निर्दिष्ट होगा। अथवा हस्तलेख में ग्रन्थकर्त्ता का नाम-निर्देश न होनेसे सम्पादक या प्रकाशक महोदयों ने टीका के 'जयमंगला' नाम से उसके रचयिता 'जयमंगल' की कल्पना करली होगी। अनन्तर बम्बई संस्करण के आधार पर चौखम्बा के द्वितीय सँस्करण में 'जयमंगल' के स्थान पर 'यशोधर' मुद्रित कियागया। पंचनद सार्वजनिक पुस्तकालय [पंजाब पब्लिक लाइब्रेरी] लाहौर में कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला का जो एक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ[1] सुरक्षित है, उसमें भी 'यशोधर' का नाम है। शंकरार्य का नाम किसी प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता।

सांख्य-टीकाकार 'शंकरार्य' और श्री गोपीनाथ कविराज—

कविराज[2] गोपीनाथ एम० ए० ने गुलेरी महोदय के लेख के आधार पर

---

१. यह ग्रन्थ पंजाब पब्लिक लाइब्रेरी लाहौर में 'अ ४३५' संख्या पर निहित है। और चौलुक्यचूड़ामणि श्रीमद् विसलदेव के भारती भांडागार में सुरक्षित प्रति के आधार पर प्रतिलिपि कियागया प्रतीत होता है, आगे दी हुई इस ग्रन्थ की एक पुष्पिका के आधार पर यह लिखा है।

२. From a comparison of the three commentaries it would follow that all the three bore one and the same name, contained an obeisance to one and the same Deity, that is, the Budha, are written in the same style, and that while two are known to have been written by शंकरार्य, the remaining one is ascribed to शंकराचार्य ! The presumption, however, is that the third commentary also was by शंकरार्य. Attribution to शंकराचार्य, has been only due to a confusion of the two names, on which the colophon is based. On any

कामन्दकीय नीतिसार की और वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला का रचयिता शंकरार्य को मानकर, सांख्यसप्तति की व्याख्या जयमंगला का रचयिता भी इसीको माना है। श्रीयुत कविराज जी के विचार से इन तीनों 'जयमंगला' नामक व्याख्याओं का रचयिता एक 'शंकरार्य' है। प्रारम्भिक नमस्कार श्लोक की समानता को इसके लिये आपने हेतुरूप में उपस्थित किया है। साख्यसप्तति की व्याख्या जयमंगला का नमस्कार श्लोक इसप्रकार है—

अधिगततत्त्वालोकं लोकोत्तरवादिनं प्रणम्य मुनिम्।
क्रियते सप्ततिकायाष्टीका जयमंगला नाम॥"

कविराज[1] जी ने यह भी लिखा है, कि कामन्दकीय नीतिसार, वात्स्यायन कामसूत्र और सांख्यसप्तति इन तीनों ग्रन्थों की जयमंगला नामक टीकाओं में नमस्कार श्लोकों से एक देवता बुद्ध को नमस्कार कियागया है, तथा इन श्लोकों का रचनाक्रम समान है। इसी आधार पर उन्होंने शंकरार्य को बौद्ध भी बताया है। उनका यह भी विचार है, कि 'लोकोत्तरवादी' तथा 'मुनि' ये पद केवल बुद्ध के लिये प्रयोग में आते हैं। अतएव बुद्ध को नमस्कार करने के कारण शंकरार्य का बौद्ध होना सम्भव है।

गुलेरी महोदय के मन्तव्य के सम्बन्ध में हम अपने विचार प्रकट कर चुके हैं। ग्रन्थ के नाम की एकता, अथवा किसी एक आध सन्दर्भ की समानता—विशेषकर ऐसे सन्दर्भ की, जो किसी निर्धारित अर्थ का निर्देश करता हो, जैसे दाण्डक्य सम्बन्धी ऐतिहासिक घटनामूलक सन्दर्भ का उदाहरण दियागया है—ग्रन्थकार की एकता के निश्चायक नहीं कहेजासकते। परन्तु श्रीयुत गुलेरी महोदय ने कामन्दकीय नीतिसार और वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला नामक व्याख्याओं से जिन दो नमस्कार श्लोकों को निर्दिष्ट किया है, उनकी आर्थिक और रचनाक्रम [Style] सम्बन्धी समानता अवश्य विचारणीय है। इतनी अधिक समानता की उपेक्षा करदेना अनुचित होगा। इस विषय की विस्तारपूर्वक विवेचना हम इसी प्रकरण में आगे करेंगे। इस समय थोड़ी देर नमस्कार श्लोकों के आधार पर इस बात को मानलेते हैं, कि उन दोनों जयमंगला नामक व्याख्याओं का रचयिता शंकरार्य है। परन्तु श्रीयुत कविराज गोपीनाथ जी के कथनानुसार यही शंकरार्य

---

other hypothesis obeisance to the Buddha becomes quite inexplicable." [Introduction of जयमंगला page 9.]

१. "The benedictory verse, where there is a salutation of लोकोत्तरवादी मुनि, makes it plain that the author of जयमंगला was a Buddhist. The term लोकोत्तरवाद is a Buddhist expression and the मुनि referred to in the verse is no other than the Buddha himself." (जयमंगला भूमिका, पृ० ८)

सांख्यसप्तति की टीका जयमंगला का रचयिता है, यह नहीं कहाजासकता। इसके लिये निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत हैं।

कविराज जी के मत का असामञ्जस्य—

(१) सांख्यसप्तति व्याख्या जयमंगला की अन्तिम पुष्पिका में ग्रन्थकार का नाम केवल 'शंकर' निर्देश कियागया है, 'शंकरार्य' नहीं।

(२) कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला की सम्पूर्ण पुष्पिकाओं में ग्रन्थकार का नाम 'शंकरार्य' निर्दिष्ट है, 'शंकर' नाम का उल्लेख कहीं नहीं है। वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला में न 'शंकर' है, न शंकरार्य है।

(३) सांख्यसप्तति व्याख्या जयमंगला की पुष्पिका में प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता शंकर के गुरु 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपाद' का नाम उल्लिखित है। परन्तु कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला की किसी पुष्पिका में उस ग्रन्थ के रचयिता शंकरार्य के गुरु का नाम उल्लिखित नहीं मिलता।

(४) कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला के नमस्कार श्लोक के साथ, सांख्यसप्ततिव्याख्या जयमंगला के नमस्कार श्लोक की न आर्थिक समानता है, और न इन दोनों श्लोकों का रचनाक्रम [Style] एकसा है। दोनों श्लोकों की तुलना के लिये उनको यहाँ उद्धृत कियाजाता है।

"कामन्दकीये किल नीतिशास्त्रे प्रायेण नास्मिन् सुगमाः पदार्थाः।
तस्माद् विधास्ये जयमंगलाख्यां तत्पञ्चिकां सर्वविदं प्रणम्य॥"

[कामन्दकीयव्याख्या जयमंगला]

"अधिगततत्त्वालोकं लोकोत्तरवादिनं प्रणम्य मुनिम्।
क्रियते सप्ततिकायाष्टीका जयमंगला नाम॥"

[सांख्यसप्ततिव्याख्या जयमंगला]

श्लोकों पर दृष्टिपात करते ही इनकी असमानता स्पष्ट होजाती है। दोनों श्लोकों के पूर्वार्ध में न शाब्दिक समानता है, न आर्थिक; उत्तरार्ध में केवल 'जयमंगला' यह पद मिलता है, जो ग्रन्थ का नाम है, और श्लोक में निर्दिष्ट कियाजाना आवश्यक है। पहला श्लोक इन्द्रवज्रा छन्द और दूसरा आर्या छन्द में है। जिस देवता अथवा ऋषि को नमस्कार कियागया है, उसको प्रथम श्लोक में 'सर्ववित्' शब्द से स्मरण कियागया है; और द्वितीय श्लोक में **"अधिगततत्त्वालोक, लोकोत्तरवादी, मुनि"** इन पदों से स्मरण कियागया है। यदि इन पदों के आर्थिक स्वारस्य पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दियाजाय, तब यह स्पष्ट भांप सकेंगे, कि प्रथम श्लोक में किसी व्यक्ति-विशेष को नमस्कार नहीं कियागया, जबकि द्वितीय श्लोक के प्रत्येक पद से यह बात स्पष्ट ध्वनित होती है, कि यह नमस्कार किसी व्यक्ति-विशेष को कियागया है; यह अलग प्रश्न है, कि वह व्यक्ति कपिल हो अथवा बुद्ध। 'सर्ववित्' अथवा 'सर्वज्ञ' पद का प्रयोग

मुख्यरूप से ब्रह्म या परमेश्वर के लिये होता है। **'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः'** [मुण्ड० उप० १। १। १९] **ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः'** [श्वेता० उप० ६। १६] **'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'** [योगसूत्र १। २५] **'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता'** [सांख्यसूत्र ३। ५६] इत्यादि। इसके अनन्तर उन व्यक्तियों के लिये भी इस पद का प्रयोग होसकता है, जिनके अन्दर लोकातिशायी गुण पायेगये हों। यद्यपि मुख्यवृत्ति से वे सर्वज्ञकल्प होते हैं, परन्तु उनमें आदरातिशय द्योतन करने के लिये गुणवृत्ति से 'सर्वज्ञ' आदि पदों का प्रयोग प्रायः देखा जाता है। फिर भी ऐसे प्रयोगों में किसी इसप्रकार के पद का सान्निध्य अपेक्षित होता है, जो व्यक्ति-परता का बोधक हो। अन्यथा 'सर्वज्ञ' या 'सर्वविद्' आदि पद केवल परमेश्वर के वाचक समझे जासकते हैं। ऐसी स्थिति में इन प्रस्तुत श्लोकों में से पहला श्लोक किसी व्यक्तिविशेष की ओर निर्देश नहीं करता, जब कि दूसरे श्लोक में यह भावना सर्वथा स्पष्ट है। इसलिये इन दोनों श्लोकों की आर्थिक या रचनाक्रमसम्बन्धी किसी तरह की समानता का कथन करना असंगत ही कहाजायगा। केवल दुराग्रह या पूर्वाग्रह से समानता का उद्घोषण किये जाना अलग बात है।

यदि केवल नामसाम्य पर अधिक बल दियाजाय, तो इस नाम की एक और व्याख्या हमारे सन्मुख है—प्रसिद्ध भट्टिकाव्य की टीका जयमंगला। इसका प्रारम्भिक नमस्कार श्लोक निम्नप्रकार है—

"प्रणिपत्य सकलवेदिनमतिदुस्तरभट्टिकाव्यसलिलनिधेः।
जयमंगलेति नाम्ना नौकेव विरच्यते टीका॥"

इस श्लोक की रचना आर्या छन्द में है। इसका पूर्वार्ध, आर्थिक दृष्टि से प्रथम श्लोक के द्वितीय और चतुर्थ चरण के साथ आंशिक समानता रखता है। इस श्लोक का उत्तरार्ध, द्वितीय श्लोक के उत्तरार्ध के साथ अधिक समानता रखता है, और इसका साधारण रचनाक्रम भी द्वितीय श्लोक से अधिक मिलता है। ऐसी स्थिति में क्या कोई विद्वान् इस बात को स्वीकार करेगा, कि भट्टिकाव्य की टीका जयमंगला का रचयिता 'शङ्करार्य' अथवा 'शङ्कर' है? जबकि भट्टिकाव्य की टीका जयमंगला की अन्तिम पुष्पिका[1] में प्रस्तुत ग्रन्थकार का नाम स्पष्ट जयमंगल निर्दिष्ट कियागया है।

---

१. "इति······रावणवधे महातिङन्तकाण्डे लुङ्विलसितनाम्नो नवमपरिच्छेदस्य जटीश्वरो जयदेवो जयमंगल इति च नामभिस्त्रिभिः सुप्रसिद्धस्य अनेकशास्त्रव्याख्यानकृतो टीकायां काव्यस्य अयोध्याप्रत्यागमनं नाम द्वात्रिंशः सर्गः॥ जयमंगलकृता टीका समाप्ता॥" [यह पाठ बम्बई के निर्णयसागर संस्करण से लिया है]।

(५) इसके अतिरिक्त वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला नामक टीका में उदयनाचार्य का एक उद्धरण इसप्रकार उपलब्ध होता है—

"तथाचोक्तं पुरोदयनाचार्यैः—

'आरोपे सति निमित्तानुसरणं न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः इति'[1] ।"

उदयन का समय १०४१ विक्रमी तथा ६०६ शकाब्द [६८४ ईसवी सन्] मानाजाता है। षड्दर्शनव्याख्याकार वाचस्पति मिश्र का समय ८६८ विक्रमी [८४१ ईसवी सन्] है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में जयमंगला व्याख्या को 'अन्ये व्याचक्षते' कहकर ५१वीं आर्या पर उद्धृत किया है। इन उद्धरण वाक्यों के अन्त में वाचस्पति मिश्र लिखता है—

"अस्य च युक्तायुक्तत्वे सूरिभिरेवावगन्तव्ये इति कृतं परदोषोद्भावनेन सिद्धान्तमात्रव्याख्यानप्रवृत्तानाम् इति ।"

इस लेख से स्पष्ट है–वाचस्पति मिश्र को स्वयं जयमंगला के विरुद्ध लिखने का उत्साह नहीं हुआ। मिश्र जैसा उद्भट लेखक, जो परमतप्रत्याख्यान के समय 'नैयायिकतनय' आदि पदों का उल्लेख करने में संकोच नहीं करता, जयमंगला के विरुद्ध लेखनी नहीं उठा सका, इसका कोई विशेष कारण होसकता है। संभव है, अन्य अज्ञात कारणों के अतिरिक्त उस समय अध्ययनाध्यापन-प्रणाली में इस ग्रन्थ का अधिक प्रचार होना, और विद्वानों के हृदय में इस ग्रन्थ की प्रतिष्ठा का होना आदि कारण हों, जिनसे प्रभावित होकर वाचस्पति मिश्र को उक्त मार्ग का अनुसरण करना पड़ा हो। ऐसे समय में, जबकि याता-यात के सुलभसाधनों का अभाव था, अनायास ग्रन्थप्राप्ति का साधन मुद्रण व प्रकाशन कला भविष्यत् के गर्भ में थीं, एक पुस्तक की प्राप्ति के लिये पर्याप्त समय व धन का व्यय करना पड़ता था, अपने स्थान को छोड़कर सब स्थानान्तरों में जाना निरापद न था, जयमंगला जैसे परमार्थविषय-सम्बन्धी ग्रन्थ के प्रचार के लिये पर्याप्त समय अपेक्षित होना चाहिये। हमारा अनुमान है–लगभग दो सौ वर्ष का ऐसा समय अवश्य मानाजाना चाहिये, जब इस ग्रन्थ के लिखे जाने के बाद, शनैः शनैः वाचस्पति मिश्र के समय तक इसका पठनपाठन प्रणाली में पर्याप्त प्रचार होचुका होगा। लगभग दो सौ वर्ष का अन्तर इसलिये भी माना

---

१. इस आशय का लेख उदयनकृत न्यायकुसुमाञ्जलि में इसप्रकार मिलता है—"सिद्धे व्यवहारे निमित्तानुसरणात् । न च स्वेच्छाकल्पितेन निमित्तेन लोकव्यवहारनियमनम् ।" [चतुर्थ स्तबक, पृ० ४, वर्धमानकृत व्याख्या-सहित संस्करण] ऊपर का उद्धरण 'पञ्चनद सार्वजनिक पुस्तकालय' में [अ ४३५ संख्या पर] सुरक्षित, जयमंगला टीका की हस्तलिखित प्रति के आधार पर दियागया है।

जाना आवश्यक प्रतीत होता है, कि शङ्कर [सांख्यसप्तति-व्याख्याता] दक्षिण प्रान्त का रहनेवाला था, उसका आलोचक वाचस्पति मिश्र मिथिला का। दक्षिण प्रदेश में प्रस्तुत ग्रन्थ के उत्तर भारत में इतने अधिक प्रचार के लिये अवश्य पर्याप्त समय की अपेक्षा होसकती है, और वह भी सांख्य जैसे आध्यात्मिक एवं अप्रचारित विषयक ग्रन्थ के लिये। ऐसी स्थिति में इस अनुमान को यथार्थ की सीमा तक मान लेने पर यह निर्बाध कहाजासकता है, कि जयमंगला के लिखे जाने का समय सप्तम शतक के मध्य से इधर नहीं होना चाहिये। अब हम जब इस बात को देखते हैं, कि वात्स्यायन कामसूत्र की टीका में दशम शतक के अन्तिम भाग में होनेवाले उदयनाचार्य को स्मरण कियागया है, तब निश्चितरूप से इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं, कि सप्तम शतक में होनेवाला व्यक्ति वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगला का रचयिता नहीं कहाजासकता। इसलिये श्रीयुत कविराज गोपीनाथ जी का यह कथन, कि कामन्दकीय नीतिसार, वात्स्यायन कामसूत्र और सांख्यसप्तति इन तीनों ग्रन्थों की जयमंगला नामक व्याख्याओं का रचयिता एक ही व्यक्ति है, सर्वथा असंगत है। सांख्यसप्तति की व्याख्या जयमंगला सप्तम शतक के समाप्त होने से पूर्व बन चुकी थी, और वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगला दशम शतक के अनन्तर लिखी गई, इसमें कोई सन्देह का अवकाश नहीं है[1]।

सांख्य-टीका जयमंगला का काल, और श्री हरदत्त शर्मा—

हरदत्त शर्मा एम० ए० महोदय ने, सांख्यसप्तति की टीका जयमङ्गला का काल खीस्ट दशम शतक के लगभग माना है। यह आपने प्रमाणपूर्वक स्वीकार किया है, कि जयमङ्गला वाचस्पति मिश्र से प्राचीन है, यद्यपि आदि शङ्कराचार्य से अर्वाचीन है। मैक्डानल[2] की सम्मति का सहारा लेकर श्रीयुत शर्मा ने वाचस्पति मिश्र का समय ईसा के एकादश शतक के लगभग माना है। इसप्रकार जयमङ्गलाकार शंकर का, ईसा के दशम शतक के लगभग अथवा कुछ पूर्व,

---

१. श्रीयुत म० रामकृष्ण कवि महोदय ने भी अन्य आधारों पर वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला टीका का समय दशम शतक के अनन्तर सिद्ध किया है। वे लिखते हैं—"Jayamangala on Vatsyayana may therefore be assigned to some period later then 1000 A D" [Journal of the Andhra Historical Research Society; October. 1927.]

२. There are two excellent commetaries on the Sankhya Karika, the one composed about 700 A.D by Gaudapada, and the other soon after 1100 A.D by Vacaspati Misra." [History of Sanskrit Literature, by Macdonell, P. 393.]

विद्यमान होना स्वीकार किया है[1]।

इस मन्तव्य के सम्बन्ध में सबसे प्रथम वाचस्पति मिश्र के समय का विवेचन लीजिये। मैक्डानल महोदय ने वाचस्पति मिश्र का समय ईसा का एकादश शतक बताया है, परन्तु इसमें उन्होंने किसी प्रमाण या युक्ति का निर्देश नहीं किया। मैक्डानल महोदय का वह सन्दर्भ हमने टिप्पणी में उद्धृत कर दिया है। शर्मा जी ने भी इस दिशा में कोई पग नहीं उठाया। यत्न करने पर भी हम इस बात को नहीं समझसके, कि अपने समय के सम्बन्ध में वाचस्पति के स्वप्रणीत पद्य की उपेक्षा क्यों कीगई है? उस पद्य का निर्देश इसी प्रकरण के प्रारम्भ में कियाजा-चुका है। वहाँ स्पष्टरूप में वाचस्पति ने अपने न्यायसूचीनिबन्ध की समाप्ति का ८९८ विक्रमी सम्वत् दिया है, जो ८४१ ईसवी सन् होता है। न्यायसूची-निबन्ध; न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका की समाप्ति पर गौतम सूत्रों का संशोधित संस्करण है। इसके अन्त में निर्दिष्ट इतने स्पष्ट लेख की उपेक्षा का कोई कारण उक्त विद्वानों ने नहीं बताया।

भारतीय प्रामाणिक साहित्य के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण एक प्रकार की विशेष भावना को लेकर प्रस्फुटित होता है। प्रायः प्राचीन भारतीय विद्वान् आत्मख्याति की भावना से सदा उदासीन रहकर लोकहित की कामना से, अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाते रहे हैं। कुछ उनकी आत्मख्याति-लोलुपता की ओर से उपेक्षा, और कुछ ऐतिहासिक साहित्य के नष्ट होजाने के कारण आज हम उनकी पूर्ण परिस्थिति से किसी अंश तक अपरिचित अवश्य हो गये हैं, परन्तु कालक्रम से जिन विद्वानों ने अपने समय आदि के सम्बन्ध में कुछ साधारण निर्देश करदिये हैं, पाश्चात्य-हस्त उनपर भी हरताल फेरने में सदा प्रयत्नशील रहता है। प्रायः इसप्रकार की उक्तियों को मुख्य ग्रन्थकार की रचना मानने से निषेध करदियाजाता है। अथवा कहीं भिन्न ग्रन्थकार की कल्पना करलीजाती है, और इसीप्रकार के बेसिर-पैर के कथानक जोड़कर, जिसतरह भी हो, उन उल्लेखों में अनेकप्रकार के सन्देह उत्पन्न करने का प्रबल प्रयास कियाजाता है। उसी पाश्चात्य भावना व प्रचार का फल है—कि आज अनेक

---

१. "So that, it may be safely asserted that the author of जयमंगला is earlier than Vacaspati Misra and later than the great Sankaracharya. According to Macdonell (History of Sanskrit Literature, P. 393) Vachaspati's age is about 1100 A.D. And the great Sankaracharya cannot be placed later than the 8th century A.D. Therefore our जयमंगला's Sankara must have flourished about 1000 A. D. or earlier." [Proceedings, fifth Indian Oriental Conference, Lahore, 1928, P. 1038.]

भारतीय विद्वान् आंख मूंदकर उनके पीछे दौड़ने लगे हैं, और अपनी वास्तविकता को समझने का यत्न नहीं करते। इसमें हमारी दास-मनोवृत्ति भी एक कारण है, आधुनिक विपरीत शिक्षा ने हमारे मस्तिष्क को विकृत और दासानुदास बना दिया है, किसी शब्द के–गौराङ्गमहाप्रभुओं के मुख से–उच्चरित होते ही हम उसके गीत गाने लगते हैं, उनकी भावना के अनुकूल, दिन को रात और रात को दिन सिद्ध करने में हमारा सम्पूर्ण प्रयास पर्यवसित होजाता है, वाह वाह की लूट और शाबाशी की थपकी में ही हम अपनी विद्वत्ता की सफलता समझ बैठते हैं। हमारी सभ्यता, हमारी जातिगत विशेषताओं, हमारी परम्पराओं, हमारी शिक्षासम्बन्धी सूक्ष्म भावनाओं को एक विदेशी, सर्वथा विपरीत वातावरण का अभ्यासी, कैसे पूर्णरूप से समझ पायेगा? इस बात को जानते हुए भी हम भूल जाते हैं, और देखते हुए भी आंख फेर लेते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में विद्वान् यह न समझें, कि उपर्युक्त शब्द–हमारे कथन को बिना विवेचन स्वीकार कर लेने के लिये–एक भावुकतापूर्ण अपील मात्र हैं, यह तो आधुनिक स्थिति का सजीव चित्र है। इसके अनन्तर हम, मैक्डानल महोदय तथा उनके अनुगामियों से मालूम करसकते हैं, आखिर उन्होंने वाचस्पति मिश्र के कालनिर्णायिक पद्य की उपेक्षा क्यों की है? क्या वे यही कारण न बतायेंगे? कि यह श्लोक वाचस्पति का अपना नहीं है। क्यों नहीं है? यह आ कहां से गया? किसी और विद्वान् ने बनाकर यहां लिखदिया होगा। तब तो यह भी बड़ी सरलता से कहाजासकता है, कि तात्पर्यटीका भी वाचस्पति ने नहीं बनाई। 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर' भी मैक्डानल ने नहीं लिखा। पर उसके तो लिखित प्रमाण विद्यमान हैं, कैसे कहाजासकता है, कि मैक्डानल ने यह नहीं लिखा? ठीक है; वह और किसी ने लिख दिया होगा, मैक्डानल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। अभिप्राय यह है, कि मैक्डानल महोदय के केवल कथन से यह स्वीकार नहीं कियाजासकता, कि वाचस्पति मिश्र ११वें शतक में हुआ था, जब कि वह स्वयं अपना समय नवम शतक के पूर्वार्ध में बतलारहा है।

शर्मा महोदय को तो, अन्धेरे में लाठी का सहारा मिल गया। आपने गुलेरी महोदय तथा कविराज गोपीनाथ एम० ए० महोदय के लेखों के आधार पर यह स्वीकार करलिया, कि वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगला, और सांख्यसप्तति की टीका जयमंगला इन दोनों का रचयिता एक व्यक्ति है, कारणान्तरों से यह निश्चित है, कि वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगला का समय दशम शतक के अनन्तर ही होसकता है। इसीलिये शर्मा महोदय ने सांख्यसप्तति की टीका जयमंगला को भी दशम शतक में घसीट लाने का निष्फल प्रयास किया है, और इसमें सहारा आपने मैक्डानल का लिया है। व्यर्थ ही रेत की बुनियाद पर अपनी दीवार खड़ी करदी।

वाचस्पति के काल का निर्णय पिछले पृष्ठों में कियाजाचुका है। जब उसका समय ८४१ ख्रीस्ट के आसपास निश्चित है, और सांख्यसप्तति की जयमंगला व्याख्या, वाचस्पति से पूर्व लिखी जाचुकी थी, तब यह निस्सन्दिग्ध कहाजासकता है, कि सांख्यसप्तति-व्याख्या जयमंगला का समय ईसा का दशम शतक नहीं मानाजासकता। क्योंकि नवम शतक के पूर्वार्ध में तो वाचस्पति मिश्र का स्थिति-काल है, जयमंगला का रचना-देश दक्षिण तथा मिथिलानिवासी वाचस्पति मिश्र के जयमंगलासम्बन्धी विचारों या उद्गारों पर ध्यान देते हुए, निस्संकोच कहा-जासकता है, कि जयमंगला का समय अवश्य वाचस्पति मिश्र से डेढ़ दो शतक पूर्व होना चाहिये। ऐसी स्थिति में जयमंगलाकार का विक्रम के सप्तम शतक में स्थित होना अधिक संभव है।

शंकर और शंकराचार्य—

हरदत्त शर्मा एम० ए० ने अपने लेख में जयमंगलाकार शंकर को आदि शंकराचार्य से अर्वाचीन माना है, और आदि शंकराचार्य का समय ईसा का अष्टम शतक स्वीकार किया है। शंकर[1] के इस कालनिर्णय के लिये वे निम्न-लिखित प्रमाण उपस्थित करते हैं। वे लिखते है—१७ वीं कारिका पर जय-मंगला से उद्धृत निम्न सन्दर्भ भी विचारणीय है……एक एव पुराणः पुरुषः, तस्मादग्नेरिव विस्फुलिंगाः प्रतिशरीरं पुरुषा आविर्भूता इति वेदान्तवादिनः।

इसके अनन्तर १८वीं कारिका पर जयमंगलाकार पुनः लिखता है—

"पुराणपुरुषादग्नेरिव विस्फुलिंगाः प्रतिशरीरं पुरुषाः' इत्यस्मिन्नपि दर्शने पुरुषबहुत्वमस्त्येव। तेषां परस्परविलक्षणत्वात् ते पुराणपुरुषादभिन्ना भिन्ना वेति दर्शनद्वयम्।……।"

……इसको निम्नलिखित से तुलना कीजिये—

तदेतत्सत्यम्—

यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिंगाः। सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः। प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥

[मुण्डकोपनिषत्, २। १]

इसपर शंकराचार्य का भाष्य इसप्रकार है—

यथा सुदीप्तात् सुष्ठु दीप्तादग्नेर्विस्फुलिंगा अग्न्यवयवाः सहस्रशोऽनेकशः प्रभवन्ते निर्गच्छन्ति, सरूपा अग्निसलक्षणा एव, तथोक्तलक्षणादक्षराद्विविधा

---

१. इस प्रसंग में हम जयमंगलाकार शंकर को केवल 'शंकर' नाम से और आदि शंकराचार्य को 'शंकराचार्य' नाम से निर्देश करेंगे, पाठकों को इस विवेक का ध्यान रखना चाहिये।

नानादेहोपाधिभेदमनुविधीयमानत्वात् विविधाः । हे सोम्य ! भावा जीवा आकाशादिवत् विविधाः घटादिपरिच्छिन्नाः सुषिरभेदा घटाद्युपाधिप्रभेद-मनुभवन्ति ।

इसकी तुलना यह प्रकट करती है, कि जयमंगला ने 'वेदान्तवादिनः' इस पारिभाषिक संकेत के द्वारा शंकराचार्य के उक्त भाष्य-भाग का निर्देश किया है। इसलिये जयमंगलाकार शंकर, शंकराचार्य से भिन्न ही नहीं, प्रत्युत उससे अर्वाचीन भी है[1] ।"

जहांतक शंकराचार्य के काल का सम्बन्ध है, उसके विवेचन के लिये यह समय उपयुक्त न होगा, प्रस्तुत प्रसंग में उसकी इतनी आवश्यकता नहीं । इसलिये यदि यह मानलियाजाता है, कि शंकराचार्य का काल ईसा का अष्टम शतक है, तो हम यह कहने के लिये प्रमाण रखते हैं, कि शंकर का समय अवश्य इससे प्राचीन होना चाहिये । जो आधार शंकर की अर्वाचीनता का हरदत्त शर्मा एम० ए० ने उपस्थित किया है, वह असंगत है। क्योंकि शंकर की पंक्तियों में कोई ऐसा पद नहीं है, जो शंकराचार्य के भाष्य के आधार पर लिखागया प्रतीत हो-रहा हो । शंकर के लेख का साक्षात् आधार मुण्डक उपनिषद् की उपर्युक्त श्रुति है । शंकर ने श्रुतिपठित 'अक्षर' पद के लिये 'पुराणपुरुष' पद का प्रयोग किया है, जबकि शंकराचार्य अपने भाष्य में 'अक्षर' पद के स्थान पर किसी अन्य पद का प्रयोग नहीं करता । श्रुति के 'भावाः' पद की व्याख्या शंकराचार्य ने 'जीवाः' की है । शंकराचार्य के अपने सम्प्रदाय में 'जीव' पद सर्वथा पारिभाषिक है । अन्तःकरणोपहित अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य[2] का नाम 'जीव' है । प्रतीत होता

---

१. Proceedings—Fifth Indian Oriental Conference, Lahore. 1928-P. 1035-36.

२. पञ्चदशी [४।११] में जीव का स्वरूप बताया है—
"चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः । चिच्छाया लिंगदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते ॥"

पञ्चदशीकार श्री विद्यारण्य के शिष्य श्रीरामकृष्ण ने उक्त श्लोक की व्याख्या इसप्रकार की है-'यदधिष्ठानं लिङ्गदेहकल्पनाधारभूतं यच्चैतन्यमस्ति यश्च तत्र कल्पितो लिङ्गदेहो यश्च तस्मिन् लिङ्गदेहे वर्त्तमानश्चिदाभास-स्तत्संघस्तेषां त्रयाणां समूहो जीवशब्देनोच्यत इत्यर्थः ।

लिङ्गदेह की कल्पना का आधार जो अधिष्ठान चैतन्य है एक तो वह, दूसरे उसमें कल्पित जो लिङ्गदेह है, तीसरे उस लिङ्गदेह में जो चिदाभास पड़ा हुआ है, इन तीनों का संघ 'जीव' कहाजाता है । [यह हिन्दी अर्थ, हमने अपने स्नेही सहाध्यायी विद्याभास्कर श्री रामावतार शास्त्री वेदान्ततीर्थ मीमांसाचार्य कृत पञ्चदशी हिन्दी रूपान्तर से लिया है ।]

है, 'जीव' पद का इतना संकुचित अर्थ शंकर को अभिमत न था। यद्यपि शरीर में कर्त्ता भोक्ता पुरुष के लिये जीव पद का प्रयोग पर्याप्त प्राचीन है। यदि शंकर अपनी पंक्ति शंकराचार्य के भाष्य के आधार पर लिखता, तो वह अवश्य 'जीव' पद को छोड़कर 'पुरुष' पद का प्रयोग न करता। इसप्रकार यह तुलना इस धारणा को दृढ़ बनादेती है, कि शंकर की पंक्ति का आधार शंकराचार्य का भाष्य नहीं कहजासकता।

अब 'शंकर' के 'वेदान्तवादिनः' इस पारिभाषिक संकेत की बात रहजाती है। संभवतः शर्मा महोदय का यह विचार है, कि 'वेदान्तवादिन्' पद से शंकराचार्य के सम्प्रदाय का निर्देश कियाजाना सामञ्जस्यपूर्ण होसकता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। 'वेदान्त' पद 'उपनिषद्' के लिये पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होता है। शंकराचार्य से बहुत पहले साक्षात् उपनिषद् में इस पद का प्रयोग देखाजाता है—

"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" [मुण्डक० ३।२।६]

यहाँ 'उपनिषद्-ज्ञान' के लिये 'वेदान्त-विज्ञान' पद का प्रयोग कियागया है। इसलिये जयमंगला में शंकर के 'वेदान्त-वादिनः' पद का प्रयोग, उपनिषद् का कथन करनेवाले ऋषि अथवा आचार्यों के लिये हुआ है, और इस मत-निर्देश का आधार उक्त उपनिषद्वाक्य है। इसलिये जिस मत को शंकर ने जयमंगला में 'वेदान्तवादिनः' पद के द्वारा प्रदर्शित किया है, उसी मत को जयमंगला से प्राचीन व्याख्या युक्तिदीपिका में—

"औपनिषदाः खलु एकश्चात्मेति प्रतिपन्नाः"

इसप्रकार 'औपनिषदाः' पद के द्वारा प्रदर्शित कियागया है। इसलिये इन सब आधारों पर, शर्मा जी की उपर्युक्त तुलना, शंकर को शंकराचार्य के तथाकथित काल[1] से अर्वाचीन सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ है। फलतः सांख्यसप्तति की व्याख्या जयमंगला का काल सप्तम शतक में मानेजाने के लिये कोई बाधा दृष्टिगोचर नहीं होरही; जबकि वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगला की रचना दशमशतक के अनन्तर हुई है, अतः इन दोनों व्याख्याओं का रचयिता एक व्यक्ति नहीं होसकता।

क्या कामन्दकीय नीतिसार, और वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला नामक टीकाओं का रचयिता एक ही व्यक्ति था ?

कामन्दकीय नीतिसार और वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला नामक टीकाओं के नमस्कारश्लोक के सम्बन्ध में अब विवेचन करना उपयुक्त है। यद्यपि

१. वस्तुतः आद्य शंकराचार्य का काल ईसा पूर्व पाँच सौ वर्ष के लगभग है, शंकराचार्य का जन्म ५०९ ईसापूर्व तथा देहावसान ४७७ ईसापूर्व है। द्रष्टव्य, हमारी रचना 'वेदान्तदर्शन का इतिहास' [अध्याय ११]।

इन श्लोकों में परस्पर पर्याप्त समानता है, फिर भी केवल इनकी समानता के आधार पर ग्रन्थकारों की एकता का निश्चय नहीं कियाजासकता, क्योंकि इस प्रकार की समानता एक दूसरे लेखक के अनुकरण से सम्भव है। ऐसे एक-आध उदाहरण [भट्टिकाव्य की टीका जयमंगला] का पीछे निर्देश कियाजाचुका है। साहित्य से ऐसे अन्य भी अनेक उदाहरण संग्रह कियेजासकते हैं। जिन ग्रन्थ-कर्ताओं के सम्बन्ध में हमें किसी तरह का सन्देह नहीं है, उन विभिन्न ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में भी समान श्लोक उपलब्ध होते हैं। इसके कुछ उदाहरण यहां और दे देना चाहते हैं।

प्रसिद्ध कवि भवभूति ने मालतीमाधव के प्रारम्भिक श्लोकों में से एक श्लोक इसप्रकार लिखा है—

"ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥"

[मालतीमाधव, श्लोक ६]

धर्मकीर्तिप्रणीत प्रमाणवार्त्तिक की कर्णकगोमि रचित व्याख्या के प्रारम्भिक श्लोकों में तृतीय श्लोक इसप्रकार है—

"यो मामवज्ञायति कोऽपि गुणाभिमानी
जानात्यसौ किमपि तं प्रति नैष यत्नः।
कश्चिद् भविष्यति कदाचिदनेन चार्थी
नानाधियाञ्जगति जन्मवतां हि नान्तः।"

इन दोनों श्लोकों में प्रत्येक प्रकार की समानता स्पष्ट है। छन्द, रचनाक्रम, अर्थ आदि सबप्रकार की समानता होने पर भी ये दोनों श्लोक जिन ग्रन्थों में उपलब्ध हैं, उनमें से एक का रचयिता भवभूति और दूसरे का कर्णकगोमि है, इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं कियाजासकता। एक उदाहरण और लीजिये—

प्रसिद्ध बाणभट्ट के हर्षचरित, और आचार्य दण्डी के काव्यादर्श में प्रारम्भिक नमस्कार श्लोक, एक ही उपलब्ध होता है, वह श्लोक इसप्रकार है—

"चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम। मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती॥"

ऐसी स्थिति में किसी नमस्कार श्लोक अथवा किसी भी श्लोक के समान या एक होने पर दो भिन्न ग्रन्थों के रचयिताओं को एक समझाजाना युक्ति-संगत नहीं कहाजासकता। इसीलिये कामन्दकीय नीतिसार और वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगलाओं में नमस्कार श्लोक के समान होने पर भी दोनों टीकाओं का एक रचयिता मानना असंदिग्ध प्रमाण के आधार पर नहीं है। ऐसे समान लेख कहीं रचयिता के एकत्व के बोधक भी संभव है, जबकि प्रमाणान्तर से उसकी पुष्टि होसके।

इन टीकाओं की पुष्पिकाओं में ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख—

इसके अतिरिक्त एक और बात यह है, कि कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला की प्रत्येक पुष्पिका में ग्रन्थकार के स्थान पर 'शंकरार्य' का नाम उल्लिखित है, परन्तु वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला के साथ 'शंकरार्य' का सम्बन्ध प्रकट करनेवाला कोई उल्लेख अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

गुलेरी महोदय ने, श्री पं० दुर्गाप्रसाद जी सम्पादित बम्बई संस्करण के आधार पर वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला टीका से एक पुष्पिका इसप्रकार निर्दिष्ट की है—

"इति श्रीवात्स्यायनीयकामसूत्रटीकायां जयमंगलाभिधानायां विदग्धांगना-विरहकातरेण गुरुदत्तेन्द्रपादाभिधानेन यशोधरेणैकत्रकृतसूत्रभाष्यायां··· अधिकरणे···अध्यायः।"

इस पुष्पिका के आधार पर गुलेरी महोदय के इस परिणाम से हम सहमत नहीं होसके, कि यशोधर, जयमंगला टीका का रचियता नहीं है, प्रत्युत जहाँ तहां बिखरे हुए मूल-सूत्र और व्याख्या के खण्डित भागों का संग्रहीतामात्र है। यह संभव है, कि यशोधर, कामशास्त्र से अपरिचित होने के कारण विदग्धां-गना से लाञ्छित होकर कामशास्त्र में पारंगत होने की ओर प्रवृत्त हुआ हो। उस समय व्याख्यासहित कामसूत्र का कोई पूर्ण ग्रन्थ उसे एक जगह न मिल सका हो। तथा इस मूल और प्राचीन भाष्यों के जो भाग जहाँ कहीं से भी मिल सके हों, उसने घोर परिश्रम करके उन्हें संग्रह किया हो, एवं क्रमानुसार व्यव-स्थित करके उन दोनों [सूत्र और भाष्य] को एकत्रित करदिया हो। अपने जीवन की इस गोपनीय घटना को प्रकट करने में यशोधर ने कोई संकोच नहीं किया है। इससे प्रतीत होता है–इस घटना का उसके हृदय पर भारी आघात था, सम्भवतः शान्तिलाभ की आशा से उसने इस घटना को कामातुर व्यक्तियों के समान निःसंकोच प्रकट किया है।

कामसूत्र की टीका जयमंगला का एकत्रीकरण—

जहाँ तक मूल और पुराने भाष्यों के संग्रह करने का प्रश्न है, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहाजासकता, कि उक्त संग्रह में अन्य टीकाओं के साथ जयमंगला टीका भी थी, या अकेली जयमंगला टीका थी। यदि कारणान्तरों से इस बात का निश्चय होजाता है, कि कामसूत्र और उनके जिन भाष्यों को यशोधर ने एकत्रित किया, वे जयमंगला टीका के अतिरिक्त और कोई व्याख्यान न थे, तो निश्चय यह कहाजासकता है, कि जयमंगला टीका का रचयिता यशोधर नहीं है। परन्तु

उपर्युक्त पुष्पिका के आधार पर ऐसा भाव प्रकट नहीं होता। 'एकत्रकृतसूत्र-भाष्यायां' यह पद 'टीकायां' का विशेषण है। यह टीका के स्वरूप का बोधक है, अर्थात् वह टीका ऐसी है—जिसमें सूत्र और भाष्यों को एकत्र कियागया है। अब यदि एकत्र कियेजाने से पहले जयमंगला टीका की स्थिति मानीजाय, तो 'टीका' और 'भाष्य' इन पृथक् दो पदों का निर्देश असंगत प्रतीत होता है। तात्पर्य है—यशोधर ने जिसका संग्रह किया, यदि वह संग्रह कियेजाने से पहले जयमंगला टीका ही थी, तो एक ही पंक्ति में एक स्थान पर उसके लिये 'टीका' पद का प्रयोग और दूसरे स्थान पर उसी के लिये 'भाष्य' पद का प्रयोग संगत प्रतीत नहीं होता। दोनों स्थानों पर एक ही 'टीका' पद का प्रयोग क्यों नहीं कियागया ? इसका कोई विशेष कारण होना चाहिये।

इसका कारण यही है, कि यशोधर से पूर्व, कामशास्त्र के विभिन्न अधि-करण अथवा अध्यायों पर उन-उन विषयों के विशेषज्ञ विद्वानों ने अपने व्याख्यान या भाष्य लिखे हुए थे। जैसे किसीने स्त्री-पुरुषों के लक्षणों पर, किसीने औपनिषदिक पर, किसीने कन्यासंप्रयुक्तक पर आदि। यशोधर ने उन सब भागों के पुराने भाष्यों का संग्रह किया, और मूलसूत्रों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन किया। समय पाकर कामशास्त्र में पारंगत होने पर यशोधर ने देखा कि इनमें कुछ अन्यथा व्याख्यान भी हैं। उन सबको ठीक करके और अपने विचारों के अनुकूल सूत्रानुसार बनाकर यथाक्रम सबको व्यवस्थित किया। इसीका नाम जयमंगला टीका है। अर्थात् यशोधर के किये संग्रह से पूर्व, कामसूत्र के विभिन्न भागों पर उन प्राचीन अज्ञातनामा कामाचार्यों के जो भाष्य थे, उनका कभी 'जयमंगला' नाम नहीं था। यह तो यशोधर के संग्रह का नाम है। इसप्रकार 'टीका' तथा 'भाष्य' पदों के पृथक् प्रयोग का सामञ्जस्य समझ में आजाता है। पुराने व्याख्यानों के लिये भाष्य, तथा यशोधर की अपनी कृति के लिये 'टीका' पद का प्रयोग कियागया है, जिसका नाम 'जयमंगला' है।

यह भाव 'जयमंगला' के प्रारम्भिक नमस्कार श्लोक से भी प्रकट होता है। श्लोक इसप्रकार है—

"वात्स्यायनीयं किल कामसूत्रं प्रस्तावितं कैश्चिदिहान्यथैव।
तस्माद् विधास्ये जयमंगलाख्यां टीकामहं सर्वविदं प्रणम्य॥"

इस नमस्कार श्लोक का द्वितीय चरण, इस सम्बन्ध में गम्भीरता-पूर्वक विचारणीय है। यहां पर 'कैश्चित्' पद बहुवचनान्त प्रयुक्त हुआ है, जो यशोधर से पूर्व कामसूत्रों के अनेक व्याख्याताओं का निर्देश करता है। ये वे व्याख्याता होसकते हैं, जिनके भाष्यों का यशोधर ने संग्रह किया, और कामशास्त्र में पारंगत होने पर उनके यत्र तत्र अन्यथा व्याख्यानों को ठीक किया। जयमंगला की उपर्युक्त पुष्पिका से यही बात सिद्ध होती है।

यशोधर नामवाली पुष्पिकाओं के सम्बन्ध में एक और बात बहुत रुचिकर है। 'एकत्रकृतसूत्रभाष्यायां' इस विशेषणरूप समस्त पद में सर्वत्र 'भाष्य' पद का प्रयोग कियागया है, कहीं भी इसको बदला नहीं गया, और 'कामसूत्रटीकायां' इस विशेष्य पद में सर्वत्र अव्यभिचरितरूप से 'टीका' पद का उपयोग किया है। इससे लेखक की एक निश्चित और दृढ़ भावना की धारा पर प्रकाश पड़ता है, जो नमस्कार श्लोक के द्वितीय चरण से प्रस्फुट कीगई है।

कामसूत्र-टीका जयमंगला की पुष्पिकाओं में शंकरार्य का नाम—

विजयनगरम् में सुरक्षित जयमंगला की हस्तलिखित प्रति से एक पुष्पिका श्रीयुत गुलेरी महोदय ने इसप्रकार उद्धृत की है—

"इति सप्तमेऽधिकरणे तृतीयोऽध्यायः। आदितः षट्त्रिंशः। समाप्तं च कामसूत्रटीकायां जयमंगलाख्यायां औपनिषदिकं नाम सप्तममधिकरणम् ॥"

यह पुष्पिका, यशोधर के नामवाली लम्बी पुष्पिका से भिन्न है। पर हमारा कहना है-'शंकरार्य' का नाम तो इसमें भी नहीं है। हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कहसकते, कि विजयनगरम् के हस्तलिखित ग्रन्थ की किसी पुष्पिका में यशोधर का नाम है या नहीं ? गुलेरी महोदय ने वहां से और किसी पुष्पिका को उद्धृत नहीं किया। परन्तु यहां लाहौर के पञ्चनद सार्वजनिक पुस्तकालय [पञ्जाब पब्लिक लाईब्रेरी] में 'अ ४३५' नम्बर पर जो जयमंगला का हस्तलिखित[1] ग्रन्थ सुरक्षित है, उसमें लगभग पाँच-छह पुष्पिका दृष्टि में ऐसी आईं, जिनमें यशोधर का नाम है, और जो पं० दुर्गाप्रसाद जी के बम्बई संस्करण की पुष्पिका से अक्षरशः मिलती है। इस हस्तलिखित प्रति में 'शंकरार्य' के नाम का उल्लेख कहीं नहीं मिला।

कामसूत्र टीका का नामकरण—

यह संभव है-जिस विदग्धांगना के विरह से यशोधर कातर था, कदाचित् उसीके नाम पर उसने अपनी इस टीका का नाम 'जयमंगला' रक्खा हो।

---

१. यह हस्तलिखित ग्रन्थ, चौलुक्यचूड़ामणि श्री विसलदेव के भारतीय भांडागार में सुरक्षित जयमंगला ग्रन्थ के आधार पर प्रतिलिपि कियागया प्रतीत होता है। इसके पृ० २१३ (१) और ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका से यह बात प्रकट होती है। पृ० २१३ (१) की पुष्पिका इसप्रकार है—

"इत्यपरार्जुनभुजबलमल्लराजनारायणमहाराजाधिराजचौलुक्यचूडामणिश्रीमद्विसलदेवस्य भारतीभांडागारे श्रीवात्स्यायनीयकामसूत्रटीकायां जयमंगलाभिधानायां भार्याधिकारिके चतुर्थेधिकरणे द्वितीयोध्यायः आदितो द्वाविंशः भार्याधिकारिकं चतुर्थमधिकरणं समाप्तं।"

साहित्य में ग्रन्थों के इस प्रकार के नाम देखे जाते हैं। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य पर, वाचस्पति मिश्र कृत टीका का 'भामती' नाम इसीप्रकार की एक घटना के निमित्त रक्खागया बतायाजाता है। कहते हैं, एक बार रात्रि में वाचस्पति मिश्र दिया जलाये कलम कागज आगे रक्खे किसी गम्भीर समस्या में उलझे हुए थे, कोई ऐसी बात अटकी थी, कि समझ में नहीं आरही थी, और लेखनी बलात् विश्राम के लिये बाध्य हुई एक ओर लम्बी पड़ी थी, ऐसे समय में मिश्र की पत्नी 'भामती' दबे पांव अचानक कमरे में आई, और उसने उस दृश्य को देखकर समझा, कि दिये की लौ बहुत मन्द पड़ गई है, प्रकाश की कमी के कारण पतिदेव आगे लिखने से मजबूर हैं। उसने धीरे से आगे हाथ बढ़ाकर बत्ती के फूल को तोड़ा और बत्ती को आगे बढ़ा दिया। अकस्मात् प्रकाश अधिक होते ही मिश्र की उलझी समस्या सुलझ गई, और उनको अत्यधिक प्रसन्नता हुई। अचानक सिर उठाया तो पत्नी को सामने खड़े पाया। प्रसन्नता की प्रबलता में वर मांगने को कहा, पत्नी ने सहेलियों की आड़ ले, नामरक्षा की अभिलाषा से पुत्र की कामना की। मिश्र ने कहा–सन्देह है, पुत्र न मालूम कैसा हो ? नाम उबारे या डुबाये। पुत्र की जगह एक ऐसा उपाय कर देता हूँ, जिससे तुम्हारा नाम सूर्य-चन्द्र की आयु तक प्रत्येक विद्वान् की जिह्वा पर प्रकाशित रहेगा। इसी आधार पर उन्होंने शांकरभाष्य की अपनी टीका का नाम 'भामती' रक्खा। संभव है, यशोधर ने अपने विरह को बहलाने के लिये अपनी विदग्धांगना के नाम पर इस टीका का नाम 'जयमंगला' रक्खा हो।

'जयमंगला' नाम का यह कारण, इसी टीका के लिये उपयुक्त कहाजासकता है। अन्य टीकाओं के 'जयमंगला' नाम का प्रवृत्तिनिमित्त क्या होगा ? हम नहीं कहसकते। एक नाम के अनेक प्रवृत्ति निमित्त होसकते हैं। सब जगह एक नाम का एक ही कारण हो, ऐसा नियम नहीं है, जहां जो संभव हो, वहाँ वैसा कारण होसकता है। इसलिये इन सब आधारों पर हमारा विचार है–वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगला का रचयिता यशोधर है, शंकरार्य नहीं।

कामसूत्र-टीकाकार के नाम के सम्बन्ध में भ्रान्ति—

जगज्ज्योतिर्मल्लकृत टीका सहित, पद्मश्री विरचित 'नागरसर्वस्व' के विद्वान् सम्पादक तथा टिप्पणीकार श्री तनुसुखराम शर्मा महोदय ने उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ १२१ की अंतिम पंक्तियों में लिखा है—

'जयमंगलानाम्नी वात्स्यायनीयकामसूत्रस्य टीका शङ्करार्यप्रणीता।"

इससे स्पष्ट है, शर्मा महोदय ने वात्स्यायन कामसूत्र की जयमंगला टीका को शंकरार्य-रचित माना है। हमारा अनुमान है–गुलेरी महोदय के लेख के आधार पर शर्मा जी ने ऐसा लिखदिया है। उन्होंने स्वयं इस सम्बन्ध में कोई

विशेष विवेचन किया प्रतीत नहीं होता। गुलेरी महोदय का लेख इण्डियन ऐन्टिक्वेरी में १९१३ ईसवी सन् में प्रकाशित होचुका था, और नागरसर्वस्व का प्रस्तुत संस्करण १९२१ ईसवी में प्रकाशित हुआ।

इस सम्बन्ध में यह एक बहुत रुचिकर बात है, कि विक्रमी सम्वत् १९६६ अर्थात् ईसवी सन् १९०९ में काशी से प्रकाशित 'रतिरहस्य' की भूमिका के लेखक श्रीयुत देवीदत्त पराजुली साहित्योपाध्याय महोदय ने भूमिका के तृतीय पृष्ठ पर लिखा है—

"३।८ इति......पद्यं वात्स्यायनमुनिप्रणीतकामसूत्रस्य जयमंगलकृत-टीकायामुपलभ्यते, भद्रबाहुकृतकल्पसूत्रस्य जिनप्रभमुनिविरचितटीकायां जयमंगलस्य नाम दृश्यते।"

इससे स्पष्ट है—पराजुली महोदय वात्स्यायन कामसूत्र की 'जयमङ्गला' टीका के रचयिता का नाम जयमंगल समझते हैं। सम्भवतः, उस समय तक इस ग्रन्थ का, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस से प्रथम संस्करण प्रकाशित होपाया था, जिसमें टीकाकार का नाम 'जयमङ्गल' मुद्रित कियागया।[1] अतः वात्स्यायन कामसूत्र की जयमङ्गला नामक टीका के रचयिता के सम्बन्ध में ये सब लेख भ्रान्ति पर आधारित होने के कारण अमान्य हैं।

सांख्यसप्तति-टीका जयमङ्गला का कर्त्ता शंकर क्या बौद्ध था ?

सांख्यसप्तति की टीका जयमङ्गला के रचयिता के सम्बन्ध में, कविराज गोपीनाथ जी ने यह विचार प्रकट किया है, कि यह टीकाकार बौद्ध था। क्योंकि टीकाकार के नमस्कारश्लोक में पठित 'लोकोत्तरवादी' और 'मुनि' पद बुद्ध के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं।

परन्तु कविराज जी के इस लेख की यथार्थता में बहुत सन्देह है, क्योंकि 'लोकोत्तरवादी' और 'मुनि' ये दोनों पद ऐसे नहीं हैं, जो केवल बुद्ध के लिये प्रयुक्त हुए बतलाये जासकें। 'मुनि' पद कपिल आसुरि गौतम कणाद पतञ्जलि व्यास प्रभृति व्यक्तियों के लिये अनेकशः साहित्य में प्रयुक्त हुआ देखाजाता है। वाचस्पति मिश्रकृत सांख्यतत्त्वकौमुदी के द्वितीय नमस्कार श्लोक को देख लीजिये—

'कपिलाय महामुनये मुनये शिष्याय तस्य चासुरये।'

इसीप्रकार युक्तिदीपिका का प्रारम्भिक तृतीय श्लोक—

'तत्त्वं जिज्ञासमानाय विप्रायासुरये मुनिः।
यदुवाच महत्तन्त्रं दुःखत्रयनिवृत्तये।'

---

१. देखिये, इसी प्रकरण का 'कामसूत्र की टीका जयमङ्गला का रचयिता शंकरार्य है, यह उल्लेख कहीं नहीं मिलता' शीर्षक प्रसंग।

सांख्यसप्तति में ईश्वरकृष्ण ने कपिल के लिये 'मुनि' पद का प्रयोग किया है—

"मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ" [कारिका ७०]

भगवद्गीता में कपिल के लिये 'मुनि' पद का प्रयोग है—

"सिद्धानां कपिलो मुनिः ।" [१०।२६]

उक्त उद्धरणों में केवल कपिल के लिये 'मुनि' पद के प्रयोगों का निर्देश है। 'गौतम' कणाद, पतञ्जलि, व्यास, जैमिनि आदि के लिये भी अनेक स्थलों पर साहित्य में 'मुनि' पद का प्रयोग देखाजाता है, यहां अप्रासंगिक होने से उनके उल्लेख की उपेक्षा करदीगई है।

"लोकोत्तरवादी' पद के सम्बन्ध में विचार करने के लिये महाभारत के निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं—

"मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टान्यैर्मोक्षवित्तमैः ।
ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम् ।।३८।।
ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः ।
कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः ।।३९।।
प्रहायोभयमप्येव ज्ञानं कर्म च केवलम् ।
तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना ।।४०।।
[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३२५][1]

सुलभा-जनक संवाद में यह जनक की उक्ति है। अपने गुरु पञ्चशिख से प्राप्त ज्ञान के विषय में जनक यह संभाषण कररहा है। पञ्चशिख के परमगुरु, महर्षि कपिल हैं, और वे इस सांख्यज्ञान के प्रवर्त्तक हैं। इसलिये इस लोकोत्तर ज्ञान का सम्बन्ध कपिल से प्रकट होता है। जिस निष्ठा में सब कर्मों का त्याग और लोकोत्तर-ज्ञान का संपादन होता है, वह तृतीया निष्ठा उस महात्मा (कपिल) ने प्रतिपादित की है। अत एव उस लोकोत्तर-ज्ञान का कथन करने वाला कपिल, अवश्य लोकोत्तरवादी कहागया है। इससे एक साधारण परिणाम यह निकलता है, कि 'लोकोत्तरवादी' पद प्रत्येक परलोकवादी साक्षात्कृतधर्मा ऋषि अथवा आचार्य के लिये प्रयुक्त कियाजासकता है। बौद्ध साहित्य के पचासों ग्रन्थों के नमस्कार श्लोकों को हमने देखा है, वहां कहीं भी बुद्ध के लिये 'लोकोत्तरवादी' पद का प्रयोग नहीं कियागया। यदि कदाचित् कहीं कियागया हो, तो इसका यह अभिप्राय नहीं, कि बुद्ध के अतिरिक्त और किसी आचार्य या ऋषि के लिये इस पद का प्रयोग नहीं होसकता। अत एव कविराज जी के विरुद्ध, हमारा विचार है—इस श्लोक में कपिल को नमस्कार कियागया है।

---

१. टी० आर० व्यासाचार्य कृष्णाचार्य द्वारा सम्पादित, कुम्भघोण संस्करण के आधार पर।

श्लोक का, 'अधिगततत्त्वालोक' यह प्रथम पद हमारी धारणा को सर्वथा स्पष्ट करदेता है। पञ्चविंशति तत्त्वों के रहस्य को कपिल ने सर्वप्रथम प्रकाशित किया है। इसलिये यह विशेषण कपिल के लिये उपयुक्त कहाजासकता है। तत्त्वसमास की क्रमदीपिका नामक व्याख्या के नमस्कार श्लोक में इसी भाव को इसप्रकार प्रकट किया है—

"पञ्चविंशतितत्त्वेषु जन्मना ज्ञानमाप्तवान्।
आदिसृष्टौ नमस्तस्मै कपिलाय महर्षये।"

इसप्रकार जयमंगला के नमस्कार श्लोक का प्रथम चरण यह निर्णय कर देता है, कि यहाँ कपिल को नमस्कार कियाजारहा है, अन्य किसी को नहीं। इस श्लोक में बुद्धानुसन्धान के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। अत एव इसी आधार पर जयमंगलाकार शंकर को बौद्ध बताना सर्वथा अस्थान में प्रयत्न है।

परिणाम—

प्रस्तुत प्रसंग जयमंगला सम्बन्धी लेख के आधार पर निम्नलिखित परिणाम प्रकट होते हैं—

(क) सांख्यसप्तति व्याख्या जयमंगला की रचना का काल विक्रम के सप्तम शतक से इधर नहीं आसकता। नवम शतक के पूर्वार्द्ध में होनेवाले वाचस्पति मिश्र ने अपने ग्रन्थ में इसे प्रतिष्ठापूर्वक उद्धृत किया है।

(ख) इस टीका के रचयिता का नाम 'शंकर' है। न 'शंकराचार्य' है, और न 'शंकरार्य'।

(ग) कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला का रचयिता 'शंकरार्य' इस शंकर से सर्वथा भिन्न है।

(घ) वात्स्यायनीय कामसूत्र की जयमंगला नामक व्याख्या का रचयिता यशोधर है, शङ्करार्य अथवा अन्य कोई जयमंगल आदि नहीं।

(ङ) यशोधर का समय, ख्रीस्ट दशम शतक के पूर्वार्द्ध में होने वाले प्रसिद्ध दार्शनिक उदयन के समय के अनन्तर होसकता है।

(च) सांख्यसप्तति टीका जयमंगला का रचयिता 'शङ्कर' बौद्ध मत का अनुयायी नहीं था।

युक्तिदीपिका टीका

जयमंगला के अतिरिक्त सांख्यसप्तति पर 'युक्तिदीपिका' नाम की एक और व्याख्या ईसवी सन् १९३८ में कलकत्ता से प्रकाशित हुई है। इसके प्रकाशक हैं—श्री पुलिनबिहारी सरकार। मुख्य सम्पादक हैं—श्री नरेन्द्रचन्द्र वेदान्ततीर्थ, एम० ए०, वागचि-भट्टाचार्य, सांख्यतीर्थ, मीमांसातीर्थ, तत्त्वरत्न, शास्त्री, इत्यादि। इस ग्रन्थ के संस्कर्त्ता हैं—श्री पुलिनबिहारी चक्रवर्त्ती, एम० ए० सांख्य-व्याकरणतीर्थ।

उक्त महानुभावों ने इस अप्रकाशित अमूल्य ग्रन्थरत्न का उपयुक्त प्रकाशन कर विद्वज्जगत् को अत्यन्त उपकृत किया है। श्री षटकरी मुकर्जी, एम०ए०पी-एच०, डी०, महोदय ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में 'प्राक्कथन' लिखकर इसकी उपयोगिता को और बढ़ादिया है। ग्रन्थ के संस्कर्त्ता श्री पुलिनबिहारी चक्रवर्त्ती महोदय ने अपने 'प्रारम्भिक वक्तव्य' में इस ग्रन्थ का एक विस्तृत उपोद्घात शीघ्र प्रकाशित करने का निर्देश किया है। परन्तु वह उपोद्घात अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। संभव है, अभी प्रकाशित न होसका हो। इसलिये उक्त विद्वानों की, इस ग्रन्थ की विवेचनाओं के सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहाजासकता। अत एव इस प्रसंग में प्रथम अपने विचारों का उल्लेख कर देना चाहते हैं। इस समय केवल इस ग्रन्थ के रचनाकाल और रचयिता के सम्बन्ध में यथामति उपयुक्त प्रकाश डालेजाने का प्रयास कियाजायगा।

जयमंगला में माठरवृत्ति—

ग्यारहवीं आर्या में 'अविवेकि' पद की व्याख्या करते हुए जयमंगला टीका में लिखा है—'अविवेकि इति। अविवेचनशीलं व्यक्तम्, अचेतनत्वात्।' व्यक्त अविवेचनशील है, अर्थात् उसका स्वभाव विवेचन करने का नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है। 'अविवेकि' पद का यह अर्थ जयमंगलाकार का अपना नवीन अर्थ है। अन्य किसी व्याख्या में 'अविवेकि' पद का यह अर्थ नहीं कियागया। इसके अनन्तर जयमंगलाकार 'यद्वा' कहकर इस पद का दूसरा अर्थ करता है। वह इसप्रकार है—

"यद्वा गुणेभ्यस्तस्य पृथक्त्वाभावादविवेकि। तथा प्रधानमपि"

सत्त्व, रजस् तमस् गुणों से व्यक्त के पृथक् न होने के कारण, व्यक्त 'अविवेकि' है। क्योंकि 'व्यक्त' सत्त्वादि गुणों का स्वरूप है, इसलिये 'ये गुण हैं' और 'यह व्यक्त है' इसप्रकार इतना विवेक या पृथक् निर्देश नहीं कियाजासकता; इसलिये व्यक्त 'अविवेकि' कहाजाता है। यही बात प्रधान में है, इसलिये प्रधान भी 'अविवेकि' है। जयमंगला व्याख्या में 'यद्वा' पद से निर्दिष्ट यह अर्थ माठरवृत्ति में उपलब्ध होता है—

"अविवेकि व्यक्तम्। अमी गुणा इदं व्यक्तमिति विवेक्तुं न पार्यते, तथा प्रधानमपि। इदं प्रधानं अमी गुणा इति न शक्यते पृथक्कर्त्तुम्।"

'अविवेकि' पद का यह माठरकृत अर्थ, यद्यपि गौडपाद भाष्य में भी उपलब्ध होता है, परन्तु वह माठर का अनुकरण[1] मात्र है, इसलिये यह अर्थ माठर

१. गौडपादभाष्य, माठरवृत्ति के आधार पर लिखागया है। इसके लिये प्रमाणों का संग्रह, माठर और गौडपाद के प्रसंग में इसी अध्याय में कियागया है।

का समझाजाना चाहिये। पिछले व्याख्याकारों ने 'अविवेकि' पद का इसप्रकार का अर्थ नहीं किया है। खेद है—११-१२ आर्याओं पर युक्तिदीपिका व्याख्या खण्डित है, इसलिये नहीं कहाजासकता—युक्तिदीपिकाकार ने इस पद का क्या अर्थ कियाहोगा। फिर भी इससे इतना स्पष्ट होजाता है, कि जयमंगलाकार ने 'यद्वा' कहकर जिस अर्थ का निर्देश किया है, वह माठर में उपलब्ध है।

इसके अनन्तर १५वीं आर्या पर व्याख्या करते हुए 'कारणकार्यविभागात्' इस हेतु की व्याख्या इसप्रकार कीगई है—उत्पन्न करनेवाला 'कारण' और जो उत्पन्न कियाजाय वह 'कार्य' कहाता है। वे दोनों परस्पर भिन्न देखे जाते हैं, मृत्पिण्ड कारण है और घट कार्य, उन दोनों का प्रयोजन व सामर्थ्य भी पृथक्-पृथक् है। मधु जल अथवा दुग्ध आदि पदार्थों के धारण करने में घट समर्थ होता है, मृत्पिण्ड नहीं। यदि इस बात को न मानें, तो यह प्रत्यक्षदृष्ट लौकिक व्यवहार—कि जलादि का आहरण घट से होता है, और घट की उत्पत्ति मृत्पिण्ड से होती है—न होना चाहिये। इसप्रकार महत् अहंकार तन्मात्र इन्द्रिय और महाभूत यह व्यक्त पृथक् है, जो कार्य है, इससे विपरीत प्रधान अव्यक्त अन्य है, जो कारण है। इसलिये प्रधान अर्थात् अव्यक्त की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है।

उक्त हेतु का उपर्युक्त अर्थ माठर और जयमंगला दोनों व्याख्यानों में प्रथम समानरूप से उपलब्ध होता है। समझने की सुविधा के लिये दोनों ग्रन्थों को यहाँ उद्धृत कर देना उपयुक्त होगा।

माठर

कारणकार्यविभागात्। करोतीति कारणम्, क्रियत इति कार्यं तयोर्विभागस्तस्मात्। तद्यथा मृत्पिण्डः कारणं घटः कार्यम्। स एव हि मधूदकपयः-प्रभृतीनां धारणे समर्थो न तु मृत्पिण्डः। एवं व्यक्ताव्यक्तयोर्विभागः। अन्यत् व्यक्तं महदहंकारतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतपर्यन्तं, तच्च कार्यम्। अन्यच्च अव्यक्तं प्रधानं विपरीतं कारणमिति। तस्मादस्ति प्रधानम्।

जयमंगला

कारणकार्यविभागात् इति। कारणस्य पूर्वभावित्वात् पूर्वनिपातः। अल्पाच्तरस्य पूर्वनिपातस्यानित्यत्वम्॥

यत उत्पद्यते तत्कारणम् यच्चोत्पद्यते तत्कार्यम्। यथा मृत्पिण्डघटयोर्जन्यजनकत्वेन पृथगर्थक्रियाकरणाच्च विभागो दृष्टः। अन्यथा घटस्योदकाहरणक्रिया या न सा मृत्पिण्डस्य, या मृत्पिण्डस्य न सा घटस्य [इति न स्यात्]। एवं व्यक्तस्य महदादेः कार्यत्वात् पृथगर्थक्रियाकरणाच्च विभागः। तस्मादस्य कारणेन भवितव्यम्। तच्चाव्यक्तात् किमन्यत् स्यादिति।

इसका निर्देश करके जयमंगलाकार इस अर्थ में एक दोष उपस्थित करता है। वह कहता है–उक्त हेतु का उपर्युक्त व्याख्यान करने पर अर्थ की पुनरुक्ति होती है, क्योंकि 'कार्यतस्तदुपलब्धेर्महदादि तच्च कार्यम्' इस आठवीं आर्या के आधार पर यह अर्थ सिद्ध होजाता है, फिर उसीको यहाँ दुहराने की क्या आवश्यकता है ? इतना लिखकर आगे जयमंगलाकार कहता है–इसीलिये अन्य आचार्यों ने इस हेतु का अन्यथा व्याख्यान किया है। जयमंगला का लेख निम्नप्रकार है—

"अस्मिन् व्याख्याने 'कार्यतस्तदुपलब्धेर्महदादि तच्च कार्यम्' इत्यनेनैव सिद्धत्वादन्यैरन्यथा व्याख्यायते[1] ।"

जयमंगला में युक्तिदीपिका—

यहाँ पर 'अन्यैरन्यथा व्याख्यायते' इन जयमंगला के पदों से यह सर्वथा स्पष्ट है, कि टीका में इसके आगे जो अर्थ दियागया है, वह अवश्य किसी अन्य आचार्य का होना चाहिये। 'व्याख्यायते' के आगे जयमंगलाकार लिखता है—

"यदुपकरोति तत्कारणम्, यदुपक्रियते तत्कार्यं तयोर्विभागात्, उपकार्योपकारकभावादित्यर्थः ।"

इसका अभिप्राय हुआ–'कारणकार्यविभागात्' इस हेतु पद का अर्थ 'उपकार्योपकारकभावात्' होना चाहिये। इस हेतु का यही अर्थ युक्तिदीपिका व्याख्या में कियागया है। वहाँ पर प्रथम माठरोक्त अर्थ का उल्लेख है, फिर उसमें दोष का उद्‌भावन करके स्वाभिमत अर्थ का निरूपण किया है। युक्तिदीपिका का वह सम्पूर्ण सन्दर्भ यहाँ उद्धृत कर देना उपयुक्त होगा। उसके प्रथम निर्दिष्ट अर्थ से माठरोक्त अर्थ की तुलना करने में भी सुविधा होगी। युक्तिदीपिका का लेख इसप्रकार है—

"कारणकार्यविभागात्। कारणञ्च कार्यञ्च कारणकार्ये तयोर्विभागः कारणकार्यविभागः। इदं कारणमिदं कार्यमिति बुद्ध्या द्विधाऽवस्थापनं विभागो यः स कारणकार्यविभागः, तदवस्थितभागपूर्वकं दृष्टम्। तद्यथा-शयनासनरथचरणादिः। अस्ति चायं व्यक्तस्य कारणकार्यविभागस्तस्मादि-

---

१. हरदत्त शर्मा एम० ए० महोदय को, इस अन्यथा व्याख्यान के मूलस्थान का पता नहीं लगसका, उस समय युक्तिदीपिका के प्रकाशित न होने के कारण यह सम्भव नहीं था, इसी कारण माठर और जयमंगला की तुलना में उनको भ्रान्ति हुई है, और उन्होंने जयमंगला को माठर से पहले समझ लिया है। [Proceedings,–Fifth Indian Oriental Conference, Lahore. 1928. P. 1033]

दमप्यवस्थितभाव[1]पूर्वकम्, योऽसाववस्थितभावस्तदव्यक्तम् ।"

यहाँ तक युक्तिदीपिकाकार ने उसी अर्थ का निर्देश किया है, जो अर्थ माठर का है। इस अर्थ में युक्तिदीपिकाकार ने दोष की उद्भावना निम्नप्रकार की है—

आह—तदनुपलब्धेरयुक्तम् । न हि शयनादीनां कारणकार्यविभागः कश्चिदुपलभ्यते, तस्मादयुक्तमेतत् ।"

प्रस्तुत व्याख्याकार का अभिप्राय है—सांख्यसिद्धान्त में कारण एवं कार्य का परस्पर विभाग नहीं कियाजासकता। यहाँ सत्कार्यवाद होने से कोई कार्य, कारण से विभक्त नहीं है, इसलिये उक्त हेतु का उपर्युक्त अर्थ, प्रमादकथन ही होगा। इसीलिये प्रधान की सिद्धि में इस हेतु का निर्देश असंगत होगा। इसका समाधान व्याख्याकार इसप्रकार करता है—

"उच्यते—न कार्यकारणयोरुपकारकोपकार्यपरत्वात् कारणं कार्यमिति निर्वर्त्यनिर्वर्तकभावोऽभिप्रेतः । किन्तर्हि ? उपकारकोपकार्यभावः । स चास्ति शयनादीनां व्यक्तस्य च । अतो न प्रमादाभिधानमेतत् ।"

व्याख्याकार का अभिप्राय है—आर्या के हेतुपद में 'कारणकार्यविभाग' का अर्थ 'उत्पाद्योतपादकभाव' नहीं है, प्रत्युत 'उपकार्योपकाराकभाव' है, और यह भाव, शयनादि तथा समग्र व्यक्त पदार्थ में देखाजाता है। इसलिये प्रधान की सिद्धि में इस हेतु का उपस्थित करना प्रमादकथन नहीं है।

यद्यपि जयमंगला और युक्तिदीपिका व्याख्याओं के दोषोद्भावन प्रकार में कुछ अन्तर दीखता है, परन्तु उसके समाधान में कोई अन्तर नहीं है। जयमंगलाकार ने अपनी व्याख्या में 'कारणकार्यविभागात्' हेतु पद का अर्थ 'उपकार्योपकारकभावात्' लिखा है, और वह 'अन्यैरन्यथा व्याख्यायते' कह कर लिखागया है। इससे स्पष्ट होता है—यह अर्थ जयमंगलाकार की अपेक्षा किसी प्राचीन व्याख्याकार का होसकता है। यह उन्हीं शब्दों के द्वारा युक्तिदीपिका में उपलब्ध है, जैसा अभी निर्देश कियाजाचुका है। इससे निश्चित परिणाम निकलता है, कि जयमंगला से युक्तिदीपिका व्याख्या प्राचीन है।

---

१. यहाँ पाठ 'भाव' है, परन्तु ऊपर की पंक्ति में 'भाग' है। कौन-सा पाठ मूल में ठीक रहा हो, यह नहीं कहाजासकता। केवल एक हस्तलेख के आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन होने से इसमें अनेक पाठ अशुद्ध रहगये हैं। हमारे विचार से ऊपर की पंक्ति में 'भाग' पद के स्थान पर 'भाव' होना चाहिये। अभी आगे जो सन्दर्भ इसका उद्धृत है, उसमें भी पाठ प्रायः अशुद्ध और खण्डित हैं। इस स्थल का जयमंगला का पाठ भी खण्डित और अशुद्ध-प्राय हैं। फिर भी दोनों ग्रन्थों के पाठों में ऐसी पंक्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनसे तुलना में पर्याप्त सुविधा होसकती है।

युक्तिदीपिका में व्यक्त पदार्थों के उपकार्योपकारकभाव का इससे आगे विस्तारपूर्वक विवेचन कियागया है। उस विवेचन की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इसप्रकार हैं—

"आह—कः पुनर्व्यक्तस्य परस्परकार्यकारणभाव इति। उच्यते-गुणानां तावत् सत्त्वरजस्तमसां प्रकाशप्रवृत्तिनियमलक्षणैर्धर्मैरितरेतरोपकारेण यथा प्रवृत्तिर्भवति, तथा 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकः' [का० १२] इत्येतस्मिन् सूत्रे व्याख्यातम्।"

अभिप्राय है–सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों के प्रकाश प्रवृत्ति और नियम रूप धर्मों के द्वारा परस्पर उपकार करते हुए, इनकी जैसे प्रवृत्ति होती है, उसको हमने १२वीं आर्या में व्याख्यान करदिया है। परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है–१२वीं आर्या की युक्तिदीपिका व्याख्या खण्डित है, इसलिये व्याख्याकार ने इस सम्बन्ध में वहाँ क्या लिखा होगा, कुछ नहीं कहाजासकता। फिर भी प्रस्तुत प्रसंग को लेकर यहाँ जो कुछ व्याख्याकार ने लिखा है, और 'अन्यैरन्यथा व्याख्यायते' कहकर जयमंगलाकार ने इस सम्बन्ध में जो कुछ निर्देश किया है, इन दोनों की परस्पर तुलना करने से उपर्युक्त निश्चय दृढ़ होजाता है। यद्यपि दोनों ग्रन्थों में इस स्थल के पाठ खण्डित और अशुद्धप्राय हैं, फिर भी पाठों की परस्पर तुलना करने में उनसे पूरी सहायता मिलती है। दोनों ग्रन्थों के पाठ निम्नलिखित हैं—

युक्तिदीपिका

तथा शब्दादीनां पृथिव्यादिषु परस्परार्थमेकाधारत्वम्। श्रोत्रादीनामितरेतरार्जनरक्षणसंस्काराः। **करणस्य कार्यात् स्थानसाधनप्रख्यापनादिकार्यस्य करणाद् वृत्ति (वृद्धि)[1] क्षणभंग (क्षत, भग्न–) संरोहणसंशोषणपरिपालनानि पृथिव्यादीनाम् वृत्ति (धृति) संग्रहपन्थि (शक्ति) व्यूहावकाशदानैर्गवादिभावो देवमानुषतिरश्चाम्, यथर्त्तुविधानेज्या-पोषणाभ्यवहारं** संव्यवहारेतरेतराध्ययनं वर्णानां स्वधर्मप्रवृत्तिविषयभावः। **अन्यच्च** लोकाद् यथासम्भवं **द्रष्टव्यम्।"** [पृ० ८०, पं० १–६]

जयमंगला

तत्र कार्य···व्यादीनि शरीरस्थानि स्थानसाधना···वभोगैः कारणान्युपकुर्वन्ति। कारणानि च वृद्धिक्षतसंरोहणपालनैः कार्याणि। **बाह्यानि च कारणानि पृथिव्या धृतिसंग्रहपक्ति** (शक्ति) **व्यूहनावकाशदानैः परस्परमुपकुर्वन्ति। तथा दैवमानुष-तैर्यग्योनानि** परस्परोपकारीणि। तत्र दैवम्, **यथाकालं** शीतोष्णपा [वा] तवर्षागमः [मैः] मानुषतैर्यग्योनान्युपकरोति। **मानुषमिज्यायागस्तुतिभिर्दैवं** रक्षति, **पोषणभेषज्यैश्च** तैर्यग्योनमुपकरोति। यथाध्यात्मि-

१. इस कोष्ठक के अन्तर्गत पाठों को हमने शुद्ध करके लिखा है। इन दोनों व्याख्याओं के परस्पर पाठों के आधार पर ही ये शुद्ध कियेगये हैं।

"...येषां तु कार्यमेकं सहभावे तु तेषामुपकारो न प्रतिषिध्यते, तद्यथा **पृथिव्यादीनां धृतिसंग्रहशक्तिव्यूहावकाशदानैः**।"

[पृ० ८०, पं० २६-२७]

कानां बाह्यानां चोपकार्योपकारकभावो बुद्धिकृत इव दृश्यते तदस्य कश्चिद् व्यवस्थापिता स्यात्, कुतोऽयं विभाग इत्यन्यथानुपपत्तेः।"

[पृ० २२, पं० ३–१०]

इन उद्धरणों में परस्पर तुलना करने के लिये कतिपय पंक्तियाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनसे स्पष्ट होजाता है–जयमंगलाकार ने इस सन्दर्भ को युक्तिदीपिका के आधार पर लिखा है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी जयमंगलाकार ने युक्तिदीपिका और माठर का उपयोग किया है।

पन्द्रहवीं आर्या के **'अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य'** इस हेतुपद का जयमंगलाकार ने जो अर्थ किया है, यह युक्तिदीपिका में कियेगये अर्थ के साथ अनुकूलता रखता है।

युक्तिदीपिका

"इह यद्विश्वरूपं तस्य अविभागो दृष्टः। तद्यथा–**सलिलादीनां जलभूमी,** विश्वरूपाश्च महदादयस्तस्मादेषामप्यविभागेन भवितव्यम्, योऽसावविभागस्तदव्यक्तम्।"

जयमंगला

"इह लोकेऽविभक्तादेकस्मादिक्षुद्रव्याद् रसफाणितगुडखण्डशर्करादिवैश्वरूप्यं नानात्वं दृश्यते। तथैकस्माद्दुग्धाद् दधिमस्तुनवनीतघृतादिवैश्वरूप्यमुपलभ्यते। एवमाध्यात्मिकानां बाह्यानां च वैश्वरूप्यम्। तस्मादेषामविभक्तेनैकेन भवितव्यम्।"[1]

---

१. माठरवृत्ति में इसीप्रकार का व्याख्यान १६वीं आर्या के 'परिणामतः सलिलवत्' पद की व्याख्या में उपलब्ध होता है। इसमें यह परिणाम निकालाजासकता है, कि १५वीं आर्या के 'अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य' हेतु की युक्तिदीपिका प्रतिपादित व्याख्या जयमङ्गलाकार को अभिप्रेत थी, परन्तु उसके लिये उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग १६वीं आर्या के 'परिणामतः सलिलवत्' पद की माठरव्याख्या के आधार पर कियागया, इसी कारण १५वीं आर्या के 'अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य' हेतु के माठरकृत अर्थ को जयमंगलाकार ने 'अन्यस्त्वाह' कहकर निर्दिष्ट किया है। १६वीं आर्या के परिणामतः सलिलवत्' पद की माठरव्याख्या इसप्रकार है—

"..., यथा च इक्षुरसो रसिकाषण्डमत्स्यरिकाशर्कराफाणितगुडभावेन परिणमति। यथा वा क्षीरं द्रप्स्यदधिमस्तुनवनीतघृतारिष्टकिलाटकूर्चिकादिभावेन परिणमति। एवमेवाव्यक्तं आध्यात्मिकेन बुद्ध्यहंकारतन्मात्रेन्द्रियभूतभावेन परिणमति। आधिदैविकेन शीतोष्णवातवर्षादिभावेन परिणमति।"

युक्तिदीपिका के कतिपय पदों का जयमंगला में विस्तार कियागया है। इस स्थान पर युक्तिदीपिका का पाठ कुछ अस्पष्ट है, सम्भव है, पाठ कुछ भ्रष्ट होगया हो। परन्तु उपलब्ध पदों को भी जब हम योगव्यासभाष्य [३। १४] के "जलभूम्योः पारिणामिकं रसादि-वैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टम्" के साथ तुलना करते हैं, तो उक्त अर्थ अच्छी तरह स्पष्ट होजाता है, और जयमंगला व्याख्या में युक्तिदीपिका की अनुकूलता प्रतीत होने लगती है।

जयमंगला में माठर के अर्थ का उल्लेख—

इसके अनन्तर जयमंगलाकार ने इस हेतु के माठरकृत अर्थ को 'अन्यस्त्वाह' कह कर निर्दिष्ट किया है। तुलना के लिये दोनों पाठों को नीचे दियाजाता है—

माठर

"न विभागोऽविभागः। विश्व-**रूपस्य भावो वैश्वरूप्यम्। बहुरूप-मित्यर्थः**। तस्य। त्रैलोक्यं पञ्चसु महाभूतेष्वविभागं गच्छति। पञ्च महाभूतानि तन्मात्रेष्वविभागं गच्छन्ति। पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि चाहंकारे। अहंकारो बुद्धौ। सा च प्रधाने। **इत्थं त्रयो लोकाः प्रलयकाले प्रधानेऽविभक्ताः**। ततो हि सृष्टौ सदेवाविर्भवति।"

जयमंगला

"अन्यस्त्वाह—**अविभागे वैश्व-रूप्यस्य** इति। **अविभागो लयः। वैश्वरूप्यं जगत्** नानारूपत्वात्। **प्रलयकाले वैश्वरूप्यं क्व लीयते स्थित्युत्पत्तिप्रलयाज्जगत** इति।... तस्मादन्यथानुपपत्त्यास्ति तदेकमिति।

माठर के कतिपय पदों को जयमंगला से तुलना करें। माठर का मध्यगत पाठ, अन्तिम पंक्तियों का व्याख्यानमात्र है। जयमंगला का थोड़ा-सा पाठ हमने छोड़ दिया है। वहाँ पर ईश्वर में लय की असम्भावना बतलाईगई है। इस प्रसंग में युक्तिदीपिकाकार ने परमाणु, पुरुष, ईश्वर, कर्म, दैव, स्वभाव, काल, यदृच्छा और अभाव इन नौ कारणों का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है, अर्थात् ये जगत् के उपादान कारण नहीं होसकते, इसलिये इनमें जगत् का लय भी सम्भव नहीं है। प्रतीत होता है, जयमंगलाकार ने इसी आधार पर उपलक्षण रूप से केवल ईश्वर में लय की असम्भावना का निर्देश करदिया है।

जयमंगला में युक्तिदीपिका का उपयोग—

जयमंगला ने अपनी व्याख्या में युक्तिदीपिका का उपयोग किया है, इसकी दृढ़ता के लिये एक और प्रसंग उपस्थित कियाजाता है। ३०वीं आर्या की व्याख्या

जयन्तभट्ट के इस विवरण को देखने के अनन्तर हमारा ध्यान ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति के व्याख्याग्रन्थों की ओर आकृष्ट होता है। हमारे सन्मुख इस समय सांख्यसप्तति के आठ[1] व्याख्याग्रन्थ उपस्थित हैं, इनमें केवल एक व्याख्याग्रन्थ में 'प्रति' उपसर्ग का आभिमुख्य अर्थ उपलब्ध होता है। यह व्याख्याग्रन्थ युक्तिदीपिका है, इस व्याख्या में प्रस्तुत प्रसंग का पाठ निम्नलिखित है—

"प्रतिग्रहणं सन्निकर्षार्थम्। विषयाध्यवसायो दृष्टमितीयत्युच्यमाने विषयमात्रे सम्प्रत्ययः स्यात्। प्रतिना तु आभिमुख्यं द्योत्यते। तेन सन्निकृष्टेन्द्रियवृत्त्युपनिपाती योऽध्यवसायस्तद् दृष्टमित्युपलभ्यते।"

न्यायमञ्जरी और युक्तिदीपिका के उल्लेखों की परस्पर तुलना करने से यह बात प्रकट होजाती है, कि जयन्तभट्ट ने सांख्यसप्तति की जिस व्याख्या से उपर्युक्त अर्थ को उद्धृत किया है, वह युक्तिदीपिका होसकती है। इस व्याख्या के रचयिता का नाम जयन्तभट्ट ने 'राजा' लिखा है। सम्भव है, यह लेखक, लोक में इसी नाम से प्रसिद्ध हो।

वह राजा, प्रसिद्ध भोज नहीं—

संस्कृत साहित्य में एक और राजा अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया, इसको भोजराज कहाजाता है। यह सम्भावना कीजासकती है, कि जयन्तभट्ट ने जिस राजा को स्मरण किया है, कदाचित् वह प्रसिद्ध भोजराज हो। परन्तु हम इस सम्भावना से सहमत नहीं होसके। क्योंकि अनेक साधनों से यह बात प्रमाणित है, कि प्रसिद्ध भोजराज, प्रस्तुत ग्रन्थ युक्तिदीपिका का रचयिता नहीं कहाजासकता।

भोज, भोजदेव अथवा भोजराज नाम से प्रसिद्ध अनेक व्यक्ति समय-समय पर भारत भूमि को अलंकृत कर चुके हैं। प्रामाणिक इतिहास के अभाव के कारण उनके सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान आज नहीं है, इसके लिये विद्वानों ने जो अनुमान किये हैं, वे भी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कहेजासकते। इन सब कठिनताओं के कारण उन सम्पूर्ण भोजों के सम्बन्ध में कोई निर्णयात्मक विवेचन कियाजाना अशक्य है, और प्रस्तुत प्रकरण में अप्रासंगिक भी। इस प्रकरण से सम्बद्ध वही भोजदेव है, जिसने सरस्वतीकण्ठाभरण-व्याकरणग्रन्थ और पातञ्जल योगसूत्रों पर राजमार्तण्ड नामक वृत्ति की रचना की है। इस वृत्ति के प्रारम्भ में वृत्तिकार ने एक श्लोक इसप्रकार लिखा है—

"शब्दानामनुशासनं विदधता, पातञ्जले कुर्वता वृत्तिं, राजमृगांकसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके। वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतस् तस्य श्रीरणरंगमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः ॥५॥

---

१. माठरवृत्ति, गौडपादभाष्य, युक्तिदीपिका, जयमंगला, तत्त्वकौमुदी, सांख्यचन्द्रिका आदि।

इस श्लोक से स्पष्ट विदित होजाता है, कि इस ग्रन्थकार ने शब्दानुशासन, पातञ्जल सूत्रों पर वृत्ति, और राजमृगांक नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की। शब्दानुशासन व्याकरण का 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक ग्रन्थ है। पातञ्जल सूत्रों पर 'राजमार्तण्ड' नामक वृत्ति प्रसिद्ध है, वैद्यक का राजमृगांक नामक ग्रन्थ अभी तक हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इन ग्रन्थों का रचयिता राजा भोजदेव, युक्तिदीपिका का कर्त्ता नहीं है, यह हमारा विचार है। न वह उस 'राजवार्त्तिक' का रचयिता है, जिसको सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति ने उद्धृत किया है। क्योंकि उसने अपने रचित ग्रन्थों की सूची में इसका उल्लेख नहीं किया।

यह इसी धारणा से लिखा है, कि हम इसी ग्रन्थ [युक्तिदीपिका] का दूसरा नाम 'राजवार्त्तिक' समझते हैं। अभिप्राय है–जिस 'राजवार्त्तिक' को सांख्य-कारिका की ७२वीं आर्या पर वाचस्पति मिश्र ने उद्धृत किया है, वह उस व्यक्ति की रचना नहीं है, जिसने 'राजमार्तण्ड' आदि ग्रन्थों को रचा। प्रत्युत वह इसी ग्रन्थ [युक्तिदीपिका] के लिये प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः 'राजवार्त्तिक' के साथ 'भोज' का सम्बन्ध जोड़ने का कोई कारण अभी तक उपलब्ध नहीं होसका।

युक्तिदीपिका के साथ 'राजा' का सम्बन्ध होते हुए भी उक्त भोज का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, इसके लिये निम्नलिखित हेतु हैं—

(अ) राजमार्तण्ड तथा सरस्वतीकण्ठाभरण के कर्त्ता राजा भोजदेव ने इन दोनों ग्रन्थों में जो मांगलिक प्रारम्भिक श्लोक लिखे हैं, उनमें उमा-शिव को नमस्कार कियागया है, यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय परस्पर सर्वथा भिन्न है। इन श्लोकों की रचना भी समान ढंग पर है। वे श्लोक निम्नप्रकार हैं—

'देहार्द्धयोगः शिवयोः स श्रेयांसि तनोतु वः।
दुष्प्रापमपि यत्स्मृत्या जनः कैवल्यमश्नुते॥
[राजमार्तण्ड, योगसूत्रवृत्ति, श्लोक १]

"प्रणम्यैकात्मतां यातौ प्रकृतिप्रत्ययाविव।
श्रेयःपदमुमेशानौ पदलक्ष्म प्रचक्ष्महे॥"
[सरस्वतीकण्ठाभरण-व्याकरण, श्लोक १]

इसके विपरीत युक्तिदीपिका के प्रारम्भिक मांगलिक श्लोकों में सांख्य की प्रशंसा करके साक्षात् कपिल को नमस्कार कियागया है। युक्तिदीपिका के प्रारम्भिक श्लोक इसप्रकार हैं—

"वीतावीतविषाणस्य पक्षतावनसेविनः।
प्रवादाः सांख्यकरिणः शल्लकीषण्डभंगुराः॥
ऋषये परमायार्कमरीचिसमतेजसे।
संसारगहनध्वान्तसूर्याय गुरवे नमः॥

इन श्लोकों की परस्पर तुलना से स्पष्ट होजाता है–यदि 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि का रचयिता राजा भोजदेव, युक्तिदीपिका का रचयिता होता, तो वह अपनी भिन्नविषयक रचनाओं में भी समान शैली के मंगलाचरण की तरह यहाँ भी मंगलाचरण करता। अभिप्राय है–उसकी प्रसिद्ध रचनाओं में मंगलाचरण की शैली एक है। भले ही ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय भिन्न हो। परन्तु युक्तिदीपिका में वह शैली दृष्टिगोचर नहीं होती। इसलिये इस ग्रन्थ के साथ जिस राजा का सम्बन्ध निर्दिष्ट कियागया है, वह उपर्युक्त ग्रन्थों का कर्त्ता राजा भोजदेव नहीं होसकता।

(इ) इन दोनों ग्रन्थकारों ने अपने आपको ग्रन्थकार के रूप में जिन विचारों के साथ प्रस्तुत किया है, वे परस्पर इतने भिन्न हैं, कि इनको एक व्यक्ति के विचार कहने का साहस नहीं होता। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि का रचयिता राजा भोजदेव, पातञ्जल योगसूत्रों पर वृत्ति लिखते हुए प्रारम्भ में ही अपने आपको बड़ी गर्वोक्ति के साथ प्रस्तुत करता है। वह लिखता है—

"शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता वृत्तिं राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके। वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतस्तस्य श्रीरणरंगमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः ॥५॥

इतना ही नहीं, प्रत्युत अगले श्लोकों में अपने से प्राचीन सब व्याख्याओं और टीकाकारों को दोषपूर्ण बताकर, अपनी व्याख्या की उपयोगिता को प्रकट करता है—

"दुर्बोधं यदतीव तद्विजहति स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः,
स्पष्टार्थेष्वपि विस्तृतिं विदधति व्यर्थैः समासादिकैः।
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते,
श्रोतॄणामिति वस्तुविपप्लवकृतः सर्वेऽपि टीकाकृतः ॥६॥
उत्सृज्य विस्तरमुदस्य विकल्पजालं फल्गुप्रकाशमवधार्य च सम्यगर्थान्।
सन्तः पतञ्जलिमते विवृतिर्मयेयमातन्यते बुधजनप्रतिबोधहेतुः ॥७॥

इसके विपरीत युक्तिदीपिकाकार ने जिन भावों के साथ ग्रन्थ के आदि और अन्त में अपने आपको प्रस्तुत किया है, वे निम्न प्रकार हैं—

तस्य व्याख्यां करिष्यामि यथान्यायोपपत्तये।
कारुण्यादप्ययुक्तां तां प्रतिगृह्णन्तु सूरयः ॥१५॥

[उपक्रम श्लोक]

"नयन्ति सन्तश्च यतः स्वशक्तितो गुणं परेषां तनुमप्युदारताम्।
इति प्रयात्वेष मम श्रमः सतां विचारणानुग्रहमात्रपात्रताम् ॥४॥

[उसंहार श्लोक]

पहले श्लोकों के द्वारा व्याख्येय शास्त्र का प्रशंसापूर्ण शब्दों में उल्लेख करके, १५वें उपक्रम श्लोक में व्याख्याकार ने कहा है, कि न्याय्य अर्थ की सिद्धि के लिये उस शास्त्र की व्याख्या करूँगा, सम्भव है, वह अयुक्त हो, फिर भी विद्वान् मुझपर करुणा करके इसे स्वीकार करेंगे। इसीप्रकार के भाव उपसंहार वाक्य में प्रकट कियेगये हैं। फलत: 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि के रचयिता भोजदेव की गर्वोक्ति, और युक्तिदीपिका के रचयिता 'राजा' की विनयोक्ति, उनके विचार और स्वभाव की विभिन्नता को स्पष्ट प्रकट करती हैं। इसलिये इनको एक मानना युक्तिसंगत नहीं कहाजासकता।

(उ) ग्रन्थों की आन्तरिक लेखनशैली के आधार पर प्रतीत होने वाले पारस्परिक भेदों के अतिरिक्त एक हेतु इसके लिये यह है—वाचस्पति मिश्र का समय ख्रीस्ट नवम शतक का मध्य है। उससे लगभग डेढ़ शतक से अधिक पूर्व जयमंगला का रचनाकाल है। जयमंगला से पर्याप्त पहले युक्तिदीपिका की रचना होचुकी थी, जैसा अभी निर्देश कर आये हैं। ऐसी स्थिति में वाचस्पति मिश्र से लगभग तीन शतक से भी अधिक पूर्व युक्तिदीपिका की रचना होचुकी थी, यह धारणा कीजासकती है। परन्तु 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि के रचयिता राजा भोजदेव का समय, आधुनिक गवेषणाओं के आधार पर ऐतिहासिकों ने[1] ग्यारहवें शतक का प्रारम्भ माना है। कुछ[2] विद्वानों ने यह भी प्रकट किया है, कि 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि का रचयिता प्रसिद्ध धारापति राजा भोजदेव, योगसूत्रवृत्तिकार भोज से भिन्न है। ग्यारहवें शतक का प्रारम्भ, धारापति भोजदेव का समय है। उससे लगभग डेढ़ शतक पूर्व वह भोजदेव था, जिसने 'योगसूत्रवृत्ति' 'राजमृगांक' तथा व्याकरण विषयक किसी ग्रन्थ का निर्माण किया, उसका दूसरा नाम अथवा प्रसिद्ध विरुद 'रणरंगमल्ल' था, इस नाम का निर्देश ग्रन्थकार ने स्वयं योगसूत्रवृत्ति के प्रारम्भिक पांचवें श्लोक में किया है, और इसी व्यक्ति ने 'राजवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

यदि इस बात को ठीक मानलियाजाय, तो भी 'राजमार्तण्ड' आदि के रचयिता भोजदेव का समय नवम शतक के मध्यम में संभावना किया जासकता है, जो वाचस्पति मिश्र का समय है। परन्तु युक्तिदीपिका की रचना तो उस समय से कई शतक पूर्व होचुकी थी। ऐसी स्थिति में युक्तिदीपिका से सम्बद्ध राजा 'राजमार्त्तण्ड' आदि के रचयिता राजा भोजदेव से अवश्य भिन्न होना

१. सर्वदर्शनसंग्रह, अभ्यंकर संस्करण, विशेष नाम सूची, पृ०५३५, कीथ रचित 'इण्डियन लॉजिक एण्ड ऐटामिज्म' पृष्ठ २९।

२. श्री तनुसुखराम शर्मा लिखित, माठरवृत्ति की भूमिका, पृ० ४। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस से खीस्ट १९२२ में प्रकाशित।

चाहिये। अभी तक इसके वास्तविक नाम को पहचान लेने के लिये कोई सामग्री उपलब्ध नहीं होसकी है। संभव है, यह किसी देश का राजा हो, अथवा अपने कुल या किन्हीं गुण विशेषों के कारण 'राजा' नाम से विख्यात हो। जैसे आज भी श्री राजगोपालाचारी तथा कून्हन राजा, 'राजा' नाम से प्रसिद्ध हैं। फिर भी न्यायमञ्जरी के लेख के आधार पर इतना अवश्य प्रकट होजाता है, कि इस ग्रन्थकार के नाम के साथ 'राजा' पद का सम्बन्ध अवश्य था।

युक्तिदीपिका के साथ राजा के सम्बन्ध में अन्य प्रमाण—

(२) इस ग्रन्थ के साथ 'राजा' का सम्बन्ध है, इसलिये एक और प्रमाण हैं। सांख्य के प्रतिपाद्य प्रसिद्ध षष्टि पदार्थों का निर्देश करने के लिये वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी के अन्त में जो श्लोक 'राजवात्तिक' नामक ग्रन्थ से उद्धृत किये हैं। वहां षष्टि पदार्थों में से दश मौलिक अथवा मूलिक, और पचास प्रत्ययसर्ग कहे हैं। वाचस्पति ने इनको निम्नरूप में उद्धृत किया है—

"तथा च राजवार्त्तिकं—

प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्वमथान्यता।
पारार्थ्यं च तथानैक्यं वियोगो योग एव च॥
शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश।
विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः॥
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम्।
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः॥ इति॥

इन तीन श्लोकों में से प्रथम डेढ़ श्लोक में दश मौलिक अर्थों का निर्देश है, और अन्तिम डेढ़ श्लोक में शेष पचास प्रत्ययसर्गों का। वाचस्पति ने इन श्लोकों को 'राजवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ से लिया है। इस नाम के ग्रन्थ का अभी तक कुछ पता नहीं लगसका, परन्तु ये श्लोक मूलरूप में युक्तिदीपिका में उपलब्ध हैं। मूलरूप में कहने से हमारा अभिप्राय है–युक्तिदीपिका में ये श्लोक उद्धृत नहीं हैं, प्रत्युत ग्रन्थकार की स्वयं अपनी रचना के रूप में उपलब्ध होते हैं। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में पन्द्रह अनुष्टुप् श्लोक लिखे हैं, उनमें १० से १२ तक ये तीन श्लोक हैं। वहाँ की पूर्वापर रचना से स्पष्ट है, कि यह सम्पूर्ण रचना ग्रन्थकार की अपनी है। पूर्वापर श्लोकों के साथ इन श्लोकों को यहाँ युक्ति-दीपिका से उद्धृत करते हैं—

"शिष्यैर्दुरवगाहास्ते तत्त्वार्थभ्रान्तबुद्धिभिः।
तस्मादीश्वरकृष्णेन संक्षिप्तार्थमिदं कृतम्॥८॥
सप्तत्याख्यं प्रकरणं सकलं शास्त्रमेव वा।
यस्मात् सर्वपदार्थानामिह व्याख्या करिष्यते॥९॥

प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्वमथान्यता ।
पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ॥१०॥
शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मूलिकार्थाः स्मृता दश ।
विपर्ययः पंचविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ॥११॥
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम् ।
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः ॥१२॥
यथाक्रमं लक्षणतः कात्स्न्र्येनेहाभिधास्यते ।
[1]तस्मादतः शास्त्रमिदमलं नानात्वसिद्धये ॥१३॥

यहां पर आठवें श्लोक का अर्थ पूरा करने के लिये नवम श्लोक का प्रथम चरण पहले श्लोक के साथ जोड़ना पड़ता है। अथवा यह केवल प्रकरण नहीं, अपितु सम्पूर्ण शास्त्र ही है, क्योंकि इसमें सब पदार्थों की व्याख्या कीजायगी। यह अर्थ, शेष नवम श्लोक से कहा गया है। वे सब पदार्थ कौन हैं ? इसका निर्देश अगले तीन श्लोकों में है। १२वें श्लोक के 'इति पदार्थानां षष्टिः' इन पदों का सम्बन्ध अगले तेरहवें श्लोक के साथ है। 'अभिधास्यते' क्रिया का 'षष्टिः' कर्म है। क्योंकि यह 'षष्टि' ही यथाक्रम लक्षणपूर्वक सम्पूर्ण रूप से इस शास्त्र में कही जायगी, इसलिये यह शास्त्र, पुरुष और प्रकृति के भेद की सिद्धि के लिये समर्थ अथवा पर्याप्त है। यह अर्थ तेरहवें श्लोक से प्रतिपादित होता है। अभिप्राय है, इन श्लोकों की रचना, पूर्वापर के साथ इतनी सुसम्बद्ध तथा सुघटित है, कि इसके सम्बन्ध में यह कहने का साहस नहीं कियाजासकता, कि ये तीन श्लोक और कहीं से उठाकर यहाँ प्रविष्ट करदियेगये हैं। इसलिये निश्चय ही यह ग्रन्थकार की अपनी रचना है।

वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में युक्तिदीपिका के इन्हीं श्लोकों को 'राजवार्त्तिक' नाम पर उद्धृत किया है—

तात्पर्य हैं–सांख्यतत्त्वकौमुदी में ये तीन श्लोक उद्धरणरूप में उपलब्ध हैं। परन्तु युक्तिदीपिका में ये श्लोक मौलिक रचनारूप में हैं। इन दो स्थलों के अतिरिक्त इन श्लोको का पूर्वार्ध [अर्थात् केवल पहले डेढ़ श्लोक], जिसमें दश मौलिक अर्थों का निर्देश है, 'तत्त्वसमास' की सर्वोपकारिणी नामक टीका[2] में 'तथा च राजवार्त्तिकम्' कहकर उद्धृत हैं। यह निश्चित सांख्यतत्त्वकौमुदी से लियागया प्रतीत होता है, मूलग्रन्थ से नहीं। इसके अतिरिक्त 'सांख्यतत्त्व-

---

१. यहां 'यस्मादतः' पाठ अधिक संगत मालूम होता है। यथाश्रुत पाठ में अर्थसंगति ठीक नहीं होपाती।
२. सांख्यसंग्रह पृ० १०० पर।

विवरण'[1] नामक टीका में 'तदुक्तम्' कहकर ये ही श्लोक उद्धृत हैं। 'कापिल-सूत्रविवरण' नामक[2] टीका में तो 'भोजराजवार्त्तिकेऽप्युक्तम्' कहकर ये डेढ़ श्लोक उद्धृत हैं। इस विवरण के रचयिता माधव परिव्राजक ने 'राजवार्त्तिक' के साथ 'भोज' पद निश्चित ही भ्रान्ति के आधार पर जोड़ा कहाजासकता है। संभवतः वाचस्पति के ग्रन्थ में 'राजा' पद देखकर उसने इसका नाम 'भोज' समझ लिया हो। यह स्पष्ट कर आये हैं—'सरस्वतीकण्ठाभरण' अथवा 'राजमार्तंड' आदि का रचयिता राजा भोज, युक्तिदीपिका का रचयिता नहीं है, और न 'राजवर्त्तिक' नामक ग्रन्थ से उसका कोई सम्बन्ध प्रमाणित होता है। जो ग्रन्थ उसकी रचना के प्रसिद्ध हैं, उनमें कहीं ये श्लोक उपलब्ध नहीं है।

सांख्य ग्रन्थों में, एक उपजाति छन्द का ऐसा श्लोक और मिलता है, जिसमें केवल दश मौलिक अर्थों का निर्देश है। इसमें कहीं साधारण पाठभेद भी मिलता है। उन सब स्थलों को यहाँ उद्धृत कर देना उपयुक्त है।

"अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं परार्थमन्यत्वमथो निवृत्तिः
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः ॥इति दश मूलिकार्थाः"

[याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय, श्लोक १०९ पर, राजा अपरादित्य विरचित, अपरार्कापराभिधा व्याख्या में उद्धृत देवल ग्रन्थ से]

"इमे चान्ये दश मौलिकाः। तथा हि—अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्वं पारार्थ्य-मन्यत्वमथो निवृत्तिः। योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य विशेषवृत्तिः ॥" [सांख्यसप्ततिव्याख्या, माठरवृत्ति, का० ७२ पर]

अस्तित्वादयश्च दश।......। तथा चाह संग्रहकारः—
अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं पारार्थ्यमन्यत्वमकर्तृभावः।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः ॥इति॥"

[सांख्यसप्ततिव्याख्या, जयमंगला, का० ५१ पर]

"अस्तित्वमेकत्वयथार्थवत्वे पारार्थ्यमन्यत्वमकर्तृकत्वम्।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः ॥"

[तत्त्वसमासव्याख्या, सांख्यतत्त्वविवेचन,[3] 'दश मूलिकार्थाः। १६।' सूत्र पर]

---

१. सांख्यसंग्रह, पृ० ११२, ११३ पर।
२. परमहंस आचार्य माधव परिव्राजक कृत, नवचन्द्र शिरोमणि द्वारा परि-शोधित, श्री भुवनचन्द्र वसाक द्वारा, ८ नीमतल्ला घाट स्ट्रीट् कलकत्ता से ख्रीस्ट १८९० में प्रकाशित। पृ० १२ पर।
३. 'सांख्यसंग्रह' नाम से चोखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस से प्रकाशित।

"इदानीं सांख्यशास्त्रस्य षष्टितन्त्रत्वप्रतिपादनाय पञ्चाशत्सु बुद्धिसर्गेषु दशान्यान् पूरयति सूत्रेण । दश मूलिकार्थाः ॥१८॥
अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं परार्थमन्यत्वमकर्तृता च ।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः ॥"

[तत्त्वसमासव्याख्या, तत्त्वयाथार्थ्यदीपन पृ० ८०]

अत्राह-के दश मूलिकार्था इति ? अत्रोच्यते—

अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं परार्थमन्तत्वमकर्तृता च ।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः ॥

[तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति-क्रमदीपिका, सांख्यसंग्रह, पृ० १३५]

इन छह स्थलों में से प्रथम तीन स्थल, वाचस्पति मिश्र की अपेक्षा प्राचीन ग्रन्थों से लियेगये हैं। सबसे पहला स्थल ईश्वरकृष्ण से भी अतिप्राचीन ग्रन्थ का है। पहले दो स्थल युक्तिदीपिकाकार से प्राचीन हैं, और उपान्त्य दो स्थल वाचस्पति मिश्र से अर्वाचीन हैं, तथा अन्तिम स्थल युक्तिदीपिकाकार से प्राचीन है। ऐसी स्थिति में युक्तिदीपिकाकार ने इस श्लोक को अपने ग्रन्थ में क्यों नहीं स्वीकार किया, जबकि अतिप्राचीन काल से अबतक इस श्लोक को प्रायः सब सांख्याचार्य अपने ग्रन्थों में उद्धृत करते रहे है। युक्तिदीपिकाकार के द्वारा इस उपेक्षा का कोई कारण अवश्य होना चाहिये।

प्रतीत होता है, युक्तिदीपिकाकार ने प्रारम्भ के नवम श्लोक में इस बात का उल्लेख किया है, कि सांख्यसप्तति में सम्पूर्ण पदार्थों की व्याख्या कीगई है। इसके आगे तीन श्लोकों से उसने उन सम्पूर्ण पदार्थों को गिनाया है। युक्ति-दीपिकाकार की अपनी रचना अनुष्टुप् छन्द में है। इसलिये उसने उपजाति छन्द का रूपान्तर अनुष्टुप् से करदिया। इसका एक विशेष कारण यह भी है, कि उपजाति छन्द में केवल दश मूलिक अर्थों का निर्देश है, परन्तु युक्तिदीपिका-कार को सब पदार्थों का निर्देश करना था। पचास बुद्धिसर्गों के निर्देश के लिये उसको स्वतन्त्र रचना करनी आवश्यक थी, क्योंकि इनका निर्देशक कोई प्राचीन वृत्त तब उपलब्ध न था। इसलिये अपने पूर्वापर रचनाक्रम से बाध्य होकर पचास बुद्धिसर्गों के निर्देशक अन्तिम डेढ़ अनुष्टुप् की अपनी स्वतन्त्र रचना के साथ दश मूलिक अर्थों का निर्देश करने वाले प्राचीन उपजाति छन्द को अनुष्टुप् में रूपान्तरित करके संगत करदिया है। यह विशेष ध्यान देने योग्य है, कि अन्यत्र सब स्थलों पर पचास बुद्धिसर्गों का प्रथम निर्देश करके दश मूलिक अर्थों का निर्देश कियागया है, और वह भी उपर्युक्त उपजाति छन्द के द्वारा। परन्तु उस क्रम को प्रस्तुत ग्रन्थ में बदल दियागया है। संभावना यही होती है, कि प्रथम पूर्वरचित उपजाति वृत्त को अनुष्टुप् में रूपान्तर कियागया, अनन्तर पचास बुद्धिसर्गों को वृत्तबद्ध करके उसमें जोड़ दिया गया।

युक्तिदीपिकाकार के द्वारा उपजाति छन्द को अनुष्टुप् में रूपान्तर किये जाने की अधिक संभावना इसलिये भी मालूम होती है, कि उसने इन्हीं प्रारम्भिक पन्द्रह श्लोकों की रचना में एक और अनुष्टुप् को भी आर्यावृत्त से रूपान्तर किया प्रतीत होता है। माठरवृत्ति के अन्त में ७२ आर्याओं की व्याख्या करने के अनन्तर एक और आर्या[1] उपलब्ध होती है। वह इसप्रकार है—

"तस्मात्समासदृष्टं शास्त्रमिदं नार्थतश्च परिहीनम्।
तन्त्रस्य च बृहन्मूर्त्तेर्दर्पणसङ्क्रान्तमिव बिम्बम्॥"

इस आर्या में वर्णन है, यह सांख्यसप्तति ग्रन्थ यद्यपि संक्षेप में लिखा गया है, फिर भी यह अर्थ से परिहीन नहीं है, अर्थात् सब अर्थों का इसमें समावेश है। जिसप्रकार बड़ी वस्तु भी छोटे से दर्पण में प्रतिबिम्बित होजाती है, इसी-प्रकार वृहत्काय तन्त्र इस लघुकाय सप्तति में समाविष्ट है। ठीक इसी ढङ्ग का एक अनुष्टुप् वृत्त युक्तिदीपिकाकार ने इसप्रकार लिखा है—

"अल्पग्रन्थमनल्पार्थं सर्वैस्तन्त्रगुणैर्युतम्।
पारमर्षस्य तन्त्रस्य बिम्बमादर्शगं यथा॥१४॥"

उपर्युक्त दश मूलिकार्थ निर्देशक उपजाति वृत्त से युक्तिदीपिका के दशवें और ग्यारहवें श्लोक के अर्द्ध की, तथा माठर की आर्या से इस चौदहवें श्लोक की तुलना करने पर यह विचार दृढ़ होजाता है, कि युक्तिदीपिकाकार ने उक्त उपजाति और आर्या वृत्त को अनुष्टुप् वृत्त में रूपान्तर किया है। इसलिये यह रूपान्तर कीहुई अनुष्टुप् वृत्त की रचना, निश्चित ही युक्तिदीपिकाकार की अपनी है।

वाचस्पति मिश्र अपने ग्रन्थ में इसी रचना को 'राजवार्त्तिक' के नाम से उद्धृत करता है। इसका अभिप्राय है-इस रचना के साथ 'राजा' के सम्बन्ध से वाचस्पति मिश्र अवगत है। दूसरे शब्दों में यह कहाजासकता है-इस रचना को उसने 'राजा का वार्त्तिक' समझकर 'राजवार्त्तिक' नाम से याद किया है, और इसप्रकार वाचस्पति मिश्र तथा जयन्त भट्ट दोनों की इस विषय में समान सम्मति स्पष्ट होती है।

वाचस्पति द्वारा प्राचीन उपजाति वृत्त के उद्धृत न कियेजाने का कारण—

उक्त उपजाति वृत्त की वाचस्पति मिश्र के द्वारा उपेक्षा कियेजाने का मुख्य कारण यही प्रतीत होता है, कि उसे भी उस प्रसंग में सम्पूर्ण षष्टि पदार्थों का निर्देश करने की अपेक्षा थी, न कि केवल दश मूलिक अर्थों का निर्देश करते

---

१. इस आर्या के सम्बन्ध में आवश्यक विवेचन इसी प्रकरण के माठर सम्बन्धी उल्लेख के अन्तर्गत कियागया है।

की। इसलिये उसने एक प्राचीन आचार्य के शब्दों में इस अर्थ का उक्तरूप से निर्देश कर दिया।

यह नहीं कहाजासकता, कि वाचस्पति मिश्र को इस उपजाति वृत्त का ज्ञान न होगा। 'जयमंगला' के प्रसंग में यह उल्लेख कर आये है, कि सांख्यसप्तति की ५१वीं आर्या पर जयमंगलाकार ने उक्त उपजातिवृत्त को उद्धृत किया है, और उसके नीचे जो सन्दर्भ जयमंगला में लिखागया है, उसका वाचस्पति मिश्र ने, राजवार्त्तिक के श्लोकों को उद्धृत करने के अनन्तर अक्षरशः उल्लेख किया है। ५१वीं आर्या की 'जयमंगला' व्याख्या के सन्दर्भ को—जो उद्धृत उपजातिवृत्त के कुछ पूर्व निर्दिष्ट है—वाचस्पति ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। ऐसी स्थिति में—जबकि इस उपजातिवृत्त के पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती 'जयमंगला' गत पाठों का वाचस्पति मिश्र अपने ग्रन्थ में उपयोग करता है तब—इन दोनों पाठों के मध्य में वृत वाचरमाते उद्धृत उक्त उपजाति मिश्र की दृष्टि से ओझल होगया हो, ऐसी कल्पना करना दुःसाहसमात्र होगा।

ग्रन्थ का नाम—'युक्तिदीपिका' है, फिर 'राजवार्त्तिक' कैसे ?—

विचारणीय है, इस ग्रन्थ का नाम 'युक्तिदीपिका' है ग्रन्थ के उपसंहारात्मक—

"इति सद्भिरसम्भ्रान्तैः कुदृष्टितिमिरापहा।
प्रकाशिकेयं सर्गस्य धार्यतां युक्तिदीपिका॥२॥"

इस द्वितीय श्लोक से स्पष्ट होजाता है। फिर वाचस्पति मिश्र ने 'राजवार्त्तिक' नाम से इसका उल्लेख क्यों किया ? सम्भव है, सांख्यविषयक 'राजवार्त्तिक' नाम का कोई अन्य ग्रन्थ हो, जिसका उल्लेख वाचस्पति ने किया हो। पर ऐसा नहीं; युक्तिदीपिका को ही 'राजवार्त्तिक' कहागया है।

युक्तिदीपिका का 'वार्त्तिक' नाम क्यों—

इस सम्बन्ध में हमारी धारणा है, प्रस्तुत युक्तिदीपिका के अतिरिक्त 'राजवार्त्तिक' नाम के किसी अन्य सांख्यविषयक ग्रन्थ के लिये प्रयास करना व्यर्थ होगा। इसके आधार के लिये विद्वानों का ध्यान, युक्तिदीपिकाकार की इस नवीन उद्भावना की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं, जो उसने अपने ग्रन्थ में सर्वत्र कारिकाओं को 'सूत्र' पद से व्यवहार करके प्रकट की है। ग्रन्थ के द्वितीय तृतीय पृष्ठ पर इसका बलपूर्वक विवेचन कियागया है। पृष्ठ दो पर ग्रन्थकार लिखता है—

"आह-अथ सूत्रमिति कस्मात् ? उच्यते-सूचनात् सूत्रम्, सूचयति तांस्तानर्थविशेषानिति सूत्रम्। तद्यथा-'कारणमस्त्यव्यक्तम्' (का० १६), 'भेदानां परिमाणात्' (का० १५) इति।"

इसीप्रकार पृष्ठ ११, पं० ४, ५ पर प्रसंगवश पुनः यह लेख है—
"तथा चोत्तरसूत्रेण प्रतिषेत्स्यत्याचार्यः—'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धि-क्षयातिशययुक्तः' ॥२॥"

इन लेखों से स्पष्ट होता है, ग्रन्थकार कारिकाओं को 'सूत्र' पद से व्यवहृत करता है। यद्यपि सांख्यसप्तति के सर्वप्रथम और युक्तिदीपिका से अतिप्राचीन व्याख्याकार माठर ने सर्वत्र इन कारिकाओं को, आर्या छन्द में होने के कारण 'आर्या' पद से व्यवहृत[1] किया है। युक्तिदीपिका के पश्चाद्भावी व्याख्याकारों में से किसीने इन कारिकाओं के लिये 'सूत्र' पद का प्रयोग नहीं किया। वस्तुतः ग्रन्थकार की यह एक अपनी नई कल्पना है। संभव है, इसी नवीनता के आधार पर तात्कालिक विनोदप्रिय विद्वानों ने—सूत्रार्थ को उस रूप में विशद करनेवाले—इस ग्रन्थ का नाम 'वार्त्तिक' रखदिया हो, और उस समय इसी नाम से यह ग्रन्थ प्रसिद्ध होगया हो। वार्त्तिक का लक्षण प्राचीन आचार्य इसप्रकार करते आये हैं—

'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्त्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः ॥

सूत्रों में कहे हुए, न कहे हुए तथा क्लिष्ट रूप में कहे हुए अर्थों का विचार जिस ग्रन्थ में कियाजाय, उसे 'वार्त्तिक' कहाजाता है। यह लक्षण युक्तिदीपिका में पूर्णरूप से घटित होता है। सांख्य सप्तति की उपलभ्यमान अन्य सब व्याख्याओं से इसमें यह विलक्षणता है। जिन विद्वानों ने युक्तिदीपिका को पढ़ा है, वे इसमें वार्त्तिक-लक्षण के सामञ्जस्य को अच्छी तरह समझ सकते हैं। इसप्रकार 'वार्त्तिक' नाम से इसकी प्रसिद्धि, तथा इसकी रचना के साथ 'राजा' का सम्बन्ध होने के कारण, इसका 'राजवार्त्तिक' नाम व्यवहार में आता रहा हो, यह संभव है। यद्यपि ग्रन्थकार ने इसका नाम 'युक्तिदीपिका' रक्खा है।

यह प्रायः देखा जाता है, ग्रन्थका अन्य नाम होने पर भी, ग्रन्थकार के नाम से उसका नाम लोक में प्रसिद्ध होजाता है। जैसे—

(अ) मीमांसा का एक छोटा-सा प्रकरण ग्रन्थ है—'मीमांसान्यायप्रकाश'। इसका रचयिता 'आपोदेव' है। रचयिता के नाम से यह ग्रन्थ 'आपोदेवी' कहा जाता है।

(आ) पातञ्जल योगसूत्रों की भोजरचित एक व्याख्या है, उसका नाम 'राजमार्तण्ड' है। परन्तु इस नाम को थोड़े लोग जान पाते हैं, रचयिता के नामपर 'भोजवृत्ति' उसका अधिक प्रसिद्ध नाम है।

---

१. देखें, निम्नलिखित कारिकाओं पर माठरवृत्ति, १, २, १०, ११, १३, १४, १७, ३८, ४४, ४६, ५२, इत्यादि।

(इ) पातञ्जल योगसूत्रों पर व्यासभाष्य की, वाचस्पति मिश्र कृत 'तत्त्व-वैशारदी' नामक व्याख्या है। परन्तु रचयिता के नाम पर उसका 'वाचस्पत्य' नाम व्यवहार में अधिक आता है।

(ई) विश्वनाथ के मुक्तावली ग्रन्थ पर महादेव भट्ट ने मुक्तावलीप्रकाश नामक टीका लिखी है। उसकी एक टीका श्रीरामरुद्र ने 'तरङ्गिणी' नामक बनाई। परन्तु आज व्यवहार में उसके 'तरङ्गिणी' नामका उपयोग न होकर रचयिता के नाम पर 'रामरुद्री' नाम प्रयोग में आरहा है।

संभव है, इसी रूपमें 'युक्तिदीपिका' भी किसी समय इसके रचयिता 'राजा' के नामपर 'राजवार्त्तिक' नाम से व्यवहृत होती रही हो।

इसप्रकार जो विद्वान् संस्कृत साहित्य की रचनासम्बन्धी आत्मा तक पैठकर विचारेंगे, उन्हें 'सूत्र' और 'वार्त्तिक' पदों के पारस्परिक सामञ्जस्य को समझ लेने में किसी कष्ट का अनुभव न होगा। उस समय यह बात हमारे सामने और अधिक स्पष्टरूप में आजायगी, कि जिस व्यक्ति ने कारिकाओं को 'सूत्र' नाम दिया, उसके व्याख्याग्रन्थ को सामयिक विनोदी विद्वानों ने 'वार्त्तिक' नाम से पुकारा, और वह राजारचित होने के कारण 'राजवार्त्तिक' नाम से पर्याप्त समय तक प्रसिद्ध रहा। उसी नाम को वाचस्पति मिश्र ने अपने ग्रन्थ में स्मरण किया है। इस नामस्मरण के आधार पर अब हम इस बात को पहचान सकते हैं, कि इस ग्रन्थ के साथ 'राजा' का सम्बन्ध है, और वाचस्पति मिश्र ने उन श्लोकों को 'युक्तिदीपिका' से लिया है। इसलिये इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'राजवार्त्तिक' और उसका रचयिता कोई 'राजा' नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति होसकता है, ऐसा अनुमान कर लेने में कोई बाधा नहीं।

युक्तिदीपिका सम्बन्धी हमारे इस लेख से निम्नलिखित परिणाम प्रकट होते हैं—

(क) युक्तिदीपिका, जयमंगला व्याख्या से प्राचीन है।

(ख) युक्तिदीपिका का रचनाकाल विक्रम के पञ्चम शतक के आसपास अनुमान कियाजासकता है।

(ग) इस ग्रन्थ का रचयिता 'राजा' नाम से प्रसिद्ध कोई व्यक्ति है।

(घ) यह 'राजा', 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि का रचयिता प्रसिद्ध राजा भोजदेव नहीं होसकता।

(ङ) वाचस्पति मिश्र ने सांख्यसप्तति की ७२वीं आर्या की व्याख्या में 'राजवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ से जो तीन श्लोक उद्धृत किये हैं, वे युक्तिदीपिका

के हैं। इसलिये सम्भव है, इसी का दूसरा नाम उस समय '[1]राजवार्त्तिक' प्रसिद्ध रहा हो।

आचार्य गौडपाद

गौडपाद भाष्य—

वाचस्पति मिश्र रचित सांख्यतत्त्वकौमुदी से प्राचीन दो व्याख्याग्रन्थों का विवेचन कियागया—जयमंगला और युक्तिदीपिका। सांख्यसप्तति पर एक और व्याख्या गौडपादकृत है, जो गौडपादभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसके गम्भीर

१. डा० कीथ ने 'इण्डियन लॉजिक एँण्ड एँटॉमिजम' नामक अपनी पुस्तक के २६ पृष्ठ पर, तथा 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर' ४८६ पृष्ठ पर यह विचार प्रकट किया है, कि तत्त्वकौमुदी में जिस राजवार्त्तिक को उद्धृत कियागया है, वह धारापति भोज की रचना है, अथवा कही जासकती है, जिसका दूसरा नाम रणरंगमल्ल भी है। इसका काल १०१८ से १०६० ख्रीस्ट है। यह वही रणरंगमल्ल अथवा भोज है। जिसने योगसूत्रवृत्ति और सरस्वतीकण्ठाभरण आदि ग्रन्थ लिखे हैं।

परन्तु अब हम उक्त आधारों पर कीथ के इस कथन की निराधारता को स्पष्ट समझ सकते हैं। वस्तुतः प्रतीत होता है, 'राजवार्त्तिक' में 'राज' पद को देखकर इसके साथ भोज को जोड़ दिया गया है। यद्यपि अभी तक यह निश्चय नहीं है, कि 'राजवार्त्तिक' के कर्त्ता का नाम क्या था? संभव है, उसका नाम भोज हो। पर निश्चयपूर्वक इतना ही कहासकता है, कि उसके नाम के साथ 'राजा' का सम्बन्ध अवश्य था, और वह इसी नाम से लोक में प्रसिद्ध तथा व्यवहृत था। इसके साथ ही इतना और निश्चयपूर्वक कहाजासकता है, कि 'राजवार्त्तिक' का कर्त्ता वह भोज नहीं है, जो धारा नगरी में ख्रीस्ट १०१८ से १०६० तक राज्य करता था, तथा जो सरस्वतीकण्ठाभरण तथा राजमार्तण्ड आदि का रचयिता है। क्योंकि ख्रीस्ट एकादश शतक के भोज को नवम शतक में वाचस्पति कैसे उद्धृत कर सकता है? वाचस्पति का काल निश्चित है, तथा धारापति भोज का अपना। इन दोनों के निश्चित काल में कोई विपर्यय न होने की स्थिति में यही परिणाम निकल सकता है, कि 'राजवार्त्तिक' का रचयिता इस भोज से अन्य कोई व्यक्ति है, जो वाचस्पति से पर्याप्त पूर्व होचुका था। तत्त्वकौमुदी में राजवार्त्तिक के नाम से उद्धृत श्लोक, युक्तिदीपिका में उपलब्ध हैं, अतः संभव है, इसी ग्रन्थका नाम 'राजवार्त्तिक' हो, जैसा प्रथम प्रमाणित कियागया है।

अध्ययन से प्रतीत होता है–यह भाष्य माठरवृत्ति का छायामात्र[1] है। इन दोनों ग्रन्थों की तुलना से यह मत सर्वथा निश्चित होजाता है। ग्रन्थ के व्यर्थ विस्तार-भय से हम इन दोनों व्याख्यानों के सन्दर्भों को तुलना की दृष्टि से यहां उद्धृत करना अनावश्यक समझते हैं। दोनों ग्रन्थ मुद्रित हैं, कोई भी विद्वान् किसी भी कारिका के व्याख्यानों की यथेच्छ तुलना करसकता है। इन दोनों में इतना अन्तर अवश्य देखाजाता है, कि भाष्य, वृत्ति के अंशों को छोड़ता ही है, कुछ नवीन नहीं लिखता। कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन और पंक्तियों का आधिक्य अवश्य पायाजाता है।

यह गौडपाद कौन है—

इस प्रश्न पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है। प्रायः सब विद्वानों की यह धारणा पाई जाती है, कि यह गौडपाद, आदि शंकराचार्य का दादागुरु गौडपाद नहीं है। यह धारणा ठीक कहीजासकती है। इसका समर्थन निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर होता है।

(क) दादा गुरु गौडपाद की एक प्रसिद्ध रचना माण्डूक्य उपनिषद् पर कारिका हैं। इसकी रचनाशैली और अर्थप्रतिपादनक्रम इस बात को स्पष्ट कर देते हैं, कि सांख्यसप्तति का भाष्यकार यह गौडपाद नहीं होसकता। इन दोनों ग्रन्थों की रचना आदि में महान अन्तर है।

(ख) माण्डूक्य कारिका जैसे मौलिक तथा परिमार्जित ग्रन्थ का लेखक, दूसरे व्याख्याग्रन्थ का आश्रय लेकर, उसीसे साधारण न्यूनाधिकता करके अपने भाष्य की रचना करता, यह सम्भव नहीं जान पड़ता। उसकी रचना में अवश्य नवीनता होती।

(ग) दादा गुरु ने माण्डूक्य कारिकाओं में अपने वेदान्तसम्बन्धी विशेष विचारों का उल्लेख किया है, वह उन विचारों का प्रवर्त्तक है। उसके प्रशिष्य आदि शंकराचार्य ने केवल उन विचारों अथवा सिद्धान्तों को और अधिक पुष्ट कर प्रचारमात्र किया है। इसप्रकार अपने विशेष विचार तथा सिद्धान्तों का संस्थापक एक आचार्य अपने से विपरीत सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ पर व्याख्या लिखता, यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। वह भी इस भाष्य जैसी व्याख्या, जो दूसरे का अनुकरणमात्र है।

---

१. इस विचार को अन्य विद्वानों ने भी माना है। श्रीयुत तनुसुखराम शर्मा त्रिपाठी, माठरवृत्ति की भूमिका, पृ० ६ [चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस १९२२ संस्करण] श्रीयुत डा० श्रीपाद कृष्ण बैल्वलकर, Bhandarkar Com. Vol.

(घ) दादागुरु गौडपाद और सांख्यसप्तति के गौडपादभाष्य की रचना के काल में अनेक शताब्दियों का अन्तर है। दादागुरु विक्रमपूर्व छठी शती के मध्य के लगभग था। किसी अन्य गौडपाद नामक व्यक्ति के द्वारा सांख्यसप्तति की व्याख्या विक्रम सम्वत् के छठे शतक में किसी अवसर पर लिखी गई। दादागुरु का इस रचना से किसी तरह का सम्बन्ध सम्भव नहीं।

इन आधारों पर यह निश्चितरूप से कहाजासकता है, कि प्रस्तुत आचार्य गौडपाद, दादागुरु गौडपाद से अतिरिक्त है। इसके काल का निर्णय करने के लिये अनेक आधुनिक विद्वानों ने यत्न किया है, परन्तु अभी तक कोई निश्चयात्मक परिणाम नहीं निकला। इस सम्बन्ध में हमें जो सामग्री उपलब्ध हुई है, वह इसप्रकार है—

गौडपाद का काल—

सांख्यसप्तति की २६ वीं और २८ वीं आर्याओं का माठर के समय जो पाठ[1] था, उसमें युक्तिदीपिकाकार के अनन्तर कुछ परिवर्तन हुआ। २६ वीं आर्या में माठर के अनुसार इन्द्रियों का पाठक्रम 'श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिका' है। २८ वीं आर्या में जहाँ इन्द्रियों की वृत्तियों का निर्देश है, 'रूपादिषु' पाठ है। २६ वीं आर्या के इन्द्रियक्रम के अनुसार २८ वीं आर्या में वृत्तियों का निर्देश न होने के कारण युक्तिदीपिकाकार ने इस पाठ की समालोचना की, और 'रूपादिषु' पाठ को प्रमादपाठ कहकर उसके स्थान पर 'शब्दादिषु' पाठ को युक्त बताकर आर्या में वैसा ही पाठ बनाने की अनुमति दी। इसका परिणाम यह हुआ, कि क्रम-सामञ्जस्य के लिये, युक्तिदीपिका के अनन्तर, किसी व्याख्याकार ने इन्द्रिय-क्रम [२६ वीं आर्या] में 'चक्षु' को पहले ला बिठाया, और २८ वीं आर्या के 'रूपादिषु' पाठ को उसी तरह रहने दिया, तथा किसी ने इन्द्रिय-क्रम को पूर्ववत् रक्खा, और २८ वीं आर्या में 'रूपादिषु' की जगह 'शब्दादिषु' पाठ बना दिया। इस प्रभाव से आचार्य गौडपाद भी बच नहीं सका है। उसने भी इन्द्रिय-क्रम में 'चक्षु' को पहले रक्खा है। यद्यपि उसका ग्रन्थ माठर के आधार पर लिखा गया है, परन्तु उसने यहाँ युक्तिदीपिकाकृत कठोर आलोचना से प्रभावित होकर माठर की उपेक्षा की है। इससे निश्चय होता है—आचार्य गौडपाद, युक्तिदीपिका से अर्वाचीन है। युक्तिदीपिकाकार का समय हमने विक्रम के पञ्चम शतक में माना[2] है। इसप्रकार छठे शतक के किसी भाग में सप्तति-भाष्यकार

---

१. इस पाठ का विस्तारपूर्वक विवेचन, हम इसी प्रकरण में पहले कर आये हैं ? माठर के पाठों के साथ युक्तिदीपिका की तुलना के प्रसंग में संख्या २ पर देखें।

२. इसी प्रकरण में युक्तिदीपिका का प्रसंग देखें।

गौडपाद का समय होना चाहिये।

इससे पीछे इसका समय इसलिये नहीं जासकता, क्योंकि जयमंगला व्याख्याकार से यह पूर्ववर्ती आचार्य होना चाहिये। इसका कारण यह है–४३ वीं आर्या के व्याख्यान में माठर, युक्तिदीपिकाकार, तथा गौडपाद ने तीन भावों[1] का प्रतिपादन किया है, जबकि जयमंगला व्याख्याकार, वाचस्पति मिश्र तथा चन्द्रिका ने दो ही भावों का प्रतिपादन किया है। इसका अभिप्राय यह होता है, कि जयमंगला से प्राचीन व्याख्याकारों ने उस आर्या में तीन भावों का प्रतिपादन माना है। जयमंगलाकार ने उसको अस्वीकार कर, दो भावों का उसमें निर्देश माना, और उसके परवर्ती व्याख्याकारों ने उसीके अर्थ को स्वीकार किया। इससे प्रतीत होता है–गौडपाद इस अर्थ के कियेजाने से पूर्व होचुका था। इसलिये युक्तिदीपिका और जयमंगला के मध्य में गौडपाद का समय होना चाहिये। जयमंगला का समय हमने विक्रम के सप्तम शतक का अन्त[2] माना है। इसलिये आचार्य गौडपाद का समय जो हमने निर्दिष्ट किया है, वह संगत होना चाहिये।

हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की व्याख्या[3] में गुणरत्नसूरि ने, अन्य षड्दर्शनसमुच्चय में मलधारि राजशेखर[4] ने तथा अपने यात्रावर्णन में अलबेरूनी[5] ने गौडपाद का उल्लेख किया है। यद्यपि इन उल्लेखों का हमारे काल-निर्णय में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

---

१. इसी प्रकरण में माठर के साथ युक्तिदीपिका की तुलना के प्रसंग में संख्या ३ देखें।

२. इसी प्रकरण के जयमंगला व्याख्या के प्रसंग में देखें।

३. सांख्यानां तर्कग्रन्थाः–षष्टितन्त्रोद्धाररूपं माठरभाष्यं सांख्यसप्ततिनामकं तत्त्वकौमुदी गौडपादं आत्रेयतन्त्रं चेत्यादयः। [सांख्यमत, श्लो० ४३ की व्याख्या के अन्त में] गुणरत्नसूरि के इस लेख का आधार, मलधारि राजशेखर का लेख है।

४. सांख्यानां मतवक्तारः कपिलासुरिभार्गवाः।
उलूकः पञ्चशिखश्चेश्वरकृष्णस्तु शास्त्रकृत्॥ ५४॥
तर्कग्रन्था एतदीया माठरस्तत्त्वकौमुदी।
गौडपादात्रेयतन्त्रे सांख्यसप्ततिसूत्रयुक्॥ ५५॥

५. अलबेरूनी के यात्रावर्णन में यद्यपि गौडपाद का साक्षात् उल्लेख नहीं है, परन्तु सांख्य के नाम से जो सन्दर्भ उस पुस्तक में उद्धृत कियेगये हैं, वे अधिकतर सांख्यसप्तति की माठरवृत्ति तथा गौडपाद व्याख्या के आधार पर हैं। इसके लिये 'अलबेरूनी का भारत' नामक पुस्तक के ५८-६१,७९,१०३, १०५-१०७ पृ० द्रष्टव्य हैं। इस ग्रन्थ के हिन्दी अनुवादक पं० सन्तराम बी० ए०, और प्रकाशक इण्डियनप्रेस प्रयाग है।

माठरवृत्ति

सांख्यसप्तति की उपलभ्यमान टीकाओं में एक माठरवृत्ति है। कहीं इसका उल्लेख 'माठरभाष्य'[१] नाम से कियागया है। इस पुस्तक का एक ही मुद्रित संस्करण हमारे पास है। यह चौखम्बा संस्कृत सीरीज् बनारस से नं० २९६ पर प्रकाशित हुआ है। इसका प्रकाशन ईसवी सन् १९२२ में हुआ था। इसके संशोधक तथा सम्पादक साहित्योपाध्याय श्री पं० विष्णुप्रसाद शर्मा हैं। इस संस्करण के साथ प्रारम्भ में आठ पृष्ठ की एक संस्कृत भूमिका मुद्रित है। इसके लेखक श्री तनुमुखराम शर्मा त्रिपाठी हैं। इसमें ग्रन्थसम्बन्धी बहिरंग परीक्षा का समावेश है। उक्त महानुभावों ने इस अमूल्य ग्रन्थ का सम्पादन व प्रकाशन कर विद्वज्जगत् का महान उपकार किया है।

ग्रन्थकार का नाम—

सांख्यसप्तति की व्याख्या के साथ रचयिता के स्थान पर 'माठर' का नाम सम्बद्ध है। व्यक्ति का यह मुख्य नाम था, या गोत्र नाम ? इसपर विचार करना काकदन्त परीक्षा के समान है। चाहे यह गोत्र नाम हो, अथवा सांस्कारिक; इतना तो प्रत्येक विद्वान् के लिये स्वीकार्य होगा, कि यह व्यक्ति इसी नाम से प्रसिद्ध था। अत एव इसके विशेष विवेचन की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

माठर का काल—

यह आचार्य किस काल में हुआ, इसका आज तक असन्दिग्ध निर्णय नहीं होपाया है। इस विषय पर अनेक विद्वानों ने लिखा है, और अपने विचारों के अनुसार इसके समय का निर्णय करने का यत्न किया है। उस सब सामग्री के अतिरिक्त, इस सम्बन्ध में हमें जो अधिक मालूम हुआ है, उस सबके आधार पर माठर के काल के सम्बन्ध में और अधिक प्रकाश डालने का यत्न कियाजायगा।

हमारी धारणा है–सांख्यसप्तति के उपलभ्यमान सब व्याख्याग्रन्थों में माठर की वृत्ति सबसे प्राचीन है। पिछले पृष्ठों में हमने काल-क्रम की दृष्टि से व्याख्याओं का क्रम इसप्रकार निर्दिष्ट किया है—

---

१. हरिभद्रसूरि कृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' की गुणरत्नसूरि कृत व्याख्या में तृतीय प्रकाश के ४३ श्लोक पद व्याख्याकार लिखता है–सांख्यानां तर्कग्रन्थाः–षष्टितन्त्रोद्धाररूपं, माठरभाष्यं, सांख्यसप्ततिनामकं,···चेत्यादयः।' [पृ० १०९, पं० १४, रा० ऐ० सो० कलकत्ता संस्करण]।

सांख्यतत्त्वकौमुदी–एक निश्चायक केन्द्र है, इसका काल सर्वसम्मति से निर्णीत है, उसने स्वयं अपने काल का निर्देश करदिया है।

जयमंगला–सांख्यतत्त्वकौमुदी से प्राचीन है।

युक्तिदीपिका–जयमंगला से प्राचीन है। इसका उपपादन कियाजाचुका है।

माठरवृत्ति–युक्तिदीपिका से प्राचीन है, इसका विवेचन अत्र प्रस्तुत कियाजायगा। इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों के विचारों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का निर्देश करने से पूर्व हम अपने विचार प्रकट करदेना चाहते हैं।

माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका से प्राचीन—

युक्तिदीपिका में अनेक स्थलों पर ऐसे मतों का स्मरण कियागया है, अथवा उनका खण्डन कियागया है, जो माठरवृत्ति में उपलब्ध है। युक्तिदीपिका के उन पाठों से सहज ही निर्णय कियाजासकेगा, कि ये मत माठर से लिये गये हैं। क्रमः उनका निर्देश करते हैं—

(१) ३२ वीं आर्या पर व्याख्या करते हुए युक्तिदीपिकाकार 'तदाहरणधारणप्रकाशकरम्' पदों की व्याख्या इसप्रकार करता है—

"तदाहरणधारणप्रकाशकरम्। तत्राहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति विषयार्जनसमर्थत्वात्, धारणं बुद्धीन्द्रियाणि कुर्वन्ति— विषयसन्निधाने सति श्रोत्रादिवृत्तेस्तद्रूपापत्तेः, प्रकाशमन्तःकरणं करोति निश्चयसामर्थ्यात्।"

यहां तक युक्तिदीपिकाकार ने उक्त पदों का स्वाभिमत अर्थ किया है। इसके आगे 'अपर आह' कहकर किसी अन्य आचार्य के मत का निर्देश है। वह मत इसी स्थल पर माठरवृत्ति में उपलब्ध है। दोनों व्याख्याओं की तुलना के लिये हम उन पाठों को यहाँ उद्धृत किये देते हैं—

माठर	युक्तिदीपिका
"आहारकं धारकं प्रकाशकं च तदिति। तत्राहारकमिन्द्रियलक्षणम्। धारकमभिमानमनोलक्षणम्। प्रकाशकं बुद्धिलक्षणम्"	"अपर आह–आहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, धारणं मनोऽहङ्कारश्च, प्रकाशनं बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धिश्चेति।"

इससे स्पष्ट होता है–'अपर आह' कहकर जिस मतका उल्लेख युक्तिदीपिकाकार ने किया है, वह माठर का है, और माठर की वृत्ति से लियागया है।

(२) इसीप्रकार ३८वीं आर्या पर 'तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः, इन पदों की व्याख्या युक्तिदीपिकाकार इसप्रकार करता है—

तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद् वायुः, रूपतन्मात्राद् तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी।······तेनैकैस्मात् तन्मात्रादेकैकस्य विशेषस्योत्पत्तिः सिद्धा।"

यहाँ तक युक्तिदीपिकाकार ने उक्त पदों का स्वाभिमत अर्थ किया है। इसके आगे 'ततश्च यदन्येषामाचार्याणामभिप्रेतम्……तत्प्रतिषिद्धं भवति' इन वाक्यों के मध्य में अन्य आचार्यों का मत देकर खण्डित किया है। यह मत माठराचार्य की वृत्ति में उपलब्ध है। तुलना के लिये दोनों ग्रन्थों को यहाँ उद्धृत करते हैं—

माठर	युक्तिदीपिका
"शब्दादिभ्यः पञ्चभ्यः आकाशादीनि पञ्च महाभूतानि पूर्वपूर्वानुप्रवेशादेकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणान्युत्पद्यन्ते।'	"ततश्च यदन्येषामाचार्याणामभिप्रेतम्—एकलक्षणेभ्यस्तन्मात्रेभ्यः परस्परानुप्रवेशात् एकोत्तरा विशेषाः सृज्यन्त इति, तत् प्रतिषिद्धं भवति।"

तन्मात्रों से स्थूलभूतों की उत्पत्ति के विषय में युक्तिदीपिकाकार का मत है, कि केवल शब्दतन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है, और केवल स्पर्शतन्मात्र से वायु की उत्पत्ति। इसी तरह केवल रूपतन्मात्र से तेज आदि की उत्पत्ति होती है। परन्तु माठर का मत है, कि शब्दतन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है। शब्दतन्मात्रानुप्रविष्ट स्पर्शतन्मात्र से वायु की। अभिप्राय है—माठर केवल स्पर्शतन्मात्र से वायु की उत्पत्ति नहीं मानता, प्रत्युत शब्दतन्मात्रसहित स्पर्शतन्मात्र से वायु की उत्पत्ति मानता है। इसीप्रकार शब्दस्पर्शतन्मात्रसहित रूपतन्मात्र से तेज की उत्पत्ति, ऐसे ही आगे समझना चाहिये। इस स्थल में यही इन दोनों आचार्यों का परस्पर मतभेद है। इनमें से युक्तिदीपिकाकार ने माठर के मत का खण्डन किया है; और उक्त पंक्तियों के आगे अपने व्याख्यान में इस बात को विस्तारपूर्वक निरूपित किया है, कि तन्मात्र के अनुप्रवेश के विना भी भूतोत्पत्ति में कोई असामञ्जस्य नहीं आपाता।

माठर ने अपने उक्तमत का एक अन्य स्थल में भी उल्लेख किया है। २२वीं आर्या पर 'पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि' इन पदों की व्याख्या करते हुए वह लिखता है—

"तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम्……इत्यादिक्रमेण पूर्वपूर्वानुप्रवेशेनैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि आकाशादिपृथ्वीपर्यन्तानि महाभूतानीति सृष्टिक्रमः।"

इससे माठर का अपना मत निश्चित होता है, और युक्तिदीपिकाकार के द्वारा उसका खण्डन कियाजाना, इस बात को प्रमाणित करता है, कि वह इससे प्राचीन है।

(३) एक स्थल इसीप्रकार का और उपस्थित कियाजाता है। ३९वीं आर्या में विशेषों के तीन प्रकार बताये हैं। सूक्ष्म, मातापितृज और प्रभूत। इनमें से 'प्रभूत' पद का अर्थ करने में दोनों आचार्यों का मतभेद इसप्रकार प्रकट किया-गया है—

युक्तिदीपिकाकार ने प्रथम स्वाभिमत अर्थ किया है—"प्रभूतास्तूद्भिज्जाः स्वेदजाश्च ।" अर्थात् यह व्याख्याकार कारिका के 'प्रभूत' पद का अर्थ उद्भिज्ज और स्वेदज करता है । आगे 'केचित्तु' कहकर एक अन्य अर्थ का निर्देश करके उसमें दोषोद्भावन करता है, कि ऐसा अर्थ करने पर उद्भिज्ज तथा स्वेदज का ग्रहण नहीं होगा । युक्तिदीपिकाकार ने यह अर्थ इसप्रकार प्रकट किया है—

केचित्तु प्रभूतग्रहणेन बाह्यानामेव विशेषाणां ग्रहणमिच्छन्ति, तेषामुद्भिज्ज-स्वेदजयोरग्रहणम्"

इससे स्पष्ट है—'केचित्' कहकर जिस आचार्य का मत दिया गया है, उसने 'प्रभूत' पद का अर्थ बाह्य विशेष अर्थात् स्थूलभूत किया है । इस पद का यह अर्थ माठरवृत्ति में उपलब्ध होता है । वहाँ पाठ इसप्रकार है—

"सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैः । प्र इत्युपसर्गः । एवं सूक्ष्मा मातापितृजा भूतानि चेत्यर्थः । तानि च पृथिव्यादीनि ।"

इन पाठों की तुलना से स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि युक्तिदीपिकाकार ने 'केचित्तु' कहकर माठर के अर्थ का उल्लेख किया है ।

(४) इसी तरह का एक स्थल और है । ४८वीं आर्या पर व्याख्या करते हुए '**दशविधो महामोहः**' इन पदों का युक्तिदीपिकाकार ने बड़ा नवीन अर्थ किया है । वह लिखता है—

दशविधो महामोहः—मातृपितृपुत्रभ्रातृस्वसृपत्नीदुहितृगुरुमित्रोपकारिलक्षणे दशविधे कुटुम्बे योऽयं ममेत्यभिनिवेशः ।"

माता पिता आदि दश प्रकार के कुटुम्ब में 'ये मेरे हैं' इसप्रकार का मिथ्या-भिमान दशविध महामोह है । इसके आगे युक्तिदीपिकाकार दूसरे आचार्यों का मत लिखता है—

"दृष्टानुश्रविकेषु वा शब्दादिष्वित्यपरे ।"

इसके अनुसार देखते हैं—यह मत माठरवृत्ति में विस्तार के साथ निरूपित है । वहाँ का पाठ इसप्रकार है—

"महामोहस्य दशविधो भेदः । देवानां शब्दादयः पञ्च तन्मात्राख्या विषया अविशेषाः……। एवं मनुष्याणां भौतिकशरीरतया……एष दशविधो महामोहः ।"

तात्पर्य है—पारलौकिक शब्दादि के सम्बन्ध में देवों का और ऐहलौकिक शब्दादि के सम्बन्ध में मनुष्यों का यह समझना, कि इन विषयों से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है, इस भावना से अभिभूत हुए देव, दिव्य शब्दादि में तथा मनुष्य अदिव्य शब्दादि विषयों में आसक्त रहते हैं, वे प्रकृति-पुरुष के भेद को नहीं जान पाते, जो निरतिशय सुख की अभिव्यक्ति का साधन है । यही दश प्रकार का

महामोह है। देवों की शब्दादिविषयक आसक्ति को युक्तिदीपिकाकार ने 'आनुश्रविक' पद से, और मनुष्यों की तद्विषयक आसक्ति को 'दृष्ट' पद से व्यक्त किया है। युक्तिदीपिकाकार ने प्रथम अपने अभिमत अर्थ को लिखकर, पुनः 'अपरे' पदके साथ इस अर्थ का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है—यह किसी अन्य आचार्य का मत युक्तिदीपिकाकार ने प्रदर्शित किया है, और वह आचार्य माठर होसकता है।

(५) पृष्ठ ३ पर युक्तिदीपिकाकार इस बात का विवेचन करता है, कि मूल कारिकाओं में प्रमाणों का उल्लेख कियागया है, इसलिये वे उपपादनीय हैं, परन्तु अनुमान प्रमाण के अवयवों का कहीं निर्देश नहीं किया, अतः उनका उपपादन असंगत होगा।

ग्रन्थकार लिखता है—"यद्यपि सूत्र[1] [=कारिका] कार ने अवयवों का उपदेश नहीं किया, तथापि किन्हीं भाष्यकारों ने उनका संग्रह किया है, और वे हमारे लिये प्रमाण हैं।"

कारिकाओं के व्याख्यानों का पर्यालोचन करने पर निश्चय होता है—युक्तिदीपिकाकार के इस लेख का आधार माठर व्याख्याकार होसकता है। ५ वीं आर्या की माठर व्याख्या[2] में अवयवों का संग्रह कियागया है। अन्य किसी व्याख्यान में ऐसा लेख उपलब्ध नहीं होता। इन आधारों पर युक्तिदीपिका की अपेक्षा माठरवृत्ति की प्राचीनता निश्चित होती है।

युक्तिदीपिका में माठरवृत्ति का उपयोग—

इनके अतिरिक्त अनेक स्थल ऐसे हैं, जिनमें युक्तिदीपिकाकार ने माठरवृत्ति का उपयोग किया है। यद्यपि इन स्थलों में ऐसे अर्थभेद का निर्देश नहीं है, जो 'अपरे' आदि पदों के साथ व्यक्त कियागया हो, फिर भी इन स्थलों का यहाँ

---

१. युक्तिदीपिकाकार ने इस प्रकरण में तथा अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर कारिकाओं के लिये 'सूत्र' पद का प्रयोग किया है। युक्तिदीपिकाकार का सन्दर्भ इसप्रकार है—'यद्यपि सूत्रकारेणावयवोपदेशो न कृतस्तथापि भाष्यकारात् केचिदेषां संग्रहं चक्रुः। ते च नः प्रमाणम्।' [अत्र 'भाष्यकारात्' इति पञ्चम्यन्तपाठस्थाने 'भाष्यकाराः' इति प्रथमाबहुवचनान्तः पाठः साधीयान् भाति]

२. माठर का लेख इसप्रकार है—

"......त्र्यवयवमनुमानम्। पञ्चावयवमित्यपरे। तदाह-अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः। एवं पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थमनुमानम्।"

उल्लेख, प्रयोगसाम्य को दिखलाने के लिये कर देना उपयुक्त है। फलतः यह समझने में अधिक सुविधा होजायगी, कि माठरवृत्ति से लाभ उठाने वाला युक्तिदीपिकाकार उससे पर्याप्त अर्वाचीन संभव है। ऐसे कुछ स्थल इसप्रकार हैं—

(१) युक्तिदीपिका पृ० ५, पं० १२-१४, माठरवृत्ति की ७२वीं आर्या की व्याख्या के आधार पर है। तुलना के लिये हम उन्हें उद्धृत करते हैं—

माठर	युक्तिदीपिका
तत्र 'भेदानां परिमाणात्' इत्येतैः पञ्चभिर्हेतुभिः प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्वं च सिद्धम्। 'संघातपरार्थत्वात्' इति परार्थत्वमुक्तम्। 'जन्ममरणकरणानाम्' इति पुरुषबहुत्त्वं सिद्धम्।	तत्रास्तित्वमेकत्वं पञ्चभिर्वीतैः सिद्धम्, अर्थवत्त्वं कार्यकारणभावः, पारार्थ्यं संहत्यकारिणां परार्थत्वादत एवान्यत्वं चेतनाशक्तेर्गुणत्रयात्' 'जन्ममरणकरणानाम्' इत्येवमादिभिः पुरुषबहुत्वम्।
(२) "रूपे[1] अहम्, रसे अहम्, गन्धे अहम्" [आर्या २४ की व्याख्या में]	"शब्देऽहं स्पर्शेऽहं रूपेऽहं गन्धेऽहमिति।"
(३) "मात्रशब्दोऽविशेषार्थः। यथा भिक्षामात्रं लभ्यते नान्यो विशेषः।" [आर्या २८ की व्याख्या में]	मात्रशब्दो विशेषनिवृत्त्यर्थः। तद्यथा भैक्षमात्रमस्मिन् ग्रामे लभ्यत इत्युक्ते नान्यो विशेष इति ज्ञायते।"

२६वीं तथा २८वीं आर्या के पाठों का समन्वय—

यहाँ एक और विशेष बात उल्लेखनीय है। इस २८वीं आर्या के प्रथम पद का पाठ 'रूपादिषु' है। इस पाठ के सम्बन्ध में एक रुचिकर विवेचन है। २६वीं आर्या के पूर्वार्ध में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का निर्देश कियागया है। वहाँ पर इन्द्रियों के क्रम में सब व्याख्याकारों का ऐकमत्य नहीं दीखता। उनके क्रमनिर्देश का एक वैज्ञानिक आधार यह होसकता है, कि वह इन्द्रियों के उत्पत्तिक्रम के अनुसार हो। इस आधार का भी अनेक व्याख्याकारों ने अनुकरण नहीं किया है।

(अ) वाचस्पति मिश्र ने इन्द्रियों का क्रम इसप्रकार रक्खा है—'चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वक्'। यह क्रम उसकी व्याख्या के आधार पर दियागया है। परन्तु इस क्रम का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं दीखता। पहले 'चक्षुः' का क्यों निर्देश कियागया, त्वक् का सब से अन्त में क्यों निर्देश हुआ? इत्यादि आशंकाओं के

१. यद्यपि इन क्रियापदों के 'रूपयामि' 'रसयामि' 'जिघ्रामि' आदि प्रयोग साधु हो सकते हैं।

निवारण के लिये कोई विशेष कारण नहीं है। गौडपाद ने इसी क्रम को स्वीकार किया है। इस पाठक्रम में यह बात ध्यान देने की है, कि इसमें सबसे प्रथम 'चक्षु' का निर्देश कियागया है।

(आ) जयमंगला व्याख्या की मुद्रित पुस्तक में मूल आर्या का पाठ वाचस्पति के अनुसार है, परन्तु यह मूल का पाठ व्याख्या के साथ संगत नहीं होता। व्याख्या के अनुसार मूल का पाठ 'चक्षुःश्रोत्रत्वग्रसननासिका' होना चाहिये। इसी क्रम से व्याख्या करने के अनन्तर व्याख्याकार ने स्वयं लिखा है—'तानि चक्षुःश्रोत्रत्वग्रसननकासिकाख्यानि पञ्च।' जयमंगला का मूल पाठ व्याख्यानुसारी नहीं है, वस्तुतः यह भ्रान्ति ग्रन्थ के सम्पादक महोदय[1] की है। तथापि इस पाठ में 'चक्षु' पद का प्रथम निर्देश है, इस बात का ध्यान रहना चाहिये। परन्तु स्वयं जयमंगलाव्याख्याकार इस पाठ को युक्त नहीं समझता। प्रतीत होता है—उसके पास जो मूल आर्याओं की प्रति थी, उसमें यही पाठ था, जिसके अनुसार उसने अपनी व्याख्या लिखी, पर वह इस पाठ की अयुक्तता को जानता था, क्योंकि वह स्वयं लिखता है—"शब्दवशादत्राक्रमः कृतः। क्रमस्तु श्रोत्रत्वक्चक्षुरिति।" इन्द्रियों के निर्देश का यह क्रम उनके उत्पत्तिक्रम के आधार पर है।

(इ) आचार्य माठर ने अपनी व्याख्या में इसी क्रम को स्वीकार किया है। उसका पाठ है—"श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि"। पातंजल योगसूत्रों के[2] भाष्यकार महर्षि व्यास ने इन्द्रियों के इसी क्रम को अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया है।

अब आप २६वीं आर्या से चलकर २८वीं आर्या पर आईये। इसमें इन्द्रियों की वृत्तियों का निर्देश कियागया है। यहाँ यह बात सामने आती है, कि २६वीं आर्या में इन्द्रियों के निर्देश का जो क्रम है, वही क्रम २८वीं आर्या में वृत्तियों के निर्देश का होना चाहिये, तभी इनका सामञ्जस्य होगा। २८वीं आर्या में इसके लिये 'रूपादिषु पञ्चानाम्' पाठ दियागया है। इस पाठ के सम्बन्ध में युक्ति-दीपिकाकार लिखता है—इन्द्रियों के निर्देश में श्रोत्रेन्द्रिय का प्रथम स्थान है, अब

---

१. जयमंगला के विद्वान् सम्पादक हरदत्तशर्मा एम० ए० ने लिखा है—यह मूल पाठ श्रीयुत डॉ० झा महोदय के संस्करण के आधार पर दियागया है। (प्रोसीडिंग्ज़ फ़िफ्थ इण्डियन ओरियण्टल कान्फ्रेंस लाहौर १९१८, पृ० १०३४ की नं० २ टिप्पणी में)

२. ४।१४ पर व्यासका भाष्य इसप्रकार है—"प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकपरिणामः श्रोत्रमिन्द्रियं, ग्राह्यात्मकानां शब्द-भावेनैकपरिणामः शब्दो विषय इति।"

उन इन्द्रियों के विषय का निर्देश करते समय, उस क्रम के उल्लंघन करने में कोई प्रयोजन नहीं दीखता। इसलिये 'रूपादिषु पञ्चानाम्' के स्थान पर 'शब्दादिषु पञ्चानाम्' पाठ होना चाहिये। 'रूपादिषु पञ्चानाम्' यह पुराना पाठ प्रमादपूर्ण हैं। युक्तिदीपिकाकार के शब्द इसप्रकार हैं—

"तत्र करणनिर्देशे श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राक् पाठात् तद्विषयनिर्देशातिलङ्घने प्रयोजनं नास्तीति कृत्वा शब्दादिषु पञ्चानामित्येव पठितव्यम्। प्राक्तनस्तु प्रमादपाठः।"

युक्तिदीपिकाकार के इस विवेचन के अनुसार उक्त पाठों के सामञ्जस्य के लिये दो बात होसकती थीं। (क) या तो २८वीं आर्या में 'रूपादिषु' के स्थान पर 'शब्दादिषु' पाठ कियाजाय, (ख) अथवा २६वीं आर्या में इन्द्रियों के निर्देश में 'चक्षुः' को प्रथम स्थान दियाजाय। विभिन्न व्याख्याओं में इन दोनों बातों को पाते हैं। गौडपाद और वाचस्पति मिश्र की व्याख्याओं के आधारभूत जो मूल आर्याओं के पुस्तक थे, उनमें २६वीं आर्या के पाठ में अन्तर करदियागया था; अर्थात् वहाँ इन्द्रियों के निर्देश में 'चक्षुः' का पाठ पहले करदियागया, और इसप्रकार २८वीं आर्या के 'रूपादिषु' पाठ के साथ सामञ्जस्य कियागया। जयमंगलाकार के पास जो मूल आर्याओं का पाठ था, उसमें २६वीं आर्या में 'चक्षुः' का प्रथम निर्देश था, परन्तु व्याख्याकार ने उसके अनुसार व्याख्या करदेने पर भी उसकी अयुक्तता को समझ कर यह स्पष्ट करदिया, कि इन्द्रिय-निर्देश में 'श्रोत्र' का प्रथम पाठ होना चाहिये, क्योंकि यह क्रम उत्पत्तिक्रम के आधार पर होने से सकारणक है, इसमें विपर्यय कियाजाना असंगत होगा। इसलिये जयमंगलाकार ने २८वीं आर्या में 'रूपादिषु' पाठ के स्थानपर 'शब्दादिषु' पाठ मानकर ही व्याख्या की है। मालूम होता है, वाचस्पति मिश्र और गौडपाद ने २६वीं आर्या में इन्द्रियों के क्रम-निर्देश के लिये उनके उत्पत्तिक्रम की ओर ध्यान नहीं दिया।

इससे एक परिणाम यह निकलता है—युक्तिदीपिकाकार के समय २६ वीं आर्या के पाठ में कोई भेद नहीं था। वह माठर के पाठ के अनुसार एक निश्चित पाठ था। युक्तिदीपिका के उक्त विवेचन के प्रभाव से २६वीं आर्या के पाठ में अन्तर पड़ा। यदि युक्तिदीपिकाकार के समय भी ऐसा होता, तब उसको उक्त विवेचन की आवश्यकता न पड़ती, उसका इतना व्याख्यान सर्वथा अनर्थक होता, इसलिये गौडपाद का समय भी युक्तिदीपिकाकार से अर्वाचीन प्रतीत होता है।

दूसरा परिणाम उक्त विवेचन से यह निकलता है, कि युक्तिदीपिका ने जिन पाठों के आधार पर पूर्वोक्त विवेचन किया है, वे पाठ माठरवृत्ति के आधार पर उपस्थित कियेजासकते हैं। क्योंकि पाठगत वह असामञ्जस्य, जिसकी आलोचना युक्तिदीपिकाकार ने की है, माठर के अभिमत पाठों में संभव है। उसने

२६वीं आर्या में 'श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिका' ही इन्द्रियों का क्रम दिया है, और २८वीं आर्या में 'रूपादिषु' पाठ माना है। इसलिये युक्तिदीपिकाकार ने जिस प्रावतन पाठ को प्रमादपाठ कहा है, वह माठराभिमत पाठ होसकता है। जय-मंगला ने युक्तिदीपिका की इस पाठसम्बन्धी चोट से प्रभावित होकर २८वीं आर्या में 'रूपादिषु' के स्थान पर 'शब्दादिषु' पाठ को स्वीकार किया है, और गौडपाद एवं वाचस्पति मिश्र ने २६वीं आर्या में इन्द्रियनिर्देश के समय 'चक्षुः' को प्रथम स्थान देदिया है। युक्तिदीपिकाकार के प्रहार से प्रभावित होकर पश्चाद्वर्त्ती व्याख्याकारों ने अपने विचारों के अनुसार उक्त पाठों में यह विपर्यय किया है। केवल माठर का पाठ ऐसा है, जिस पर इस प्रहार का प्रभाव नहीं है, प्रत्युत वह इस प्रहार का लक्ष्य है। इसलिये माठर, युक्तिदीपिकाकार से पर्याप्त प्राचीन होना चाहिये।

२६ वीं आर्या के पाठ पर पं० हरदत्त शर्मा एम० ए० के विचार और उनकी आलोचना—

२६वीं आर्या के पाठ के सम्बन्ध में हरदत्त शर्मा एम०ए० ने अपना विचार[1] इसप्रकार प्रकट किया है—यद्यपि माठरवृत्ति में मूलकारिका को प्रतीक रूप में उद्धृत नहीं किया, फिर भी उसके विवरण से यह बात स्पष्ट होजाती है, कि वह 'श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि' इस पाठ को ही स्वीकार करता है। परन्तु जब ऐसा पाठ न किसी संस्करण में मिलता है, और न हस्तलिखित प्रतियों में, तब क्या हम यह नहीं कह सकते कि जयमंगला के 'शब्दवशादत्राक्रमः कृतः' इस पाठ को देखने के अनन्तर माठर ने उक्त पाठ को स्वीकार किया होगा ? इस-लिये जयमंगलाकार से अर्वाचीन ही माठर होसकता है।

---

१. According to जयमंगला the reading of the text of Kar. 26, ought to be बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रत्वग्रसननासिकाख्यानि। On this जयमंगला notes शब्दवशादत्राक्रमः कृतः। क्रमस्तु श्रोत्रत्वक्चक्षुरिति। माठर reads in the text of the Kartka–श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासि-काख्यानि। Although it might be said here that the reading in the text need not neccssarily be that of commentator, for it is not quoted af प्रतीक in the Vritti, but still the explanation–श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियाणीत्युच्यन्ते। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् बुध्यन्त इति बुद्धीन्द्रियाणि, leaves no doubt as to the order of the text. Can we not say that in view of the fact that this reading is not found in any of the editions or Mss; it is adopted by माठर after reading शब्दवशादत्राक्रमः कृतः of जय-मंगला ? [Proceeding Fifth Indian Oriental Confercnce, Lahore, 1928 A. D., P. 1034-35]

इस सम्बन्ध में हम प्रथम उल्लेख कर चुके हैं, कि जब शर्मा महोदय ने अपना लेख लिखा था, उस समय तक सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या प्रकाशित न होपाई थी, अब उसके आधार पर अनेक बातें प्रकाश में आगई हैं'। १५वीं आर्या की जयमंगला व्याख्या का 'अन्यैरन्यथा व्याख्यायते' वाला मत युक्तिदीपिका में मिल जाने से, जयमंगला की अपेक्षा उसका प्राचीन होना निश्चित है। २८वीं आर्या पर इन पाठों की तुलना करके युक्तिदीपिका-कार ने जो समालोचना की है, वह जयमंगलाभिमत पाठ मानने पर संभव नहीं। उसकी संभावना माठराभिमत पाठों पर आधारित है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहाजाता है, कि जयमंगला को देखकर माठर ने इस पाठ को स्वीकार किया ?

इसके अतिरिक्त एक बात और है। जयमंगलाकार स्वयं लिखता है, कि 'शब्दवशादत्राक्रमः कृतः। क्रमस्तु श्रोत्रत्वक्चक्षूरिति।' जयमंगला के इन पदों को विचारना चाहिये, कि वह इनमें क्या कहना चाहरहा है ? इन्द्रियों के जिस क्रम के आधार पर उसने अपनी व्याख्या लिखी है, उस क्रम को वह ठीक नहीं बता रहा, फिर भी व्याख्या उसी क्रम से लिखी है। इसका कारण वह लिखता है—'शब्दवश'। 'शब्दवश' पद का अर्थ 'पाठवश' ही होसकता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय है—जयमंगलाकार के पास मूलकारिका की जो प्रति थी, उसमें यही पाठ था, अर्थात् 'चक्षुःश्रोत्रत्वग्रसननासिका' जिससे बाध्य होकर उसे इसी क्रम में व्याख्या करनी पड़ी। परन्तु वह इस पाठ को असंगत बताता है, और 'श्रोत्र-त्वक्चक्षुः' पाठ को ठीक कहता है। अब विचारणीय यह है, कि जयमंगलाकार के इस कथन का आधार क्या है। इसका उत्तर यही दियाजासकता है, कि प्रथम पाठ सकारणक नहीं है, अर्थात् वैसा क्रम रखने में कोई विशेष कारण उपस्थित नहीं कियाजासकता। द्वितीय पाठ सकारणक है। अर्थात् इस क्रम के लिये, इन्द्रियों की उत्पत्ति का क्रम आधार कहाजासकता है। इसी कारण द्वितीय क्रम को युक्त और प्रथम को जयमंगलाकार ने अयुक्त कहा है। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है, कि अपने इस युक्त क्रम के अनुसार जयमंगलाकार ने २८वीं आर्या में 'रूपादिषु' के स्थान पर 'शब्दादिषु' पाठ को स्वीकार किया है। अथवा यह कह लीजिये, कि जयमंगलाकार की मूलकारिका की प्रति में २८ वीं आर्या का 'शब्दादिषु' पाठ था।

अब थोड़ी देर के लिये शर्मा जी के कथनानुसार मान लीजिये, कि जयमंगला को देखकर माठर ने २६वीं आर्या का पाठ स्वीकार किया। ऐसी स्थिति में यह बड़ी विचित्र बात है, कि २८वीं आर्या का पाठ माठर ने जयमंगला के अनुसार 'शब्दादिषु' क्यों नहीं स्वीकार किया ? यदि माठर, जयमंगला के पाठ को स्वी-कार करने में इतना तीक्ष्ण-दृष्टि होता, तो वह २८वीं आर्या के पाठ को अवश्य उसके अनुसार रखता। परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये यह निश्चित परिणाम

निकलता है, कि २६वीं आर्या का मौलिक पाठ माठरानुसारी है, जो इन्द्रियों की उत्पत्ति के क्रम पर आधारित है। माठर के समय यहाँ और किसी पाठ की संभावना या कल्पना नहीं कीजासकती। उस समय उक्त एक ही पाठ निश्चित था। २६वीं आर्या के इस पाठ के निश्चित मानेजाने पर २८वीं आर्या में 'रूपादिषु' पाठ का असामञ्जस्य युक्तिदीपिकाकार को सूझा, और उसने इसकी आलोचना की, तथा 'रूपादिषु' पाठ को प्रमादपाठ कहकर उसकी जगह 'शब्दादिषु' पाठ को संगत बताया। इस आलोचना के अनन्तर इन कारिकाओं के पाठों में अन्तर डाला गया। जयमंगलाकार ने युक्तिदीपिका के अभिमत पाठ को स्वीकार किया है। इन सब संस्करणों और इनकी हस्तलिखित प्रतियों में २६वीं आर्या का माठराभिमत पाठ उपलब्ध होने के कारण, यह भी कैसे कहाजासकता है, कि यह पाठ किसी संस्करण अथवा हस्तलिखित प्रति में नहीं? इसलिये इन पाठों और इनके विवरणों के आधार पर जो परिणाम हमने निकाले हैं, वे युक्तियुक्त हैं, और इसीलिये सांख्यसप्तति के उपलभ्यमान व्याख्याग्रन्थों में माठर का स्थान सर्वप्रथम है।

(३) इसीप्रकार ४३वीं आर्या की व्याख्या में माठर ने तीन भावों का उल्लेख किया है, उसीका अनुकरण करते हुए युक्तिदीपिकाकार ने ऐसा ही माना है। जबकि जयमंगलाकार और वाचस्पति मिश्र इस आर्या में दो ही भावों का वर्णन मानते हैं। आर्या का पाठ है—'सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः'। यहाँ पर 'प्राकृतिकाः' पद को जयमंगलाकार और वाचस्पति मिश्र ने 'सांसिद्धिकाः' पद का विशेषण माना है और इस तरह दो भावों का वर्णन इस आर्या में स्वीकार किया है। परन्तु माठर ने 'प्राकृतिकाः' पद को विशेष्य पद माना है, और इसतरह तीन भावों का वर्णन इस आर्या में स्वीकार किया है। दोनों का इस अंश का पाठ इसप्रकार है—

माठर	युक्तिदीपिका
"त्रिविधा भावाश्चिन्त्यन्ते।··· सांसिद्धिकाः···प्राकृतिकाः···वैकृतिकाः ···। एवमेते त्रिधा भावा व्याख्याताः। यैरधिवासितं महदादि लिंगं संसरति।"	"यथा चैते, तथा......त्रिविधा एवेति...सांसिद्धिकः प्राकृतं...वैकृतास्तु...। एते भावा व्याख्याताः। एषां वैश्वरूप्याल्लिंगस्य गतिविशेषः संसारो भवतीति।"

इसप्रकार युक्तिदीपिका व्याख्या में माठर के मतों का अनेक स्थलों में उल्लेख पायाजाना, तथा अनेक स्थलों पर माठर की व्याख्या का युक्तिदीपिका में अनुकरण होना, हमें इस परिणाम पर निश्चितरूप से पहुँचा देते हैं, कि युक्तिदीपिकाकार ने अपने ग्रन्थ में माठर का समुचित उपयोग किया है, चाहे वह किसी

स्थल पर प्रतिकूल भावना के साथ ही क्यों न हो ? फलतः माठर को प्राचीन मानने में कोई बाधा नहीं रहजाती।

माठरवृत्ति में आर्याओं के अर्थसम्बन्धी मतभेदों का उल्लेख—

अभी तक युक्तिदीपिका में प्रदर्शित, आर्याओं के अर्थसम्बन्धी माठर-मतों का उल्लेख किया है। अब यह भी देखना चाहिये, कि क्या माठर के व्याख्यान में इसप्रकार के अर्थसम्बन्धी मतभेदों का उल्लेख है ? क्योंकि माठर व्याख्यान में इसप्रकार के मतभेद उपलब्ध होने पर निम्नलिखित तीन विकल्प हमारे सामने आते हैं, जिनका विवेचन करना आवश्यक है।

(अ) माठर से प्राचीन अन्य व्याख्याओं का होना।

(इ) व्याख्या न होने पर पठनपाठनप्रणाली में उसप्रकार के अर्थभेदों का अनुक्रम बराबर चले आना।

(उ) संभावित पश्चाद्वर्त्ती व्याख्याग्रन्थों में उन अर्थों के उपलब्ध होने पर माठर के साथ उनके काल का सामञ्जस्य स्थापित करना।

माठर की व्याख्या में जब हम अर्थसम्बन्धी मतभेदों के उल्लेख देखने के लिये प्रयत्नशील होते हैं, तो हमें निराशा का सामना करनापड़ता है। आदि से अन्त तक ग्रन्थ का पर्यालोचन करने पर केवल एक स्थल ऐसा मिलता है, जहाँ इसप्रकार के अर्थभेद का उल्लेख है, जबकि अन्य व्याख्याग्रन्थों में इसप्रकार के अनेक स्थल उपलब्ध होते है। वह उल्लेख १८वीं आर्या के 'जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात्' इस हेतुपद के व्याख्यान में उपलब्ध होता है। वह इसप्रकार है—

> **"अपरे पुनरित्थङ्कारं वर्णयन्ति—जन्ममरणनियमात्। इह कश्चित्कदाचिन्म्रियते तदैव परो जायते। यद्येकः पुरुषः स्यात् तर्हि एकस्मिन् जायमाने सर्वेऽपि जायेरन् न चैवम्। म्रियमाणे सर्वे म्रियेरन्। न चैवम्। तस्माद्बहवः पुरुषाः।"**

अभिप्राय है—ये जन्म और मरण परस्पर विरोधी भाव हैं। एक काल में एक ही वस्तु में दोनों का होना असंभव है, इसलिये यदि सब व्यक्तियों में पुरुष एक मानें, तो एक के मरने पर सब मरजाने चाहियें, अथवा एक के जन्मने पर सब जन्मने चाहियें। परन्तु ऐसा नहीं देखाजाता, अतएव पुरुषों का अनेक होना संगत है। इस अर्थ-निर्देश से पूर्व माठर ने स्वाभिमत अर्थ इसप्रकार किया है।

> **"जन्मनियमात् इह केचिन्नीचजन्मानः, केचिन्मध्यमजन्मानः, केचिदुत्कृष्टजन्मानः।...अस्ति चायं नियमः, अन्ये अधमाः, अन्ये उत्कृष्टा, तस्माद्बहवः पुरुषाः। अतश्च-मरणनियमात्। मरणेऽपि नियमो दृष्टो मम भ्राता मृतो मम पिता च। तस्माद्बहवः पुरुषाः।"**

इन दोनों प्रकार के अर्थों में भेद केवल इतना है, कि माठर तो 'जन्म-

नियम' और 'मरण-नियम' इनको पृथक् स्वतन्त्र हेतु मानता है, और जन्म में उच्चाभिजन नीचाभिजन आदि विविधताओं के आधार पुरुषनानात्व को सिद्ध करता है। इसीप्रकार मरण में माता-पिता पुत्र-भ्राता आदि की मरण विविधता को लेकर पुरुषबहुत्व को सिद्ध करता है। परन्तु अन्यों के वर्णन में 'जन्ममरण-नियमात्' इसको एक हेतु मानागया है, और जन्म-मरण के पारस्परिक भेद के आधार पर पुरुषनानात्व को सिद्ध कियागया है। यद्यपि आर्या की मूलरचना को देखते हुए माठरकृत अर्थ अधिक सामञ्जस्यपूर्ण प्रतीत होता है। परन्तु यह एक आश्चर्य की बात है, कि माठरकृत अर्थ को अन्य किसी व्याख्याकार ने स्वीकार नहीं किया, जबकि आर्या के उक्त हेतु पद की व्याख्या में प्रायः सब व्याख्याकारों ने 'जन्ममरणकरणानां' इस समस्त पद का विग्रह करते समय 'जन्म' 'मरण' और 'करण' को पृथक्-पृथक् माना है, पर अर्थ करते समय जन्म-को इकट्ठा करदिया है। सम्भवतः अन्य आचार्यों का अर्थ परम्परागत अर्थ है, कारिकारचना के अनन्तर पठनपाठन प्रणाली में उसी अर्थ का प्रचार रहा प्रतीत होता है। स्वाभिमत अर्थ का निर्देश करने के अनन्तर उस परम्परागत अर्थ को माठर ने सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया। परन्तु पश्चाद्वर्त्ती व्याख्याकारों ने केवल परम्परागत अर्थ को स्वीकार किया।

इस सम्बन्ध में हमारी एक अन्य धारणा अधिक प्रबल है—उपर्युक्त अर्थों के सम्बन्ध में यदि गम्भीरता से विचार कियाजाय तो स्पष्टतः इन अर्थों में वास्तविक भेद नहीं है। जन्म और मरण की विविधता दोनों अर्थों में समान है। जन्म और मरण कीं स्वगत विविधता अथवा पारस्परिक विविधता में कोई मौलिक भेद नहीं है, क्योंकि एक के मानने पर दूसरे का विरोध नहीं होता। अभिप्राय है—केवल जन्मगत विभिन्नता के आधार पर पुरुषनानात्व को सिद्ध करने से, यह प्रकट नहीं होता, कि 'जन्म' का 'मरण' से भेद नहीं है। इसीप्रकार जन्ममरण के पारस्परिक विभेद के आधार पर पुरुषनानात्व को सिद्ध करने से यह प्रकट नहीं होता, कि केवल जन्मगत विभेद, नानात्व को सिद्ध नहीं करसकता। इसलिये आपाततः इन अर्थों में भेद प्रतीत होने पर भी वास्तविक भेद नहीं है। उसी अर्थ को अपने-अपने ढंग पर व्याख्याकारों ने प्रकट किया है। ऐसी स्थिति में प्रतीत होताहै—इन विभिन्न व्याख्या ग्रन्थों में इस अर्थ की वास्तविक समानता की ओर ध्यान न देकर केवल आपाततः प्रतीत होने वाले भेद को ध्यान में रख, जयमंगला आदि की रचना के अनन्तर, माठर व्याख्या के किसी प्रतिलिपिलेखक ने हाशिये पर उक्त शब्दों में इस अर्थ का निर्देश कर दिया हो, जो कालान्तर में ग्रन्थ का भाग समझागया। इसप्रकार कहाजासकता है—यह अन्य मत का निर्देश, माठर का अपना लेख नहीं है। इसके लिये निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित कियेजासकते हैं।

माठरवृत्ति के 'प्रान्त' पर लिखे सन्दर्भ, और 'प्रान्त' पद का अर्थ—

(१) यह मानी हुई बात है–किसी ग्रन्थ के हाशिये पर लिखे हुए सन्दर्भ के सम्बन्ध में किसी अन्य लेखक का ऐसा उल्लेख मिलजाये, कि अमुक सन्दर्भ अमुक ग्रन्थ के हाशिये पर लिखा हुआ है, तो उससे यही समझा जायगा, कि वह सन्दर्भ उस ग्रन्थ का मूल भाग नहीं है, जिसके हाशिये पर लिखा हुआ है। अभिप्राय है–जो सन्दर्भ मूल का भाग है, वह हाशिये पर लिखा हुआ होने पर भी उसके लिये यह प्रयोग नहीं होगा, कि "यह पाठ हाशिये का है।" इसतरह का प्रयोग उसी पाठ या सन्दर्भ के लिये होता है, जो हाशिये पर लिखा हो, पर मूल ग्रन्थ का न हो। इसतरह के एक सन्दर्भ का उल्लेख द्रष्टव्य हैं—

हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या में 'तदुक्तं[1] माठरप्रान्ते' ऐसा उल्लेख कर एक श्लोक उद्धृत है। गुणरत्नसूरि के इस लेख से प्रकट होता है–वह उद्धृत श्लोक माठर ग्रन्थ का मूल भाग नहीं है। गुणरत्न-सूरि को वह श्लोक माठर ग्रन्थ के 'प्रान्त' पर लिखाहुआ उपलब्ध हुआ है। 'प्रान्त' पद का अर्थ हाशिया[2] है। पत्र के लिखित भाग के चारों ओर जो रिक्त स्थान छोड़ दिया जाता है, वह 'प्रान्त' कहलाता है। ग्रन्थ को पढ़ने वाला व्यक्ति, उन स्थानों में ऐसे सन्दर्भ लिख सकता है, जो उस मूल ग्रन्थ के साथ सम्बन्ध रखते हों। प्रतीत होता है–उस उद्धृत श्लोक को, माठर ग्रन्थ का अध्ययन करते समय टिप्पणरूप में किसी अध्येता ने पन्ने के 'प्रान्त' भाग पर लिख दिया। गुणरत्नसूरि ने उसको उसी रूप में देखा, और उसका ठीक पता देकर अपने ग्रन्थ में उसे उद्धृत किया। कालान्तर में इस विशेषता को न समझने के कारण वह 'प्रान्त' का श्लोक मूल ग्रन्थ का भाग समझागया, और आज हम

---

१. एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता संस्करण, पृ० ९६, कारिका ३४ की भूमिका में।

२. सदानन्दयति रचित अद्वैतब्रह्मसिद्धि के विद्वान् सम्पादक श्रीयुत वामन शास्त्री महोदय ने इस ग्रन्थ की भूमिका में हाशिये के लिये 'प्रान्त' पद का प्रयोग किया है। उनका लेख हैं–पुस्तकप्रान्तभागे बहुषु स्थलेषु संशोधनं टिप्पण्यादिकं च वर्त्तते।' यह भूमिका सन् १८९० में लिखी गई थी। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण एशियाटिक सोसायटी बंगाल ने प्रकाशित किया था। हमारे सन्मुख यह द्वितीय संस्करण है, जिसको कलकत्ता विश्व-विद्यालय ने १९३२ ई० सन् में प्रकाशित किया है। उसकी भूमिका के १३वें पृष्ठ पर उक्त लेख है।
मोनियर विलियम की डिक्शनरी में 'प्रान्त' पद का अर्थ Margin= मार्जन कियागया है।

उसको ऐसा ही समझते हैं। वह श्लोक है—

**"हस पिब लल मोद खाद नित्यं विषयानुपभुञ्ज कुरु च मा शङ्काम्।
यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसे मोक्षसौख्यञ्च ॥"**

यह सांख्यसप्तति की ३७ वीं आर्या की माठरव्याख्या के अन्त में उद्धृत है। गुणरत्नसूरि के पाठ में थोड़ा सा अन्तर है, वहां का पाठ इसप्रकार है—

**"हस पिब लल खाद मोद नित्यं भुंक्ष्व च भोगान् यथाभिकामम्।
यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसि मोक्षसौख्यमचिरेण ॥"**

गुणरत्नसूरि के द्वारा प्रयुक्त 'प्रान्त' पद का अर्थ समझने में आधुनिक कतिपय विद्वानों ने भूल[1] की है। अथवा वे इस पद के अर्थ का निश्चय नहीं कर सके हैं। चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ से प्रकाशित माठरवृत्ति के प्रारम्भ में, वृत्ति में प्रमाणरूप से उद्धृत वाक्यों की एक सूची दीहुई है। वहाँ पर प्रस्तुत श्लोक के सम्बन्ध में सम्पादक महोदय ने एक टिप्पणी में इसप्रकार लिखा है "तदुक्तं माठरप्रान्ते (भाष्ये ?)" इससे प्रतीत होता है, कि माननीय सम्पादक महोदय 'प्रान्त' पद का अर्थ समझने में असमर्थ रहे हैं। इसप्रकार गुणरत्नसूरि के लेख के आधार पर प्रस्तुत श्लोक को माठर ग्रन्थ का भाग नहीं समझा जाना चाहिये। परन्तु आज ऐसा नहीं है। ठीक इसी तरह १८वीं आर्या के प्रकृत पाठ के सम्बन्ध में भी कहाजासकता है। यह सम्भव है—इसप्रकार के और भी 'प्राण्त' गत पाठ मूलभाग में सम्मिलित होगये हों।

(२) इस सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान देने के योग्य है, कि माठरवृत्ति में अन्य किसी स्थल पर किसी आर्या के अर्थभेद के सम्बन्ध में कोई

---

१. 'सुवर्णसप्ततिशास्त्र' [सांख्यकारिका और इसकी एक टीका के चीनी अनुवाद का संस्कृतरूपान्तर] के विद्वान् सम्पादक अय्यास्वामी शास्त्री ने 'प्रान्त' पद का Mathara's traditional corner' अर्थ किया है, [उक्त ग्रन्थ की भूमिका, पृ० ३७ पर] जो सर्वथा निराधार है। यद्यपि आपने आगे लिखा है, कि 'माठरप्रान्त' पद का प्रयोग माठरभाष्य [Mathara's actual commentary] के लिये नहीं हुआ है। यह कथन आपका ठीक ही है। माठरभाष्य के लिये यह कैसे होसकता है ? प्रान्त पर लिखा पाठ तो भाष्य का भाग होगा ही नहीं। परन्तु आपने 'प्रान्त' पद का अर्थ Margin न समझ कर एक क्लिष्ट और निराधार कल्पना कर डाली है। उसके आधार पर सांख्यसप्तति की वर्त्तमान माठरव्याख्या के अतिरिक्त एक और माठरभाष्य का होना कल्पना करलिया है, जिसका कोई आधार नही। इस माठर व्याख्यास को ही माठरभाष्य मानने में क्या आपत्ति होसकती है।

निर्देश नहीं कियागया। यह एक विचित्र सी बात है, कि अन्य ग्रन्थों में अर्थ-सम्बन्धी अनेक मतभेदों का उल्लेख होने पर भी, माठर केवल एक मतभेद का निर्देश करता है। यदि इसका आधार अन्य व्याख्याकारों के भिन्न व्याख्यानों का निर्देश मानाजाय, तो अन्य मतभेदों का उल्लेख माठर ने अपने ग्रन्थ में क्यों नहीं किया? जबकि दूसरे व्याख्याकारों ने इसके साथ अपना मतभेद प्रकट किया है। यह एक और आश्चर्य की बात है, कि १८वीं आर्या के प्रस्तुत पदों के अर्थों में किसी व्याख्याकार ने माठर के साथ मतभेद का निर्देश नहीं किया। इसका परिणाम यह निकलता है, कि प्रत्येक परवर्त्ती व्याख्याकार पूर्ववर्त्ती व्याख्यान के सामञ्जस्य को निपुणतापूर्वक समझता रहा है, इसलिये व्याख्या-कारों को इन पदों के अर्थों में परस्पर विरोध की कोई गन्ध नहीं आई। संभव है, भिन्न व्याख्यानों को आपततः देखने वाले किसी अध्येता ने 'प्रान्त' पर उक्त टिप्पण लिखदिया होगा, जो कालान्तर में मूल का भाग बनगया। यही संभावना अधिक प्रामाणिक होसकती है।

जहां तक आर्याओं के अर्थसम्बन्धी मतभेदों के निर्देश का विचार है, यह बात बहुत ध्यान देने की है, कि माठरव्याख्या में यह एक ही मतभेद का निर्देश क्यों है? यदि यह मानाजाय, कि यह मतभेदनिर्देश, जयमंगला आदि व्या-ख्यानों को देखकर माठर ने किया है, तो हम पूछते हैं—माठर ने अन्य मतभेदों का उल्लेख क्यों नहीं किया? जयमंगला आदि व्याख्याओं में निर्दिष्ट ऐसे अनेक मतभेदों का उल्लेख इसी प्रकरण में कियाजाचुका हैं, जो माठरव्याख्यान के आधार पर कियेगये हैं। इससे यह परिणाम निकलता है, कि तत्त्वकौमुदी जयमंगला, युक्तिदीपिका आदि व्याख्याओं में जो अर्थसम्बन्धी मतभेद दियेगये हैं, वे उनसे पूर्ववर्त्ती व्याख्याग्रन्थों के आधार पर हैं, जिस आधार के क्रम को हम अभी तक स्पष्ट करते चले आरहे हैं। पर माठरवृत्ति में इसप्रकार का एक भी निर्देश नहीं कहाजासकता। अतएव उपलभ्यमान सब टीकाओं की अपेक्षा उसकी प्राचीनता निर्बाध है।

माठरवृत्ति और जयमंगला के सम्बन्ध पर पं० हरदत्त शर्मा के विचार, तथा उनकी समीक्षा—

हरदत्त शर्मा एम० ए० ने इस सम्बन्ध में एक बहुत चुभता हुआ नुक़्ता बताया है। वे लिखते हैं—[1] ४५वीं कारिका पर माठर कहता है—

---

१. There is very striking passage in माठरवृत्ति Viz. यथा कस्यचिद्० ...न यमनियमपरः केवलम् compare it with जयमंगला—वैराग्यात् इत्यादि।···परिस्थितो, न ज्ञानं पर्येषते etc. [P. 48, II. 21 and 22]

"यथा कस्यचिद् वैराग्यमस्ति। जितेन्द्रियो विषयेभ्यो विरक्तो न यमनियमपरः केवलम्।
न[1] तु ज्ञानमस्ति गुणपुरुषान्तराख्यम्।"

निम्ननिर्दिष्ट जयमंगला के साथ इसकी तुलना कीजिये—

'**वैराग्यात् इत्यादि। यो विषयादिदर्शनाद्विरक्तो यमनियमपरिस्थितो, न ज्ञानं पर्येषते**" इत्यादि। "क्या यहाँ यह नहीं प्रतीत होता, जैसे कि माठर जयमंगला के विचार की समालोचना कररहा हो? जबकि जयमंगला में कोई ऐसा सन्दर्भ या पंक्ति नहीं है, जिससे यह प्रकट होता हो, कि जयमंगला माठर की समालोचना कररही है। यह ऊपर की उद्धृत पंक्ति प्रबल प्रमाण है, कि माठरवृत्ति अपने से पहले जयमंगला को मानती है। इसलिये दोनों व्याख्याओं का यह रचनासादृश्य, माठरवृत्ति की अपेक्षा जयमंगला की प्राचीनता को प्रमाणित करने के लिये अधिक झुकता है, इससे विपरीत नहीं।"

शर्मा जी के इस लेख के सम्बन्ध में वक्तव्य है—उपर्युक्त माठर का सन्दर्भ जयमंगला के विचारों की समालोचना नहीं कररहा। शर्मा जी ने माठर के 'न यमनियमपरः केवलम्' इन पदों को मोटे टाईप में दिया है, जिससे आपका यह अभिप्राय प्रतीत होता है, कि माठर के इन पदों में जयमंगला के विचारों की समालोचना कीगई है, अथवा इनसे समालोचना की भावना प्रकट होती है। परन्तु यहां ऐसी कोई बात नहीं है। प्रतीत होता है—माठर के पाठ में 'न' पद देखकर शर्मा जी को माठर की इस पंक्ति का अर्थ समझने में भ्रम हुआ है। पंक्ति का स्पष्ठ अर्थ इसप्रकार है—जैसे, किसी को वैराग्य होगया है, परन्तु प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान नहीं हुआ है। [उसकी मुक्ति नहीं होती, इसका सम्बन्ध आगे के साथ है] बीच की उक्त पंक्ति से वैराग्य का स्वरूप दिखाया गया है। माठर कहता है—केवल इतना नहीं, कि वह व्यक्ति यम और नियम

Does it not look as if माठर were criticizing the view of जयमगला? While there is no passage or line which might show that the author of जयमंगला is cognisant of the माठरवृत्ति, the line quoted is a striking proof of माठरवृत्ति having जयमंगला before it. Therefore, the verbal agreement between these commentaries rather tends to prove the priority of जयमंगला to माठरवृत्ति, then otherwise. [Proceedings Fifth Indian Oriental Conference Lahore, 1928 H. D., P. 1034]

१. 'न तु ज्ञानमस्ति गुणपुरुषान्तराख्यम्' इतना पाठ श्रीयुत शर्मा जी ने अपने लेख में उद्धृत नहीं किया है। इसे हमने माठरवृत्ति से लेकर रखदिया है। क्योंकि अगले जयमंगला के पाठ की तुलना के लिये इसका उद्धृत कियाजाना आवश्यक था।

में ही तत्पर हो, प्रत्युत जितेन्द्रिय और विषयों से विरक्त भी हो। 'न' और 'केवल' पद इस बात पर बल देते हैं, कि वह व्यक्ति यम और नियम में तो तत्पर है ही, उससे अतिरिक्त जितेन्द्रिय और विषयों से विरक्त भी है। अभिप्राय है—जितेन्द्रिय होना विषयों से विरक्त होना और यम नियम में तत्पर होना ये सब बातें वैराग्य के लिये आवश्यक हैं। जो माठर ने 'न' और 'केवलम्' पद को रखकर प्रकट किया है, वही भाव जयमंगलाकार ने 'परि' उपसर्ग को जोड़कर प्रकट किया है। यदि जयमंगला में केवल 'यमनियमस्थितः' इतना पाठ होता, और 'विषयादिदर्शनाद् विरक्तः' यह पाठ न होता, अथवा माठर की पंक्ति में 'केवलम्' पद न होता, तो शर्मा जी का कथन किसी अंश तक विचार-योग्य होसकता था। परन्तु यहाँ दोनों बात नहीं हैं। इसलिये इन पंक्तियों में कोई ऐसा पद और भाव नहीं कहाजासकता, जिससे एक के द्वारा दूसरे की समालोचना का अभिप्राय प्रतीत होता हो। इतना ही नहीं, कि इन दोनों पंक्तियों में शब्द रचना का ही सादृश्य हो, प्रत्युत विचार भी दोनों में बिल्कुल समान हैं, फिर कौन किसकी समालोचना का क्षेत्र हो? समालोचना तो विचारविभिन्नता में स्थान पासकती है। इसलिये शर्मा जी का कथन भ्रान्ति पर आधारित होने से असंगत है।

इन उपर्युक्त पंक्तियों के रचना-सादृश्य और अर्थ-सादृश्य के आधार पर अब हम भिन्न परिणाम पर पहुंचते हैं। पीछे निर्दिष्ट कियेगये अनेक प्रमाणों से इस बात का निर्णय करचुके हैं, कि माठरवृत्ति जयमंगला से अत्यन्त प्राचीन है। एवं जयमंगला में अनेक स्थलों पर माठरवृत्ति का उपयोग कियागया है। इसप्रकार के अनेक उदाहरण पीछे दिखायेजाचुके हैं। उसी शृंखला में एक यह कड़ी भी जोड़ लेनी चाहिये। इसलिये सांख्यसप्तति की उलभ्यमान सब टीकाओं की अपेक्षा माठरवृत्ति की प्राचीनता आशंकारहित है। इसीकारण १८वीं आर्या की माठर-वृत्ति में अन्य मत का उल्लेख, उलभ्यमान व्याख्याओं के आधार पर नहीं कहा-जासकता। उस पाठ के माठरवृत्ति में आने के वे ही कारण संभव हैं, जिनका निर्देश प्रथम कर आये हैं।

माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद—

आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानों[1] ने चीन के इतिहास के आधार पर इस बात का निर्णय किया है, कि ६०३ विक्रमी संवत् अथवा ५४६ ईसवी सन् में, परमार्थ

---

१. कीथ का Samkhya system, 'दि सांख्यकारिका' नामक सप्तम प्रकरण, पृष्ठ ७८, द्वितीय संस्करण, सन् १९२४ ई०। श्रीयुत S. K. वैल्वलकर The Bhandarkar Commemoration Volume, P. 172.

नामक एक भारतीय विद्वान् ब्राह्मण आर्यसाहित्य के अनेक संस्कृत ग्रन्थों को लेकर चीन देश को गया। उन सब ग्रन्थों का उसने चीनी-भाषा में अनुवाद किया। यह सब कार्य, तात्कालिक चीन देश के राजा की प्रेरणा के अनुसार हुआ। यह लिआंग वंश का वू-टी नामक राजा था। परमार्थ के द्वारा लेजाये गये उन ग्रन्थों में ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका और उसकी एक प्राचीन व्याख्या थी, जिनका चीनी अनुवाद आज उपलब्ध है। आधुनिक काल में प्रथम कुछ विद्वानों[1] ने यह समझा, कि सांख्यकारिका की वह व्याख्या गौडपादकृत भाष्य है। परन्तु बाद में यह भूल मालूम हुई, और वह व्याख्या, माठरकृत वृत्ति निश्चित कीगई। प्रसिद्ध महाराष्ट्र विद्वान् श्रीयुत बैल्वलकर महोदय ने उस व्याख्या के चीनी अनुवाद की मूलभूत संस्कृत माठरवृत्ति के साथ तुलना[2] करके इस बात का निर्णय करदिया है, कि परमार्थ अपने साथ सांख्यकारिका की जिस व्याख्या को चीन लेगया था, वह माठरवृत्ति है[3]। इसप्रकार छठे शतक में माठरवृत्ति का चीनी भाषा में अनुवाद होने के कारण विद्वानों ने यह अनुमान किया है, कि माठरवृत्ति का रचनाकाल, पंचम शतक के प्रारम्भिक भाग से अनन्तर नहीं कहाजासकता। अर्थात् पंचम शतक का प्रारम्भ होने से पूर्व ही इसका रचनाकाल मानाजाना चाहिये।

माठरवृति का रचनाकाल—

इसका एक निर्णायक प्रमाण हम यहां और उपस्थित करते हैं। जैन सम्प्रदाय के अनुयोगद्वारसूत्र नामक ग्रन्थ में एक सन्दर्भ इसप्रकार है—

"से किं तं लोइअं नो आगमतो भावसुअं ?, २ जं इमं अण्णाणि एहिं मिच्छदिट्ठीहि सच्छन्दबुद्धिमइ विगप्पियं, तं जहा—भारहं रामायणं

---

१. बाल गंगाधर तिलक Sanskrit Research, Vol. 1, P. 108.

२. The annals of the Bhandarkar Institute, Vol. V, PP. 133-168. The Bhandarkar Commemoration Volume. PP. 172-174.

३. यह व्याख्या नागराक्षरों में तिरुपति (मद्रास) से १९४४ ई० सन् में प्रकाशित होगई है, हमने इसकी विस्तारपूर्वक तुलना, इसी अध्याय के अन्तिम भाग में की है। A.B. कीथ इस विचार को सर्वथा अशुद्ध मानता है, कि वर्तमान माठरवृत्ति का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था, The view that tne original of this comment exists in the recently discovered Mathara Vritti, is certainly wrong. 'A history of Sanskrit Literature' A. D. 1928. P. 488. परन्तु कीथ के इस लेख की निराधारता, इस प्रसंग को पढ़ लेने पर विदित होजायगी।

भीमासुरुक्कं कोडिल्लयं घोडयमुहं सगडभद्दिआउ कप्पासिअं णागसुहुमं कणगसत्तरी बेसियं वइसेसियं बुद्धसासणं लोगायतं काविलं सट्ठियंतं माढर पुराण वागरण नाडगाइ।'' [अनुयोगद्वार सूत्र ४१]

अनुयोगद्वार के इस सन्दर्भ में कुछ आर्यग्रन्थ और कुछ अन्य ग्रन्थों के नामों का निर्देश है, जो जैन सम्प्रदाय के बाहर हैं। इस सूची में 'माठर' का भी उल्लेख है। अभी तक सांख्यसप्तति की व्याख्या माठरवृत्ति के अतिरिक्त, इस नाम के अन्य किसी ग्रन्थ का पता नहीं लगा है। इस सूची में सांख्य के और भी ग्रन्थों का उल्लेख है, जिनमें एक 'कणगसत्तरी' है। यह ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यसप्तति का नाम है। कनकसप्तति, सुवर्णसप्तति अथवा हिरण्यसप्तति ये नाम चीनी[1] विद्वानों में सांख्यसप्तति के लिये पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। 'कणगसत्तरी' का सांख्यसप्तति अर्थ, अन्य[2] विद्वानों ने स्वीकार किया है। सांख्य का एक और ग्रन्थ इस सूची में 'कापिल षष्टितन्त्र' उल्लिखित कियागया है। इसीके साथ माठर का निर्देश है। इससे संभावना होती है—इस सूची में 'माठर' पद, सांख्यसप्तति की व्याख्या माठरवृत्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है। आधुनिक विद्वानों ने अनुयोगद्वार सूत्र का समय, ईसा के प्रथम शतक का अन्त निर्णय किया है। यदि इन दोनों बातों को ठीक मानाजाता है, तो यह निश्चयपूर्वक कहाजासकता है, कि माठरवृत्ति का रचनाकाल, ईसा का प्रथम शतक प्रारम्भ होने के आसपास होना चाहिये। रामायण, महाभारत, कापिल षष्टितन्त्र, सांख्यसप्तति आदि प्रसिद्धिप्राप्त ग्रन्थों की सूची में 'माठर' का उल्लेख उसकी तात्कालिक प्रसिद्धि और जनता में उसकी प्रतिष्ठा का द्योतक है। इस प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिये एक शतक का समय अत्यन्त उपयुक्त है। इसलिये ईसवी शतक प्रारम्भ होने के पूर्व ही माठरवृत्ति का रचनाकाल मानाजाना अधिक युक्तिसंगत है। श्रीयुत कविराज गोपीनाथ जी ने सांख्यसप्तति की व्याख्या जयमङ्गला की भूमिका के ८ पृष्ठ पर इन विचारों को स्वीकार किया है।

ईश्वरकृष्ण के काल का विवेचन—

इसका और अधिक निश्चय करने के लिये, सांख्यसप्तति के रचयिता ईश्वरकृष्ण के काल के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों ने जो विवेचन किया है,

---

१. तकाकुसु का लेख, जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी [G. B.] १९०८ ई० पृष्ठ ४७ पर ३ नं० टिप्पणी।

२. श्रीयुत ए० बी० ध्रुव, 'त्रिविधमनुमानम्' शीर्षक निबन्ध, "Proceedings and Transections of the first oriental congress poona" val. 2 P. 270 में प्रकाशित। श्रीयुत कविराज गोपीनाथ M. A. सांख्यसप्तति व्याख्या जयमंगला की भूमिका, पृष्ठ ७।

उसका निर्देश करदेना आवश्यक है। इस सम्बन्ध का विवेचन करने के लिये, जापान के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत तकाकुसु के लेख मौलिक आधार समझेजाते हैं। डा० तकाकुसु ईश्वरकृष्ण का काल ४५० ईसवी सन् निर्णय करता है। उसकी युक्तियों[1] का संक्षेप इसप्रकार है—

डा० तकाकुसु का मत—

(क) ५४६ और ५६९ ईसवी सन् के मध्य में, अनेक आर्य ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करनेवाले परमार्थ नामक विद्वान् ने बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु का एक जीवनचरित्र लिखा, जो वसुबन्धु के विषय में किसी तरह की जानकारी के लिये सबसे प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ है। परमार्थ लिखता है–वसुबन्धु का ८० वर्ष की आयु में देहावसान हुआ। यह देहावसान का समय, परमार्थ के चीन जाने के लिये भारतवर्ष छोड़ने से पहले होसकता है। अर्थात् परमार्थ चीन के लिये जबतक रवाना नहीं हुआ था, उसके पहले वसुबन्धु का देहावसान हो चुका था। इससे प्रतीत होता है–वसुबन्धु का समय ४२० से ४५० ईसवी सन् के मध्य होना चाहिये।

(ख) परमार्थ यह भी कहता है, कि वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को, विन्ध्यवास नामक एक सांख्य दार्शनिक ने शास्त्रार्थ में पराजित किया। वसुबन्धु अपने गुरु के पराजय-जनित कष्ट को दूर करने के लिये कुछ कर भी न सका था, कि उसके विरोधी का देहान्त होगया। इसप्रकार विन्ध्यवास, वसुबन्धु का एक वृद्धसमकालिक था, और यह बात ज्ञात है, कि विन्ध्यवास ने सांख्य पर एक ग्रन्थ की रचना की। एक बयान यह कियाजाता है, कि विन्ध्यवास, गुप्तवंशीय राजा बालादित्य का समकालिक था, और यह भी कहाजाता है, कि वह वृषगण या वार्षगण्य का शिष्य था। जबकि डेढ़ सौ वर्ष बाद का एक दूसरा वर्णन [जो कि अधिक विश्वसनीय नहीं] यह बतलाता है, कि वार्षगण्य के एक शिष्य ने 'हिरण्यसप्तति' नामक एक ग्रन्थ की रचना की। इन सब आधारों को एकत्रित करने पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं, कि विन्ध्यवास, वसुबन्धु का एक वृद्धसमकालीन था, और वृष, वृषगण अथवा वार्षगण्य का शिष्य तथा 'हिरण्यसप्तति' नामक सांख्यग्रन्थ का रचयिता था।

---

१. J. R. A. S., 1905; P. 33 ff.
तकाकुसु के लेख का यह संक्षेप हमने श्रीयुत डा० श्रीपाद कृष्ण बेल्वलकर महोदय के 'माठरवृत्ति और ईश्वरकृष्ण का काल' शीर्षक लेख के आधार पर लिखा है, जो 'भण्डारकरस्मृतिग्रन्थ' में पृष्ठ १७१ से १८४ तक पर मुद्रित है। प्रस्तुत सन्दर्भ के लिये पृष्ठ १७५ देखना चाहिये।

(ग) अब हम देखते हैं, कि चीनी भाषा में अनूदित सांख्यसप्तति की व्याख्या उपान्त्य कारिका के 'शिष्यपरम्परयागतं' पदों का विवरण करते हुए बताती है, कि सांख्यसप्तति का रचयिता ईश्वरकृष्ण है, जो कि 'पो-पो-ली' [Po-Po-Li] का शिष्य था, और यदि एक बार हम इस बात की भी कल्पना करलेते हैं, कि 'हिरण्यसप्तति', 'सांख्यसप्तति' का ही दूसरा नाम है, और चीनी शब्द 'पो-पो-ली' किसी न किसी तरह 'वर्ष'[1] पद को प्रकट करने में समर्थ होसकता है, तब विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण के एक व्यक्ति मानेजाने में कोई बाधा नहीं रहजाती, इसलिये तकाकुसु के द्वारा ईश्वरकृष्ण का उक्त समय [४५० A. D.] निर्धारित कियागया है ।

डा० तकाकुसु के मत पर श्री बैल्वलकर महोदय के विचार—

श्रीयुत डा० श्रीपाद कृष्ण बैल्वलकर महोदय, उपर्युक्त तकाकुसु के निर्णयों के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हैं—

इसप्रकार ईश्वरकृष्ण के काल का निश्चय, वसुबन्धु के प्रतिद्वन्द्वी[2] विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण की एकता पर निर्भर करता है । अब वसुबन्धु का काल आजकल एक बहुत संघर्षपूर्ण विवेचन का विषय बनचुका है । इसका एक सुगम संक्षेप, विन्सेंण्ट स्मिथ लिखित 'अर्ली हिस्ट्री' नामक ग्रन्थ के तृतीय संस्करण [१९१४] के ३२८-३४ पृष्ठों पर दियागया है । यद्यपि वस्तुस्थिति में किसी ऐसे एक सिद्धान्त की आशा करलेना व्यर्थ है, जिसके अनुसार परमार्थ, ह्यून्त्सांग, उसका शिष्य कुई-ची, इत्सिग तथा अन्य विद्वानों के चीनी वर्णनों में आये सब नाम व मतों को संतोषजनकरूप में सङ्गत कियाजासके । तथापि यह स्पष्ट है, कि उनकी युक्तियों की समानरूप से प्रवृत्ति वसुबन्धु के काल को २८० से ३६० ईसवी सन् के बीच में किसी जगह निश्चित करती है, और सब

१. तकाकुसु ने [Bulletin, 1934, P. 30. में] बड़ी खेंचातानी करके 'पो-पो-ली' शब्द से 'वर्ष' पद प्रकट किया है । 'पो-पो-ली' से 'पो-सो-ली', उससे 'पो-ली-सो', उससे व-ली-सो, उससे 'वर्ष' । डा० तकाकुसु ने ये सब परिवर्तन लेखकप्रमाद के कारण बतलाये हैं । Bhandarkar Com. Vol. पृ० १७६, टिप्पणी नं० १ ।

२. हमारे विचार में विन्ध्यवास को वसुबन्धु का प्रतिद्वन्द्वी नहीं कहना चाहिये । प्रत्युत वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र का प्रतिद्वन्द्वी कहना उचित है । विन्ध्यवास ने बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था । विन्ध्यवास और वसुबन्धु की वाद-प्रतिद्वन्द्विता का कहीं उल्लेख नहीं पायाजाता । वसुबन्धु अपने गुरु के उस अपमान को बहुत अधिक अनुभव करता रहा, और इसी प्रेरणा से 'परमार्थसप्तति' नामक ग्रन्थ उसने सांख्यसिद्धान्तों के विरोध में लिखा ।

ही वर्णनों के अनुसार यह भी निश्चय है, कि विन्ध्यवास, वसुबन्धु का वृद्ध-समकालिक था।"

श्रीयुत डा० वैल्वलकर महोदय पुनः लिखते हैं—

"परन्तु मुझे यह प्रतीत होता है, कि विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण को एक नहीं कहाजासकता। क्योंकि माठरवृत्ति से हमें प्रतीत होता है, कि ईश्वरकृष्ण के गुरु पो-पो-ली का मूल संस्कृत नाम देवल है। वृष या वृषगण नहीं। सांख्य-सप्तति की उपान्त्य कारिका के 'शिष्यपरम्परयागतम्' पदों की व्याख्या करते हुए माठर ने लिखा है—

'कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानमतः [ज्ञानम् ततः, पा०] पञ्चशिखेन तस्माद् भार्गवोलूकवाल्मीकिहारीतदेवलप्रभृतीनागतम्। ततस्तेभ्य ईश्वर-कृष्णेन प्राप्तम्। तदेव षष्टितन्त्रमार्याभिः संक्षिप्तम्।'

इसप्रकार यह बात, विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण की एकता का प्रतिपादन करनेवाले एक साधन को विचलित करदेती है।

डा० तकाकुसु और डा० वैल्वलकर के उक्त मत का निष्कर्ष—

डा० तकाकुसु और डा० वैल्वलकर महोदय के इतने लेख के एक भाग का सारांश इसप्रकार प्रकट कियाजासकता है—

श्री डा० तकाकुसु—परमार्थ के लेख के आधार पर विन्ध्यवास का गुरु वृषगण या वार्षगण्य था, ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यसप्तति की उपान्त्य कारिका की चीनी भाषा में अनूदित टीका के आधार पर ईश्वरकृष्ण के गुरु का नाम 'पो-पो-ली' प्रतीत होता है। और पो-पो-ली पद यथाकथञ्चित् 'वर्ष' पद को प्रकट करता है; वर्ष, वृषगण तथा वार्षगण्य के एकरूप होने से, एवं विन्ध्यवास के सांख्यविषयक ग्रन्थ के रचयिता होने से यह परिणाम निकलता है, कि ईश्वर-कृष्ण और विन्ध्यवास एक ही व्यक्ति के नाम थे।

श्री डा० वैल्वलकर—सांख्यसप्तति की उपान्त्य कारिका की माठरवृत्ति से प्रतीत होता है–चीनी अनुवाद के 'पो-पो-ली' पद का मूल संस्कृतरूप देवल है, इसलिये ईश्वरकृष्ण का गुरु देवल था, वर्ष या वृषगण नहीं। यह होसकता है, कि परमार्थ के लेख के आधार पर विन्ध्यवास के गुरु का नाम वर्ष, वृषगण अथवा वार्षगण्य हो। इसलिये ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास को एक व्यक्ति नहीं कहाजासकता।

उक्त विद्वानों के इन विचारों की समीक्षा—

हम श्रीयुत डा० वैल्वलकर महोदय के इस मत से सर्वथा सहमत हैं, कि ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास एक व्यक्ति नहीं कहेजासकते। इसके लिये डाक्टर

महोदय ने जो युक्तियां दी हैं, उनके अतिरिक्त हम केवल एक बात यहां अवश्य लिखदेना चाहते हैं। वह यह है–विन्ध्यवास के नाम से दार्शनिक ग्रन्थों में अनेक मत उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं। विन्ध्यवास के विचार अब इतने अन्धकार में नहीं हैं, कि उनकी तुलना न कीजासके। ऐसे कुछ मतों का निर्देश प्रसंगवश इसी प्रकरण में आगे किया है। हम देखते हैं–विन्ध्यवास के नाम से उद्धृत मतों में से एक भी मत ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति में उपलब्ध नहीं होता। इतना ही नहीं, प्रत्युत उस सम्बन्ध में ईश्वरकृष्ण के मत, विन्ध्यवास के मतों से सर्वथा भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास को एक कहना सर्वथा निराधार है। यह केवल डा० तकाकुसु का साहस है, कि वे फिर भी इन दोनों आचार्यों को एक बना सकने के लिये कटिबद्ध होगये।

श्रीयुत डा० वैल्वलकर और डा० तकाकुसु इन दोनों विद्वानों ने ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास के गुरुओं के नामों का जो निर्णय अथवा अनुमान किया है, वह संगत नहीं है। उक्त दोनों विद्वानों के लेखों से यह स्पष्ट होता है, कि उन्होंने यहां 'गुरु' पद का प्रयोग उपाध्याय अथवा अध्यापक के अर्थ में किया है, जिसका अभिप्राय यह होता है, कि ईश्वरकृष्ण ने देवल से तथा विन्ध्यवास ने वर्ष अथवा[1] वार्षगण्य से विद्याध्ययन किया था[2]। परन्तु यह कथन निराधार तथा असंगत है। पहले हम ईश्वरकृष्ण और देवल के सम्बन्ध में विवेचन करदेना चाहते हैं।

---

१. डा० तकाकुसु का अभिप्राय वर्ष, वृष, वृषगण तथा वार्षगण्य पदों से एक ही व्यक्ति के बोध होने का प्रतीत होता है, इसलिये अब इस सम्बन्ध में हम केवल वार्षगण्य पद का प्रयोग करेंगे। यहां एक यह बात भी जान लेनी चाहिये, कि देवल और वार्षगण्य के साथ, ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास के सम्बन्ध को लेकर, हम 'अध्यापक' पद का प्रयोग करेंगे 'गुरु' पद का नहीं। क्योंकि उक्त दोनों विद्वानों ने 'गुरु' पद का प्रयोग यहां इसी अर्थ में किया है। और 'गुरु' पद की शक्ति एक और अर्थ में भी है, जिसका हम अभी आगे निर्देश करेंगे।

२. डा० कीथ महोदय ने भी विन्ध्यवास के सम्बन्ध में अपना यही मत प्रकट किया है। वह लिखता है—From Budhist sources we hear of an older contemporary of Vasubandhu(c.320), Varsganya, who wrote a Sastitantra on the Samkhya; his pupil Vindhyavasa corrected his master's views in a set of seventy verses known as the Golden Seventy verses, which Vasubandhu criticised in his 'Paramartha Saptati'. It is natural to identify Vindnyavasa with Isvaraksisna and, though the identity is unproven, it is not improbable.' 'A History of Sanskrit Literature' by Kieth, 1928. P. 488.

श्रीयुत डा० वैल्वलकर महोदय ने माठरवृत्ति की जिन पंक्तियों के आधार पर देवल को ईश्वरकृष्ण का अध्यापक बताया है, वे निम्नलिखित हैं—

"कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानम्, ततः पञ्चशिखेन, तस्मात् भार्गवोलूक-वाल्मीकिहारीतदेवलप्रभृतीनागतम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्। तदेव षष्टितन्त्रमार्याभिः संक्षिप्तम्।"

इस सन्दर्भ के प्रत्येक पद को जब हम गम्भीरतापूर्वक देखते हैं, तो स्पष्ट प्रतीत होजाता है, कि देवल किसी तरह भी ईश्वरकृष्ण का अध्यापक नहीं कहाजासकता। इसके लिये प्रारम्भ से ही इस सन्दर्भ को विवेचनापूर्वक देखने की आवश्यकता है। यहाँ पहला वाक्य है–'कपिलादासुरिणा प्राप्तम्' इस वाक्य में 'कपिलात्' यह एकवचनान्त प्रयोग है। इसके आगे दूसरा वाक्य आता है–'ततः पञ्चशिखेन (प्राप्तम्) इसका अर्थ यह है–'आसुरेः पञ्चशिखेन प्राप्तम्,' इस वाक्य में भी 'ततः'–[आसुरेः]' यह अध्यापक के लिये एकवचनान्त पद का प्रयोग हुआ है। आगे तीसरा वाक्य आता है–'तस्मात् भार्गवो०–०देवलप्रभृती-नागतम्' इस वाक्य में भी 'तस्मात्' यह एकवचनान्त सर्वनाम पञ्चशिख के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसके आगे चौथा वाक्य आता है–'ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्'। इस वाक्य में 'ततः' पद आनन्तर्य का बोधक है। और 'तेभ्यः' यह बहुवचनान्त सर्वनाम पूर्वोक्त भार्गव आदि सब आचार्यों का निर्देश करता है। यह केवल एक देवल का बोधक नहीं होसकता। इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है, कि पूर्वोक्त अनेक आचार्यों की परम्परा के अनन्तर, उस ज्ञानप्रतिपादक शास्त्र को ईश्वरकृष्ण ने प्राप्त किया। 'देवल' पद के आगे पठित 'प्रभृति' पद इस विचार को अत्यन्त स्पष्ट और दृढ़ करदेता है, कि देवल तथा ईश्वरकृष्ण के मध्य में और भी अनेक[1] सांख्याचार्य होचुके हैं। वस्तुतः देवल, ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन आचार्य है। महाभारत[2] में भी इसका उल्लेख आता है।

---

१. यद्यपि माठर व्याख्या में भार्गव आदि पांच आचार्यों के नाम हैं। पर इससे यह समझना, कि पञ्चशिख से ईश्वरकृष्ण तक की साक्षात् गुरु-शिष्य परम्परा के ये नाम हैं, नितान्त भ्रान्त तथा निराधार है। क्योंकि अन्य व्याख्याग्रन्थों में इस परम्परा के अनेक आचार्यों का उल्लेख कियागया है। फिर भी यह निश्चय है, कि आचार्यों की यह सूची पूर्ण नहीं कहीजासकती। जयमंगला व्याख्या–गर्ग, गौतम। युक्तिदीपिका व्याख्या–जनक, वशिष्ठ··· हारीत, बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर [अथवा ऋषभ, ईश्वर] पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य, कौण्डिन्य, मूकादिक (?), इनका उल्लेख हम द्वितीय और चतुर्थ प्रकरण में भी कर आये हैं।

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २८१। [कुम्भघोणं संस्करण]

इसलिये देवल को ईश्वरकृष्ण का अध्यापक समझना सर्वथा निराधार और असंगत है। एवं माठर का उक्त सन्दर्भ उससे विपरीत अर्थ को ही प्रकट करता है, अर्थात् देवल को ईश्वरकृष्ण का अध्यापक नहीं कहाजासकता।

यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, कि पञ्चशिख और भार्गव के मध्य में अन्य आचार्य रहे हों। युक्तिदीपिका की एक पंक्ति से प्रतीत होता है—जनक और वशिष्ठ, पञ्चशिख के साक्षात् शिष्यों में से थे। सांख्यसप्तति की ७०वीं आर्या के 'बहुधा कृतं तन्त्रम्' पदों की व्याख्या करते हुए युक्तिदीपिकाकार ने लिखा है—**'बहुभ्यो जनकवशिष्ठादिभ्यः समाख्यातम्'**। महाभारत,[1] शान्तिपर्व के २२०–२२२ तक के तीन अध्यायों में पञ्चशिख-जनक सम्वाद का उल्लेख है। जिससे प्रतीत होता है—पञ्चशिख ने जनक को सांख्यशास्त्र का उपदेश दिया। इसके अतिरिक्त एक और स्थल—महाभारत शान्तिपर्व के सुलभा-जनक-सम्वाद—में स्वयं जनक की उक्ति के रूप से दो श्लोक इसप्रकार आते हैं—

> [2]"पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
> भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसंमतः॥
> सांख्यज्ञाने च योगे च महीपालविधौ तथा।
> त्रिविधे मोक्षधर्मेऽस्मिन् शताध्वा छिन्नसंशयः॥
> [महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३२५, श्लो० २४-२५]

इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है—जनक, पञ्चशिख के साक्षात् शिष्यों में से एक था। अब यदि हम माठरवृत्ति में पठित सांख्याचार्यों की सूची को गम्भीरता-पूर्वक देखें, तो स्पष्ट होजायगा, कि यह सूची आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा का द्योतन नहीं करती। इसलिये पञ्चशिख और ईश्वरकृष्ण के मध्य में ये ही पाँच सांख्याचार्य हुए हैं, ऐसा कहना केवल उपहासास्पद होगा। इसीप्रकार देवल और ईश्वरकृष्ण के मध्य में किसी आचार्य को न मानना भी प्रमाणविरुद्ध और

---

१. यह निर्देश कुम्भघोणं संस्करण के आधार पर कियागया है।

२. पराशर गोत्रोत्पन्न वृद्ध श्रेष्ठ महात्मा भिक्षु पञ्चशिख का मैं (जनक) अत्यन्त प्रतिष्ठित शिष्य हैं। इस पद्य में पञ्चशिख के विशेषण, विशेष ध्यान देने योग्य हैं। प्रतीत होता है, जनक से मिलने के समय पञ्चशिख अपनी आयु के अन्तिम भाग को भोग रहे थे, इस समय तक उनके महात्म्य की प्रतिष्ठा एक उच्च सीमा तक पहुँचचुकी थी, यह जनक मिथिला का राजा था, और इसका दूसरा सांस्कारिका नाम जनदेव था। (म. भा., शान्ति, अ० २२०। तथा दृहन्नारदीय पु० ४२)। यहाँ पर सांख्ययोग का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है, कि यह पञ्चशिख सांख्याचार्य हैं, अन्य कोई पञ्चशिख नहीं। महाभारत का यह निर्देश कुम्भघोणं संस्करण के आधार पर है।

असंगत है। ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा देवल अतिप्राचीन आचार्य है, यह बात प्रमाणान्तरों से सिद्ध है। महाभारत में अनेकत्र[1] देवल का विवरण उपलब्ध है।

उक्त आधारों पर यह निश्चित होजाता है, कि चीनी शब्द 'पो-पो-ली' का मूल संस्कृतरूप 'देवल' नहीं कहाजासकता। तब इसका संस्कृतरूप क्या है? यह विचारणीय है। श्रीयुत डॉ० तकाकुसु के अनुसार इस पद का वर्ष या वार्षगण्य अर्थ समझना तो अत्यन्त उपहासास्पद है। क्योंकि उन्होंने पो-पो-ली से 'वर्ष' पद की कल्पना केवल लेखक प्रमाद के आधार पर की है, जिसका कहीं किसीप्रकार का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसका विचार करने से पूर्व 'गुरु' पद के सम्बन्ध में एक निर्देश करदेना आवश्यक है।

'गुरु' पद किन अर्थों में प्रयुक्त होता है—

'गुरु' पद के अन्य अनेक अर्थ होने पर भी जब हम इसका 'शिक्षक' अर्थ समझते हैं, यह पृथक् दो भावनाओं के आधार पर प्रयुक्त कियाजाता है। एक अध्यापक की भावना से, और दूसरे अपने अभिमत सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक की भावना से। हमारा अभिप्राय है—जिसप्रकार अपने अध्यापक के लिये 'गुरु' का पद का प्रयोग होता है, उसीप्रकार अपने अभिमत सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य अथवा ऋषि के लिये भी 'गुरु' पद का प्रयोग होता है। 'गुरु' पद की इन दोनों अर्थों में शक्ति है। आज भी सिक्ख सम्प्रदाय का प्रत्येक व्यक्ति, गुरु नानकदेव अथवा गुरु गोविन्दसिंह को अपना 'गुरु' मानता और कहता है। जबकि यह निश्चित है, कि उनमें से किसी भी व्यक्ति ने उन गुरुओं के सन्मुख बैठकर अध्ययन नहीं किया है, प्रत्युत वे केवल उनकी शिक्षा और उपदेशों के अनुयायी हैं। इसी तरह आर्यसमाज के व्यक्ति, ऋषि दयानन्द को अपना गुरु मानते और कहते हैं। दण्डी संन्यासियों में अभी तक यह प्रथा है, कि वे संन्यास की दीक्षा के समय ब्रह्मा से लेकर शंकराचार्य तक अनेक नामों का उच्चारण करते हैं, और उनके साथ 'गुरु' पद का प्रयोग करते हैं। वे नाम उन्हीं व्यक्तियों के हैं, जिनको वे अपने सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक या प्रतिष्ठापक समझते हैं। सम्भवतः डॉ० तकाकुसु और डॉ० वैल्वलकर महोदय ने 'गुरु' पद के इस अर्थ की ओर ध्यान न देकर अपने आपको भ्रान्ति का शिकार बनालिया है।

ईश्वरकृष्ण का साम्प्रदायिक गुरु कपिल—

'गुरु' पद के इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए हम चीनी पद 'पो-पो-ली' का मूल संस्कृतरूप समझने में अधिक समर्थ होजाते हैं, और इसका वह रूप 'कपिल'

---

१. द्रष्टव्य, आदि० ६६।२६; ५३।८; १८२।२॥ उद्योग० ८३।६४॥ शान्ति० ११४; तथा अध्याय २२०॥

है। 'कपिल' पद अपने उच्चारण के अनुसार वर्ष और देवल पदों की अपेक्षा चीनी पद के अत्यन्त समीप है। ईश्वरकृष्ण ने स्वयं अपनी अन्तिम चार कारिकाओं के द्वारा इस अर्थ को स्पष्ट किया है, कि जिस षष्टितन्त्र का मैंने संक्षेप किया है, सर्वप्रथम महर्षि कपिल ने उसका प्रवचन किया, और कपिल का वही तन्त्र अनेक आचार्यों की परम्परा के द्वारा मुझ तक प्राप्त[1] हुआ है। ईश्वरकृष्ण के इसी भाव को माठर ने अपनी उक्त पंक्तियों में स्पष्ट किया है। उसमें शास्त्र के प्रवर्त्तक कपिल का सर्वप्रथम नाम-निर्देश कियागया हैं। उसके अनन्तर दो नाम आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा के हैं। अनन्तर कुछ मुख्य आचार्यों के नाम निर्दिष्ट करके 'तेभ्यः' इस बहुवचनान्त सर्वनाम के द्वारा यह अर्थ स्पष्ट किया है, कि जिन्होंने सांख्य की इस धारा को अभी तक अविच्छिन्न रक्खा है, उन सब सांख्याचार्य्यो की कृपा के आधार पर मुझ ईश्वरकृष्ण ने यह शास्त्र प्राप्त किया। इसप्रकार ईश्वरकृष्ण ने जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया है, उसका सम्बन्ध साक्षात् 'कपिल' से बताकर वह इस बात को स्पष्ट करदेता है, कि मेरा परम गुरु कपिल है।

सांख्यसप्तति के चीनी अनुवाद में इसी 'कपिल' को 'पो-पो-ली' पदों से निर्दिष्ट किया प्रतीत होता है। सांख्यसप्तति की टीका माठरवृत्ति का चीनी भाषा में अनुवाद कियागया था, यह निश्चित होचुका है। माठरवृत्ति में सर्वप्रथम सांख्याचार्य कपिल का साक्षात् निर्देश है—'कपिलादासुरिणा प्राप्तम्'। परम्परा का मूल आचार्य होने के कारण, तथा ईश्वरकृष्ण को प्राप्त सांख्यज्ञान का कपिल से सम्बन्ध होने के कारण, कपिल को ईश्वरकृष्ण का साम्प्रदायिक गुरु कहना सर्वथा उपयुक्त है। इसलिये चीनी अनुवाद में 'कपिल' पद का 'पो-पो-ली' रूपान्तर हुआ है, यह निश्चित समझना चाहिये।

आज सांख्यकारिका की व्याख्या के चीनी अनुवाद का संस्कृत रूपान्तर हमारे सन्मुख है। वहां सांख्याचार्यों की परम्परा की सूची में ईश्वरकृष्ण के पूर्ववर्ती आचार्य का देवल नाम न देकर वार्षगण्य का उल्लेख है। माठर-पठित देवल के स्थान पर अनुवाद में वार्षगण्य का नाम कैसे आगया ? इसके लिये दो भ्रान्तिस्थल होसकते हैं। या तो इस सम्बन्ध में परमार्थ को भ्रम हुआ, या फिर चीनी अनुवाद के वर्त्तमान संस्कृतरूपान्तरकार श्री अय्यास्वामी इस भ्रान्ति के शिकार हुए हैं। इसके लिये क्रमशः हमारे निम्नलिखित अनुमान विवेचनीय हैं—

(१) परमार्थ ने जो वसुबन्धु का चरित लिखा है, वह कुमारजीव

---

१. इस प्रसंग को विस्तारपूर्वक हमने 'कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र' नामक द्वितीय अध्याय में लिखा है। अतः यहां केवल उसका निर्देश करदियागया है।

[४०० A. D.] रचित वसुबन्धुचरित के आधार पर है। वहां विन्ध्यवास का गुरु वार्षगण्य को बतायागया है। यद्यपि कुमारजीव का इस सम्बन्ध का साक्षात् लेख हमारे सम्मुख नहीं है, तथापि हमारी धारणा है, कि उसने वार्षगण्य + विन्ध्यवास के साम्प्रदायिक सम्बन्ध का उल्लेख किया है। कदाचित् उसकी वास्तविकता को न समझकर परमार्थ ने उनको साक्षात् अध्यापक और शिष्य समझकर, और यह जानकर कि विन्ध्यवास सांख्य का प्रसिद्ध आचार्य था, सांख्याचार्यों की सूची में उसके गुरु वार्षगण्य का नाम जोड़दिया, और विन्ध्यवास को ईश्वरकृष्ण समझ लियागया। इसप्रकार यह इस सन्देह का जनक होगया, कि ईश्वरकृष्ण का गुरु वार्षगण्य होना चाहिये।

अगले पृष्ठों में हमने इसको अत्यन्त स्पष्ट किया है, कि ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास सर्वथा भिन्न आचार्य थे। वार्षगण्य, सांख्य के अन्तर्गत एक विशिष्ट सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक था, विन्ध्यवास उसी सम्प्रदाय का अनुयायी था। परन्तु ईश्वरकृष्ण सांख्य की कपिल-प्रवर्तित मुख्यधारा का अनुयायी था। ऐसी स्थिति में यदि चीनी पद 'पो-पो'-ली' का अर्थ वार्षगण्य कियाजाता है, और ईश्वरकृष्ण के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ाजाता है, तो यह चीनी अनुवादक परमार्थ की अनभिज्ञता का परिचायक होसकता है। क्योंकि वार्षगण्य सांख्याचार्यों में भले हो, और सांख्याचार्यों की साधारण सूची में अवश्य उसे उपस्थापित कियाजाय, परन्तु ईश्वरकृष्ण, सांख्यसम्प्रदाय की जिस मुख्य परम्परा से सम्बद्ध है, वार्षगण्य उसमें नहीं है। इसलिये हमारा अभिप्राय केवल इतना है, कि 'पो-पो'-ली' पद के आधार पर न तो ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास को एक सिद्ध कियाजासकता है, और न इससे यही सिद्ध होता है, कि वार्षगण्य विन्ध्यवास का साक्षात् अध्यापक था। ईश्वरकृष्ण का अध्यापक तो वार्षगण्य को किसी अवस्था में नहीं कहा जासकता, क्योंकि ईश्वरकृष्ण ने अपनी रचना का आधार कपिल की रचना को बताकर कपिल को अपना परमगुरु ध्वनित किया है। वार्षगण्य के अनेक मतों के साथ ईश्वरकृष्ण का विरोध है।

(२) इन सब स्थितियों में हमें परमार्थ के द्वारा ऐसी स्थूल भ्रान्ति के होजाने की आशा नहीं होती। अधिक सम्भावना यही है—कदाचित् इस विषय में श्रीयुत अय्यास्वामी शास्त्री ने ठोकर खाई है। प्रतीत होता है—सांख्यसप्तति के चीनी अनुवाद का वर्त्तमान संस्कृतरूपान्तर करते हुए, आपने डॉ० तकाकुसु के विचारों से प्रभावित होकर माठरवृत्ति के 'देवल' पद की उपेक्षा कर उसके स्थान पर 'वार्षगण्य' पद का निर्देश करदिया। सचमुच यह मूल के साथ अनर्थ हुआ है। क्योंकि इस प्रसंग में 'पो-पो'-ली' पद का वार्षगण्य अर्थ कियाजाना सर्वथा असंगत है।

'पो-पो-ली' पद के प्रथम 'पो' वर्ण का प्रयोग 'क' उच्चारण के लिये

कियागया है। द्वितीय 'पो' वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा का निर्देश चीनी विद्वानों ने किया है, जो उस वर्ण के 'प' उच्चारण को सूचित करता है। रेखारहित चीनी 'पो' वर्ण का उच्चारण 'क' अन्यत्र भी देखाजाता है। बील[1] के चीनी यात्रावर्णनों के संग्रह में 'पार्श्विक' पद का चीनी रूप 'पि-लो-शि-पो' (Pi-Lo-Shi-Po) दियागया है। यहां अन्तिम 'पो' पद 'क' उच्चारण के लिये है। इसप्रकार सांख्यसप्तति के इस प्रसंग का 'पो-पो-ली' पद 'कपिल के लिये प्रयुक्त हुआ कहाजासकता है।

इसके लिये हमारा कोई विशेष आग्रह नहीं है। उक्त चीनी पद का 'देवल' रूपान्तर मानेजाने पर हम इतना अवश्य कहेंगे, कि देवल को ईश्वरकृष्ण का साक्षात् अध्यापक नहीं मानाजासकता।

विन्ध्यवास का साम्प्रदायिक गुरु, वार्षगण्य—

इसी आधार पर विन्ध्यवास के गुरु वार्षगण्य का ठीक पता लगासकते हैं। परमार्थ ने अपने ग्रन्थ में विन्ध्यवास के गुरु का नाम वार्षगण्य बताया है। यह वार्षगण्य विन्ध्यवास का साम्प्रदायिक गुरु है, अध्यापक नहीं। सांख्यशास्त्र के अध्येता इस बात को अच्छी तरह जानते हैं–महर्षि कपिल ने सांख्य के जिन सिद्धान्तों का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया, अनन्तर होनेवाले अनेक आचार्यों ने उन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अपने कुछ विशेष विचार[2] प्रकट किये हैं। उन विशेषताओं के कारण सांख्य के अन्तर्गत उन आचार्यों के अवान्तर सम्प्रदाय बनगये हैं। ऐसे आचार्यों में एक मुख्य आचार्य वार्षगण्य हैं। विन्ध्यवास, सांख्य के अन्तर्गत वार्षगण्य के अवान्तर सम्प्रदाय का अनुयायी था। यद्यपि वार्षगण्य और विन्ध्यवास के कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। जो कुछ थोड़े वाक्य इनके नामों पर दार्शनिक ग्रन्थों में इधर-उधर बिखरे हुए मिलते हैं, वे इस निर्णय के लिये वस्तुतः अपर्याप्त हैं, फिर भी जो कुछ सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर ऐसे प्रमाण मिलगये हैं, जिनसे यह स्पष्ट होजाता है, कि वार्षगण्य के अनेक मतों में विन्ध्यवास का ऐकमत्य है। उनमें से एक दो मत आगे उद्धृत कियेजाते हैं—

---

१. Si-yu-ki, Buddhist Records of the Western World, By Samuel Beal. Vol, I, P. 104.

२. कपिल के प्रशिष्य पञ्चशिख ने कुछ विचारों में अपना मतभेद प्रकट किया, जो कपिल के सामने होचुका था। कपिल ने अपने प्रशिष्य की इस बुद्धिविलक्षणता को प्रसन्नतापूर्वक अपने ग्रन्थ में स्थान दिया। सनन्दनाचार्य तो कपिल के साथियों में से थे, उनके एक मत का कपिल ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। [देखें सांख्यदर्शन, अ० ६, सू० ६९]

(१) "करणं...एकादशविधिमिति वार्षगणाः ।"[१]

[युक्तिदीपिका, पृ० १३२, पं० २८]

"करणमपि...एकादशकमिति विन्ध्यवासी ।"

[युक्तिदीपिका, पृ० १०८, पं० ११]

सांख्य के अध्येता जानते हैं–कापिल सांख्य में करण १३ मानेगये हैं ।

५ ज्ञानेन्द्रिय ५ कर्मेन्द्रिय	बाह्यकरण	= १०
३ अन्तःकरण = बुद्धि, अहंकार, मन		= ३
१३		१३

"करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ।" [सांख्यदर्शन २।३८]

"करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।"

[सांख्यसप्तति, का० ३२]

परन्तु इस सम्बन्ध में कापिल विचारों के विपरीत वार्षगण्य ने तीन अन्तःकरणों के स्थान पर एकमात्र 'बुद्धि' अन्तःकरण को स्वीकार कर करणों की ११ संख्या मानी है । उसीके अनुसार विन्ध्यवासी ११ करण स्वीकार करता है, जैसा ऊपर उद्धृत वाक्यों से स्पष्ट है ।

(२) सांख्यसप्तति की ५वीं कारिका की अवतरणिका में युक्तिदीपिकाकार ने अनेक आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष लक्षणों का निर्देश करते हुए लिखा है—

---

१. यहाँ 'वार्षगणाः' और 'वार्षगण्य' पदों के सम्बन्ध में कुछ निर्देश कर देना आवश्यक है । इनका मूल पद 'वृषगण' है । 'वृषगण' पिता और 'वार्षगण्य' पुत्र है । पाणिनि के गर्गादि [४।१।१०५] गण में 'वृषगण' पद का पाठ है । अपत्य अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय होकर 'वृषगण' से 'वार्षगण्य' बनता है । वृषगण' और 'वार्षगण्य' इन दोनों पदों से 'अधीत, वेद' अर्थ में 'अण्' [४।२।५९] प्रत्यय होकर एक वचन में 'वार्षगणः' और बहुवचन में 'वार्षगणाः' पद सिद्ध होता है । इससे प्रतीत होता है–'वृषगण' और 'वार्षगण्य' अर्थात् पिता-पुत्र, सांख्य के अन्तर्गत उन विशेष सिद्धान्तों के प्रवर्त्तक हैं । इनमें 'वृषगण' कम और 'वार्षगण्य' अधिक प्रसिद्ध है । 'वार्षगणः' अथवा 'वार्षगणाः' केवल उनके अनुयायी कहेजाते हैं । इसलिये इन नामों से उद्धृत मत भी 'वार्षगण्य' के समझने चाहियें । अनुयायी के अर्थ में 'वार्षगणः' यह एकवचनान्त प्रयोग असामञ्जस्यपूर्ण प्रतीत होता है ।

श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः ।"[1] [पृ० ३६, पं० १८, १९]

इसी लक्षण का प्रत्याख्यान, उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक [१।१।४] में किया है ।

"तथा-श्रोत्रादिवृत्तिरिति । किं कारणम् ? पञ्चपदपरिग्रहेण प्रत्यक्षलक्षण-मुक्तं यत्रान्यतरपदपरिग्रहो नास्ति, तत् प्रत्यक्षाभासमिति ।"

[पृ० ४३, पं० १० चौखम्बा संस्करण]

उस पर व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

"वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह-श्रोत्रादिवृत्तिरिति ।"

[न्या० वा० ता०, पृ० १५५, पं० १९, लाजरस संस्करण]

वाचस्पति मिश्र के लेख से प्रतीत होता है-वह इस प्रत्यक्ष-लक्षण को वार्षगण्य[2] का समझता है । अनेक आचार्यों[3] ने अपने ग्रन्थों में इस लक्षण का उल्लेख कर खण्डन किया है, परन्तु उन्होंने लक्षण के रचयिता का नाम निर्दिष्ट नहीं किया ।[4] कहीं केवल सांख्य पद का उल्लेख कियागया है ।

जैनग्रन्थ 'सन्मतितर्क' के व्याख्याकार अभयदेव सूरि ने अपनी व्याख्या के पृष्ठ ५३३ की दूसरी पंक्ति में इसी प्रत्यक्षलक्षण को विन्ध्यवासी का बताया है । वह लिखता है—

"श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका, इति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणम् ।"

यद्यपि उपर्युक्त लक्षण में 'अविकल्पिका' पद नहीं है, तथापि मूल लक्षण में इससे कोई भेद नहीं आता । तत्त्वोपप्लव, न्यायमञ्जरी, और प्रमाणमीमांसा में यही पाठ है । प्रमाणमीमांसा के उल्लेख से यह भी ध्वनित होता है, कि वह इसी पाठ के साथ इस लक्षण को वार्षगण्य का समझता है । उसका पाठ इसप्रकार है—

"श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षमिति वृद्धसांख्याः । प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टमिति प्रत्यक्षलक्षणमितीश्वरकृष्णः" इत्यादि । [पृ० ३९, पं० ७-१७]

---

१. युक्तिदीपिका के विद्वान् सम्पादक महोदय ने युक्तिदीपिका में उभयवचनान्त पदों का प्रयोग बताया है । परन्तु जो स्थल उन्होंने एकवचनान्त प्रयोग के निर्दिष्ट किये हैं, वस्तुतः वे भी बहुवचनान्त हैं, समासादि के कारण वहाँ विभक्ति अदृष्ट होने से सम्भवतः उन्हें भ्रम होगया है ।

२. 'वार्षगणाः' और 'वार्षगण्य' के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठ की टिप्पणी देखें ।

३. तत्त्वोपप्लव, पृ० ८१, पं० ५ । न्यायमञ्जरी, पृ० १००, पं० १३ । तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १८७, पं० २६-३२ । प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ६, पं० ७-१४, स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ३४३, पं० १-४ । प्रमाणमीमांसा पृ० १०३९ पं० ७-१७ ।

४. उपर्युक्त (३) चिह्नित टिप्पणी के अन्तिम चार ग्रन्थों में ।

इस सन्दर्भ के दूसरे वाक्य में ईश्वरकृष्ण के प्रत्यक्षलक्षण का निर्देश है। पहली पंक्ति के लक्षण को 'वृद्धसांख्याः' कहकर निर्देश किया है। यहाँ 'वृद्धसांख्याः' पद से विन्ध्यवासी का ग्रहण नहीं कियाजासकता। यह बात निश्चित है—विन्ध्यवासी, ईश्वरकृष्ण से पश्चाद्भावी आचार्य है। सम्भव है, इस बात से प्रमाणमीमांसाकार परिचित रहा हो। ऐसी स्थिति में ईश्वरकृष्ण की प्रतियोगिता में विन्ध्यवास को 'वृद्धसांख्याः' पद से नहीं कहाजासकता था। इससे स्पष्ट है—प्रमाणमीमांसाकार इस लक्षण का रचयिता वार्षगण्य को समझता है। इसप्रकार इन दोनों पाठों के साथ हमारे पक्ष में यही परिणाम निकलता है, कि वार्षगण्य ने प्रत्यक्ष का जो लक्षण किया, विन्ध्यदास ने उसीको स्वीकारा है, परन्तु ईश्वरकृष्ण का प्रत्यक्षलक्षण उससे भिन्न है।

(३) इसकी पुष्टि में एक अन्य प्रमाण है। युक्तिदीपिका के चौथे पृष्ठ की ७वीं पंक्ति से एक सन्दर्भ इसप्रकार प्रारम्भ होता है—

"किञ्च[1] तन्त्रान्तरोक्तेः, तन्त्रान्तरेषु हि विन्ध्यवासिप्रभृतिभिराचार्यैरुपदिष्टाः, प्रमाणं नः ते आचार्या इत्यतश्चानुपदेशो जिज्ञासादीनामिति।"

---

१. यहाँ प्रसंग यह है, (प्रश्न) इस शास्त्र [अर्थात् कारिकाओं] में जिज्ञासा आदि अनुमान के अवयवों का निर्देश क्यों नहीं कियागया ? (उत्तर) यद्यपि शास्त्र में उनको स्वीकार कियागया है, तथापि जिज्ञासा आदि अनुमान के अंग हैं, इसलिये वे अनुमान में अन्तर्भूत हैं, अतः उनका पृथक् उपदेश नहीं किया। इस प्रसंग के अनन्तर यह सन्दर्भ प्रारम्भ होता है। जिसका अभिप्राय है—जिज्ञासा आदि के सम्बन्ध में उक्त कथन के अतिरिक्त यह बात है, कि तन्त्रान्तर में विन्ध्यवास आदि आचार्यों ने इनका उपदेश किया हुआ है, और वे आचार्य हमारे लिये प्रमाण हैं। इसलिये यहाँ जिज्ञासा आदि का उपदेश करने की आवश्यकता नहीं। यह कथन प्रथम सन्दर्भ में समाप्त होता है। इसीके आधार पर द्वितीय सन्दर्भ में यह प्रश्न उपस्थित किया है—यदि तन्त्रान्तर में विन्ध्यवासी आदि आचार्यों के द्वारा जिज्ञासा आदि का उपदेश होने से यहाँ [इन कारिकाओं में] उनका निर्देश नहीं कियागया, तो तन्त्रान्तर में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का भी उपदेश कियागया है, उनको भी यहाँ निर्दिष्ट न करना चाहिये। तन्त्रान्तर में जिस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का उपदेश कियागया है, उसको युक्तिदीपिका में 'श्रोत्रादिवृत्तिः' यहाँ से लेकर 'आप्तवचनम्' यहाँ तक के उद्धृत सन्दर्भ से प्रदर्शित किया है।

इस प्रसंग में एक और आशंका इस रूप में उपस्थित कीजासकती है—यह निश्चित मत है, कि विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण से अर्वाचीन है। तब

इसके अनन्तर दूसरा सन्दर्भ प्रारम्भ होता है—

"आह—न, प्रमाणानुपदेशप्रसंगात् । यदि च तन्त्रान्तरोपदेशादेवावयवानामनुपदेशः, प्रत्यक्षादीन्यपि च तन्त्रान्तरेषूपदिश्यन्ते—'श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम् । सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम् । यो यत्राभियुक्तः कर्मणि चादुष्टः, स तत्राप्तः, तस्योपदेश आप्तवचनम्' इति, तेषामप्यनुपदेशप्रसंगः ।"

इन सन्दर्भों के पर्यालोचन से स्पष्ट होता है—जिस आचार्य विन्ध्यवासी ने तन्त्रान्तर[1] में जिज्ञासा आदि का उपदेश किया है, उसी तन्त्रान्तर में 'श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्' इत्यादि प्रमाणों का उपदेश कियागया है । इससे सिद्ध है—युक्तिदीपिकाकार ने यहाँ विन्ध्यवास के प्रत्यक्षादि लक्षणों का निर्देश किया है । इनमें से प्रत्यक्षलक्षण के सम्बन्ध में हम संख्या (२) पर विवेचना कर चुके हैं । अब अनुमान-लक्षण के सम्बन्ध में दोनों आचार्यों (वार्षगण्य और विन्ध्यवास) के लेखों की तुलना कीजाती है । युक्तिदीपिकाकार के उक्त सन्दर्भ के आधार पर—

"सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्"

यह अनुमान का लक्षण विन्ध्यवासी-निर्दिष्ट सिद्ध होता है । उद्योतकर ने न्यायवार्तिक [१।१५] में इस अनुमान-लक्षण का प्रत्याख्यान किया है । उद्योतकर का लेख इसप्रकार है—

"एतेन—सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानमिति लक्षणं प्रत्युक्तम् ।"

विन्ध्यवासी के तन्त्रान्तर में जिज्ञासा आदि का उपदेश होजाने के कारण ईश्वरकृष्ण ने अपने ग्रन्थ में उनका निर्देश नहीं किया, यह कैसे कहाजासकता है ? ईश्वरकृष्ण के समय तो विन्ध्यवासी का ग्रन्थ था नहीं । इसप्रकार युक्तिदीपिकाकार का यह कथन असंगत कहाजासकता है । परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है । यद्यपि युक्तिदीपिकाकार से विन्ध्यवासी प्राचीन है, और विन्ध्यवासी का ग्रन्थ भी उसके सन्मुख प्रतीत होता है, इसी संस्कार के कारण प्रौढ़िवाद से यह समाधान उसने कर दिया । परन्तु इसके असामञ्जस्य को युक्तिदीपिकाकार समझता था, और वह जानता था, कि आचार्य विन्ध्यवास के ग्रन्थ पर, ईश्वरकृष्ण का पदार्थोपदेश अथवा अनुपदेश आधारित नहीं है, इसीलिये इस उक्त समाधान की उपेक्षा करके उसने चौथे पृष्ठ की १७वीं पंक्ति [कलकत्ता संस्करण १९३८] से 'किञ्चान्यत्' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा उक्त आशंका का वास्तविक समाधान किया है ।

१. युक्तिदीपिका के इस प्रसंग में 'तन्त्रान्तर' पद का अभिप्राय, सांख्य के अन्तर्गत सम्प्रदायविशेष के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ से है । वार्षगण्य के, अथवा उसके अनुयायी विन्ध्यवास के ग्रन्थ के लिये इस पद का प्रयोग उचित है ।

इस पर टीका करते हुए वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में लिखा है—

"सम्प्रति सांख्यीयमनुमानलक्षणं दूषयति—एतेनेति ।"

यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने यहाँ सामान्य 'सांख्य' पद का प्रयोग किया है, परन्तु इससे पहले सूत्र [१।१४] पर 'श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्' इस प्रत्यक्षलक्षण का प्रत्याख्यान करते समय इसको वार्षगण्यकृत बताया है। इसलिये यह अनुमानलक्षण उद्योतकर की दृष्टि से वार्षगण्यकृत होना चाहिये। क्योंकि वार्षगण्य एक प्राचीन सांख्याचार्य है, इसलिये वाचस्पति मिश्र का साधारणरूप में 'सांख्य' पद का प्रयोग अनुचित या अयुक्त नहीं कहाजासकता। तथा वाचस्पति मिश्र यह समझता है, कि उद्योतकर ने सांख्य के अन्यतम आचार्य वार्षगण्य के अनुमानलक्षण का खण्डन किया है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल में इसीसे मिलते-जुलते अनुमान लक्षण का विन्ध्यवासी के नाम से उल्लेख कियागया है।

"एतच्च यथोक्तं—प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धमनुमानं विशेषतोदृष्टमनुमानं—इत्येवं विन्ध्यवासिना गदितम्[1] ।"

यद्यपि इस लक्षण के पदों की आनुपूर्वी में कुछ भेद है, परन्तु अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं। युक्तिदीपिका-निर्दिष्ट लक्षण में 'प्रत्यक्ष' पद नहीं है, न्यायवार्त्तिक में प्रत्यक्ष पद है, और पञ्जिका में भी। इससे अर्थ में कोई भेद नहीं आता। फलतः यह निश्चित होजाता है, कि विन्ध्यवास ने वार्षगण्य के अनुमानलक्षण को स्वीकार किया है। ईश्वरकृष्ण का अनुमानलक्षण [सांख्य-कारिका ५], विन्ध्यवासी के अनुमानलक्षण से भिन्न है।

इन भेदों के अतिरिक्त ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी का प्रसिद्ध मतभेद, आतिवाहिक शरीर (अन्तराभव देह—सूक्ष्म शरीर) के सम्बन्ध में है। विन्ध्यवासी आतिवाहिक शरीर नहीं मानता।

अन्तराभवदेहस्तु नेष्यते विन्ध्यवासिना। [श्लोकवार्त्तिक]

विन्ध्यवासिनस्तु···नास्ति सूक्ष्मशरीरम्। [युक्तिदीपिका पृ० १४४]

इसके विपरीत ईश्वरकृष्ण सूक्ष्मशरीर को स्वीकार करता है। देखें, कारिका ३९-४०। इन भेदमूलक प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित होता है—ईश्वरकृष्ण,

---

१. शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह की टीका पञ्जिका (गायकवाड़ ओरियण्टल संस्कृत सीरीज़—बड़ोदा), पृ० ४२३, पं० २२। 'विशेषतोदृष्टमनुमानम्' की तुलना कीजिये, श्लोकवार्त्तिक औपपत्तिक सूत्र के अनुमान परिच्छेद का १४३वां श्लोक—

"सन्दिह्यमानसद्भाववस्तुबोधात् प्रमाणतः ।
विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना ॥"

विन्ध्यवासी से सर्वथा भिन्न व्यक्ति था। इसलिये डॉ० तकाकुसु ओर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक[1] का यह मत–कि ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी एक व्यक्ति के नाम हैं–सर्वथा असंगत है।

इसके अतिरिक्त उक्त प्रमाणों के आधार पर यह स्थिर होता है, कि आचार्य विन्ध्यवास, सांख्यान्तर्गत वार्षगण्य सम्प्रदाय का अनुयायी था। ऐसी स्थिति में वार्षगण्य, विन्ध्यवास का साम्प्रदायिक गुरु निश्चित है। इसी आधार पर परमार्थ का लेख सम्भव होसकता है। डॉ० तकाकुसु ने जो वार्षगण्य को विन्ध्यवास का अध्यापक बताया है, वह सर्वथा असंगत और ऐतिहासिक आधार से हीन है। इसीप्रकार डॉ० तकाकुसु की भ्रान्ति के आधार पर जो डॉ० श्रीपाद कृष्ण वैल्वलकर महोदय ने वार्षगण्य को विन्ध्यवास का अध्यापक समझकर उसको ईश्वरकृष्ण से अर्वाचीन[2] माना है, वह भी असंगत है। वार्षगण्य, ईश्वरकृष्ण से अति प्राचीन आचार्य है। इसका काल, महाभारत युद्धकाल के पर्याप्त पूर्व निश्चित[3] कियाजासकता है, उसके समीप अथवा कुछ पूर्व नहीं। इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि ईश्वरकृष्ण ने जिस षष्टितन्त्र के आधार पर अपनी कारिकाओं की रचना की है, उसका रचयिता वार्षगण्य नहीं होसकता। इसका उल्लेख 'कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र' नामक प्रकरण में कर आये हैं।

ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति के अपर नाम 'कनकसप्तति' 'सुवर्णसप्तति' आदि—

डॉ० श्रीपाद कृष्ण वैल्वलकर महोदय ने लिखा है–"ईश्वरकृष्ण रचित 'सांख्यसप्तति' का 'हिरण्यसप्तति' अथवा 'कनकसप्तति' नाम नहीं होसकता, क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। चीनी यात्रियों के वर्णन इस सम्बन्ध में किसी विशुद्ध सत्य को उपस्थित नहीं करते, उनमें किस्से कहानियों का पर्याप्त पुट है। इसलिये यही ठीक है, कि 'सांख्यसप्तति' से 'हिरण्यसप्तति' पृथक् रचना है। भोजकृत राजमार्तण्ड नामक योगसूत्रवृत्ति में ४।२२ सूत्र पर विन्ध्यवास के दो वाक्य उद्धृत हैं, जिनकी रचना से प्रतीत होता है–वह

१. देखिये–गीतारहस्य, 'विश्व की रचना और संहार' नामक प्रकरण, सन् १९३८ ई० के षष्ठ संस्करण के १८९ पृष्ठ की टिप्पणी।

२. Clearly, therefore, Vindhyavasa and his teacher Vrisa or Varsaganya have to be ranked amongst the successors of Isvara Krisna. [Bhandarkar Com. Vol. P. 177]

३. इसी ग्रन्थ के 'सांख्य के प्राचीन आचार्य' नामक अध्याय में वार्षगण्य का यह काल निश्चित कियागया है।

व्याख्याग्रन्थ होगा। इसलिये यह अधिक सम्भव है, कि ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं पर विन्ध्यवास ने 'हिरण्यसप्तति' नामक व्याख्या लिखी हो। ग्रन्थों की सूची बनानेवाले अथवा अन्य लेखकों के प्रमाद के कारण मूलग्रन्थ पर टीकाकार का नाम और टीका ग्रन्थ पर मूल ग्रन्थकार का नाम लिखेजाने से इन ग्रन्थों को एक समझेजाने का भ्रम होगया[1]।"

डा० वैल्वलकर महोदय के इन विचारों के सम्बन्ध में विवेदन है—उक्त अनुमानों के आधार पर सांख्यसप्तति और हिरण्यसप्तति को पृथक् ग्रन्थ नहीं मानाजासकता। यह संभव है—चीनी यात्रियों के वर्णनों में कुछ कूड़ा-कर्कट भरा हो, पर अनुसंधानकर्त्ता का कर्त्तव्य है—उसे साफ़ करके उसमें से सत्य तत्त्व को छांट लें। कुछ किस्से कहानियों के कारण, उन वर्णनों की सत्य बातों को उपेक्षित नहीं कियाजासकता। कुई-ची [Kueic-hi] ने यदि यह वर्णन किया है, कि इस ग्रन्थ के रचयिता को तीन लाख स्वर्ण, पारितोषिक अथवा भेंट रूप में प्राप्त हुआ था, इसलिये इस ग्रन्थ का नाम 'हिरण्यसप्तति' होगया, इस बात को प्रकट करता है—इस भेंट के मिलने से पूर्व उस ग्रन्थ का वास्तविक नाम उसके विषय के अनुसार अवश्य अन्य कुछ होगा, तब यह घटना ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति के सम्बन्ध में संभव है। डा० वैल्वलकर महोदय का यह कथन, कि सांख्य के मौलिक सिद्धान्तों में से एक 'हिरण्य' अथवा 'हिरण्यगर्भ' के आधार पर इस ग्रन्थ का नाम 'हिरण्यसप्तति' कहाजासकता है, असंगत है। क्योंकि सांख्य में इसप्रकार का कोई सिद्धान्त अथवा प्रतिपाद्य विषय नहीं है। फिर इस नाम के लिये वह आधार कैसा ? इसलिये कुई-ची का वर्णन अधिक संभव है, और यह अनुमान ठीक होसकता है, कि 'सांख्यसप्तति' के रचयिता को स्वर्ण भेंट प्राप्ति का साधन होने के कारण इस ग्रन्थ के 'हिरण्यसप्तति' 'कनकसप्तति' अथवा 'स्वर्णसप्तति' आदि नाम पड़गये हों। इन नामों के होने में एक अन्य कारण यह संभव है, कि इस सप्तति में कपिल के मतों का प्रतिपादन कियागया है, कपिल पद उस वर्ण को प्रकट करता है, जो स्वर्ण में है। इस साम्य से इसका नाम कनकसप्तति होगया हो, और फिर संस्कृत भाषा में पद-प्रयोग की परम्परा के अनुसार कनक के पर्यायवाची पदों का दौर होजाना साधारण बात है, स्वर्ण, सुवर्ण, हिरण्य, हेम जो जिसको अच्छा लगा, जोड़ दिया। परन्तु सर्वप्रथम 'कनक पद का सप्तति से सम्बन्ध, कपिल के सम्बन्ध पर आधारित कल्पना कियाजाना असमञ्जस न होगा। सांख्यसप्तति के ही कनकसप्तति आदि नाम हैं, इसके लिये अन्य साक्षात् प्रमाण उपस्थित करते हैं।

---

१. Bhandarkar, Com Vol., PP. 176-177.

(क) अभीतक विन्ध्यवास का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ, उसके नाम से जो वाक्य या सन्दर्भ जहाँ तहाँ दार्शनिक ग्रन्थों में बिखरे हुए मिलते हैं, वे सब गद्यरूप है, तथा कुछ पद्यरूप भी हैं। योगसूत्रवृत्ति के जिस उद्धरण[1] का पीछे उल्लेख कियागया है, उसको व्याख्याकार की भाषा बताकर श्रीयुत डा० बैल्वलकर महोदय ने यह प्रकट किया है, कि विन्ध्यवास का ग्रन्थ 'सांख्यसप्तति' की व्याख्या होगा। पर वस्तुतः इन वाक्यों से, तथा जो[2] सन्दर्भ विन्ध्यवास के संगृहीत किये हैं, उनसे भी बलात् इसप्रकार की कोई भावना नहीं बनती, कि विन्ध्यवास का ग्रन्थ व्याख्या-ग्रन्थ होगा, और वह भी सांख्यसप्तति का। कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थकार इसीप्रकार की रचना करसकता है। प्रतीत यही होता है, कि उसने अपने विचारों के अनुसार सांख्य पर स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि उसके ग्रन्थ का नाम हमें आज मालूम नहीं है। यह निश्चित है, कि उसका नाम 'हिरण्यसप्तति' आदि अवश्य नहीं था।

(ख) यदि यह मानलियाजाय, कि विन्ध्यवास का ग्रन्थ, सांख्यसप्तति की व्याख्या था, तब यह तो डा० बैल्वलकर महोदय को मानना होगा, कि वह व्याख्या गद्य में लिखीगई थी, क्योंकि राजमार्तण्ड से विन्ध्यवास के जो वाक्य प्रदर्शित कियेगये हैं, वे गद्यरूप हैं। ऐसी स्थिति में उस ग्रन्थ के 'हिरण्यसप्तति' नाम का असामञ्जस्य अवश्य विचारणीय होगा। यदि यह कहाजाय, कि 'सप्तति' की व्याख्या होने के कारण इसके साथ 'सप्तति' पद लगादियागया, तो स्वर्ण भेंट-प्राप्ति निमित्तक 'हिरण्य' पद के साथ 'सप्तति' पद का सम्बन्ध स्थापित करना अशक्य होगा, और नाम का असामञ्जस्य उसी तरह चिन्त्य होगा। ऐसी स्थिति में यदि नाम सामञ्जस्य के लिये विन्ध्यवास के व्याख्या-ग्रन्थ को सप्तति आर्याओं में मानाजाय, तब इस बात का निश्चय ऐसे ग्रन्थ [अथवा उसके कुछ अंश] के उपलब्ध होजाने पर ही होसकता है। क्योंकि अभी तक जितने वाक्य विन्ध्यवास के नाम से उपलब्ध हुए हैं, वे प्रायः सब गद्यरूप हैं। इसके अतिरिक्त सांख्यसप्तति में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन कियागया है, विन्ध्यवासी का उनसे पर्याप्त मतभेद निश्चित है। अपनी मान्यता के विरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ का विन्ध्यवासी टीकाकार बने, यह अनायास विना प्रमाण के स्वीकार कियाजाना कठिन है।

---

१. "सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्। बिम्बे प्रतिबिम्बमानच्छायासदृशच्छायान्तरोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते।" [योगसूत्र, भोजवृत्ति ४।२२] पर।

२. इसी ग्रन्थ के 'सांख्य के प्राचीन आचार्य' नामक अध्याय के अन्त में विन्ध्यवास का वर्णन कियागया है। उसी प्रसंग में उसके नाम से उपलब्ध सन्दर्भों का यथाशक्य संग्रह करदिया है।

(ग) वसुबन्धु का समय डा० वैल्वलकर महोदय ने ईसा के तृतीय शतक का अन्त[१] [३०० A. D.] माना है। विन्ध्यवास उसका वृद्धसमकालिक था। ऐसी स्थिति में विन्ध्यवास का काल ईसा के तृतीय शतक के पूर्वार्द्ध [२५० A.D.] के समीप मानाजासकता है, इससे और अधिक पूर्व नहीं। जैन ग्रन्थ अनुयोगद्वार सूत्र का समय आधुनिक विद्वानों ने ईसा का प्रथम शतक [१०० A. D.] माना है, अर्थात् इस समय के अनन्तर इस ग्रन्थ की रचना नहीं मानीजासकती। अब हम देखते हैं–विन्ध्यवास और अनुयोगद्वार सूत्र के काल में १५० वर्ष का अन्तर है। अर्थात् उक्त सूत्रों की रचना के इतने वर्ष बाद विन्ध्यवास हुआ। इस ग्रन्थ के ४१वें सूत्र में कुछ जैनेतर ग्रन्थों के नाम का उल्लेख है। उनमें एक नाम 'कनगसत्तरी' है, जिसका संस्कृत रूप 'कनकसप्तति' है। 'कनकसप्तति' 'स्वर्णसप्तति' अथवा 'हिरण्यसप्तति' ये एक ही ग्रन्थ के नाम हैं, और वह ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण का 'सांख्यसप्तति' है। विन्ध्यवास और वसुबन्धु का उक्त कालनिर्देश विश्वसनीय नहीं है। इसका संक्षिप्त विवरण अष्टम अध्याय के विन्ध्यवास प्रसंग में द्रष्टव्य है।

क्या ईश्वरकृष्ण, विन्ध्यवास से पश्चाद्वर्त्ती आचार्य था?

(घ) 'जर्नल ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री' भाग ६ पृ० ३६ पर, श्रीयुत विनयतोष भट्टाचार्य [जो आधुनिक संस्करण के अनुसार B. भट्टाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं] का एक लेख प्रकाशित हुआ है। आपने अपने लेख में अनेक प्रमाणों के आधार पर ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी को पृथक् व्यक्ति सिद्ध किया है। परन्तु इसके साथ ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवासी का पश्चाद्वर्त्ती आचार्य माना है। इसमें प्रमाण उपस्थित किया है–"ईश्वरकृष्ण ने सम्पूर्ण सांख्य अर्थों को प्रस्तुत करने के लिये केवल ७२ आर्याओं की संक्षिप्त पुस्तक में तीन आर्या सूक्ष्मशरीर के प्रतिपादन में इसलिये लिखी हैं, कि वह विन्ध्यवास के मत का खंडन करना चाहता है। क्योंकि उसने अपना ग्रन्थ प्राचीन षष्टितन्त्र के अनुसार लिखा है, अतः विन्ध्यवास ईश्वरकृष्ण से प्राचीन होना चाहिये। उसने विन्ध्यवास का नाम या उसपर आलोचना इसलिये नहीं लिखी, कि वह परवादों का उल्लेख नहीं करता।"

श्रीयुत भट्टाचार्य के इस विचार से हम सर्वात्मना सहमत हैं, कि ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास पृथक् व्यक्ति हैं। परन्तु विन्ध्यवास की अपेक्षा ईश्वरकृष्ण को अर्वाचीन मानना संगत प्रतीत नहीं होता। पहली बात है–सम्पूर्ण तीन [३९-४१] आर्याओं में केवल सूक्ष्मशरीर का उल्लेख नहीं कियागया। उनमें

१. Bhandarkar, Com. Vol,, P, 178,

अन्य शरीरों का भी उल्लेख है। सूक्ष्मशरीर के स्वरूप का वर्णन केवल एक (४०) आर्या में किया है। अस्तु, मान भी लियाजाय, कि तीन आर्याओं में सूक्ष्मशरीर का उल्लेख है, इसमें विषयप्रतिपादन की पूर्णता कारण कहीजा-सकती है, खण्डन की भावना नहीं। इस प्रसंग में कोई ऐसा बलपूर्वक उल्लेख नहीं है, जिससे खण्डन की भावना ध्वनित हो, यहाँ साधारणरूप में केवल विषय का प्रतिपादन है, जैसे अन्यत्र अन्य विषयों का।

इसके लिये भट्टाचार्य महोदय ने जो युक्ति उपस्थित की है, कि "ईश्वर-कृष्ण ने विन्ध्यवास का नाम या उसपर आलोचना इसलिये नहीं लिखी, कि वह परवादों का उल्लेख नहीं करता" बहुत अनुपयुक्त है। ईश्वरकृष्ण ने ७२ वीं आर्या में परवादों के उल्लेख न कियेजाने का जो निर्देश किया है, वह उन्हीं परवादों के लिये हैं, जो 'षष्टितन्त्र' में वर्णन कियेगये हैं। ईश्वरकृष्ण ने उन्हीं परवादों को अपने ग्रन्थ में छोड़ देने का उल्लेख किया है। यदि भट्टाचार्य महोदय की उक्त युक्ति को इस प्रसंग में ठीक मानाजाय, तो इसका अभिप्राय यह निकलता है, कि 'षष्टितन्त्र' में भी विन्ध्यवास के मत का खण्डन होना चाहिये, जो सर्वथा असम्भव है। श्रीयुत भट्टाचार्य ने ईश्वरकृष्ण के उक्त लेख का अनुचित लाभ उठाकर उसका अस्थान में प्रयोग किया है। क्योंकि वह उन्हीं परवादों को अपने ग्रन्थ में छोड़ने का निर्देश कर रहा है, जो षष्टितन्त्र में प्रतिपादित हैं। इसलिये वस्तुस्थिति यही कहीजासकती है, कि ईश्वरकृष्ण के सूक्ष्मशरीर सम्बन्धी वर्णन में किसी के खण्डन की भावना नहीं है, वहां केवल साधारणरूप में विषय का प्रतिपादन है।

इसके अतिरिक्त भट्टाचार्य महोदय की यह युक्ति स्वतन्त्ररूप में अपने अर्थ को सिद्ध नहीं करती, और अस्पष्ट भी है। जब इसके विपरीत अनेक प्रमाणों से ईश्वरकृष्ण की प्राचीनता सिद्ध है, और विन्ध्यवासी की अपेक्षा तो ईश्वर कृष्ण की रचना का व्याख्याकार माठर भी प्राचीन है।

तत्त्वसंग्रह की भूमिका में ईश्वरकृष्ण का वर्णन करते हुए भट्टाचार्य महो-दय ने लिखा है, "क्योंकि माठर ने सांख्यचार्यों की सूची में वार्षगण्य का उल्लेख नहीं किया है, केवल इसी आधार पर ईश्वरकृष्ण को वार्षगण्य से प्राचीन नहीं मानाजासकता। और माठर के 'प्रभृति' पद से वार्षगण्य का ग्रहण कियाजा-सकता है, और उसके शिष्य विन्ध्यवास का भी। इसलिये केवल इस आधार पर ईश्वरकृष्ण को इतना प्राचीन नहीं मानाजासकता, कि वह खीस्ट द्वितीय शतक में हो।"

श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय के इस लेख के सम्बन्ध में निवेदन है—जहाँ तक ईश्वरकृष्ण और वार्षगण्य की पूर्वापरता का सम्बन्ध है, यह ठीक है, कि माठर की सूची में वार्षगण्य का नाम न होने से वार्षगण्य, ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा

अर्वाचीन नहीं कहाजासकता । इसका पूर्व निर्देश कर आये हैं, कि अन्य व्याख्याकारों ने इस शिष्यपरम्परा की सूची में वार्षगण्य का उल्लेख किया है । परन्तु माठर के 'प्रभृति' पद से विन्ध्यवासी का ग्रहण कियेजाने का जो उल्लेख भट्टाचार्य महोदय ने किया है, वह एक भ्रान्ति पर आधारित है । वह भ्रान्ति है–डा० तकाकुसु के समान वार्षगण्य को विन्ध्यवासी का साक्षात् गुरु अर्थात् अध्यापक समझना । इसी कारण उन्होंने ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवासी के पीछे ला घसीटा है ।

इसका प्रमाणपूर्वक स्पष्ट उल्लेख कर आये हैं, कि विन्ध्यवासी, सांख्य के अन्तर्गत वार्षगण्य सम्प्रदाय का अनुयायी होने के कारण वार्षगण्य का शिष्य कहागया है । इसलिये विन्ध्यवासी के निश्चित समय के साथ वार्षगण्य का गठजोड़ नहीं कियाजासकता । ऐसी स्थिति में ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा वार्षगण्य के प्राचीन होने पर भी विन्ध्यवास को ईश्वरकृष्ण से पूर्व नहीं मानाजासकता । सांख्य के अन्तर्गत वार्षगण्य का भिन्न सम्प्रदाय होने के कारण यह संभव है–माठर ने कापिल सिद्धान्तों के प्रतिपादक आचार्यों की परम्परा में वार्षगण्य के नाम का उल्लेख न किया हो । यह मूल आर्या में निर्दिष्ट संकेत के अनुसार है ।

भट्टाचार्य महोदय का यह कथन भी कल्पना-मात्र है, कि "वृषगण का साक्षात् शिष्य होने के कारण विन्ध्यवासी का दूसरा नाम वार्षगण्य है, अर्थात् विन्ध्यवासी और वार्षगण्य नाम एक ही व्यक्ति के हैं ।" इसलिये वसुबन्धु और दिङ्नाग के मध्य में ईश्वरकृष्ण का समय मानना भी सर्वथा असंगत है ।[1] वसुबन्धु ने ईश्वरकृष्ण के मत का खण्डन नहीं किया, विन्ध्यवासी के मत का खण्डन किया है, इसका कारण तो यही कहाजासकता है, कि विन्ध्यवासी ने वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में परास्त किया था । अपने गुरु के उस अपमान से प्रेरित होकर उसने विन्ध्यवासी के मत का खण्डन किया है । केवल इतने आधार पर ईश्वरकृष्ण के ग्रन्थ का उस समय विद्यमान न होना सिद्ध नहीं कियाजासकता ।

---

१. वस्तुतः बौद्ध आचार्यों का काल अभी पूर्णतया निर्धारित नहीं है । पाश्चात्य लेखकों ने इन आचार्यों का जो कालानुक्रम निर्धारित किया है, वह भले कुछ ठीक हो; परन्तु उनका अन्तराल काल अत्यन्त सन्दिग्ध है । इसका पुनः नये रूप में भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से अनुसन्धान अत्यन्त अपेक्षित है । इसका आंशिक निरूपण, बाद की रचना 'वेदान्तदर्शन का इतिहास' में हमने किया है ।

क्या ईश्वरकृष्ण के काल-निर्णय के लिये, तिब्बती आधार पर्याप्त हैं ?—

श्रीयुत सतीशचन्द्र विद्याभूषण के 'इण्डियन लॉजिक' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ २७४-५ के आधार पर श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने लिखा है—"तिब्बती लेखों के आधार पर ईश्वरकृष्ण और दिङ्नाग समकालिक सिद्ध होते हैं। तिब्बती लेखों में उनके शास्त्रार्थ और ईश्वरकृष्ण के प्रतिज्ञाभंग की कथा है।"

इस सम्बन्ध में निवेदन है—ये सब इसप्रकार के तिब्बती लेख, इसी ढंग के कहेजासकते हैं, जैसे बल्लाल के भोजप्रबन्ध में, भोज के दरबार में उन सब कवियों को इकट्ठा करदियागया है, जिनके सम्बन्ध में बल्लाल जानकारी रखते थे। चाहे वे कवि भोज से कितने ही पूर्व हुए हों अथवा पश्चात्। वस्तुतः उनमें पूर्ण ऐतिहासिक तथ्य नहीं है, आंशिक भले हो। विन्ध्यवास ने जब शास्त्रार्थ में प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् बुद्धमित्र को परास्त करदिया, उसके अनन्तर उस पराजयजन्य प्रतिक्रिया से प्रभावित होकर बौद्ध दन्तकथाओं में न मालूम कितने शास्त्रार्थों की कल्पना करडाली गई होगी, और न मालूम कितने वैदिक विद्वानों को प्रतिज्ञाभंग का दोषी ठहराया गया होगा। इन लचर आधारों पर इतिहास का शोधन नहीं कियाजासकता। उक्त तिब्बती लेखों की तथ्यता के कोई प्रामाणिक आधार नहीं हैं। क्या आधुनिक विचारक, भारतीय सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय के लेखों की उसी रूप में ऐतिहासिक तथ्यता स्वीकार कर सकते हैं ? दूर के ढोल हमेशा ही सुहावने लगा करते हैं। विन्ध्यवास के तथाकथित निश्चित काल [२५० A. D.] से (यदि वह निश्चित है, तो) ईश्वरकृष्ण की प्राचीनता अन्य अनेक आधारों पर प्रमाणित कीजाचुकी है, विन्ध्यवासी से तो ईश्वरकृष्ण की रचना सांख्यसप्तति का व्याख्याकार माठर भी पुराना है।

विन्ध्यवासी और व्याडि—

यहाँ विन्ध्यवासी के प्रसंग से व्याडि के सम्बन्ध में कुछ निवेदन कर देना उपयुक्त है। कोशकारों ने व्याडि को विन्ध्यवासी लिखा है। इससे आधुनिक अनेक विद्वानों को यह भ्रम होगया है, कि सांख्याचार्य विन्ध्यवासी और व्याडि एक[1] ही व्यक्ति थे।

भट्टाचार्य महोदय के इस विचार से हम सर्वथा सहमत हैं, जो उन्होंने अपने लेख में व्याडि और सांख्याचार्य विन्ध्यवासी को पृथक् व्यक्ति माना है।

---

१. चौखम्बा संस्कृत सीरीज् बनारस से प्रकाशित माठरवृत्ति की भूमिका, श्री तनुसुखराम शर्मा लिखित, पृष्ठ ३, ४ पर।

उन्होंने अपने विचार का आधार कुमारजीव और परमार्थ के लेखों [वसुबन्धु-चरित] को माना है, और उसके मुकाबले में कोशों को अप्रामाणिक तथा असंगत बताया है।

इस सम्बन्ध में हमारा विचार है—इन दोनों आचार्यों को पृथक् मानने पर भी कोशकारों का कथन असंगत नहीं है। वस्तुस्थिति यह है—सांख्याचार्य विन्ध्यवासी का वास्तविक नाम रुद्रिल[1] था। इस सम्बन्ध में श्रीयुत भट्टाचार्य महोदय ने अपने लेख में उपयुक्त प्रकाश डाला है। यह सांख्याचार्य रुद्रिल, विन्ध्य में निवास करने के कारण विन्ध्यवास अथवा विन्ध्यवासी नाम से प्रसिद्ध था। इसीप्रकार व्याडि नामक आचार्य भी अपने समय में विन्ध्य पर निवास करने के कारण विन्ध्यवासी नाम से प्रसिद्ध रहा। यह व्याडि व्याकरण शास्त्र का आचार्य था, सांख्य का नहीं। कोशकारों ने व्याडि को विन्ध्यवासी, विन्ध्य में निवास करने के कारण लिखा है। कोशों के लेखों से यह बात सर्वथा स्पष्ट होजाती है। उनके लेख हैं—

(१) **'अथ व्याडिर्विन्ध्यस्थो'** त्रिकाण्डशेष २।३।२४-५।

(२) **'अथ व्याडिर्विन्ध्यवासी[2]'** अभिधानचिन्तामणि, हेमचन्द्रकृत, ३।५।६

(३) **'अथ व्याडिर्विन्ध्यनिवास्यपि'**

इन कोशों में पृथक्-पृथक् 'विन्ध्यस्थ' 'विन्ध्यवासी' और 'विन्ध्यनिवासी' इन पदों का निर्देश है। जिनसे केवल एक अर्थ की प्रधानता द्योतित होती है—विन्ध्य में रहना या निवास करना। संभव है, विन्ध्य में कोई ऐसा आश्रम अथवा स्थान [नगर आदि] होगा, जहाँ पर प्रायः चिरकाल तक विद्वानों का निवास रहा हो। जो विद्वान् वहाँ का निवासी[2] जनता में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करसका, लोक में उसका उस नाम से व्यवहार होता रहा। इसी आधार पर कोशकारों ने व्याडि को विन्ध्यवासी लिखा है। इससे रुद्रिल के विन्ध्यवासी होने का निषेध अथवा विरोध नहीं होता। व्याडि के साथ पठित विन्ध्यवासी पद से, रुद्रिल को समझना असंगत है। कोशों में इस प्रकार की कोई ध्वनि नहीं है। यदि कोशकार व्याडि को रुद्रिल, अथवा रुद्रिल को व्याडि बतावें, तब वह कथन अवश्य असंगत होगा। परन्तु कोश के उक्त स्थलों में ऐसा नहीं है। इसलिये इससे यही परिणाम निकाला-जासकता है, कि विन्ध्य में निवास करने के कारण अपने-अपने समय में अनेक

---

१. यदेव दधि तत्क्षीरं यत्क्षीरं तद्दधीति च। वदता रुद्रिलेनैवं ख्यापिता विन्ध्यवासिता ॥ तत्त्वसंग्रह, पञ्जिका टीका, पृष्ठ २२

२. अभिधानचिन्तामणि की टीका में 'विन्ध्यवासी' पद का अर्थ 'विन्ध्ये वसति विन्ध्यवासी' किया हुआ है। जिससे अभिमत वास्तविकता की सुतरां पुष्टि होती है।

विद्वान् विन्ध्यवासी पद से प्रसिद्ध होते रहे हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख ग्रन्थों में मिलता है। जिनमें ये दो विन्ध्यवासी प्रसिद्ध हैं—

(१) व्याडि, विन्ध्यवासी, व्याकरण शास्त्र का आचार्य, विक्रम से अनेक शतक पूर्व इसका प्रादुर्भाव हुआ था।

(२) रुद्रिल विन्ध्यवासी, वार्षगण्य सम्प्रदाय का सांख्याचार्य, विक्रम संवत् २५० के लगभग बतायाजाता है। पर इसका वास्तविक काल, उक्त काल से पर्याप्त प्राचीन है।

(३) एक तीसरे विन्ध्यवासी का उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने व्यासभाष्य की व्याख्या तत्त्ववैशारदी में कैवल्यपाद के प्रथम सूत्र पर किया हैं। इसी जन्म में रसायन के प्रयोग से सिद्धि प्राप्त कर लेने के प्रसंग में लिखा हैं—

"इहैव वा रसायनोपयोगेन। यथा माण्डव्यो मुनिः रसोपयोगाद् विन्ध्यवासी इति।'

इससे प्रतीत होता है—माण्डव्य नामक मुनि ने, जो विन्ध्यवासी कहलाता था, रसायन के उपयोग से सिद्धि को प्राप्त किया। इससे तीसरे माण्डव्य विन्ध्यवासी का पता लगता है। इसप्रकार व्याकरण के आचार्य व्याडि को विन्ध्यवासी विशेषण के आधार पर सांख्याचार्य रुद्रिल समझना सर्वथा असंगत है।

सन्मतितर्क के विद्वान् सम्पादक महोदय ने पृष्ठ ५३३ पर टिप्पणी में लिखा है—

"आचार्यहेमचन्द्रयादवप्रकाशौ त्वेनं 'व्याडि' इति नाम्नापि प्रत्यभिज्ञापयतः'

और इसके आगे कोषों के पूर्वोक्त सन्दर्भ उद्धृत किये हैं। आपने कोशों का यही अभिप्राय समझा, कि सांख्याचार्य विन्ध्यवासी को 'व्याडि' नाम से कहा गया है। परन्तु उपर्युक्त विवेचन से इस भ्रान्ति का स्पष्टीकरण होजाता है।

'साँख्यसप्तति' 'सुवर्णसप्तति' आदि नाम एक ग्रन्थ के होने पर भी, ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास एक नहीं होसकते—

इसप्रकार सांख्यसप्तति और हिरण्यसप्तति के एक ग्रन्थ होने का निश्चय होजाने पर भी ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास का एक होना सिद्ध नहीं है, क्योंकि इनके समय में बहुत अन्तर है, और इनकी रचना सर्वथा पृथक् हैं। आज तक विभिन्न ग्रन्थों में विन्ध्यवासी के नाम से जो उद्धरण और मन्तव्य उपलब्ध हुए हैं, उनमें से एक भी ईश्वरकृष्ण के ग्रन्थ में नहीं है। इतना ही नहीं, प्रत्युत दोनों के मतों में परस्पर विरोध[1] पायाजाता है। यदि ये दोनों नाम एक व्यक्ति

१. देखिये, इसी प्रकरण का पिछला प्रसंग, जिसमें विन्ध्यवास के मतों का उल्लेख कियागया है, वे सब ही मत, ईश्वरकृष्ण के मत से विरुद्ध हैं।

के होते, तो ऐसा होना असंभव था । इसलिये जिस किसी व्यक्ति ने ऐसा लिखा है, कि वार्षगण्य के शिष्य ने 'हिरण्यसप्तति' नामक ग्रन्थ की रचना की, वह अवश्य अविश्वसनीय है, जैसा डा० वैल्वलकर महोदय[1] ने स्वीकार किया हैं । वस्तुतः प्रतीत होता है–वसुबन्धुचरित का लेखक परमार्थ इसका विवेचन न कर सका, कि 'हिरण्यसप्तति' का रचयिता वार्षगण्य का शिष्य था, अथवा कपिल का ? संभवतः वार्षगण्य के प्राचीन सांख्याचार्य होने के कारण उसने ऐसा लिख दिया हो, उसके इस अविवेक के कारण पश्चाद्वर्त्ती विद्वानों को यह भ्रम होगया, कि 'हिरण्यसप्तति' का रचयिता वार्षगण्य का शिष्य कदाचित् कोई अन्य व्यक्ति हो। अथवा संभव है–परमार्थ के ग्रन्थ को समझने में उन आधुनिक विद्वानों ने भूल की हो, जिन्होंने 'हिरण्यसप्तति' के रचयिता को वार्षगण्य का शिष्य बताया है। ऐसी स्थिति में 'सांख्यसप्तति' तथा 'हिरण्यसप्तति' के एक होने पर भी ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास को एक व्यक्ति नहीं कहाजासकता ।

ईश्वरकृष्ण का काल, विक्रम शतक प्रारम्भ होने से पर्याप्त पूर्व—

डा० श्रीपाद कृष्ण वैल्वलकर महोदय के लेखानुसार विन्ध्यवास का समय ईसा की तृतीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध (२५० A. D.) स्थिर कियागया है । इसमें सन्देह नहीं–अपने समय में विन्ध्यवास सांख्य और अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रकाण्ड तथा उद्भट विद्वान् था, वह सांख्यसिद्धान्तों का अनुयायी था, उसने स्वसामयिक बौद्ध आदि विद्वानों से शास्त्रार्थ करके उनको पराजित किया, और सांख्यसिद्धान्तों की श्रेष्ठता को स्थापित किया । यह कहना अत्युक्ति न होगी, कि वेदान्त के लिये जो कार्य अपने समय में आदि शंकराचार्य ने किया, वही कार्य सांख्य के लिये विन्ध्यवास ने अपने समय में किया । विन्ध्यवास के इस प्रबल संघर्ष और आघात के कारण, प्रतीत होता है, विद्वानों में सांख्य की चर्चा ने धीरे-धीरे प्रसार पाया, और सांख्य के अध्ययनाध्यापन की प्रवृत्ति में उन्नति होने के कारण समय पाकर उसके अवान्तर सम्प्रदायों में एक विशेष जागृति उत्पन्न होगई । अनुमानतः विन्ध्यवास की मृत्यु के अनेक शतकों के अनन्तर यह अवस्था बन चुकी होगी । यह समय संभवतः वह था, जब ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति पर 'युक्तिदीपिका' जैसी व्याख्या लिखीगई । जिसमें सांख्य सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों के मतों का उल्लेख कियागया है । उस समय इनकी चर्चा का विशेष प्राबल्य रहा होगा। इसलिये 'युक्तिदीपिका' जैसी व्याख्या में इनका समावेश तथा विचार करना स्वाभाविक था । माठर के समय में यह सब बात न होने से प्रतीत होता है–माठर अवश्य विन्ध्यवास से प्राचीन होगा,

---

१. Bhandarkar Com. Vol, P. 175.

उसका ग्रन्थ सांख्यसप्तति की केवल व्याख्या है, जबकि युक्तिदीपिका में सांख्य के अवान्तर सम्प्रदायों का विशद विवेचन उपलब्ध होता है।

यह कहना युक्त न होगा—कि माठर का समय युक्तिदीपिका से पर्याप्त अर्वाचीन क्यों न मानलियाजाय, जबकि सांख्य के अवान्तर सम्प्रदायों के विषय में, पठन-पाठन प्रणाली के पुनः नष्टप्राय होजाने के कारण, लोग प्रायः सब कुछ भूल चुके थे—क्योंकि युक्तिदीपिकाकार ने स्वयं अनेक स्थलों पर माठर के मतों का उल्लेख किया है, और कहीं उनका खण्डन भी किया है। इसलिये विन्ध्यवास की अपेक्षा माठर का प्राचीन होना अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। इस स्रोत से भी माठर का लगभग वही समय आता है, जिसका संकेत गत पृष्ठों में कियागया है; अर्थात् विक्रम संवत् प्रारम्भ से अनेक शताब्दी पूर्व। ईश्वरकृष्ण[1] का समय उससे भी कहीं अनेक शती पूर्व है। यह निश्चित है—आद्य शंकराचार्य से ईश्वरकृष्ण प्राचीन है। शंकर का जन्मकाल आचार्य के मठों में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर विक्रम पूर्व ४५२ [अर्थात् खीस्ट पूर्व ५०९] वर्ष है। इससे पूर्व ही ईश्वरकृष्ण का काल माना जाना चाहिये[2]।

माठर का उक्त समय माने जाने के लिये अन्य आधार—

एक अन्य स्रोत से माठर का समय खीस्ट शतक के आरम्भ होने से पर्याप्त पूर्व सिद्ध होता है। यास्कीय निरुक्त पर दुर्गाचार्य ने अपनी वृत्ति में सांख्यों का एक सन्दर्भ इसप्रकार उद्धृत किया है—

"सांख्यास्तु—तमःशब्देन प्रधानं साम्यापन्नं गुणत्रयमुच्यमानमिच्छन्ति। ते हि पारमर्षं सूत्रमधीयते—'तम एव खल्विदमग्र आसीत् तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्त्तत' इति।" [७।३]

यहाँ पर जो पंक्ति दुर्ग ने पारमर्ष सूत्र के नाम से उद्धृत की है, वह माठर-वृत्ति में उक्त पाठ की अत्यधिक समानता के साथ अनुद्धृतरूप में उल्लिखित है। ७२वीं आर्या की अवतरणिका में माठर इसप्रकार पाठ आरम्भ करता है—

"तन्त्रमिति व्याख्यायते। तम एव खल्विदमग्र आसीत्।[3] तस्मिंस्तमसि

---

१. श्रीयुत डा० वैल्वलर महोदय ने ईश्वरकृष्ण का समय ईसा के प्रथम शतक के लगभग अनुमान किया है। Bhandarkar Com. Vol., P. 178.

२. द्रष्टव्य, हमारी रचना 'वेदान्तदर्शन का इतिहास'।

३. तुलना करें—'तमो वा इदमग्र आसीदेकम्' मैत्रायणी उपनिषद्, ५।२।। और 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' ऋग्वेद, १०।१२९।३।।

क्षेत्रज्ञोऽभ्यवर्त्तत प्रथमम्[1] । तम इत्युच्यते प्रकृतिः । पुरुषः क्षेत्रज्ञः ।"

माठर के लेख से प्रतीत होता है–वह इन पंक्तियों के द्वारा 'तन्त्र' पद का निर्वचन कररहा है । 'तमस्' ही यह पहले था, तमस् की विद्यमानता में क्षेत्रज्ञ प्रथम वर्त्तमान था । 'तमस्' प्रकृति कहीजाती है, पुरुष क्षेत्रज्ञ । इन वाक्यों से माठर ने 'तन्त्र' पद का निर्वचन किया है । इस लेख से 'तन्त्र' पद के निर्वचन का एक विशेष प्रकार ध्वनित होता है । 'तमस्' शब्द का 'तम्' और 'क्षेत्रज्ञ' शब्द का 'त्र' वर्ण लेकर 'तन्त्र' पद पूरा होता है, तथा इससे यह अर्थ प्रकट होजाता है, कि जिसमें मुख्यतया प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का विवेचन हो, वह 'तन्त्र' है । इसप्रकार अन्य अनेक पदों के निर्वचन[2] माठर ने अपनी व्याख्या में किये हैं ।

दुर्ग ने अपनी व्याख्या में उक्त पारमर्ष सूत्र को यह प्रकट करने के लिये उद्धृत किया है, कि 'तमस्' शब्द प्रकृति अथवा प्रधान का पर्याय है । जितना सूत्र दुर्ग ने उद्धृत किया है, उस में यद्यपि यह उल्लेख नहीं है, कि 'तमस्' शब्द प्रधानपर्याय है, परन्तु दुर्ग इस बात को अवश्य जानता है, कि इस पंक्ति में 'तमस्' शब्द, प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुआ है । यह बात माठर वृत्ति में उक्त पंक्ति के अनन्तर लिखी हुई है । सांख्यशास्त्र में साधारण रूप से 'तमस्' पद, सत्त्व रजस् तमस् इन तीनों गुणों में से अन्तिम गुण का बोधक होता है । साम्यावस्थापन्न गुणत्रय के लिये 'तमस्' पद का प्रयोग एक विशेष कथन है । जिसका उल्लेख माठर अपनी व्याख्या में करता है ।[3] उसीके आधार पर दुर्ग के लेख का सामञ्जस्य होसकता है । संभव है–दुर्ग ने इस लेख को देखा हो ।

---

१. यह पाठ 'सुवर्णसप्ततिशास्त्र' नाम से मुद्रित चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर के आधार पर दियागया है । देखें पृ० ९८, टिप्पणी नं० १ । माठरवृत्ति की मुद्रित पुस्तक में 'अभिवर्त्तते प्रथमम्' पाठ है ।

२. देखिये २२ कारिका की व्याख्या में 'अहंकार' और 'भगवान्' पदों का निर्वचन । पुनः कारिका ७० में 'पवित्र' और 'भगवान्' पदों का निर्वचन । २३ कारिका की व्याख्या में 'ब्रह्मचारी' पदका निर्वचन । २२ कारिका की व्याख्या में इसप्रकार के निर्वचनों को प्रामाणिक बतलाने के लिये निरुक्त का एक वाक्य उद्धृत कियागया है ।

३. 'तमस्' पद साम्यावस्थापन्न गुणत्रय के लिये प्रयुक्त होता है, इसके लिये देखिये–ऋग्वेद १०।१२९।३।। तथा 'सांख्यसिद्धान्त' नामक हमारे ग्रन्थ का प्रथम प्रकरण । मूलप्रकृति के लिये 'तमस्' पद का प्रयोग उसकी अचेतनरूप विशेषता के कारण कियाजाता है ।

चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर में, 'तमस्' शब्द प्रकृति का पर्याय है, इसका उल्लेख नहीं है। माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की परस्पर तुलना करके अभी आगे यह स्पष्ट करेंगे, कि माठरवृत्ति का ही चीनी भाषा में परमार्थ ने अनुवाद किया था। अनुवाद में अनेक बातों की उपेक्षा करदीगई है, और कुछ अधिक बातें भी आगई हैं। यह भी संभव है, कि अनुवाद होने के अनन्तर इसमें कुछ परिवर्तन होगये हों। इसलिये चीनी अनुवाद और माठरवृत्ति को पृथक् ग्रन्थ समझना ठीक न होगा।

दुर्ग ने जिन पंक्तियों को उद्धृत किया है, और जिस उद्देश्य से किया है; वह सांख्यकारिका की अन्यतम व्याख्या जयमंगला में भी उपलब्ध होता है, परन्तु जयमंगला दुर्ग के काल से बहुत पीछे लिखी जाने वाली व्याख्या है, ऐसी स्थिति में दुर्ग के लेख का आधार, जयमंगला व्याख्या को नहीं कहाजासकता। इसके अतिरिक्त जयमंगला के इस सम्पूर्ण पूर्वापर संदर्भ का आधार माठरवृत्ति है। इसका निर्देश इस प्रकरण में प्रथम कर आये हैं, कि जयमंगला में माठर-वृत्ति की पर्याप्त छाया है। प्रस्तुत प्रसंग में जयमंगलाकार ने माठरवृत्ति के प्रथम आर्या के व्याख्यान और इस [७०।७१] आर्या के व्याख्यान के आधार पर अपना ७०वीं आर्या का व्याख्यान लिखा है। इस सब उल्लेख से यह परि-णाम निकलता है, कि दुर्ग के लेख का सामञ्जस्य माठरवृत्ति के आधार पर संभव है।

इसके अतिरिक्त, दुर्गवृत्ति में उद्धृत सूत्र-पाठ की माठरवृत्ति के पाठ के साथ अत्यधिक समानता है। चीनी अनुवाद में अनुवाद होने के कारण पाठभेद की अधिकता संभव है। यद्यपि जयमंगला, माठरवृत्ति की छाया पर है, माठर की सर्वथा प्रतिलिपि तो है नहीं। परन्तु दुर्ग उन वाक्यों को उद्धृत कररहा है, इसलिये उसको प्रतिलिपिरूप कहाजासकता है। फलतः माठर और दुर्ग के पाठों का समान होना, यह स्पष्ट करता है, कि दूसरा पहले को जानता है।

दुर्ग का काल डा० लक्ष्मणस्वरूप M.A. महोदय ने खीस्ट प्रथम शतक निश्चित[1] किया है। माठर का समय उससे पहले होने पर, खीस्ट शतक के प्रारम्भ से कहीं पूर्व ही संभव है।

आचार्य दुर्ग ने अपनी वृत्ति में उक्त पंक्तियों को 'पारमर्षं सूत्रम्' कहकर उद्धृत किया है। साधारणरूप में 'परमर्षि' पद कपिल के लिये प्रयुक्त होता है। परन्तु इसका सङ्कोच करके इतना कहसकते हैं–सांख्य के प्रसङ्गों में 'परमर्षि' पद कपिल के लिये प्रयुक्त मानाजाना चाहिये, क्योंकि अन्य सूत्रकारों के लिये भी

---

१. निरुक्तभाष्यटीका, स्कन्दमहेश्वरकृत; खीस्ट १९३४ में पञ्जाब विश्व-विद्यालय द्वारा प्रकाशित, पृ० ९७ पर। पर यह भी विवेचनीय है।

दार्शनिक साहित्य में इस पद का प्रयोग[1] देखा जाता है। इससे यह परिणाम निकाले जाने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये, कि सूत्रकारों के लिये 'परमर्षि' पद का प्रयोग कियाजातारहा है। इस आधार पर पञ्चशिख के लिये भी 'परमर्षि' पद का प्रयोग असमञ्जस न होगा, सांख्य पर उसके ग्रन्थ सूत्रात्मक हैं, जिनके उद्धरण दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। यदि ऐसा मानाजाय, तो एक सन्देह हमारे सामने यह आता है कि, जिस सूत्र को दुर्ग ने उद्धृत किया है, वह कपिल का है, अथवा पञ्चशिख का?

चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर में उक्त पंक्तियों के पूर्व एक वाक्य है–'कपिलमहर्षिरासुरये संक्षिप्यैवमुवाच'। इससे यह कहाजासकता है, कि दुर्गवृत्ति में उद्धृत पंक्तियाँ कपिल की रचना होसकती हैं। परन्तु यह सर्वथा निर्विवादरूप में नहीं कहाजासकता; क्योंकि इस संस्कृत रूपान्तर और माठरवृत्ति में प्रथम आर्या की व्याख्या में कपिल और आसुरि का एक संवाद है। वे लिखते हैं–'महर्षि···वाचमित्युवाच-भो आसुरे रमसे गृहस्थधर्मेण इति'। अब यहाँ भी यह प्रश्न है, कि 'भो आसुरे रमसे गृहस्थधर्मेण' क्या यह आनुपूर्वी अक्षरशः वही कहीजासकती है, जो कपिल ने आसुरि के लिये कही होगी, या यह मानाजासकता है, कि कपिल ने आसुरि को इसी तरह की बात कही होगी, परन्तु ये शब्द और आनुपूर्वी माठर ग्रन्थकार के अपने हैं। हमारे सामने कोई ऐसा प्रामाणिक उल्लेख नहीं है, जिसके आधार पर यह कह सकें, कि व्याख्याकार ने यहाँ कपिल के मुख से जो वाक्य उच्चारित कराये हैं, वे साक्षात् उसी आनुपूर्वी और उसी

---

१. (क) न्यायसूत्रकार गौतम के लिये 'पारमर्ष' पद का प्रयोग–तथा च पारमर्षं सूत्रम्–दुःखजन्म···पवर्गः [गौ० सू० १।१।२] इति।" सर्वदर्शनसंग्रह [अक्षपाददर्शन ११] पृ० २४६, पूना संस्करण। इसी सूत्र को शांकरभाष्य [१।१।४] में 'आचार्य प्रणीतं' लिखा है।

(ख) वेदान्तसूत्रकार कृष्ण द्वैपायन व्यास के लिये 'परमर्षि' पद का प्रयोग –'तथा च पारमर्षं सूत्रम्–तदधिगमे···तद्व्यपदेशात् [४।१।१३]।' अद्वैतब्रह्मसिद्धि, सदानन्दयति कृत।
"तथा च पारमर्षं सूत्रद्वयम्–कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् (वे० सू० २।३।३३) यथा च तक्षोभयथा [वे० सू० २।३।४०] इति।" अद्वैतदीपिका, नृसिंहाश्रम कृत, खीस्ट १९१६ का लाजरस, बनारस संस्करण पृ० ६३६।

(ग) मीमांसासूत्रकार जैमिनि के लिये 'परमर्षि' पद का प्रयोग–"तथा च पारमर्षं सूत्रम्–द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः इति।" वेदान्तदर्शन ३।२।४० सूत्र पर भामती।

रूप में कपिल ने उच्चारित किये थे। पहला स्थल भी ठीक इसी तरह का है, और इसीलिये यह संभावना कीजासकती है, कि दुर्गवृत्ति में उद्धृत सूत्र की उस आनुपूर्वी का रचयिता कपिल न होकर पञ्चशिख हो। यद्यपि उसमें प्रतिपादन उसी अर्थ का हुआ है, जो कपिल ने आसुरि को कहा था।

इसके अतिरिक्त देखाजाता है-संस्कृत साहित्य में कोई उद्धरण, उस विषय के मूल आचार्य के नाम पर उद्धृत कियेजातेरहे हैं, चाहे वे उद्धृत वाक्य, उस आचार्य के अनुयायी किसी अन्य विद्वान् के लिखे हुए हों। ऐसे अनेक उद्धरणों का संग्रह पूर्व प्रकरण[1] में कियाजाचुका हैं। ऐसी स्थिति में संभव है-दुर्गद्वारा उद्धृत वाक्य, माठर की मूल रचना हो, और उसीको 'परमर्षि' के नाम पर उद्धृत कर दियागया हो। क्योंकि वह वाक्य, परमर्षि के सिद्धान्तों पर लिखेगये ग्रन्थ से लियागया है। यह एक विशेष ध्यान देने की बात है, कि दुर्ग ने जिस उद्देश्य ['तमस्' पद, प्रधान अथवा प्रकृति का पर्याय है] से इस वाक्य को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है, वह माठर को आधार मानेजाने पर संगत होसकता है। पर वस्तुतः दुर्ग के 'सूत्रमधीयते' पद इस विचार के स्पष्ट बाधक हैं। इसलिये यह अधिक संभव है-इसप्रकार की आनुपूर्वी का कोई सूत्र पञ्चशिख का रहा हो। माठरवृत्ति और दुर्ग के इस प्रसंग से सूत्र के वास्तविक कलेवर का पता लग जाता है[2]।

उस सूत्र का प्रथम अर्द्ध भाग-'तम एव खल्विदमग्र आसीत्' कुछ अत्यन्त साधारण पाठभेद के साथ मैत्रायणी उपनिषद् में मिलता है। वहाँ पाठ है-'तमो वा इदमग्र आसीदेकम्' [५।२], इस अर्थ का मूल आधार ऋग्वेद का [१०।१२९।३] मन्त्र कहाजासकता है। मैत्रायणी उपनिषद् के उक्त स्थल का पूर्वापर प्रसंग[3] देखने से स्पष्ट होता है-उपनिषत्कार ने इन अर्थों को सांख्य के आधार पर लिखा है। हमारा अभिप्राय है-पारमर्ष सूत्र के प्रथम अर्द्धभाग की आनुपूर्वी, मैत्रायणी की रचना से पूर्व सांख्यग्रन्थ में विद्यमान थी। जिसका मूल आधार ऋग्वेद का उक्त मन्त्र कहाजासकता है। तीनों गुणों की साम्यावस्था के लिये 'तमस्' पद का प्रयोग, मैत्रायणी के प्रसंग से भी ध्वनित होता है, परन्तु सांख्य के उपलभ्यमान व्याख्याग्रन्थों में सर्वप्रथम माठर ने इस अर्थ ['मतस्' पद

---

१. देखिये-इसी ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय का अन्तिम भाग।
२. इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय का, 'पञ्चशिख' प्रसंग देखें।
३. "तमो वा इदमग्र आसीदेकं तत्परे स्यात् तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्रूपं वै रजः तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं रसः संप्रास्रवत्, सोंऽशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायाभिमानलिंगः।" मैत्रायणी उपनिषद् ५।२॥

प्रकृति अथवा प्रधान का पर्याय है] का स्पष्ट उल्लेख किया है। जिसके आधार पर दुर्ग का लेख समञ्जस कहाजासकता है। संभव है, दुर्ग के समय इस आनुपूर्वी के मूल लेखक पञ्चशिख का ग्रन्थ प्राप्य हो। यह प्रसंग दुर्गाचार्य से पूर्व माठर की स्थिति को प्रमाणित करता है।

माठरवृत्ति में वर्णित उद्धरणों के आधार पर उसके काल का निर्णय—

किसी ग्रन्थ में आये उद्धरणों के आधार पर उस ग्रन्थ के काल का निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है। परन्तु ऐसा विवेचन उन्हीं ग्रन्थों के सम्बन्ध में अधिक प्रामाणिक होसकता है, जिनके विशुद्ध संस्करण प्रकाशित होचुके हैं। माठरवृत्ति का अभीतक ऐसा कोई संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ। फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालने का यत्न कियाजायगा।

माठरवृत्ति में कुल ६२ के लगभग उद्धरण हैं। यह गणना चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से प्रकाशित संस्करण के आधार पर है। इस ग्रन्थ के सम्पादक महोदय ने ग्रन्थ में उद्धृत सन्दर्भों की जो सूची दी है, उसमें केवल ४४ उद्धरण गिनाये गये हैं, वह सूची अपूर्ण है। सुवर्णसप्ततिशास्त्र के विद्वान् सम्पादक महोदय ने माठरवृत्ति के उद्धरणों की संख्या ५५ लिखी[1] है। परन्तु यह सूची भी परिमार्जित नहीं है। इस सम्बन्ध में अभी आगे 'माठरवृत्ति और सुवर्णसप्ततिशास्त्र' शीर्षक के नीचे विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत है। यहाँ केवल, माठरवृत्ति के उद्धरण, और उनके आधार पर माठर के काल के सम्बन्ध में क्या प्रकाश पड़ सकता है, इसका विवेचन करना अभीष्ट है।

माठरवृत्ति के गम्भीर अध्ययन से यह प्रकट है, कि बनारस के विद्यमान संस्करण में बहुत से ऐसे सन्दर्भ हैं, जो समय-समय पर अध्येताओं या अध्यापकों के द्वारा उनकी हस्तलिखित प्रतियों के हाशिये (प्रान्त) पर लिखे गये होंगे। उन हस्तलिखित प्रतियों से अन्य प्रतिलिपि करनेवाले लेखकों ने उन सन्दर्भों को जहाँ-तहाँ मूल पाठ में मिलाकर लिखदिया। इसप्रकार ग्रन्थ का वास्तविक भाग न होते हुए भी आज वे सन्दर्भ ग्रन्थ का भाग समझेजारहे हैं, किसी विद्वान् ने आजतक गम्भीरतापूर्वक इसपर ध्यान नहीं दिया। इसका परिणाम यह हुआ, कि हम लोग सन्देहपूर्ण ऊपरी बातों को लेकर बहस में पड़ जाते हैं, और वास्तविकता से दूर होजाते हैं। जहाँ तक 'प्रान्त' के पाठों का मूल ग्रन्थ में समाविष्ट होजाने का सम्बन्ध है, इसको वे विद्वान् अच्छी तरह समझते हैं, जिन्होंने प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का समालोचनापूर्वक सम्पादन किया है।

---

१. सुवर्णसप्ततिशास्त्र, भूमिका, पृ० ३० पर।

माठरवृत्ति में अनेक प्रक्षेपों की संभावना तथा उनका सकारण उद्भावन—

माठरवृत्ति के इसप्रकार के दो सन्दर्भों का इसी प्रकरण में पहले उल्लेख कर आये हैं; उस सन्दर्भ का भी उल्लेख कर आये हैं, जो हरिभद्रसूरि कृत षड्दर्शनसमुच्चय की व्याख्या में गुणरत्न सूरि ने 'तदुक्तं माठरप्रान्ते' कहकर एक पद्य का उल्लेख किया है। गुणरत्नसूरि ने इतने व्यवस्थित रूप से अपने उद्धरण का निर्देश किया है, जिससे एक बड़ी घुण्डी खुल जाती है, और उसीसे एक विशेष दिशा की सूचना पाकर माठरवृत्ति के वास्तविक पाठों के समझ लेने में पर्याप्त सीमा तक सहयोग प्राप्त होता हैं। अब उन सन्दर्भों का निर्देश[1] करते हैं; जिनको माठरवृत्ति में पूर्वापर सामञ्जस्य की आन्तरिक साक्षी पर 'प्रान्त' का समझा है—

(१) प्रारम्भ का 'स्थानं निमित्तं' इत्यादि श्लोक।

(२) 'किञ्च 'इहोत्पत्तिर्मम०' इत्यादि श्लोक।

(३) 'भवन्ति चात्र श्लोकाः' यहां से लेकर 'कृतान्तः सुखमेधते' यहाँ तक सम्पूर्ण सन्दर्भ। ये सब पाठ पहली कारिका की व्याख्या में दियेगये हैं। इन सन्दर्भों के पूर्वापर प्रसंगों को मिलाकर गम्भीरतापूर्वक पढ़ने से स्पष्ट होजाता है–यह रचना ऊपर से इसके बीच में आपड़ी है। इन सन्दर्भों के हटा देने से शेष पाठ अधिक संगत और समञ्जस एवं पूर्ण प्रतीत होता है।

(४) 'किञ्च-यथा पङ्केन पङ्काम्भः' यहां से लेकर 'नरकः केन गम्यते' यहाँ तक का सम्पूर्ण सन्दर्भ। यह द्वितीय कारिका की व्याख्या में है। यहाँ ग्रन्थकार ने पहले ही, उद्धरणों की समाप्ति कर दी है। यदि ये अगले उद्धरण ग्रन्थकार के होते, तो वह एक श्लोक लिखकर फिर श्रुति का उल्लेख न करता, पहली श्रुति के साथ अगली श्रुति को भी कहदेता। यह उद्धरणों का क्रम टूट जाने से प्रतीत होता है–'इत्यादि श्रवणात्' के आगे का लेख अन्य किसी का है। फिर ये उद्धरण पूर्व प्रसंग के साथ मेल भी नहीं खाते, प्रकारान्तर से सम्बन्ध भले ही जोड़ा जासके।

(५) इसके आगे द्वितीय कारिका की व्याख्या में एक गद्य सन्दर्भ है, जो प्रान्त-पाठ प्रतीत होता है, परन्तु इस समय ग्रन्थ का भाग बनाया जाकर मुद्रित हुआ है। कारिका के 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' इस भाग की व्याख्या में 'भवति ह्यसौ अवश्यं' यहाँ से प्रारम्भ कर 'निरतिशयफलमिति वाक्यशेषः' यहाँ तक का

१. यहाँ केवल सन्दर्भों का निर्देश है। जो विद्वान् इनकी परीक्षा करना चाहें, मूलग्रन्थ से करसकते हैं। ग्रन्थ के अनावश्यक विस्तार भय से उन सब मूल पाठों को यहाँ उद्धृत नहीं किया।

सन्दर्भ प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। इतना पाठ बीच में से अलग कर देने पर ही पूर्वापर पाठ का सामञ्जस्य सम्भव है। स्वयं यह सन्दर्भ इस स्थल पर पूर्वापर पाठ के साथ मेल नहीं खाता। इस आर्या के व्याख्यान के अन्त में जोड़ने पर सन्दर्भ का अर्थसामञ्जस्य तो होजाता है, परन्तु पाठ की रचना का ढंग, अवश्य पृथक् प्रतीत होता है।

अब हम ऐसे सन्दर्भों की केवल एक सूची नीचे देते हैं, जिनको निश्चित रूप से ग्रन्थ का भाग नहीं समझा।

(६) 'नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः। इति गीतासु।
'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। इति श्रुतेश्च।'[1] का० १५, पर, पृ० २७

(७) उक्तञ्च—
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
श्रीविष्णुपुराणे षष्ठेंऽशे पराशरवचः। का० २२, पृ० ३७

(८) १८ वीं आर्या पर एक गद्यसन्दर्भ और है—'अपरे पुनरित्थंकारं वर्णयन्ति' इत्यादि। इसका उल्लेख हम पूर्व कर आये हैं।

(९) उक्तञ्च—
हस पिब लल मोद नित्यं विषयानुपभुञ्ज कुरु च मा शंकाम्।
यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसे मोक्षसौख्यं च॥
का० ३७ पर पृ० ५३

(१०) पुराणेष्वपि—
सोमवृष्ट्यन्नरेतांसि पुरुषस्तत्र पञ्चमः।
स जीवत्यग्नये पश्चाद्धरन्त्यस्माद्यतोऽभवत्॥ इति।
का० ३९ पर पृ० ५६

(११) उक्तञ्च—
'देहे मोहाश्रये भग्ने युक्तः स परमात्मनि।
कुम्भाकाश इवाकाशे लभते चैकरूपताम्॥'
'यथा दर्पणाभाव आभासहानौ' इत्यादि। का० ३९ पर पृ० ५७

---

१. १५ वीं आर्या का व्याख्यान 'तत्त्वसंग्रह' के व्याख्याकार कमलशील ने पृ० २१ पर [गायकवाड ओरियण्टल सीरीज–संस्करण], और 'सन्मतितर्क' के व्याख्याकार अभयदेव सूरि ने [गुजरात पुरतत्वमन्दिरग्रन्थावली संस्करण] पृ० २८४ पर किया है। ये व्याख्यान माठरवृत्ति से सर्वथा समानता रखते हैं। जिनसे प्रतीत होता है—वे माठरवृत्ति के अनुसार अथवा उसके आधार पर लिखे गये हैं। माठरवृत्ति से उनकी तुलना करने पर यह स्पष्ट होजाता है, कि संख्या ६ पर जो सन्दर्भ हम दे रहे हैं, वह माठरवृत्ति का मूलभाग नहीं है।

(१२) उक्तञ्च—

एष आतुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया विभुः ।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो यदाचार्यानुवर्त्तनम् ।।

ये सब सन्दर्भ, ग्रन्थ के भाग नहीं हैं, इसके निर्णय के लिये ये आधार हैं—

(क) पूर्वापर ग्रन्थ के साथ सामञ्जस्य न होना ।

(ख) प्रसंग में उद्धरण की योजना न होना । अर्थात् उद्धरण का उस स्थल में अप्रासंगिक होना ।

(ग) एक जगह उद्धरणों की समाप्ति होकर पुनः उद्धरणों का प्रारम्भ कियाजाना ।

(घ) उद्धरण के साथ ग्रन्थ का नाम होना । माठरवृत्ति में हम देखते हैं– एक ग्रन्थ के उद्धरण होने पर एक जगह ग्रन्थ का नाम निर्दिष्ट किया है, दूसरी जगह नहीं । माठर के उस पुराने काल में सब ग्रन्थकारों की यह समान प्रवृत्ति देखी जाती है, कि वे उद्धरण के साथ ग्रन्थ या ग्रन्थकार के नाम का निर्देश नहीं करते । माठर भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं है । इससे अनायास समझ पाते हैं, कि माठरवृत्ति में जिन उद्धरणों के साथ ग्रन्थों के नाम हैं, वे सम्भवतः माठर के नहीं हैं । यह बात उस समय अधिक स्पष्ट होजाती है, जब माठरवृत्ति में एक ही ग्रन्थ के अनेक उद्धरणों में से किसी जगह ग्रन्थ का नाम[1] देखते हैं, अन्यत्र नहीं ।

मुद्रित माठरवृत्ति में भागवत का एक श्लोक दूसरी आर्या की व्याख्या में उद्धृत है । एक श्लोक ५१ वीं आर्या की व्याख्या में उद्धृत है, जो भागवत के एक श्लोक के साथ पर्याप्त समानता रखता है । शंकराचार्यकृत हस्तामलक स्तोत्र के चतुर्थ श्लोक का प्रथम चरण भी मुद्रित माठरवृति में ३६ वीं आर्या की व्याख्या में उपलब्ध है । ये सब उद्धरण या सन्दर्भ इसीप्रकार के हैं, जिनको ग्रन्थ का भाग नही कहाजासकता । ऐसे उद्धरणों के आधार पर माठर के काल का निश्चय कियाजाना अशक्य है । इसलिये जिन विद्वानों ने उद्धरणों के आधार पर माठर का समय खीस्ट एकादश शतक के आस-पास निर्णय करने का यत्न किया है, वह निराधार समझना चाहिये । क्योंकि अन्य अनेक आधारों पर माठर का इस समय से पर्याप्त प्राचीन होना निश्चित है, इनके अतिरिक्त, कोई उद्धरण माठरवृत्ति में ऐसे नहीं हैं, जो माठर का वह समय मानेजाने में बाधक हों, जिसका निर्देश पूर्व कियाजाचुका हैं ।

१. कारिका २३ पर गीता के उद्धरण, कारिका ६८ पर भी, वहाँ ग्रन्थ का नाम नहीं है । कारिका १५ के उद्धरण में है, अतः १५ का उद्धरण माठर लिखित नहीं होना चाहिये ।

जिन सन्दर्भों को हमने माठरवृत्ति में प्रक्षिप्त बताया है, सम्भव है, उनसे अतिरिक्त भी कोई ऐसे सन्दर्भ हों, परन्तु इस तरह के सन्दिग्ध स्थलों को हमने इस सूची में स्थान नहीं दिया है। यदि सम्भव होसका, तो माठरवृत्ति के समालोचनात्मक संस्करण में हम उन सब स्थलों का विस्तारपूर्वक निर्देश कर सकेंगे। यहाँ केवल माठर के काल का निश्चय करने में उपयोगी उद्धरणों का विवेचन किया है।

माठर के प्रसंग में जो विवेचन हमने किया है, उसका निष्कर्ष यह है—

(१) माठर, युक्तिदीपिकाकार से प्राचीन आचार्य है।

(२) माठर का समय विक्रम शताब्दी का प्रारम्भ होने से पर्याप्त पूर्व स्थिर कियाजासकता है।

(३) 'सांख्यसप्तति' और 'हिरण्यसप्तति' एक ही ग्रन्थ के नाम हैं, इसका रचयिता ईश्वरकृष्ण है।

(४) ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास एक व्यक्ति नहीं।

(५) ईश्वरकृष्ण का समय विक्रम सम्वत् प्रारम्भ होने से पर्याप्त पहले है। आचार्य शंकर का काल विक्रम पूर्व ४५२ वर्ष (५०९ वर्ष पूर्व ख्रीस्ट) है। ईश्वरकृष्ण उससे प्राचीन है।

(६) विन्ध्यवास का समय ईसा के तृतीय शतक का पूर्वार्द्ध [२५० A. D.] कहाजाता है, जो विश्वसनीय नहीं है।

(७) परमार्थ ने ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिकाओं की जिस टीका का चीनी भाषा में अनुवाद किया था, वह वर्त्तमान माठरवृत्ति है।

माठरवृत्ति और सुवर्णसप्तति शास्त्र

पिछले पृष्ठों में यह वर्णन कियागया है, कि ख्रीस्ट के छठे शतक में परमार्थ पण्डित ने भारतीय साहित्य के अनेक संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। उन ग्रन्थों में ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिका और उसकी एक टीका थी। अभी तक यह निश्चय नहीं होपाया, कि सांख्यकारिका की जिस टीका का परमार्थ ने चीनी भाषा में अनुवाद किया था, वह कौन-सी टीका है। कुछ विद्वानों का विचार है—वह टीका, गौडपादकृत सांख्यकारिकाओं का भाष्य है। इस तरह का विचार रखनेवाले विद्वानों में एक नाम लोकमान्य स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलक का लेसकते हैं। दूसरे कुछ विद्वानों का विचार है—यह टीका माठरवृत्ति है। ऐसा विचार रखनेवाले विद्वानों में डॉ० श्रीपाद कृष्ण बैल्वल्कर का नाम उल्लेखनीय है।

चीनी अनुवाद को, 'सुवर्णसप्तति शास्त्र' नाम दियागया है—

अभी तक ये सब अनुमान उन तुलनात्मक लेखों के आधार पर होते रहे हैं, जो समय-समय पर जापान चीन और योरप के विद्वानों ने उक्त चीनी अनुवाद के सम्बन्ध में प्रकाशित किये हैं। परन्तु अब हमारे सौभाग्य से पहाड़ की ओट करनेवाला वह तिल दूर होगया है, और वह चीनी अनुवाद पुनः संस्कृत भाषा में रूपान्तर होकर हमारे सन्मुख उपस्थित है। इसी रूपान्तर को 'सुवर्णसप्तति शास्त्र' नाम दियागया है। श्रीवेंकटेश्वर ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, तिरूपति मद्रास के संचालकों ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर विद्वत्समाज का महान उपकार किया है। श्रीयुत न० अय्यास्वामी शास्त्री अत्यन्त प्रशंसा के पात्र हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ का चीनी भाषा से संस्कृत में रूपान्तर किया, इसका सम्पादन किया, भूमिका लिखी, पाद-टिप्पणी और सब सूचियां तय्यार कीं। अब इतनी अधिक सामग्री हमारे सन्मुख है, कि हम बहुत स्पष्टरूप में यह जानने का यत्न करसकते हैं, कि चीनी अनुवाद किस टीका का होसकता है। माठरवृत्ति के प्रत्येक पद की अब हम इससे तुलना करसकते हैं, और तथ्य को प्रकाश में लासकते हैं।

श्रीयुत अय्यास्वामी का प्रशंसनीय कार्य—

इस दिशा में अय्यास्वामी शास्त्री महोदय का प्रयत्न अत्यन्त श्लाघनीय है। आपने माठरवृत्ति और गौडपाद भाष्य की, चीनी अनुवाद के साथ गम्भीरता-पूर्वक तुलना की है, तथा उनकी परस्पर समानताओं और असमानताओं की सूचियां तैयार कर ग्रन्थ के साथ जोड़ दी हैं। यथावसर जयमंगला (सांख्य-कारिकाओं की एक व्याख्या), सांख्यतत्त्वकौमुदी और चन्द्रिका टीका को भी तुलना के लिये उपयोग में लायागया है। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ, कि श्री शास्त्री महोदय ने अपने तुलनात्मक विचारों में सांख्यकारिकाओं की अन्यतम व्याख्या युक्तिदीपिका[1] का उपयोग नहीं किया। इतनी महत्त्वपूर्ण व्याख्या के उपयोग की उपेक्षा का कारण हम नहीं समझसके।

अय्यास्वामी का मत–माठरवृत्ति, चीनी अनुवाद का आधार नहीं—

इस प्रसंग में हम केवल चीनी अनुवाद के साथ माठरवृत्ति के सम्बन्ध पर प्रकाश डालना चाहते हैं। अय्यास्वामी शास्त्री ने माठरवृत्ति की रचना

---

१. यह ग्रन्थ कलकत्ता से 'कलकत्ता संस्कृत सीरीज़' की २३ संख्या पर सन् १९३८ ईसवी में प्रकाशित होचुका है।

का काल सुवर्णसप्तति[1] की भूमिका में खीस्ट १००० के अनन्तर[2] बताया है, और इसप्रकार माठरवृत्ति को चीनी अनुवाद का आधार नहीं माना। गौडपाद भाष्य को यद्यपि माठरवृत्ति से उन्होंने प्राचीन माना है, परन्तु चीनी अनुवाद का आधार उसको भी नहीं माना। उनका विचार है–चीनी अनुवाद का आधार कोई पुराना ग्रन्थ माठरभाष्य होगा,[3] जिसका जैन ग्रन्थों में उल्लेख है। जो वर्त्तमान माठरवृत्ति से भिन्न है। परन्तु इसप्रकार के अनुमान आकाश में डण्डा चलाने के समान निरर्थक है। गुणरत्नसूरि के 'प्रान्त' पद का अर्थ न समझने के अतिरिक्त इन अनुमानों के असंगत होने का एक और कारण यह होगया है, कि श्रीयुत शास्त्री महोदय ने अपने तुलनात्मक विवेचनों में युक्तिदीपिका को स्थान नहीं दिया।

मूल और अनुवाद की तुलना के लिये अपेक्षित, कुछ आवश्यक मौलिक आधार—

इस सम्बन्ध में हम अपना मन्तव्य प्रकाशित कर चुके हैं, कि वर्त्तमान माठरवृत्ति का परमार्थ ने चीनी भाषा में अनुवाद किया। जैनग्रन्थों में इसीको 'माठरभाष्य' कहागया है। इस विचार की पुष्टि के लिये इनकी तुलनात्मक विवेचना से पूर्व हम उन साधारण नियमों का निर्देश करदेना चाहते हैं, जिनको इस विवेचना के समय सदा ध्यान में रखना अभीष्ट है।

(१) चीनी अनुवाद दो वार रूपान्तर होचुका है। एक वार संस्कृत से चीनी भाषा में, पुनः चीनी भाषा से संस्कृत में। यह निश्चित है–चीनी से संस्कृत में हुआ अनुवाद, मूल संस्कृतरूप के साथ सर्वथा मिल नहीं सकता। उसमें अनेक प्रकार से भेदों का होजाना सम्भव और स्वाभाविक है।

(२) उधर चीनी अनुवादरूप में भी, लगभग दो सहस्र वर्ष के लम्बे काल में, परिवर्तनों का होना सर्वथा सम्भव है, और पाठों का कुछ परिवर्त्तन होना तो साधारण बात है।

(३) इधर मूल संस्कृत रूप में भी, इतने लम्बे काल में परिवर्त्तनों और न्यूनाधिकताओं का होना अत्यन्त सम्भव है।

---

१. इस प्रकरण में चीनी अनुवाद के पुनः संस्कृतरूपान्तर का हमने इसी नाम से उल्लेख किया है; क्योंकि इसके सम्पादक और संस्कृतरूपान्तरकर्त्ता महोदय ने इसको 'सुवर्णसप्तति शास्त्र' नाम से उल्लिखित किया है।

२. सुवर्णसप्तति भूमिका, पृ० ३१ पर।

३. सुवर्णसप्तति भूमिका पृ० ४२ पर।

(४) अनुवाद करते समय मूल और अनुवाद में कुछ भेद तथा न्यूनाधिकतायें होजायाकरती हैं। अनुवादक मूलग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करने के लिये अनेक बार कुछ अधिक कथन करदेता है। अथवा किसी अंश की, अपने विचारों से प्रभावित होकर उपेक्षा करदेता है।

(५) मूल और अनुवाद की धाराओं का क्षेत्र, भिन्न होजाने से उन दोनों में भेदों का होना संभव है। मूल ग्रन्थ भारत में रहा, और अनुवाद चीन में। इतने लम्बे काल तक दोनों के सन्तुलन का कोई अवकाश नहीं आया।

(६) वर्तमान संस्कृतरूपान्तरकर्त्ता के दृष्टिकोण का भी इस दिशा में प्रभाव होसकता है।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की परस्पर तुलना करनी चाहिये।

माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की साधारण असमानताएँ—

अय्यास्वामी शास्त्री महोदय ने सुवर्णसप्तति की भूमिका के साथ कुछ ऐसी सूचियाँ दी हैं, जिनमें माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की समानताओं तथा असमानताओं का निर्देश कियागया है। इसके सम्बन्ध में अपना विचार आपने यह प्रकट किया है, कि असमानताओं का कारण इन दोनों ग्रन्थों का भिन्न होना है, और समानताओं का कारण है, एक के द्वारा दूसरे का अनुकरण कियाजाना। क्योंकि चीनी अनुवाद खीस्ट षष्ठ शतक के मध्य में कियागया था, इसीलिये उपलभ्यमान माठरवृत्ति की स्थिति को आपने उससे पूर्व अथवा उस समय स्वीकार नहीं किया है। आपने इसका समय खीस्ट एकादश शतक बताया है। परन्तु सांख्यकारिका की उपलभ्यमान सब व्याख्याओं को परस्पर तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह निश्चय होजाता है, कि माठरवृत्ति इन सब व्याख्याओं में प्राचीन है। इस मत को अनेक प्रमाणों के आधार पर हम अभी निश्चय करचुके हैं। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहाजासकता, कि माठरवृत्ति ने चीनी अनुवाद के मूल आधार ग्रन्थ का अनुकरण किया होगा, प्रत्युत माठरवृत्ति की सर्वापेक्षया प्राचीनता सिद्ध होजाने पर, यही कहाजासकता है, कि चीनी अनुवाद इसी माठर व्याख्या का कियागया है। इसप्रकार इन दोनों ग्रन्थों की समानता, केवल एक के द्वारा दूसरे का अनुकरण करने पर आधारित नहीं है, प्रत्युत ये दोनों एक ही ग्रन्थ है, एक मूल और दूसरा अनुवाद। इनकी समानता का आधार यही है।

इन दोनों ग्रन्थों में उपलभ्यमान असमानताओं के कारणों के सम्बन्ध में हम कुछ साधारण नियम ऊपर निर्दिष्ट करचुके हैं। इन नियमों के साथ उन स्थलों को ध्यान में रखना चाहिये, जिनको अभी पिछले पृष्ठों में प्रक्षिप्त कहा गया है, मूल ग्रन्थ का भाग नहीं मानागया। फिर देखना चाहिये–इन दोनों

ग्रन्थों में असमानताओं का कहाँ तक अवकाश रहजाता है। शास्त्री महोदय ने अपनी सूचियों में जिन असमानताओं का निर्देश किया है, उनमें से बहुत अधिक का समाधान इन आधारों पर होजाता है। हम इस समय प्रत्येक असमानता के सम्बन्ध में विवेचन करने के लिये तैयार नहीं है, और उसकी उतनी आवश्यकता भी नहीं है, कुछ ऐसी साधारण असमानताओं का, मूल और अनुवाद में होजाना कोई असम्भव बात नहीं है। परन्तु यहाँ उन भेदों का विशेषरूप से विवेचन कर देना अपेक्षित है, जिनको अपनी भूमिका में शास्त्री महोदय ने महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

अलबेरूनी के ग्रन्थ के आधार पर, माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की असमानताओं का निर्देश, तथा उनका विवेचन—

उनमें से कुछ स्थल अलबेरूनी के भारतयात्रा सम्बन्धी ग्रन्थ के आधार पर दियेगये[1] हैं। डा० तकाकुसु की सम्मति के अनुसार इस बात को मानलिया गया है, कि अलबेरूनी के सांख्य-सम्बन्धी उल्लेख चीनी अनुवाद के साथ मिलते हैं, गौडपाद भाष्य के साथ नहीं। परन्तु माठरवृत्ति के साथ उनकी अधिक समानता है। एक उल्लेख—सारथि से अधिष्ठित रथ का ऐसा[2] है, जो चीनी अनुवाद में नहीं, माठरवृत्ति में है, जिसके आधार पर यह स्वीकार कियाजाना चाहिये, कि अलबेरूनी के सांख्यसम्बन्धी उल्लेखों का आधार माठरव्याख्यान है। परन्तु शास्त्री महोदय ने इस सम्बन्ध में कह दिया है—यह तो एक परम्परा-प्राप्त उदाहरण है। सम्भव है, अलबेरूनी ने और कहीं से इसे लेलिया होगा। शास्त्री महोदय का यह समाधान कहाँ तक ठीक है, कह नहीं सकते। क्योंकि शास्त्री महोदय ने इसका संकेत तक नहीं दिया, कि यह उदाहरण कहाँ से लिया गया। उनके कथन से यथार्थ को टालने की प्रवृत्ति झलक रही है। इसमें भी सन्देह नहीं, कि प्रायः सभी ऐसे उदाहरण परम्पराप्राप्त हुआ करते हैं, फिर भी उनकी पद विन्यास व विवरण की रीति आदि से पहचाना जासकता है, कि अमुक उदाहरण कहाँ से लियागया होगा। सांख्य के प्रकरण में अलबेरूनी ने यही उदाहरण और कहीं से लेकर रखदिया होगा, इसमें क्या प्रमाण हैं ? वस्तु-स्थिति यही होनी चाहिये, कि अलबेरूनी ने इसको किसी सांख्य-ग्रन्थ के आधार पर लिखा है, और जिस अथवा जिन सांख्यग्रन्थों के साथ उन उल्लेखों की अधिक समानता हो, वे ग्रन्थ अलबेरूनी के लेख के आधार कहेजासकते है।

(१) एक अन्य स्थल अलबेरूनी के ग्रन्थ से इसप्रकार बताया गया है—अलबेरूनी ने आठ देवयोनियों की दो स्थलों पर सूची दी है। संख्या चार पर पहली

१. सुवर्णसप्तति भूमिका, पृ० ३१-३३।
२.

सूची में 'सोम' और दूसरी सूची में 'पितर' का निर्देश है। गौडपाद भाष्य में दोनों स्थलों पर 'सोम' का निर्देश है। चीनी अनुवाद में यथाक्रम 'यम' और 'असुर' का निर्देश है। माठरवृत्ति में 'पितर' और 'पित्र्य' का निर्देश है। शास्त्री महोदय ने इसका परिणाम यह प्रकट किया है, कि अलबेरूनी के लेख का आधार माठरवृत्ति नहीं होसकती। परन्तु ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थों में से कौनसा ग्रन्थ आधार होसकता है, इसका आपने उल्लेख नहीं किया। हम यह स्पष्ट देखते हैं–अलबेरूनी का लेख, माठर और गौडपाद के लेखों के साथ समानता रखता है। इससे यह स्पष्ट है–ये दोनों ग्रन्थ उसके सामने थे।

अलबेरूनी के ग्रन्थ के साथ इसकी तुलना करने से इस विचार की पुष्टि हो जाती है। अलबेरूनी का लेख उसी समय संगत होसकता है, जब यह स्वीकार किया जाय, कि उक्त लेख के समय दोनों ग्रन्थ उसके सन्मुख थे। उसका लेख इसप्रकार है—

"पहले सांख्य नामक पुस्तक का सार देते हैं—

जिज्ञासु बोला–'प्राणियों की कितनी जातियाँ हैं ?"

ऋषि ने उत्तर दिया–"उनकी तीन श्रेणियां हैं, अर्थात् आध्यात्मिक लोग ऊपर, मनुष्य मध्य में, और पशु नीचे। उनकी चौदह जातियां हैं, जिनमें से आठ ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, सौम्य, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच आध्यात्मिक हैं। पाँच पशु जातियाँ हैं, अर्थात् गृह-पशु, वन-पशु, पक्षी, रेंगनेवाले और उगनेवाले (यथा-वृक्ष)। एक जाति मनुष्य है।"

उसी पुस्तक के लेखक ने अन्यत्र भिन्न नामोंवाली यह सूची दी है–ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच[1]।

हम देखते हैं–जो सूची दो स्थानों से अलबेरूनी ने दी है, वह सांख्य की किसी एक पुस्तक में नहीं है। ये दोनों सूचियाँ सांख्यसप्तति की ४४वीं और ५३वीं आर्याओं के व्याख्याग्रन्थों में दीगई है। अलबेरूनी की दी हुई सूचियों में पहली सूची गौडपाद की और दूसरी माठर की है। प्रत्येक व्याख्या में दोनों स्थलों (४४ तथा ५३ आर्या) पर अपने पाठ एक समान हैं। अभिप्राय है–गौडपाद में जो सूची ४४वीं आर्या पर है, वहीं ५३वीं पर, उसमें परस्पर कोई भेद नहीं। इसीप्रकार माठर की व्याख्या में दोनों आर्याओं पर समान सूची है। पर इन दोनों व्याख्याओं में एक दूसरे से थोड़ा अन्तर है, और वह यह है, कि माठर की सूची में 'पितर' के स्थान पर गौडपाद में 'सौम्य' का उल्लेख

१. हमने यह पाठ 'अलबेरूनी का भारत' नामक हिन्दी अनुवाद से लिया है। आठवें परिच्छेद का प्रारम्भिक भाग, पृ० ११३॥ इस ग्रन्थ के अनुवादक पं० सन्तराम बी० ए० और प्रकाशक इण्डियन प्रेस प्रयाग है। ईसवी सन् १९२६ का द्वितीय संस्करण।

है। इसीप्रकार अलबेरूनी की दी हुई सूचियों में पहली गौडपाद की तथा दूसरी माठर की है। अलबेरूनी को यह भ्रान्ति हुई है, कि उसी पुस्तक के लेखक ने अन्यत्र भिन्न नामोंवाली सूची दी है। संभवतः उसने सांख्यसप्तति की इन दोनों व्याख्याओं के भेदों को उपेक्षित कर मूलग्रन्थ सांख्यसप्तति के विचार से इन टीकाओं को एक लिखदिया है। यह निश्चित है—वर्तमान चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर में जो सूची दीगई है, वह अलबेरूनी की दी हुई सूचियों में से किसीके साथ समानता नहीं रखती। फिर भी इससे यह अनुमान नहीं कियाजा-सकता, कि चीनी अनुवाद का आधार माठरवृत्ति से भिन्न होगा, प्रत्युत यह अधिक संभव है—अनुवादक ने मूल के एक शब्द के स्थान पर अनुवाद में अन्य शब्द बदल दिया है।

शास्त्री महोदय के कथनानुसार अलबेरूनी के सांख्य-सम्बन्धी लेख यदि माठर और गौडपाद के आधार पर नहीं हैं, तो किसके आधार पर हैं? चीनी अनुवाद तो अलबेरूनी के सामने था नहीं, वह चीन में था। शास्त्री महोदय की दृष्टि से जिस संस्कृत ग्रन्थ का चीनी में अनुवाद कियागया, वह केवल शास्त्री महोदय की कल्पना का ग्रन्थ है। समस्त संस्कृत वाङ्मय में उसके अस्तित्व का कहीं कोई संकेत तक नहीं मिलता।

वस्तुतः इन ग्रन्थों में केवल शब्द का भेद है। जो विद्वान् वैदिक साहित्य एवं आर्ष परम्पराओं से परिचित हैं, वे जानते हैं—'पितर' और 'सोम' में कोई अन्तर नहीं है। इनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।[१] ऐसी स्थिति में माठर के 'पितर' पद के स्थान पर यदि गौडपाद ने 'सोम' पद का प्रयोग करदिया, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं, न इससे कोई अर्थभेद होता है। यह अधिक संभव है—अलबेरूनी इस पाठभेद की विशेषता को न समझसका हो, और दोनों ग्रन्थों के पाठ के सामञ्जस्य के लिये एक सूची में माठर का और दूसरी सूची में गौड-पाद का पाठ देदिया हो। यह निश्चित है—चीनी अनुवाद के समय अनुवादक ने इस शब्द में विपर्यय कर दिया है, इसका कारण डा० तकाकुसु के कथनानुसार चाहे बौद्ध प्रभाव हो, अथवा अन्य कुछ। परन्तु हमारा विचार है—जिसप्रकार 'पितर' और 'सोम' पद एक अर्थ के साथ सम्बद्ध हैं, इसीप्रकार 'पितर' के साथ 'यम' पद का सम्बन्ध साहित्य में हम देखते हैं।[२] इससे यह अनुमान कियाजा-

२. तुलना कीजिये—'आयन्तु नः पितरः सोम्यासः' यजुर्वेद, १९।५८॥ 'सोमः पितृमान्' तैत्ति० ब्रा० १।६।८।२॥ १।६।९।५॥ स्वाहा सोमाय पितृमते, मन्त्रब्राह्मण २।३।१॥ सोमाय वा पितृमते, शत० ब्रा० २।६ १।४॥

१. पितृलोको यमः, कौषी ब्रा० १६।८॥ क्षत्रं वै यमो विशः पितरः, श० ब्रा० ७।१।१।४॥ यमो वैवस्वतो राजा इत्याह तस्य पितरो विशः। श० ब्रा० १३।४।३।६॥

सकता है, कि अनुवादक ने एक स्थान पर अनुवाद में माठर के 'पितर' पद के लिये चीनी भाषा के किसी ऐसे पद का प्रयोग किया हो, जिसका संस्कृत रूपान्तर 'यम' कियागया है। इसमें कोई सन्देह नहीं; कि 'पितर' और 'यम' पदों का प्रकृत अर्थ के प्रकट करने में परस्पर सम्बन्ध है। परन्तु दूसरी सूची में 'असुर' पद का प्रयोग, संभव है-बौद्ध प्रभाव के कारण कियागया हो। ऐसी स्थिति में अलबेरुनी के लेख का, माठरवृत्ति को आधार मानने की उपेक्षा नहीं कीजासकती।

(२) दूसरा स्थल 'स्थाणुदर्शन' का दियागया है। प्रत्ययसर्ग के चार भेद- विपर्यय अशक्ति तुष्टि और सिद्धि; इनका स्वरूप समझाने के लिये एक उदाहरण दिया है-एक ब्राह्मण चार शिष्यों के साथ प्रातःकाल अंधेरे में चल पड़ता है, मार्ग में एक शिष्य अन्धेरा रहने के कारण सामने अस्पष्ट दृष्टिगोचर होती हुई वस्तु के सम्बन्ध में गुरु को कहता है, सन्मुख इस वस्तु को देख रहा हूँ, पर नहीं जानता, यह स्थाणु है अथवा पुरुष? इसप्रकार शिष्य को स्थाणु के सम्बन्ध में संशय हुआ, यह विपर्यय है। गुरु ने दूसरे शिष्य को कहा-जाकर इसे देखो। उसने दूर से ही देखा, उसके समीप न जासका, और आचार्य से कहा- मैं उसके समीप नहीं जासकता। यह अशक्ति है। आचार्य ने तीसरे शिष्य को कहा। वह देखकर आचार्य से बोला, इसके देखने से हमें क्या प्रयोजन? चलिये अपना रास्ता लें। इस तीसरे को स्थाणु पुरुष के अविवेक से ही तुष्टि होगई, इसीका नाम तुष्टि है। तब आचार्य ने चौथे से कहा, उसने आंख साफ करके देखा, उसे मालूम होगया, इस पर बेल लिपटी हैं और ऊपर पक्षी बैठे हैं, उसने जाकर उसे छूलिया, और वापस आकर गुरु से कहा, यह स्थाणु है। इस चौथे पुरुष ने सिद्धि को प्राप्त किया। यह सब उल्लेख चीनी अनुवाद में ४६वीं आर्या की व्याख्या में उपलब्ध है। शास्त्री महोदय के अनुसार यह सिद्धि अलबेरूनी के ग्रन्थ में चौथे शिष्य को नहीं, प्रत्युत गुरु को बतलाई गई है। शास्त्री महोदय के विचार से अलबेरूनी ने उक्त वर्णन में पहले की अपेक्षा यह एक सुधार कर दिया है। अन्यथा गुरु का इस प्रसंग में कोई सम्बन्ध प्रकट नहीं होता! वस्तुतः सिद्धि चौथे शिष्य को प्राप्त है। गुरु को तो वह उस सिद्धि का विवरण प्रस्तुत करता है।

हमने अलबेरूनी के ग्रन्थ और चीनी अनुवाद, दोनों को मिलाकर पढ़ा है। यह ठीक है-अलबेरूनी के ग्रन्थ में चौथे शिष्य के द्वारा गुरु को ज्ञानप्राप्ति का उल्लेख किया है, पर इस बात से नकार नहीं कियाजासकता कि चौथे शिष्य को सन्मुख वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होचुका है। जिस वस्तु के जानने में पहले तीन शिष्य असफल रहे, उसीमें चौथे शिष्य ने सफलता प्राप्त की है। पहले तीन शिष्यों की स्थिति अथवा प्रवृत्ति से यथाक्रम विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि के स्वरूप का बोध करायागया है, और चौथे शिष्य की सफलता से सिद्धि का।

ऐसी स्थिति में अलबेरूनी के ग्रन्थ के आधार पर यह नहीं कहसकते, कि चौथे शिष्य को सिद्धि प्राप्त नहीं हुई। वस्तुस्थिति यही है, कि सिद्धि चौथे शिष्य को प्राप्त होती है। जिन चार वस्तुओं का बोध कराने के लिये उक्त दृष्टान्त दिया-गया है, वह चार शिष्यों की प्रवृत्ति में पर्यवसित होजाता है, इसीलिये चीनी अनुवाद का लेख पूर्ण है। अर्थ का निर्देश माठरवृत्ति में उतना ही है। प्रकृत में उक्त दृष्टान्त के द्वारा चार भावनाओं के स्वरूप का स्पष्ट बोध होजाने के अनन्तर हमें इस बात के जानने की आवश्यकता नहीं रहती, कि उस वस्तु का ज्ञान गुरु को होना आवश्यक था, या वह सार्थ (काफला) कब तक वहाँ ठहरा, या कब अथवा किस तरह वहाँ से चला, या आगे उसने क्या किया? दृष्टान्त चौथे शिष्य की प्रवृत्ति तक अपने अर्थ को पूरा करदेता है। इसलिये अलबेरूनी के ग्रन्थ में शिष्य के द्वारा गुरु को यह बात कहीजानी, प्रकृत अर्थ में सुधार नहीं करती, प्रत्युत यह अधिक कथन है, यद्यपि अप्रासंगिक नहीं। चीनी अनुवाद में इसका उल्लेख है। यदि अलबेरूनी के ग्रन्थ का यही अर्थ समझा-जाय, कि सिद्धि, चतुर्थ शिष्य को न होकर गुरु को होती है, तो निश्चित कहना पड़ेगा, कि या तो अलबेरूनी ने प्रकृत अर्थ को समझने में भूल की है, या उसके ग्रन्थ का वैसा अर्थ समझनेवाले ने।

हम देखते हैं—माठरवृत्ति में संक्षेप से यह सब वर्णन है। यद्यपि वहाँ गुरु-शिष्य के संवादरूप में नहीं है। माठर की उन पंक्तियों को यहाँ उद्धृत कर देना उपयुक्त है।

(१) **संशयबुद्धिर्विपर्ययः स्थाणुरयं पुरुषो वेति।**

(२) **भूयोऽपि स्थाणुं प्रसमीक्ष्य न शक्नोत्यन्तरं गन्तुं एवमस्याशक्तिरुत्पन्ना।**

(३) **ततस्तृतीयः तमेव स्थाणुं ज्ञातुं संशयितुं वा नेच्छति किमनेनास्माकं इत्येषा तुष्टिः।**

(४) **भूयश्चतुर्थो दृष्ट्वा यतस्तस्मिन् स्थाण्वादिरूढां वल्लीं पश्यति शकुनिं वा, ततोऽस्य निश्चय उत्पद्यते स्थाणुरयं इत्येषा सिद्धिः।**

माठर के लेख से स्पष्ट है—प्रत्ययसर्ग के इन चार भेदों को वह पृथक्-पृथक् चार व्यक्तियों के द्वारा प्रकट करना चाहता है। तुष्टि और सिद्धि के कथन में 'तृतीय' 'चतुर्थ' पदों का प्रयोग इस बात को सन्देहरहित करदेता है। यद्यपि यहां पर गुरु और शिष्य का उल्लेख नहीं है, फिर भी माठर की भावना इस ढंग की प्रतीत होती है, कि यह निर्देश जिज्ञासु द्वारा होना चाहिये। इससे यह अनुमान होता है, कि उस समय की पठन पाठन प्रणाली में माठर की इन पंक्तियों को उसी रूप में खुलासा करके पढ़ायाजाता होगा, जो रूप चीनी अनुवाद में आज हमें उपलब्ध है। उसी परम्परा का अलबेरूनी ने आश्रय लिया। इसी आधार पर उसने अपने ग्रन्थ में इस प्रसंग को लिखा है। अलबेरूनी ने

चतुर्थ प्रत्ययसर्ग–सिद्धि को गुरु के नाम पर जो निर्देश किया है, वह शिष्य द्वारा प्राप्त सिद्धि का गुरु को प्रस्तुत कियाजाना मात्र है, क्योंकि यह निर्देश न चीनी अनुवाद में है, और न उसके मूल रूप में। यदि अलबेरूनी का लेख, किसी लेख के आधार पर मानाजाय, तो यह निश्चय है–वह लेख चीनी अनुवाद और माठरवृत्ति के विरुद्ध होगा। हमारे सामने यह स्पष्ट है–प्रकृत प्रसंग, माठरवृत्ति और चीनी दोनों में अर्थ-प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यधिक समानता रखता है, जबकि अलबेरूनी के वर्णन में 'सिद्धि' के निर्देश में भेद है। हमारे विचार से इसे भेद न कहकर अधिक निर्देश कहना चाहिये।

(३) तीसरा एक भेद-स्थल अलबेरूनी के ग्रन्थ से यह उपस्थित कियाजाता है–आर्या १६ की व्याख्या में वर्णन है–वर्षा का मधुर जल पृथिवी पर आकर नाना रसों में परिणत होजाता है। यदि सुवर्णभाजन में रहता है, तो वह उसीतरह मधुर रहता है। यदि पृथ्वी पर गिरजाता है, तो पृथिवी के गन्ध के अनुसार नाना रसों में परिणत होजाता है। यह वर्णन चीनी अनुवाद में है। कहाजाता है–इस प्रसंग में अलबेरूनी ने सुवर्णभाजन का उल्लेख किया है। परन्तु माठरवृत्ति में सुवर्ण का उल्लेख नहीं है। इससे परिणाम निकाला-गया है, कि चीनी अनुवाद का आधार माठरवृत्ति नहीं होसकती।

इस सम्बन्ध में कुछ कहने से पहले माठरवृत्ति और चीनी के अनुवाद संस्कृत रूपान्तर को तुलना की सुविधा के लिये यहां उद्धृत करदेना उपयुक्त होगा—

माठर	चीनी अनुवाद
तद्यथा-एकरसमन्तरिक्षात् जलं पतितम्, तच्च मेदिनीं प्राप्य नानारसतां याति, पृथग्भाजनविशेषात्।	दिव्यमादावेकरसं जलं प्राप्नोति मेदिनीम्। नानारसं परिणमति पृथक् पृथग्भाजनविशेषात्। यदि सुवर्णभाजने वर्तते, तद्रसोऽति-मधुरः। यदि पृथिवीं प्राप्नोति, पृथिवीगन्धमनुसृत्य रसो नाना भवति, न समः।

चीनी अनुवाद का प्रथम सन्दर्भ पद्य सदृश प्रतीत होता है। संस्कृतरूपान्तर-कार ने यहां टिप्पणी में निर्देश किया है–चीनी में यह श्लोकरूप में है। संस्कृत रूपान्तर में प्रथम अर्द्ध अनुष्टुप् बनगया है। द्वितीय अर्द्ध में कोई छन्द नहीं है। तुलना से स्पष्ट प्रतीत होता है–माठर के ग्रन्थ को चीनी अनुवाद में छन्द का रूप देने का प्रयास कियागया है। यह विचारणीय है–यदि माठर ने चीनी अनुवाद के मूल का अनुकरण किया होता, और उस मूल में इस स्थल पर कोई

श्लोक होता, तो माठर उसकी उपेक्षा न करता, वह श्लोक ही लिखदेता। जब कि विद्यमान संस्कृतरूपान्तर में पद और आनुपूर्वी वही है, जो माठर की है। माठरवृत्ति में यदि इस अर्थ का कुछ विशदीकरण होता, तब यह कल्पना कर सकते थे, कि उसने श्लोक का विवरण करदिया है, परन्तु ऐसा भी नहीं है। इससे स्पष्ट है—माठर के सन्दर्भ को चीनी अनुवाद के समय चीनी पदों में छन्दोरूप देने का यत्न किया, यद्यपि संस्कृतरूपान्तर में यह छन्द नहीं बन आया है।

अब चीनी अनुवाद के दूसरे सन्दर्भ पर आईये। इस संदर्भ के दो भाग हैं, जो दोनों 'यदि' पद के प्रयोगों से प्रारम्भ होते हैं। इनमें से दूसरा भाग, श्लोक के प्रथम तीन चरणों का व्याख्यानमात्र है, और प्रथम भाग, श्लोक के अन्तिम चरण का। इसके अतिरिक्त द्वितीय सन्दर्भ को लिखकर किसी नवीन अर्थ का उद्भावन नहीं कियागया। इससे स्पष्ट है—यह मूल का व्याख्यानमात्र है। मूल में 'भाजनविशेष' पद है, उसीको स्पष्ट करने के लिये सुवर्णभाजन और पृथिवी-भाजन का निर्देश किया है। यह वस्तु, व्याख्या की है, मूल की नहीं, और जैसा अभी निर्देश कर आये हैं, उस समय की अध्ययनाध्यापन परम्परा में माठर के उक्त पदों की व्याख्या इसी रूप में होती थी, उसीको चीनी अनुवादक ने अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अपने ग्रन्थ में रखदिया है। अनुवादक चीन में अवश्य चलागया था, परन्तु उस अध्यापन परम्परा को अपने साथ नहीं लेगया था, वह भारत में भी रही, और उसी मौखिक व्याख्या-परम्परा के आधार पर अलबेरूनी ने अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये अपने ग्रन्थ में इसे स्थान दिया। आज भी वह परम्परा समाप्त नहीं होगई। माठर की उक्त पंक्ति का यदि इस समय हम विवरण करेंगे, तो उसी रूप में कर सकते हैं, उससे अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। सुवर्ण का नाम भाजन के साथ इसीलिये जोड़ागया है—वह सब धातुओं में स्वच्छ और निर्दोष है। परन्तु अलबेरूनी ने और भी बहुत सी धातुओं का नाम लेदिया है। वह सोना, चाँदी, काँच, मिट्टी, चिकनी मिट्टी, खारी मिट्टी आदि का स्पष्ट उल्लेख करता है, चीनी अनुवाद में केवल सुवर्ण का उल्लेख है, 'आदि' पदका भी प्रयोग नहीं है। इससे स्पष्ट है—अलबेरूनी के लेख और चीनी अनुवाद में अनुकरण की द्योतक समानता नहीं है। मूल व्याख्या के पदों का दोनों जगह व्याख्यान होने के कारण समानता कहीजासकती है। इसप्रकार यह उल्लेख इस बात की और भी पुष्टि करता है, कि चीनी अनुवाद का मूल, माठरवृत्ति है।

अय्यास्वामी शास्त्री महोदय ने इस प्रसंग में एक बहुत अद्भुत परिणाम

निकाला है । आपने लिखा है,[1] "चीनी अनुवाद और अलबेरूनी के इतने समीप सन्तुलन के आधार पर हम कहसकते हैं–अलबेरूनी ने जिस सांख्यग्रन्थ का वर्णन किया है, और जिसे महर्षि कपिल की रचना कहा है, उसीको 'इण्डिका' [Indica अलबेरूनी के यात्रा वर्णन ग्रन्थका नाम] में उद्धृत किया है, जो चीनी अनुवाद का मूल प्रतीत होता है।"

अलबेरूनी के उद्धरण और चीनी अनुवाद के उपर्युक्त सन्तुलनों के आधार पर यह परिणाम निकालना वस्तुतः साहसपूर्ण है। यह स्पष्ट है–चीनी अनुवाद ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिकाओं की व्याख्या है । फलतः वह सांख्यकारिकाओं के किसी व्याख्या-ग्रन्थ का होगा । क्या शास्त्री महोदय यह समझते हैं, कि सांख्यकारिकाओं के उस व्याख्या ग्रन्थ की रचना कपिल ने की थी ? यदि नहीं, तो चीनी अनुवाद का आधार, कपिल की रचना को कैसे कहाजासकता है ? यदि हां, तब तो अनुसन्धान की यह पराकाष्ठा है । ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं पर महर्षि कपिल ने व्याख्याग्रन्थ लिखा, इस कथन पर विचार करना ही निरर्थक है ।

श्लोकवार्तिक के आधार पर भेदनिर्देश, तथा उसका विवेचन—

शास्त्री महोदय ने अपने विचारों की पुष्टि के लिये एक अन्य प्रमाण इस-प्रकार उपस्थित किया है—

कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्त्तिक [अनुमान १०५] में हेत्वाभासों का कथन करते हुए 'शयनादि' उदाहरण दिया है, जो पुरुष की सिद्धि के लिये 'संघात-परार्थत्वात्' [सां० का० १७] इस हेतु पर उदाहरण रूपमें सांख्याचार्यों के द्वारा निर्देश कियाजाता है। शान्तरक्षित ने 'तत्त्वसंग्रह' [३०७ का०] में इसी उदाहरण को 'शय्यासनादि' रूप में देदिया है। अब यह उदाहरण केवल चीनी अनुवाद में मिलता है। माठरवृत्ति और गौडपादभाष्य में इसके स्थान पर 'पर्यंकादि' उदाहरण दियागया है ।

इस सम्बन्ध में निवेदन है–इन पदों के द्वारा भेद का निरूपण कैसे किया-जासकता है ? 'शयन' 'शय्या 'पर्यंक' पद एक ही अर्थ को कहते हैं। परमार्थ ने माठर के 'पर्यंक' पद का चीनी में जो अनुवाद कियाहोगा, आपने अब संस्कृत रूपान्तर करते समय उसके लिये 'शयन' पद का प्रयोग करदिया है। यह आपको

१. From such close coincidences between Alberuni's quotations and CHC, we may say that the Samkhya book which Alberuni reports to have been composed by the sage Kapila and quotes in his 'Indica', seems to represent the original of the Chinese translation. सुवर्णसप्तति शास्त्र, भूमिका, पृ० ३३

कैसे प्रतीत होगया, कि उस चीनी पद का मूलरूप 'शयन' ही था 'पर्यंक' नहीं था, जबकि दोनों पद पर्यायवाची हैं, समान अर्थ को कहते है । इसीलिये इन पदों के प्रयोग पर मूल और अनुवाद अर्थात् माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद के भेद को आधारित करना सर्वथा निरर्थक है ।

कमलशील के आधार पर भेदनिर्देश तथा, उसका विवेचन—

इसके आगे शास्त्री महोदय ने तत्त्वसंग्रह की कमलशीलकृत पञ्जिका व्याख्या से ९,१०,११,१५[1] सांख्यकारिकाओं के विवरण की चीनी अनुवाद के साथ तुलना करके यह परिणाम निकाला है, कि पञ्जिका के विवरण चीनी अनुवाद से अधिक मिलते हैं, माठरवृत्ति से नहीं ।

परन्तु हमने स्वयं इन सब सन्दर्भों की परस्पर तुलना की है, और सर्वथा विपरीत परिणाम पर पहुँचे हैं । इन तीनों ग्रन्थों में प्रस्तुत प्रसङ्ग की समानताओं का हम यहाँ उल्लेख नहीं करते, प्रत्युत कुछ विभेदों को दिखलाते हैं, जिससे यह स्पष्ट होजायगा, कि पञ्जिका में कमलशील का विवरण माठरवृत्ति के साथ अधिक अनुकूलता रखता है, और माठरवृत्ति से चीनी अनुवाद का ऐसे स्थलों में विभेद, अनुवाद के समय न्यूनाधिकताओं के कारण हुआ है । परन्तु कमलशील के विवरण मूल व्याख्या माठरवृत्ति पर आधारित हैं, चीनी अनुवाद पर नहीं ।

पञ्जिका में १०वीं आर्या का विवरण करते हुए, महत् का हेतु प्रधान, अहङ्कार का हेतु महत, इन्द्रियों और तन्मात्रों का हेतु अहंकार और पञ्च महाभूतों का हेतु तन्मात्रों को कहा है । यह कथन इसी आर्या के चीनी अनुवाद के अनुकूल नहीं है । चीनी अनुवाद में अहंकार को केवल पञ्चतन्मात्र का हेतु कहा है, और इन्द्रियादि सोलह [११ इन्द्रिय ५ स्थूलभूत] पदार्थों का हेतु पञ्चतन्मात्रों को बताया है । पञ्जिका का विवरण माठरवृत्ति के अनुसार है ।

इसीप्रकार १५वीं आर्या के विवरण में कमलशील पांच स्थूलभूतों का पञ्चतन्मात्रों में तथा एकादश इन्द्रियों का अहंकार में लय होना बतलाता है । परन्तु चीनी अनुवाद में इसके विपरीत पांच स्थूलभूतों और एकादश इन्द्रियों का लय पञ्चतन्मात्रों[2] में बतायागया है । पञ्जिका का विवरण

---

१. ९ कारिका, तत्त्वसंग्रह के ८वें श्लोक [पृ० १८] पर, १० और ११ कारिका तत्त्वसंग्रह के ७वें श्लोक [पृ० १७] पर, १५ कारिका, तत्त्वसंग्रह के १४ श्लोक [पृ० २०–२१] पर व्याख्यात हैं ।

२. अभी आगे इस बात का निर्देशन करेंगे, कि यह मत चीनी अनुवाद में अनुवादक के द्वारा उद्भावन कियागया है, सांख्य के ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं पायाजाता । यदि कमलशील के विवरण किसी ऐसे ग्रन्थ के

माठरवृत्ति का अनुकरण करता है। ऐसी स्थिति में माठरवृत्ति, चीनी अनुवाद और पञ्जिका इन तीनों की परस्पर तुलना के आधार पर यह परिणाम निकालना कि कमलशील के लेख और चीनी अनुवाद का आधार, कोई माठरवृत्ति से अतिरिक्त व्याख्याग्रन्थ था, असङ्गत होगा।

मन की संकल्प-वृत्ति को (२७वीं आर्या के विवरण में) स्पष्ट करने के लिये जो उदाहरण, कमलशील (तत्त्वसंग्रह पंजिका पृ०१६) और गुणरत्न सूरि (षड्-दर्शनसमुच्चय सटीक पृ० १०१)ने अपने ग्रन्थों में दिया है, कहाजाता है उसका मूल माठर में नहीं है, चीनी अनुवाद में[1] है। इसीप्रकार ९वीं आर्या में 'उपादानग्रहण' हेतु का विवरण करते हुए एक उदाहरण कमलशील देता है, उसका मूल भी, माठर में नहीं, चीनी अनुवाद में हैं। इसलिये चीनी अनुवाद का मूल वही ग्रन्थ होना चाहिये, जो कमलशील के विवरण का आधार है, और वह ग्रन्थ माठरवृत्ति नहीं होसकता। क्योंकि उसमें उक्त उदाहरणों का मूल नहीं मिलता।

इस सम्बन्ध में निवेदन है—वस्तुतः ये उदाहरण मूल व्याख्या के अंश नहीं हैं। मूल व्याख्या के उन-उन पदों का स्पष्ट विवरण करने के लिये अध्ययन आदि के समय ये उदाहरण उपस्थित कियेजाते रहे हैं। आगे अनुवादक ने अपने अनुवाद में तथा अन्य लेखकों ने उन प्रसंगों के लिखने के अवसर पर अपने ग्रन्थों में अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये उनका उल्लेख किया है। माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की अन्य अत्यधिक समानताओं के आधार पर यदि यही कहा जाता है, कि माठरवृत्ति में चीनी अनुवाद के मूल का अनुकरण कियागया है, तो हम इसका कोई कारण नहीं पाते, कि ये उदाहरण माठरवृत्ति में क्यों नहीं है ? यदि कहाजाय, कि माठर अपनी इच्छानुसार इन्हें छोड़ सकता है, तो यह भी कहाजासकता है, कि चीनी अनुवादक अपनी इच्छानुसार अनुवाद में जोड़ भी सकता है, जो अर्थ के स्पष्ट करने के विचार से अधिक संगत है। इसलिये वस्तुस्थिति यही है, कि ये माठरवृत्ति की रचना के अनन्तर पुस्तक के प्रान्त भाग (हाशिये) पर अध्येता आदि द्वारा अंकित लेख हैं, जो कालान्तर में प्रतिलिपि आदि के अवसर पर मूल भाग का अंश बन गये। वृत्ति के मूल पदों का इनके द्वारा विवरण कियागया है।

ये उदाहरण मूल व्याख्या के भाग नहीं हैं, इसके लिये हम इसप्रकार तर्क कर सकते हैं। मनकी वृत्ति संकल्प कहीगई है, अहंकार की अभिमान और बुद्धि की

आधार पर होते, जो चीनी अनुवाद के आधार होने के साथ माठरवृत्ति से अतिरिक्त था, तो कमलशील के विवरण में चीनी अनुवाद के साथ उक्त सिद्धान्त सम्बन्धी मौलिक भेद न आपाता।

१. देखिये, सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृ० ३३।

अध्यवसाय । बुद्धि और अहंकार की वृत्ति का यथाक्रम २३ और २४वीं आर्या में निरूपण कियागया है । इनके विवरण के लिये किसी व्याख्या में कोई उदाहरण नहीं है । संकल्पवृत्ति के लिये भी मूलव्याख्या में उदाहरण नहीं होगा, माठरवृत्ति के अध्यापक व्याख्याकारों ने इसका उद्भावन किया, और अगले लेखकों ने इसका ग्रथन करदिया । ठीक इसीप्रकार ९वीं आर्या में 'उपादानग्रहण' हेतु के साथ चार अन्य हेतुओं का उपन्यास है, परन्तु किसी व्याख्या में किसीके साथ कोई उदाहरण नहीं है । वैसे हेत्वर्थ के विवरण के लिये प्रत्येक हेतुपद के साथ इस तरह के उदाहरण की कल्पना कीजासकती है । मूल व्याख्या में जहाँ कहीं ऐसे उदाहरण दियेगये हैं, उनमें इस तरह की विषमता नहीं देखीजाती । इससे अनुमान होता है—आवश्यकतानुसार मूलव्याख्या के पढ़ने-पढ़ाने वालों ने बहुत सी बातों को मूल पदों के विवरणों के साथ अपने ग्रन्थों में अधिक लिखने का अवसर दिया है ।

उपर्युक्त कथन के लिये हमारा कोई आग्रह नहीं है । पर इतना निश्चय है—वर्तमान माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद का परस्पर इतना अधिक साम्य है, कि केवल इतना कहकर इसे उपेक्षित नहीं कियाजासकता, कि माठर ने चीनी अनुवाद के मूल का अनुकरण किया होगा । किसी ग्रन्थ का अन्य लेखक के द्वारा अनुकरण कियाजाना और प्रतिलिपि कियाजाना, सर्वथा भिन्न बातें हैं । इन दोनों ग्रन्थों की समानता अनुकरण की स्थिति तक पूर्ण नहीं होपाती, प्रत्युत यह समानता प्रतिलिपि की स्थिति तक पहुँच जाती है । इस बात को हम निश्चयरूप से जानते हैं, कि चीनी अनुवाद, अनुवाद है, वह प्रतिलिपि के समान है, उसका मूल अवश्य कोई संस्कृत ग्रन्थ है, और वह ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिकाओं की व्याख्या है । ऐसी स्थिति में केवल माठरवृत्ति को चीनी अनुवाद की मूलभूत व्याख्या मानाजासकता है । इतना निश्चय होजाने पर हम वर्तमान माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद के अनेक पाठों को एक दूसरे की सहायता पर शुद्ध करसकते हैं, और अधिक से अधिक मूल वास्तविक पाठों तक पहुँच सकते हैं । इसलिये उक्त प्रस्तुत उदाहरणों के सम्बन्ध में यह भी अनुमान कियाजासकता है, कि कुछ पाठ वर्तमान माठरवृत्ति में खण्डित होगये हों, जिनका पता हम चीनी अनुवाद के आधार पर लगासकते हैं ।

माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की आश्चर्यजनक समानता—

इसका आगे निर्देश करेंगे, कि चीनी अनुवाद में अनेक सन्दर्भ ऐसे हैं, जो अनुवादक ने स्वयं उसमें मिलाये हैं, वे मूल के अंश कदापि नहीं कहेजासकते । परन्तु इससे पूर्व प्रसंगवश इन दोनों ग्रन्थों (मूल माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद) की उन दो एक समानताओं का उल्लेख करदेना चाहते हैं, जो

एक ग्रन्थकार के द्वारा दूसरे ग्रन्थ का अनुकरण करने में संभव नहीं होसकती, केवल प्रतिलिपि अथवा अनुवाद में उनकी संभावना होसकती है।

(क) माठरवृत्ति में १८वीं आर्या के 'अयुगपत्प्रवृत्तेश्च' इस हेतुपद का व्याख्यान नहीं है। यह हम नहीं कहसकते, कि इस पद का व्याख्यान, व्याख्याकार ने किया नहीं अथवा किसी समय खण्डित होगया। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य यह बात है, कि चीनी अनुवाद में भी इस हेतुपद का व्याख्यान नहीं है। अब यदि हम इस बात को स्वीकार करें, कि माठर ने चीनी अनुवाद के मूल का अनुकरण किया है, तो निश्चित ही किसी ग्रन्थ का अनुकरण करनेवाले लेखक के सम्बन्ध में यह नहीं मानाजासकता, कि यदि किसी पद के अर्थ प्रथम ग्रन्थ में नहीं हैं, तो अनुकर्त्ता भी उसे छोड़ दे। वस्तुतः अनुकरण करते हुए भी वह अपनी रचना कररहा है, वह स्वयं उन पदों का अर्थ करसकता है, अर्थ न कियेजाने का कारण, उसकी अयोग्यता को नहीं मानाजासकता। परन्तु प्रतिलिपि करनेवाले के लिये यह सर्वथा संभव और युक्त है, क्योंकि वह नई रचना नहीं कररहा। इसी तरह अनुवाद में यह बात संभव है। अनुवादक मूलग्रन्थ का अनुवाद करेगा, यदि किन्हीं पदों का व्याख्यान मूलग्रन्थ में नहीं है, तो वह कर ही क्या सकता है, वह उसको उसी तरह छोड़ देगा, क्योंकि वह अनुवादक है। यह एक बहुत स्वाभाविक बात है, कि माठरवृत्ति में उक्त हेतुपद का व्याख्यान नहीं है, और इसीलिये चीनी में उसका अनुवाद नहीं हुआ। यह समानता निश्चय करती है, कि यह अनुवाद माठरवृत्ति का है।

(ख) ११वीं आर्या की व्याख्या में छठे हेतु का व्याख्यान करते हुए कमलशील[1] ने प्रधान और व्यक्त दोनों को इकट्ठा प्रसवधर्मी कहा है, और उसी क्रम से उदाहरण दिया है, अर्थात् प्रधान से बुद्धि की उत्पत्ति होती है, और बुद्धि से अहंकार की। चीनी अनुवाद में इस उदाहरण में विपर्यय है। अर्थात् पहले व्यक्त का उदाहरण दिया है—बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है, और अहंकार से तन्मात्र आदि। इसके अनन्तर लिखा है, प्रधान महत् को उत्पन्न करता है। चीनी अनुवाद का यह क्रम, माठरवृत्ति के सर्वथा अनुकूल है, यद्यपि अपने लेख से उसका असामञ्जस्य होजाता है। तात्पर्य है—उदाहरण को उसने अपने मूलग्रन्थ के अनुसार रहने दिया है, जो अनुवादक के लिये उपयुक्त कहाजासकता है। केवल अर्थ का अनुकरण करनेवाला उससे बाधित नहीं होता, जैसे कमलशील ने किया है। इसीलिये स्थिर होता है, कि ऐसी समानताएं केवल अनुकरण में संभव नहीं, अनुवाद में इनकी संभावना स्वाभाविक है।

---

१. तत्त्वसंग्रह ७वां श्लोक, पृष्ठ १७ पर।

अलबेरूनी, कमलशील और गुणरत्न के लेखों का आधार, माठरवृत्ति—

पिछले पृष्ठों में हमने चीनी अनुवाद के ऐसे सन्दर्भों के सम्बन्ध में आलोचना की है, जिनकी समानता सुवर्णसप्तति के विद्वान् सम्पादक महोदय ने अलबेरूनी, कमलशील और गुणरत्नसूरि के लेखों के साथ प्रदर्शित की है, और माठरवृत्ति के साथ उसकी असमानता बतलाई है। अब हम अलबेरूनी कमलशील और गुणरत्नसूरि के ग्रन्थों से ऐसे उदाहरण उपस्थित करते हैं, जिनकी माठरवृत्ति के साथ अत्यधिक समानता है, चीनी अनुवाद के साथ नहीं। यद्यपि चीनी अनुवाद में ऐसा विपर्यय अनुवाद होने के कारण होगया है। इससे यह परिणाम स्पष्ट सामने आजाता है, कि अलबेरूनी आदि के सन्मुख माठरवृत्ति अवश्य थी, जिसके आधार पर उन्होंने अपने ग्रन्थों में सांख्य-विचारों का उल्लेख किया है, और यह चीनी अनुवाद इसीलिये उसी वृत्ति का अनुवाद कहाजासकता है।

१—'अलबेरूनी का भारत' हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ६१ के प्रारम्भ में सांख्यग्रन्थ से एक दृष्टान्त उद्धृत किया है। इसकी आनुपूर्वी तथा रचनाप्रसंग, माठरवृत्ति में २०वीं आर्या के व्याख्यान में उपलब्ध दृष्टान्त के साथ अत्यधिक समानता रखता है, चीनी अनुवाद की आनुपूर्वी में पर्याप्त अन्तर है। गौडपाद भाष्य में भी वह आनुपूर्वी नहीं है।

अलबेरूनी का भारत

सांख्यदर्शन उनका [आत्मा और कर्म का] इतना सम्बन्ध बताता है, जितना एक पथिक का उन अपरिचित लोगों से है,जो दैवयोग से मार्ग में उसके साथी होगये। ये अपरिचित लोग डाकू हैं, किसी गांव को लूटकर आरहे हैं। वह पथिक उनके साथ अभी थोड़ा ही मार्ग चला है, इतने में पीछे से गांववालों (रक्षा कर्मचारियों) ने आकर घेर लिया। सब डाकू पकड़ लिये गये और साथ ही निरपराधी पथिक भी पकड़ा गया। उसके साथ ठीक वैसा ही वर्त्ताव हुआ, जैसा डाकुओं के साथ। यद्यपि उसने उनके काम में कोई भाग नहीं लिया था, तो भी उसे वही दण्ड मिला।

माठरवृत्ति

अत्र दृष्टान्तश्च—केचित् किल चौरा ग्रामं हत्वा द्रव्यं गृहीत्वा ग्रामान्तरं गच्छन्ति कृतकार्याः। तैः सह सार्थेन (?) श्रोत्रियो ब्राह्मणः पत्थानं गच्छति। तत्पदानुसारिभिरा-रक्षिभिस्ते गृहीताः। कृतापराधैस्तैः सह सोऽपि ब्राह्मणो गृहीतः, त्वमपि चौर इति। तद्यथाऽसावचौरस्तत्संसर्ग-दोषेण चौरतया प्रतीतस्तैः। तथा सत्त्वादयो गुणाः कर्त्तारस्तैः संयुक्तः पुरुषोऽपि अकर्त्ताऽपि कर्त्ता भवति। कर्त्तृसंसर्गात् कर्तेव।

सुवर्णसप्तति शास्त्र	गौडपाद भाष्य
यदुक्तं भवता लोक व्यवहारात् पुरुषः कर्त्ता इति, तमर्थं समादध्मः– त्रिगुणकर्त्तृत्वादुदासीनः कर्त्तेव भवतीति; तत्संयोगादकर्त्ता कर्त्तेत्युच्यते । यथा कश्चिद् ब्राह्मणो भ्रमाच्चौरसंघमध्यं प्रविष्टः । चौरे हन्तुं गृहीते सोऽपि सह हन्तुं गृहीतः चोरेण सहगमनात् चोरनाम लभते । तथा पुरुषोऽपि कर्त्रानुबद्धः लोकव्यवहारेणोच्यते पुरुषः कर्त्तेति ।	अत्र दृष्टान्तो भवति, यथा-अचोरश्चौरैः सह गृहीतश्चौर इत्यवगम्यते, एवं त्रयो गुणाः कर्तारः; तैः संयुक्तः पुरुषोऽकर्त्तापि कर्त्ता भवति कर्त्तृसंयोगात् ।

(२) इसीप्रकार गुणरत्नसूरि ने षड्दर्शनसमुच्चय की व्याख्या में पृष्ठ १०८ पर अनुमान के कुछ उदाहरण दिये हैं, वे सर्वथा माठरवृत्ति (आर्या ५ की व्याख्या) के आधार पर हैं ।

(३) कमलशील के लेखों के सम्बन्ध में पीछे निर्देश कियाजाचुका है–चीनी अनुवाद में प्रतिपादित मत का उसने अनुसरण नहीं किया । कोई भी विद्वान् उसकी आनुपूर्वी को माठरवृत्ति से तुलना करसकता है ।

सिद्धसेन दिवाकर रचित 'सन्मतितर्क' के व्याख्याता अभयदेवसूरि ने भी कमलशील के सदृश सांख्यकारिका की कई आर्याओं के व्याख्यान अपने ग्रन्थ में दिये हैं, जो माठरवृत्ति के साथ समानता रखते हैं[1] ।

भेद के अन्य आधार तथा उनका विवेचन—

अय्यास्वामी शास्त्री महोदय ने सुवर्णसप्तति की भूमिका में 'चीनी अनुवाद का रचयिता' शीर्षक देकर कुछ अन्य ऐसे स्थल उपस्थित किये हैं, जिनके आधार पर माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद को भिन्न ग्रन्थ सिद्ध करने का यत्न कियागया है । उसके सम्बन्ध में विवेचन करदेना उपयुक्त होगा ।

(१)–भूमिका के ३९ पृष्ठ पर शास्त्री महोदय ने लिखा है । सांख्यकारिका २२ और २५ में महत् से अहङ्कार अहंकार से एकादश इन्द्रिय और पञ्च तन्मात्र, तथा पञ्च तन्मात्रों से पांच स्थूलभूतों की उत्पत्ति होने का उल्लेख किया है । परन्तु ३, ८, १०, १५, ५६, ५९ और ६८ कारिकाओं की व्याख्या के चीनी अनुवाद में अहकांर से केवल पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति होना बताया है, अनन्तर पञ्च तन्मात्रों से एकादश इन्द्रिय और पांच स्थूलभूतों की उत्पत्ति कही है । यद्यपि २२, २४, २५, २७ और ३६ कारिकाओं के चीनी अनुवाद में उस सिद्धान्त

१. सन्मतितर्क, पृ० २८०-२८४ । गुजरातपुरातत्त्व मन्दिर ग्रन्थावली संस्करण ।

का भी निरूपण है, जो २२ और २५ कारिकाओं में निर्दिष्ट है। इसप्रकार एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दोनों विचार चीनी अनुवाद में विद्यमान हैं। इनके आधार पर शास्त्री महोदय ने यह परिणाम निकाला है, कि ईश्वरकृष्ण से कुछ पूर्व और कुछ अनन्तर काल तक इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में विद्वानों को निश्चयात्मक ज्ञान नहीं था; इस आधार पर उन्होंने यह सिद्ध करने का यत्न किया है, कि जिस व्याख्याग्रन्थ का चीनी में अनुवाद कियागया है, उसमें इसी प्रकार के लेख रहे होंगे। क्योंकि ये लेख माठरवृति में नहीं हैं, इसलिये चीनी अनुवाद का मूल, माठरवृत्ति को नहीं कहाजासकता।

इसी अर्थकी पुष्टि के लिये भूमिका में प्राचीन आधारों पर पदार्थों के प्रादुर्भाव की अन्य रीतियों का भी उल्लेख किया है, जिससे यह परिणाम निकाला है, कि ईश्वरकृष्ण के कुछ पहले से पीछे तक पदार्थों के प्रादुर्भाव की तथा उनके क्रमकी चार पांच रीतियां थीं।

इस सम्बन्ध में सबसे प्रथम हमें अपना ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहिये, कि ईश्वरकृष्ण ने पदार्थों के प्रादुर्भाव तथा उनके क्रम की एक निश्चित रीति को स्वीकार किया है, और यह भी ईश्वरकृष्ण के लेख के अनुसार निश्चित है, कि वही रीति षष्टितन्त्र में स्वीकृत कीगई है। इससे स्पष्ट होजाता है इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में ईश्वरकृष्ण का अपना विचार निश्चित है। अन्य सांख्याचार्यों ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। चीनी अनुवाद में भी सात स्थलों पर इसी सिद्धान्त का निरूपण कियागया है।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं–प्राचीन काल से अब तक के उपलब्ध [पञ्चाधिकरण के अतिरिक्त] सांख्याचार्यों के लेखों में इस सिद्धान्त को सर्वसम्मत मानागया है, कि इन्द्रियां आहंकारिक हैं, भौतिक नहीं। इसके विपरीत अन्य अनेक दार्शनिक इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं। न्याय वैशेषिक बौद्ध शांकर वेदान्ती आदि अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय इसी विचार के मानने वाले हैं, और यह ईश्वरकृष्ण के आगे पीछे ही नहीं मानाजाता था, आज भी वैसा ही मानाजाता है। ऐसी स्थिति में अनायास हमारे सन्मुख यह बात आजाती है, कि चीनी अनुवाद में इन विचारों का संमिश्रण किन आधारों पर होसकता है। यह बात क्यों नहीं कहीजासकती, कि परमार्थ ने अनुवाद के समय बौद्ध विचारों से प्रभावित होकर इस प्रकार के उल्लेख करदिये हों। जैसेकि और भी अनेक स्थलों पर अपनी ओर से उसने इस अनुवाद में सम्मिश्रण किया है।[1]

---

१. स्वर्णसप्ततिशास्त्र, पृष्ठ ४६ पर 'यथोक्तं गाथायाम्–' कहकर दो श्लोक उद्धृत हैं। जो मूल में सम्भव नहीं होसकते, अनुवादक ने इनको यहाँ मिलाया है। इसके अतिरिक्त, पृष्ठ ७८ की संख्या १ टिप्पणी देखें।

इसलिये यह कहना नितान्त अनर्गल है, कि ईश्वरकृष्ण के कुछ पहले या पीछे इन सिद्धान्तों के विषय में उस समय के विद्वान् सन्दिहान थे। वस्तुतः ये विचार भारतीय वाङ्मय के विषय में पाश्चात्य लेखकों के विचारों की जूठन का ही द्योतन करते हैं।

यद्यपि इन स्थलों में, जहाँ तन्मात्रों से इन्द्रियों की उत्पत्ति कही है, अनेक स्थल ऐसे हैं, जहां उन्हीं पदों को आगे पीछे करने से सांख्यकारिकाप्रतिपादित सिद्धान्तों के साथ सर्वथा अनुकूलता होजाती है, कोई विपर्यय नहीं रहता। संभव है, इन स्थलों के पाठ, अनुवाद में पदों का विपर्यय होजाने से, अन्यथा अर्थ के प्रतिपादक बनगये हों। फिर भी अन्य अनेक स्थलों के पाठ ऐसे हैं, जिनमें केवल पाठ के विपर्यय की सम्भावना नहीं कीजासकती, और उनमें स्पष्ट सूक्ष्म-भूतों से सोलह विकारों [एकादश इन्द्रिय, पांच स्थूलभूत] की उत्पत्ति अथवा उनमें प्रलय होने का उल्लेख है। इसलिये इन विचारों के यहां सम्मिश्रण का कोई विशेष कारण कहाजासकता है। वह है–परमार्थ पर बौद्ध मत का प्रभाव। इसके अतिरिक्त सांख्याचार्यों में पञ्चाधिकरण ऐसा आचार्य है, जो इन्द्रियों को भौतिक मानता है। [देखें युक्तिदीपिका, पृ० १०८, पं ७-८]। सम्भव है, परमार्थ ने इसके विचारों से प्रभावित होकर अनुवाद में कहीं वैसा लिखदिया हो।

परन्तु इसके लिये कोई आग्रह नहीं है। हमारा अभिप्राय केवल इतना है, कि चीनी अनुवाद में उल्लिखित इन अर्थों का आधार उसका मूल ग्रन्थ ही हो, यह निश्चितरूप में नहीं कहाजासकता। महाभारत[1] आदि ग्रन्थों में इस सम्बन्ध के अन्य विचारों का उल्लेख है। परन्तु वह आज भी उसी तरह है, जैसे ईश्वरकृष्ण के काल में अथवा कुछ पहले या पीछे था। आज भी कोई विद्वान् उन विचारों का उसी तरह उल्लेख करसकता है। इसका यह अभिप्राय अथवा परिणाम नहीं निकालाजासकता, कि उस समय तक विद्वानों का इस सम्बन्ध में अनिश्चयात्मक ज्ञान था, और अब कुछ निश्चयात्मक होगया है। वस्तुतः ये सिद्धान्त, आचार्यों के अपने-अपने हैं। इस विषय में कपिल का जो सिद्धान्त है, सांख्यकारिका के आधार पर हम उसे जानसकते हैं। अनन्तरवर्ती सांख्याचार्यों के उससे विरुद्ध विचार हो सकते हैं। परन्तु उनमें से अन्तिम और पूर्ण विचार कौनसा है, यह कुछ नहीं कहा-जासकता। अपने विचारों के अनुसार हम उन सिद्धान्तों में से किसी के लिये अधिक तथ्य होने का प्रकाशन करसकते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना युक्त है, कि चीनी अनुवाद के वे विचार, जो ईश्वरकृष्ण और कपिल के विचारों के अनुकूल नहीं हैं, अनुवादक की अपनी भावनाओं के आधार पर इसमें स्थान पागये

१. तुलना करें, महाभारत, कुम्भघोण संस्करण, शान्तिपर्व अध्याय ३११, ३१२, ३१५, ३२७॥

हैं । यह आवश्यक नहीं, कि वे उसके मूल व्याख्यान में हों । जब अन्य अनेक विचार चीनी अनुवाद में ऐसे हैं, जिनको निश्चित ही मूलव्याख्यान का अंश नहीं कहाजासकता । इसलिये ये विचार, माठरवृत्ति को चीनी अनुवाद का मूल मानने में बाधक नहीं होसकते । व्याख्या के अतिरिक्त विचारों या मतों को ईश्वरकृष्ण पर थोंपना अन्याय होगा ।

(२) इसके आगे शास्त्री महोदय ने दूसरा उदाहरण सूक्ष्मशरीर का दिया है । आपका विचार है–चीनी अनुवाद में सूक्ष्मशरीर के सात अंग मानेगये हैं, और उसके अनुसार गौडपादभाष्य में संभवतः आठ, जबकि सांख्यकारिकाओं और उनकी व्याख्या माठर आदि में १८ तत्त्वों से सूक्ष्मशरीर की रचना मानी है । इसी आधार पर शास्त्री महोदय ने परिणाम निकाला है–चीनी अनुवाद का मूल आधार कोई ऐसा प्राचीन व्याख्यान होगा, जिसमें सूक्ष्मशरीर के सात तत्त्वों को स्वीकार कियागया होगा । क्योंकि वर्तमान माठरवृत्ति में ऐसा नहीं है, इसलिये उसको चीनी अनुवाद का मूल आधार नहीं कहाजासकता ।

सूक्ष्मशरीर के सम्बन्ध में पीछे विवेचन कियाजाचुका हैं । शास्त्री महोदय ने ४०वीं आर्या के चीनी अनुवाद की एक पंक्ति के आधार पर ऐसा लिखा है । परन्तु उसी आर्या की व्याख्या में आगे, तथा कारिका १०, ४१, ४२, और ६२ के चीनी अनुवाद में स्पष्ट सूक्ष्मशरीर के १८ तत्त्व स्वीकार किये हैं । ४०वीं आर्या के चीनी अनुवाद की प्रारम्भिक पंक्तियों में जहां सात तत्त्वों का उल्लेख है, वहां प्रतीत होता है–आदि और अन्त के तत्त्वों की गणना का उल्लेख किया है । अन्य लेखों के सामञ्जस्य के आधार पर यह सम्भावना कीजासकती है, कि यहां चीनी अनुवाद में कुछ पाठ खण्डित होगया हो, इसी आर्या के चीनी अनुवाद की ५८ पृ० की अन्तिम पंक्ति के आधार पर, पहली पंक्तियों में 'एतानि सप्त' इन पदों के आगे 'इन्द्रियाणि चैकादश' इस पाठ की संभावना कीजासकती है, जो सम्भवतः अनुवाद में खण्डित होगया हो, अथवा प्रथम लिखते समय रह-गया हो । जो कुछ भी हो, पर इतना निश्चित है, कि चीनी अनुवाद के सम्बन्ध में यह मत प्रकट नहीं कियाजासकता, कि यह सूक्ष्मशरीर में केवल सात तत्त्व मानता है । यही बात गौडपादभाष्य के सम्बन्ध में है । ४२वीं आर्या के गौडपाद-भाष्य में स्पष्ट सूक्ष्मशरीर में १८ तत्त्व माने हैं । ऐसी स्थिति में यह कल्पना करना कि कोई ऐसी प्राचीन व्याख्या कारिकाओं की होगी, जिसमें सूक्ष्मशरीर के सात तत्त्वों का उल्लेख होगा, सर्वथा निराधार है । इसलिये इस आधार पर माठरवृति को चीनी अनुवाद का मूल मानने में कोई बाधा उपस्थित नहीं कीजासकती ।

माठरभाष्य तथा माठरप्रान्त—

षड्दर्शनसमुच्चय के व्याख्याकार गुणरत्नसूरि ने अपनी व्याख्या में 'माठर-

भाष्य'[1] और 'माठरप्रान्त' इन दो पदों का प्रयोग किया है। सुवर्णसप्ततिशास्त्र के सम्पादक अय्यास्वामी शास्त्री महोदय ने इसके आधार पर उक्त ग्रन्थ की भूमिका में[2] यह निर्धारण करने का यत्न किया है, कि 'माठरभाष्य' नामका कोई प्राचीन व्याख्याग्रन्थ था, जिसका उल्लेख 'अनुयोगद्वारसूत्र' आदि जैन ग्रन्थों में पायाजाता है। सम्भवतः वही माठरभाष्य चीनी अनुवाद का मूल आधार होगा। 'माठरप्रान्त' पद का प्रयोग, गुणरत्नसूरि ने उपलभ्यमान माठरवृत्ति के लिये किया है।

'माठरप्रान्त' पद के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन पीछे कियाजाचुका हैं। शास्त्री महोदय को 'प्रान्त' पद का अर्थ[3] समझने में भ्रम हुआ है। गुणरत्नसूरि ने जो श्लोक 'माठरप्रान्त' कहकर उद्धृत किया है, वह माठरभाष्य के हाशिये (Margin) पर लिखा हुआ श्लोक था, उसको ठीक पते के साथ उद्धृत करने में गुणरत्नसूरि ने पूरी सावधानता निभाई है, और इसीलिये आगे जो श्लोक उसने 'शास्त्रान्तर' कहकर उद्धृत किया है, यह उसने शास्त्र के मध्य में ही देखा है, सम्भव है वह, माठरभाष्य में ही देखा हो। परन्तु यह स्पष्ट है, कि 'प्रान्त' पद का प्रयोग यहाँ किसी ग्रन्थान्तर का निश्चायक नहीं कहाजासकता। प्रत्युत यह उसी माठर ग्रन्थ के हाशिये के लिये प्रयुक्त कियागया है, जिसका १०९ पृष्ठ पर ग्रन्थों की सूची में 'माठरभाष्य' नाम से उल्लेख किया है।

ग्रन्थ-सूची में 'माठरभाष्य' पद, उपलभ्यमान माठरवृत्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है, इसकी पुष्टि के लिये और भी उपोद्बलक प्रमाण हैं। गुणरत्नसूरि की व्याख्या में देखते हैं—अनेक स्थलों पर प्रसंगवश उसने सांख्यसिद्धान्तों का निरूपण करने में माठरवृत्ति का अनुकरण[4] किया है, गौडपादभाष्य अथवा तत्त्वकौमुदी आदि का नहीं। इससे स्पष्ट है—सांख्यसिद्धान्तों के निरूपण में वह माठरवृत्ति को अन्य व्याख्याओं की अपेक्षा अधिक महत्व देता है। ऐसी स्थिति में जब वह सांख्य-ग्रन्थों का उल्लेख करने लगेगा, तब उस ग्रन्थ का वह नाम न गिनाये, यह बात अनुचित होती। इसलिये निश्चितरूप से कहाजासकता है—ग्रन्थों की गणना में

१. षड्दर्शनसमुच्चय की टीका, गुणरत्नसूरि कृत, रौयल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, खीस्ट १९०५ का संस्करण, पृष्ठ १०९ पर 'माठरभाष्य' पद है, और पृष्ठ ९६ पर 'माठरप्रान्त'।
२. सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ ३७, ३८ और ४२।
३. सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ ३७ और वहीं पर संख्या १ की टिप्पणी।
४. देखें, षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरि कृत व्याख्या, पृष्ठ १०५, ६। और १०८। इसकी तुलना करें, माठरवृत्ति, कारिका २१, और ५।

'माठरभाष्य' से वह उसी ग्रन्थ का उल्लेख कररहा है, जिसका उसने अपनी व्याख्या में जहां तहां आश्रय लिया है, जो उन स्थलों की तुलना करने से माठर-वृत्ति-ग्रन्थ निश्चित होता है। इसप्रकार गुणरत्नसूरि का 'माठरभाष्य', उपलभ्यमान माठरवृत्ति से भिन्न नहीं कहाजासकता। अत: माठरवृत्ति ही चीनी अनुवाद का मूल आधार है, यह बात सर्वथा निश्चित होजाती है। 'माठरभाष्य' नाम के ग्रन्थान्तर की कल्पना, केवल कल्पना है, अन्धेरे में लाठी चलाने के समान। समस्त भारतीय वाङ्मय में ऐसे किसी ग्रन्थ के अस्तित्व के संकेत तक उपलब्ध नहीं होते।

उपसंहार—

महामहोपाध्याय श्रीयुत हरप्रसाद शास्त्री ने अपने एक लेख [JBORS= जर्नल of बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसायटी, vol ६, सन् १६२३, पृ० १५१-१६२] में प्रकट किया है, बाईस तत्त्वसमास सूत्रों पर माठर का भाष्य होगा। संभवत: उसमें फिर और किसी ने संवर्द्धन किया, जो समय पाकर षष्टि-तन्त्र के रूप में बनगया, ईश्वरकृष्ण ने उसीका संक्षेप किया है।

प्रतीत होता है-अय्यास्वामी शास्त्री महोदय ने अपने विचारों को श्रीयुत हरप्रसाद शास्त्री के विचारों के आधार पर प्रस्तुत किया हो। इतनी विशेषता इन दोनों में है, कि हरप्रसाद शास्त्री ने ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं का जो आधार बताया है, अय्यास्वामी ने उसीको चीनी अनुवाद का आधार मानलिया है। परन्तु यह सब अन्धेरे में लाठी चलाने के समान है। यह इन विद्वानों ने केवल कल्पना के आधार पर मानलिया है; शास्त्र के सामञ्जस्य का ध्यान नहीं रक्खागया। जो प्रमाणाभास इस सम्बन्ध में उपस्थित कियेगये है, उनका हमने विस्तारपूर्वक विवेचन करदिया है, और यह निश्चयपूर्वक कहाजासकता है—अय्यास्वामी शास्त्री, यह सिद्ध करने में सफल नहीं होसके, कि चीनी अनुवाद का आधार माठरवृत्ति नहीं है।

इस प्रकरण में हमने सांख्यसप्तति के पांच व्याख्याकारों के सम्बन्ध में विवेचन किया है। उनके काल सम्बन्धी निर्णय का निष्कर्ष यहां पुन: निर्दिष्ट करते हैं—

(१) वाचस्पति मिश्र—८६८ विक्रमी संवत्, ८४१ ईसवी सन्।
(२) जयमंगला व्याख्याकार शङ्कर—विक्रमी संवत् के सप्तमशतक का मध्य ६०० ई० सन् के लगभग।
(३) आचार्य गौडपाद—विक्रमी संवत् के षष्ठ शतक का अन्त, ५५० ई० सन् के लगभग।

(४) युक्तिदीपिकाकार राजा–विक्रमी संवत् के तृतीय शतक का अन्त, २५० ईसवी सन् के लगभग ।

(५) आचार्य माठर–विक्रमी संवत् के प्रारम्भ अथवा ईसवी सन् के प्रारम्भ होने से अनेक शती पूर्व ।

हमारा इस, समय-निर्देश से यही तात्पर्य है, कि इन आचार्यों का काल, निर्दिष्ट काल के अनन्तर नहीं कहाजासकता, इसमें वाचस्पति मिश्र का समय सर्वथा निश्चित है। उसीको आधार मानकर इन व्याख्याग्रन्थों के एक दूसरे में उद्धरण, मतनिर्देश, प्रत्याख्यान आदि से हमने इस कालनिर्णय का यत्न किया है। संभव है, इसमें कहीं थोड़ी बहुत हेर फेर होसके, परन्तु इन व्याख्याकारों का जो कालिक कम निर्दिष्ट किया है, वह निश्चित है, उसमें किसी परिवर्त्तन की अधिक सम्भावना नहीं कीजासकती।

◆◆

अष्टम अध्याय

अन्य प्राचीन सांख्याचार्य

सांख्य के आदि प्रवर्त्तक परमर्षि कपिल का आवश्यक वर्णन प्रथम अध्याय में कियाजाचुका हैं। अन्य प्राचीन आचार्यों के सम्बन्ध में जो विवरण जानाजासका है, उसका निरूपण इस अध्याय में कियाजारहा है।

१. आसुरि—

परमर्षि कपिल का प्रथम शिष्य आसुरि था। आसुरि का शिष्य पञ्चशिख अपने एक सूत्र[1] में उल्लेख करता है—परमर्षि कपिल ने किस प्रकार आसुरि को सांख्यशास्त्र का उपदेश किया। कतिपय आधुनिक पाश्चात्य विद्वान्[2] आसुरि को ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते। परन्तु उनके ये सब कथन निराधार हैं। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों की ऐसी मनोवृत्ति बनगई है, कि वे भारतीय इतिहास और संस्कृति के अनेक आधारों को काल्पनिक बताने में एक अनुकूल अनुभूति का आस्वाद लेते हैं। जिस व्यक्ति के जीवन के अनेक भागों का उल्लेख जहाँ-तहाँ साहित्य में बराबर उपलब्ध होता है, उसको यदि ऐतिहासिक व्यक्ति न मानाजाय, तब ऐतिहासिकता किस वस्तुका नाम होगा ? फिर समस्त इतिहास काल्पनिक कहेजासकते हैं। इसलिये बहुत से प्राचीन वर्णनों की ऐतिहासिकता अथवा काल्पनिकता, उस राष्ट्र या समाज की परम्पराओं के आधार पर बड़ी सीमा तक निर्णीत कीजानी चाहिये। आसुरि सम्बन्धी वर्णनों का आधार काल्पनिक नहीं कहाजासकता।

माठरवृत्ति तथा अन्य सांख्य ग्रन्थों में आसुरि का एक गृहस्थ ब्राह्मण के रूप में उल्लेख उपलब्ध है—'आसुरि' यह उसका गोत्र नाम बतायागया है। उसका

१. "आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।"

२. Keith; Samkhya System, PP. 47-48. Garbe, Samkhya und yoga. PP. 2-3.

सर्वत्र यही नाम उपलब्ध होता है। उसके अन्य किसी सांस्कारिक नाम के सम्बन्ध में हमें अभी तक कुछ ज्ञात नहीं है। परमर्षि कपिल की कृपा से उसे सांख्य-ज्ञान प्राप्त हुआ, और उसने मोक्ष मार्ग का अनुसरण किया, इसका भी उल्लेख है। महाभारत[1] शान्तिपर्व अध्याय ३२६ से ३२८ तक में कपिल और आसुरि के संवाद का उल्लेख है। उससे स्पष्ट होता है-कपिल ने आसुरि को तत्त्वज्ञान का उपदेश किया। महाभारत में प्रसङ्गवश अन्य[2] स्थलों में भी आसुरि का उल्लेख है।

शतपथ ब्राह्मण में आसुरि—

शतपथ ब्राह्मण में एक आसुरि का उल्लेख आता है। वहाँ बारह[3] स्थलों में इसका उल्लेख है। जिनमें अन्तिम तीन स्थलों में वंशावली हैं। शेष नौ में सर्वत्र आसुरि के तत्तद्विषयक मतों का उल्लेख है। ये सब मत कर्मकाण्ड अथवा यज्ञादिविषयक हैं, इससे प्रतीत होता है-शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल से बहुत पूर्व आसुरि नामक कोई व्यक्ति महायाज्ञिक हुआ था। वह यज्ञादि पद्धति का इनना प्रतिष्ठित अनुष्ठाता था, कि उसके तत्तद्विषयक मतों का शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख कियागया है। इससे उसकी प्रसिद्धि और प्राचीनता का अनुमान होता है।

सांख्याचार्य आसुरि, क्या शतपथवर्णित आसुरि से भिन्न है ?

अभी तक यह एक विवादास्पद विषय है, कि सांख्याचार्य आसुरि, शतपथ ब्राह्मण में वर्णित आसुरि है, अथवा उससे भिन्न ? आधुनिक अनेक पाश्चात्य[4] तथा भारतीय विद्वानों ने इनको पृथक् व्यक्ति माना है। यद्यपि उन्होंने अपने इस मन्तव्य के लिये कोई विशेष प्रमाण आदि उपस्थित नहीं किये, परन्तु उनकी अन्तर्भावना यही प्रतीत होती है, कि इनको अभिन्न व्यक्ति मानने पर शतपथ ब्राह्मण की रचना से पूर्वकाल में सांख्यदर्शन की रचना सिद्ध होती है, इस बात को उक्त विद्वान् स्वीकार करने को तय्यार नहीं। यद्यपि वे अपनी इस अस्वीकृति में भी कोई युक्तियाँ एवं प्रमाण उपस्थित नहीं करते।

---

१. निर्णयसागर प्रेस बम्बई में मुद्रित, १९०७ ईसवी सन् का कुम्भघोण संस्करण।
२. महाभारत, उक्त संस्करण, १२।२२०।१०,१३,१४॥
३. १, ६, ३, २६। २, १, ४, २७; ३, १, ९; ४, १, २; ६, १, २५; ३३; ३, १७। ४, ५, ८, १४। १४, १, १, ३३। १४, ५, ५, २१। १४, ७, ३, २७। १४, ९, ४, ३३।
४. Dr. Richard Gorbe, Samkhya und Yoga, PP. 2-3.

हमारा विचार इस सम्बन्ध में उक्त विद्वानों से विपरीत है। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित आसुरि, अपनी प्रव्रज्या के अनन्तर सांख्याचार्य आसुरि के रूप में प्रसिद्ध हुआ, ऐसा हमारा विचार है। शतपथ ब्राह्मण के वर्णन से स्पष्ट है–वह महायाज्ञिक था। इस बात को ध्यान में रखते हुए, जब हम माठरवृत्ति के कपिल-आसुरि संवाद सम्बन्धी आरम्भिक सन्दर्भ को देखते हैं, तो उससे स्पष्ट होजाता है–प्रव्रज्या से पूर्व आसुरि एक याज्ञिक ब्राह्मण था, और गृहस्थ धर्म में रत था। कपिल, आसुरि को अध्यात्म विद्या का अधिकारी समझकर तीन वार उसके स्थान पर आये, और प्रश्न किया, आसुरि! गृहस्थ धर्म में रत हो? आसुरि ने दो वार यही उत्तर दिया, कि हाँ! गृहस्थ धर्म में रत हूँ। परन्तु अन्तिम अवसर पर उसके अन्तरात्मा में विवेक वैराग्य की मात्रा उत्पन्न होचुकी थी। तीसरी वार में उसने ब्रह्मचर्यवास और प्रव्रज्या की दीक्षा ली, और कपिल का शिष्य बनगया।

माठर के वर्णन से स्पष्ट है–जिस आसुरि ने कपिल से अध्यात्म विद्या का उपदेश लिया, वह उस दीक्षा और प्रव्रज्या काल से पूर्व महायाज्ञिक और गृहस्थ ब्राह्मण था। आसुरि को यहाँ वर्षसहस्रयाजी लिखा है। महाभारत [१२।२२०।१०-१३ कुम्भघोण संस्करण] में इसका उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण के आसुरि-सम्बन्धी वर्णन उसी आसुरि के होसकते हैं। इन वर्णनों के साथ सांख्यसम्बन्धी गन्ध को सूँघना, और उसके अभाव में आसुरि को पृथक् व्यक्ति मानना, अविचारित-रमणीय होगा, क्योंकि ब्राह्मण के उक्त स्थलों में आसुरिसम्मत याज्ञिक विचारों का उल्लेख कियाजासकता था, जो उस प्रसंग से सम्बन्ध रखता था; ब्राह्मणग्रन्थ, आसुरि का जीवन चरित्र नहीं लिखरहा है, जो वह उसके जीवन की अन्य घटनाओं का उल्लेख करे, विशेषकर सांख्य सम्बन्धी घटनाओं का आसुरि के उस जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। सांख्य का उपदेश उसने याज्ञिक अनुष्ठानों का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण के अनन्तर प्राप्त किया। याज्ञिक जीवन से उन विचारों का कोई सम्बन्ध न था।

यह अधिक सम्भव है–अपने काल के इतने प्रतिष्ठित महायाज्ञिक विशुद्धान्तः-करण विद्वान् ब्राह्मण को कपिल ने अध्यात्म विद्या के उपदेश का अधिकारी चुना हो। क्योंकि ऐसे व्यक्ति के द्वारा अपने विचारों के प्रसार में उसे अधिक से अधिक साहाय्य मिलसकता था। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् जिस दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास को उपस्थापित करते हैं, वह सर्वथा अपूर्ण और एकदेशी है। वस्तुतः सांख्यशास्त्र की रचना अब से बहुत पूर्वकाल में होचुकी थी। इसलिये शतपथ ब्राह्मण में वर्णित आसुरि, अपनी प्रव्रज्या के अनन्तर कपिल का शिष्य आसुरि था, इसमें कोई असामञ्जस्य प्रतीत नहीं होता।

आसुरि का एक श्लोक—

आसुरि के सांख्यविषयक किसी ग्रन्थ का अभी तक पता नहीं लगा। अनेक ग्रन्थकारों[1] ने एक श्लोक आसुरि के नाम से उद्धृत किया है। श्लोक इसप्रकार है—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे[2] यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

केवल एक श्लोक के आधार पर यह अनुमान करना कठिन है, कि आसुरि के उस ग्रन्थ का कलेवर क्या होगा। वह केवल पद्यमय होगा, अथवा उसमें कुछ गद्य भी होगा। यह भी निश्चित नहीं, कि उसने किसी ग्रन्थ की रचना की थी। संभव है, उसकी कोई फुटकर उक्तियाँ ही रही हों। पर अन्य किसी उक्ति का भी पता नहीं लगा।

आसुरि के श्लोक में पुरुष के भोग का स्वरूप वर्णित है। विविक्त अर्थात् पुरुष के असंग रहते हुए, बुद्धि के दृक्-रूप में परिणत होजाने पर जो स्थिति बनती है, वही पुरुष का भोग कहाजाता है। अभिप्राय है—अपने सब धर्मों को लेकर बुद्धि, असंग पुरुष में प्रतिबिम्बित होजाती है, इसीको बुद्धि का दृक्-परिणाम कहाजाता है, जैसे स्वच्छ जल में चन्द्र अपने धर्मों को लेकर प्रतिबिम्बित होजाता है। इसप्रकार पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्बित होजाना पुरुष का भोग है। बुद्धि के सब धर्म बुद्धि में होतेरहते हैं, पुरुष का भोग केवल इतना है, कि बुद्धि अपने धर्मों को लेकर उसमें प्रतिबिम्बित होरही है। इसी अर्थ को दूसरे शब्दों में इसप्रकार कह सकते हैं—श्रोत्रादि सम्पूर्ण करण अपने ग्राह्य अर्थों को बुद्धि में समर्पित करते हैं, बुद्धि उन सबको लेकर पुरुष के सान्निध्य से उन्हें पुरुष में समर्पित करती है, अर्थात् पुरुष के भोग को सिद्ध करती है। इसीको बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्बित होना कहाजाता है।

आसुरि मत की, सांख्यसूत्र तथा सांख्यकारिका से समानता—

पुरुष के भोग के सम्बन्ध में आसुरि का जो मत है, वही मत ईश्वरकृष्ण का ३७वीं कारिका के आधार पर स्पष्ट होता है। सांख्यषडध्यायी के दूसरे अध्याय

---

१. हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत तर्करहस्यदीपिका नामक टीका के पृ० १०४ पर। रॉयल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता, सन् १९०५ का संस्करण। स्याद्वादमञ्जरी, १५; तथा वादमहार्णव एवं अन्य अनेक जैन बौद्ध ग्रन्थों में इस श्लोक को उद्धृत कियागया है।
२. 'स्वच्छे, सप्तम्यन्त पाठ के स्थान पर कहीं 'स्वच्छः' प्रथमान्त पाठ उपलब्ध होता है।

के ३५-३६ तथा ४६-४७ सूत्रों में भी इसी अर्थ का विशदरूप में वर्णन किया-गया है। उसका तात्पर्य है–समस्त करण अपने ग्राह्य विषयों को लेकर प्रक्रिया-नुसार यथाक्रम बुद्धि में अर्पित करते हैं। बुद्धि उन विषयों को पुरुष में अर्पित करती है। बाह्य विषय करणों द्वारा प्रक्रियानुसार आत्मा तक पहुँचता है; यही इसका सारांश है।

आसुरि से विन्ध्यवासी का मतभेद—

इस विषय में विन्ध्यवासी का मत आसुरि से कुछ भिन्न है। षड्दर्शन-समुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या में कलकत्ता संस्करण के १०४ पृ० पर विन्ध्यवासी के नाम से एक श्लोक इसप्रकार उद्धृत कियागया है—

"विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे–पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा॥" इति।

अविकृतात्मा अर्थात् असंग रहता हुआ ही पुरुष, सान्निध्य के कारण अचेतन मन (–बुद्धि) को स्वनिर्भास अर्थात् चेतन-जैसा कर देता है, जैसे उपाधि–लाल कमल, स्फटिक को सान्निध्य से लाल-जैसा बना देता है। अभिप्राय है–सान्निध्य के कारण चैतन्य, बुद्धि में प्रतिफलित होजाता है, यही चैतन्य अर्थात् पुरुष का भोग है। विन्ध्यवासी के मत से पुरुष सर्वथा असंग है, भोग मुख्यतया बुद्धि में होता है, क्योंकि चैतन्य अर्थात् पुरुष, बुद्धि में प्रतिबिम्बित है, अथवा बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्बित हुए बिना भोगादि हो नहीं सकते, इसलिये पुरुष में भोगादि का उपचार होता है। कपिल, आसुरि और ईश्वरकृष्ण, पुरुष को असंग मानते हुए उसमें आहार्य भोग स्वीकार करते हैं।

'आहार्य' का अर्थ है–आहरण किया हुआ-लाया हुआ। करणों द्वारा आहृत हुआ बाह्य विषय आत्मा तक पहुँचता है। अनुकूल-प्रतिकूल अनुभूति के रूप में वह आत्मा का विषय होता है। यही आत्मा का भोग है। विन्ध्यवासी के मत से, उपाधि, स्फटिक से सर्वथा असंलग्न है, सान्निध्यमात्र से अपनी विशेषता को दूसरी जगह संक्रान्त कर रही है। रक्त-कमल-उपाधि के संसर्ग से, श्वेत स्फटिक, रक्त-जैसा प्रतीत होता है, स्फटिक के काठिन्य आदि गुण रक्तकमल में किसी तरह नहीं आसकते। परन्तु स्फटिक, उस समय तक रक्त दिखाई नहीं देसकता, जब तक उपाधि का सान्निध्य न हो। इसीप्रकार पुरुष, जब तक अचेतन बुद्धि को सान्निध्य से स्वनिर्भास नहीं करेगा, तब तक बुद्धि में भोगादि की संभावना नहीं। विन्ध्यवासी के मत से यही पुरुष के भोग का स्वरूप है। इस रूप में पुरुष को भोग का अभिमान होता है; वस्तुतः भोग बुद्धि में होता है।

दोनों प्रकार की विचारधाराओं मे पुरुष असंग है। उक्त अर्थ को संक्षिप्त शब्दों में इसप्रकार उपस्थित करसकते हैं–आसुरि, पुरुष-प्रतिबिम्बित बुद्धि द्वारा

बाह्य विषयों को पुरुष में अर्पित कर देना पुरुष का भोग मानता है। विन्ध्यवासी के मत में बुद्धिप्रतिबिम्बित चैतन्य से आभासित बुद्धि–अन्तःकरण को बाह्य विषय का ज्ञान होना भोग का स्वरुप है। मुख्यतया भोग बुद्धि-धर्म है, पुरुष में भोग का केवल उपचार गौण व्यवहारमात्र होता है।

दोनों मतों का वैशिष्ट्य—

दोनों विचारधाराओं में पुरुष असंग एवं अविकृतस्वरूप रहता है। अपने प्रतिपाद्य अर्थ को स्पष्ट करने के लिये दोनों ने एक ही दृष्टान्त का आश्रय लिया है। पर देखते हैं–विन्ध्यवासी ने दृष्टान्त की मूल स्थिति को परिवर्त्तित कर-दिया है। आसुरि के विचार से उपाधि-रक्तकमल बुद्धि-स्थानीय है; और स्फटिक चेतन-स्थानीय। रक्त कमल जैसे अपने धर्म रक्तिमा को स्फटिक में समर्पित करता है, ऐसे ही बुद्धि बाह्य विषयों को चेतन में समर्पित करती है। चेतन अनु-कूल–प्रतिकूलरूप में उनका अनुभव करता है। यह वैषयिक अनुभूति पुरुष का भोग है।

परन्तु विन्ध्यवासी इस दृष्टान्त का उपयोग परिवर्त्तितरूप में करता है। यहाँ रक्तकमल उपाधि चेतन-स्थानीय है और स्फटिक बुद्धि-स्थानीय। जैसे रक्त-कमल अपनी रक्तिमा से स्फटिक को–सान्निध्य के कारण–रञ्जित करदेता है, पर स्वयं स्फटिक के काठिन्य आदि गुणों से प्रभावित नहीं होता। ठीक ऐसे ही उपाधि-स्थानीय चेतन सान्निध्य के कारण अपने चैतन्य से स्फटिक-स्थानीय बुद्धि को रञ्जित अथवा प्रभावित चेतन-सम करदेता है। बुद्धि तब चेतन-जैसे रूप में उभर आती है। पर बुद्धि के सुख-दुःख आदि धर्मों का प्रभाव चेतन पर नहीं होता; प्रत्युत चेतन से प्रभावित बुद्धि ही सुख-दुःख आदि का अनुभव किया करती है। इसप्रकार चेतन पुरुष को बाह्य विषयों के सुख-दुःखानुभवरूप विकारों से अछूता बचालियागया है; यह समझ उन विचारकों ने आत्म-सन्तुष्टि का लाभ किया।

वस्तुतः विन्ध्यवासी के विचार के अनुसार सांख्यशास्त्र में उद्घोषित प्रकृति की 'परार्थता' मूलतः पराहत होजाती है; उसके स्थान पर नया सिद्धान्त उभर कर आता है–पुरुष 'परार्थ' है, प्रकृति नहीं; क्योंकि पुरुष का उपयोग प्रकृति (–बुद्धि) को चेतन-जैसा बनाना है। पर आश्चर्य इस बात का है, कि सुख-दुःखानुभूति को आत्मा में विकार कैसे समझलियागया? अनुभूति तो चेतन का स्वरूप है, वह चाहे अनुकूल (सुखरूप) हो, या प्रतिकूल (दुःखरूप); वह अपने अनुभूतिस्वरूप का परित्याग नहीं करती। तब उसमें विकार की कल्पना कैसी? विन्ध्यवासी का उक्त विचार बौद्ध दार्शनिकों द्वारा आत्मविषयक पारस्परिक चर्चाओं में तर्कमूलक उत्पीड़नों से उभरा प्रतीत होता है। इसमें साध्य (आत्म-पुरुष) को साधन और साधन (बुद्धि आदि) को साध्य बनाडाला

है; जो वस्तुस्थिति का शीर्षासन करदेने के समान है।[१]

महाभारत के संवाद, सिद्धान्त की दृष्टि से, सांख्यसूत्रों के साथ समानता रखते हैं—

महाभारत के कपिल-आसुरि संवाद का ऊपर निर्देश हुआ है। उस संवाद में कथित अर्थों के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह विचार उपस्थित किये हैं, कि महाभारत के लेख, वर्त्तमान अन्य सांख्य ग्रन्थों के साथ समानता नहीं रखते। प्रस्तुत कपिल-आसुरि संवाद महाभारत शान्तिपर्व ३२६-३२८ अध्यायों में वर्णित है। इसप्रकार के संवाद अथवा लेखों के सम्बन्ध में निवेदन है–ये संवाद किसीने साक्षात् सुनकर नहीं लिखे। इसके लिये कहाजासकता है–इन अध्यायों के लेखक ने, कपिल-आसुरि के सम्बन्ध में जो कुछ परम्परा से जानाहोगा, अथवा उनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में किन्हीं आधारों से जो कुछ समझा होगा, उसीका वर्णन संवादरूप में किया है।

हम देखते हैं–आसुरि की ओर से कुछ प्रश्न कियेगये हैं, कपिल उनका उत्तर देता है। इस उत्तर में ये वर्णन अत्यन्त स्पष्ट हैं—

सत्त्व रजस् तमस्, प्रधान अथवा प्रकृति हैं। प्रधान से महत् अर्थात् बुद्धि की उत्पत्ति होती है। बुद्धि से अहङ्कार, अहङ्कार से एकादश इन्द्रिय और भूत उत्पन्न होते हैं। प्रकृति का उल्लेख 'आद्य' पद से किया है।

बुद्धि आदि तेईस तत्त्वों का 'मध्यम' पद से कथन किया है, और इन २४ के ज्ञान से प्रकृति में स्थिति बतलाई है।

पच्चीसवें पुरुष का उल्लेख है, और पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान से अव्यक्त के अधिष्ठातृत्व का उल्लेख किया है।

संवाद के इन सिद्धान्त सम्बन्धी निर्देशों से स्पष्ट है–सांख्य के स्वीकृत पदार्थों का इसमें उल्लेख है, और कपिल के नाम पर उपलब्ध ग्रन्थों में इसके साथ कोई विरोध नहीं। इस संवाद का लेखक अपने ढङ्ग से संक्षेप में कपिल के नाम पर जो उल्लेख करसकता था, वह उसने ठीक किया है। इससे प्रतीत होता है–इस लेख के आधार, कपिल के ग्रन्थ कहेजासकते हैं, और इनमें परस्पर किसी तरह के विरोध की कोई सम्भावना नहीं है।

२. पञ्चशिख—

आसुरि का मुख्य शिष्य पञ्चशिख था। महाभारत के एक श्लोक[२] से

---

१. यह संकेतमात्र प्रसंगवश विषय प्रस्तुत किया है, अधिक विस्तृत विवेचन देखना चाहें, तो हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' का 'पुरुष' नामक प्रकरण देखें।

२. पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः॥
शान्ति० २२५।२४॥ कुम्भघोण संस्करण।

ज्ञात होता है–पञ्चशिख पराशर गोत्र में उत्पन्न हुआ था। इसकी माता का नाम कपिला[1] लिखा है। पञ्चशिख को बहुत लम्बी आयु[2] का व्यक्ति बताया-गया है। महाभारत के इसी स्थल में इसके पञ्चशिख नामकरण का कारण इस-प्रकार लिखा है।

'पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः।
पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः ॥

इसने कपिलप्रणीत षष्टितन्त्र को अपने गुरु आसुरि से पढ़कर अनेक शिष्यों को पढ़ाया, और उसपर विस्तारपूर्वक व्याख्याग्रन्थ लिखे।

इस समय पञ्चशिख का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। वह मूल षष्टितन्त्र ग्रन्थ का रचयिता नहीं था, इसका उल्लेख विस्तारपूर्वक द्वितीय अध्याय में कर आये है। सांख्य ग्रन्थों में कुछ ऐसे सन्दर्भ उद्धृत हैं, जिनको विद्वानों ने पञ्च-शिख का बताया है। इनमें कतिपय सन्दर्भ पातञ्जल योगसूत्रों के व्यासभाष्य में उद्धृत हैं। व्यास ने इन सन्दर्भों के साथ किसी के नाम का उल्लेख नहीं किया, वाचस्पति मिश्र ने व्यासभाष्य की टीका तत्त्ववैशारदी में इन्हें पञ्चशिख का बताया है।

इनके अतिरिक्त सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं, जिनके सम्बन्ध में हमारी धारणा है–वे पञ्चशिख के होंगे। इस धारणा का आधार न कोई परम्परा है, न किसी का लेख; केवल व्यासभाष्य में उद्धृत सन्दर्भों के साथ युक्तिदीपिका के सन्दर्भों की तुलना करने से यह धारणा बनी है। सांख्यसप्तति की अन्य व्याख्याओं तथा सांख्यविषयक दूसरे ग्रन्थों में भी इसप्रकार के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं, जिनको पञ्चशिख की रचना माना-जाना चाहिये। इस प्रसंग में उन सब सन्दर्भों का निर्देश करदेना उपयुक्त होगा, जिनको हमने पञ्चशिख की रचना समझा है।

पञ्चशिख सन्दर्भों का संग्रह—

१. आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।[1]

---

१. म० भा०, शान्ति० २२०।१५-१६॥

२. आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्।
पञ्चस्रोतसि यः सत्रमास्ते वर्षसहस्रिकम् ॥
म० भा० शान्ति०, २२०।१० ॥

१. पात० यो० सू० व्या० भा०, समाधिपाद, सूत्र २५ पर।

२. तन्त्रमिति व्याख्यायते, तम एव खल्विदमग्र आसीत्, तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्त्तत, तम इत्युच्यते प्रकृतिः पुरुषः क्षेत्रज्ञः।
३. पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते।
४. प्रधानं स्थित्यैव वर्त्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्, तथा गत्यैव वर्त्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्, उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधान-व्यवहारं लभते नान्यथा। कारणान्तरेश्वपि कल्पितेश्वेष समानश्चर्चः।
५. सत्त्वं नाम प्रसादलाघवानभिष्वंगप्रीतितितिक्षासन्तोषादिरूपानन्तभेदं समासतः सुखात्मकम्।
६. एवं रजोऽपि शोकादिनानाभेदं समासतो दुःखात्मकम्।
७. एवं तमोपि निद्रादिनानाभेदं समासतो मोहात्मकम्।
८. सत्त्वारामः सत्त्वमिथुनश्च सदा स्यात्।
९. चलञ्च गुणवृत्तम्।
१०. सत्तामात्रो महान्।
११. एतस्माद्धि महत आत्मन इमे त्रय आत्मानः सृज्यन्ते वैकारिक-तैजस-भूतादयोऽहङ्कारलक्षणा। अहमित्येवैषां सामान्यं लक्षणं भवति, गुण-प्रवृत्तौ च पुनर्विशेषलक्षणम्।
१२. तदेतस्मिन् वैकारिके स्रक्ष्यमाण एष भूतादिस्तैजसेनोपष्टब्ध एतं वैकारिकमभिधावति। तथैव तस्मिन् भूतादौ स्रक्ष्यमाण एष वैकारिक-स्तैजसेनोपष्टब्ध एतं भूतादिमभिधावति, इत्यनेन न्यायेन तैजसादुभ-यनिष्पत्तिः।

---

२. माठरवृत्ति, ७१वीं कारिका की अवतरणिका, तथा यास्कीय निरुक्त पर दुर्गवृत्ति, ७।३।।
३. माठरवृत्ति, तथा गौडपादभाष्य, १७ कारिका पर।
४. पात० यो० सू० व्या० भा०, साधनपाद, सूत्र २३ पर। तुलना करें सांख्यषडध्यायी सूत्र ६।४२।।
५-७. विज्ञानभिक्षुभाष्य, सांख्यषडध्यायी १।१२७ पर।
८. युक्तिदीपिका, कलकत्ता संस्करण, पृ० १२६, पं० ७-८।
९. पात० यो० सू० व्या० भा०, २।१५।।३।१३।।४।१५।। ब्र० सू० शां० भा० २।२।९। योगव्यासभाष्य पर तत्त्ववैशारदी ३।१५।।
१०. युक्तिदीपिका, पृ० १७०, पं० १९। तुलना करें, योगव्यासभाष्य २।१९। तथा 'वार्षगणाः-लिंगमात्रो महान्' युक्तिदीपिका, पृ० १३३, पं० ५-६।
११. युक्तिदीपिका, पृ० ११४, पं० १७-१९।
१२. युक्तिदीपिका, पृ० ११७, पं० १-३।

१३. आहङ्कारिकाणीन्द्रियाण्यर्थं साधयितुमर्हन्ति नान्यथा ।

१४. महदादिविशेषान्तः सर्गो बुद्धिपूर्वकत्वात् । उत्पन्नकार्यकरणस्तु माहात्म्यशरीर एकाकिनमात्मानमवेक्ष्याभिदध्यौ । हन्ताहं पुत्रान् स्रक्ष्ये ये मे कर्म करिष्यन्ति ये मां परं चापरं च ज्ञास्यन्ति । तस्याभिध्यायतः पञ्च मुख्यस्रोतसो देवाः प्रादुर्बभूवुः । तेषूत्पन्नेषु न तुष्टिं लेभे । ततोऽन्ये तिर्यक्स्रोतसोऽष्टाविंशतिः प्रजज्ञिरे । तेष्वप्यस्य मतिर्नैव तस्थे । अथापरे नवोर्ध्वस्रोतसो देवाः प्रादुर्बभूवुः तेष्वप्युत्पन्नेषु नैव कृतार्थमात्मानं मेने । ततोऽन्येऽष्टावर्वाक्स्रोतस उत्पेदुः । एवं तस्माद् ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नस्तस्मात् प्रत्ययसर्गः । स विपर्ययाख्यः, अशक्त्याख्यः, तुष्ट्याख्यः, सिद्ध्याख्यश्च ।

१५. जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टं तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेषु ।

१६. एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रं व्यावृत्तिः ।

१७. तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवति ।

१८. अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषु अकर्त्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन् न दर्शनमन्यच्छङ्कते ।

१९. अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते ।

२०. एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् ।

२१. रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते । एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवन्ति, गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेषः ।

---

१३. युक्तिदीपिका, पृ० १२३, पं० ९-१० ।
१४. युक्तिदीपिका, पृ० १५२, पं ९-१६ ।
१५. पा० यो० सू० व्या० भा०, विभूतिपाद, सूत्र १४ पर ।
१६. पा० ,, ,, ,, सूत्र ४४ ,, ।
१७. ,, ,, ,, सूत्र ४१ ,, ।
१८. ,, ,, साधनपाद, सूत्र १८ ,, ।
१९. ,, ,, ,, सूत्र २० ,, ।
२०. ,, ,, समाधिपाद, सूत्र ४ ,, ।
२१. ,, ,, विभूतिपाद सूत्र १३ ,, ।

२२. धर्मिणामनादिसंयोगात् धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोगः ।

२३. व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानः, तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः ।

२४. बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धि मोहेन ।

२५. अम्भ इति गुणलिङ्ग-सन्निचयमेवाधिकुरुते । गुणाश्च सत्त्वरजस्तमांसि लिङ्गञ्च महदादि अत्र सन्निहितं भवति । तदिदं प्रधानममितं भाति, अमितमुपलभ्यत इत्यम्भः ।

२६. सलिलं सलिलमिति वैकारिकोपनिपातमेवाधिकुरुते, सति तस्मिन् लीयते जगत् ।

२७. वृष्टिर्वृष्टिरिति श्रिय एवोपनिपातमधिकुरुते, सा हि वृष्टिवत् सर्वमाप्याययति ।

२८. महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्ते ।

२९. स्वभावं मुक्त्वा दोषाद् येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवति, अरुचिश्च निर्णये भवति ।

३०. स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः कुशलस्य नापकर्षायालं, कस्मात् कुशलं हि मे बह्व्न्यदस्ति, यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति ।

३१. स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति ।

---

२२. पा० यो० सू० व्या० भा०, साधनपाद सूत्र २२ ,, ।
२३. ,, ,, ,, सूत्र ५ ,, ।
२४. ,, ,, ,, सूत्र ६ ,, ।
२५. युक्तिदीपिका, कलकत्ता, संस्करण, पृ० १५६, पं० ३-५ ।
२६. ,, ,, ,, पृ० १५६, पं० २७-२८ ।
२७. युक्तिदीपिका, कलकत्ता संस्करण, पृ० १५८, पं० ३-४ ।
२८. पा० यो० सू० व्या० भा०, साधनपाद, सूत्र ५२ पर ।
२९. ,, ,, कैवल्यपाद सूत्र २५ ,, ।
३०. ,, ,, साधनपाद सूत्र १३ ,, ।
३१. ,, ,, ,, सूत्र ३० ,, ।

३२. ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति ।

३३. तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य ।

३४. तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् संप्रजानीते ।

३५. तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः । कस्मात् । दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात् । तद्यथा—पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्वं, परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाधिष्ठानम् । एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति । कस्मात् । त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यात् । [इति],

३६. कुम्भवत् प्रधानं पुरुषार्थं कृत्वा निवर्त्तते ।

कतिपय संभावित पञ्चशिख-सन्दर्भ—

छठे अध्याय में भावागणेश और पञ्चशिख व्याख्या के प्रसंग में कुछ श्लोक संगृहीत किये हैं, जिनके सम्बन्ध में कहाजासकता है, कि ये पञ्चशिख की रचना है । उनमें से निम्नलिखित चार श्लोक ऐसे हैं, जिनको भावागणेश ने पञ्चशिख के नाम पर उद्धृत किया है ।

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे स्थितः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः[1] ।।

---

३२. " " कैवल्यपाद सूत्र १० "।
३३. " " साधनपाद सूत्र ५२ "।
३४. " " समाधिपाद सूत्र ३६ "।
३५, " " साधनपाद सूत्र १७ ,;
तथा भामती, २।२।१० ।।

३६. सांख्यकारिका के गौडपादभाष्य में ५६वीं आर्यापर 'तथा चोक्तम्' कहकर यह सूत्र उद्धृत है ।

१. अलबेरूनी ने अपने भारतयात्रा वर्णन में इस श्लोक को पराशरपुत्र व्यास का लिखा है । देखें, 'अलबेरूनी का भारत' हिन्दी संस्करण, पृ० ५४-५५ और १३२ । संभव है, व्यास नाम लिखने में अलबेरूनी को भ्रम हुआ हो । पञ्चशिख पराशरगोत्र का व्यक्ति है, गोत्र प्रवर्त्तक पराशर अति प्राचीन ऋषि थे । व्यास के पिता पराशर का वंश नहीं चला । इस पराशर के पुत्र व्यास का एकमात्र पुत्र शुकदेव नैष्ठिक ब्रह्मचारी था, और व्यास के जीवनकाल में ही उसका देहावसान होगया था । पञ्चशिख के लिये प्रयुक्त 'पाराशर्य' अथवा 'पराशरगोत्रोत्पन्न' आदि पदों का 'पराशर-पुत्र' अर्थ समझ कर कदाचित् अलबेरूनी ने उसे व्यास पर आरोपित करदिया है ।

तत्त्वानि यो वेदयते यथावद् गुणस्वरूपाण्यधिदैवतं च।
विमुक्तपाप्मा गतदोषसङ्गो गुणांस्तु भुंक्ते न गुणैः स भुज्यते ॥
प्राकृतेन तु बन्धेन तथा वैकारिकेण च।
दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्त्तते ॥
आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृच्छ्रक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्[1] ॥

इनके अतिरिक्त कुछ निम्नलिखित श्लोक और हैं, जिनको हमने अनुमानतः पञ्चशिख की रचना समझा है।

अशब्दमस्पर्शरूपमव्ययं तथा च नित्यं रसगन्धवर्जितम्।
अनादिमध्यं महतः परं ध्रुवं प्रधानमेतम् प्रवदन्ति सूरयः ॥
अहं शब्दे अहं स्पर्शे अहं रूपे अहं रसे।
अहं गन्धे अहं स्वामी धनवानहमीश्वरः ॥
अहं भोगी अहं धर्मेऽभिषिक्तोऽसौ मया हतः।
अहं हनिष्ये बलिभिः परैरित्येवमादिकः ॥
धर्माख्यं सौहित्यं यमनियमनिषेवणं प्रख्यानम्।
ज्ञानैश्वर्यविरागाः प्रकाशनमिति सात्त्विकी वृत्तिः ॥
रागः क्रोधो लोभः परपरिवादोऽतिरौद्रताऽतुष्टिः।
विकृताकृतिपारुष्यं प्रख्यातैषा तु राजसी वृत्तिः ॥
प्रमादमदविषादा नास्तिक्तं स्त्रीप्रसंगिता निद्रा।
आलस्यं नैर्घृण्यमशौचमिति तामसी वृत्तिः ॥
बाह्यकर्माणि संकल्प्य प्रतीतं योऽभिरक्षति।
तन्निष्ठस्तत्प्रतिष्ठश्च धृतेरेतद्धि लक्षणम् ॥
स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च यजनं याजनं तपः।
दानं प्रतिग्रहो होमः श्रद्धाया लक्षणं स्मृतम् ॥
सुखार्थं यस्तु सेवेत ब्रह्मकर्मतपांसि च।
प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखेयं परिकीर्त्तिता ॥
एकत्वं च पृथक्त्वं च नित्यं चैवमचेतनम्।
सूक्ष्मं सत्कार्यमक्षोभ्यं ज्ञेया विविदिषा च सा ॥
प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च।
इत्येते वायवः पञ्च शरीरेषु शरीरिणाम् ॥

---

१. इस श्लोक को योगवार्त्तिक २।१८ पर विज्ञानभिक्षु ने भी पञ्चशिख का लिखा है। योगवार्त्तिक में १।२४ पर इस श्लोक का आरम्भिक पाठ 'आद्यस्तु मोक्षो' है। वहाँ इसको 'पञ्चशिखाचार्यधृतवाक्य' कहागया है।

अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं परार्थमन्यत्वमकर्तृता च ।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः ॥
स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः ।
ज्ञानवान् शीलसम्पन्न आप्तो ज्ञेयस्तु तादृशः[1] ॥

इसप्रकार पञ्चशिख के नाम पर, गद्य सन्दर्भों के अतिरिक्त कुछ पद्य उपलब्ध होते हैं। इससे संभव है–गद्यग्रन्थ के अतिरिक्त उसका कोई पद्यमय ग्रन्थ रहाहोगा । यह नहीं कहाजासकता, कि एक ही ग्रन्थ गद्य-गद्य उभयरूप रहाहो, अथवा पृथक्-पृथक् । पञ्चशिख के ग्रन्थ का विशेष नाम क्या था ? यह आज पता नहीं है । उसके ग्रन्थों के लिये 'षष्टितन्त्र' पद का प्रयोग, षष्टितन्त्र शास्त्र के आधार पर कहाजासकता है, वह उनके ग्रन्थों की विशेष संज्ञा नहीं है । कपिल-प्रणीत प्रथम सांख्यग्रन्थ का षष्टितन्त्र नाम था। इस सम्बन्ध में द्वितीय तृतीय अध्यायों में विस्तारपूर्वक विवेचन करदियागया है ।

महाभारत के संवादों में, पञ्चशिख के उक्त मतों का सामञ्जस्य—

महाभारत में अनेक स्थलों पर पञ्चशिख का उल्लेख है। शान्तिपर्व के २२० अध्याय में आसुरि के शिष्यरूप से पञ्चशिख का उल्लेख कियागया है। इसी पर्व के २२०-२२२ तथा ३२४ अध्यायों में पञ्चशिख और जनक के संवाद का वर्णन है । इन संवादों में जिन सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है, उनसे प्रतीत होता है–यह पञ्चशिख व्यक्ति वही है, जो सांख्यशास्त्र से सम्बद्ध है । इन अध्यायों में निम्नलिखित सिद्धान्तों हा वर्णन पायाजता है—

सत्त्व रजस् तमस् ये तीन गुण हैं ।
प्रत्येक वस्तु में इन तीनों की स्थिति पाईजाती है ।
सत्त्व[2] के धर्म हैं, प्रीति प्रहर्ष आनन्द शान्ति ।
रजस्[3] के धर्म अथवा लिङ्ग हैं, अतुष्टि परिताप शोक लोभ अक्षमा ।
तमस्[4] के धर्म हैं, अविवेक मोह प्रमाद स्वप्न तन्द्रा ।
बुद्धि अहङ्कार और एकादश इन्द्रिय, ये तेरह करण हैं ।
मन का दोनों प्रकार की इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है।

---

१. इन सब श्लोकों के सम्बन्ध में विशेष सूचनाएँ छठे अध्याय के भावागणेश और पञ्चशिखव्याख्या के प्रसंग में देखें ।
२. तुलना कीजिये, पञ्चशिखसूत्र ३ के साथ ।
३. तुलना कीजिये, पञ्चशिखसूत्र ४ के साथ ।
४. तुलना कीजिये, पञ्चशिखसूत्र ५ के साथ ।

पाँच भूत हैं। पाँचों[1] भूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है।

ज्ञान[2] से मुक्ति का होना बतायागया है।

महाभारत के ये अध्याय चाहे किसी विद्वान् के लिखे हुए हों, इससे इतना अवश्य सिद्ध होजाता है, कि इस प्रसङ्ग में पञ्चशिख के मुख से जो विचार प्रकट करायेगये हैं, वे वही हैं, जो सांख्यषडध्यायी तत्त्वसमास और पञ्चशिख के उपलब्ध सन्दर्भों में प्रतिपादित कियेगये हैं। प्रस्तुत प्रकरण में उनके निरूपण का प्रकार, लेखक की शैली और ज्ञान पर निर्भर करता है। इसीलिये संभव है— इन प्रकरणों में कोई ऐसा विचार हो, जो उपलब्ध सांख्यग्रन्थों में न दीखे, अथवा उसके निरूपणप्रकार में इन ग्रन्थों से कुछ भेद हो, परन्तु मूल-सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं कहाजासकता।

(३) जनक धर्मध्वज—

पञ्चशिख के शिष्यों में जनक भी एक था। युक्तिदीपिका व्याख्या[3] में इसका उल्लेख है। महाभारत शान्तिपर्व के २२०-२२२ अध्यायों के वर्णन से स्पष्ट होता है—जनक पञ्चशिख का अन्यतम शिष्य था। शान्तिपर्व के ३२४ और ३२५ अध्याय[4] भी इसमें प्रमाण हैं। ३२५वें अध्याय के अनुसार तो जनक ने स्वयं[5] अपने मुख से इस बात को स्वीकार किया है।

जनक नाम के राजा अनेक हुए हैं। उन राजाओं का जनक नाम, देश के नाम के कारण कहाजाता है। जनक नामक देशों के राजा होने के कारण वे जनक कहलाते थे। संभव है, इस नामकरण का कोई अन्य कारण हो, परन्तु वैसे उनके वैयक्तिक नाम अलग थे। जो जनक पञ्चशिख का शिष्य है, उसका व्यक्तिगत नाम महाभारत[6] के आधार पर धर्मध्वज है। इसप्रकार धर्मध्वज जनक

---

१. 'एष पञ्चसमाहारः शरीरम्' म० भा० १२।२२२।८॥ इसकी तुलना कीजिये, सांख्यषडध्यायी ३।१७॥

२. 'ज्ञानेन मुच्यते जन्तुः' म० भा० १२।२२२।४७॥ तुलना करें, ३२, ३३ पञ्चशिख सूत्र, और 'ज्ञानान्मुक्तिः' [३।२३] इस सांख्यषडध्यायी सूत्र के साथ।

३. युक्तिदीपिका व्याख्या, आर्या ७० पर।

४. वैदेहो जनको राजा महर्षि वेदवित्तमम्। पर्यपृच्छत् पञ्चशिखं छिन्नधर्मार्थसंशयम्॥ १२।३२४।४॥

५. पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः। भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसंमतः॥ १२।३२५।२४॥

६. मैथिलो जनको नाम धर्मध्वज इति श्रुतः॥ १२।३२५।४॥

पञ्चशिख का शिष्य कहाजासकता है। इसका अपर नाम जनदेव[1] भी था।

विष्णुपुराण[2] में धर्मध्वज जनक का उल्लेख है। वहाँ कुछ जनक राजाओं की वंशपरम्परा का निर्देश इसप्रकार कियागया है—
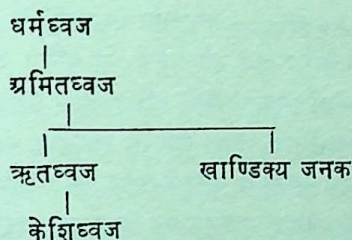
विष्णुपुराण के इस प्रसंग में उल्लेख है—केशिध्वज जनक आत्मविद्या में विशारद था। उसका पितृव्य [चाचा] खाण्डिक्य जनक कर्ममार्गी था, केशिध्वज ने खाण्डिक्य को आत्मविद्या का उपदेश किया। केशिध्वज का प्रपितामह और खाण्डिक्य का पितामह धर्मध्वज जनक था।

सुलभा के साथ इसके संवाद का महाभारत [१२।३२५] में विस्तृत वर्णन है। इस प्रसंग में जनक ने अपने आपको सांख्यज्ञान और राजनीति आदि में निपुण बतलाया है। संवाद में दार्शनिकरूप से तत्त्वों के विवेचन का कोई प्रसङ्ग नहीं आया है। केवल जनक की अपनी उक्ति से यह स्पष्ट है, कि वह अपने आपको सांख्य का आचार्य समझता था।

संवाद में प्रत्युत्तर के समय सुलभा ने इस कथन पर मीठी चुटकी ली है। उसने कहा है—यदि आपने सम्पूर्ण मोक्षशास्त्र को पञ्चशिख से सुना है, तो आपको अवश्य मुक्तसङ्ग होना चाहिये। फिर इन छत्र चामर आदि राजचिन्हों के झँझट में क्यों फँसे हो? प्रतीत होता है—आपने सुना सुनाया कुछ नहीं[3]। जो हो, परन्तु इन प्रसङ्गों से यह निश्चय अवश्य होजाता है, कि जनक धर्मध्वज पञ्चशिख के साक्षात् शिष्यों में एक था।

(४) वसिष्ठ और करालजनक—

कपिल आसुरि और पञ्चशिख इन तीन प्राथमिक सांख्याचार्यों के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय साहित्य में अन्य अनेक सांख्याचार्यों का उल्लेख आता है। सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका[4] नामक व्याख्या के आधार पर यह निश्चित होता

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २२० के आधार पर।
२. विष्णुपुराण, अंश ६, अध्याय ६।
३. महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३२५, श्लो० १६४-६६॥
४. युक्तिदीपिकाव्याख्या, कारिका ७० पर 'बहुभ्यो जनकवसिष्ठादिभ्यः समाख्यातम्।'

है, कि पञ्चशिख के, अभी तक अज्ञातनामा शिष्यों में से, जनक और वसिष्ठ दो शिष्य थे। एक जनक का उल्लेख प्रथम कियाजाचुका हैं। वसिष्ठ का उल्लेख अब कियाजाता है।

महाभारत के शान्तिपर्व में ३०८ से ३१४ तक सात अध्यायों[1] में वसिष्ठ और जनक के संवाद का विस्तारपूर्वक वर्णन है। इस प्रसंग में वर्णित जनक, पीछे वर्णित जनक से भिन्न है। यह करालजनक नाम से प्रसिद्ध था। पहला जनक जो पञ्चशिख का साक्षात् शिष्य था, धर्मध्वज जनक नाम से विख्यात था, जैसा पूर्व लिखाजाचुका हैं। महाभारत के इस प्रसंग में कराल जनक को वसिष्ठ ने तत्त्वों का उपदेश दिया है। इसीलिये यह जनक, वसिष्ठ का शिष्य कहाजासकता है।

वसिष्ठ एक ऐसा नाम है, जिसके सम्बन्ध में कोई निर्णयपूर्ण भावना उपस्थित करना अशक्य है। प्राचीन साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट होता है—वसिष्ठ नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं। रामायण से ज्ञात होता है, इक्ष्वाकु राजवंश के कुछ पुरोहित वसिष्ठ नाम से पुकारे जाते थे, क्योंकि उस राजवंश में बहुत पीछे होनेवाले अनेक राजाओं के साथ वसिष्ठ नामक व्यक्तियों के सम्पर्क का रामायण में उल्लेख पायाजाता है। त्रिशंकु के सदेह स्वर्ग में जाने के लिये यज्ञ कराने की वसिष्ठ से प्रार्थना कियेजाने का उल्लेख है, और दशरथ के अनेक यज्ञों के अवसर पर वसिष्ठ की उपस्थिति का रामायण, में उल्लेख कियागया है। रामायण के अनुसार त्रिशंकु और दशरथ के मध्य में अट्ठाईस राजा बतायेगये हैं। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहाजासकता, कि जो वसिष्ठ व्यक्ति त्रिशंकु के समय में था, वही व्यक्ति दशरथ के समय में रहा हो। इससे परिणाम निकलता है—इक्ष्वाकु राजवंश के पुरोहित वसिष्ठ नाम से कहेजाते थे, चाहे उनके वैयक्तिक नाम कोई भी रहे हों। अभी तक इस अंश के इतिहास का पूर्ण संशोधन नहीं कियाजासका है।

महाभारत युद्धकाल के समय भी वसिष्ठ नामक व्यक्ति की विद्यमानता का उल्लेख आता है। क्या यह किसी तरह स्वीकार कियाजासकता है, कि जो वसिष्ठ नामक व्यक्ति दशरथ के समय में विद्यमान था, वही महाभारत युद्धकाल में विद्यमान हो ? यद्यपि अभी तक दशरथ और महाभारत युद्धकाल के अन्तर का पूर्ण निश्चय नहीं, पर इतना निश्चय अवश्य है, कि वह अन्तराल काल इतना अधिक था, कि उतने समय तक कोई व्यक्ति जीवित नहीं रहसकता। तब विचारणीय है—यह वसिष्ठ कौन-सा था ?

रामायण के उत्तरकाण्ड [अ० ५५-५६] में निमि और वसिष्ठ का उल्लेख आता है। ये दोनों परस्पर के शाप से मृत्यु को प्राप्त होजाते हैं।

---

१. यह अध्याय संख्या कुम्भघोण संस्करण के अनुसार दीगई है।

इस वसिष्ठ को वहां ब्रह्म-पुत्र लिखा है। ब्रह्मा के आशीर्वाद से उर्वशी में मित्रावरुण के वीर्य से वसिष्ठ के पुनः उत्पन्न होने का वहाँ उल्लेख है। इसलिये यह मैत्रावरुणि वसिष्ठ प्रसिद्ध हुआ। महाभारत के अनुसार इसी वसिष्ठ के साथ कराल जनक का संवाद हुआ था, यह कराल जनक, निमि का पुत्र था।

रामायण [बाल०७१] के अनुसार निमि, विदेहों के जनकवंश का प्रथम व्यक्ति था[1]। उसकी तेईसवीं पीढ़ी में सीता का पिता सीरध्वज हुआ। निमि के पुत्र का नाम रामायण में मिथि लिखा है। संभव है, इसका अपर नाम कराल हो, अथवा यह निमि का अन्य पुत्र हो। श्री पं० भगवद्दत्त बी० ए० ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' नामक ग्रन्थ में करालजनक को द्वितीय निमि का पुत्र लिखा है, और उसे भारतयुद्ध से ४०-५० वर्ष पूर्व का बताया है। परन्तु रामायण के उपर्युक्त (७, ५५-५६) प्रसंग के अनुमार जनकवंश के आद्य पुरुष निमि के साथ वसिष्ठ (ब्रह्मसुत) का बिगाड़ हुआ, यही वसिष्ठ के जन्मान्तर में मैत्रावरुणि वसिष्ठ हुआ। रामायण के उक्त वर्णन से प्रतीत होता है—निमिशाप से वसिष्ठ का देह छूट जाने पर अल्पकाल के अनन्तर उसे देहान्तर की प्राप्ति होगई थी। रामायण के इसी प्रसंग में प्रथम निमि को इक्ष्वाकु का बारहवां पुत्र लिखा है। रामायण तथा अन्य पुराणों में इक्ष्वाकु के शतपुत्रों[3] का उल्लेख है। कुक्षि से अयोध्या तथा निमि से मिथिला का राजवंश चला। यह संभव है—निमि ने अपने पुत्र 'मिथि' के नाम पर नगर या प्रदेश का 'मिथिला' नाम निर्धारित किया हो। शेष पुत्रों में से कुछ उत्तरापथ और कुछ दक्षिणापथ के शासक हुए। ऐसी स्थिति में मैत्रावरुणि वसिष्ठ और करालजनक का संवाद भारतयुद्ध से केवल ४०-५० वर्ष पूर्व मानाजाना कैसे संभव है ?

इसके अतिरिक्त महाभारत में जहाँ इस संवाद का उल्लेख कियागया है, वहां इसको पुरातन इतिहास[4] लिखा है। यह इतिहास भीष्मपितामह अपनी

---

१. शतपथ ब्राह्मण [१।४।१।१०-१७] के अनुसार इस प्रदेश को सर्वप्रथम बसानेवाला व्यक्ति 'विदेघ माथव' नामक राजा था। देखें इसी ग्रन्थ का 'महर्षि कपिल' नामक प्रथम अध्याय, पृ० ७८।

२. 'भारतवर्ष का इतिहास' पं० भगवद्दत्त बी० ए० कृत, पृ० १६०।

३. रामायण, उत्तर०, अ० ७६॥ विष्णु० ४।२।१३॥ ब्रह्माण्ड० ३।६।३।८।८-११॥

४. अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्। वसिष्ठस्य च संवादं करालजनकस्य च॥···वसिष्ठं श्रेष्ठमासीनं···। मैत्रावरुणिमासीनं···पप्रच्छर्षिवरं राजा करालजनकः पुरा॥ म० भा०, शान्ति० ३०८।७-१०॥

शस्त्रक्षत (शरशय्या) अवस्था में युधिष्ठिर को सुनारहे हैं। भीष्म की आयु उस समय दो सौ वर्ष के लगभग थी। यदि उक्त संवाद की घटना भारतयुद्ध से ४०-५० वर्ष पूर्व की हो, तो यह निश्चित है, कि वह भीष्म के जीवनकाल की घटना थी। ऐसी स्थिति में उसे भीष्म पितामह पुरातन इतिहास कैसे कहते ?

वसिष्ठ की वंशपरम्परा इसप्रकार बताईजाती है—ब्रह्मा का पुत्र वसिष्ठ, वसिष्ठ का शक्ति, शक्ति का पराशर, और पराशर का व्यास। यह व्यास वही है, जो महाभारत काल में विद्यमान था, तथा जिसने यह [प्रसिद्ध महाभारत] ग्रन्थ लिखा। इसप्रकार ब्रह्मा से चौथी पीढ़ी में इसका अस्तित्व कहाजाता है। ब्रह्मा को आदि सर्ग अथवा सत्ययुग के आरम्भ में मानकर यह स्वीकार किया-जाना कि महाभारत कालिक व्यास उसकी चौथी पीढ़ी में था।

व्यास का पिता पराशर और पराशर का पिता शक्ति। वस्तुस्थिति यही होसकती है, कि शक्ति, वसिष्ठ के वंश में उत्पन्न हुआ होगा। अथवा उसके पिता का भी नाम वसिष्ठ रहा हो, परन्तु यह वसिष्ठ ब्रह्मा का पुत्र था, अथवा दशरथकालिक वसिष्ठ था, इतना असत्य किसी पुराण के मुँह में ही समासकता है। अधिक संभव यही है, कि रामायणकाल के पिता-पुत्र [वसिष्ठ-शक्ति] तथा महाभारत काल के पिता-पुत्र [पराशर-व्यास] का नाम ग्रन्थों में लिखागया है; शेष मध्यगत पीढ़ी के नामोल्लेख की उपेक्षा करदीगई है।

त्रिशंकुकालिक वसिष्ठ के सौ पुत्रों का उल्लेख रामायण में आता है, विश्वा-मित्र के द्वारा उनके नष्ट कियेजाने का भी उल्लेख है। रामायण के इस प्रसंग में उक्त वसिष्ठ को दशरथकालिक वसिष्ठ के साथ जोड़ने का यत्न कियागया है। परन्तु वहाँ पहले या दूसरे के किसी शक्ति नामक अतिरिक्त पुत्र का उल्लेख नहीं है। यह अधिक संभव है—उन व्यक्तियों के नामसाम्य से तथा मध्यगत वंशपरम्परा के अज्ञात होने से पश्चाद्वर्त्ती लेखकों ने उनको अस्थान में जोड़-दिया है।

प्रस्तुत संवाद में वसिष्ठ मैत्रावरुणि था, यह निश्चित है। इसका समय त्रेतायुग के प्रारम्भिक भाग में मानाजासकता है, जो महाभारतयुद्ध से अतिप्राचीन-काल में था। प्राचीन इतिहास के संशोधन में हम उसी समय पथभ्रष्ट होजाते हैं, जब पुराने साहित्य में लिखे कुछ नामों को सिलसिलेवार जोड़ने का यत्न करते हैं। इतिहास जितना अधिक पुराना होताजाता है, उतना ही अधिक संक्षिप्त और संकुचित; तथा और अधिक पुराना होने पर हमारी विस्मृति का ही क्रीडास्थल रहजाता है। ऐसी दशा में हम अपने समीप के इतिहास के समान उसको अव्यवहित क्रमानुसार कैसे जोड़ सकते हैं ?

कौटलीय अर्थशास्त्र [१। ६। ६-७] में कराल वैदेह का उल्लेख है। वहाँ ब्राह्मणकन्यापहार के दोष से दाण्डक्य भोज और कराल वैदेह के बन्धु-राष्ट्र सहित विनष्ट होजाने का निर्देश है। रामायण [७। ७६-८१] में दण्ड अथवा दण्डक राजा के सम्बन्ध की एक इसीप्रकार की घटना का वर्णन मिलता है।

बौद्ध ग्रन्थ मज्झिम निकाय [मखादेव, सुत्तन्त ८३] में उल्लेख है, कि भगवान् बुद्ध ने आनन्द को कहा,'''कराल जनक ने उस कल्याण मार्ग का उच्छेद करदिया। यह प्रव्रजित नहीं हुआ'। संभवतः ब्राह्मणकन्यापहरण-रूप महान अविनय के कारण ही भगवान् बुद्ध ने कराल जनक के सम्बन्ध में अपना उक्त विचार प्रकट किया हो। भदन्त अश्वघोष ने भी इस घटना का अपने ग्रन्थ [बुद्धचरित ४। ८०] में उल्लेख किया है।

संवाद में निर्दिष्ट सिद्धान्त, सांख्यसूत्रों में उपलब्ध हैं—

महाभारत के वसिष्ठ-करालजनक संवाद में प्रसंगवश सांख्यसिद्धान्तों का बहुत स्पष्ट उल्लेख कियागया है। हम उन सिद्धान्तों को संक्षेप में इसप्रकार प्रकट करसकते हैं—

प्रकृति त्रिगुणात्मिका[1] है।

अव्यक्त प्रकृति से, महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत् से अहंकार और अहंकार से तन्मात्र द्वारा पञ्च सूक्ष्मभूत। ये आठ प्रकृति और आगे सोलह विकार हैं। जिनमें पांच महाभूत और पांच इन्द्रियाँ हैं[2]।

पुरुष, प्रकृति का अधिष्ठाता है।[3]

---

१. 'प्रकृतेस्त्रिगुणायास्तु' शान्ति ३१०।११॥ तुलना करें, 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' सां० सू० १।६१॥ 'त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः' सां० सू० १।१२६॥ 'अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात्' सां० सू० १।१३६॥

२. शान्ति० ३११।२७।२६॥ यहाँ पर इन्द्रियाँ पांच कही हैं, परन्तु यह शेष इन्द्रियों का भी उपलक्षण समझना चाहिये। क्योंकि मूल में सोलह विकारों का स्पष्ट उल्लेख है। महाभारत के 'एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश, इन पदों की तुलना कीजिये, तत्त्वसमाससूत्र—'अष्टौ प्रकृतयः। षोडश विकाराः' के साथ, और सां० सू० १।६१ के साथ।

३. 'अधिष्ठानादधिष्ठाता क्षेत्राणमिति नः श्रुतम्' शान्ति ३११।३७॥ तुलना कीजिये, 'अधिष्ठानाच्चेति' सां० सू० १।१४२॥ तथा 'सत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' १।६६॥ एवं पञ्चशिख सूत्र—'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते'।

प्रलय काल में अव्यक्त प्रकृति एकरूप है। सर्गकाल में उसका बहुरूप परिणाम होजाता है।[1]

पुरुष और प्रकृति परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। पुरुष जब इस भेद को जान लेता है, प्रकृति से छूट जाता है।[2]

साधारणरूप से ये इतने स्पष्ट सांख्यसिद्धान्त हैं—इनके सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं कियाजासकता। महाभारत के प्रस्तुत प्रकरण के इन वर्णनों से यह अवश्य स्पष्ट होजाता है, कि इन जनक और वसिष्ठ नामक आचार्यों का सांख्य से सम्बन्ध है, और वह सांख्य यही है, जो हमें तत्त्वसमास, षडध्यायीसूत्र तथा पञ्चशिख सूत्रों के रूप में उपलब्ध है। महाभारत के ये वर्णन सिद्धान्तरूप में, तथा अनेक स्थलों पर पद-रूप में भी इन सूत्रों के साथ पर्याप्त समानता रखते हैं।

सांख्यसूत्र और महाभारत में 'अन्धपंगु दृष्टान्त का अभाव—

महाभारतान्तर्गत शान्तिपर्व के सांख्यसम्बन्धी उल्लेखों में प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये 'अन्ध+पंगु' का दृष्टान्त कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। इसका सबसे प्रथम उल्लेख सांख्यकारिका[3] में मिलता है। सांख्यषडध्यायी के साथ, महाभारत के इन उल्लेखों की यह एक आश्चर्यजनक समानता है, कि षडध्यायीसूत्रों में भी 'अन्ध+पंगु' दृष्टान्त का उल्लेख नहीं है।

महाभारत में प्रकृति+पुरुष के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये स्त्री+पुरुष के सम्बन्ध का निर्देश कियागया है। वहाँ लिखा है—

"अक्षरक्षरयोरेष द्वयोः सम्बन्ध उच्यते।
स्त्रीपुंसोश्चापि भगवन् सम्बन्धस्तद्वदुच्यते[4]॥"

---

१. 'एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च यदाऽसृजत्' शान्ति० ३११/३३॥ तुलना कीजिये, सां० सू० २।२७॥ तथा ६।३२॥

२. 'अन्यदेव च क्षेत्रं' स्यादन्यः क्षेत्रज्ञ उच्यते'। शान्ति० ३११।३६॥ 'तदाविशुद्धो भवति प्रकृतेः परिवर्जनात्। अन्योऽहमन्येयमिति यदा बुध्यति बुद्धिमान्॥' शान्ति० ३१२।२०॥ तुलना कीजिये, 'अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषु अकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिणि' पञ्चशिखसूत्र। तथा 'बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेन' पञ्चशिखसूत्र।

३. सांख्यकारिका, आर्या २१।

४. महाभारत, शान्ति० ३१०।१२॥ कुम्भघोण संस्करण।

षडध्यायी में इस अर्थ को 'रागविरागयोर्योगः सृष्टिः' [२ । ९] सूत्र के द्वारा सांकेतिकरूप में निरूपण कियागया है । 'राग' और 'विराग' पदों से 'स्त्री' और 'पुरुष' की भावना अभिव्यक्त होती है । यह निश्चित है—सूत्र में केवल साधारण अर्थ का निर्देश है, उसके आधार पर अर्थ को स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त की कल्पना व्याख्याकारों का कार्य है । सम्भव है, महाभारत काल और उसके अनन्तर पर्याप्त समय तक उक्त सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिये 'स्त्री+पुरुष' का दृष्टान्त प्रचलित रहा हो । वार्षगण्य-[1]सम्प्रदाय में भी इसी दृष्टान्त का उल्लेख उपलब्ध होता है । यद्यपि वह दूसरे रूप में उपस्थित कियागया है, परन्तु उसका मूल आधार वही है । माठर[2] वृत्ति में भी इस अर्थ की ध्वनि मिलती है । इससे स्पष्ट होता है—मूल सूत्र में जो अर्थ साधारण रूप से निर्दिष्ट है, उसकी विशेष स्पष्टता के लिये व्याख्याकारों ने दृष्टान्त की ऊहना की । इसके लिये प्रथम विद्वानों ने 'स्त्री+पुरुष' सम्बन्ध का दृष्टान्त कल्पना किया । अनन्तर ईश्वरकृष्ण ने 'अन्ध+पंगु' दृष्टान्त की कल्पना की । सचमुच ही यदि षडध्यायी सूत्र, इन कारिकाओं के आधार पर बने होते, तो यह सम्भव नहीं था, कि इतना आवश्यक दृष्टान्त इन सूत्रों में छोड़ दिया जाता । परन्तु कारिकाओं की रचना, इन सूत्रों के आधार पर माने जाने पर यह सर्वथा समञ्जस है, कि मूलसूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिये कारिकाकार ने इस दृष्टान्त की यहाँ योजना कर दी है । इन कारिकाओं के सर्वप्राचीन व्याख्याकार माठर ने पहले दृष्टान्त का भी प्रसंगवश किसी रूप में उल्लेख करदिया है ।

इसप्रकार जनक और वसिष्ठ के संवादों में जिन सांख्यसिद्धान्तों का निरूपण है, वे सब षडध्यायी आदि ग्रन्थों में स्पष्ट उपलब्ध होते हैं । इनसे इस बात पर पर्याप्त प्रकाश पड़जाता है, कि ये आचार्य अवश्य कपिल की शिष्य परम्परा में रहे होंगे ।

इनके समय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहाजासकता । इतना अवश्य कहाजासकता है, कि जनक और वसिष्ठ ये दोनों आचार्य महाभारत युद्ध के काल से पर्याप्त प्राचीन थे । सम्भव है, इस नाम के अन्य भी अनेक व्यक्ति हुए हों, परन्तु उनके विवेचन से हमें यहां कोई प्रयोजन नहीं ।

जनक अथवा वसिष्ठ ने सांख्य विषय पर कुछ रचना भी की, इसके लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है । न उनके नाम पर इस विषय का कोई सन्दर्भ, हमने आजतक कहीं उद्‌धृत हुआ पाया है ।

---

१. 'वार्षगणानां तु यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः' युक्तिदीपिका, पृ० १७०, पं० २७–२८ ॥

२. 'तद्यथा स्त्रीपुरुषसंयोगात् पुत्रः सम्भवति । एवं प्रधानपुरुषसंयोगात् सर्गोत्पत्तिर्भवति ।' माठरवृत्ति, आर्या २१ पर ।

(५) याज्ञवल्क्य और दैवरातिजनक—

महाभारत आदि के आधार पर मैत्रावरुणि वसिष्ठ और करालजनक के संवाद का पिछले पृष्ठों में उल्लेख कियागया है। इसीप्रकार शान्तिपर्व के कुछ अध्यायों में याज्ञवल्क्य और दैवरातिजनक के संवाद का वर्णन है। इस वर्णन में याज्ञवल्क्य ने दैवरातिजनक को, उसके द्वारा प्रश्न कियेजाने पर तत्त्वों का उपदेश किया है। यह प्रकरण शान्तिपर्व के ३१५ अध्याय से प्रारम्भ होकर ३२३ अध्याय तक नौ अध्यायों में पूर्ण होता है।

रामायण के अनुसार विदेहों के राजवंश में सर्वप्रथम व्यक्ति निमि था। निमि की सातवीं पीढ़ी में देवरात नामक राजा हुआ। इसीका पुत्र दैवराति-जनक था। इसका अपना सांस्कारिक नाम रामायण में 'बृहद्रथ' लिखा है। इसके समय का ठीक निर्धारण करने के लिये हमारे समीप पर्याप्त साधन नहीं हैं। इतना अवश्य कहाजासकता है, कि यह कराल जनक से कतिपय पीढ़ी पीछे हुआ। इसप्रकार इसका समय त्रेतायुग के मध्यकाल में कहाजासकता है।

महाभारत में यह संवाद भीष्मपितामह के द्वारा महाराजा युधिष्ठिर को सुनायागया है। भीष्म ने वहां इस संवाद को पुरातन इतिहास[1] कहकर उल्लेख किया है। त्रेतायुग के मध्य के समीप होनेवाले इस संवाद को, महाभारतकाल में पुरातन इतिहास कहना समञ्जस है।

संवाद में निर्दिष्ट सिद्धान्तों के आधार, सांख्यसूत्र—

इस प्रकरण में याज्ञवल्क्य के द्वारा तत्त्वों के सम्बन्ध का जो उपदेश दिया गया है, सांख्य के साथ उसका अत्यन्त सामञ्जस्य है। ३१५ अध्याय के दशवें श्लोक[2] में आठ प्रकृति और सोलह विकारों का स्पष्ट उल्लेख है। अन्य विचारों को निम्नरीति पर प्रकट कियाजासकता है।

अव्यक्त, महान् अहकार और पांच सूक्ष्म भूत ये आठ प्रकृति हैं। इनमें महत् आदि सात व्यक्त हैं[3]।

---

१. अत्र ते वर्त्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
याज्ञवल्क्यस्य संवादं जनकस्य च भारत॥
याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं दैवरातिर्महायशाः।
पप्रच्छ जनको राजा प्रश्नं प्रश्नविदां वरम्॥ म० भा०, शान्ति० ३१५।

२. अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश।
आसां तु सप्त व्यक्तानि प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः॥
इस श्लोक के पूर्वार्ध को तुलना कीजिये, तत्त्वसमास के पहले [अष्टौ प्रकृतयः] और दूसरे [षोडश विकाराः] सूत्र के साथ।

३. १२।३१५।१०-११॥

मन सहित एकादश इन्द्रिय, और महाभूत ये सब सोलह विकार हैं[१]।
अव्यक्त से महान् की उत्पत्ति होती है। महान् से अहंकार उत्पन्न होता है[२]।
अहंकार से मन इन्द्रियां और भूत उत्पन्न होते हैं।[३]
त्रिगुणात्मक जगत्, प्रकृति का परिणाम है।[४]
सत्त्व, रजस्, तमस् इनके आनन्द दुःख अप्रकाश आदि स्वरूप हैं।[५]
प्रकृति एक और त्रिगुणात्मक है।[६]
पुरुष नाना हैं।[७]

इस प्रकरण में एक विशेष तथ्य का निरूपण है। चौबीस जड़तत्त्व और पच्चीसवें चेतन पुरुष का वर्णन सर्वत्र समानरूप से सांख्याभिमत रीति पर उपलब्ध होता है। परन्तु यहां एक छब्बीसवें पुरुष का उल्लेख है। प्रकरण से स्पष्ट है–वह पुरुष, ईश्वर है। उसकी स्थिति को पच्चीसवां पुरुष उसी समय अनुभव कर पाता है, जब वह स्वयं कैवल्य स्थिति को[८] प्राप्त होजाता है। याज्ञवल्क्य अपने उपदेश में इस रहस्य को स्पष्ट करता है, कि मूल तत्त्व एक है, अथवा दो या तीन? वह तीन मूल तत्त्वों की स्थिति को प्रामाणिक समझता है, एक ईश्वर दूसरा पुरुष जीवात्मा और तीसरी प्रकृति। वह इसका उल्लेख सांख्य-सिद्धान्त के रूप में करता है।[९]

---

१. १२।३१५।१२-१५ ॥
२. १२।३१५।१६-१७ ॥
३. १२।३१५।१८ ॥ तुलना करें–सांख्यषडध्यायी १।६१॥
४. १२।३१८।१५॥ तुलना करें–सांख्यषडध्यायी ६।३२ ॥
५. ११।३१८।१७-२८॥ तुलना करें–पञ्चशिख सूत्र ५-७ [इसी प्रकरण में पूर्व निर्दिष्ट सूची के अनुसार]
६. १२।३२०।३, १३॥ तुलना करें–षडध्यायी, ६।३९॥
७. १२।३२०।१३॥ तुलना करें–षडध्यायी १।१४९॥६।४५॥
८. तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ।१२।३२३।५५॥
९. पश्यंस्तथैव चापश्यन् पश्यत्यन्यः सदाऽनघ ।
षड्विंशं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च पश्यति ॥७२॥
न तु पश्यति पश्यंस्तु यश्चैनमनुपश्यति ।
पञ्चविंशोऽभिमन्येत नान्योऽस्ति परतो मम ॥७३॥
यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एष इति द्विजः ।
तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ॥७७॥
अन्यश्च राजन् परमस्तथाऽन्यः पञ्चविंशकः ।
तत्स्थत्वादनुपश्यन्ति एक एवेति साधवः । ७८॥
तेनैतन्नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमच्युतम् ।
जन्ममृत्युभयाद् भीता योगाः सांख्याश्च काश्यप ॥७९॥ शान्ति०, अ० ३२३॥

इस प्रकरण में प्रसंगवश कुछ प्राचीन अन्य सांख्याचार्यों के नामों का उल्लेख कियागया है। वे हैं—जैगीषव्य, असित देवल, पराशर, वार्षगण्य, पञ्चशिख, कपिल, शुक, गौतम, आर्ष्टिषेण, गर्ग, नारद, आसुरि, पुलस्त्य सनत्कुमार, शुक्र, कश्यप[1]। इन नामों के निर्देश में किसी विशेष क्रम का ध्यान नहीं रक्खा गया। यह केवल गणना करदीगई है। इनमें से अनेक नामों का उल्लेख सांख्यसप्तति की व्याख्याओं में उपलब्ध होता है; जिसका आधार कदाचित् यही प्रसंग हो।

क्या यही सांख्याचार्य याज्ञवल्क्य, शतपथ का रचयिता था ?

शान्तिपर्व के ३२३वें अध्याय के प्रारम्भिक भाग से स्पष्ट होता है—यह याज्ञवल्क्य आचार्य वही है, जिसका सम्बन्ध शतपथ ब्राह्मण से है। यह हम निश्चयपूर्वक नहीं कहसकते, कि ये प्रस्तुत अध्याय कब और किसके बनाये हुए हैं, पर जो भी कोई इनका रचयिता था, उसका इतना विचार अवश्य निश्चित प्रतीत होता है, कि वह इस उपदेष्टा याज्ञवल्क्य को, शतपथ ब्राह्मण से सम्बद्ध याज्ञवल्क्य समझता था। यदि इस मत को हम विचारकोटि में ले आते हैं, तो यह आवश्यक होजाता है, कि शतपथ ब्राह्मण में आये दार्शनिक विचारों का इनसे सन्तुलन कियाजाय। इतना कहने में कुछ संकोच नहीं, कि जिस किसी ने भी याज्ञवल्क्य के विचारों का यहां उल्लेख किया है, उसके इन उल्लेखों का आधार शतपथ ब्राह्मण ही रहा होगा। इसके चतुर्दश काण्ड में जो दार्शनिक विचार प्रस्तुत कियेगये हैं, उनका ही यह विवरण समझना चाहिये।

यह निश्चित है, कि इसके पर्याप्त समय पश्चात् शंकराचार्य ने इन विचारों की योजना अन्यथा की है। इनके युक्तायुक्तत्व का निर्णय करना इस समय हमारा लक्ष्य नहीं। पर इतना कह देना उपयुक्त है, कि शंकराचार्य से पर्याप्त पहले, शतपथ के चतुर्दश काण्ड में प्रदर्शित दार्शनिक मतों का विवरण वही समझाजाता था, जो महाभारत के प्रस्तुत अध्यायों में वर्णित है।

शतपथ ब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड के द्वितीय तृतीय चतुर्थ अध्यायों के गम्भीर पर्यालोचन से यह अर्थ स्पष्ट होजाता है, कि याज्ञवल्क्य इस ब्रह्माण्ड को अन्तर्यामी परमात्मा से पृथक् मानता है। इस विश्व को अन्तर्यामी के शरीररूप में वह वर्णन करता है। जगत् शास्य और वह इसका शासिता बतायागया है। सूर्य चन्द्र अनन्त तारागण पृथिव्यादि सम्पूर्ण लोक अतीत अनागत, सब ही अनन्त आकाश में भरे हुए हैं, और आकाश समेत ये सब, उस अन्तर्यामी परमात्मा में ही आधारित हैं, उसीके प्रशासन से इनकी गति और स्थिति है। इसप्रकार प्राकृत जगत् और ईश्वर सर्वथा पृथक् सत्ता हैं। यह तीसरा जीव

---

१. देखिये, शान्ति० ३२३।५९-६२॥

'पुरुष इस संसार में आताजाता, तथा कर्म-फलों को भोगता है[1]।

वस्तुत: प्राचीन सांख्यदर्शन के ये ही विचार हैं, जो षडध्यायी में उपलब्ध होते हैं। इसलिये प्राचीन साहित्य में इसप्रकार के सांख्य विचारों का आधार, इसी ग्रन्थ [सांख्यषडध्यायी] को मानाजासकता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में जिस जनक वैदेह का उल्लेख है। वह विदेह देशों का राजा यही दैवराति नामक जनक था, जिसका याज्ञवल्क्य से सम्बन्ध प्रतीत होता है। महाभारत के इस प्रसंग के दार्शनिक विचारों का बृहदारण्यक से अनेक स्थलों पर सामञ्जस्य स्पष्ट है।

श्री पं० भगवद्दत्त बी. ए. ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' नामक ग्रन्थ में यह निर्देश किया है, 'निमि जनक ही उपनिषदों का प्रसिद्ध जनक था। याज्ञवल्क्य उसीका गुरु और मित्र था। यह याज्ञवल्क्य भारत-युद्ध-काल में वर्त्तमान था।' इत्यादि।

महाभारत के अनुसार याज्ञवल्क्य का संवाद दैवराति जनक के साथ अवगत होता है, न कि निमि जनक के साथ। इस प्रसंग से यह भी ज्ञात होता है, कि यह याज्ञवल्क्य, प्रसिद्ध ग्रन्थ शतपथब्राह्मण से सम्बन्ध रखता था।[2] बृहदारण्यक उपनिषद् इसी ब्राह्मण का अन्तिम भाग है। इसलिये उपनिषद् में वर्णित याज्ञवल्क्य के साथ संवाद करने वाला दैवराति जनक होना चाहिये।

उपनिषद् में विदेह या वैदेह पद का अधिक प्रयोग है। यह बात नहीं कही जासकती, कि साहित्यमात्र में इस पद का प्रयोग किसी एक ही व्यक्ति के लिये हुआ है। यद्यपि उपनिषद् में उस एक ही व्यक्ति के लिये यह प्रयुक्त हुआ है, जिसका वहां प्रसंग है। इसका यह अभिप्राय नहीं, कि सर्वत्र उक्त पद से उसी एक व्यक्ति का बोध हो। जहां जिसका प्रसंग होगा, वहां उसका ग्रहण किया-जासकेगा। रामायण तथा पुराण आदि में विदेह अथवा वैदेह पद उस वंश के अन्य अनेक व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। सीता को वैदेही लिखा और कहा-जाता है। महाभारत आदि ग्रन्थों में जनक वंश के विभिन्न राजाओं के लिये इस पद का प्रयोग हुआ है। वस्तुत: विदेह पद, विशेष प्रदेश[3] का वाचक है।

---

१. इस प्रसंग की अधिक स्पष्टता और पुष्टि के लिये देखिये—हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' नामक ग्रन्थ के द्वितीय प्रकरण का उपनिषद्भाग।

२. देखें—म० भा०, शान्ति० ३२३। ११, १६, २२, २३॥

३. सोऽचिरेणैव कालेन विदेहानाससाद ह।
रक्षितान् धर्मराजेन जनकेन महात्मना॥ शान्ति० ३३०।१६॥
स विदेहानतिक्रम्य...। २२॥ विदेहराजो याज्यो मे जनको नाम विश्रुतः॥ ३३१। १०॥

इन प्रदेशों का नाम विदेह क्यों हुआ, इसका मूल संकेत शतपथब्राह्मण[1] में उपलब्ध होता है। इस भूभाग को सर्वप्रथम बसानेवाले व्यक्ति का नाम 'विदेघ माथव' था, इसकारण उसीके नाम पर इस प्रदेश का नाम 'विदेघ हुआ' जो कालान्तर में उच्चारण विपर्यय से 'विदेह' होगया। शतपथब्राह्मण की रचना से पूर्व यह 'विदेह' होचुका था। इसका निर्देश हम इसी ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में कर आये हैं। ऐसी स्थिति में जनकवंश के किसी राजा का परम योगी होना उसके 'विदेह' नाम का कारण नहीं कहाजासकता।

वोढु आदि सांख्याचार्य, ६-१८—

कुछ सांख्याचार्यों की नाम-सूची इसप्रकार उपस्थित कीजाती है—

६–वोढु	११–प्लुति	१६–ऋतु
७–सनक	१२–पुलह	१७–दक्ष
८–सनन्दन	१३–भृगु	१८–अत्रि
९–सनातन	१४–अङ्गिरस्	
१०–सहदेव	१५–मरीचि	

इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, सितम्बर १९३२, पृष्ठ ५०९–५२० में मुद्रित कालीपद भट्टाचार्य के लेखानुसार, अथर्ववेद परिशिष्ट ऋषितर्पण मन्त्र के आधार पर यह नाम-सूची प्रस्तुत कीगई है। इसमें से प्रथम चार नामों का उल्लेख, सांख्यकारिकाओं के गौडपादभाष्य में प्रथम पृष्ठ पर है। अन्य अनेक नाम जहां तहां पुराण आदि में उपलब्ध होते हैं। इन आचार्यों के कोई अन्य सांख्यसम्बन्धी वर्णन हमें कहीं उपलब्ध नहीं हुए। इसीलिये इनके सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण नहीं दियेजासकते। सम्भवतः ये सब आचार्य अति प्राचीन काल के प्रतीत होते हैं। इनकी किसी सांख्यसम्बन्धी रचना का अभी तक पता नहीं लगा है। केवल सनन्द अथवा सनन्दन के नाम पर श्लोक, मनुस्मृति की कुल्लूक रचित व्याख्या [१।५६] में इसप्रकार उपलब्ध है—

"तदुक्तं सनन्देन—
भूतेन्द्रियमनोबुद्धिर्वासनाकर्मवायवः।
अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः॥"

सांख्यषडध्यायी में कपिल ने इसके एक मत का स्वयं उल्लेख किया है। वहाँ सूत्र है—

"लिंगशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः।' [६।६९]

श्री पं० राजाराम शास्त्री ने हमसे कहा था, कि उन्होंने एक ब्राह्मण के घर तत्त्वसमास सूत्रों पर सनन्दनाचार्य की व्याख्या देखी थी। इसका उल्लेख

१. श० ब्रा० १।४।१।१०–१७॥

उन्होंने 'सांख्य के तीन प्राचीन ग्रन्थ' नामक अपनी पुस्तक में भी किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के समय हमने शास्त्रीजी से उक्त व्याख्या के सम्बन्ध में पुनः चर्चा की। ज्ञात हुआ, वह व्यक्ति मर चुका है, और उसके घर में जो पुस्तक व पुराने पत्र आदि थे, नष्ट होगये हैं। यत्न करने पर भी हम उस व्याख्या को उपलब्ध न करसके[1]।

पुलस्त्य आदि सांख्याचार्य, १९-२५—

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३२३ के आधार पर कुछ अन्य सांख्याचार्यों के नाम इसप्रकार उपस्थित कियेजासकते हैं—

१९—पुलस्त्य
२०—कश्यप
२१—शुक्र
२२—सनत्कुमार
२३—नारद
२४—आर्ष्टिषेण
२५—शुक

महाभारत में अनेक स्थलों पर इनके कथनोपकथनों का उल्लेख है। उनमें कहीं सांख्यसम्बन्धी विचार भी प्रस्फुटित हुए हैं। एक प्रसंग में यह भी आता है, कि शुक ने जनक के समीप जाकर आत्मज्ञान की शिक्षा ली। महाभारत के इस प्रसंग में इस जनक का नाम धर्मराज जनक[2] बताया है। पीछे जनक नाम के कुछ व्यक्तियों का उल्लेख कियागया है। यह जनक उनसे भिन्न है।

इन आचार्यों की सांख्यसम्बन्धी किन्हीं भी रचनाओं अथवा सन्दर्भों का अभी तक कोई ज्ञान नहीं है। इनके पृथक्-पृथक् उपलब्ध संवादों में जो बिखरे हुए विचार पायेजाते हैं, उनमें सांख्यभावनाओं की थोड़ी बहुत गन्ध सूंघी जासकती है।

पुलस्त्य को महाभारत [१। ६६। १०] में ब्रह्मा का मानस पुत्र, और भागवत [४। १] में कपिल का बहनोई लिखा है। कर्दमपुत्री 'हविर्भुक्' के साथ पुलस्त्य के विवाह का उल्लेख है।

कश्यप, मरीचि ऋषि का पुत्र [म० भा० १। ६३। ३] और कपिल का भान्जा था। भागवत [४। १] में लिखा है—इसकी माता का नाम 'कला' था, जो कर्दम की पुत्रियों में से अन्यतम थी।

---

१. यह ग्रन्थ लाहौर में रहते हुए, सन् १९४७ ईसवी के प्रारम्भ में लिखा जाचुका था। उसी वर्ष देश में राजनीतिक क्रान्ति के कारण हमें लाहौर छोड़ना पड़ा। अभी कुछ दिन हुए श्री पं० राजाराम जी का भी दिल्ली में देहावसान होगया है। लाहौर की सामग्री देश-विभाजन होजाने पर वहाँ रहगई, और नष्ट होगई।

२. महाभारत १२। ३३३। १९॥ कुम्भघोणं संस्करण।

जैगीषव्य आदि सांख्याचार्य, २६-३२—

कुछ अन्य आचार्यों के नाम इसप्रकार हैं—

(२६) जैगीषव्य
(२७) वाल्मीकि
(२८) देवल
(२९) हारीत
(३०) भार्गव
(३१) पराशर
(३२) उलूक

ये सब नाम महाभारत में विभिन्न स्थलों पर उपलब्ध होते हैं। इनमें से २६ और ३१ का नाम बुद्धचरित (१२।६७) में भी आता है। शेष पाँच नामों का उल्लेख सांख्यकारिका की माठरवृत्ति (आर्या ७१) में उपलब्ध होता है। २१ संख्या पर जो शुक्र नाम दियागया है, सम्भव है, माठरवृत्ति में उसीको भार्गव पद से उल्लिखित कियागया हो।

इन आचार्यों के पृथक्-पृथक् उपलब्ध होनेवाले संवादों में अवश्य सांख्य-सम्बन्धी कुछ बिखरे हुए विचार पायेजाते हैं। इनमें से कुछ आचार्यों के सन्दर्भ भी उपलब्ध होते हैं। इनमें जैगीषव्य, देवल और हारीत का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

पातञ्जल योगसूत्र (२।५५) के व्यासभाष्य में जैगीषव्य के नाम पर एक सन्दर्भ इसप्रकार उद्धृत है—

"चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः।"

यहाँ पर तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति मिश्र ने जैगीषव्य को परमर्षि लिखा है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहाजासकता, कि उक्त सन्दर्भ जैगीषव्य की अपनी रचना है, या उसके विचारों को अन्य किसी विद्वान् ने अपने शब्दों में बाँध दिया है। यद्यपि न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका (३।२।४२) में वाचस्पति मिश्र ने 'धारणाशास्त्रं जैगीषव्यादिप्रोक्तम्' इत्यादि लिखकर इस तथ्य को प्रकट किया है, कि जैगीषव्य की कोई अपनी रचना अवश्य रही होगी। व्यासभाष्य (३।१८) में आवट्य और जैगीषव्य का एक संवाद दिया है, जिससे प्रकट होता है—जैगीषव्य ने समाधिसिद्धि को प्राप्त किया था।

इसके अतिरिक्त महाभारत[1] में इस बात का उल्लेख है—जैगीषव्य ने असित देवल के सन्मुख अपनी सिद्धि का प्रदर्शन किया था, और महादेव रुद्र तथा उमा[2] को भी छकाया था। कीथ[3] ने लिखा है—जैगीषव्य, कूर्मपुराण के वर्णन के

---

१. महाभारत, शल्य० ५१।
२. महाभारत शान्ति० २३६।
३. Another teacher of yoga who is mentioned in the epic is Jaigishavya, who according to the Kurma Puran, was a fellow pupil of Panchasikha. The Samkhya System. P. 51.

अनुसार पञ्चशिख का सहाध्यायी था। ऐसी स्थिति में देवल जैगीषव्य और पञ्चशिख तीनों समकालिक होने चाहियें। परन्तु इस सम्बन्ध में एक विचार इसप्रकार प्रस्तुत कियाजासकता है–पञ्चशिख अतिदीर्घजीवी[1] व्यक्ति था। सम्भव है, उसके पिछले दिनों में जैगीषव्य और उसका सहवास रहा हो। तथा उसी समय जैगीषव्य ने सांख्य-योगविद्या का अभ्यास किया हो। जैगीषव्य ने दृढ़ अभ्यास से परम समाधिसिद्धि को प्राप्त किया। ऐसे सिद्ध व्यक्ति की आयु भी लम्बी होनी चाहिये। असित देवल को जैगीषव्य के सहयोग से वैराग्य लाभ हुआ, और उसने सांख्यज्ञान को उसीसे प्राप्त किया। सम्भव है. जैगीषव्य के अन्तिम दिनों में असित देवल का उससे सम्पर्क हुआ हो। देवल ने सांख्य-ज्ञान जैगीषव्य से प्राप्त किया था, यह बात महाभारत[2] से स्पष्ट होजाती है।

जैगीषव्य के अपने मन्तव्यों का संकेत महाभारत के उक्त प्रसंग से प्राप्त होता है। उन्नीस श्लोकों के द्वारा वहाँ उसके विचारों का निर्देश कियागया है। उसका निष्कर्ष है–अन्य किसी के द्वारा अपने लिये कितना भी बुरा कियेजाने पर उसके लिये स्वयं सदा भला करो और भला ही सोचो। आशाओं से दूर रहो, अतीत की चिन्ता न करो, जो प्राप्त हो वही करो। इन्द्रियों को वश में करो, क्रोध को जीतो, ज्ञानप्राप्ति के लिये प्रयत्न करो, मन वाणी कर्म से कभी किसी के प्रति अपराध न करो। जो व्यक्ति मेरी निन्दा करते हैं, अथवा प्रशंसा करते हैं; मैं उनसे न घटता हूँ और न बढ़ता, प्रत्युत यह समझना कि वे लोग अपना ही वर्णन करते हैं। इस रूप में जो अपना जीवन बिताते हैं, वे अपने सुख को बढ़ाते हैं। इन्हीं उपायों से ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जो निश्चित ही प्रकृति से परे है, उत्कृष्ट है। भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में 'स्थितप्रज्ञ' का जो स्वरूप प्रस्तुत कियागया है, जैगीषव्य उसीकी प्रतिमूर्ति प्रतीत होता है। महाभारत के ये उन्नीस श्लोक 'कृत्यकल्पतरु' के मोक्षकाण्ड प्रकरण में जैगीषव्य के नाम पर उद्धृत[3] कियेगये हैं।

देवल—

याज्ञवल्क्यस्मृति की अपरादित्य रचित व्याख्या[1] में देवल का एक लम्बा

---

१. म० भा० शान्ति० २२०।१०॥
२. म० भा०, शान्ति० २३६।२७॥
३. कृत्यकल्पतरु, मोक्षकाण्ड, पृष्ठ २२८-२९, गायकवाड ओरियण्टल संस्कृत सीरीज़, बड़ौदा से प्रकाशित। तुलना करें–म० भा० शान्ति, अ० २३६, श्लोक ८-२६। कुम्भघोण संस्करण।
१. याज्ञवल्क्यस्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय, श्लो० १०९ पर।

सन्दर्भ उद्धृत है। वह इसप्रकार है—

तत्र देवलः—"अथातो धर्मवर्जितत्वान्न तिर्यग्योन्यां पुरुषार्थोपदेशः। देवमानुषयोर्द्विविधः पुरुषार्थः। अभ्युदयो निःश्रेयसमिति। तयोरभ्युदयः पूर्वोक्तः। द्विविधं निःश्रेयसं सांख्ययोगाविति

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं सांख्यम्। विषयेभ्यो निवर्त्याऽभिप्रेतेऽर्थे मनसोऽवस्था (प) नं योगः। उभयत्रापवर्गः फलम्। जन्ममरणदुःखयोरत्यन्ताऽभावोऽपवर्गः। एतौ सांख्ययोगौ चाधिकृत्य यैर्युक्तितः समयतश्च पूर्वप्रणीतानि विशालानि गम्भीराणि तन्त्राणीह संक्षिप्योद्देशतो वक्ष्यन्ते।

तत्र सांख्यानामेका मूलप्रकृतिः। सप्त प्रकृतिविकृतयः। पञ्च तन्मात्राणि। षोडश विकाराः पञ्च पञ्चेन्द्रियाणि, अर्थाश्च। पञ्च भूतविशेषाः। त्रयोदश करणानि। त्रीण्यन्तः करणानि। चतस्रश्चतस्रो मातृजाः पितृजाश्च कोशाः। पञ्च वायुविशेषाः। त्रयो गुणाः। त्रिविधो बन्धः। त्रयो बन्धहेतवः। द्वौ बन्धरागौ। त्रीणि प्रमाणानि। त्रिविधं दुःखम्। चतुर्विधः प्रत्ययसर्गः। तथा विपर्ययः पञ्चविधः। अशक्तिरष्टाविंशतिधा। तुष्टिर्नवविधा। सिद्धिरष्टविधेति प्रत्ययभेदाः पञ्चाशत्।

अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं परार्थमन्यत्वमथो निवृत्तिः।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः॥
इति दश मूलिकार्थाः।

अथ मूलप्रकृतिरव्यक्तम्। महानहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणीति प्रकृतिविकृतयः। शब्दतन्मात्रं स्पर्शमात्रं रसतन्मात्रं रूपतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति तन्मात्राणि। द्विविधानीन्द्रियाणि। भूतविशेषाश्च विकाराः। चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वात्वचो बुद्धीन्द्रियाणि। रूपशब्दगन्धरसस्पर्शास्तेषामर्थाः। वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि। भाषणं क्रिया गमनमुत्सर्ग आनन्द एषां कर्माणि। वाय्वग्न्यबाकाश-पृथिव्यो भूतविशेषाः। दशेन्द्रियाणि बुद्ध्यहंकारमनांसि च करणानि। तेषु मनोबुद्ध्यहंकाराश्चान्तःकरणानि। दश बहिष्करणानीन्द्रियाणि च। गुणसाम्य-लक्षणमव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिर्विधानमित्यनर्थान्तरम्। अध्यवसायलक्षणो महान् बुद्धिर्मतिरुपलब्धिरित्यनर्थान्तरम्। अभिमानलक्षणोऽहंकारो वैकारिकोऽभिमान इत्यनर्थान्तरम्।

न पूर्वपूर्विका प्रकृतिः प्रकृतेर्महानुत्पद्यते। ततोऽहंकारः अहंकारात्तन्मात्राणी-न्द्रियाणि च। तन्मात्रेभ्यो विशेषा इत्युत्पत्तिक्रमः। यो यस्मादुत्पद्यते स तस्मिल्लीयत इति वाऽप्ययक्रमः।"

इस सन्दर्भ में सांख्यषडध्यायी और तत्त्वसमास के अनेक सूत्र हैं। जिनका उल्लेख प्रसंगवश चतुर्थ अध्याय में कर आये हैं। देवल की प्राचीनता के सम्बन्ध में भी चतुर्थ अध्याय [२४ संख्या] में विस्तारपूर्वक लिखाजाचुका है। देवल के सन्दर्भ से स्पष्ट होता है—उससे पूर्व अनेक आचार्यों के सांख्य विषय पर विस्तृत

तथा गम्भीर ग्रन्थ थे। इन ग्रन्थों की रचना, उपलब्ध अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों से पूर्व ही लोकभाषा में होचुकी थी। कपिल की रचना के अतिरिक्त, आसुरि, पञ्चशिख, देवल, वार्षगण्य आदि की रचनाओं में से अनेक सन्दर्भ आज भी उपलब्ध होते हैं। इससे स्पष्ट है—योरुपीय विद्वानों का भाषा के आधार पर साहित्य का क्रमिक कालनिर्णय सर्वथा असंगत है। विभिन्न विषयों के अनुसार, भाषा की विभिन्नता प्रत्येक काल में सम्भव होसकती है।[1]

देवल के सांख्य-सम्बन्धी अन्य अनेक उद्धरण 'कृत्यकल्पतरु'[2] नामक ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। उनमें से जिन सन्दर्भों का स्पष्ट सम्बन्ध सांख्य के साथ प्रतीत हुआ है, उनका निर्देश यहाँ कियाजाता है। उनमें एक लम्बा सन्दर्भ ऐसा है, जो अपरार्का टीका में उद्धृत सन्दर्भ के साथ समानता रखता है। इससे देवल के सांख्यसम्बन्धी ग्रन्थ की और अधिक पुष्टि होजाती है। वे सन्दर्भ इसप्रकार हैं—

तत्र सांख्यानामेका मूलप्रकृतिः। सप्त प्रकृतिविकृतयः। महदहंकारौ। पञ्च तन्मात्राणि। षोडश विकाराः। पञ्च पञ्चेन्द्रियाणि। अर्थाश्च पञ्चभूत-विशेषाश्च। त्रयोदश करणानि। तेषां त्रीण्यन्तःकरणानि। दश बहिःकरणानि।

अथ मूलप्रकृतिरव्यक्तम्। महानहंकारः पञ्च तन्मात्राणीति प्रकृतिविकृतयः। शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति तन्मात्राणि। द्विविधानि इन्द्रियाणि, मनो भूतविशेषाश्च विकाराः। चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वात्वचो बुद्धीन्द्रियाणि। रूपशब्दगन्धरसस्पर्शास्तेषामर्थाः। वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि। भाषणं क्रिया गमनमुत्सर्गः प्रीतिरिति कर्मेन्द्रियार्थाः। वाय्वग्न्यबाकाशपृथिव्यो भूतविशेषाः। दशेन्द्रियाणि बुद्ध्यहंकारमनांसि च करणानि। तेषां मनोबुद्ध्यहंकाराश्चान्तःकरणानि। दश बहिःकरणानि, इन्द्रियाणि च।

गुणसाम्यलक्षणमव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिः विधानमित्यनर्थान्तरम्। अध्यवसाय-लक्षणो महान् बुद्धिर्मतिरुपलब्धिरित्यनर्थान्तरम्। अभिमानलक्षणोऽहंकारो वैकारिकोऽहंकारोऽभिमान इत्यनर्थान्तरम्। सत्तामात्रलक्षणानि तन्मात्राणि। स्वानुग्रहलक्षणानीन्द्रियाण्यक्षाणीन्द्रियाण्युच्यन्ते। संकल्पलक्षणं मनः। इन्द्रियार्थ-लक्षणा विषयविशेषा भूतानीत्यनर्थान्तरमिति।[3]

---

१. इस विषय में अधिक देखें—पं० भगवद्दत्त जी कृत 'भारतवर्ष का बृहद इतिहास' पृष्ठ ७२–७६॥
२. यह ग्रन्थ 'गायकवाड ओरियण्टल सीरीज़' बड़ोदा से प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में पृष्ठ संख्या उसीके अनुसार दीगई है।
३. 'सत्तामात्रलक्षणानि तन्मात्राणि' से लेकर सन्दर्भ के अन्त तक का पाठ अपारार्का के उद्धरण में नहीं है। प्रतीत होता है, यह पाठ देवल के मूलग्रन्थ से यहाँ अधिक लियागया है।

सर्वपूर्विका प्रकृतिः। प्रकृतेर्महानुत्पद्यते। महतोऽहंकारः। अहंकारात्तन्मात्राणि इन्द्रियाणि च। तन्मात्रेभ्यो विशेषा इत्युत्पत्तिक्रमः।

[कृत्यकल्पतरु,[1] मोक्षकाण्ड, पृ० १००–१०१]

तत्र देवमनुष्यतिर्यगनुवृत्तौ देवलः—

तेषां त्रिविधो मूर्तिविशेषो–द्युतिमत्, सुगन्ध्यनिष्पाद्यमनाविलमनिमिषमस्वेदं, क्षुत्पिपासानिद्रालस्यवर्जितं, यथेष्टाकृतिबलसन्नहनमूर्जस्वि, निर्मलं, परमपुष्कलं, सुकृतनिमित्तं **देवताशरीरम्**

अनित्यमशुभं, सर्वरोगायतनं, दुःखभाजनमनेकबाधमस्थिसंघातशिरास्नायुनद्धं, मांसावलिप्तं, त्वक्प्रतिच्छन्नं, अन्नरसनानाशोणितमेदोमांसमज्जारेत पित्तानिलश्लेष्मान्त्रगुदवस्तियकृत्प्लीहक्लेदस्वेदमूत्रपुरीषकृमिपूर्णं, नवच्छिद्रं, सन्ततास्रावं, केशरोमनखपर्यन्तं, दुर्गन्धि, नित्यसंस्कार्य, जरामरणवशमिति **मानुषशरीरम्**।

सन्ततोद्विग्नमसंस्कारं, विधृतनिष्यदं, क्षुत्पिपासावशं, मूढेन्द्रियगोचरं, दुष्कृतायनमज्ञानमकर्मण्यमिति **तिर्यग्योनिशरीरम्**[2]। [पृ० १०६]

प्रकृतिबन्धो वैकारिकबन्धो दक्षिणाबन्ध इति बन्धत्रयी। तत्राऽव्यक्तादिभिरष्टभिर्बन्धः। इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु बन्धो वैकारिकबन्धः। इष्टापूर्त्तादिभिर्बन्धो दक्षिणाबन्धः। तत्र प्रकृतिषु बन्धो देवतानां दक्षिणाभिराश्रमिणां वैकारैरन्येषां धर्मोऽज्ञानानि च बन्धहेवतः[3]। (पृ० १२४)

देवमनुष्ययोः द्विविधः पुरुषार्थोऽभ्युदयो निःश्रेयसमिति। तयोरभ्युदयः पूर्वोक्तः द्विविधः[4] निःश्रेयसमिति सांख्ययोगौ। पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं सांख्यम्। विषयेभ्यो निवृत्याऽभिप्रेतेऽर्थे मनसोऽवस्थापनं योगः। उभयत्रापवर्गः फलम्। (पृ० १६५)

सर्वप्राणिष्वनुक्रोशो हृदयतुष्टिरपायचिन्तनं सर्वोपभोगवर्जनम्। भूमिशिलातृणसिकताशर्कराणामन्यतमाधिशयनं सदा सत्त्वबोधो धर्ममार्जवमनर्दनं चेति[5] (पृ० २१)

---

१. इस प्रसंग में हम आगे केवल पृष्ठ संख्या निर्देश करेंगे, वह इसी ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड की पृष्ठ संख्या समझनी चाहिये।

२. दैव आदि त्रिविध सर्गों का वर्णन सांख्यग्रन्थों में कियागया है। तुलना करें, सां० सू० ३। ४६॥ सां० का० ५३॥ त० स० सू० १८।

३. तुलना करें, सां० सू० ३। २३–२५, ३६॥ तत्त्वसमास सूत्र १९॥ सां० का० ४४–४५।

४. अपरार्का टीका में यह पाठ इसप्रकार है–'तयोरभ्युदयः पूर्वोक्तः। द्विविधं निःश्रेयसं सांख्ययोगाविति।'

५. यह सन्दर्भ 'वानप्रस्थधर्म' नामक प्रकरण में उद्धृत कियागया है।

परिव्राजको दीक्षाप्रभृति सर्वारम्भान् परित्यजेत्। चतुर्मासान्तरं केशश्मश्रूण्यपनयेत्। नाधीत: श्मश्रुरोमाणि। विद्याचारकुलवयोवृत्तानि परेभ्यो न कथयेत्। (पृ० ४६)

नित्यं प्रत्यादित्ये निवृत्तमुसलोद्यमे प्रशान्तधूमे काले ग्रामं प्रविश्य, भैक्षार्थं सर्वत: पर्यटन् अग्रतो युगमात्रमवलोक्य संकल्पितानि विवृतद्वाराणि, अन्यवचनेऽनासक्तः प्रविशेत्। प्रविष्ट: संकल्पप्रणयकुहकचिन्मयविलम्बपरिहासयाचनाप्रेक्षितादि परिहरेत्। गोदोहनमात्रं स्थित्वा व्रजेत्। भिक्षां लब्ध्वा न प्रहृष्येत्। अलब्ध्वा न क्रुध्येत्। अन्त्यवसायि परिपन्थिज्ञातीश्वरप्रेतभूतकभिन्नां नोपलभ्यां प्रतिहतां गृह्णीयात्। आत्मन: संस्कृतां परबाधाकरीं वर्जयेत्। मधुमांसकुबीजविरहितां गृहीत्वा तद्भैक्षमेकान्ततो नैवपात्रेणान्येन वा तूष्णीं भूत्वा मात्रया भुञ्जीत। (पृ० ५६)

स भिक्षुररागानुक्रोशप्रधान: मुण्डितकषायी त्रिदण्डकमण्डलुपवित्रपात्रपादुकासन:, कन्थामात्रो, ज्ञानरतिरात्महृष्ट:, बन्धुभिरसंपृक्तो, निरपेक्ष:। परातिक्रम, क्षीणविगतपाप:, सममृत्काञ्चन:, स्वमात्रा, स्वव्ययसक्तो, मध्यस्थ:, निष्परिग्रहो, ब्रह्मवादी, मङ्गलव्यवहारसंस्कारजीव, शिखारत्नधनधान्यविषयोपभोगसंपर्केर्ष्यादर्पमोहमायाहर्षविरोधविस्मयविवादत्रासवितर्कतन्द्रश्चेति यतिधर्मा:[1]। (पृ० ५०)

अथात: पापदोषान् मनोवाक्यशरीरजान् व्याख्यास्याम:। तत्र मोहरागद्वेषमानलोभमदशोकममत्वाऽहंकारभयहर्षमोघवित्ता–मोघचिन्ताश्चेति द्वादश मानसा:[2]। (पृ० ८४)

रागद्वेषमोहा: कषाया उच्यन्ते। तेषां यमनियमलक्षणेन तपसा पञ्चविधेन तत्त्वज्ञानेन चापकर्षणम्। कषायपाचनम्। [पृ० १६८]

त्रिविध: प्राणायाम:[3]–कुम्भो रेचनं पूरणमिति। निश्वासनिरोध: कुम्भ:। अजस्रनिश्वासो रेचनम्। निश्वासाध्मानं पूरणमिति। स पुनरेकद्वित्रिभिरुद्घातैर्मृदुर्मन्दस्तीक्ष्णो वा भवति। प्राणापानव्यानोदानसमानानां सकृदुद्गमनं मूर्द्धानमाहृत्य निवृत्तिश्चोद्घात:। तत्र ऊर्ध्वं नाभेर्गतो रेचनोच्छ्वासक्षरणोद्धारकर्मा प्राण:। अधोनाभेरुत्सर्गानन्दकर्माऽपान:। शाखासम्बन्धिस्कन्धाविष्ट: प्रसारणावक्षेपणाकुञ्चनभ्रमणरेचनवानगमनकर्मा व्यान:। बाहूरुग्रीवाचक्षु:पार्श्वगत: चेष्टाविक्रमबलाधानकर्मोदान:। श्रोत्रहृदयनाभिगत: सर्वकर्मा स्यन्दनावबोधनानां समायतत इति समान:। ग्लानो विविस्य: सुषुप्सुद्विग्न: क्षुधितो व्याधित: शीतोष्णार्दित: संप्राप्तवेगो वा प्राणायामं न युञ्जीत। [पृ० १७०]

---

१. ये तीन सन्दर्भ 'यतिधर्म' प्रकरण में उद्धृत हैं।
२. यह सन्दर्भ 'कामादिवर्जन' नामक प्रकरण में उद्धृत है।
३. यह विषय योगशास्त्र में प्रसिद्ध है। योग, साख्य का अंग है, सांख्य में भी इसका यथावश्यक वर्णन है, तुलना करें, सां० सू० ३। ३४॥

अणुत्वाच्चापल्याल्लाघवाद्[1] बलवत्वाद्वा योगभ्रष्टस्य मनसः पुनः प्रत्यानीयार्थे योजनं प्रत्याहारः। [पृ० १७३]

शरीरेन्द्रियमनोबुद्ध्यात्मनां धरणाद्धारणा। [पृ० १७४]

देवतायतनं शून्यागारगिरिकन्दरनदीपुलिनगुहारण्यानामन्यतमे शुचौ निराबाधे विभवते समुपस्तीर्णमानसं कृत्वा, तस्मिन् लघ्वाहारो निरामयः शुचिः शिरो ग्रीवा पाणिपादौ च समास्थाप्य, शरीरमृजुं समाधाय, शिश्नवृषणावपीडयन् यत्किञ्चिदपाश्रित्य स्वस्तिकं भद्रकं मण्डलं वाऽधिष्ठाय, उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा दन्तैर्दन्तानसंस्पृश्य, अक्षिभ्यामव्यक्तमनुन्मील्य च मुखनासिकाभ्यां ऐक्यावसन्नाासग्रस्थितदृष्टिः, सर्वेन्द्रियाणि संहृत्योर्ध्वं प्राणानुद्दीर्य मनसा तच्चिन्तनं ध्यानम्। [पृ० १८१]

निष्ठाभिभवो[2] निद्राबाधाभयानकोत्पत्तिर्ज्ञानपीडा भोगातिशयः कोपनैपुण्यमैश्वर्यविशेषो धर्ममहत्त्वं विद्यास्थानानि यशोदीप्तिरिति योगिनां दशोपसर्गाः। [पृ० २१२]

अणिमा[3] महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्रकामावसायित्वं चाष्टावैश्वर्यगुणाः। तेषामणिमामहिमालघिमास्त्रयः शारीराः। प्राप्त्यादयः पञ्चैन्द्रियाः। तत्र स्वशरीरत्वमणिमा अणुभावात् सूक्ष्माण्यप्याविशति। शरीरमहत्त्वं महिमा। महत्वात् सर्वशरीराण्यावृणोति। शरीराशुगामित्वं लघिमा। तेनातिदूरस्थानपि क्षणेनाऽऽसादयति। विश्वविषयावाप्तिः प्राप्तिः। प्राप्त्या सर्वप्रत्यक्षदर्शी भवति। यथेष्टचारित्वं प्राकाम्यम्। प्राकाम्येन सर्वभोगवरानाप्नोति। अप्रतिहतैश्वर्यमीशित्वम्। ईशित्वेन दैवतान्यप्यतिशेते। आत्मवश्यता वशित्वम्। वशित्वेनाऽपरिमितायुर्वश्यजन्मा च भवति। यत्रकामावसायित्वं त्रिविधम्—छायावेशः अवध्यानावेशः अङ्गप्रवेश इति। यत् परस्य छायाप्रवेशमात्रेण चित्तं वशीकरोति स छायावेशः। यद् दूरस्थानामपि अनुध्यानेन चित्ताधिष्ठानं

---

१. इस सन्दर्भ से स्पष्ट होता है—सांख्यप्रवर्त्तक कपिल के समान देवल भी मन को अणु मानता है। देखें—सां० सू० ३। १४॥ इसके विपरीत पातञ्जल योगदर्शन में मन को विभु मानागया है। देखें—पा० यो० सू० ४। १० का व्यासभाष्य।

२. मूल में यहाँ 'निष्टाभिभवः' पाठ है। निष्ठा—श्रद्धा का अभिभव अर्थात् तिरस्कार योगियों के लिये योगमार्ग में विघ्न ही है। जब श्रद्धा ही नहीं, तो योग में प्रवृत्ति कैसी? योगसूत्र [३। ३७] में भी संकेत से इनको योगमार्ग में विघ्न बतायागया है।

३. योग में ये आठ सिद्धि प्रसिद्ध हैं। [पा० यो० सू० ३। ४५] सांख्य में इनको आठ प्रकार का ऐश्वर्य कहागया है। देखें—सां० सू० २। १३—१५॥ सां० का० २३। यहाँ भी इनका उल्लेख 'ऐश्वर्यगुण' कहकर कियागया है।

सोऽव्यध्यानावेशः। यत् सजीवस्योभिस्ते[1] (?) जीवस्य वा शरीरानुप्रवेशनं सोऽङ्गप्रवेशः। यत्रकाभावसायित्वेन मूर्त्तद्रव्यं चाधितिष्ठतीति ऐश्वर्यावस्थानं तच्च प्रकृति-पुरुषोत्तरहेतोर्धर्मतेजोज्ञानविशेषात्। सातिशयेन[2] संभूतं चैश्वर्याद् भवतीति। एवमेतानैश्वर्यगुणानधिगम्योद्धृतकल्मषः च्छिन्नसंशयः प्रत्यक्षदर्शी धर्मपरावरज्ञः कूटस्थ सर्वमिदं असदनित्यमिति ज्ञात्वा स्वयमेव शान्तिमधिगच्छती-त्यैश्वर्याव्याप्तिः[3] [पृ० २१६]

सायुज्यं सालोक्यं प्रकृतिलयो मोक्षश्चेति चतुर्विधं प्रयोजनम्। तेषामैश्वर्या-वाप्तियुक्त्या हिरण्यगर्भनारायणशिवमहेन्द्रसोमसूर्यस्कन्दज्येष्ठोमादेवीप्रभृतीनां देवतानामैकजल्पं (?) सायुज्यम्। (पृ० ८)

स तथा निवृत्तो निर्गुणश्छिन्नबन्धो[4] जन्मजरामरणदुःखविनिर्मुक्तः सुप्तवत् मत्तवत् विषधूमपानवत् सत्त्वादिहीनः तन्मात्रावस्थितः परमसुखमैकान्तिकमधि गच्छतीति सांख्यम्[5]। (पृ० ७)

कृत्यकल्पतरु में उद्धृत देवल के केवल गद्य सन्दर्भों का यहाँ निर्देश किया है। लगभग एक सौ से कुछ कम देवल के पद्य भी विभिन्न विषयों पर उक्त ग्रन्थ में उद्धृत कियेगये हैं। परन्तु सांख्यप्रतिपाद्य विषय के साथ विशेष सम्बन्ध न होने के कारण यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया।

---

१. मूल में यह पाठ भ्रष्ट होगया है। कदाचित् यहाँ 'सजीवस्योत्क्रान्तजीवस्य वा' यह पाठ होना चाहिये।
२. कृत्यकल्पतरु में टिप्पणी में इसके दो पाठभेद इसप्रकार दिये हैं—"सातिशयं न भूतं' 'सातिशयं नवभूतं'।
३. यहाँ पर 'त्यैश्वर्यावाप्तिः' ऐसा पाठ होना चाहिये। तुलना कीजिये, अगले सन्दर्भ के दूसरे वाक्य से। यह सन्दर्भ 'योगविभूति' प्रकरण में उद्धृत है।
४. इन पदों पर व्याख्या करते हुए भट्ट श्री लक्ष्मीधर ने लिखा है—'जन्मजरा-मरणदुःखनिवृत्तिश्च आत्यन्तिकी' जन्ममरणदुःखयोरत्यन्ताभावोऽपवर्ग इति पूर्वमेव देवलेनाभिधानात्।' इससे स्पष्ट होता है—देवल ने अपने ग्रन्थ में 'जन्ममरणदुःखयोरत्यन्ताभावोऽपवर्गः' वह अपवर्ग का स्वरूप बताया है। यद्यपि यह वाक्य कृत्यकल्पतरु में उद्धृत देवल के सन्दर्भों में नहीं है, परन्तु अपरार्का टीका में उद्धृत देवल के सन्दर्भ में यह पाठ सर्वथा इसी रूप में उपलब्ध है। इससे परिणाम निकलता है, कि कृत्यकल्पतरुकार भट्ट श्री लक्ष्मीधर के सन्मुख देवल का सम्पूर्ण ग्रन्थ रहा होगा। तथा देवल के नाम से उद्धृत सन्दर्भों की यथार्थता पर भी इससे प्रकाश पड़ता है।
५. ये दोनों सन्दर्भ 'मोक्षस्वरूप' प्रसंग में उद्धृत कियेगये हैं।

महाभारत (शान्ति०, २८१) में देवल-नारद संवाद का उल्लेख है। भीष्मपितामह ने इसको पुरातन इतिहास बताया है। वृद्ध देवल के सन्मुख उपस्थित होकर नारद ने भूतों की उत्पत्ति और प्रलय के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की है। इसके उत्तर में देवल ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे सांख्यसिद्धान्तों से पर्याप्त प्रभावित हैं।

महाभारत, सभापर्व, ७२।५ में देवल का उल्लेख इसप्रकार कियागया है—

त्रीणि ज्योतींषि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत्।
अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ॥

वायुपुराण, [अ० ६६, १५१-५२] में योगी के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये दो श्लोक उद्धृत कियेगये हैं।

इमौ चोदाहरन्त्यत्र श्लोकौ योगेश्वरं प्रति।
आत्मनः प्रतिरूपाणि परेषां च सहस्रशः।
कुर्याद्योगबलं प्राप्य तैश्च सर्वैः सहाऽऽचरेत् ॥
प्राप्नुयाद्विषयांश्चैव तथैवोग्रतपश्चरन्।
संहरेच्च पुनः सर्वान् सूर्यतेजो गुणानिव ॥

ये दोनों श्लोक कृत्यकल्पतरु नामक ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड में २१८ पृ० पर देवल के नाम से उद्धृत कियेगये हैं। अन्य स्थलों में भी देवल के प्रसंग व सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं।

'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र' नामक ग्रन्थ के १२०-२१ पृष्ठ पर श्रीयुत पाण्डुरंग वामन काने महोदय ने देवल को बृहस्पति तथा कात्यायन का समकालिक बताया है, और इनका समय उन्होंने विक्रम की तीसरी शती के लगभग माना है। देवल का यह समय-निर्देश सर्वथा अशुद्ध है। वह महाभारत युद्ध-काल से भी पर्याप्त प्राचीन है।

हारीत सांख्याचार्य—

माठरवृत्ति में निर्दिष्ट सांख्याचार्यों की सूची में हारीत का उल्लेख है। महाभारत में इसका वर्णन अनेक स्थलों पर आता है। कृत्यकल्पतरु नामक ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड प्रकरण में हारीत के नाम पर अनेक सन्दर्भ उद्धृत कियेगये उपलब्ध होते हैं। इनमें वानप्रस्थ तथा यतिधर्म आदि का वर्णन है। वे सन्दर्भ इसप्रकार हैं—

त्रेतां श्रावणकं वाग्निमाधाय वल्कलशाणचर्मचीरकुशमुञ्जफलकवासा वानप्रस्थोक्तेन विधिना। वानप्रस्थो द्विविधो भवति—स्वानुज्ञायिकोऽनुप्रस्थायिकश्चेति। स्वानुज्ञायिकश्चतुर्विधः—एकवृत्तिः संप्रक्षालक आत्मवृत्तिरहिंसकश्च। [पृष्ठ २२]

स्थाण्वेकपादैकपार्श्वोर्ध्वबाग्ग्रीष्मतपनवर्षाभ्रावकाशहिमजलशयनकुशप्रस्तरस्थण्डिलशर्करोलूखलमुसलकीलकशय्याप्रभृतिभिरात्मानं क्षपयेत्। [पृष्ठ २६]

सांख्ययोगयोर्भिक्षोर्ब्रह्मलयेच्छाप्राप्तिवचनानन्तरं हारीतः—

तदेव तदपवर्गमिच्छन्नात्मस्थानग्नीन् हुत्वा मनोवाक्कर्मदण्डान् संन्यस्य भूतेभ्योऽभयं दत्त्वाऽरण्यं गत्वा न प्रत्येयादनग्निरनिकेतोऽश्वस्तनविधानो मुण्डः कषायवासास्त्रिदण्डकुण्डिकाजलपवनपवित्रसूक्ष्मजन्तुनिवारणपाणिः मनोवाक्कर्मणां या परपीडाकरत्वेन दण्डरूपता तां परित्यज्याऽतएवाऽभयदानं भूतेभ्यो निरासार्थ-मरण्यगमनम् । [पृष्ठ ४२]

ससूर्यचक्षुषोद्धृतपरिपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्याद्दिवा क्रोशादियोजनान्तं गच्छेत् । शून्यदुर्गवर्जम् क्रोशादियोजनान्तं गच्छेत् । [पृष्ठ ५२]

अहिंसा नाम सर्वभूतेष्वनभिद्रोहः । चक्षुर्मनोवाक्शरीरकर्मणां न्यासः । कर्मेन्द्रियबुद्धेन्द्रियाणां संयमः । अहंकारकामक्रोधलोभोपनिवर्त्तनम्, आशीः प्रतिष्ठा संगापरिग्रहो ममत्ववर्जनं कलहवादकुतूहलोपनिवृत्तिः, विनयः, नित्यं प्रत्याहितत्वं प्राणतत्परता ब्रह्मतद्गतमानसत्त्वम् । पूर्वापररात्रानुसंधानम् । प्राणायामसेवनम् । दिवापर्यटनं न रात्रौ न वर्षासु प्रकीर्णस्थाने न द्रुतावतरणम् । न विक्षोभणं नोत्क्षेपणं सद्भ्यो भैक्ष्यग्रहणं सुविमृष्टभोजनं सममानावमानता समदुःखोपभोगता समलोष्टाश्मकाञ्चनता जन्तूनां शरीरारूढानां यक्ष्मचामर-व्यंजन[1] वस्त्रान्तेन नीयमाने नाऽपसर्पकरणम् । तस्मादचपलगमनासनपरिग्रहेण समदर्शिना भिक्षुणा व्यवहर्त्तव्यमाह । [पृष्ठ ५३]

मृद्दारुविदलालाबुपर्णपाणिपात्रो वा भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशेत् । नोच्छिष्टं दद्यान्नोत्सृजेत् । [न विकुत्सयेत्] नाऽतिमात्रमश्नीयात् । [पृष्ठ ६०]

संकल्पात् कामः संभवति । आशयाच्च वर्द्धते स्नेहान्निबध्नाति स ह इच्छालक्षणोऽनेकविधः कामो येनाऽभिभूतः । अतृप्त इव कामानां लोको ह्यनेन जन्मसंसारकामावर्त्ते निमज्जति । स एषोऽनलः कामः 'कामो हि भगवान् वैश्वानर' इति श्रुतिः । तस्याऽसंकल्पो नियमनम् । [पृष्ठ ८१]

क्रोधाग्निनाऽभिभूतः, स्वेषामप्यबहुमतो, नाधिगमनीयोऽविश्वसनीयश्च भवति । कार्याकार्यवाच्यावाच्यानि न वितर्कयति । हितवादिनो गुरूनप्यतिक्राम-त्यत्याविष्टः । प्रेतलोकायाऽऽत्मानं नयति । तत्र घोरां निरयप्रायां यातनामनुभूय क्रूरक्रव्यादासु तिर्यग्योनिषु जायते । तत्र सर्वासां प्रजानां वध्यो भवति । क्रमात् मनुष्यतां प्राप्य सर्वजनविद्विष्टतामुपैति, क्रोधो हि तमोरूपस्तस्य क्षमा नियमनम् । [पृष्ठ ८२]

मनसो धारणं अन्तः शरीरे, हृदि, ललाटे, परं ब्रह्मात्मज्योतिरादित्यमहीन-भस्सु जलभाजनयन्मनसस्त्वेकधारणाद्धारणा । [पृष्ठ १७४]

---

१. यहां 'व्यञ्जन' के स्थान पर 'व्यजन' पाठ युक्त होगा ।

उलूक—

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक नामक जैनग्रन्थ में अष्टमाध्याय के प्रारम्भ में ही पृष्ठ ४७४ पर ३६३ वादों का उल्लेख है। उनका चार श्रेणियों में इसप्रकार विभाग कियागया है—

८४ क्रियावाद
१८० अक्रियावाद
६७ आज्ञानिक
३२ वैनयिक
———
३६३

अक्रियावाद में वहाँ उलूक और कपिल का पृथक् निर्देश कियागया है। सांख्यकारिकाओं की माठर व्याख्या में उलूक का सांख्याचार्यों में उल्लेख है। महाभारत [उद्यो० १८६। २६॥ कुम्भघोण संस्करण] में, उलूक के आश्रम में अम्बा के जाने का उल्लेख है। यद्यपि उस प्रसंग से यह स्पष्ट नहीं है, कि वह उलूक, सांख्याचार्य था, अथवा इस नाम का अन्य कोई व्यक्ति।

वार्षगण्य आदि सांख्याचार्य, ३३-४३—

सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में निम्न आचार्यों के नाम और उल्लिखित हैं।

(३३) वार्षगण्य
(३४) पतञ्जलि
(३५) गौतम
(३६) गर्ग
(३७) बाद्धलि
(३८) कैरात
(३९) पौरिक
(४०) ऋषभेश्वर[1]
(४१) पञ्चाधिकरण
(४२) कौण्डिन्य
(४३) मूक

इनमें से अनेक आचार्यों के मतों का उल्लेख युक्तिदीपिका में आता है। उनका यथाक्रम निर्देश कियाजायगा। आचार्यों के नामों की यह सूची उनके काल-क्रम के अनुसार नहीं दीगई है। इनके काल का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु इस सूची में इस बात का अवश्य ध्यान रक्खा है, कि संख्या ३२ तक के आचार्य महाभारत युद्धकाल से प्राचीन और आसपास के हैं। उनमें से कौन पूर्व और कौन अपर है, इसका निर्धारण किया जाना कठिन है, जिनकी कुछ थोड़ी बहुत परम्परा का ज्ञान होसका है, उसका यथास्थान निर्देश करदिया है। संख्या ३३ के वार्षगण्य को छोड़कर शेष आचार्य महाभारत युद्ध से पीछे और ईश्वरकृष्ण से पूर्व हैं। इनकी परस्पर पूर्वापर परम्परा का निश्चय कियाजाना कठिन है।

---

१. यह एक नाम है, अथवा दो—ऋषभ और ईश्वर, सन्दिग्ध है।

वार्षगण्य—

यह गोत्र नाम प्रतीत होता है। इस व्यक्ति का मुख्य सांस्कारिक नाम क्या रहा होगा ? कुछ नहीं कहाजासकता। इसका मूलपद 'वृषगण' है; 'वर्षागण'[1] अथवा अन्य कुछ नहीं। 'जैन साहित्य और इतिहास' पृष्ठ ११८ पर नाथूराम प्रेमी ने लिखा है—पाणिनि में 'वार्षगण्य' पद की सिद्धि नहीं, पूज्यपाद देवनन्दी के ग्रन्थ में है। परन्तु प्रेमीजी का यह कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। पाणिनि के गर्गादि (४।१।१०५) गण में 'वृषगण' पद का पाठ है। उससे 'वार्षगण्य' पद सिद्ध होता है।

आपने लिखा है—"वार्षगण्य, सांख्यकारिका के कर्त्ता ईश्वरकृष्ण का दूसरा नाम है, और सुप्रसिद्ध चीनी विद्वान् डा० टक्कुसु के मतानुसार ईश्वरकृष्ण वि० सम्वत् ५०७ के लगभग विद्यमान थे।" श्रीयुत प्रेमीजी का यह मत कि वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण का दूसरा नाम है, सर्वथा निराधार है। इसका विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के सप्तम अध्याय के माठर-प्रसंग में कियागया है। वहाँ उन सिद्धान्तों का स्पष्ट निर्देश है, जिनको वार्षगण्य और ईश्वरकृष्ण सर्वथा भिन्नरूप में मानते हैं। इसलिये इनका एक होना सर्वथा असंभव है। ईश्वरकृष्ण का काल खीस्ट शतक प्रारम्भ होने से पर्याप्त पूर्व अनुमान कियाजासकता है। आद्य शंकराचार्य का प्रादुर्भावकाल ईसापूर्व ५०९ वर्ष है। ईश्वरकृष्ण उससे पूर्व होचुका है। वार्षगण्य का समय पाणिनि से अति प्राचीन है।

महाभारत शान्तिपर्व के ३२३वें अध्याय में वार्षगण्य के नाम का उल्लेख है। परन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहाजासकता, कि महाभारत के ये प्रसंग किस समय लिखेगये। फिर भी पाणिनि ने अपत्य प्रत्ययों के पदों में 'वृषगण' पद का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होजाता है—पाणिनि से पूर्व 'वृषगण' और उसका वंशधर 'वार्षगण्य' होचुके थे। ऐसी स्थिति में वार्षगण्य का काल पाणिनि एवं भारतयुद्ध से पूर्व किसी समय में मानाजासकता है। यद्यपि पाणिनि का समय सर्वथा निश्चित नहीं है, तथापि आधुनिक योरपीय और भारतीय विद्वानों ने साधारण रूप से जो समय (ईसा से लगभग चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व) पाणिनि का निर्धारित किया है, वस्तुतः उससे अनेक शतक पूर्व पाणिनि होचुका था[3]।

---

१. जर्नल ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री, vol. ६, ।
२. जैगीषव्यस्यासितस्य देवलस्य मया श्रुतम्। पराशरस्य विप्तर्षेर्वार्षगण्यस्य धीमतः ॥ ५९ ॥ कुम्भघोण संस्करण।
३. इसका विस्तृत विवेचन देखें—'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' पं० युधिष्ठिर मीमांसक रचित। प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट में 'पाणिनिकाल' शीर्षक देखें।

पतञ्जलिरचित निदानसूत्र[1] में किसी वार्षगण्य के अनेक मतों का उल्लेख है। 'वार्षगण्य' गोत्र नाम होने के कारण निश्चितरूप से नहीं कहाजासकता, कि यह कौन व्यक्ति था। परन्तु इतना निश्चित है, कि निदानसूत्र के वार्षगण्य मतों का सांख्यसिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त लाट्यायन श्रौतसूत्र[2] (१०।६।१०) में एक वार्षगण्य के मत का उल्लेख है। उसका भी सांख्य से कोई सम्बन्ध नहीं। ये दोनों साम-वेदीय सूत्र हैं। यह अधिक संभव है, कि निदानसूत्र और श्रोत्रसूत्र में उल्लिखित वार्षगण्य एक व्यक्ति हो।

आर्षानुक्रमणी में ऋग्वेद (६।६७।७-६) की तीन ऋचाओं का ऋषि 'वृषगणो वासिष्ठः' लिखा है। यहाँ वृषगण को वसिष्ठ का पुत्र अथवा वंशज बतायागया है। यद्यपि आज विद्वानों का ऋग्वेद के ऋषियों के सम्बन्ध में परिमार्जित ऐकमत्य नहीं है, न आधुनिक विद्वानों ने इस विषय पर अधिक विचार किया है, कि इन ऋषियों का वास्तविक स्वरूप क्या है। सब विद्वान् अपनी आस्था के अनुसार अपने विचार रखते हैं। फिर भी इतना अवश्य कहा-जासकता है, कि 'वृषगण' पद अतिप्राचीन काल से व्यवहार में आता है, तथा इस नाम का कोई व्यक्ति भी अवश्य रहा होगा, जिसके वंशधर वार्षगण्य कहे जाते थे। इस सम्बन्ध में एक बात अधिक ध्यान देने की है–जिन तीन ऋचाओं का ऋषि 'वृषगण' बतायागया है, उनमें से एक (ऋ० ६।६७।८) में यह पद बहुवचनान्त[3] प्रयुक्त कियागया है। अनुक्रमणी के एकवचनान्त पद के साथ इसका सामञ्जस्य विचारणीय है। 'वृषगण' पद के अतिप्राचीन होने पर भी यह अभी अनिर्णीत है, कि इस नाम का व्यक्ति कब हुआ। युक्तिदीपिका में 'वृषगण' के नाम से उद्धृत एक सन्दर्भ उपलब्ध होता है।[4]

वार्षगण्य की सांख्यान्तर्गत, विशेष विचारधारा—

सांख्याचार्य वार्षगण्य, सांख्य की एक विशेष विचारधारा का अनुयायी था, जिसका सम्बन्ध योग से अधिक था। फिर भी इस विचारधारा के अनेक मतों

---

१. निदानसूत्र, श्रीयुत कैलाशनाथ भटनागर द्वारा सम्पादित।

पृ०	पं०	पृ०	पं०	पृ०	पं०
३३	२१	६२	५	६६	६
३४	२४	७६	२०	१०४	२४

२. चतुर्थमेवानुगानं तृचे स्यादिति वार्षगण्यः। अत्र हि निधनवादं भवति, व्रतमिति भवति, स्वरिति भवति, शकुन इति भवतीति। भक्तयश्च कल्प्यन्ते नानासामवच्चैनान्येकोऽधीयतेऽधीयते।

३. प्र हंसासस्तृपलं मन्युमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः।

४. देखिये, अगली पंक्तियों में 'वार्षगण्यः' नाम पर उद्धृत सन्दर्भों का संग्रह।

का प्रवर्त्तक स्वयं वार्षगण्य था। वृषगण अथवा वार्षगण्य के अनुयायी 'वार्षगणाः' कहेजाते थे। सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका व्याख्या में इन तीनों नामों से कुछ उद्धरण उपलब्ध होते हैं। जो इसप्रकार हैं।

'...वार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यत इति।' [पृ० १०८, पं० ४]

"श्रोत्रादिवृत्तिरिति[1] वार्षगणाः।" [पृ० ३९, पं० १८-१९]

"तथा च वार्षगणाः पठन्ति—

'तदेतत्'[2] त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, न सत्त्वात्। अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिः। तस्माद् व्यक्त्यपगमो विनाशः। स तु द्विविधः—आसर्गप्रलयात् तत्त्वानाम्, किञ्चित्कालान्तरावस्थानादितरेषाम्, इति।" [पृ० ६७, पं० १४-७५]

तथा च वार्षगणाः पठन्ति—

'बुद्धिवृत्त्याविष्टो हि प्रत्ययत्वेनानुवर्त्तमानामनुयाति पुरुष' इति।

[पृ९५, पं० २४-२५]

तथा च वार्षगणाः पठन्ति—

---

१. तुलना करें—न्यायवार्त्तिक [पं० ४३, पृ० १० चौखम्बा संस्करण], न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका [पृ० १५५, पं० १९ विजयनगर संस्करण] 'वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह—श्रोत्रादिवृत्तिरिति।' युक्तिदीपिका, [पृ० ४, पं० ७–१४॥ सन्मतितर्क पर अभयदेवसूरिकृत व्याख्या, पृ० ५३३, पं० २॥ स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ३४३, पं० १-४॥ प्रमाणमीमांसा, पृ० ३९, पं ७–१७॥

२. 'तदेतत्' यहाँ से लेकर 'सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिः' यहाँ तक का पाठ योगव्यासभाष्य [३।१३ सूत्र] में भी विद्यमान है। वहां 'न सत्वात्' के स्थान पर 'नित्यत्वप्रतिषेधात्' पाठ है।

न्यायवार्त्तिक और न्यायवात्स्यायनभाष्य में भी [१। २।६ सूत्र पर] इस सन्दर्भ का प्रथम भाग उद्धृत हुआ उपलब्ध होता है। योगभाष्य में तथा-कथित बौद्धमत के प्रत्याख्यान के लिये इस सन्दर्भ को उद्धृत कियागया है। परन्तु यहाँ वार्षगणों के पाठ में बौद्धमत की चर्चा का लेश भी नहीं है। सन्दर्भ के उपसंहार अंश से यह बात प्रतीत होती है, कि व्यक्तिविनाश के स्वरूप का निरूपण करना ही इस सन्दर्भ का प्रयोजन है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि सन्दर्भ बुद्धकाल से पूर्व ही लिखागया था। योनसूत्रभाष्य-कार व्यास का समय यद्यपि बुद्ध से पर्याप्त प्राचीन है। पर इस सन्दर्भ का मूल लेखक वार्षगण्य रहा हो, यह संभव है। व्यास आदि ने इसको वहीं से अपने ग्रंथों में लिया है। वार्षगण्य का समय न केवल बुद्ध से, अपितु भारतयुद्धकाल से भी पर्याप्त पूर्व मानेजाने में कोई बाधा नहीं है।

'प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्त्तते' इति ।
[पृ० १०२, पं० २४-२५]

करणं…एकादशविधमिति वार्षगणाः [पृ० १३२, पं०२८]

यदि यथा वार्षगणा आहुः—

'लिङ्गमात्रो महानसंवेद्यः कार्यकारणरूपेणाविशिष्टो विशिष्टलक्षणेन तथा स्यात् तत्त्वान्तरम् ।' [पृ० १३३, पं० ५-६]

साधारणो हि महान् प्रकृतित्वादिति वार्षगणानां पक्षः ।
[पृ० १४५, पं० ९]

वार्षगणानां तु–यथा[1] स्त्रीपुंशरीराणामचेतानानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः । [पृ० १७०, पं० २७-२८]

तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति–रूपातिशया[2] वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्तन्ते । [पृ० ७२, पं० ५-६]

[एकरूपाणि तन्मात्राणीत्यन्ये ।] एकोत्तराणीति[3] वार्षगण्यः ।
[पृ० १०८, पं० ९]

करणानां महती[4] स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात् स्वल्पा च स्वत इति वार्षगण्यः । [पृ० १०८, पं० १५-१६]

---

१. तुलना करें, महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३१०, श्लो० १२ ॥
"अक्षरक्षरयोरेष द्वयोः सम्बन्ध उच्यते ।
स्त्रीपुंसोश्चापि भगवन् सम्बन्धस्तद्वदुच्यते ॥"
तथा माठरवृत्ति, कारिका २१ ॥

२. योगसूत्रव्यासभाष्य [३।१३] में भी यह सूत्र उद्धृत है । वहाँ वाचस्पति मिश्र ने इसको पञ्चशिख का सूत्र लिखा है । इन दोनों स्थलों में सूत्र का परस्पर नगण्य सा पाठभेद है । संभव है, पञ्चशिख के सूत्र को वार्षगण्य ने अपनालिया हो । इसका विवेचन हम पीछे विस्तारपूर्वक करचुके हैं ।

३. तुलना करें–माठरवृत्ति, कारिका २२ तथा ३८ ॥ योगसूत्रव्यासभाष्य २।१९॥

४. युक्तिदीपिका के १४८-४९ पृष्ठ पर इसी मत को आचार्य पद से निर्दिष्ट कियागया है । वहाँ पाठ है—
'एवं त्रिविधभावपरिग्रहात् त्वाचार्यस्य न सर्वे स्वतः पतञ्जलिवत्, न सर्वे परतः पञ्चाधिकरणवत्, किन्तर्हि ? महती स्वभावातिवृत्तिः प्रकृतितोऽल्पा स्वतो विकृतितः ।'
इससे प्रतीत होता है, पृष्ठ १०८ का पाठ वार्षगण्य की अपनी रचना है ।

तथा च वृषगणवीरेणाप्युक्तं भवति[1]······अनागतव्यवहितविषयज्ञानं तु लिङ्गागमाभ्याम् । आह च—

विषयेन्द्रियसंयोगात् प्रत्यक्षं ज्ञानमुच्यते ।
तदेवातीन्द्रियं जातं पुनर्भावनया स्मृतिः ॥

इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में वार्षगण्य के नाम पर कुछ सन्दर्भ उद्धृत हैं । वे इसप्रकार हैं—अत उक्तम्–मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम् इति वार्षगण्यः । [यो० सू० व्यासभाष्य ३।५३]

अत एव 'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः ।
[सांख्यतत्त्वकौमुदी, आर्या ४७]

अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताह स्म भगवान् वार्षगण्यः—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं[2] तन्मायैव सुतुच्छकम् ॥ इति ॥ । [भामती, २।१।३]

सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम् · [न्यायवार्तिक, १।१।५]

वार्षगण्य के नाम से जितने सन्दर्भ उद्धृत किये हैं, उनमें से कुछ युक्तिदीपिका में 'वृषगण' और 'वार्षगणाः' नाम से उल्लिखित हैं । परन्तु सम्पूर्ण उद्धरणों को यहाँ 'वार्षगण्य' के नाम पर उद्धृत किया है, क्योंकि यह सांख्य का एक सम्प्रदाय है । 'वृषगण' पिता, 'वार्षगण्य' उसका पुत्र है, तथा उनके अनुयायी हैं 'वार्षगणाः' जिन्होंने वृषगण अथवा वार्षगण्य के सिद्धान्तों को माना, जाना, पढ़ा और प्रचारा । इस सम्प्रदाय का अधिक प्रसिद्ध व्यक्ति 'वार्षगण्य' है, अतः इसी नाम पर सब उद्धरण देदिये हैं । इनमें परस्पर किसी तरह का मतभेद नहीं है ।

वार्षगण्य के अनेक मतों के साथ विन्ध्यवास के मतों की समानता है । रुद्रिल विन्ध्यवास इसी सम्प्रदाय का अनुयायी था, यह पीछे स्पष्ट कियाजाचुका है । उसके अन्य अनेक ऐसे मत हैं, जिनकी समानता योग के साथ अधिक है । उनका उल्लेख आगे विन्ध्यवास के प्रसंग में किया है ।

वार्षगण्य के उपर्युक्त सन्दर्भों में से एक सन्दर्भ इस बात का निर्णय करा देता है, कि यह आचार्य मूल षष्टितन्त्र का रचयिता नहीं था । वह सन्दर्भ है—

---

१. यहाँ पुस्तक में बहुत-सा पाठ खण्डित है । आगे उल्लिखित श्लोक के सम्बन्ध में निश्चितरूप से नहीं कहाजासकता, कि यह वृषगणवीर का है, अथवा अन्य किसी का होगा । यहाँ 'वृषगणवीर' पद, 'वृषगण' के पुत्र 'वार्षगण्य' के लिये प्रयुक्त कियागया प्रतीत होता है ।

२. योगदर्शन-व्यासभाष्य [४।१३] में 'मायेव' पाठ के साथ यह पद्य उद्धृत है। ब्रह्मसूत्र [१।१।४] के विज्ञानभिक्षुभाष्य में इस पद्य को व्यासदेव का बताया है । प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में उक्त पद्य पर विस्तृत विचार किया है ।

"प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्त्तते" ।

प्रधान की प्रवृत्ति, आदि सर्ग में ज्ञानपूर्वक नहीं होती; पुरुष से अपरिगृहीत [पुरुष सहायता की अपेक्षा न रखती हुई] प्रकृति प्रवृत्त होती रहती है। प्रकृति को अपनी प्रवृत्ति में, चेतन की किसी तरह की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। वार्षगण्य का यह मत, चेतननिरपेक्ष प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रतिपादन करता है; परन्तु माठरवृत्ति और गौडपादभाष्य में षष्टितन्त्र के नाम से एक वाक्य इसप्रकार उद्धृत हुआ मिलता है, जो पञ्चशिख का प्रतीत होता है। वाक्य है—

"पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते"

पुरुष से अधिष्ठित (सापेक्ष) प्रधान प्रवृत्त होता है, पुरुषनिरपेक्ष नहीं। इस अध्याय के पञ्चशिख प्रसंग में उसके सन्दर्भों का संग्रह कियागया है। वहाँ १४ संख्या के सन्दर्भ को देखना चाहिये। उससे इसी मत की पुष्टि होती है। इस मत का वार्षगण्य के विचार के साथ विरोध स्पष्ट हैं। परन्तु सांख्यषडध्यासी में इसी मत को स्वीकार कियागया है। वहाँ सूत्र है—

"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्" [१।६१][1]

प्रकृति के साथ सन्निधान से ईश्वर में अधिष्ठातृत्व सिद्ध होता है; मणि के समान। जैसे—अयस्कान्त मणि (चुम्बक) सान्निध्यमात्र से लौह धातु को सक्रिय बना देता है; इसीप्रकार चेतन ईश्वर जड़ प्रकृति को अपने सान्निध्यमात्र से क्रियाशील बनादेता है। तब प्रकृति महदादिरूप में परिणत होती है। सांख्य में प्रकृति के नियन्ता व अधिष्ठातारूप में चेतन ईश्वर सिद्ध होता है।

इस सिद्धान्तसाम्य से तथा वार्षगण्य के साथ इसका विरोध होने से यह स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि जिस षष्टितन्त्र में उक्त मत का निरूपण किया-गया है, उसका रचयिता वार्षगण्य नहीं होसकता। इसका विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के द्वितीय तथा चतुर्थ अध्यायों में देखना चाहिये।

पतञ्जलि—

इस नाम के अनेक आचार्य होचुके हैं। उनको संक्षेप से इसप्रकार निर्दिष्ट कियाजासकता है—

(१) योगसूत्रों का रचयिता।

(२) व्याकरण महाभाष्य का रचयिता।

(३) निदानसूत्र [अथवा—छन्दोविचिति] का रचयिता।

(४) परमार्थसार का रचयिता, जिसको अनेक स्थलों पर 'आदिशेष' भी लिखागया है।

---

१. यह सूत्र-संख्या संस्थान से प्रकाशित सांख्यदर्शन के अनुसार है। इसमें ३५ जोड़कर अन्य किसी भी संस्करण में सूत्र देखाजासकता है।

(५) वह सांख्याचार्य, जिसका उल्लेख युक्तिदीपिका आदि ग्रन्थों में किया-गया है।

(६) आयुर्वेद के साथ एक पतञ्जलि का सम्बन्ध है। कहाजाता है–आयुर्वेद के चरक नामक ग्रन्थ का संस्कर्त्ता चरक, पतञ्जलि था। इस ग्रन्थ का आरम्भिक नाम आत्रेयसंहिता अथवा आत्रेयतन्त्र था, जिसको अग्निवेश ने अपने गुरु आत्रेय पुनर्वसु के नाम पर रचा।

(७) एक कोषकार पतञ्जलि का उल्लेख, हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान-चिन्तामणि' नामक कोष में उपलब्ध होता है। उसका प्रारम्भिक तृतीय श्लोक इसप्रकार है—

प्रामाण्यं वासुकेर्व्याडेर्व्युत्पत्तिर्धनपालतः।
प्रपञ्चश्च वाचस्पतिप्रमृतेरिह लक्ष्यताम् ॥

हेमचन्द्र के इस कोष में आगे 'शेष' के नाम से उद्‌धृत सैकड़ों वाक्य उपलब्ध होते हैं। यद्यपि इनमें पतञ्जलि नाम नहीं है। श्लोक में इसके लिये 'वासुकि' नाम दिया है।

पतञ्जलि के सम्बन्ध में भोज और भर्तृहरि के विचार—

योगसूत्रों के वृत्तिकार भोज ने उपर्युक्त संख्या १, २ और ६ से सम्बद्ध पतञ्जलि को एक व्यक्ति माना है उसका लेख है—

शब्दानामनुशासनं विदधता, पातञ्जले कुर्वता
वृत्तिं, राजमृगांकसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।
वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृत-
स्तस्य श्रीरणरंगमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्वलाः ॥

[योगसूत्र–भोजवृत्ति, श्लोक ५]

इस श्लोक के तृतीय चरण का 'फणिभृतां भर्त्रेव' यह उपमावाक्य ध्यान देने योग्य है। भोजराज ने उन-उन विषयों पर ग्रन्थ-रचना के द्वारा पतञ्जलि के साथ अपनी समानता प्रकट की है। इसका अभिप्राय है–जिसप्रकार पतञ्जलि ने व्याकरण, योगशास्त्र और आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना के द्वारा यथाक्रम वाणी, चित्त और शरीर के मलों को दूर किया, उसी तरह मैंने सरस्वतीकण्ठा-भरण, राजमार्तण्ड और राजमृगांक नामक ग्रन्थों की रचना के द्वारा मनुष्यों के उक्त तीनों मलों को उखाड़ फेंका है। इससे स्पष्ट होता है–भोज ने योगसूत्र, महाभाष्य और चरक के रचयिता पतञ्जलि को एक व्यक्ति माना है।

भोज के समय से बहुत पूर्व वाक्यपदीय के कर्त्ता भर्तृहरि ने ऐसा ही लिखा है। उसका लेख है—

कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः।

चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ।। [वा० प० १।१४७]

इस पद्य के द्वारा महाभाष्यकार की प्रशंसा कीगई है। वाक्यपदीय के 'अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्' [२।४८५] श्लोक की पुण्यराज-कृत टीका में लिखा है–'तदेवं ब्रह्मकाण्डे कायवाग्बुद्धिविषया ये मला–इत्यादि-श्लोकेन भाष्यकारप्रशंसोक्ता। इह चैवं भाष्यप्रशंसेति शास्त्रस्य शास्त्रकर्तुश्च टीकाकृता [भर्तृहरिणा] महत्तोपवर्णिता' अर्थात् इसप्रकार ब्रह्मकाण्ड में, 'कायवाग्' इत्यादि श्लोक के द्वारा महाभाष्यकार की प्रशंसा कीगई है, और इस प्रस्तुत श्लोक में इसीप्रकार महाभाष्य ग्रन्थ की प्रशंसा है। इसतरह शास्त्र [महाभाष्य] और शास्त्रकर्त्ता [पतञ्जलि] दोनों की महत्ता का टीकाकार [भर्तृहरि] ने वर्णन किया है। वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज के अनुसार उक्त श्लोक में चिकित्साशास्त्र [चरक] लक्षणशास्त्र [व्याकरण महाभाष्य] और अध्यात्मशास्त्र (योग) का निर्देश है। इन तीनों की रचना द्वारा पतञ्जलि ने शरीर वाणी और बुद्धि के दोषों को विशुद्ध किया। पुण्यराज के अनुसार भर्तृहरि के इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है, कि यह एक ही पतञ्जलि को उक्त तीनों ग्रन्थों का रचयिता मानता है।

इसी अर्थ को स्पष्टरूप में प्रकट करनेवाला एक अन्य श्लोक उपलब्ध होता है। उसका मूल स्थान अथवा उसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं। श्लोक है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां, पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।[1]

इसप्रकार के लेखों का आधार क्या है? इसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करना अपेक्षित है।

भर्तृहरि का अपना मत—

भोज और भर्तृहरि के जो विचार ऊपर लिखेगये हैं, उनमें कहीं भी यह स्पष्ट नहीं होता, कि योगदर्शन के सूत्रों का रचयिता वही पतञ्जलि है, जिसने व्याकरण महाभाष्य की रचना की। भर्तृहरि ने उक्त श्लोक (१।१४७) में साधारणरूप से केवल यही बताया है, कि शरीर, वाणी और बुद्धि के दोष, यथाक्रम चिकित्सा, व्याकरण तथा अध्यात्मशास्त्र के द्वारा दूर कियेजासकते हैं। भर्तृहरि ने स्वयं उक्त कारिका (१।१४७) की स्वोपज्ञ व्याख्या में लिखा है—

"यथैव हि शरीरे दोषशक्ति रत्नौषधादिषु च दोषप्रतीकारसामर्थ्यं दृष्ट्वा

१. 'वासवदत्ता' की शिवराम रचित टीका में यह श्लोक निर्दिष्ट है। [ed. Bibl. Ind. P. 239] औफ्रेक्ट 'Aufrecht' ने उस टीका का काल खीस्ट अष्टादश शतक बताया है। J.H. Woods कृत योगदर्शन के इंग्लिश अनुवाद की भूमिका, पृ० १४ के अनुसार।

चिकित्साशास्त्रमारब्धम् । रागादींश्च बुद्धेरुपप्लवानवगम्य तदुपघातहेतु-ज्ञानोपायभूतान्यध्यात्मशास्त्राणि उपनिबद्धानि । तथेदमपि साधूनां वाचः संस्काराणां ज्ञापनार्थमपभ्रंशानां चोपघातानां त्यागार्थं लक्षणमारब्धम् ।"

भर्तृहरि का यह लेख साधारण अर्थ को प्रकट करता है । इसमें केवल, चिकित्सा शास्त्र, अध्यात्मशास्त्र और व्याकरणशास्त्र किन प्रयोजनों से प्रारम्भ कियेगये, यही स्पष्ट किया है । इससे भर्तृहरि का यह भाव कदापि स्वीकार नहीं कियाजासकता, कि वह योगदर्शनकार पतञ्जलि को इन तीनों प्रकार के शास्त्रों का प्रवक्ता मानता है । वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने उक्त श्लोक का यह आशय अवश्य माना है । परन्तु पुण्यराज के विचारों पर भोज आदि विद्वानों का प्रभाव प्रतीत होता हैं, तब तक इस सम्बन्ध में जो परम्परा भ्रान्तिवश चल पड़ी थी, पुण्यराज उससे बच नहीं सका, और भर्तृहरि के उक्त श्लोक में भी उसने उसी गन्ध को सूँघ निकाला, यद्यपि भर्तृहरि ने स्वयं अपने श्लोक का यह अर्थ नहीं किया । वस्तुतः पुण्यराज के लेख में भी उक्त भाव स्पष्ट नहीं है ।

महाराज समुद्रगुप्त रचित कृष्णचरित में पतञ्जलिविषयक निम्नलिखित श्लोक उपलब्ध होते हैं—

> विद्योद्रिक्तगुणतया भूमावमरतां गतः ।
> पतञ्जलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा ॥
> कृतं येन व्याकरणभाष्यं वचनशोधनम् ।
> धर्मावियुक्ताश्चरके योगा रोगनुषः कृताः ॥
> महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम् ।
> योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषहम् ॥

इन श्लोकों से प्रकट होता है–पतञ्जलि का सम्बन्ध, चरक तथा योगविद्या अथवा योगदर्शन से अवश्य था । आयुर्वेद के चरक ग्रन्थ में कुछ परिष्कार अवश्य किया, परन्तु इस परिष्कार की इयत्ता का पता लगाना कठिन है । इस आधार पर यह निश्चितरूप से कहाजासकता है, कि अनेक रोगनाशक योगों का पतञ्जलि ने चरक में संमिश्रण किया, जो धार्मिक भावना का विघात नहीं करते थे । अंतिम श्लोक के आधार पर योगदर्शन के सम्बन्ध में इतना अवगत होता है, कि योग के व्याख्यानभूत किसी काव्यमय ग्रन्थ की रचना पतञ्जलि ने की थी । इस आधार पर व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि को योगसूत्रों का साक्षात् प्रवक्ता नहीं कहाजासकता । महाराज समुद्रगुप्त के कथनानुसार यह निश्चित होता है, कि पतञ्जलि ने उक्त तीनों विषयों पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखे । महा-भाष्य की रचना में किसी प्रकार सन्देह नहीं । चरक के प्रतिसंस्कार को अथवा उसमें किन्हीं विशेष उपयोगी योगों (नुस्खों) के संमिश्रण को भी प्रामाणिक माने-जाने में सन्देह का अवकाश नहीं । परन्तु योगसूत्र, व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि

की रचना है, ऐसा मानने के लिये अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होसका। इस सम्बन्ध के जितने प्रमाण आज तक उपलब्ध होसके हैं, उन सबसे केवल इतना ध्वनित होता है, कि पतञ्जलि नामक व्यक्ति ने योग विषय पर कोई ग्रन्थ लिखा था। इस सम्बन्ध के सबसे प्राचीन प्रमाण, महाराज समुद्रगुप्त के श्लोक से यह निर्णय होजाता है, कि पतञ्जलि ने योग का व्याख्यानभूत काव्यमय ग्रन्थ लिखा। इससे हम इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं, कि योगसूत्रों का रचयिता पतञ्जलि, व्याकरण-भाष्यकार पतञ्जलि से भिन्न था। यद्यपि किसी प्राचीन आचार्य ने यह स्पष्ट नहीं लिखा, कि व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि ही योगसूत्रों का रचयिता है; फिर भी नामसाम्य के कारण आज हम इस भ्रान्ति के शिकार होगये हैं। पर समुद्रगुप्त का लेख हमारी इस भ्रान्ति को दूर करने के लिये पर्याप्त प्रमाण समझाजासकता है।

इस सब प्रसंग से स्पष्ट होता है—वाक्यदीप के लेख के समान, उसके व्याख्याकार पुण्यराज के लेख से भी यह सिद्ध नहीं होता, कि भाष्यकार पतञ्जलि ने योगसूत्रों की रचना की, और इस सम्बन्ध के अन्य सब लेखों की यही स्थिति समझनी चाहिये। सब आचार्यों ने इतना ही लिखा है, कि व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि ने योग विषय पर कोई ग्रन्थ लिखा। निश्चित ही योगदर्शन पर वह कोई व्याख्या-ग्रन्थ था।

योगसूत्रकार और व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि भिन्न हैं—

डॉ० रामकृष्ण भण्डारकर[१] आदि भारतीय तथा डॉ० गोल्डस्टकर[२] आदि पाश्चात्य विद्वानों ने महाभाष्यकार पतञ्जलि का समय, ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी के अन्तिम भाग में निर्णय किया है। यद्यपि इस विषय में विद्वानों[३] का पर्याप्त मतभेद है, तथापि अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक आधारों पर उक्त विद्वानों का एतत्सम्बन्धी निर्णय माननीय होसकता है। परन्तु योगसूत्रों की रचना का यह समय मानाजाना अत्यन्त विवादास्पद है। श्वेताश्वतर, कठ,[४] मुण्डक आदि उपनिषदों तथा गीता व महाभारत में स्पष्ट तथा अस्पष्ट, योगसम्बन्धी अनेक

१. Indian Antiquary, vol. 1., P. 302; II; P. 70.

२. Panini and Manavakalp Sutra, [Preface] PP. 228-230.

३. डॉ० वेबर, ईसा की प्रथमशताब्दी में, महाभाष्यकार पतञ्जलि का समय मानता है। [Dr. Weber's Endische studien; for 1873.] प्रो० पिटर्सन, ईसा की पाँचवीं सदी बताता है, [G. R. A. S. Bombay Branch vol. XVI., P. 189.]

४. कठोपनिषद्, १।३।६-९। मुण्डक, २।२।३-६।। श्वेताश्वतर में तो योग का विषय भरा पड़ा हैं।

वर्णन उपलब्ध होते हैं। प्राचीन बौद्धग्रन्थों में भी योग का उल्लेख आता है, ऐसी स्थिति में योगसूत्रों की रचना, वैयाकरण पतञ्जलि के समय की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन समय में होनी चाहिये।

पं० रामगोविन्द त्रिवेदी ने अपने 'दर्शनपरिचय' नामक ग्रन्थ के पतञ्जलि [पृ० १७९-१८६ तक] प्रसंग में यह सिद्ध करने का यत्न किया है, कि इन दोनों [महाभाष्य तथा योगसूत्र] ग्रन्थों का रचयिता पतञ्जलि एक ही व्यक्ति था। त्रिवेदी ने इस सम्बन्ध में जिन युक्तियों का उल्लेख किया है, वे भ्रान्तिपूर्ण है।

जिस प्रकार कात्यायन के वार्त्तिक[1] में आपने पतञ्जलि पद का उल्लेख माना है, इसप्रकार पाणिनि ने भी इस पद का उल्लेख[1] किया है। जिन शब्दों के आगे गोत्र प्रत्यय का बहुवचन में लुक् होजाता है, ऐसे शब्दों की सूची में पाणिनि ने 'पतञ्जल' अथवा 'पतञ्जलि'[3] शब्द का उल्लेख किया है, वस्तुतः पाणिनि के ग्रन्थ में किसी पद का उल्लेख, उसकी साधुता का निर्देश करने के लिये आसकता है। जो शब्द, पाणिनिनिर्दिष्ट सामान्य नियमों के अनुसार सिद्ध नहीं होते, या उन नियमों की सीमा में नहीं आते, और उनकी सिद्धि का कोई एक प्रकार नहीं कहाजासकता, ऐसे शब्दों के लिये पाणिनि ने कुछ ऐसे गण बना दिये हैं, जिनमें सब नियमों की लगाम ढीली करदीगई है। उनमें से प्रत्ययों के लिये 'उणादि' और पदों के लिये 'पृषोदरादि' गण हैं। प्रकृत में कात्यायन ने 'शकन्धु' आदि जिन शब्दों की साधुता के लिये वार्त्तिक बनाया है, पाणिनि ने 'पृषोदरादि' गण में ऐसे अनेक पदों का उल्लेख कर उनकी साधुता के प्रकार का निर्देश करदिया है। जो शब्द अपने ढङ्ग के अकेले हैं, उनके लिये विशेष नियमों का निर्देश भी है। परन्तु 'पतञ्जलि' शब्द ऐसा नहीं है। इसलिये पाणिनि सूत्रों में आये अन्य विशेष शब्दों के समान उसका उल्लेख कियाजाना आवश्यक नहीं। पाणिनि का ग्रन्थ कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ तो है नहीं, कि वह अपने से पूर्व व्यक्तियों का अवश्य वहाँ उल्लेख करें। जहाँ उपयुक्त समझा है, वहाँ इस पद का उल्लेख [२।४।६९] कियागया है।

त्रिवेदी को इसी प्रकार की भ्रान्तियों के सामञ्जस्य के लिये पतंजलि की आयु भी कई सदियों तक लम्बी माननी पड़ी है। आपके लेख से प्रतीत होता है—कात्यायन के समय में वही पतञ्जलि प्रसिद्ध होचुका था, और उसीने

---

१. अष्टाध्यायी (६।१।९४) सूत्र पर 'शकन्ध्वादिषु पररूपं' वार्तिक है वहाँ शकन्ध्वादि गण में 'पतञ्जलि' पद पढ़ा गया है।
२. अष्टाध्यायी [२।४।६९] के उपकादि गण में।
३. वधमान रचित गणरत्नमहोदधि, अध्याय १, श्लोक २८, और इसीकी व्याख्या।

कालान्तर में आकर, अर्थात् ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी (पुष्यमित्र के राज्यकाल) में महाभाष्य की रचना की। आपके लेखसे यह भी प्रतीत होता है, कि योग-दर्शन की रचना कात्यायन के समय में होचुकी थी। अर्थात् उसी पतंजलि ने योगदर्शन तो कात्यायन के समय में बनाया, परन्तु महाभाष्य, राजा पुष्यमित्र के समय में। इतने काल तक महाभाष्य की रचना के लिये उसने क्यों प्रतीक्षा की ? इसका भी विशेष कारण मालूम होना चाहिये। यद्यपि कात्यायन के समय का निर्देश हम निश्चितरूप में नहीं करसकते, परन्तु भारतीय परम्परा, लेखों और आधुनिक अन्वेषणों के आधार पर पाणिनि के कुछ पीछे ही कात्यायन का समय निर्धारित कियाजाता है, जो विक्रम पूर्व की पांचवीं शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक में बतायाजाता है। ऐसी स्थिति में त्रिवेदी के कथनानुसार कम से कम पाँच-छह सदियों तक पतञ्जलि को जीवित रहना चाहिये,[1] और पतंजलि के योगसूत्रों पर भाष्य करने के लिये व्यास की आयु तो आपको सहस्र वर्ष से भी अधिक माननी पड़ेगी। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह सब सर्वथा निराधार एवं उपहासास्पद है।

वस्तुस्थिति यह है, कि जिस पतंजलि का पाणिनि अथवा कात्यायन ने प्रसंगवश अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है, वह अवश्य उनसे पूर्ववर्त्ती आचार्य था। सम्भव है, उसने ही योगसूत्रों की रचना की हो। महाभाष्यकार पतंजलि विक्रम पूर्व की तथाकथित दूसरी तीसरी शताब्दी का आचार्य है, जो उक्त पतंजलि से सर्वथा भिन्न है। भाष्यकार पतञ्जलि का यह काल चिन्त्य है।

त्रिवेदी ने बृहदारण्यक के किसी काप्य पातंजल का उल्लेख किया है। वस्तुतः वहाँ 'पातंजल' पद नहीं है। शुक्लयजुः की काण्व शाखा के ब्राह्मण तथा उपनिषद्[2] में 'पतञ्चल' पद है, और माध्यन्दिन शाखा में 'पतंजल'[3]। ब्राह्मण-वर्णित इस नाम के व्यक्ति का, प्रसिद्ध योगदर्शन से और उसके रचयिता पतञ्जलि से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

गवर्नमेन्ट सैन्ट्रल प्रेस बॉम्बे से प्रकाशित योगदर्शन व्यासभाष्य के द्वितीय संस्करण की भूमिका में वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर महोदय ने भर्त्तृहरि आदि के श्लोकों के आधार पर महाभाष्य और योगसूत्र का कर्त्ता एक व्यक्ति माना है,

---

१. वस्तुतः पाणिनि और कात्यायन का समय तथानिर्दिष्ट काल से पर्याप्त प्राचीन है। देखिये इसी प्रकरण में प्रथम 'पाणिनिकाल' शीर्षक प्रसंग ; तथा परिशिष्ट में 'पाणिनिकाल' प्रसंग। एवं पं० युधिष्ठिर मीमांसक रचित 'संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास'

२. बृह० ३।७।१॥

३. शतपथ ब्राह्मण, १४।६।३।१॥

और उसे पुष्यमित्र का समकालिक स्वीकार किया है।[1] परन्तु यह कथन मान्य नहीं होसकता, भर्त्तृहरि के लेख का स्पष्टीकरण अभी पिछले पृष्ठों में कर दिया गया है, तथा तत्सम्बन्धी अन्य लेखों का पर्याप्त विवेचन करदिया है। जिससे व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकार पतञ्जलि की भिन्नता स्पष्ट होजाती है।

चरकसंहिता के व्याख्याकार चक्रपाणि का लेख भी इस बात के लिये पुष्ट प्रमाण नहीं कहाजासकता, कि व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि योगसूत्रों का रचयिता है। उसका लेख इसप्रकार है—

"पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः।
मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः"

इस श्लोक में 'पातञ्जल' पद का अर्थ 'योगसूत्र' मानेजाने के लिये कोई विशेष प्रमाण नहीं है। इस पद का अर्थ, पतञ्जलिकृत योगसूत्रों से सम्बद्ध कोई व्याख्याग्रन्थ होसकता है। पातञ्जल योगव्याख्यान, महाभाष्य की रचना तथा चरक के प्रतिसंस्कार द्वारा यथासंख्य मन वाणी और शरीर के दोषों का नाश करनेवाले अहिपति अर्थात् पतञ्जलि के लिये इन पदों से नमस्कार प्रस्तुत कियागया है।

पतञ्जलि का सम्बन्ध जिन तीन ग्रन्थों की रचना से बतायाजाता है, वस्तुतः उन्हें व्याख्यारूप ही समझना चाहिये। भोजराज ने योगसूत्रवृत्ति के प्रारम्भ में, पतञ्जलि के साथ जो अपनी समानता प्रकट की है, उसका सामंजस्य उसी स्थिति में ठीक बैठता है, जबकि भाष्यकार पतञ्जलि को योग का व्याख्याता मानाजाय।

यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहाजासकता, कि भोज और चक्रपाणि आदि का अभिप्राय ऐसा नहीं था, जैसा कि हमने समझा है। तथापि यह संभव है, कि तात्कालिक विद्वानों का ऐसा विचार रहा हो, कि व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि ही योगसूत्रों का कर्त्ता है। कदाचित् इसी कारण पतञ्जलिचरित में 'योगसूत्र' पद का निर्देश है। वहां लिखा है—

"सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च वार्तिकानि ततः।
कृत्वा पतञ्जलिमुनिः प्रचारयामास जगदिदं त्रातुम्॥

यद्यपि यहाँ महाभाष्य का उल्लेख नहीं है, पर कुछ पूर्व के श्लोक में उसका वर्णन आगया है। श्लोक में 'योगसूत्र' पद का स्पष्ट निर्देश होने पर भी हमारी धारणा है, पतञ्जलिचरित के कर्त्ता को नामसाम्य से भ्रान्ति हुई है। समुद्रगुप्त

१. शुंग वंश के प्रवर्त्तक पुष्यमित्र का तथाकथित काल [विक्रम पूर्व दूसरी शती] भी पूर्णरूप से सन्दिग्ध है। भारतीय तिथिलेखा के अनुसार यह काल विक्रम पूर्व बारहवीं शती के लगभग होना चाहिये।

का लेख, अर्थ को स्पष्ट करचुका है, जो इस सम्बन्ध के सब लेखों में प्राचीन है। अतएव तात्कालिक विद्वानों के इसप्रकार के अन्य लेखों को इसी स्थिति में समझना चाहिये।

परमार्थसारकर्त्ता पतञ्जलि पर, सूर्यनारायण शर्मा शुक्ल का मत—

संख्या चार पर परमार्थसार के रचयिता का उल्लेख है। पहले यह ग्रन्थ अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ था। अब अच्युतग्रन्थमाला काशी से इसका एक संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसके विद्वान् सम्पादक सूर्यनारायण शर्मा शुक्ल ने ग्रन्थ के प्रारम्भिक वक्तव्य में लिखा है—व्याकरण महाभाष्य और योगसूत्रों के रचयिता तथा चरक के प्रतिसंस्कर्त्ता पतञ्जलि ने परमार्थसार ग्रन्थ की रचना की। परन्तु इस विचार की पुष्टि के लिये अभी तक कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होसके। शुक्ल महोदय ने इस बात को किस आधार पर लिखा है, यह नहीं कहा जासकता। परमार्थसार की एक आर्या, सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में उद्धृत है। यद्यपि वहाँ परमार्थसार अथवा उसके रचयिता पतञ्जलि या आदिशेष का नाम नहीं लियागया। वह आर्या इसप्रकार है—

उक्तञ्च—
वृक्षाग्राच्च्युतपादो यद्वदनिच्छन्नरः पतत्येव।
तद्वद् गुणपुरुषज्ञोऽनिच्छन्नपि केवली भवति॥

[युक्तिदीपिका, कलकत्ता संस्करण, पृ० २५ पर]

परमार्थसार की यह ८३ वीं आर्या है। वहां 'पतत्येव' पदों के स्थान पर 'क्षितौ पतति' पाठ है। इतना पाठभेद सर्वथा नगण्य है। युक्तिदीपिका का समय हमने विक्रम पञ्चम शतक के लगभग अनुमान किया है। परमार्थसार का समय इससे प्राचीन मानाजाना चाहिये।

सांख्याचार्य पतञ्जलि—

संख्या पांच पर जिस सांख्याचार्य पतञ्जलि का निर्देश कियागया है, उसके अनेक मतों का उल्लेख युक्तिदीपिका में उपलब्ध होता है। उनके देखने से यह निश्चय होजाता है, कि परमार्थसार का रचयिता पतञ्जलि, सांख्याचार्य पतञ्जलि से भिन्न था। युक्तिदीपिका में निर्दिष्ट इसके मतों से यह ज्ञात होता है—यह पतञ्जलि महत् और अहंकार को एक समझ कर करणों की संख्या बारह[1] मानता

१. एवं तर्हि नैवाहंकारो विद्यत इति पतञ्जलिः। महतोऽस्मिप्रत्ययरूपत्वाभ्युपगमात्। (यु० दी०, पृ० ३२, पं० १–२] करणं···द्वादशविधमिति पतञ्जलिः। [यु० दी०, पृ० १३२, पं० २८-३०]

था । परन्तु परमार्थसार में अन्य सांख्याचार्यों के समान तेरह[1] करण स्वीकार कियेगये हैं । इसके अतिरिक्त सूक्ष्मशरीर के सम्बन्ध में सांख्याचार्यों का साधारण मत है, कि सर्गादिकाल में प्रत्येक पुरुष के साथ एक सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध होजाता है, और वही सूक्ष्मशरीर, प्रलयकाल तक अथवा तत्त्वज्ञानकाल तक बना रहता है । परन्तु युक्तिदीपिकावर्णित आचार्य पतञ्जलि इस मत को नहीं मानता । वह स्थूल देह की उत्पत्ति और विनाश के समान सूक्ष्मशरीर के उत्पाद-विनाश[2] को स्वीकार करता है । इस सम्बन्ध में यद्यपि परमार्थसार के रचयिता पतंजलि ने अपना स्पष्ट मत नहीं दिया, परन्तु उसकी ११–१३ और १७ आर्याओं के पर्यालोचन से यह स्पष्ट होजाता है, कि उसका मत युक्ति-दीपिका-वर्णित पतंजलि के मत से भिन्न है, और अन्य सांख्याचार्यों के मतों के साथ समानता रखता है । इन आधारों पर इन दोनों आचार्यों की भिन्नता स्पष्ट होजाती है, यद्यपि इन दोनों का नाम एक है ।

सांख्याचार्य पतञ्जलि के उद्धृत सन्दर्भ—

युक्तिदीपिका अथवा अन्य ग्रन्थों में सांख्याचार्य पतञ्जलि के जो सन्दर्भ अथवा मत उद्धृत हैं, उनमें से जो मालूम कियेजासके हैं, वे इसप्रकार हैं—

(१) एवं तर्हि नैवाहंकारो विद्यत इति पतंजलिः । महतोऽस्मिप्रत्यय-रूपत्वाभ्युपगमात् । [यु० दी० पृ० ३२, पं १-२]

(२) पतञ्जलि-पञ्चाधिकरण-वार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यत इति । तदन्येषां पुराणेतिहासप्रणेत्तॄणां महतोऽहंकारो विद्यत इति पक्षः । महतोऽस्मि-प्रत्ययकर्तृत्वाभ्युपगमात् । [यु० दी०, पृ० १०८, पं० ३-५]

(३) करणानां···स्वभावातिवृत्तिः······सर्वा स्वत इति पतंजलिः ।
[यु० दी० पृ० १०८ पं १५-१७]

(४) करणं···द्वादशविधमिति पतंजलिः ।
[यु० दी०, पृ० १३२, पं० २८-३०]

(५) पातंजले तु सूक्ष्मशरीरं यत् सिद्धिकाले पूर्वमिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति, तत्र तत्कृताशयवशात् द्युदेशम्; यांतनास्थानं वा करणानि वा प्रापय्य निवर्त्तते ।

---

१. बुद्धिमनोऽहंकारास्तन्मात्रेन्द्रियगणाश्च भूतगणाः ।
संसारसर्गपरिक्षणक्षमाः प्राकृता हेयाः ॥ २० ।

२. पातञ्जले तु सूक्ष्मशरीरं···निवर्त्तते । तत्र···कर्मवशादन्यदुत्पद्यते ।··· तदपि निवर्त्तते । शरीरपाते चान्यदुत्पद्यते । एवमनेकानि शरीराणि । [यु० दी० पृ० १४४, पं० १६,२०] सूक्ष्मशरीरं विनिवर्त्तते पुनश्चान्यदुत्पद्यते ।

तत्र चैवंयुक्ताशयस्य कर्मवशादन्यदुत्पद्यते, यदिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति, तदपि निवर्त्तते, शरीरपाते चान्यदुत्पद्यते। एवमनेकानि शरीराणि।

[यु० दी०, पृ० १४४, पं० १६-२०]

(६) यत्तावत् पतंजलिः आह—सूक्ष्मशरीरं विनिवर्त्तते पुनश्चान्यदुत्पद्यते।

[यु० दी०; पृ० १४५; पं १-२]

(७) एवं त्रिविधभावपरिग्रहात्...न सर्वं स्वतः पतंजलिवत्[1]।

[यु० दी०, पृ० १४८-४९, पं० २९, १]

(८) अयुतसिद्धाऽवयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतंजलिः।

[योगसूत्रव्यासभाष्य, ३।४४]

(९) योगशास्त्रेऽपि—'अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः, इति सम्यग्दर्शनाभ्युपायत्वेनैव योगोऽङ्गीक्रियते, [ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, २।१।३]

यह सांख्याचार्य पतञ्जलि, योसूत्रकार पतञ्जलि से भिन्न है—

पतञ्जलि के इन मतों और उद्धरणों के आधार पर यह निश्चय होजाता है, कि यह, योगसूत्रकार पतञ्जलि से भिन्न व्यक्ति है। सांख्य के अन्तर्गत इसकी अपनी एक विचारधारा है, जो योग के साथ सर्वांश में समानता नहीं रखती। ये उद्धरण जिस प्रकार योगसूत्रों में नहीं मिलते, इसीप्रकार महाभाष्य और आयुर्वेद की चरकसंहिता में भी नहीं मिलते। इसलिये यद्यपि कहा जासकता है—यह सांख्याचार्य पतंजलि, उन पतंजलि नामक आचार्यों से भिन्न है, जिन्होंने योगसूत्र तथा महाभाष्य की रचना की, एवं चरकसंहिता का प्रतिसंस्कार किया। परन्तु इस समय योगसूत्रकार पतञ्जलि, युक्तिदीपिका में उद्धृत 'सांख्याचार्य' पतंजलि से भिन्न है, इसके लिये कुछ स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत हैं—

(क) युक्तिदीपिका के पृ० १०८ पर, महत् से अहङ्कार और अहङ्कार से पञ्च तन्मात्र की उत्पत्ति होती है, इस मत के माननेवाले आचार्यों में पतञ्जलि का नाम नहीं है। क्योंकि यह पतञ्जलि अहङ्कार की पृथक् सत्ता नहीं मानता, और इसप्रकार पञ्चतन्मात्र और एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति महत् से मानलेता है। परन्तु योगसूत्रकार पतञ्जलि महत् से पञ्चतन्मात्रों की उत्पत्ति के साथ अहंकार की भी उत्पत्ति मानता[2] है, अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति कहता है। यह इन दोनों पतञ्जलि नामक आचार्यों के सिद्धान्त में मौलिक भेद है, इसलिये इन्हें एक नहीं कहाजासकता।

---

१. तुलना करें, संख्या ३ के साथ। [यु० दी० पृ० १४५, पं० १-२]

२. योगसूत्र २।१९॥ व्यासभाष्य सहित। और देखें—इसी अध्याय के विन्ध्यवासी प्रसंग में उसके तीसरे सन्दर्भ की टिप्पणी।

(ख) पतञ्जलि नाम के उद्धरणों में संख्या ८ का उद्धरण, व्यासभाष्य में दियागया है। वह योगसूत्रकार पतञ्जलि का नहीं होसकता, और महाभाष्य आदि में भी उपलब्ध नहीं है, इसलिये संभावना यही होसकती है, कि यह उद्धरण किसी अन्य सांख्याचार्य पतञ्जलि का अथवा महाभाष्यकार पतञ्जलि की किसी अन्य रचना का होना चाहिये। यह आचार्य युक्तिदीपिका में वर्णित पतञ्जलि अधिक सम्भव है, और उसकी रचना योगसूत्रों पर कोई व्याख्याग्रन्थ होसकता है।

नामसाम्य भ्रान्ति का कारण—

पतञ्जलि के जितने वर्णन मिलते हैं, वे सब एकसमान हों, ऐसा नहीं है।

बर्लिन के सूत्रीपत्र[१] और मैक्समूलर[२] के अनुसार कात्यायन-सर्वानुक्रमणी के व्याख्याकार षड्गुरुशिष्य ने लिखा है—

"यत्प्रणीतानि वाक्यानि भगवांस्तु पतञ्जलिः।
व्याख्यच्छान्तनवीयेन महाभाष्येण हर्षितः॥
योगाचार्यः स्वयं कर्त्ता योगशास्त्रनिदानयोः।"

इन श्लोकों में पतञ्जलि को व्याकरणग्रन्थ, योगशास्त्र तथा निदानसूत्रों का रचयिता लिखा है। यहाँ वैद्यकशास्त्र की कोई चर्चा नहीं है। यदि पतञ्जलि सम्बन्धी इसप्रकार के लेखों को एकत्रित कियाजाय, तो इसका यह अभिप्राय होगा, कि योगसूत्र, महाभाष्य, चरक, निदानसूत्र और परमार्थसार इन सब ग्रन्थों का रचयिता पतञ्जलि एक व्यक्ति है। परन्तु यह विचार किसी तरह संभव नहीं कहाजासकता। इन ग्रन्थों की विषयप्रतिपादन शैली और रचना में परस्पर इतना महान अन्तर है, कि उन सब रचनाओं को एक व्यक्ति की कहना अत्यन्त कठिन है। कहाजासकता है, कि विषयभेद से एक ही व्यक्ति की रचनाओं में भेद होना संभव है। यह ठीक है, पर इसके अतिरिक्त अन्य अनेक आधारों पर इन सब ग्रन्थों का रचनाकाल एक नहीं कहाजासकता। सिद्धान्त भेद के अतिरिक्त इनकी रचना में इतना अधिक कालिक भेद है, जिसका समावेश एक जीवन में संभव नहीं। ऐसी स्थिति में—जैसा पूर्व लिख आये हैं—यह सभावना

---

१. Ch. 192 (p. 12).

२. Ancient Sanskrit Literature (Eng. ed) pp. 238-39.
श्रीयुत कैलाशनाथ भटनागर M.A. द्वारा सम्पादित निदानसूत्र की भूमिका पृ० २७ के आधार पर।
परन्तु डा० मैक्डानल्ड द्वारा सम्पादित—कात्यायन सर्वानुक्रमणी की षड्गुरु-शिष्यप्रणीत 'वेदार्थदीपिका' नामक टीका में, हमें ये श्लोक उपलब्ध नहीं हुए। मैक्समूलर ने ये कहां से लिखे, कहा नहीं जासकता।

युक्तियुक्त है, कि उक्त विद्वानों को 'पतञ्जलि' नाम की समानता के कारण उन विभिन्न व्यक्तियों में एकता का भ्रम होगया है। फिर प्रत्येक विद्वान् का पतञ्जलि सम्बन्धी वर्णन सर्वथा समान भी नहीं है, जैसा कि अभी ऊपर प्रकट कियागया है। इसलिये इन लेखों का कोई उपयुक्त प्रामाणिक आधार जँचता नहीं।

प्रतीत होता है–भर्तृहरि, समुद्रगुप्त आदि के लेखों की वास्तविकता को न समझा जाकर, वे ही अनन्तरवर्त्ती लेखकों के लिये भ्रान्ति का आधार बनगये। यह थोड़ा-सा आश्रय मिलजाने पर जहाँ भी पतंजलि नाम देखागया, उसे एक व्यक्ति बनाडालागया। वस्तुतः इनकी एकता का कोई ऐतिहासिक आधार अभी तक ज्ञात नहीं होसका है। यद्यपि भर्तृहरि के लेख से स्पष्ट है–वह महाभाष्य-कार तथा योगसूत्रकार पतंजलि को एक नहीं मानता। यह अलग बात है, कि समुद्रगुप्त के कथनानुसार महाभाष्यकार पतंजलि ने योगसूत्रों पर कोई व्याख्या-ग्रन्थ लिखा था। इसलिये जिन लेखकों ने इन दोनों ग्रन्थों (महाभाष्य, योगसूत्र) के रचयिताओं को एक व्यक्ति माना है, उनका कथन भ्रान्तिपूर्ण समझना चाहिये।

इनका विवेचन इसप्रकार कियाजाना उपयुक्त होगा—

(१) योगदर्शनसूत्रकार पतंजलि।

(२) महाभाष्यरचयिता, चरकप्रतिसंस्कर्त्ता, तथा योगसूत्रों का व्याख्याकार पतंजलि।

हमारा विचार है–युक्तिदीपिका तथा योगव्यासभाष्य आदि में जो सन्दर्भ 'पतञ्जलि' के नाम से उल्लिखित मिलते हैं, संभवतः वे उस योगसूत्रव्याख्या के हों, जिसकी रचना महाभाष्यकार पतंजलि ने की। तथा यही योग अथवा अध्यात्मशास्त्र (सांख्य-योग) विषयक वह ग्रन्थ है, जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त, भोज तथा अन्य लेखकों ने किया है। इसप्रकार महाभाष्यकार पतंजलि, सांख्याचार्य अथवा योगाचार्य पतंजलि कहाजासकता है। परन्तु योगसूत्रकार पतंजलि उससे सर्वथा भिन्न है।

महाभाष्यकार पतंजलि तथा युक्तिदीपिका आदि में उद्धृत पतंजलि एक व्यक्ति है, इसके लिये सुपुष्ट प्रमाण यह है, कि युक्तिदीपिका में उद्धृत पतंजलि 'करणों' की संख्या बारह मानता है, वह अहंकार को पृथक् 'करण' नहीं मानता, देखिये उसके उद्धृत सन्दर्भों में पहला तथा चौथा सन्दर्भ। इसीप्रकार भाष्यकार पतंजलि द्वारा प्रतिसंस्कृत चरक में बारह 'करण' स्वीकार किये है, वहाँ लिखा है—

'करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च' (शारीरस्थान, १।५६[१])

१. इसीप्रकार और देखिये–चरक, सूत्रस्थाम, ८।१७।। तथा १६।१८।। इन स्थलों की करणों की गणना में केवल बुद्धि और मन के साथ अहंकार का

उल्लेख नहीं है । इस विषय में वैद्य दामोदप्रसाद शर्मा शास्त्री ने–'महामुनि पतंजलि, भ्रान्तियाँ और निराकरण' नामक अपनी रचना के अध्याय ३, पृ० ६३ से ६६ तक में 'समन्वय हीन अध्ययन' शीर्षक देकर जो आलोचना प्रस्तुत की है, वह नितान्त अज्ञानमूलक एवं दुस्साहसपूर्ण है । लेखक की ज्ञानगरिमा के नमूने देखिये—

१. वेदान्त के 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' सूत्र के अन्तिम पद को 'प्रयुक्तः' लिख-समझकर उसका अर्थ किया है–'इस सूत्र से योग का ग्रहण करना चाहिये ।' इससे स्पष्ट है, लेखक ने सूत्र के पाठ और उसके प्रसंग को देखने-समझने का थोड़ा भी कष्ट नहीं किया ।

२. आगे लेखक, चरक संस्कर्त्ता पतञ्जलि द्वारा करणों की संख्या १६ बताता है । प्रमाण में चरक का श्लोक लिखता है—

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्त्तते ।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ।।

लेखक अर्थ करता है— [सूत्रस्थानः ११।२०]

अर्थात् १ आत्मा, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, १ मन और (पाँच ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये) ५ अर्थ इन सोलह करणों के संयोग से जो बुद्धि उपजती है, उसको प्रत्यक्ष बुद्धि कहते हैं ।

पराकाष्ठा है, लेखक के इस 'समन्वयपूर्ण अध्ययन' की । चरक इतना शास्त्रज्ञ व ज्ञानवान् नहीं था, जो आत्मा और शब्द आदि विषयों को करण मानता । यह नवीन दर्शन की रचना लेखक के ज्ञानगाम्भीर्य और 'समन्वयपूर्ण अध्ययन' का चमत्कार है । इस अध्ययन के फलस्वरूप कर्मेन्द्रियाँ भी प्रत्यक्ष ज्ञान में करण हैं, यह नई जानकारी उभरकर सामने आई है। लेखक ने श्लोक के 'सन्निकर्ष' पद का अर्थ 'संयोग' किया है । दर्शन का प्रारम्भिक छात्र भी जानता है–सन्निकर्ष छह प्रकार का होता है । उनमें 'संयोग' एक है, जो केवल दो द्रव्यों में मानाजाता है, पर लेखक शब्द आदि गुणों में भी संयोग की सिफारिश कर रहा है ।

वस्तुतः मूल श्लोक में प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप बतलाया है । आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थों के सन्निकर्ष से उस अवस्था में जो व्यक्त बुद्धि प्रकट होती है, वह 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहाजाता है । इनमें इन्द्रिय और मन 'करण' अर्थात् प्रमाण है (–प्रमा-ज्ञान के करण), आत्मा प्रमाता, शब्द आदि अर्थ प्रमेय और प्रत्यक्षज्ञान 'प्रमा' अथवा 'प्रमिति' है। यह श्लोक का स्पष्ट अर्थ है । इसमें सोलह करणों की उद्भावना लेखक के शास्त्रज्ञान की कितनी परिचायक है, यह कोई भी विषय का जानकर समझ सकता है ।

यहाँ मन बुद्धि पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय ये बारह करण स्वीकार किये हैं। करणों की इस गणना में अहंकार का पृथक् उल्लेख नहीं है। यद्यपि इसी प्रकरण में अन्यत्र अहंकार का उल्लेख है, परन्तु वह इसको पृथक् 'करण' रूप में नहीं मानता, 'अहं' को महत् अथवा बुद्धि की ही वृत्ति मानता है। इसी प्रकरण के ६३वें श्लोक में आठ प्रकृतियों में अहंकार की गणना कीगई है, और ६६ में अहंकार से 'शब्दतन्मात्र' आदि की उत्पत्ति का निर्देश है, वह पतंजलि ने अपने मत से न देकर, पूर्वप्रसिद्ध कापिल मत के अनुसार निर्देश किया है, यह बात इस प्रकरण के सूक्ष्म पर्यालोचन से स्पष्ट होजाती है। इसप्रकार भाष्यकार पतंजलि ही वह पतंजलि प्रतीत होता है, जिसके सन्दर्भ युक्तिदीपिका आदि में

आगे लेखक लिखता है–"इसीप्रकार योगसूत्र में १२ नहीं, अपितु १६ ही करण बतलाये गये हैं। जैसा कि—विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि।

अर्थात् विशेष–पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश-ये ५ स्थूल-भूत। अविशेष–५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, और १ मन इसप्रकार कुल १६ विशेष (करण) मानेगये हैं।"

इसपर कोई टिप्पणी करना व्यर्थ है। सूत्र में सत्त्व, रजस् तमस् गुणों के पर्व अर्थात् विभागों का निर्देश है; लेखक इन्हें 'करण' बतारहा है। यह लेखक के 'शास्त्र मर्मज्ञ' होने का अच्छा प्रमाण है, और 'समन्वय-पूर्ण अध्ययन' का चमत्कारी परिणाम।

लेखक अन्त में एक अभूतपूर्व शास्त्रीय रहस्य की घोषणा इसप्रकार करता है–"वास्तव में किसी शास्त्र में करणों की निश्चित संख्या नहीं दीगई है। बल्कि न्यायशास्त्र में तो विद्वानों ने 'आदि कारणं करणम्' कह कर करणों के इस संख्यासम्बन्धी विवाद को ही हटा दिया है।

इसलिये योगसूत्र और चरक संहिता में वर्णित करणों की संख्या में तथाकथित भेद के कारण, योगसूत्र के कर्त्ता और चरक संहिता के प्रति-संस्कर्त्ता पतञ्जलियों (?) में भेद मानना, समन्वयरहित अध्ययन करने का ही फल प्रतीत होता है।"

सचमुच लेखक के ये करण-विषयक विवरण 'समन्वयपूर्ण अध्ययन' के बड़े आकर्षक नमूने हैं। 'महामुनि पतञ्जलि, भ्रान्तियां और निराकरण' नामक समस्त रचना इसीप्रकार के ऊट-पटांग ख़ुराफ़ात से भरी हुई है। ऐसी दुस्साहसपूर्ण रचना को चुनौती देना अज्ञता का ही द्योतक होगा। भर्तृहरि के शब्दों में–'ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति'। इतना बस है। महा-मुनि पतञ्जलि की दिवंगत आत्मा भी इस अनुपम श्रद्धाञ्जलि से हर्ष विभोर हो उठेगी।

उद्धृत हैं, और ये सन्दर्भ उस ग्रन्थ के हैं, जो पतंजलि ने योगसूत्रों पर व्याख्यारूप में लिखा था। व्यासभाष्य में उद्धृत पतंजलि का एक सन्दर्भ भी उसी ग्रन्थ का प्रतीत होता है। परन्तु व्यासभाष्य में इस सन्दर्भ का समावेश प्रान्त (हाशिया) गत पाठ से होना संभव है।[1] यहाँ पतंजलि के उद्धृत सन्दर्भों में संख्या ८ पर हमने उसका निर्देश किया है। इसप्रकार महाभाष्यकार पतंजलि, चरक का प्रतिसंस्कर्त्ता और योगसूत्रों का व्याख्याकार होने से शब्द, शरीर और मन तीनों को शुद्ध करनेवाला कहाजासकता है। यह पतंजलि योगसूत्रों का रचयिता नहीं। यद्यपि नाम उसका भी पतंजलि था।

(३) निदानसूत्रकार पतंजलि।

(४) परमार्थसार का कर्त्ता पतंजलि।

(४) कोषकार पतंजलि।

इन अन्तिम तीन के सम्बन्ध में और अधिक विवेचना करने की आवश्यकता है। यह सम्भव है, योगसूत्रकार पतंजलि, निदानसूत्रों का रचयिता हो।

पौरिक—

गौतम, गर्ग, बाद्धलि और कैरात नामक आचार्यों के कोई लेख अथवा सन्दर्भ आदि का अभी तक कुछ पता नहीं लगसका है। इसलिये नहीं कहाजा-सकता–इन्होंने सांख्य विषय पर कुछ लिखा था, या नहीं? इनके काल पर प्रकाश डालनेवाले कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होसके हैं। बाद्धलि का नाम तत्त्वार्थराजवार्त्तिक[2] में उपलब्ध होता है।

पौरिक नामक आचार्य के एक मत का उल्लेख युक्तिदीपिका में कियागया है। वह इसप्रकार है—

"यदुक्तं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थमयमारम्भइतिः, तदयुक्तम्–आचार्यविप्रतिपत्तेः। 'प्रतिपुरुषमन्यत् प्रधानं शरीराद्यर्थं करोति। तेषाञ्च माहात्म्यशरीरप्रधानं यदा प्रवर्त्तते तदेतराण्यपि, तन्निवृत्तौ च तेषामपि निवृत्तिः, इति पौरिकः सांख्याचार्यो मन्यते।"[3]

---

१. योगसूत्रभाष्यकार व्यास, व्याकरणभाष्यकार, चरक प्रतिसंस्कार कर्त्ता तथा योगमूलक अध्यात्मशास्त्र पर ग्रन्थकार पतंजलि से पर्याप्त प्राचीन आचार्य है। वह स्वयं उक्त पतंजलि का उद्धरण नहीं देसकता। कालान्तर में किसी अध्येता आदि द्वारा हाशिये पर लिखागया उक्त सन्दर्भ प्रतिलिपिकारों द्वारा मूल में सन्निविष्ट करदिया जाना संभव है। यह पूर्वापर प्रसंग से स्पष्ट है।

२. तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, पृ० ५१। युक्तिदीपिका पृ० १७५ की टिप्पणी संख्या एक के आधार पर।

३. युक्तिदीपिका, कारिका ५६।

इससे स्पष्ट है–पौरिक सांख्याचार्य प्रत्येक पुरुष के लिये पृथक्-पृथक् एक-एक प्रधान की कल्पना करता है।

पौरिक मत और गुणरत्नसूरि—

हरिभद्रसूरिविरचित षड्दर्शनसमुच्चय के व्याख्याकार गुणरत्नसूरि ने अपनी व्याख्या में इस अर्थ को इसप्रकार प्रकट किया है—

"मौलिक्यसांख्या ह्यात्मानमात्मानं प्रति पृथक् प्रधानं वदन्ति। उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वप्येकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः[1]।"

गुणरत्नसूरि ने उक्त मत को पौरिक सांख्याचार्य के नाम से न देकर 'मौलिक्यसांख्याः' कहकर दिया है। 'मौलिक्य' पद का अर्थ 'मूल में होनेवाले' कियाजासकता है, अर्थात् सर्वप्रथम होनेवाले सांख्याचार्य। अगले 'उत्तरे तु सांख्याः' पदों से 'मौलिक्य' पद का यह अर्थ सर्वथा निश्चित और स्पष्ट होजाता है। इसके आधार पर अनेक आधुनिक विद्वानों ने यह समझा है, कि वस्तुतः सर्वप्रथम सांख्याचार्यों का ऐसा मत था। प्रधान अर्थात् मूलप्रकृति को एक माने-जाने का मत उत्तरवर्त्ती सांख्याचार्यों ने स्वीकार किया।

परन्तु सब प्रकार के आधारों पर अभीतक यही निश्चित समझागया है, कि सांख्य के सर्वप्रथम आचार्य कपिल, आसुरि, पञ्चशिख प्रभृति हैं। सर्वमान्य सांख्यग्रन्थ ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं से यह बात स्पष्ट होजाती है, कि उसने जिन सांख्यसिद्धान्तों का अपने ग्रन्थ में निरूपण किया है, उनका सम्बन्ध कपिल पञ्चशिख आदि से है, और कारिकाओं में[2] प्रकृति को एक मानागया है। इसका अभिप्राय है–सांख्य के सर्वप्रथम आचार्यों का ऐसा मत नहीं है, जो गुणरत्नसूरि ने 'मौलिक्य' पद से दिया है। जो भावना सूरि के 'मौलिक्य' पद से ध्वनित होती है, उसका कुछ भी गन्ध, युक्तिदीपिका के लेख में प्रतीत नहीं होता। वहां 'पौरिक' किसी व्यक्ति-विशेष का नाम स्पष्ट होता है। इसमें पूर्व और अपर की भावना नहीं है। इसके अनुसार प्रधान के अनेकतावाद को स्वीकार करनेवाला पौरिक आचार्य, कपिल आदि के पर्याप्त अनन्तर होसकता है। तब यह निश्चितरूप से नहीं कहाजासकता, कि गुणरत्नसूरि के लेख का आधार क्या होगा?

प्रतीत होता है–गुणरत्नसूरि को सम्भवतः 'पौरिक' पद से भ्रान्ति हुई, और उसने वास्तविकता को न समझ, पूर्व तथा उत्तर की कल्पना कर डाली है।

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय व्याख्या, तर्करहस्यदीपिक, कारिका ३६ पर। पृ० ९९, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता संस्करण।

२. देखें, कारिका ३ और १०।

क्योंकि किन्हीं भी आधारों पर इस बात को सिद्ध करना कठिन है, कि सांख्य के मूल आचार्यों का ऐसा मत था। इसलिये पौरिक किसी व्यक्तिविशेष की संज्ञा है, इसका पूर्व अपर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वह जब कभी हुआ हो, उसका यह अपना मत है।

'पौरिक' नाम, तथा उसका काल—

पौरिक नाम के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश नहीं डालाजासकता। यह गोत्र नाम है, या सांस्कारिक नाम, अथवा अन्य किसी आधार पर यह नामकरण हुआ होगा, इन बातों का मालूम कियाजासकना कठिन है। परन्तु युक्तिदीपिका के लेख से इतना स्पष्टरूप में समझाजासका है, कि यह किसी व्यक्तिविशेष का नाम होसकता है। इस बात पर केवल इसलिये अधिक बल दिया है, कि गुणरत्नसूरि का लेख इस विवेचन के लिये निर्भ्रान्त आधार नहीं है, कि प्राथमिक सांख्याचार्य प्रकृति की अनेकता को मानते थे, और उत्तरकाल में आकर उसकी एकता के सिद्धान्त को मानाजाने लगा। इस समय भी कोई विचारक अपने विचारानुसार प्रकृति के अनेकतावाद को मान सकता है, यह केवल विचारों के विकास का परिणाम हो, ऐसी बात नहीं है।

पौरिक सांख्याचार्य के काल आदि के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहाजासकता। युक्तिदीपिका का काल हमने पूर्व इसी ग्रन्थ के सप्तम अध्याय में विक्रम के पञ्चम शतक के लगभग निर्धारित किया है। इतना निश्चित कहा-जासकता है, कि पौरिक इस काल से अवश्य पूर्ववर्त्ती आचार्य था।

जहाँ तक प्रकृति के अनेकतावाद का प्रश्न है, वह एक साधारण बात है। प्रति पुरुष का समस्त प्रकृति से सम्पर्क न होकर उसके किसी एक अंश से ही सम्पर्क होपाता है। उतने अंश में स्वतन्त्र इकाई की कल्पना करने से प्रतिपुरुष प्रधान को पृथक् मानने के आधार पर एक ही प्रकृति में अनेकतावाद का सामञ्जस्य सम्भव है। व्यावहारिक वास्तविकता के आधार पर ऐसा विवेचन आपत्तिजनक अथवा मूलसिद्धान्त का विरोधी नहीं मानाजाना चाहिये।

पञ्चाधिकरण—

इस आचार्य के सम्बन्ध में युक्तिदीपिका के अतिरिक्त और भी सूचना प्राप्त कीजासकी हैं। इसके नामकरण के सम्बन्ध में कोई विशेष कारण उपस्थित नहीं कर सकते। यह अपने ढङ्ग का एक निराला नाम है। सम्भव है, पञ्चशिख[1] नाम के समान इस नाम का कोई आधार हो। युक्तिदीपिका में इस आचार्य के

---

१. पञ्चशिख नामकरण के आधार पर द्रष्टव्य हैं—म० भा०, शान्ति०, अ० २२०।

के नाम से कई सन्दर्भ निम्नप्रकार उद्धृत हैं—

(१) ···पञ्चाधिकरणवार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यत इति।
(यु० दी० पृ० १०८, पं० ४)

(२) भौतिकानीन्द्रियाणीति पञ्चाधिकरणमतम्। [पृ० १०८, पं० ७-८]

(३) तथा करणं निर्लिखितस्वरूपं शून्यग्रामनदीकल्पम्, प्राकृतवैकृतिकानि तु ज्ञानानि प्रेरकाङ्गसंगृहीतानि प्रधानादागच्छन्ति चेति पञ्चाधिकरणः। [पृ० १०८, पं० १३-१५]

(४) करणानां···स्वभावातिवृत्तिः···सर्वा परत इति पञ्चाधिकरणः, बुद्धिः क्षणिकेति च। [पृ० १०८, पं० १५, १७]

(५) अनयोश्चाभिधानाद् यः पञ्चाधिकरणपक्षः–प्राकृतवैकृतानां ज्ञानानां प्रधानवत्[1] शुष्कनदीस्थानीयान्तःकरणे बाह्ये च प्रेरकज्ञानांशककृत उपनिपातः, तथा च सात्त्विकस्थित्यात्मककृतमप्रत्ययस्यावस्थानमिति तत् प्रतिक्षिप्तं भवति। [पृ० ११९, पं० १-३]

(६) करणं···दशविधमिति तान्त्रिकाः पञ्चाधिकरणप्रभृतयः।
[पृ० १३२, पं० २८-२९]

(७) पञ्चाधिकरणस्य तावत्—
वैवर्त्तं शरीरं मातापितृसंसर्गकाले करणाविष्टं शुक्रशोणितमनुप्रविशति। तदनुप्रवेशाच्च कललादिभावेन विवर्धते। व्यूढावयवं तूपलब्धप्रत्ययं मातुरुदरान्निःसृत्य यौ धर्माधर्मौ षट्सिद्ध्युपभोगकाले कृतौ तद्वशादवतिष्ठते। यावत् तत्क्षयात् शरीरपातस्तावत्। यदि धर्मसंस्कृतं करणं ततो द्युदेशं सूक्ष्मशरीरेण प्राप्यते, तद्विपर्ययात्तु यातनास्थानं तिर्यग्योनिं वा, मिश्रीभावेन मानुष्यम्। एवमातिवाहिकं सूक्ष्मशरीरमिन्द्रियाणां धारणप्रापणसमर्थं नित्यं बाह्येनापायिना परिवेष्ट्यते परित्यज्यते च। [पृ० १४४ पं० १०-१६]

(८) पञ्चाधिकरणस्य तावत्—
द्विविधं ज्ञानम्–प्राकृतिकं वैकृतिकं च। प्राकृतिकं त्रिविधम्–तत्त्वसमकालं सांसिद्धिकमाभिष्यन्दिकं च। तत्र तत्त्वसमकालं–संहतश्च महांस्तत्त्वात्मना महति प्रत्ययो भवति। उत्पन्नकार्यकारणस्य तु सांसिद्धिकमाभिष्यन्दिकं च भवति। सांसिद्धिकं यत् संहतव्यूहसमकालं निष्पद्यते, यथा परमर्षेर्ज्ञानम्। आभिष्यन्दिकं च संसिद्धकार्यकरणस्य कारणान्तरेणोत्पद्यते। वैकृतं तु द्विविधम्–स्ववैकृतं परवैकृतञ्च।

---

१. 'प्रधानवत्' इत्यत्र तृतीयसंख्यान्तःपातिपाठानुरोधात् 'प्रधानात्' इति पाठः समीचीनो भाति।

स्ववैकृतं तारकम्, परवैकृतं सिद्ध्यन्तराणि । आह च—
तत्त्वसमं वैवर्त्तं तत्राभिष्यन्दिकं द्वितीयं स्यात् ।
वैकृतमतस्तृतीयं षाट्कौशिकमेतदाख्यातम् ॥
अत्र तु तत्त्वैः सहोत्पत्त्यविशेषात् सांसिद्धिकमभेदेनाह—
वैकृतमपि च द्विविधं स्ववैकृतं तत्र तारकं भवति ।
स्यात् सप्तविधं परवैकृतं सत्त्वारामादि निर्दिष्टम् ॥
इति । यथा ज्ञानमेवं धर्मादयोऽपि इति ।

[पृ० १४७-४८, पं० २२-२४/१-१०]

इतने उद्धरण केवल युक्तिदीपिका से दियेगये हैं । इनके अतिरिक्त अन्यत्र भी पञ्चाधिकरण के उद्धरण उपलब्ध होते हैं । एक उद्धरण इसप्रकार है—

(६) केचित्तु मन्यन्ते—

अतीताध्ववर्त्तिनोऽपि पुनः कालान्तरे जगत्परावर्त्तेषूद्भवन्ति । 'कृतपरिनिष्ठिता हि भावाः प्रधानप्रसेवकान्तर्गता यथाकालमुद्दर्शयन्त्यात्मानं, पुनः प्रलये तत्रैव तिरोभवन्ति' इति पञ्चाधिकरणदर्शनस्थानां सांख्यानाम (मय ?) मभ्युपगमः ।[1]

उपर्युक्त सन्दर्भ में 'कृतपरिनिष्ठिता' से 'तिरोभवन्ति' तक सम्पूर्ण पाठ पञ्चाधिकरण के ग्रन्थ का प्रतीत होता है ।

इन सन्दर्भों के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहाजासकता, कि ये इसी आनुपूर्वी में पञ्चाधिकरण की किसी रचना के अंश हैं, अथवा पञ्चाधिकरण के सिद्धान्तों को युक्तिदीपिकाकार ने अथवा अन्य लेखकों ने अपने शब्दों में प्रकट किया है । संख्या ३ और ५ के सन्दर्भों की परस्पर तुलना इस सन्देह को पुष्ट करती है । दोनों सन्दर्भों में–अर्थ की प्रायः समानता होने पर–आनुपूर्वी भिन्न है । इससे यह निश्चय करना कठिन है, कि पञ्चाधिकरण की रचना के ही ये विभिन्न स्थलों के अंश हैं, अथवा आनुपूर्वी युक्तिदीपिकाकार की अपनी है ।

आठवीं संख्या के सन्दर्भ में प्राकृत और वैकृत ज्ञान का अच्छा विश्लेषण है । इस सन्दर्भ में दो आर्या उद्धृत हैं । ये आर्या पञ्चाधिकरण की अपनी रचना प्रतीत होती हैं, और जिस रीति पर इस सन्दर्भ में उद्धृत कीगई हैं, उससे ज्ञात होता है–इन आर्याओं के अतिरिक्त शेष गद्यसन्दर्भ में अर्थ अथवा सिद्धान्त पञ्चाधिकरण का और पदानुपूर्वी युक्तिदीपिकाकार की अपनी है ।

पञ्चाधिकरण तान्त्रिक—

छठी संख्या के सन्दर्भ में पञ्चाधिकरण को तान्त्रिक कहागया है । इस सन्दर्भ में यह निर्देश है, कि पञ्चाधिकरण करणों की संख्या दस मानता है ।

१. वाक्यपदीय, ३ काण्ड, कालसमुद्देश, श्लो० ५३ पर, भूतिराजतनय–हेलाराज कृत व्याख्या में । अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलिः, पृ० ६८ ।

यद्यपि अन्य प्राचीन सांख्याचार्यों ने करण त्रयोदश माने हैं। पतञ्जलि बारह और वार्षगण्य तथा उसका अनुयायी विन्ध्यवासी ग्यारह करण मानता है। युक्तिदीपिका में प्रयुक्त, पञ्चाधिकरण के 'तान्त्रिक' विशेषण से इसके काल पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है, जो अभी खोज का विषय है।

पञ्चाधिकरण के विचार—

सांख्यसिद्धान्तों के सम्बन्ध में पञ्चाधिकरण के कुछ अपने विशेष विचार हैं। कपिल पञ्चशिख आदि प्राचीन आचार्य करणों की संख्या तेरह मानते हैं। तीन अन्तःकरण और दश बाह्यकरण। परन्तु पञ्चाधिकरण केवल दश[1] करण मानता है, जैसा कि अभी ऊपर लिखाजाचुका है।

अन्य कई साधारण[2] मतभेदों के अतिरिक्त एक विशेष मतभेद यह है, कि प्राचीन सांख्याचार्य इन्द्रियों को आहंकारिक अर्थात् अहंकार का कार्य मानते हैं, परन्तु पञ्चाधिकरण इन्द्रियों को भौतिक[3] अर्थात् भूतों का कार्य कहता है। सांख्याचार्यों में यही एक ऐसा आचार्य है, जो इन्द्रियों को भौतिक मानता है। सांख्यकारिका और उसकी एक व्याख्या को चीनी भाषा का अनुवाद करनेवाले परमार्थ पण्डित ने कई कारिकाओं[4] की व्याख्या में इस मत को स्वीकार किया है। हमारा विचार है—इस सम्बन्ध में परमार्थ, पञ्चाधिकरण के विचारों से प्रभावित था। यद्यपि उसने [परमार्थ ने] इन विचारों को प्रकट करते हुए किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है। परमार्थ ने अपने अनुवाद में अनेक[5] स्थलों पर प्राचीन आचार्यों के समान इन्द्रियों को आहंकारिक भी माना है। यह सम्भव है—परमार्थ अपने से प्राचीन इन दोनों प्रकार के विचारों में से पञ्चाधिकरण के विचार को अधिक ठीक समझता हो, और कारिका की मूल व्याख्या का चीनी अनुवाद करते समय कहीं-कहीं इस मत का भी समावेश कर दिया हो। इसका निरूपण कियाजाचुका है, कि यह चीनी अनुवाद, माठरवृत्ति का कियागया था। यह निश्चितरूप से कहाजासकता है, कि चीनी अनुवादक ने इस अनुवाद में अनेक स्थलों पर मूलग्रन्थ से अधिक[6] अर्थ का समावेश किया

---

१. ऊपर उद्धृत पञ्चाधिकरण के सन्दर्भों में संख्या ७ देखें।
२. देखें, सन्दर्भ संख्या ४।
३. देखें, सन्दर्भ संख्या २।
४. स्वर्णसप्ततिशास्त्र, [चीनी अनुवाद का संस्कृत रूपान्तर] कारिका ३, ८, १०, १५, ५६, ५६, ६८ की व्याख्या।
५. स्वर्णसप्ततिशास्त्र, कारिका, २२, २४, २५, २७ की व्याख्या।
६. स्वर्णसप्ततिशास्त्र, पृष्ठ ७८ टिप्पणी संख्या १। इसके अतिरिक्त पृष्ठ ४६ पर 'यथोक्तं गाथायाम्' कहकर जो दो श्लोक उद्धृत कियेगये हैं, वे कारिकाओं की मूल व्याख्या में सम्भव नहीं होसकते।

था। इस विवेचन से परमार्थ के अनुवाद में निर्दिष्ट इन्द्रियों की मौलिकता पर उपयुक्त प्रकाश पड़ जाता है।

कौण्डिन्य और मूक—

पञ्चाधिकरण के अनन्तर प्राचीन सांख्याचार्यों की सूची में 'कौण्डिन्य' और 'मूक' आचार्यों का उल्लेख है। इनके सम्बन्ध में इतना कहाजासकता है, कि युक्तिदीपिका में अन्य आचार्यों के साथ इनका नाम है। अन्य कोई सूचना इनके सम्बन्ध में प्राप्त नहीं होसकी है।

मूक अथवा शुक—

युक्तिदीपिका में जहाँ [कारिका ७१ पर] कतिपय आचार्यों के नामों का उल्लेख है, वहाँ का पाठ कुछ खण्डित और अशुद्ध-सा है। हमारा विचार है—सम्भवत: 'मूक' के स्थान पर 'शुक' पाठ हो। 'शुक' नाम के एक आचार्य का पूर्व निर्देश कियाजाचुका है।

उपसंहार—

इस अध्याय में ४२/४३ प्राचीन सांख्याचार्यों का संक्षेप से उल्लेख कियागया है। उनमें से अनेक आचार्यों के सन्दर्भों को विभिन्न ग्रन्थों से चुनकर संगृहीत करदियागया है। जो कुछ सामग्री, जहाँ कहीं से मिल सकी है, प्रस्तुत कीगई है। किसी विचार के लिये कल्पना का आधार नहीं लियागया। सांख्याचार्यों की यह सूची सम्पूर्ण नहीं कहीजासकती। सम्भव है, इसमें अनेक आचार्यों के नाम न आसके हों।

वर्णित सांख्याचार्यों में से अनेकों के नाम महाभारत तथा उससे भी प्राचीन साहित्य से लिये गये हैं, तथा बहुत से नाम सांख्यकारिका की टीकाओं से लिये हैं, जिनका उल्लेख ७१वीं आर्या पर, पञ्चशिख के अनन्तर और ईश्वरकृष्ण से पूर्व की गुरु-शिष्य परम्परा को बतलाने के लिये कियागया है। इससे व्याख्याकारों की यह भावना निश्चित होती है, कि वे इन सब आचार्यों को ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्त्ती मानते हैं। उनके विरोध में अभी तक कोई ऐसे प्रमाण नहीं दियेजासके, जिनसे उनके मन्तव्य को अशुद्ध समझाजाय। इसप्रकार प्राचीन सांख्याचार्यों के नाम से जिनका उल्लेख इस अध्याय में कियागया है, वे सब ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्त्ती आचार्य हैं।

इसी ग्रन्थ के सप्तम अध्याय में माठर व आचार्यशंकर के आधार पर ईश्वरकृष्ण का समय, विक्रम पूर्व षष्ठ शतक का मध्य अनुमान कियागया है। इसप्रकार यहाँ अष्टम अध्याय में वर्णित सब आचार्य उक्त समय से पूर्व के हैं। जिस किसी आचार्य के समय का किन्हीं कारणों से विशेष अनुमान कियाजासका है, उनका निर्देश यथास्थान करदियागया है।

रुद्रिल विन्ध्यवासी—

प्रसंगवश एक अन्य आचार्य का यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है, जो ईश्वरकृष्ण का परवर्त्ती है। इसका नाम है–रुद्रिल विन्ध्यवासी।

यद्यपि सप्तम अध्याय के माठर-प्रसंग में इसका पर्याप्त वर्णन कियाजाचुका है, परन्तु उसके नाम पर विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत सन्दर्भों का अभी तक निर्देश नहीं कियाजासका, उन सबका यहाँ संग्रह कर देना आवश्यक है। प्रथम उन सन्दर्भों का निर्देश कियाजाता है, जो युक्तिदीपिका में विन्ध्यवासी के नाम पर उल्लिखित हैं।

युक्तिदीपिका में विन्ध्यवासी के उद्धरण—

(१) किञ्च तन्त्रान्तरोक्तेः, तन्त्रान्तरेषु हि विन्ध्यवासिप्रभृतिभिराचार्यैरुपदिष्टाः, प्रमाणं नः ते आचार्या इत्यतश्चानुपदेशो जिज्ञासादीनामिति[1]।
[यु० दी०, पृ० ४, पं० ७-८]

(२)—प्रत्यक्षादीन्यपि च तन्त्रान्तरेषूपदिश्यन्ते—'श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्। सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्। यो यत्राभियुक्तः कर्मणि चादुष्टः स तत्राप्तः, तस्योपदेशः आप्तवचनम्'[2] इति। [यु० दी०, पृ० ४, पं० १०-१२]

(३)—महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते पञ्चतन्मात्राण्यहंकारश्चेति विन्ध्यवासिमतम्[3]। [यु० दी०, पृ० १०८, पं० ६-७]

---

१. इस ग्रन्थ के पृष्ठ ५२४-२५ की संख्या १ टिप्पणी देखें।

२. ' ' चिन्ह के अन्तर्गत पाठ विन्ध्यावासी का है। यद्यपि इन पंक्तियों के साथ विन्ध्यवासी का नाम नहीं है, परन्तु ऊपर की ७-८ संख्या की पंक्तियों के साथ विन्ध्यवासी का नाम है, और उसी प्रसंग में ये पंक्तियाँ हैं।

३. अन्य सब सांख्याचार्यों का यह मत है, कि अहंकार से तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है, परन्तु विन्ध्यवासी महत्तत्व से पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति मानता है। पातञ्जल योगदर्शन के २।१६ सूत्र के व्यासभाष्य में इसी अर्थ को प्रस्तुत कियागया है। मूल सूत्र में विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग इन चार गुणपर्वों का उल्लेख है। इनमें १६ विशेष [मन सहित एकादश इन्द्रिय और पाँच स्थूलभूत], ६ अविशेष [एक अहंकार, पांच तन्मात्र], एक लिङ्गमात्र [महत्तत्व] और एक अलिङ्ग [प्रकृति], इन २४ तत्त्वों को बतायागया है। व्यास ने अविशेष पद की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"षड् अविशेषाः, तद्यथा शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रञ्च, इत्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाऽविशेषाः, षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः।"

(४)—इन्द्रियाणि......विभूनीति[1] विन्ध्यवासिमतम् ।

[यु० दी०, पृ० १०८, पं० १०]

(५)—करणमपि......एकादशकमिति विन्ध्यवासी ।

[यु० दी०, पृ० १०८, पं० ११]

(६)—तथा......सर्वार्थोपलब्धिः मनसि विन्ध्यवासिनः ।

[यु० दी०, पृ० १०८, पं० १२]

(७)—संकल्पाभिमानाध्यवसायनानात्वमन्येषां एकत्वं विन्ध्यवासिनः ।

[यु० दी०, पृ० १०८, पं० १२, १३]

(८)—विन्ध्यवासिनस्तु—विभुत्वादिन्द्रियाणां[2] बीजदेशे वृत्त्या जन्म । तत्त्यागो मरणम् । तस्मान्नास्ति[3] सूक्ष्मशरीरम् । तस्मान्निर्विशेषः संसार इति पक्षः । [यु० दी०, पृ० १४४, पं० २०-२२]

(९)—विन्ध्यवासिनस्तु—नास्ति तत्त्वसमं सांसिद्धिकञ्च । किं तर्हि ? सिद्धिरूपमेव । तत्र परमर्षेरपि सर्गसंघातव्यूहोत्तरकालमेव ज्ञानं निष्पद्यते,

---

व्यास के इस व्याख्यासन्दर्भ से स्पष्ट होजाता है, कि यह पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति महत्तत्व से मानता है । इस सन्दर्भ में इन दोनों आचार्यों का ऐकमत्य विशेष उल्लेखनीय है । यह हम अभी तक निश्चय नहीं कर पाये हैं, कि इन दोनों आचार्यों में से इस सिद्धान्त का मौलिक आचार्य कौन है ? पतञ्जलि के मूल सूत्र से यह अर्थ प्रकट होता है । मूल सूत्र में कार्य से कारण की ओर को गणना करके ४ गुणपर्वों का निर्देश है । इनमें सर्वप्रथम विशेष है, जिनकी संख्या भाष्यकार ने सोलह बताई है । इन सोलहों विशेषों के कारण हैं, छह अविशेष । इन ६ अविशेषों में से पाँच तन्मात्र, पाँच स्थूलभूतों (विशेषों) के कारण है, और अहंकार [अविशेष] एकादश इन्द्रियों [विशेषों] का कारण है । इसीप्रकार छह अविशेषों का कारण है, महत्तत्व [लिङ्गमात्र] । इस रीति पर सूत्रकार पतञ्जलि के विचार से पाँच तन्मात्रों की उत्पत्ति महत् से मानीजासकती है । ऐसी स्थिति में इस मत का मूल आचार्य सूत्रकार पतञ्जलि को मानना चाहिये, व्यास और विन्ध्यवास दोनों उसके परवर्त्ती आचार्य हैं ।

१. व्यासभाष्य में केवल मन को विभु माना है, देखें—कैवल्यपाद, सूत्र १० ॥ भाष्यकार व्यास पर यह औपनिषद प्रभाव प्रतीत होता है ।...'इत्येतत्सर्वं मन एव' 'यदजिरं जविष्ठं' वेद इत्यादि इस विषय में अनुसन्धेय हैं ।

२. तुलना करें, सन्दर्भ संख्या ४ ।

३. तुलना करें, सन्दर्भ संख्या ११ तथा १८ के साथ ।

यस्याद् गुरुमुखाभिप्रतिपत्तेः प्रतिपत्स्यत इति, अपीत्याह–सिद्धं निमित्तं नैमित्ति-कस्यानुग्रहं कुरुते नापूर्वमुत्पादयति–इति, निमित्तनैमित्तिभावश्चैवमुपपद्यते । तत्र परमर्षेः पटुः, तूक्तः; अन्येषां क्लिष्ट इत्ययं विशेषः सर्वेषामेव तु तारकाद्यवि-शिष्टम् ।[1] [यु. दी., पृ० १०८, पं० १०-१४]

युक्तिदीपिका के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी विन्ध्यवासी के मतों का उल्लेख मिलता है, हम इसप्रकार के उन्हीं स्थलों का निर्देश करेंगे, जिनके साथ विन्ध्य-वासी के नाम का उल्लेख है, जिन स्थलों में विन्ध्यवासी के मतों का तो उल्लेख है, पर उनके साथ विन्ध्यवासी का नाम नहीं लिया, उनको यहाँ छोड़ दिया है । प्रायः वे सब उल्लेख प्रत्यक्ष लक्षण और अन्तराभवदेह के सम्बन्ध में हैं, जो नामसहित स्थलों में आगये हैं । इसलिये उनमें कोई विशेषता नहीं रहजाती । वे ये हैं—

(१०)—सन्दिह्यमानसद्भाववस्तुबोधात् प्रमाणता ।
विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना ॥[2]
[श्लो० वा०, अनु० श्लो० १४३, पृ० ३९३, बनारस संस्करण]

(११)—अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना ।
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते ॥
[श्लो० वा०, सूत्र ५ पर, श्लो० ६२]

(१२)—विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे —
"पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥' इति

---

१. इस सन्दर्भ में 'अपीत्याह' इसके आगे और 'इति' से पूर्व की पंक्ति विन्ध्यवासी के साक्षात् ग्रन्थ की प्रतीत होती है । शेष सन्दर्भ में युक्ति-दीपिकाकार के अपने शब्दों के द्वारा विन्ध्यवासी का मत प्रकट कियागया है । अन्य सन्दर्भों के सम्बन्ध में भी यह बात कहीजासकती है, कि उनमें शब्द युक्तिदीपिकाकार के अपने हों ।

२. तुलना करें–तत्त्वसंग्रह, शान्तरक्षित कृत, कारिका १४४५॥ पृष्ठ ४२२ पर [गायकवाड ओरियण्टल सीरीज़], तथा सन्दर्भ संख्या १५ के साथ ।

(११) तुलना करें–सन्दर्भ संख्या-८ तथा १८ के साथ ।

(१२) तुलना करें–हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या, पृष्ठ, १०४, रौयल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता संस्करण । तथा, स्याद्वादमञ्जरी, १५ ।

(१३) विन्ध्यवासिनस्तु—
पूर्वव्यक्त्यवच्छिन्नमपूर्वव्यक्तौ प्रतीयमानं सामान्यमेव सादृश्यम् ।
तदेकशब्दवाच्यम्—इति मतम् ।

(१४) यदेव दधि तत्क्षीरं यत्क्षीरं तद्दधीति च ।
वदता रुद्रिलेनैवं ख्यापिता विन्ध्यवासिता ॥

(१५) एतच्च यथोक्तम्—
प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धमनुमानं विशेषतोदृष्टमनुमानमित्येवं विन्ध्यवासिना गदितम् ।

(१६) सारूप्यं सादृश्यं विन्ध्यवासीष्टम् ।

(१७) श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका इति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणम् ।

(१८) अथवा कैश्चिदिष्यते—अस्त्यन्यवन्तराभवं शरीरं सूक्ष्म यस्येयमुत्क्रान्तिः । अन्यैस्तत्वन्तराभवदेहो नेष्यते । यथाह भगवान् व्यास—
'अस्मिन् देहे व्यतीते तु देहमन्यन्तराधिप ।
इन्द्रियाणि वसन्त्येव तस्मान्नास्त्यन्तराभवः ॥'
सांख्या अपि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासिप्रभृतयः ।

(१९) देहभोगेन नैवास्य भावतो भोग इष्यते ।
प्रतिबिम्बोदयात् किन्तु यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ॥
पूर्वसूरिभिः विन्ध्यवास्यादिभिः ।

---

(१३) साहित्यमीमांसा, पृष्ठ ४३ । तुलना करें—सन्दर्भ संख्या १६ के साथ ।

(१४) तत्त्वसंग्रह पञ्जिका, कमलशीलकृत, पृ० २२, पं० २६ । इस श्लोक के उत्तरार्द्ध का पाठ निम्न प्रकार भी उपलब्ध होता है—'वदता विन्ध्यवासित्वं ख्यापितं विन्ध्यवासिना' ।

(१५) तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृष्ठ ४२३, पं० २२ । तुलना करें—सन्दर्भ संख्या १० के साथ ।

(१६) तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ६३६, पृ० ७ । तुलना करें—सन्दर्भ संख्या १३ के साथ ।

(१७) सिद्धसेनदिवाकर कृत 'सन्मतितर्क' पर अभयदेवसूरिकृत व्याख्या, पृ० ५३३ पं० २ । [गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर ग्रन्थावली संस्करण]

(१८) मनुस्मृति, मेधातिथिभाष्य, १।५५। विन्ध्यवासी के इस मत की तुलना करें—सन्दर्भ संख्या ८ तथा ११ के साथ ।

(१९) यह श्लोक 'शास्त्रवार्त्तासमुच्चय' का ३।२७ है । इसकी टीका 'शास्त्रवार्त्तासमुच्चयस्याद्वादकल्पलता' [पृ० १०९, पं० ८] में श्लोक के 'पूर्वसूरिभिः' पद का अर्थ 'विन्ध्यवास्यादिभिः' किया हुआ है । इससे स्पष्ट होता है—

(२०) अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तम्—'सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्' इति ।

विन्ध्यवासी का काल—

प्रस्तुत ग्रन्थ के अपेक्षित प्रसंगों में यह बराबर लिखागया है, कि विन्ध्यवासी का काल ईश्वरकृष्ण के काल से पश्चात् होना चाहिये । इसमें आंशिकरूप से निश्चयाधान के लिये कुछ तथ्य प्रस्तुत है ।

आचार्य शंकर के संस्थापित मठों में सुरक्षित ऐतिहासिक सामग्री तथा समस्त मठों की आचार्य परम्परा अथवा गुरु-शिष्य अनुक्रम के आधार पर आचार्य का जन्म खीस्ट पूर्व ५०६ में हुआ । कुमारिल भट्ट आचार्य[1] शंकर का वृद्ध समकालिक है । जब आचार्य कार्यक्षेत्र में उतर रहा था, उस समय कुमारिल जीवन के अन्तिम क्षणों में था । भट्ट कुमारिल ने श्लोकवार्त्तिक में विन्ध्यवास का नाम लेकर (उसके मतों का उल्लेख किया है । इस कारण कुमारिल से पूर्व विन्ध्यवासी का होना निश्चित है । आचार्य शंकर ने अपनी रचनाओं में सांख्य-सिद्धान्त का निर्देश करने के अवसर पर प्रमाणरूप से ईश्वरकृष्ण की रचना

मूलश्लोक में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, टीकाकार के विचार से वह सिद्धान्त विन्ध्यवासी आदि आचार्यों का है । इस श्लोक में आत्मा के भोग के स्वरूप का निरूपण है । सन्दर्भ संख्या १२ में एक श्लोक पूर्व लिखाजाचुका है । उस श्लोक में आत्मा के भोग सम्बन्धी जो विचार विन्ध्यवासी के नाम से प्रकट कियेगये हैं, उनका पूर्ण सामञ्जस्य इस श्लोक के साथ नहीं होपाता । प्रत्युत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या के १०४ [रा० ए० सो० कलकत्ता संस्करण] पृष्ठ पर आसुरि के नाम से जो एक श्लोक उद्धृत हुआ उपलब्ध होता है, उसके साथ इस श्लोक का पूर्ण सामञ्जस्य है । गुणरत्न की टीका में वह श्लोक इसप्रकार मिलता है—

तथा चासुरिः—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ।।

आसुरि और विन्ध्यवासी [१२ संख्या के सन्दर्भ में निर्दिष्ट] के मतों पर हमने इसी अध्याय के प्रारम्भ में, आसुरि के प्रसंग में विवेचन किया है । इस सबको देखते हुए, स्याद्वादकल्पलता' में 'पूर्वसूरिभिः' पद का जो अर्थ कियागया है, वह चिन्तनीय है ।

(२०) पातञ्जल योगसूत्रों पर भोजवृत्ति, ४।२२।। तुलना करें—सन्दर्भ संख्या १२ के साथ ।

सांख्यसप्तति का एकाधिक वार उल्लेख किया है। ईश्वरकृष्ण द्वारा उपपादित आतिवाहिक शरीर के प्रत्याख्यान में विन्ध्यवासी ने बड़ा बल लगाया है। यद्यपि अन्य प्राचीन सांख्याचार्यों ने इस सिद्धान्त को स्वीकारा, और उसका उल्लेख भी किया है; परन्तु इसके प्रत्याख्यान में विन्ध्यवासी की उग्रता को ईश्वरकृष्ण के एतत्सम्बन्धी उपपादन ने उभारा; ऐसा प्रतीत होता है।

न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर ने–जहाँ प्रत्याख्येय सांख्यीय मत का प्रसंग आया है, वहाँ कहीं भी–सांख्यसप्तति का उल्लेख नहीं किया, वाचस्पति के अनुसार सांख्य के वे प्रत्याख्येय अंश वार्षगण्य की उक्तियों पर आधारित हैं, समान होने पर भी विन्ध्यवास की उक्तियों पर नहीं। इससे ज्ञात होता है–उद्योतकर, ईश्वरकृष्ण एवं विन्ध्यवासी दोनों की अपेक्षा पूर्ववर्त्ती आचार्य है। इसके अनुसार विन्ध्यवासी, ईश्वरकृष्ण और कुमारिल के अन्तराल में होना चाहिये।

आचार्य शंकर के जन्म वर्ष को निश्चित केन्द्र मानकर उससे ५० वर्ष पूर्व कुमारिल और उससे पचास वर्ष पूर्व विन्ध्यवासी को रक्खाजासकता है। इसके अनुसार विन्ध्यवासी का काल ईसा पूर्व छठी शताब्दी में मानाजाना चाहिये।

इससे भगवान् बुद्ध तथा अन्य विद्वानों के कालक्रम में कोई अन्तर नहीं आता। भारतीय इतिवृत्त के तिथिलेखानुसार बुद्ध भगवान् का प्रादुर्भाव काल ईसापूर्व अठारह सौ वर्ष के लगभग है। भारतीय इतिहास में आधुनिक पश्चिमी लेखकों ने किन्हीं भ्रान्तियों के आधार पर लगभग बारह सौ वर्ष का घोटाला उपस्थित कर दिया है। उसका मूल आधार है–चन्द्रगुप्त मौर्य का अपने ठीक कालिक-स्थान से उठाकर ईसापूर्व चौथी शताब्दी में ला बिठाना, उसका परिशोधन आवश्यक है। भारतीय इतिवृत्त के यथार्थरूप को प्रकाश में लाने की रुचि रखनेवाले ऐतिहासिकों का कर्त्तव्य है, वे इस ओर ध्यान दें। उन तथ्यों को प्रकाश में लाने के लिये अन्यत्र प्रयास चालू है। यह उसके लिये उपयुक्त अवसर नहीं।[1]

विस्मृत सांख्याचार्य माधव—

उपलब्ध सांख्यग्रन्थों में इस आचार्य के नाम का उल्लेख कहीं प्राप्त न हो-सका। परन्तु अन्य अनेक ग्रन्थों में सांख्याचार्य के रूप में इसका नाम उपलब्ध होता है। यह माधव परिव्राजक[2] से सर्वथा भिन्न है, जिसका उल्लेख पूर्व किया-गया है।

---

१. इस विषय के आंशिक विवेचन के लिये हमारी रचना 'वेदान्तदर्शन का इतिहास' द्रष्टव्य है।

२. इसी ग्रन्थ का छठा अध्याय, 'तत्त्वसमाससूत्रों के व्याख्याकार' प्रसंग में संख्या ६ पर निर्दिष्ट व्याख्या का रचयिता।

(१) मीमांसा श्लोकवार्त्तिक की भट्ट उम्बेक कृत व्याख्या[1] में इस आचार्य का उल्लेख उपलब्ध होता है। यज्ञिय हिंसा अधर्मजनिका होती है, अथवा नहीं ? इस प्रसंग में सांख्य का मत प्रकट करते हुए बतायागया है, कि यज्ञिय हिंसा अधर्म को अवश्य उत्पन्न करती है। उम्बेक ने प्रसंगागत श्लोक की अवतरणिका करते हुए, ये शब्द लिखे हैं—

'सांख्यनायकमाधवस्त्वाह—

इस लेख से स्पष्ट होता है–उम्बेक, किसी सांख्याचार्य माधव के सम्बन्ध में परिचय रखता है।

(२) धर्मकीर्त्ति प्रणीत प्रमाणवार्त्तिक[2] [बौद्ध ग्रन्थ] की 'आगमभ्रंशकारिणामाहोपुरुषिकया,……अन्यथा रचनासंभवात्' इन पंक्तियों पर व्याख्या करते हुए कर्णकगोमि ने लिखा है–

'आगमभ्रंशकारिणामित्यादिना सम्प्रदायविच्छेदेन रचनान्तरसम्भवमेष समर्थयते। आगमभ्रंशकारिणां पुंसामन्यथा, पूर्वरचनावैपरीत्येन रचनादर्शनादिति सम्बन्धः। अन्यथा रचनायां कारणमाह, आहोपुरुषिकयेत्यादि। आहोपुरुषिकयेत्यहंमानित्वेन। यथा सांख्यनाशकमाधवेन सांख्यसिद्धान्तस्यान्यथा रचनं कृतं।'

इन पंक्तियों से किसी एक माधव का होना स्पष्ट होता है, जिसका सम्बन्ध सांख्य से है। उम्बेक और कर्णकगोमि के पाठों में माधव के विशेषण पद, बहुत ध्यान देने योग्य हैं। उम्बेक उसको 'सांख्यनायक' और कर्णकगोमि 'सांख्यनाशक' लिखता है। इन पाठों के सम्बन्ध में यह नहीं कहाजासकता, कि लेखकप्रमाद से इनमें कोई पाठ अन्यथा होगया हो। उम्बेक का पाठ, जिस प्रसंग में दियागया है, उस दृष्टि से सर्वथा युक्त है, उससे स्पष्ट है–वह माधव को एक विशिष्ट सांख्याचार्य समझता है।

कर्णकगोमि का पाठ भी, जिस प्रसंग में दियागया है, उस प्रसंग के सर्वथा अनुकूल है। वहां अन्य पाठभेद की कल्पना नहीं कीजासकती। इसप्रकार माधव को 'सांख्यनाशक' कहना, उसके प्रति कर्णकगोमि की उग्र मनोभावना को प्रकट करता है। माधव ने सांख्यसिद्धान्तों का जिस रूप में प्रतिपादन किया, वह अवश्य धर्मकीर्ति एवं कर्णकगोमि की भावना के प्रतिकूल थे, जिसके कारण कर्णकगोमि ने उसके लिये 'साख्यनाशक' पद का प्रयोग किया। इस लेख से यह भी स्पष्ट होजाता है, कि धर्मकीर्त्ति और कर्णकगोमि जिस सम्प्रदाय परम्परा का अनुसरण

---

१. श्लोकवार्त्तिक, चोदनासूत्र, श्लो० २४६। खीस्ट १९४० का मद्रास विश्वविद्यालय संस्करण, पृ० ११२।

२. प्रमाणवार्त्तिक, कर्णकगोमिकृत व्याख्या सहित पृ० ५६५।

करते थे, उसमें सांख्यसिद्धान्तों का जो रूप समझाजाता था, उसके विपरीत अपने विचार माधव ने प्रकट किये। अभिप्राय है—माधव के पूर्ववर्त्ती बौद्ध विद्वानों ने कपिल के जो सिद्धान्त जिस रूप में प्रस्तुत किये थे, माधव ने उनका विरोध किया, और कपिल के वास्तविक मतों को जैसा उसने समझा, प्रकट किया। इससे किसी एक सांख्याचार्य माधव की स्थिति अत्यन्त स्पष्ट होजाती है, जिसने अपने समय में सांख्यसिद्धान्तों के निरूपण में बौद्ध विद्वानों से टक्कर ली।

(३) दिङ्नागप्रणीत प्रमाणसमुच्चय[1] (प्रत्यक्षपरिच्छेद, श्लो० ३१) की व्याख्या करते हुए टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धि ने टीका में लिखा है—

'कपिलादयो मन्यन्ते–सुखादीनां स्वरूपं सर्वत्र एकमेवेति। माधवस्तु सर्वत्र तानि भिद्यन्त इति।'

(४) यही टीकाकार ३४वें श्लोक की टीका में पुनः लिखता है—

"माधवपक्षादस्य न्यूनदोषत्वादित्येवंमुक्तमिति न दोषः।'

इन उल्लेखों से एक सांख्याचार्य माधव की स्थिति तो स्पष्ट हो ही जाती है, इसके अतिरिक्त संख्या ३ का उल्लेख, हमारे ध्यान को कर्णकगोमि की पंक्तियों की ओर आकृष्ट करता है। धर्मकीर्त्ति और कर्णकगोमि इस बात को समझते हैं, कि माधव ने सांख्यसिद्धान्तों की अन्यथा रचना की। 'अन्यथा' का यही अभिप्राय होसकता है, कि कपिल आदि प्राचीन आचार्यों ने सांख्य के किसी सिद्धान्त को जैसा माना है, माधव ने वह मत उससे विपरीत रूप में प्रदर्शित किया है। संख्या ३ में ऐसे ही एक मत का निर्देश है। इन बौद्ध विद्वानों के लेखों को मिलाकर देखने से स्पष्ट होजाता है—ये विद्वान् सांख्यसिद्धान्तों को जिस रूप में अपने ग्रन्थों में उपस्थित करते थे, माधव ने उसका प्रबल विरोध किया, और कपिल के सिद्धान्तों का वास्तविक स्वरूप उपस्थित करने का यत्न किया। जिसको बौद्ध विद्वानों ने अपने दृष्टिकोण से 'अन्यथा-रचना' समझा।

इस दृष्टि से संख्या ३ के प्रस्तुत मतभेद का यदि विवेचन कियाजाय, तो उक्त परिणाम पर पहुँचने की आशा रखते हैं। 'सुखादि' से सत्त्व[2] आदि का ग्रहण कियाजासकता है, जो सत्त्व आदि प्रकृतिरूप हैं। क्योंकि विकृतरूप सुखादि का एक होना[3] सर्वथा असंगत है, तथा किसी आचार्य ने ऐसा स्वीकार नहीं

---

१. प्रमाणसमुच्चय, मैसोर राजकीय शाखा प्रेस से खीस्ट १९३० में प्रकाशित, तथा एच० आ० रंगास्वामी आयंगर एम०ए०, द्वारा सम्पादित तथा तिब्बती से संस्कृतरूपान्तरित।

२. सुख, दुःख, मोह अर्थात् सत्त्व, रजस्, तमस्।

३. देखें, कारिका १०, 'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्, सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं,

किया। इसलिये यह सम्भावना होसकती है, कि प्रकृतिरूप सत्त्व रजस् तमस् सर्वत्र एक एक व्यक्ति रूप मानेजाने चाहियें। अभिप्राय है—प्रकृतिरूप सत्त्व सर्वत्र एक है। इसीप्रकार सर्वत्र एक रजस् और एक तमस् है; कपिल का ऐसा मत है। परन्तु इसके विपरीत माधव, अनेक सत्त्व अनेक रजस् तथा अनेक तमस् मानता है। माधव का कोई ग्रन्थ हमारे सन्मुख नहीं है, इसलिये हम उसके मत को सर्वथा स्पष्ट नहीं करसकते। प्रमाणसमुच्चय की टीका के आधार पर जो भाव प्रकट होरहा है, केवल उसीका उल्लेख किया है।

अब यह जानना आवश्यक है, कि कपिल का उक्त मत मानेजाने का क्या आधार है? यदि कपिल के सिद्धान्तों का प्रतिनिधि सांख्यकारिका को मान-लियाजाय, तो कहना होगा—कपिल के उक्त मत का स्पष्ट उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं है। तथा इसप्रकार के अस्पष्ट[1] उल्लेखों का निर्वाह, दोनों प्रकार से किया-जासकता है। एक सत्त्व एक रजस् और एक तमस् इनके समुदायरूप प्रकृति की एकता का जिसप्रकार उपपादन कियाजासकता है, उसीप्रकार अनेक सत्त्व आदि की स्थिति में भी कियाजासकता है। वस्तुतः प्रकृति की एकता का यही नियामक क्यों न मानाजाय, कि सत्त्व रजस् तमस्, में से कोई भी विना एक दूसरे की सहायता के कुछ कार्य नहीं करसकते। अर्थात् ये मिलित ही कार्य करसकते हैं, इसी स्थिति को प्रकृति के एकत्त्व से प्रकट कियागया है, जो भाव कारिका ५२ से स्पष्ट होता है। इसीप्रकार व्यापित्व की भावना का भी ऐसा आधार कहना चाहिये, कि कोई भी स्थल प्रकृति—कार्य से रिक्त नहीं, इसी दृष्टि से प्रकृति को व्यापी कहागया है।

इसके अतिरिक्त सत्त्व के लघुत्वादि, रजस् के चलत्वादि और तमस् के आवरकत्त्वादि साधर्म्य सांख्यग्रन्थों[2] में कहेगये हैं। जो इस बात को ध्वनित करते हैं, कि सत्त्व अनेक व्यक्ति हैं, जिनके लघुत्वादि साधर्म्य अथवा असाधारण धर्म कहेगये हैं। इसीप्रकार अनेक रजस् व्यक्तियों के चलत्वादि और अनेक तमस् व्यक्तियों के आवरकत्त्वादि साधर्म्य हैं। साधर्म्य का उपपादन सत्त्व आदि के अनेक मानेजाने पर ही सामञ्जस्यपूर्ण कहाजासकता है। यदि सत्त्व आदि केवल एक इकाई रूप हैं, तो एक में साधर्म्य की कल्पना ही असम्भव है।

अभिप्राय है—सर्वत्र संसार में एक सत्त्व, एक रजस् और एक ही तमस् है, ऐसा कपिल के नाम पर स्पष्ट उल्लेख कहीं न मिलने पर भी सांख्यसिद्धान्तों के सामञ्जस्य को देखते हुए कपिल के सिद्धान्तों को माधव ने जैसा समझा था, वह बौद्ध विद्वानों की भावना के प्रतिकूल था, इसीलिये कर्णकगोमि ने उसको

---

१. देखें, कारिका १० में व्यक्त के विपरीत, अव्यक्त को एक कहा है।
२. सांख्यकारिका १३। सांख्यसूत्र १, १२७-१२८।

'सांख्यनाशक' पद से याद किया है। वस्तुतः वह 'सांख्यानायक' ही था। माधव के जीवन के सम्बन्ध में एक और सूचना उपलब्ध है।

(५) चीनी यात्री युआन्-च्वाँग के यात्रावर्णन में सांख्याचार्य माधव का उल्लेख आता है। यह गया के आसपास मगध प्रान्त में निवास करता था। राज्य की ओर से पर्याप्त भूमि-सम्पत्ति इसको जागीर के रूप में मिली हुई थी। प्रजा और राजपरिषद् में सर्वत्र इसकी बहुत प्रतिष्ठा थी। यह बड़ा विद्वान् और सांख्याचार्य माधव के नाम से प्रसिद्ध था। कालान्तर में दक्षिण देशवासी, गुणमति बोधिसत्त्व नामक एक बौद्ध विद्वान् के साथ इसका शास्त्रार्थ हुआ, और उसी अवसर पर माधव का देहान्त होगया। यह शास्त्रार्थ माधव के निवासस्थान के समीप हुआ था। इसका आयोजन, तात्कालिक राजा की ओर से गुणमति बोधिसत्त्व की प्रेरणा पर, कियागया था। युआँन्-च्वाँग के लेखानुसार माधव इस शास्त्रार्थ में पराजित हुआ, और गुणमति बोधिसत्त्व के विजयोपलक्ष्य में राजा ने उसकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर उस स्थान पर एक बौद्ध 'संघाराम' (मठ) का निर्माण करा दिया। उक्त चीनी यात्री ने इसी संघाराम के वर्णन के प्रसंग में सांख्याचार्य माधव का उल्लेख किया है[१]।

इन लेखों से यह स्पष्ट होजाता है, कि सांख्याचार्य माधव का काल, धर्मकीर्त्ति से पूर्व था, और वह गुणमति बोधिसत्त्व का समकालिक था। धर्मकीर्त्ति का काल, विक्रम संवत् के सप्तम शतक का अन्तिम (और खीस्ट सन् के सप्तम-शतक का पूर्व) भाग[२] बतायाजाता है। गुणमति बोधिसत्त्व का काल अभी अनिश्चित है। यद्यपि धर्मकीर्त्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों के तथाकथित काल भी सन्दिग्ध हैं, परन्तु इस समय उसके विवेचन का अवसर न होने से अपेक्षित स्थानों पर उसी काल का निर्देश कर दियागया है, जो आधुनिक विद्वानों ने कल्पना किया है।[३]

◆◆

१. SI-YU-KI, BUDDHIST RECORDS of THE WESTERN WORLD by Samuel Beal. vol. 11.PP.104-109. Kegan Paul, Trench, Trubner & Co. Ltd, London. द्वारा प्रकाशित। तथा ON YUAN CHWANG's travels in India, by Thomas Watters M.R.A.S., रायल एशियाटिक सोसायटी लन्दन द्वारा, १९०५ ई० सन् में प्रकाशित। vol. II. P. 108.

२. अभ्यंकर सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह' की सूची के आधार पर।

३. बौद्ध दार्शनिक काल के विषय में आंशिक विवेचन 'वेदान्तदर्शन का इतिहास' नामक रचना में किया है।

नवम अध्याय

उपसंहार (परिशिष्ट)

पहले अध्यायों में प्रसंगवश कतिपय प्राचीन आचार्यों का उल्लेख हुआ है, जिनके विषय के वहाँ निर्देश कियागया है, ग्रन्थ के 'उपसंहार' नामक अन्तिम अध्याय में इन आचार्यों के सम्बन्ध का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कियाजायगा। वे आचार्य हैं—न्यायसूत्रकार गौतम, न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन, वात्स्यायन भाष्य के वार्त्तिककार उद्योतकर, तथा वर्त्तमान व्याकरण के प्रवक्ता पाणिनि इस विवरण के अनन्तर 'प्राचीन आर्यों का राशि ज्ञान' विषयक विचार प्रस्तुत करने का संकल्प है।

न्यायसूत्रकार गौतम—

अनेक प्राचीन ऋषि-मुनियों, आचार्यों आदि के विषय में कोई प्रामाणिक व क्रमिक इतिवृत्त उपलब्ध नहीं हैं। यह कहना तो कठिन है, कि उस काल में ऐसे इतिवृत्त लिखे ही नहीं जाते रहे, अथवा लिखे जाकर नष्ट हो गये; पर जो कुछ किसी विशिष्ट व्यक्ति का बिखरा, छितरा हुआ विवरण जहाँ-तहाँ प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध होता है, उससे इतना तो अनुमान अवश्य कियाजासकता है, कि उस काल में भी ऐसे लोककर्त्ता व्यक्तियों के विषय में लिखा अवश्य जाता था, जो आज अपने व्यवस्थित रूप में न रहकर विशृंखलित होगया है। इसका मुख्य कारण है, उस काल का अतिप्राचीन होना।

इतिहास जितना अधिक पुराना होता जाता है, उतना ही अधिक संकुचित भी। अनन्तर काल के लेखक, साहित्यकार, उदात्त महानुभावों के प्राक्तन विवरणों में जो अभीष्ट अभिमत विचार व आचरण देखते हैं, उनको अपने लेखों में स्थान दे देते हैं। इसप्रकार किसी भी अति प्राक्तन विशिष्ट व्यक्ति के व्यवस्थित व क्रमिक पूर्ण विवरण भी आंशिक रूप से सदा-सदा के लिये लुप्त होजाते हैं; कुछ विवरण विभिन्न लेखकों की अभिरुचि के अनुरूप इधर-उधर बिखर जाते हैं। बाद में उन आंशिक विवरणों पर कल्पना भी चलती हैं। ऐसे ही अनेकानेक विवरणों का संकलन विभिन्न देशों के पुराण, उपपुराण आदि साहित्य में हुआ है। आज किसी भी व्यक्ति के विषय में ऐसे विवरणों में से यह छांटना बहुत कठिन

है, कि उनमें कौन-सा अंश कल्पना-मूलक और कितना तथ्य इतिवृत्त सम्भव है। इस कठिनाई का कारण यही है, कि प्रत्येक पारखी व्यक्ति के पास इसे छांटने की कसौटी अपनी-अपनी अलग होती है। इसके परिणाम स्वरूप-मूल में जो एक ऐतिहासिक तथ्य होता है, वह इतने परिवर्त्तनों की छलनी में से छनकर अपने वास्तविक अस्तित्व को खो बैठता है। आज प्राक्तन भारतीय इतिहास की यही स्थिति है। इस ऊबड़-खाबड़ वाङ्मय-अरण्यानी में न्यायसूत्रकार-विषयक जो उपयोगी अत्यल्प पत्र-पुष्प प्राप्त होसके हैं, प्रस्तुत हैं,

न्यायसूत्रकार गोतम या गौतम—

न्यायसूत्रकार के नाम के सम्बन्ध में प्रायः यह चर्चा चलती रहती है, कि यह नाम 'गोतम' है, या 'गौतम'? इनमें पहला नाम इस वंश के मूल-पुरुष का सम्भव है; दूसरा गोत्र नाम है। वह गोतम के वंशधर प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रयुक्त कियाजासकता है। यहां जिज्ञासा है, न्यायसूत्रकार मूल-पुरुष गोतम है, अथवा उसका वंशधर कोई 'गौतम' नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति?

कतिपय आधुनिक[1] विद्वानों का कहना है—न्यायसूत्र का रचयिता 'गोतम' है, जिसको इस प्रख्यात वंश का मूल-पुरुष कहाजासकता है। अपने विचार की पुष्टि में ये विद्वान् निम्नलिखित युक्ति व प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(क) न्यायविषयक मुद्रित पुस्तकों पर सूत्रकार का नाम 'गोतम' उल्लिखित रहता है, 'गौतम' नहीं।

(ख) श्रीहर्ष ने नैषधचरित [१७।७५] में न्यायसूत्रकार के नाम के आधार पर व्यङ्ग्य कसा है, जो 'गोतम' नाम में सम्भव है, 'गौतम' नाम में नहीं।

उक्त विचार पर विवेचन—

(क) प्राचीन वाङ्मय में मूल-पुरुष 'गोतम' का सर्वप्रथम नाम ऋग्वेद की आर्षानुक्रमणी में उपलब्ध होता है। यह ऋग्वेद प्रथम मण्डल के बीस सूक्तों [७४-९३] का ऋषि है। इससे पहले के सात सूक्तों [५८-६४] का ऋषि 'नोधा' है, जो गोतम का पुत्र या वंशधर सम्भव है। आर्षानुक्रणी में इसे 'नोधा गौतम' लिखा है। यहीं एक ऋचा [ऋ० १।६२।१४] में 'गोतम' नाम पद का निर्देश है। आर्षानुक्रमणी में इसका नाम 'गोतम राहूगण' बताया है।

---

१. पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी, जयनारायण तर्कपञ्चानन, तारानाथ तर्कवाचस्पति आदि। द्रष्टव्य, न्यायवार्त्तिक की भूमिका, पृष्ठ १४-२४। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी से प्रकाशित, सन् १९१६ ई० का संस्करण।

शतपथ ब्राह्मण [१।४।१।१०-१७] के एक प्रसंग से ज्ञात होता है. यह गोतम राहूगण सारस्वत प्रदेश [वर्त्तमान-अम्बाला आदि] के राजा विदेघ माथव का पुरोहित व मन्त्री था। उसी काल में सारस्वत प्रदेश किसी प्रचण्ड भूकम्प के कारण ध्वस्तप्राय गया। मन्त्री की सलाह से राजा ने ध्वस्त सारस्वत प्रदेश को छोड़कर अपने परिवार, प्रजाजन आदि के साथ निवास योग्य भू-प्रदेश की तलाश में पूर्व दिशा की ओर को चलकर सदानीरा [वर्त्तमान-गण्डक] नदी पार करके हिमालय की तराई में—अपने 'विदेघ' नाम पर उपनिवेश बसाया, जो कालान्तर में उच्चारण-भेद से 'विदेह' प्रसिद्ध रहा। आज भी उसी रूप में ज्ञात है[1]।

राहूगण गोतम के अतिरिक्त किसी अन्य मूल-पुरुष गोतम का प्राचीन वाङ्मय में पता नहीं लगता। रामायण, महाभारत, पुराण आदि साहित्य में जहाँ कहीं भी इस नाम से किसी व्यक्ति का वर्णन हुआ है, वह नाम 'गोतम' न होकर 'गौतम ही' समझना चाहिये, जो निश्चित ही गोत्र नाम होसकता है। गोत्र के आधार पर गौत्तम नाम से व्यवहृत असंख्य व्यक्ति अभी तक होसकते हैं। इस नाम से जिन व्यक्तियों का यत्किञ्चित् वर्णन उपलब्ध होता है, उनके अपने सांस्कारिक नाम क्या थे ? इसका कुछ भी ज्ञान आज नहीं है। कठिनता से दो चार ऐसे व्यक्तियों के सांस्कारिक नामों का पता लगता है।

वैदिक गोतम]राहूगण] के एक पुत्र या वंशज का नाम 'नोधा' ज्ञात है; जो ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के आठ सूक्तों [५८-६४] का ऋषि कहाजाता है। गोतम (राहूगण) के ऋग्वेदोय प्रथम मण्डल में बीस सूक्त [७४-९३] हैं, जिनका वह ऋषि है।

दीर्घतमा, वैदिक ऋषि—

वैदिक ऋषियों में 'दीर्घतमा' नाम के दो विभिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं। (१) एक दीर्घतमा उचथ्य[2] का पुत्र व वंशधर है, जिसके पूर्वज का नाम अङ्गिरा है। अङ्गिरा का पुत्र उचथ्य. और उचथ्य का पुत्र दीर्घतमा। ऋग्वेदीय प्रथम मण्डल में इसके पच्चीस [१४०-१६४] सूक्त हैं, जिनका यह ऋषि है। ऋग्वेदीय नवम मण्डल के तीन [५०-५२] सूक्तों का ऋषि आङ्गिरस (अङ्गिरा का पुत्र) उचथ्य है।

---

१. विदेघ माथव और गोतम राहूगण का यह प्रसंग प्रस्तुत इतिहास ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में विस्तार से वर्णित है। द्रष्टव्य, पृष्ठ, ७८-९२
२. महाभारत [आदि०, ९९।५] में 'उचथ्य' के स्थान पर 'उतथ्य' नाम है। वहाँ इसे अङ्गिरा का मध्यम पुत्र बताया है।

(२) दूसरा दीर्घतमा ऋषि, उशिज का पुत्र अथवा वंशधर है। औशिज दीर्घतमा के कोई सूक्त या ऋचा ऋग्वेद में नहीं हैं। यह स्थिति दीर्घतमा नाम के दो विभिन्न व्यक्तियों का होना प्रमाणित करती है। उशिज ऋषि का विवरण पुराणों में उपलब्ध होता है। इस समय हमारे सन्मुख[1] मत्स्य पुराण है। वहाँ के विस्तृत वर्णन का संक्षिप्त सार निम्नलिखित है—

प्राचीन काल में उशिज नाम का ऋषि हुआ। उसकी पत्नी का नाम 'ममता' था। जब वह गर्भवती थी; देवर बृहस्पति के अत्याचार से गर्भस्थ शिशु समय आने पर नेत्रहीन उत्पन्न हुआ। वह दीर्घतमा नाम से व्यवहृत होता रहा। जब यह अपने छोटे भाई के आश्रम में निवास करता था, तब किसी अनभिवाञ्छित घटना के कारण इसे आश्रम छोड़ना पड़ा। पुराण में यहाँ दीर्घतमा के भाई का नाम 'गौतम' लिखा है। इससे प्रतीत होता है, यह परिवार गौतम गोत्र का था। तब यह औशिज जन्मान्ध दीर्घतमा गौतम गोत्रीय होना चाहिये, यह निश्चित होता है। भाई के आश्रम से निष्कासित होने पर यह बलि नामक राजा के नगर में पहुँचा, वहाँ शूद्रा भार्या से इसका कक्षीवान् या काक्षीवान् नामक पुत्र हुआ। जन्मान्ध दीर्घतमा जैसे सर्वशास्त्र-पारङ्गत उद्भट विद्वान् था; उसका पुत्र कक्षीवान् उससे भी दो कदम आगे था। औशिज दैर्घतमस कक्षीवान् के ऋग्वेद में अनेक [१।११६-१२६] सूक्त हैं, जिनका वह ऋषि है।

न्यायसूत्रकार अक्षपाद—

दार्शनिक वाङ्मय में न्यायसूत्रकार के लिये अनेकत्र 'अक्षपाद'[2] नाम का प्रयोग हुआ है। जिज्ञासा है, न्यायशास्त्रकार के इस नाम का प्रवृत्तिनिमित्त क्या है? विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी ने न्यायवार्त्तिक की भूमिका के २४ पृष्ठ

---

१. मत्स्य पुराण, अध्याय ४८; मनसुखराय मोर, ५ क्लाइव रो, कलकत्ता का २०११ वैक्रमाब्द संस्करण।

२. द्रष्टव्य, (क) न्यायवार्त्तिक का प्रथम तथा अन्तिम पद्य।

(ख) महाभारत की नीलकण्ठ कृत टीका के प्रारम्भ में कहा है—
कणभक्षमक्षचरणं जैमिनिकपिलौ पतञ्जलिं च नुमः।

(ग) वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका के प्रारम्भिक द्वितीय श्लोक में 'नमामि······अक्षपादाय तापिने' लिखा है।

(घ) सर्वदर्शनसंग्रह में गौतमीय न्यायदर्शन को 'अक्षपाददर्शनम्' शीर्षक के नीचे प्रस्तुत किया है।

की टिप्पणी में वृद्धजनों द्वारा परम्पराप्राप्त एक पौराणिकी कथा का इसप्रकार उल्लेख किया है—

एक बार वेदव्यास अपर नाम–कृष्ण द्वैपायन महर्षि, जब गौतम से मिले, तो बोले–इसने तर्क के द्वारा जीव और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन किया है, मैं इसका मुंह नहीं देखूंगा। यह सुन तत्काल रुष्ट मनोवृत्ति के साथ गौतम महर्षि ने अपना पैर, व्यास की ओर फैला दिया, इस भावना से कि मुंह नहीं देखते, तो इसे (पैर को) देखो। तब पैर में चक्षु पैदा होगया, और व्यास ने 'अक्षपाद' नाम से गौतम की स्तुति की।

सर्वदर्शनसंग्रह के सम्पादक व व्याख्याकार अभ्यंकर महोदय ने इस कथा को बदल दिया है। उसने लिखा है–अपने मत में दूषण देने वाले व्यास का चक्षु से मुंह नहीं देखना चाहिये, गौतम ने यह प्रतिज्ञा की। गौतम को रुष्ट जान, बाद में व्यास ने उसे प्रसन्न कर लिया; तब गौतम ने पैर में नेत्र प्रकट करके व्यास को देखा। तब से लगाकर इसकी 'अक्षपाद' नाम से प्रसिद्धि हुई।

वस्तुतः यह सब गपोड़ेबाजी है। आश्चर्य है, ये ऐसे विद्वान् सर्वथा निराधार इन बातों पर विश्वास करते हैं! ऐसी ही गप्पों से पुराणों का पेट फूला पड़ा है। इसमें ऐतिहासिक तथ्य नाममात्र को नहीं है। सबसे पहली बात है–न्यायसूत्रकार गौतम और ब्रह्मसूत्रकार कृष्ण द्वैपायन का आपस में मिलना। पूर्वोक्त गप्प का यह आधार ही नितान्त असत्य है। इन दोनों के समय में पर्याप्त अन्तर है। यह केवल सैकड़ों वर्षों का न होकर सहस्रों वर्षों का भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त पैर में आँख उभरने के दोनों [द्विवेदी और अभ्यंकर के] बयानों को अभी एक ओर रखिये; पहले यह विचारिये, कि पैर में आँख का उभर आना कैसे सम्भव है? यह नितान्त अस्वाभाविक एवं प्रकृतिनियम के विरुद्ध है। अभ्यंकर बयान के अनुसार गौतम चक्षु से व्यास को नहीं देखना चाहते थे, परन्तु पैर में प्रकट हुए चक्षु से ही तो व्यास को देखा। तब चक्षु से न देखने की प्रतिज्ञा कहाँ रही?

द्विवेदी-वर्णित कथा में तो बात ही उलटी होगई है। यदि व्यासदेव गौतम को चक्षु से नहीं देखना चाहते थे, तो गौतम के पैर में चक्षु प्रकट होने का क्या प्रयोजन था? अपने पैर में चक्षु प्रकट कर उससे गौतम को देखते। व्यास के द्वारा गौतम को चक्षु से देखने के लिये गौतम के पैर में चक्षु क्यों प्रकट किया गया? क्या गौतम के पैर के चक्षु से व्यास ने गौतम को देखा था? ये आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाने वाले गपोड़बाज़ यह भी तो नहीं सोचते, कि जो कुछ हम कह रहे हैं, वह अपने आप में भी ठीक होता, या संगत होता है, या नहीं? फलतः उक्त दोनों बयान परस्पर विरुद्ध एवं नितान्त निराधार हैं।

ऐसे ही विवरणों के आधार पर विदेशी लेखक, भारतीय ऐतिहासिक

वाङ्मय को, विशेषकर पुराण साहित्य को कोरी असत्य कल्पनाओं से भरा हुआ मिथ्या बताते हैं। किसी सीमा तक उनका कथन यथार्थता को अवश्य स्पर्श करजाता है। ऐसी स्थिति में खोजना चाहिये; 'अक्षपाद, नाम का प्रवृत्ति-निमित्त क्या होसकता है ?

'अक्षपाद' का प्रवृत्तिनिमित्त—

कतिपय जन्मान्ध व्यक्तियों की प्रवृत्तियों को बारीकी से देखने-समझने पर बलात् यह भावना जागृत होती है, कि प्रत्येक जन्मान्ध व्यक्ति को अथवा अति-बाल्यकाल में भी नेत्र नष्ट हुए व्यक्ति को 'अक्षपाद' समझाजाना चाहिये। ऐसे व्यक्ति आँखों का काम पैरों से लेते हैं। जहाँ एक बार चलेजाते, या घूम-फिर आते हैं; उन सबको उनके पैर ऐसे ही पहचानते हैं, जैसे एक बार देख लेने पर आँख-वाला व्यक्ति पहचानता है। बल्कि आंखवाला व्यक्ति अपनी आँखों का भरोसा रखता हुआ, भले ही एकवार देखी वस्तु को भूल जाय; पर जन्मान्ध अपनी पैरों की आंखों से एक वार पहचानी वस्तु—मार्ग, स्थान या दिशा आदि को कभी नहीं भूलता।

एक जन्मान्ध सज्जन—

कुछ वर्षों से एक जन्मान्ध सज्जन यहाँ संन्यासआश्रम में रहते हैं। यह जिला बदायूं ग्राम-रूहान, पो०-संजयपुर के निवासी हैं, अपनी किशोर अवस्था में इधर आये थे। इधर आये इन्हें लगभग पन्द्रह-सोलह वर्ष होगये हैं। इस बीच कई वार यह अकेले बदायूं जाते-आते रहे हैं। न केवल आश्रम के प्रत्येक कमरे और स्नानागार शौचालय आदि में जाने-आने में किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं रखते; प्रत्युत गाज़ियाबाद से दिल्ली और दिल्ली से गाजियाबाद रेल या बस आदि द्वारा जाने आने में कभी किसी बाधा का अनुभव नहीं करते। दिल्ली जैसे घने, भीड़ भरे मार्गों पर भी यातायात में कभी उन्हें कोई बाधा या छोटी-मोटी घटना आज तक नही हुई। कभी सड़क पर चलते हुए उन्हें कोई देखे, तो वह अवश्य आश्चर्य चकित होजायगा।

सड़क पर उनकी चाल आंख वाले साधारण व्यक्ति के समान होती है। कोई अन्धा मार्ग को टटोल-टटोल कर चलरहा हो, ऐसा कभी मालूम नहीं होता। वह सरपट साधारण गति से चलते दिखाई देते हैं। उनके पैर ठीक तौर पर यह बताते रहते हैं, कि अब सड़क पर वह कहाँ चल रहे हैं। यह कौन-सी जगह आई, कौन-सी पीछे निकल गई। सड़क का किनारा, मध्य या सड़क से एक ओर बची हुई जगह का उन्हें स्पष्ट भान होता रहता है, केवल पैरों के आधार पर। इसी कारण सड़क के मुख्य भाग को छोड़कर ठीक साइड में चलते

उन्हें देखाजासकता हैं। जिस उपयुक्त स्थान पर सड़क को पार करना है, उनके पैर उसे पहचानते हैं। उसमें कभी गलती होते नहीं देखी गई। यह सब उनके पैरों की करामात है, जो आँखों का पूरा काम देते हैं। इस सज्जन का नाम झबरसिंह है। इनके पिता का नाम गिरवरसिंह था। आजकल ऐसे व्यक्तियों के लिये 'सूरदास' या 'प्रज्ञाचक्षु' पद का प्रयोग कियाजाता है। पहले पद के साथ एक जन्मान्ध व्यक्ति का इतिहास जुड़ा है। दूसरा पद ऐसा ही है, जैसा 'अक्षपाद'। पहले पद में चक्षु का कार्य प्रज्ञा से लियाजाना बताया हैं, दूसरे पद में पैर से लियाजाना।

जिस जन्मान्ध व्यक्ति का यह विवरण दियागया है, वह दो कार्यों का विशेषज्ञ है। एक–कुर्सी का बुनना-बेंत आदि से। दूसरा–तबला वादन। यह निर्देश करने का हमारा केवल इतना अभिप्राय है, कि कोई भी जन्मान्ध व्यक्ति, जिस विषय में उसकी रुचि हो; अथवा साधन उपलब्ध हों, वह उस विषय में विशेषज्ञता प्राप्त करलेता है। इसी तरह के एक जन्मान्ध मेरठ नगर में रहते हैं, जो पञ्जाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा उस समय में उत्तीर्ण किये हुए हैं, जब देश का विभाजन नहीं हुआ था, उन दिनों यह लेखक वहाँ के एक कॉलिज में संस्कृत का प्राध्यापक था। यह अन्ध छात्र उस समय कुछ ब्रेल [Braille] लिपि के आधार पर और कुछ साथी छात्रों से सुनकर परीक्षा की तैयारी करता था। उस समय इस लेखक ने भी उस छात्र की परीक्षा-तैयारी में आंशिक सहयोग दिया था। इस जन्मान्ध सज्जन का नाम 'शुकदेव शास्त्री' है। ये उदाहरण प्रस्तुत करने का केवल इतना तात्पर्य है, कि जन्मान्ध व्यक्ति भी उपयुक्त साधन उपलब्ध होने पर किसी भी विशेषज्ञता [महारत] को प्राप्त करसकता है। पं० लक्ष्मीदत्त दीक्षित से ज्ञात हुआ–उन्हें ऐसे ही एक जन्मान्ध व्यक्ति का शिमला में परिचय प्राप्त हुआ, जो समस्त शिमला तथा इधर-उधर की नीची-ऊँची घाटियों में निर्बाध घूमता था; जहाँ प्रत्येक पगपर निचान की ओर फिसल जाने का भय बना रहता है।

गत शताब्दी में इसी तरह का एक महान लोककर्त्ता व्यक्ति होगया है, जिसने जन्मान्ध होते हुए भी शास्त्रीय, सामाजिक, राजनैतिक आदि सब दिशाओं में वर्त्तमान राष्ट्रनिर्माण के लिये सफलता पूर्वक बुनियादी कार्य किया। उसका नाम है–'श्री दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती'। इनका स्थायी कार्यक्षेत्र कृष्ण की लीला-भूमि मथुरा में रहा।

'अक्षपाद' नाम के इस विवरण के अनन्तर यह खोज करना आवश्यक है, कि क्या न्यायसूत्रकार कोई ऐसा ही ऐतिहासिक 'अक्षपाद' व्यक्ति कभी हुआ है? इसकी खोज करते हुए हमारा ध्यान बलात् दीर्घतमा की ओर आकृष्ट होता है। आईये, इस पर विचार करें।

दीर्घतमा अक्षपाद–

इसमें सन्देह नहीं, दीर्घतमा जन्मान्ध था, इसके जन्म और अगले जीवन के विषय में जो खुराफ़ात मत्स्य पुराण आदि में भरे हैं, उन्हें एक ओर फेंककर, उसमें से ऐतिहासिक तथ्य क्या सम्भव है ? उसको उभारना है।

निस्सन्देह दीर्घतमा आर्ष परिवार का व्यक्ति है। इसका पिता उशिज ऋषि है। पुराण तथा अन्य प्राचीन वाङ्मय में ऋषि रूप से इसका वर्णन अनेकत्र[1] उपलब्ध होता है। इसका पुत्र कक्षीवान् ऋग्वेद के प्रथम मण्डल-गत ग्यारह [११६-१२६] सूक्तों का ऋषि है। नवम मण्डल में भी कक्षीवान् का एक [७४] सूक्त है। कक्षीवान् के दो पुत्र और एक कन्या सन्तान का पता लगता है। दो पुत्रों के नाम हैं–शबर और सुकीर्त्ति। ये दोनों पुत्र वैदिक ऋषि हैं, शबर का ऋग्वेद में [१०।१६८] सूक्त है। सुकीर्ति का भी ऋग्वेद में [१०।१३१] एक सूक्त है। कक्षीवान् की पुत्री का नाम 'घोषा' है। यह भी ऋग्वेद की ऋषिका है। दशम मण्डल में इसके दो सूक्त [३९,४०] हैं। घोषा का एक पुत्र 'सुहस्त्य' है। उसका भी एक सूक्त [१०।४१] ऋग्वेद में है। उशिज के पुत्र दीर्घतमा के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र तक सन्तान का पता लगता है, जो वैदिक ऋषि हैं। ऐसे आर्ष परिवार के मूर्द्धन्य व्यक्ति को वेद-वेदाङ्ग-पारंगत माने जाने में कोई बाधा दिखाई नहीं देती।

[2]मत्स्यपुराण में बताया है–यह 'गो-धर्म' में आस्था रखता था। इसकी शिक्षा उसने 'वृष' द्वारा प्राप्त की। पुराण में जो कुछ विवरण दियागया है, उस खुराफ़ात को एक ओर रखकर उसमें से निम्नलिखित रूप में ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आता है।

उक्त प्रसंग में 'गो' पद गाय पशु का वाचक न होकर 'वाणी' अर्थ को अभिव्यक्त करता है। 'वृष' नामक कोई धर्म-परायण, यज्ञादि अनुष्ठान में तत्पर, आध्यात्मिक जीवन में प्रयोगात्मक व्यक्ति है; जो वाग्रूप में प्रतिष्ठित समस्त शास्त्रीय ज्ञान में पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह साक्षात् ज्ञानी वीतराग व्यक्ति कभी भ्रमण करता हुआ दीर्घतमा का आवास–उसके भाई के आश्रम–में आ-जाता है। दीर्घतमा अपने वर्चस व तपोबल के आधार पर उसका स्नेहपात्र प्रिय बनजाता है। ऐसी दशा में उपयुक्त समय देकर उपदेष्टा वृष ने उसे 'गोधर्म' अर्थात् वाणी-धर्म का, समस्त ज्ञान-विज्ञान का धनी, पूर्ण अधिकारी

---

१. द्रष्टव्य, मत्स्यपुराण, अध्याय, ४८ ॥ महाभारत, सभा०, ७।११॥ अनु-शा० १६५।४२॥ गोरखपुर संस्करण।

२. मत्स्यपुराण, अध्याय ४८, श्लोक ४३-८६।

बनादिया । आचार्य वृष अवसर आने पर कहीं आगे रम गये, दीर्घतमा उस अगाध शास्त्रज्ञान को प्राप्त कर सम्भव है, कुछ उद्‌भट-प्रवृत्ति का होगया हो; पर अपने वंश में उस 'गो-धर्म'—वाचस्पत्य की परम्परा को उसने अबाध बनाया; जिसका प्रथम उल्लेख कियागया है ।

पुराण के इस प्रसंग में एक बात और ध्यान देने की है । वहाँ लिखा है—गोधर्म का पालन करते हुए दीर्घतमा के दीर्घ तमस् को गौ—सुरभि ने चाटकर दूर कर दिया । यहाँ ध्यान देने की बात है, गौ के चाटने से तमस् का दूर होना क्या है ? उसे चर्म-चक्षुओं से दीखने लगा हो, ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, यह सम्भव भी नहीं । इसमें यही रहस्य प्रतीत होता है, कि वाणी-रूप सुरभि ने उसके अज्ञान-तमस् को सदा के लिये दूर कर दिया । उसकी अन्दरूनी आँख-आन्तरिक चक्षु उस वाग्रूप-सुरभि के प्रयोग से खुलगये थे । तब वही दीर्घतमा, 'अक्षपाद' होगया था ।

यह व्यक्ति गोत्र से गौतम, जन्मान्ध होने से दीर्घतमा, शास्त्रीय ज्ञान में पारंगत होने से 'अक्षपाद' कहलाया । चर्म-चक्षुओं के बन्द रहने पर भी प्रज्ञा-चक्षुओं के खुल-जाने से यह 'अक्षपाद' नाम से व्यवहृत होता रहा । ये सब नाम विशेष निमित्तों के आधार पर हैं । आर्ष परिवार में होने से इसका कोई अन्य सांस्कारिक नाम अवश्य रहा होगा । अगली पंक्तियों में इसका निर्देश किया गया है ।

न्यायसूत्रकार का 'गोतम' नाम बताने के लिये जो प्रमाणरूप में यह कहा है, कि न्यायसूत्र के विभिन्न संस्करणों में तथा न्यायसूत्र के व्याख्याताओं ने अपनी रचनाओं में 'गोतम' नाम लिखा है; यह केवल प्रमाणाभास है; क्योंकि न्याय सूत्रों के ही अनेक[1] संस्करणों में तथा अन्य ग्रन्थों के एतद्विषयक प्रसंगों में 'गौतम' नाम का उल्लेख अधिक मिलता है । इस विषय में महाभारत का एक श्लोक ज्ञातव्य है—

> न्यायतन्त्रं हि कात्स्न्र्येन गौतमो बेद तत्त्वतः ।
> वेदान्तकर्मयोगञ्च वेदविद् ब्रह्मविद् विभुः ।
> द्वैपायनो निजग्राह शिल्पशास्त्रं भृगुः पुनः ।।
>
> [शान्ति०, २१२।२४।। कुम्भघोण संस्करण]

---

१. न्यायसूत्र वात्स्यायनभाष्य, सुदर्शनाचार्य संस्करण में सर्वत्र 'गौतम' पद का प्रयोग है । सर्वदर्शनसंग्रह, अक्षपाददर्शन ११; अभ्यंकर-संस्करण । न्यायकुसुमाञ्जलि, उदयनकृत, ४।५।।

न्यायशास्त्र का पूर्ण तात्त्विक ज्ञाता व प्रवक्ता गौतम को बताया है। गोत्र गौतम और अक्षपाद नाम का सामञ्जस्य औशिज दीर्घतमा व्यक्ति में पूर्णरूप से घटित होता है। इसके वैदुष्य और तर्कप्रधान विचारधारा होने में किसी शंका का अवकाश नहीं है।

(ख) न्यायसूत्रकार के 'गोतम' नाम की पुष्टि के लिये प्रस्तुत किये गये नैवधीय चरित के श्लोक की उक्ति पर विचार करना अपेक्षित है। श्लोक है—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥ [१७।७५]

न्याय-अभिमत मुक्ति में दोष प्रदर्शित करने के लिये श्रीहर्ष की यह उक्ति है। तात्पर्य है–चेतन आत्माओं की मुक्ति के निमित्त जिसने मुक्त चेतन आत्मा को शिला-तुल्य[1] (पाषाण के समान) होने के लिये शास्त्र का प्रवचन किया; उस गोतम-(बढ़िया बैल) को देखकर ही समझ लो; वह जैसा है, वैसा ही है।

यहाँ पशु-पर्याय 'गो' पद से अतिशय अर्थ में, प्रत्यय [५।३।५५] द्वारा 'गोतम' शुद्ध रूप बनता है। ऐसा प्रतीत होता है, कवि ने अपने व्यङ्ग्य को उभारने के लिये 'गौतम' पद को यहां 'गोतम' बनादिया है, क्योंकि गौतम पद में ऐसा सम्भव न था। न्यायशास्त्रकार के 'गौतम' या 'गोतम' नाम की ऐतिहासिक सम्भाव्यता की ओर कवि का ध्यान नहीं है, वह केवल नाम की छाया में अपने व्यङ्ग्य को साधार प्रकट करना चाहता है। उसकी अनुकूलता 'गोतम' पद में है, 'गौतम' में नहीं। श्रीहर्ष का यह कथन नाम की ऐतिहासिक यथार्थता में साधक नहीं कहाजासकता।

साहित्य में इसप्रकार के अन्य उदाहरण भी मिल सकते हैं। अर्थशास्त्र प्रणेता विष्णुगुप्त चाणक्य के अपर नाम 'कौटल्य' को उक्त भावना के अनुरूप 'कौटिल्य बनादियागया। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस के प्रारम्भ में–'कौटिल्यः कुटिलमतिः स एष येन, इत्यादि लिखकर श्रीहर्ष के समान व्यङ्ग्य उभारने का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस पद-प्रयोग के औचित्य पर भी कोई ध्यान नहीं दियागया। 'कौटिल्य' पद कुटिलता गुण का वाचक है। इसका प्रयोग व्यक्ति के विशेषण रूप में कियाजाना उचित नहीं है। व्यक्ति विशेष पुरुष आदि 'कुटिल' कहाजासकता है, जिसमें 'कौटिल्य (-कुटिलता) गुण हो। किसी व्यक्ति आदि के विशेषणरूप में 'कौटिल्य' पद का प्रयोग चिन्त्य है।

---

१. न्यायाभिमत मुक्ति में मुक्त आत्मा की–सुख-दुःख आदि की अनुभूति से नितान्त शून्य होकर पाषाण के समान पड़े रहने की–स्थिति का वर्णन मध्यकालिक आचार्य करते हैं।

कौटलीय अर्थशास्त्र में जहाँ विवादास्पद विषयों पर चर्चा के प्रसंग से अन्य अनेक आचार्यों के मत दियेगये हैं, वहाँ ग्रन्थकार अन्य मतों के अन्त में 'नेति कौटल्यः' कह कर उनका विवेचन प्रस्तुत करता है। ईसवी सन् १९२३-२४ की बात है, लाहौर निवास के अवसर पर कौटलीय अर्थशास्त्र की एक प्राचीन संस्कृत टीका 'नयचन्द्रिका' का सम्पादन करने के अनन्तर अर्थशास्त्र का हिन्दी रूपान्तर करना प्रारम्भ किया। अर्थशास्त्र का मूलमात्र संस्करण मैसोर का छपा प्रयोग में लायागया। वहाँ सर्वत्र यह देखने में आया, कि मूल में जहाँ 'नेति कौटिल्यः, छपा है, वहाँ टिप्पणी में पाठान्तर 'कौटल्यः' मुद्रित है। कतिपय नयचन्द्रिका के पाठ तथा मूल अर्थशास्त्र के इन पाठान्तरों को देखकर तथा 'कौटिल्य' प्रयोग के अनौचित्य (अव्याकरणीयता) को विचार कर यह धारणा बनी, कि इस पद का शुद्ध पाठ 'कौटल्य' है। इसका मूल-पद 'कुटल' है। इसका अर्थ है–अन्न रखने का ग्राम्य पात्र। आजकल इस प्रदेश में इसे 'कुठला' कहा-जाता है। सम्भव है, इस आधार पर अर्थशास्त्रकार का 'कौटल्य' नाम साधारण जनता में प्रचलित रहा।

चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य का प्रधान मन्त्री रहते भी उसकी सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य का वर्णन विशाखदत्त ने निम्नरूप में किया है—

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानाम्,
बटुभिरुपहृतानां र्बाहषां स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिः,
विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥

इसके अतिरिक्त विष्णुगुप्त चाणक्य का अपर नाम कौटल्य इस आधार पर भी सम्भव है, कि उसके पूर्वजों में कोई मूर्द्धन्य व्यक्ति 'कुटल' नाम का हुआ हो। आगे उसकी वंश परम्परा 'कौटल्य' नाम से व्यवहृत होती रही। इस व्यक्ति का गोत्र नाम वात्स्यायन भी है; पर उसीका अवान्तर गोत्र 'कौटल्य' सम्भव है।

इस विवेचन के फलस्वरूप न्यायसूत्रकार का प्रसिद्ध नाम गौतम है, गोतम नहीं। जन्मान्ध होने के कारण दीर्घतमा, समस्त शास्त्र पारंगत हो जाने पर 'अक्षपाद' नाम प्रतिष्ठा पूर्वक व्यवहृत होने लगा। जन्म के अनन्तर माता-पिता ने कोई नाम न रक्खा हो, ऐसा सम्भव नहीं। माता-पिता का निर्धारित सांस्कारिक नाम भी कोई अवश्य रहा होगा। उसकी खोज करना अपेक्षित है।

गौतम का सांस्कारिक नाम—

ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों के ऋषि-नामों में एक 'गोतम राहूगण' का नाम है। यह सारस्वत प्रदेश के राजा विदेघ माथव का पुरोहित व मन्त्री था।

भौगोलिक उत्पात से सारस्वत [सरस्वती नदी का) प्रदेश नष्टप्राय होजाने पर राजा अपने परिवार, पुरोहित व प्रजाजन आदि को लेकर पूर्व दिशा में सदानीरा [वर्त्तमान-गण्डक] नदी को पार कर हिमालय की तराई में पहुंचा, और वहाँ 'विदेघ' नाम से अपना उपनिवेश बसाया, जो कालान्तर में उच्चारण परिवर्त्तन से 'विदेह' होकर आज भी उस नाम से जानाजाता है। इसका उल्लेख गत पंक्तियों में कियाजाचुका है। गोतम राहूगण के वंशज उस राजवंश के सदा पुरोहित रहे। वे अपने गोत्र नाम गौतम से ही व्यवहृत होते रहे। राम के काल में विदेह राजवंश के पुरोहित शतानन्द गौतम थे, जिनकी माता अहल्या और पिता गौतम का वर्णन रामायण में आया है। इसी गौतम कुल की किसी पुरानी शाखा में उशिज ऋषि का जन्म हुआ था, जिसकी पत्नी का नाम ममता था। इनके जन्मान्ध पुत्र दीर्घतमा का सांस्कारिक नाम नाटक वाङ्मय के एक कोने में छिपा सुरक्षित रहगया है।

भास के प्रतिमानाटक में वर्णन है–जनस्थान में रहते हुए राम के पास परिव्राजक वेष में रावण आता है। अतिथि सत्कार के अनन्तर रामद्वारा पूछने पर रावण अपने विषय में बताता है—

"काश्यय गोत्रोऽस्मि। साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रम्, माहेश्वरं योगशास्त्रम्, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रम्, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्, प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च।" [अङ्क ५]

काश्यप गोत्र का ब्राह्मण हूँ। साङ्गोपाङ्ग वेद का अध्ययन करता हूँ। मनु का धर्मशास्त्र, महेश्वर का योगशास्त्र, बृहस्पति का अर्थशास्त्र, मेधातिथि का न्यायशास्त्र और प्रचेता का श्राद्धकल्प पढ़ा है।

यह केवल नाटक के मञ्च की बात नहीं है, इसमें इतना ऐतिहासिक तथ्य अवश्य अन्तर्हित है, कि न्यायशास्त्र के साथ प्रणेता के रूप में 'मेधातिथि' नाम है। गत पंक्तियों में निर्दिष्ट महाभारत के पद्य में न्यायशास्त्र के पूर्ण तात्त्विक ज्ञाता के रूप में गौतम का नाम, और न्यायशास्त्र के प्रणेता के रूप में अन्यत्र [भास नाटक में] मेधातिथि का नाभ इस परिणाम को सामने लाते हैं, कि न्यायशास्त्र का प्रणेता 'मेधातिथि गौतम' था।

यद्यपि अभी तक हमारी जानकारी में कोई ऐसा साक्षात् प्रमाण नहीं है, जिसके आधार पर औशिज दीर्घतमा का सांस्कारिक नाम मेधातिथि समझलियाजाय। परन्तु इस सम्बन्ध के छितरे-बिखरे इतिवृत्त पर सामवायिकरूप में दृष्टिपात करने से उक्त परिणाम की उपलब्धि में कोई अनिवार्य बाधा दिखाई नहीं पड़ती। मेधातिथि गौतम के नामों में 'अक्षपाद' नाम की धारणा दीर्घतमा की ओर किसी भी विचारक का ध्यान आकृष्ट करती है।

न्यायशास्त्रकार का काल—

इस गौतम के काल का निर्धारण कठिन है। पुरातन ऋषियों व उनके वंशजों के इतिवृत्त का कालक्रमानुसार विवरण उपलब्ध नहीं। वैदिक ऋषियों की स्थिति, एवं भास के संकेतित वर्णन से काल का अनुमान कियाजासकता है। साधारणरूप में इतना कहना उपयुक्त होगा, कि महाभारत युद्ध काल [अब से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व] से बहुत पहले कदाचित् राम-रावण के इतिहास काल के कहीं आस-पास इस गौतम वंशीय मेधातिथि के जीवनकाल की सम्भावना की-जासकती है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति का इतिहास बहुत पुराना है। आधुनिक इतिहास-परिभाषा के चौखटे की सीमा को दूर-दूर अतिदूर तक लांघचुका है। न्यायशास्त्र के वर्त्तमान अस्तित्त्व के समान, उसके प्रणेता के रूप में मेधातिथि गौतम का अस्तित्त्व भी पूर्ण तथ्य है।

वात्स्यायन

[गौतम-न्यायसूत्र भाष्यकार]

प्रस्तुत ग्रन्थ के कतिपय प्रसंगों में गौतमीय न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन का उल्लेख हुआ है। आचार्यों की पूर्वापर कालिक परम्परा में ऐसा प्रसंग आने पर वहाँ टिप्पणियों में निर्देश कियागया है—परिशिष्ट में इस विषय का उपयुक्त संक्षिप्त विवरण दियाजायगा। उसीकी पूर्ति के लिये यह प्रयास है।

वात्स्यायन-सम्बन्धी प्रत्येक पहलू को लेकर उसके यथासम्भव पूर्ण ऐतिहासिक विवरणों का प्रस्तुत करना बहुत विस्तृत एवं समय व साधनापेक्षी कार्य है। अनेक विद्वानों ने इस विषय पर अपनी रचनाओं में यथापेक्षित अल्पाधिक कार्य किया भी है। उस सबको यथासंभव अतिसंक्षेप में समेटते हुए कुछ नये सुझावों को यहाँ प्रस्तुत करना अभीष्ट है।

वात्स्यायन नाम—

प्रथम इस रचयिता के नाम का विवेचन अपेक्षित है? क्योंकि भारतीय प्राचीन वाङ्मय में इसके अनेक नामों का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। भाष्य एवं भाष्य के समीप सम्बन्ध की अन्य रचनाओं से भाष्यकार के दो स्पष्ट नामों का पता लगता है। प्रस्तुत भाष्य के अन्त में एक उल्लेख इसप्रकार उपलब्ध होता है—

योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्त्तयत्॥[1]

प्रवक्ताओं में श्रेष्ठ अक्षपाद ऋषि को जो न्यायशास्त्र प्रतिभात हुआ; उसका यह भाष्य वात्स्यायन ने रचा। इसीप्रकार भाष्य के वार्तिककार उद्योतकर ने अपनी रचना के अन्त में श्लोक इसप्रकार लिखा है—

यदक्षपादप्रतिभो[2] भाष्यं वात्स्यायनो जगौ।
अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्त्तिकम्॥

---

१. द्रष्टव्य वात्स्यायनभाष्य, सुदर्शनाचार्य संस्करण। गुजराती प्रेस बम्बई से सन् १९२२ ई० में प्रकाशित।

२. 'यदक्षपादप्रतिमः' पाठ भी कहीं उपलब्ध होता है।

अक्षपाद (सूत्रकार गौतम) के समान प्रतिभासम्पन्न वात्स्यायन ने जिस भाष्य को ग्रथित किया; उस महत्त्वपूर्ण भाष्य का वार्त्तिक-ग्रन्थ भारद्वाज (उद्योतकर) ने बनाया। इन दोनों श्लोकों के आधार पर भाष्यकार का 'वात्स्यायन' नाम स्पष्ट ज्ञात होता है। परन्तु उद्योतकर की रचना न्यायवार्त्तिक पर न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका नामक रचना को प्रारम्भ करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखता है—

"अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते व्युत्पादिते च भगवता पक्षिलस्वामिना किमपरमवशिष्यते यदर्थं वार्त्तिकारम्भः ।"[1]

भगवान् अक्षपाद के द्वारा मोक्षहेतु शास्त्र का प्रणयन करने पर और भगवान् पक्षिलस्वामी के द्वारा भाष्य रचाजाकर-उसका विशेषरूप से उपपादन कर देने पर अब क्या शेष रहजाता है, जिसके लिये वार्त्तिक का आरम्भ कियाजा-रहा है? यहाँ वाचस्पति ने भाष्यकार का नाम 'पक्षिलस्वामी' लिखा है। इसीप्रकार सर्वदर्शनसंग्रह के अक्षपाददर्शन में आचार्य माधव ने लिखा है—

"पक्षिलस्वामिना च सेयमान्वीक्षिकी विद्या प्रमाणादिभिः पदार्थैः प्रविभज्यमाना ।"[2]

कहकर आगे वात्स्यायन भाष्य (१।१।१) का अंश उद्धृत किया है। इससे वात्स्यायन का अन्य नाम पक्षिलस्वामी स्पष्ट होता है।

इसप्रकार न्यायसूत्रभाष्यकार के दो नामों का पता लगता है—वात्स्यायन और पक्षिलस्वामी। इसके अतिरिक्त विभिन्न कोषग्रन्थों में अन्य नामों का भी उल्लेख हुआ है। अभिधानचिन्तामणि कोष में लिखा है—

वात्स्यायने मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः ।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः ॥

इसमें वात्स्यायन के वाचक सात अन्य नामों का उल्लेख है—मल्लनाग, कौटिल्य (कौटल्य), चणकात्मज (=चाणक्य), द्रामिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त, अङ्गुल। इसीप्रकार त्रिकाण्डशेष कोष में उल्लेख है—

विष्णुगुप्तस्तु कौण्डिन्यश्चाणक्यो द्रमिलोऽङ्गुलः ।
वात्स्यायनो मल्लनागपक्षिलस्वामिनावपि ॥

इन कोषों में पाँच नाम पूर्णतः समान हैं—वात्स्यायन, विष्णुगुप्त, पक्षिल-स्वामी, मल्लनाग, चाणक्य। निम्नलिखित नामों में आँशिक भेद हैं—

अभिधानचिन्तामणि	त्रिकाण्डशेष
कौटिल्य	कौण्डिन्य

---

१. तात्पर्यटीका, पृष्ठ—१, लाज़रस-बनारस संस्करण।
२. सर्वदर्शनसंग्रह, अभ्यंकरण-संस्करण, पृष्ठ २४५।

द्रामिल	द्रमिल
अङ्गुल	अंशुल

इनमें से एक पद में केवल मात्राभेद की उपेक्षा कर यदि 'द्रामिल' और "द्रमिल' को एक नाम मानलियाजाय, तो शेष दो अतिरिक्त नाम रहजाते हैं। इन पदों में भी प्रतिलिपिकार लेखकों के प्रमाद-चमत्कार से 'कौटिल्य' का 'कौण्डिन्य' और 'अङ्गुल' का 'अंशुल' अथवा 'अंशुल' का 'अङ्गूल' बन जाना कोई अधिक कठिन नहीं है। फलतः इनको अतिरिक्त नाम मानेजाने में कोई विशेष कारण दिखाई नहीं देता।

नामों का प्रवृत्ति-निमित्त—इन सब नामों के अपने पृथक् प्रवृत्तिनिमित्त क्या हैं? इसका ज्ञान करना–भले ही काकदन्त परीक्षा के समान व्यर्थ माना जाय, पर कभी-कभी ऐतिहासिक तथ्य को स्पष्ट करने में–आंशिकरूप से ही सही–सहायक सिद्ध होते हैं। अंशुल–अङ्गुल अथवा द्रामिल–द्रमिल का प्रवृत्तिनिमित्त यद्यपि अनायास स्पष्ट प्रतीत नहीं हो रहा; पर पाणिनिव्याकरण इतना विस्तृत व पूर्ण है, उसके आधार पर कोई उपयुक्त प्रवृत्तिनिमित्त ढूंढ़ा जा सकता है।

उक्त नामों में कतिपय नाम एक व्यक्ति के लिये पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। वे नाम हैं—कौटल्य (कौटिल्य?), चाणक्य, वात्स्यायन, विष्णुगुप्त। पक्षिलस्वामी और मल्लनाग ये ऐसे नाम हैं, जिनका केवल शास्त्रीय परम्परा में उल्लेख देखाजाता है, ये नाम लोकप्रसिद्ध नहीं रहे। इनमें पक्षिलस्वामी नाम संभवतः पारिवारिक जैसा प्रतीत होता है। ऐसे अनेक नाम साहित्य में स्मृत हैं—शबरस्वामी, हरिस्वामी, स्कन्दस्वामी, नागस्वामी आदि। ये नाम जिन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुए हैं, उनका किसी विशेष परिवार के साथ सम्बन्ध द्योतन करते हैं। प्रस्तुत व्यक्ति का 'पक्षिलस्वामी' नाम ऐसे ही किसी परिवार के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। यहाँ आस–पास[1] भी ऐसे परिवार हैं।

इस व्यक्ति का एक अन्य नाम 'मल्लनाग' है। इन नामों से जिस व्यक्ति का संकेत कियाजारहा है। उसके जीवन के सम्बन्ध में जितना कुछ मालूम है, उसके आधार पर इस नाम का प्रवृत्तिनिमित्त अनायास मिलजाता है। 'मल्ल' पद पहलवान या अद्भुत शारीरिक सम्पत्ति से युक्त पुरुष के लिये कियाजाता है। 'नाग' पद एक विशिष्ट मानव वर्ग का वाचक है, जो अज्ञातकाल से भारत में निवास करता है। अब भी असम प्रान्त में उनका अपना प्रदेश है, जहाँ अधिकतर

१. गाजियाबाद में ऐसा परिवार है, जिनमें पारिवारिक रीति पर व्यावहारिक नाम के साथ 'स्वामी' पद लगाया जाता है। इस परिवार के मुख्य-व्यक्ति वर्त्तमान में 'मोहनस्वामी' हैं। मेरठ में ऐसा ही प्रतिष्ठित परिवार है, गत वर्षों में जिसके मुख्य व्यक्ति 'तुलसीराम स्वामी' प्रदेश-प्रसिद्ध व्यक्ति थे।

इसी वर्ग का समाज निवास करता है।[1] यह वर्ग अपने जातीय स्वभाव से लड़ाकू एवं उद्दाम प्रवृत्ति का रहा है। 'नाग' पद का एक अन्य अर्थ—सांप है। संभवतः इन भावनाओं के साथ उक्त व्यक्ति का—'मल्लो नाग इव इति मल्लनागः' इसरूप में यह नाम प्रसिद्ध होगया हो। नन्द वंश के उच्छेद करने की घटना का स्वयं उसने सगर्व उल्लेख किया है।[2] जहरीले सांप की तरह उसके द्वारा काटे या डसे हुए किसी व्यक्ति ने भी पानी तक नहीं माँगा। उसके जीवन की विशेषताओं को यह नामपद पूर्णरूप में अभिव्यक्त करता है।

शेष चार नाम—विष्णुगुप्त, कौटल्य (कौटिल्य ?), चाणक्य, वात्स्यायन—विविध रचनाओं के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। ये रचना निम्नलिखित रूप में सर्वविद्वज्जन विदित हैं—(१) कौटलीय अर्थशास्त्र; (२) गौतमीय न्यायसूत्रभाष्य; (३)—कामसूत्र। पहली रचना 'कौटल्य' नाम के साथ प्रसिद्ध है। दूसरी और तीसरी रचना 'वात्स्यायन' नाम के साथ। चाणक्य नाम के साथ 'चाणक्यनीति' एवं 'चाणक्यसूत्राणि' नामक रचना प्रसिद्ध हैं।

इन नामों में 'विष्णुगुप्त' नाम उस व्यक्ति का साँस्कारिक नाम प्रतीत होता है, नामकरण संस्कार के अवसर पर माता—पिता द्वारा निर्धारित कियागया नाम। 'कौटल्य' नाम उसके अपने जीवन में रहन—सहन व निर्वाह आदि की अत्यन्त सादगी का द्योतन करता है। इसमें मूलपद 'कुटल' है। यहाँ की प्रादेशिक भाषा में इसका अर्थ 'कुठला' है। कोषों में 'कुटल' के साथी 'कुठल' पद का भी उल्लेख मिलता है; जो प्रान्तीय पद 'कुठला' के अधिक समीप प्रतीत होता है। यह मिट्टी से बनायागया लिपा—पुता कच्चा—पात्र होता है, जो आवश्कतानुसार मन, दो मन चार मन अनाज रखेजाने की क्षमता का बनाया जाता है। कोष में इसके लिये 'कुठल' पद का निर्देश भी मिलता है। उतने सीमित अन्न से जीवन निर्वाह करने-वाले व्यक्ति के लिये इस पद का प्रयोग उचित है। इसका औचित्य और महत्त्व उस समय और भी बढ़जाता है, जब इसप्रकार सादगी से जीवन बिताने वाला व्यक्ति एक विशाल साम्राज्य के संचालन की क्षमता के साथ प्रधानमन्त्री पद का कार्यभार वहन कर रहा हो। संभव है, इस आकर्षक या चमत्कार पूर्ण स्थिति ने जनता को उस व्यक्ति के लिये यह नाम प्रयोग करने में प्रेरित किया हो। इस नाम के अन्य प्रवृत्तिनिमित्त भी होसकते हैं; विद्वान्

---

१. इस वर्ग के अनेक परिवार भारत भर में यत्र—तत्र फैले निवास करते रहे हैं। मेरे लाहौर निवासकाल [सन् १९१७ से १९३० तक] में इंग्लिश दैनिक-पत्र 'ट्रिब्यून' के वर्षों तक सम्पादक 'कालीदास नाग' रहे।

२. येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥ [कौट॰अर्थ॰, १५।३०]

विचार करें। शुद्ध पद यह 'कौटल्य' है, 'कौटिल्य' नहीं[1]।

'कुटल' पद का अन्य अर्थ कोष में छप्पर या छान भी मिलता है, जो बाँस व सरकण्डे [शरकाण्ड] आदि के सहयोग-सहारे से फूंस या खड़ आदि का बनायाजाता है। घोष, पल्ली या ग्रामीण लघु बस्तियों में साधारण जनता के निवास के लिये ऐसे ही घरों का निर्माण प्रायः होतारहा है। मौर्यकालिक मगध साम्राज्य के प्रधानमन्त्री के कुछ ऐसे ही मकान का–विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस नाटक [३।१५[में–उल्लेख किया है—

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानाम्,
बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥

इन विशेषताओं के कारण उक्त व्यक्ति का इस नाम से प्रसिद्ध होजाना स्वाभाविक है। स्वयं उसको यह नाम इतना पसन्द था, कि मौर्य साम्राज्य के प्रशासन के लिये जो संविधान तयार किया; उसे इसी नाम से चालू कियागया, जिसका स्वयं उल्लेख रचयिता ने अपनी उस रचना में किया है[2]। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र का रचयिता जहाँ अनेक आचार्यों के मतों का विवेचन करता है, वहाँ प्रथम अन्य मतों को दिखाकर अन्त में 'कौटल्य' पद से निर्देश करता है–उक्त मत युक्तिसंगत नहीं हैं–'नेति कौटल्यः'। ऐसा निर्देश रचना में अनेक वार हुआ है। यदि इस पद का रूप निन्दा और घृणा का सूचक 'कौटिल्य' रहाहोता, तो उसको अपनाने के लिये कोई पागल ही इतनी उत्सुकता प्रकट करसकता था। मगध साम्राज्य की स्थापना और उसका सफल सञ्चालन करने वाले उसके प्रधानमन्त्री से ऐसी आशा नहीं कीजासकती।

अपने सांस्कारिक नाम 'विष्णुगुप्त' का सम्बन्ध भी अर्थशास्त्र रचना के साथ स्वयं रचयिता ने निर्दिष्ट किया है। ग्रन्थ के अन्त में एक आर्यावृत्त उपलब्ध होता है—

दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रञ्च भाष्यञ्च॥

---

१. न्यायसूत्रकार गौतम के विवरण में इसका प्रासंगिक उल्लेख हुआ है।

२. अर्थशास्त्र के प्रथम अध्याय का अन्तिम सन्दर्भ है—
सुखग्रहणविज्ञेयं तत्त्वार्थपदनिश्चितम्।
कौटल्येन कृतं शास्त्रं विमुक्तग्रन्थविस्तरम्॥ पुनः—
सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः॥ [२।१०।६५]

इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है, अर्थशास्त्र रचयिता के दो नाम [कौटल्य और विष्णुगुप्त] इस रचना से जुड़े हुए हैं। कोषकारों ने इसी व्यक्ति का 'चाणक्य' और 'वात्स्यायन' नाम बताया है।

'चाणक्य' यह अपत्य नाम है। पिता का नाम चणक था; उसका पुत्र होने के कारण यह 'चाणक्य' कहलाया। विद्यालय में अध्येता छात्रों के तथा सर्वसाधारणजन के उपयोग के लिये सरल संस्कृत श्लोकों में नीतिशास्त्र की एक लघु रचना 'चाणक्यनीति' नाम से उपलब्ध होती है। सामाजिक व्यवहार की शिक्षा के लिये यह रचना अत्यन्त उपादेय है। प्रतीत होता है, उस काल में बालकों की नैतिक शिक्षा के लिये यह पुस्तिका अवश्य पाठ्यक्रम में रही होगी। आज उसकी उपादेयता उस समय से भी बढ़-चढ़कर है। उस व्यक्ति ने अपने चाणक्य नाम से इस पुस्तिका को प्रसारित किया।[1]

वात्स्यायन नाम—प्रस्तुत व्यक्ति का यह गोत्र नाम है। वत्स का अपत्य 'वात्स्य' तथा गोत्रापत्य में 'वात्स्यायन' होगा। इस नाम पर आचार्य के दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। एक गौतमीय न्यायसूत्रों पर वात्स्यायनभाष्य, तथा दूसरा—वात्स्यायन कामसूत्र। एक महान शिक्षाकेन्द्र के संचालक आचार्य होने, तथा विशाल साम्राज्य के नियन्ता होने से उक्त विषयों पर इतनी पूर्ण एवं मार्मिक रचनाओं का उसके द्वारा कियाजाना उपयुक्त प्रतीत होता है।

वर्त्तमान काल में आचार्य सुदर्शन ने न्यायवात्स्यायन भाष्य पर बहुत महत्त्वपूर्ण व्याख्या 'प्रसन्नपदा' नाम की लिखी है। आचार्य ने अनेक स्थलों पर सूत्र और वात्स्यायन भाष्य में कतिपय दोषों का उद्भावन किया है। यहाँ उन दोषों के तथ्यातथ्य का विवेचन अप्रासंगिक होगा, और वह अपेक्षित भी नहीं; पर इन्हीं आविष्कृत दोषों के आधार पर सुदर्शनाचार्य ने भाष्यकार के विषय में भूमिका लिखते हुए कहा है—

"इसके[2] [वात्स्यायन के] लेखप्रमाद से अनुमान करता हूँ कि कामसूत्रों का कर्त्ता यही है। कामसूत्रकर्त्ता होने से इसका कामपरायण होना, और उस कारण प्रमादी होना प्राप्त होता है···यदि यह कामपरायण न भी हो, तो भी अन्य-

---

१. ऐसी ही एक रचना 'चाणक्यसूत्र है, जिसमें ५७१ सूत्र हैं। हमारे स्नेही सहाध्यायी श्री रामावतार शास्त्री ने इसकी विस्तृत व्याख्या प्रकाशित की है।

२. "अस्य लेखप्रमादेनानुमिनोमि यत् कामसूत्राणामयमेव कर्त्तेति, कामसूत्रकारित्वात् कामपरायणत्वं तेन च प्रमादित्वं प्राप्नोति···यदि चायं कामपरायणो नासीत्तदाप्यन्यत्र मग्नचित्त आसीदित्यत्र तु न संशयः। अत एव मन्ये—नन्दराज्योच्छेदपरायणश्चाणक्य एवायमिति। [भूमिका, पृ० १]

मनस्क अवश्य था; अन्य कार्यों में इसका चित्त डूबा रहता था, इसमें सन्देह नहीं। इससे समझता हूँ–नन्दराज्य के उच्छेद में तत्पर चाणक्य ही यह व्यक्ति है, जिसने इस भाष्य की रचना की।

सुदर्शनाचार्य ने नन्दराज्य के उच्छेदकर्त्ता एकमात्र चाणक्य [अपर नाम कौटल्य अथवा विष्णुगुप्त] को अर्थशास्त्र, न्यायसूत्रभाष्य तथा कामसूत्र का रचयिता माना है, इसके लिये कारण जो भी बताये हों। पर उससे यह परिणाम सामने अवश्य आता है, कि इन ग्रन्थों का लेखक निश्चित ही बहुक्षेत्रीय प्रतिभा का व्यक्ति था। विष्णुगुप्त चाणक्य-सदृश प्रखर प्रशासक के लिये कामपरायण कहना तो इतना उपयुक्त नहीं कहाजासकता; तथा उसका यथाज्ञात सादा रहन-सहन भी इसमें साक्ष्य नहीं देता; पर साम्राज्य, सामाजिक एवं शास्त्रीय आदि विविध शाखाओं का कार्यभार उसने जिस क्षमता व सफलता से वहन किया, ऐसे लोककर्त्ता महान व्यक्ति बहुत कम होते हैं। ऐसे उच्च जीवन में भी कहीं किसी स्खलन की सम्भावना होसकती है। यह मानवमात्र के लिये स्वाभाविक है, वह चाहे किसी स्तर का हो।

उक्त तीनों रचनाओं में दो मौलिक रचना हैं–अर्थशास्त्र और कामसूत्र। तीसरी रचना, अन्य मूल ग्रन्थ का भाष्य है। तीसरे ग्रन्थ के कलेवर विभाजन में रचनाकार स्वतन्त्र नहीं है। मूलग्रन्थ का जो विभाजन प्रथमतः विद्यमान है, भाष्यकार उससे बन्धा हुआ है। परन्तु मौलिक रचना में ग्रन्थ कलेवर के विभाजन के लिये वह स्वतन्त्र है। इन दोनों ग्रन्थों का कलेवर-विभाजन पूर्णरूप से समान है। इस आधार पर इन दो ग्रन्थों [अर्थशास्त्र, कामशास्त्र] का अभिन्न रचयिता प्रमाणित होता है।

कौटलीय अर्थशास्त्र और न्यायसूत्रभाष्य के अभिन्न रचयिता होने में इन ग्रन्थों की आन्तरिक साक्षी के अनुसार कतिपय प्रमाण प्रस्तुत हैं—

(१) कौटलीय अर्थशास्त्र [२।१०।२२] में वाक्य का लक्षण किया है–'पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ'। पद द्वारा अर्थबोध में संकेत [समय] को कारण बताने का विवरण देते हुए गौतमसूत्र [२।१।५५] के भाष्य में वाक्य का स्वरूप इसी आनुपूर्वी के साथ प्रस्तुत किया है। जो दोनों ग्रन्थों के एक रचयिता होने का द्योतक है। भाष्य में इसका उद्धरणरूप नहीं है। साधारण भाषाप्रवाह में उल्लेख है।

(२) कौटलीय अर्थशास्त्र के विद्यासमुद्देश प्रकरण [१।२।१२] में आन्वीक्षिकी विद्या की प्रशंसा करते हुए बताया है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

न्यायदर्शन प्रथमसूत्रभाष्य के अन्त में–आन्वीक्षिकी विद्या का विवरण देने के अनन्तर भाष्यकार लिखता है—

"सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना----
प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्त्तिता ॥

यहाँ 'प्रकीर्त्तिता' का कर्तृपद 'अस्माभिः' अथवा 'मया कौटल्येन वात्स्यायनेन वा' इसरूप में अध्याहार करना उपयुक्त प्रतीत होता है । यद्यपि भिन्नकर्त्ता होने पर भी क्रियासमन्वय में कोई बाधा नहीं है; तथापि उक्त प्रसंग में भाष्य की लेखनशैली इस तथ्य को स्पष्ट करने में सहयोगी है । जिससे यह ध्वनित होता है, कि विद्योद्देश प्रकरण [कौटलीय अर्थशास्त्र] में हमने आन्वीक्षिकी विद्या के विषय में ऐसा कहा है ।

(३) कौटलीय अर्थशास्त्र में अन्तिम पञ्चदश अधिकरण 'तन्त्रयुक्ति' नामक है । न्यायदर्शन के चौथे सूत्र की व्याख्या में प्रत्यक्ष लक्षण का उपसंहार करते हुए भाष्यकार ने प्रत्यक्ष में मन को कारण बताकर सूत्रगत 'इन्द्रिय' पद से उसका ग्रहण किया है । परन्तु समस्त न्यायदर्शन में इन्द्रियों के अन्तर्गत मन की गणना कहीं नहीं कीगई; न स्वतन्त्ररूप से मन को कहीं इन्द्रिय बताया है । इसका समाधान भाष्यकार ने किया है–अन्य शास्त्र में मन को इन्द्रिय बतायागया है, और हमने उसका प्रतिषेध नहीं किया । तन्त्रयुक्ति में हमने लिखा है–दूसरे के वाक्य का यदि प्रतिषेध नहीं किया है, तो वह अपने लिये अनुमत [स्वीकृत] होता है । भाष्यकार का यहाँ उल्लेख है–'परमतमप्रतिद्धिमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः ।' यह प्रसंग दोनों ग्रन्थों [न्यायभाष्य और अर्थशास्त्र] के समानकर्त्तृक होने पर अच्छा प्रकाश डालता है ।

(४) कौटलीय अर्थशास्त्र के विद्यासमुद्देश नामक प्रारम्भिक द्वितीय अध्याय में अन्य मतों से विद्या की विभिन्न विधाओं का उल्लेख कर ग्रन्थकार बलपूर्वक लिखता है–'चतस्र एव विद्या इति कौटल्यः' [१।२।८] कौटल्य निश्चितरूप से विद्या की चार विधा [प्रकार] मानता है । इसी तथ्य का उपपादन न्यायभाष्यकार ने प्रथम सूत्र के भाष्य में विस्तारपूर्वक किया है । अन्य विकल्पों के रहते हुए, एक निर्धारित अर्थ का दो रचनाओं में समानरूप से कथन होना, दोनों की समानकर्त्तृकता को स्पष्ट करता है ।

(५) विद्या की चार विधाओं की गणना कौटलीय अर्थशास्त्र में इसप्रकार की है–'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः' [१।२।१] । आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत किनका समावेश है ? यह आगे सन्दर्भ में बताया–'सांख्यं योगो लोकायातं चेत्यान्वीक्षिकी' [१।२।१०] । इस सन्दर्भ में सांख्य और लोकायत पद स्पष्ट हैं । 'योग' पद के विषय में विचार अपेक्षित है । सुदर्शनाचार्य ने इसके भाव

को न समझते हुए इस सूत्र के 'आन्वीक्षिकी' प्रथमान्त पद को बदल, सप्तम्यन्त मानकर इसकी संगति के लिये दुरूह प्रयास किया है। अगले सन्दर्भ के सप्तम्यन्त पदों के साथ समानता दिखाकर प्रस्तुत सन्दर्भ का अर्थ किया है—आन्वीक्षिकी में अर्थात् न्यायशास्त्र में सांख्य, योग और लोकायत मतों का विवरण यत्र-तत्र प्रस्तुत कियागया है। वस्तुतः प्रस्तुत सन्दर्भ में आन्वीक्षिकी के प्रस्थानों का उल्लेख है। सांख्य, योग, लोकायत ये आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत आते हैं। तात्पर्य है—ये प्रस्थानत्रय आन्वीक्षिकी का रूप हैं। अतः प्रथमान्त पाठ यहाँ सर्वथा उपयुक्त है।

अगले सन्दर्भों में त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति विद्याओं के अपने प्रतिपाद्य विषयों का उल्लेख है। इसलिये वहाँ सप्तम्यन्त पाठ ही उपयुक्त है।

प्रकृत सन्दर्भ मे 'योग' पद का अर्थ—'सांख्यं योगो लोकायतं' सन्दर्भ में 'सांख्य' पद के सान्निध्य से प्रायः प्रत्येक व्यक्ति 'योग' पद का अर्थ पातञ्जल योगदर्शन समझ लेता है। अनायास पाठक का विचार उधर को आकृष्ट होजाता है। परन्तु अर्थशास्त्रकार ने 'योग' पद का प्रयोग यहाँ 'वैशेषिक' दर्शन के लिये किया है। क्योंकि न्याय उसका समान तन्त्र है, अतः ग्रन्थकार के अभिप्राय से यहाँ 'योग' पद न्याय-वैशेषिक दोनों का संग्रह करता है। इसलिये उक्त सन्दर्भ का अर्थ होता है—सांख्य, न्याय, वैशेषिक और लोकायत यह आन्वीक्षिकी है। ये सब प्रस्थान आन्वीक्षिकी विद्या का विवरण प्रस्तुत करते हैं। न्याय-वैशेषिक के लिये 'योग' पद का प्रयोग केवल इसी ग्रन्थकार ने अपनी रचनाओं में किया है। उक्त अर्थ में इस पद का प्रयोग अन्यत्र नहीं देखागया।

ठीक इसी अर्थ में इस पद का प्रयोग गौमतीय न्याय-सूत्र के भाष्य में भी उपलब्ध होता है। सिद्धान्त-विवरण प्रसंग में प्रतितन्त्रसिद्धान्त [१।१।२९] का उदाहरण देते हुए भाष्यकार ने लिखा है—

> **"न असत आत्मलाभः, न सत आत्महानम्, निरतिशयाश्चेतनाः, देहेन्द्रिय-मनस्सु विषयेषु तत्कारणे च विशेष इति सांख्यानाम्।**
> **पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च, स्वगुणविशिष्टा-श्चेतनाः, असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यते इति योगानाम्।"**

दर्शन का प्रत्येक अध्येता यह स्पष्ट देखसकता है, कि 'योग' पद से जो सिद्धान्त यहाँ उल्लिखित है, वह वैशेषिक व न्याय का है। इससे निर्बाध यह परिणाम निकलता है, कि अर्थशास्त्रकार और न्यायसूत्र-भाष्यकार अभिन्न व्यक्ति है; जिसने अपनी दोनों रचनाओं में 'योग' पद का प्रयोग समान अर्थ में किया है। जबकि किसी अन्य आचार्य के द्वारा इस पद का प्रयोग उक्त अर्थ में कियागया नहीं देखाजाता। यह इन दोनों रचनाओं के एककर्तृक होने में सुपुष्ट प्रमाण है।

सुदर्शनाचार्य ने भाष्य के उक्त सन्दर्भ की व्याख्या के प्रसंग में भाष्यकार को 'प्रमादकारी' लिखा है। यदि गम्भीर दृष्टि से विचार कियाजाय, तो यह प्रमाद का प्रभाव अन्यत्र ही कहीं दिखाई देता है। भाष्य के अनेक प्रसंगों की यथार्थता को न समझकर सुदर्शनाचार्य ने इसी प्रकार भाष्यकार वात्स्यायन को कामुक प्रमादी बताया है, जो वस्तुत: शोच्य व चिन्त्य है।

'योग' पद का प्रवृत्तिनिमित्त—अभ्यास और प्रचार-प्रसार वश 'योग' पद से केवल पातञ्जल योगदर्शन का ग्रहण होता है, जो सर्वथा युक्त है। व्याकरण के अनुसार 'योग' पद की निष्पत्ति दो धातुओं से होती है–एक 'युज समाधौ' और दूसरी-'युजिर् योगे' से। प्रथम धातु से निष्पन्न 'योग' पद पातञ्जल योग-दर्शन के लिये निश्चित है। दूसरी धातु का अर्थ-निर्देश जिस पद से कियागया है, वह उसी [युजिर्] धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ होता है–दो वस्तुओं का जुड़ना। वैशेषिक और न्यायदर्शन क्योंकि **परमाणुओं के जुड़ने से अर्थात् योग** (-संयोग) से नवीन अर्थ की उत्पत्ति **के सिद्धान्त को मानते हैं; इसलिये उनके** लिये 'योग' पद का प्रयोग साधार एवं समञ्जस है।

वस्तुत: यह एक विशिष्ट प्रयोग है, सर्वसाधारण प्रयोग नहीं। उक्त **अर्थ** के लिये इस पद का प्रयोग अन्य किसी आचार्य के द्वारा कियागया, अभी तक हमारी दृष्टि में नहीं आया, इसलिये इस विशिष्ट प्रयोग का दोनों ग्रन्थों में प्रयोग करने वाला एक व्यक्ति होना सम्भव है।

अर्थशास्त्र के जिस सन्दर्भ में इस पद का प्रयोग है; वहाँ प्रयोक्ता की भावना आन्वीक्षिकी-प्रस्थान में न्याय आदि का ग्रहण करने की प्रतीत होती है। इसी के फलस्वरूप प्रथम न्याय-सूत्र के भाष्य में बड़े विस्तार के साथ न्याय का आन्वीक्षिकी के रूप में उपपादन हुआ है। यदि आन्वीक्षिकी में वहाँ न्याय का समावेश न होता, तो यहाँ का उपपादन निराधार व असमञ्जस होता।

'योग' पद और द्विवेदी—वात्स्यायन भाष्य के 'योग' पद के विषय में विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी महोदय ने भी गोता खाया है। द्विवेदी ने सुझाव दिया है–उक्त पद से-शिवसंहिता आदि के कर्त्ता शिव, योगी याज्ञवल्क्य, अथवा 'योगवासिष्ठ' के कर्त्ता वसिष्ठ आदि का–ग्रहण क्यों न कियाजाय? द्विवेदी की इस प्रश्नमूलक व्यङ्ग्योक्ति का तो सीधा समाधान है, कि योग पद से यहाँ शिवसंहिताकार आदि किसी का ग्रहण इसलिये नहीं होसकता; क्योंकि इनमें से किसी की भी मान्यता के अन्तर्गत उन सिद्धान्तों का समावेश नहीं होता, जो योग-पद सान्निध्य में यहाँ निर्दिष्ट है।

न्यायसूत्रभाष्यकार का देश व काल–उक्त विवरण से इतना स्पष्ट होजाता है, कि कौटलीय अर्थशास्त्र का प्रणेता विष्णुगुप्त चाणक्य ही अपने गोत्र नाम वात्स्यायन से जानाजाता रहा है। वही व्यक्ति न्यायसूत्रभाष्य का रचयिता है।

भाष्य में कतिपय संकेत[1] ऐसे उपलब्ध हैं, जिनसे सम्भावना होती है, इस व्यक्ति की जन्मभूमि मिथिला प्रदेश रहा होगा।

वात्स्यायन का शिक्षाकेन्द्र–यह महापुरुष विविध शास्त्रों का पारंगत विद्वान् था। अध्यापन ही इसका मुख्य कार्य था। इसके सौकर्य के लिये वात्स्यायन की देख-रेख में एक विशाल शिक्षाकेन्द्र का सञ्चालन होता था। इस शिक्षाकेन्द्र का प्रधान आचार्य वह स्वयं था! निस्सन्देह अन्य अनेक-विभिन्न शास्त्रों के आचार्य वहाँ अवश्य रहे होंगे। नन्द साम्राज्य के उच्छेद के अवसर पर उनमें से अनेक ने उस कार्य में चाणक्य वात्स्यायन को सक्रिय सहयोग प्रदान किया; इसके संकेत विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक में मिलते हैं। ऐसे व्यक्तियों में एक विशिष्ट व्यक्ति विष्णुशर्मा नाम का था, जो–अधिक सम्भव है, उक्त शिक्षाकेन्द्र में राजनीति एवं गुप्तसंस्था अथवा गूढपुरुष शिक्षण विभाग का शिक्षक रहा होगा। मुद्राराक्षस वर्णित विवरणों से स्पष्ट होता है–इसने युद्ध के अवसर पर गुप्तचर-कार्य द्वारा नेता को अद्भुत सक्रिय सहयोग प्रदान किया था। प्रतीत होता है, युद्ध के अनन्तर मौर्य साम्राज्य की निर्बाध व्यवस्था सम्पन्न हो जाने पर इसी व्यक्ति ने पुनः शिक्षाकेन्द्र के कार्य करते हुए 'पञ्चतन्त्र' नामक राजनीनि ग्रन्थ की रचना की। सम्भव है, उस समय किशोर अवस्था के बालकों को प्रारम्भिक श्रेणियों से ही राजनीति की शिक्षा के लिये यह ग्रन्थ पाठ्यक्रम में नियत रहा हो।

मौर्य साम्राज्य के प्रधान मन्त्रित्व काल में भी विष्णुगुप्त वात्स्यायन का शिक्षाकेन्द्र पूर्ववत् संचालित था, ऐसे संकेत[2] मुद्राराक्षस नाटक में मिलते हैं। वस्तुतः साम्राज्य के सञ्चालन में वात्स्यायन का सीधा सम्पर्क न था, आड़े वक्त सलाह-मशविरा, सुझाव व मार्गदर्शन के लिये उसका सहयोग लियाजाता था। कौटल्य विष्णुगुप्त ने अपने कूटनीतिक प्रभाव से नन्दराज्य के पुराने प्रधान मन्त्री को ही उसी पद से साम्राज्य का सञ्चालन करने के लिये पटालिया था।

वात्स्यायन का काल–विष्णुगुप्त कौटल्य व वात्स्यायन की अभिन्नता होने पर मौर्य चन्द्रगुप्त का काल ही वात्स्यायन का काल मानाजासकता है। आधुनिक पाश्चात्य लेखकों ने मौर्य चन्द्रगुप्त का मकदूनिया के सिकन्दर [एलेकजेंडर]

---

१. द्रष्टव्य न्यायसूत्र [२।१।३७] के भाष्य में वर्षा ऋतु का नदी-वर्णन। ऐसा वर्णन–पर्वतीय जंगलों के मध्य से मैदान में उतरती–नदियों का सम्भव है, जो मिथिला प्रदेश में होना स्वाभाविक है। इसी प्रसंग में [५।२।१०] सूत्र का भाष्य भी द्रष्टव्य है।

२. प्रधान मन्त्री के विभूतिवर्णन प्रसंग में–'वटुभिरूपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः' पद ध्यान देने योग्य हैं। ये वटु शिक्षाकेन्द्र के छात्र होसकते हैं।

के साथ गठ-जोड़ करके उसका काल जो ख्रीस्ट सम्वत् प्रारम्भ होने से ३२५ वर्ष के लगभग पूर्व माना है, वह भारतीय इतिवृत्त के तिथिलेखानुसार नितान्त अशुद्ध है। पाश्चात्य लेखकों ने किन्ही भ्रान्तियों के आधार उस काल के भारतीय इतिहास में लगभग बारह सौ वर्ष का घोटाला खड़ा कर दिया है। पाश्चात्य लेखकों द्वारा बताये मौर्य चन्द्रगुप्त काल में बारह सौ वर्ष और जोड़कर भारतीय इतिहास-लेखा के अनुसार मौर्य का काल–विक्रम संवत् प्रारम्भ होने से–लगभग पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व आता है। वही काल वात्स्यायन का सम्भव है।

मौर्यकाल-परीक्षा का अवसर उपयुक्त न होने से उसकी यहाँ उपेक्षा कर दी है। केवल परीक्षा के परिणाम का यहाँ निर्देश किया है। 'मगध राजवंश वर्णन' के प्रसंग में इसकी विस्तृत विवेचना कियेजाने का संकल्प है। प्रभु की कृपा बनी रही, तो वह सम्पन्न होगा।

उद्योतकर

[वात्स्यायन भाष्य पर वार्तिककार]

गौतमीय न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन ने भाष्य लिखा। उस भाष्य पर उद्योतकर ने वार्त्तिक लिखा, जो आज 'न्यायवार्त्तिक' नाम से उपलब्ध व प्रसिद्ध है।

वार्त्तिककार का नाम—वार्त्तिक के प्रणेता आचार्य का नाम न्यायवार्त्तिक पुस्तक में निम्नप्रकार उपलब्ध होता है—

आरम्भिक तीन न्यायसूत्रों के भाष्य पर वार्त्तिक लेखन पूर्ण होजाने पर कतिपय प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में त्रिसूत्री–वार्त्तिक समाप्ति का द्योतक निम्न पाठ मिलता है—

'इति श्रीपरमर्षिभारद्वाजश्रीमदुद्योतकरन्यायाचार्यप्रणीतन्यायत्रिसूत्रीवार्त्तिकं सम्पूर्णम्।'[1]

कतिपय प्रतियों में 'इति त्रिसूत्रीवार्त्तिकम्' इतना ही निर्देश है।

न्यायवार्त्तिक के अन्त में वार्त्तिककार ने स्वयं लिखा है—

यदक्षयादप्रतिभो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ।
अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्त्तिकम्॥

साक्षात् अक्षपाद–गौतम के समान प्रतिभावान् वात्स्यायन ने भाष्य का ग्रथन किया। उस महान भाष्य का वार्त्तिक भारद्वाज ने रचा।

वार्त्तिक के अन्त में ग्रन्थसमाप्तिद्योतक जो पुष्पिका दीगई है, उसका पाठ निम्न प्रकार है—

'इति श्रीपरमर्षिभारद्वाजपाशुपताचार्यश्रीमदुद्द्योतकरकृतौ न्यायवार्त्तिके पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः।'

यह लेख त्रिसूत्रीवार्त्तिक के अन्त में उपलब्ध लेख के साथ पूर्ण समानता रखता है।

इन निर्देशों से ज्ञात होता है, वार्त्तिककार का नाम–'भारद्वाज उद्योतकर पाशुपताचार्य' है। इनमें पहला पद गोत्र का द्योतक सम्भव है। विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी ने न्यायवार्त्तिक की भूमिका में इसको सांस्कारिक नाम स्वीकार किया

---

१. सन् १९१६ ईसवी में 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज़' काशी से प्रकाशित न्याय-वार्त्तिक संस्करण के आधार पर। पृ० ३०।

प्रतीत होता है।[1] सम्भव है–यह सांस्कारिक नाम हो; परन्तु हमारी भावना यही है, कि यह गोत्र नाम होना अधिक सम्भव है। इसका आंशिक स्पष्टीकरण उद्योतकर के देश-विचार प्रसंग में कियागया है।

अन्तिम पद 'पाशुपताचार्य' उसके धार्मिक व दार्शनिक सम्प्रदाय का द्योतक है। यह नाम का कोई भाग नहीं है। केवल सम्प्रदाय के मूर्द्धन्य एवं प्रतिष्ठित आचार्य होने का निर्देश करता है।

'उद्योतकर' पद नाम का भाग प्रतीत होता है। पर यह पारिवारिक नाम प्रतीत होता है, सांस्कारिक नाम नहीं।

उद्योतकर का देश—इस नाम के आधार पर ऐसा आभास होता है, कि कदाचित् इसका जन्मस्थान महाराष्ट्र प्रदेश में कोई स्थान रहा हो; अथवा इसके पूर्वज महाराष्ट्र देश से बाहर जाकर कहीं बसगये हों; पर यह नाम महाराष्ट्र-परिवार का–जैसा प्रतीत होता है। महाराष्ट्र में पूर्वजों के अभिजन-स्थान के नाम पर परिवार का नाम रक्खेजाने की प्रथा है। इसके अनुसार कतिपय नाम इसप्रकार हैं–हचोलीकर, खर्डीकर, सावरकर, सातवलेकर, करन्दीकर, काकोडकर, चापेकर, चिपणूनकर आदि। अन्य भी अनेक नाम इसी रीति पर हैं, स्मृत नाम लिख दिये हैं। इसी पद्धति का नाम 'उद्योतकर' है। ये सभी अभिजन-द्योतक पारिवारिक नाम हैं। इन सबके सांस्कारिक नाम अन्य हैं। यदि यह बात ठीक मानीजाती है, तो आज हमें वार्त्तिककार उद्योतकर के सांस्कारिक नाम के विषय में कुछ जानकारी नहीं है, यह मानना होगा।

उद्योतकर को महाराष्ट्र देश अथवा परिवार का मानेजाने पर उसका सांस्कारिक नाम 'भारद्वाज' हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। महाराष्ट्र की प्रथा है, सांस्कारिक नाम के साथ पिता का नाम जोड़कर बोलाजाता है। ऊपर सातवलेकर नामक महानुभाव हमारे जीवनकाल में रहे हैं। उनका सांस्कारिक नाम 'श्रीपाद दामोदर' था। श्रीपाद उनका अपना नाम, दामोदर पिता का नाम। ऐसे ही उपर्युक्त 'हचोलीकर' महानुभाव से हमारा पर्याप्त समीप सम्पर्क रहा। उनका पूरा नाम 'नरसिंहराव भीमराव हचोलीकर' है। इसमें नरसिंहराव उनका अपना नाम, भीमराव पिता का नाम, और हचोलीकर पारिवारिक नाम है। इसीप्रकार अनन्त भास्कर खर्डीकर है। 'अनन्त' पुत्र का नाम, 'भास्कर' पिता का नाम; खर्डीकर पारिवारिक नाम। इस रीति पर 'उद्योतकर' के साथ 'भारद्वाज' सांस्कारिक नाम रहा हो, यह समीकृत नहीं होता। फलतः 'भारद्वाज' को गोत्र नाम समझना अधिक युक्त प्रतीत होता है।

---

१. न्यायवार्त्तिक, भूमिका, पृ० १३५। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस से सन् १९१६ ई० में प्रकाशित संस्करण।

इस विषय में यह ध्यान देने की बात है–उत्तरभारत तथा विशेषकर इस प्रदेश में सांस्कारिक नाम ऐसे रक्खेजाते हैं, जिनका समीकरण 'उद्योतकर' के साथ कियाजासकता है। वे नाम हैं–दिवाकर, प्रभाकर, सुधाकर, विभाकर, रत्नाकर, करुणाकर आदि। यदि 'उद्योतकर' को इसी रीति पर सांस्कारिक नाम समझाजाता है, तो उसके देश के विषय में और अधिक विचार करना अपेक्षित होगा।

कतिपय लेखकों की कल्पना है–उद्योतकर के साथ 'पाशुपताचार्य' विशेषण होने से इसका जन्मस्थान काश्मीर रहा होगा। वहाँ शैवागम का प्राधान्य रहा है। पाशुपत सम्प्रदाय शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत समझाजाता है। परन्तु यह विचार युक्त प्रतीत नहीं होता। पाशुपत सम्प्रदाय के आचार्य कहीं भी अन्यत्र रहसकते हैं। ऐसा कोई प्रमाण नहीं, जिससे शैव या पाशुपत सम्प्रदाय को काश्मीर में सीमित करदियाजाय। ऐसा भी कोई प्रमाण नहीं, जिससे यह सिद्ध होता हो, कि दक्षिण भारत में इन सम्प्रदायों का प्राबल्य नहीं रहा। सायण, श्रीकण्ठ आदि आचार्य दक्षिण में हुए हैं। दक्षिणी भारत में इसकी प्रबल मान्यता रही है; भगवान् शंकर आचार्य और उनके स्थापित धार्मिक केन्द्र इसके आज भी प्रबल प्रमाण हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात और है– काश्मीर के विद्वानों के नाम कुछ अन्य रीति पर ही अधिक प्रसिद्ध सुनेजाते हैं–उव्वट, कैयट, मम्मट, जैयट, जज्जट–आदि। सम्भव है, कोई झंझट भी रहा हो। विद्वानों की इस कड़ी में 'उद्योतकर' नाम चस्पाँ नहीं होपाता।

विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी ने गौतम, वात्स्यायन, वाचस्पति मिश्र आदि न्यायाचार्यों के समान उद्योतकर को भी मिथिला प्रदेश का व्यक्ति माना है। द्विवेदी ने कहा है–जब पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती सब न्यायाचार्य प्रायः मिथिला देशवासी हैं, तो इनके मध्यकाल का उद्योतकर भी मैथिल क्यों न मानाजाय[1] ?

इस युक्ति को देखकर छात्रावस्था का एक स्मरण उभर आया। अध्ययन अवसर पर मनोरञ्जन के लिये एक प्रासंगिक कथा गुरुजी ने सुनाई–एक भक्त ने अपने गुरु वैरागी महाराज से पूछा–महाराज ! रावण शब्द का शुद्ध उच्चारण क्या है। इसे कोई राबण बोलता है, कोई रामण कहता है, कुछ लोग रावण ही ठीक बताते हैं ? वैरागी महाराज ने कुछ सोचकर कहा–बच्चा ! ये तीनों उच्चारण–जो तुमने कहे–अशुद्ध हैं। इसका शुद्ध उच्चारण 'राभण' है। देखो, कुम्भकर्ण के नाम में 'भ' है; विभीषण के नाम में भी 'भ' है; जब तीनों भाईयों में से दो के नाम में साफ 'भ' है; तब उनके बीच में तीसरे भाई के नाम में

---

१. न्यायवार्त्तिक भूमिका, पृष्ठ १३६। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस; सन् १९१६ ई० का संस्करण।

'भ' क्यों न मानाजाय ? यह कोई युक्ति नहीं है, कि गौतम आदि पूर्ववर्त्ती और वाचस्पति आदि परवर्त्ती आचार्य मैथिल थे, तो प्रत्येक न्यायाचार्य मैथिल ही होना चाहिये। क्या अन्यत्र न्यायाचार्य होना असम्भव है ?

ऐसा प्रतीत होता है–कदाचित् 'उद्योतकर' का मूल नाम पद, देशीय भाषा के अनुरूप 'उदोतकर' अथवा 'उडोतकर' या 'उदोटकर' जैसा नाम रहा हो; और उसे विद्वान् वार्त्तिककार ने संस्कृतरूप देदिया हो। यह खोज का विषय है– महाराष्ट्र परिवारों में इससे मिलते-जुलते नाम का वर्त्तमान में कोई परिवार है, या नहीं ? खोज करने पर सम्भवतः ऐसा परिवार मिल जाय।

वार्त्तिककार का काल—वार्त्तिककार के काल के विषय में कोई स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नहीं है। केवल बाह्य साक्षियों के आधार पर यथाकथञ्चित् काल का अनुमान कियाजाना एकमात्र साधन है।

न्यायवार्त्तिक के उपक्रम और उपसंहार में उद्योतकर ने जो भावना अभिव्यक्त की है, उसका सार केवल इतना है–मुनिश्रेष्ठ अक्षपाद ने मानवमात्र को शान्ति-प्राप्ति के लिये शास्त्र का प्रवचन किया। अक्षपाद के समान प्रतिभावान् वात्स्यायन ने न्यायसूत्रों पर भाष्य लिखा। इन पर कतिपय विचारकों ने–कुत्सित तर्क के आधार पर अज्ञानमूलक–आक्षेप खड़े किये हैं। उनकी निवृत्ति के लिये उस मूल व भाष्यात्मक महान शास्त्र पर यह वार्त्तिकरूप विस्तृत निबन्ध लिखागया है।

यदि पूर्व-निर्देशानुसार यह स्वीकार कियाजाता है, कि वात्स्यायन, विष्णुगुप्त चाणक्य का अपर नाम है, तो भारतीय तिथिलेखा के अनुसार वात्स्यायन, मगध सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालिक होने से विक्रमपूर्व, पन्द्रहवीं शती में उसका काल आता है। उस समय लिखेगये न्यायसूत्र-भाष्य पर आनेवाली शताब्दियों में बौद्ध दार्शनिकों द्वारा आगे-पीछे आक्षेप चलते रहे। वार्त्तिक की रचना होने तक इस अन्तराल में कितना समय बीता होगा, यह कहना कठिन है। यह काल सैकड़ों वर्ष से लेकर हज़ार वर्ष तक भी हो सकता है। शीघ्रगामी यातायात साधनों के अभाव में तब ऐसी प्रभावपूर्ण शास्त्रीय चर्चाएँ कभी कालान्तर में होती थीं। प्रायः वह सब मौखिकरूप रहती थीं। प्रतीत होता है, लम्बे समय तक किसी ने उनपर लिखने की ओर ध्यान नहीं दिया। पर बौद्ध विद्वानों ने जब उन आक्षेपों को लिपिबद्ध किया; और पठन-पाठन आदि द्वारा उनका प्रचार-प्रसार इस सीमा पर पहुँचगया, कि उनके समाधान का प्रयास होना चाहिये। अन्यथा कहीं ऐसा न हो, कि इस प्रमाणशास्त्र का–उन बाधाओं से पराहत होकर कालान्तर में–विलोप ही होजाय। ऐसी स्थिति आने में अनेक शतियों का समय लग सकता है। ऐसे अवसर पर इन आक्षेपों की विवेचना के लिये लिपिबद्धरूप में उद्योतकर का यह प्रयास था।

उद्योनकर के वार्त्तिक पर–कालान्तर में उसके विवरण तथा उसमें उपपादित सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये वाचस्पति मिश्र द्वारा–तात्पर्यटीका लिखीगई। वाचस्पति का काल निर्भ्रान्तरूप में पूर्णतया निर्धारित है—८९८ विक्रमी संवत्। अर्थात् ८४१ ईसवी सन् का पूर्वापर काल। वात्स्यायन और वाचस्पति के अन्तराल काल में उद्योतकर का होना सम्भव है। परन्तु यह काल बहुत लम्बा है, लगभग बाईस सौ वर्ष का। अधिक निश्चय के लिये इसका सीमित कियाजाना आवश्यक है।

इसके लिये आद्य आचार्य शंकर के काल की ओर ध्यान देना होगा। आचार्य के मठों में सुरक्षित इतिवृत्त-सामग्री के आधार पर आचार्य का जन्म ५०९ ईसा पूर्व में हुआ। कुमारिल, आचार्य से पूर्व-समकालिक है। कुमारिल से कुछ पूर्व विन्ध्यवासी रुद्रिल है। विन्ध्यवासी से थोड़ा पूर्व ईश्वरकृष्ण का काल है। ईश्वर-कृष्ण को आचार्य शंकर ने अपनी रचनाओं में स्मरण किया है। इसके विपरीत उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक में जहाँ सांख्य का प्रसंग आया है, वहाँ कहीं भी ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवासी को स्मरण नहीं किया गया। प्रमाण आदि के लक्षण प्रसंग में वार्षगण्य का संकेत मानागया है। वार्त्तिक के अन्य किसी प्रसंग में भी इनका संकेत उपलब्ध नहीं होता।

फल परीक्षा प्रकरण [४।१।४४-५३] में सत्कार्य-असत्कार्यवाद का प्रसंग आने पर वात्स्यायन भाष्य के अनुसार वार्त्तिककार उद्योतकर ने भी सत्कार्य की सिद्धि के लिये सांख्यषडध्यायी के सूत्र[१] [१।८०] 'उपादाननियमात्' का उल्लेख किया है। इससे अनुमान होता है, उद्योतकर का काल ईश्वरकृष्ण से पहले होना चाहिये, जो ईसापूर्व ६५० वर्ष के आस-पास आता है।[२]

---

१. यह सूत्र संख्या संस्थान से प्रकाशित सांख्य दर्शन के अनुसार है। इसमें ३५ जोड़कर [१।११५] संख्या पर किसी भी अन्य संस्करण में सूत्र देखा जासकता है।

२. भारतीय इतिहास के विषय में पाश्चात्य लेखकों ने जो लिखा है, उसका पर्याप्त भाग पुनः संशोधन की अपेक्षा रखता है। इस दिशा में आंशिक विवेचन हमने 'वेदान्तदर्शन का इतिहास' नामक रचना में किया है।

पाणिनि

[व्याकरणशास्त्र-प्रणेता]

पाणिनि के विषय में आधुनिक विद्वानों के विविध प्रकार के विचार पायेजाते हैं। अन्य प्राचीन आचार्यों के काल के समान पाणिनि के काल का भी अभी तक पूर्ण निश्चय नहीं कियाजासका। इसके अन्य कारण कुछ भी हों, पर एक मुख्य कारण यह भी प्रतीत होता है, कि आधुनिक लेखक प्राचीन भारतीय तिथिलेखा, तथा जिसके काल-निर्णय के लिये ये प्रयास करते हैं, उसके आन्तरिक सिद्धान्त एवं अन्य तत्सम्बन्धी भारतीय मर्यादाओं की प्रायः उपेक्षा करदेते हैं। निश्चित है, ऐसी स्थिति में उस प्रयास का परिणाम तथ्य के अनुकूल नहीं निकलपाता। कभी-कभी तो यथार्थ में इतना व्यतिक्रम होजाता है, कि उस परिणाम पर आश्चर्य होता है। कोई भी प्रतिभावान् व्यक्ति ऐसे परिणामों को अविश्वसनीयता की कोटि में लाने के लिये बाध्य होजाता है।

आचार्य का नाम—आचार्य का पाणिनि नाम प्रसिद्ध है। यह आचार्य 'मुनि' कोटि का समझाजाता है। उसका प्रणीत शास्त्र उसके गहन मनन-चिन्तन व असीम बौद्धिक श्रम का अन्तिम परिणतिरूप समझना चाहिये। आचार्य का 'पाणिनि' नाम सांस्कारिक प्रतीत होता है। लोकप्रसिद्ध नाम यही है। आचार्य के अन्य नामों का भी शास्त्रीय प्रसंगों में प्रयोग देखाजाता है। ये नाम हैं—दाक्षीपुत्र, शा (सा) लातुरीय, पाणिनि, शालङ्कि,[1] आहिक।

'पाणिनि' नाम पद को आचार्यों ने निर्वचन के आधार पर गोत्रापत्य प्रत्ययान्त माना है, जिसके मूलपद 'पणिन्' अथवा 'पणिन' हैं। तब आचार्य का सांस्कारिक नाम क्या रहा होगा? कहा नहीं जासकता। दाक्षीपुत्र नाम मातृपक्ष के आधार पर तथा शा (सा) लातुरीय जन्मस्थान के आधार पर कहाजासकता है। इन पृष्ठों में पाणिनि काल का विशेष निर्देश अपेक्षित है, अतः नामप्रसंग को यहीं छोड़ा जाता है।[2]

---

१. 'पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुत्रः शालङ्किपाणिनौ। शालोत्तरीयः…' त्रिकाण्डशेष कोष।
'शालातुरीयको दाक्षीपुत्रः पाणिनिराहिकः' वैजयन्ती कोष।

२. जो सज्जन नामों के विषय में विशेष विवरण जानना चाहें, वे युधिष्ठिर मीमांसक प्रणीत—'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग, पृष्ठ १७४ से १७८ तक में देखसकते हैं।

पाणिनि काल—आधुनिक इतिहास-लेखकों ने पाणिनि का प्रादुर्भावकाल विक्रम संवत् प्रारम्भ होने से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व माना है। इसके लिये उन्होंने पाणिनीय व्याकरण की अन्तःसाक्षियों के आधार पर कतिपय हेतुओं की कल्पना कर पर्याप्त चर्चा चलाई है।

अष्टाध्यायी में बौद्ध-पारिभाषिक पद-प्रयोग—उक्त लेखकों का विचार है-अष्टाध्यायी में- बौद्ध साहित्य के अनेक पारिभाषिक पदों का-पाणिनि ने प्रयोग किया है। उनमें कतिपय पद है-श्रमण, निर्वाण, मस्करी, चीवर आदि, इस आधार पर कहाजासकता है-पाणिनि का काल निश्चित ही बुद्ध के अनन्तर होना चाहिये।

इस कथन की परीक्षा के लिये दो मार्ग सन्मुख हैं-(१) बुद्ध प्रादुर्भाव से पूर्व उक्त पदों का भारतीय वाङ्मय में प्रयोग। (२) अन्य आधारों पर पाणिनिकाल-निर्णय। प्रथम मार्ग पर विवेचन प्रस्तुत है—

श्रमण-पद—वैदिक वाङ्मय में इस पद का प्रयोग देखाजाता है[1]। निश्चित ही यह साहित्य बुद्धप्रादुर्भाव-काल से सहस्राधिक वर्ष पूर्व है। इस पद का वैदिक व बौद्ध साहित्य में समानार्थक प्रयोग होता है। इसीप्रकार इसके पर्याय संन्यासी व परिव्राजक आदि पदों का। कहीं एक पद का अधिक प्रयोग है, कहीं अन्य का। इसका यह परिणाम कदापि सम्भव नहीं, कि इस पद का उक्त अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग बौद्ध साहित्य से प्रारम्भ हुआ।

पाणिनिसूत्र [२।१।७०] में 'श्रमणा' आदि पदों का छोटा-सा गण है। 'कुमार' पद का उनके साथ समास का निर्देश है। गण में पठित जो स्त्रीलिंग पद है-श्रमणा, प्रव्रजिता, कुलटा, गर्भिणी, दासी आदि; उनके साथ स्त्रीलिंग कुमार पद का ही समास होगा। परन्तु गण में जो पुल्लिङ्ग पद है; उनके साथ स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग दोनों कुमार पद का समास होगा। इसके अनुसार 'कुमारी चासौ श्रमणा, कुमारश्रमणा' प्रयोग के आधार पर कुछ लोगों का विचार है, कि कुमारी अवस्था में संन्यासदीक्षा की परम्परा या रीति केवल बौद्ध सम्प्रदाय में देखीजाती है। अतः पाणिनि के ऐसे प्रयोगों पर बौद्ध प्रभाव मानना चाहिये।

उक्त विचार युक्तियुक्त नहीं कहाजासकता। क्या ऐसा विचार रखने वाले विद्वानों ने कभी यह सोचा है, कि इस गण में प्रव्रजिता, कुलटा, गर्भिणी, दासी आदि पद भी पढ़ेगये हैं। क्या ये सब प्रवृत्तियाँ या स्थितियाँ बौद्ध-समाज में ही सम्भव हैं? कुमारी चासौ कुलटा कुमारकुलटा' अथवा 'कुमारी चासौ गर्भिणी कुमारगर्भिणी' आदि प्रयोग बौद्ध समाज को ही लक्ष्य कर लिखेजाने सम्भव हैं?

---

१. द्रष्टव्य-श० ब्रा० १४।७।१।२२॥ तै० आर० २।७।१॥ बौधा० श्रौ० १६।३॥

अन्य मानव समाज में क्या ऐसी स्थितियाँ नहीं आतीं। कोई भी सुविचारक व्यक्ति इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करसकता। ये प्रवृत्तियाँ प्रत्येक समाज में सम्भव हैं। कुमारी का श्रमणा, प्रव्रजिता, कुलटा या गर्भिणी होना केवल बौद्ध समाज में सीमित नहीं है, प्रत्येक समाज में ऐसा होना सम्भव है। इसलिये यह कहना–कि पाणिनि ने यह बौद्ध प्रभाव से लिखा है–नितान्त असंगत है।

यह कहना भी संगत न होगा, कि पाणिनि ने केवल 'श्रमणा' पद बौद्ध प्रभाव से लिया है। गण में 'प्रव्रजिता' पद भी पठित हैं। ये दोनों पद समानार्थक हैं। हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है, जिसके आधार पर यह विवेक कियाजासके, कि ये अथवा इतने पद अमुक समाज से और अन्य पद अन्य समाज से लियेगये हैं। फलतः ये सब प्रयोग बौद्ध साहित्य के प्रभाव के विना ही साधारण समाज में सदा से प्रयुक्त होते रहे हैं। पाणिनि ने उनका ही उल्लेख किया है। केवल 'श्रमणा' पद में बौद्ध-गन्ध सूंघना नितान्त निराधार है।

बुद्धप्रादुर्भावकाल से पहले भी अनेक महिला कुमारी अवस्था से ब्रह्मचारिणी, साध्वी, तपस्विनी आदि रूप में स्मरण कीजाती रही हैं। महात्मा शाण्डिल्य की कन्या का वर्णन महाभारत [शल्य०, ५४ अध्याय] में ऐसा ही उपलब्ध होता है। अन्य भी बहुत-सी ब्रह्मवादिनी महिला–विभिन्न कालों में अध्यात्मचिन्तन में समस्त जीवन बितानेवाली–होती रही हैं। उनमें कुछ नाम इसप्रकार हैं–गार्गी वाचक्नवी, घोषा काक्षीवती, यमी वैवस्वती, अपाला आत्रेयी, शश्वती आङ्गिरसी, रोमशा ब्रह्मवादिनी, सुलभा आदि। इसलिये यह विचार–कि कौमार्य अवस्था में संन्यासदीक्षा ग्रहण करने का समुदाचार केवल बौद्ध समाज में रहा–सर्वथा आधारहीन है।

'ब्राह्मण-श्रमणम्' प्रयोग-मीमांसा—

पाणिनि का एक सूत्र है–'येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः' [२।४।१२]। इस सूत्र के व्याख्या-प्रसंग में भाष्यकार पतञ्जलि ने शाश्वतिक [-नैसर्गिक-स्वाभाविक] विरोध को प्रकट करने के लिये उदाहरण दिया है–'ब्राह्मणश्रमणम्'। इस उदाहरण के आधार पर आधुनिक लेखकों का कहना है, कि इस उदाहरण से पतञ्जलि का अभिप्राय–'श्रमण' पद से बौद्ध सम्प्रदाय, और 'ब्राह्मण' पद से वैदिक आर्य सम्प्रदाय का–प्रकट करना है। किसी समय इन दोनों समाजों का इतना घोर विरोध रहा, जिसको पतञ्जलि ने 'अहि-नकुल' के स्वाभाविक विरोध के समान मानकर उसके उदाहरणरूप में उल्लेख किया। ऐसे सामाजिक विरोध की समता के लिये आज–हिन्दू-मुस्लिम, भारत-चीन, अरब-इसराइल आदि का उदाहरण दियाजासकता है।

यद्यपि इस उदाहरण से पाणिनि के काल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पतञ्जलि के काल पर इसको प्रभावी कहाजासकता है। फिर भी गम्भीरता से विचार करने पर उक्त समास-पद [ब्राह्मणश्रमणम्] से दो सम्प्रदाय या दो समाज-वर्ग के पारस्परिक विरोध के स्वाभाविक होने की स्थिति हवा होजाती है। यह सर्वथा असम्भव है, कि 'अहि-नकुब' [सांप-नेवला] के समान स्वाभाविक विरोध मानव-समाज के किन्हीं दो सम्प्रदाय या वर्गों में होसके। सामाजिक विरोध सदा नैमित्तिक होते हैं। जब ऐसे निमित्त दूर होजाते हैं, तो वह विरोध भी नहीं रहता। पाणिनि की जो भावना सूत्र से अभिव्यक्त है; उसके अनुरूप उदाहरण—अहिनकुलम्, श्वशृगालम् [कुत्ता-गीदड़], उष्ट्रमहिषम् [ऊँट-भैंस], काकोलूकम् [कौवा-उल्लू] आदि ही होसकते हैं।

तब प्रश्न होता है, पतञ्जलि ने यह उदाहरण [-ब्राह्मणश्रमम्] किस आधार पर दिया ? यहाँ शाश्वतिक विरोध का स्वरूप क्या है ? मानव समाज में वह कौन-सी स्थिति सम्भव है, जहाँ शाश्वतिक विरोध स्पष्ट होरहा हो। विचार प्रस्तुत है—

'ब्राह्मण-श्रमणम्' उदाहरण में दूसरा 'श्रमण' पद साधारण रूप से 'संन्यास' अथवा 'चतुर्थ आश्रम' का बोधक हैं। इस समास में पहला 'ब्राह्मण' पद यज्ञादि कर्मानुष्ठान में तत्पर रहने वाले गृहस्थ आश्रम, अथवा द्वितीय आश्रम का बोधक है। मानव समाज के द्वितीय और चतुर्थ आश्रम का शाश्वतिक विरोध उक्त उदाहरण में प्रकट करना अभिप्रेत है। ये दो आश्रम आपस में संपृक्त कभी नहीं चलसकते। यद्यपि आश्रमों की यह स्थिति शास्त्रमूलक होने से मानवकृत है; पर शास्त्रानुसार कभी इनका साथ न रहना, इनको परस्पर शाश्वतिक विरोध की स्थिति तक पहुँचा देता है। यह विरोध आश्रमी व्यक्तियों का नहीं है; केवल दो आश्रमों की परस्पर स्थिति का विरोध है। गृहाश्रम, संन्यासरूप होना असम्भव है, और संन्यास आश्रम, गृहस्थरूप होना। इस उदाहरण की अनुकूलता या उपयुक्तता इसी दशा में समझीजानी चाहिये।

'निर्वाण' पद प्रयोग—

महाभारत आदि ग्रन्थों में इस पद का प्रयोग देखाजाता है। इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है, कि पाणिनि ने इस पद को बौद्ध साहित्य से लेकर अपनी रचना में प्रयोग किया है। वस्तुतः पाणिनि ने जिस अर्थ में इस पद के प्रयोग को सिद्ध किया है, उस अर्थ में इस पद का प्रयोग बौद्ध साहित्य में नहीं देखा-जाता। बौद्ध सम्प्रदाय में इस पद का शुद्ध अर्थ 'मोक्ष' है। परन्तु पाणिनि ने इस पद को 'अवात' अर्थ में निष्पन्न माना है [८।२।५०] 'वात' पद दोष, बाधा अथवा अशान्ति का वाचक है। उससे विपरीत दशा में 'निर्वाण' पद का प्रयोग

कियाजाता है, अथवा पाणिनि को अभिमत है। जैसे–'निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणः प्रदीपः'। अग्नि अथवा प्रदीप शान्त होगया। इसीप्रकार 'निर्वाणो भिक्षुः' उदाहरण में–भिक्षु अर्थात् संन्यासी बाधा एवं दोष आदि से रहित है, शान्ति सम्पन्न है; यही अर्थ अभिहित होता है। इन सब उदाहरणों में साधारण रूप से 'निर्वाण' पद का अर्थ 'शान्त' अवगत होता है। यदि पाणिनि को इस पद का अर्थ बौद्धमतानुसार शुद्ध मोक्ष अभिमत होता, तो पाणिनि उक्त सूत्र [८।२।५०] में 'अवाते' पद के स्थान पर असन्दिग्ध पद 'मोक्षे' पढ़ देता। वस्तुतः पाणिनि का काल बुद्धप्रादुर्भावकाल से पर्याप्त पूर्व है, जबकि 'निर्वाण' पद का प्रयोग 'शुद्ध मोक्ष' अर्थ में होना प्रारम्भ नहीं हुआ था। फलतः पाणिनि रचना में इस पद के प्रयोग का आधार बौद्ध साहित्य या सम्प्रदाय को स्वीकार नहीं कियाजासकता। लोकव्यवहार में पाणिनि के समय इस पद का जैसा प्रयोग होता था, उसीका निर्देश पाणिनि ने अपनी रचना में किया है।

यह भी ध्यान देने योग्य है–गीता में अनेकत्र 'निर्वाण' पद का प्रयोग 'ब्रह्म' पद के सान्निध्य में कियागया है। इससे ज्ञात होता है–'निर्वाण' पद का बौद्ध-अभिमत अर्थ गीताकार को अभिमत नहीं था। अन्यथा मोक्ष के पर्याय पद 'निर्वाण' का प्रयोग कियेजाने पर 'ब्रह्म' पद का सान्निध्य अनर्थक था। अन्य एक स्थान पर गीता [६।१५] में पाठ है–'शान्तिं निर्वाणपरमाम्' यहाँ 'शान्ति' विशेष्य पद है, और 'निर्वाणपरमाम्' विशेषण पद। इसका अर्थ होता है–अत्यन्त बाधारहित, अशेष दोषों से शून्य शान्ति को प्राप्त करना। इससे स्पष्ट होता है, यहाँ 'निर्वाण' पद का प्रयोग पाणिनिनिर्दिष्ट अर्थ के अनुरूप है, जो पाणिनिकाल तक पहले से ही प्रयोगों में आ रहा था। फलतः पाणिनि के इस प्रद-प्रयोग की बौद्धानुरूपता मूलतः निराकृत होजाती है।

पाणिनि का 'मस्करि' पद प्रयोग—पाणिनि का एक सूत्र है–'मस्कर-मस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' [६।१।१५४] इस सूत्र के द्वारा 'मस्कर' और 'मस्करिन्' ये दो पद यथाक्रम 'वेणु' [बांस] और 'परिव्राजक' [संन्यासी] अर्थ में निष्पन्न अथवा प्रयुक्त बतायेगये हैं।

इस विषय में आधुनिक कतिपय विद्वानों का कथन है 'मस्करी' पद, बौद्ध साहित्य में पर्याप्त चर्चित 'मक्खलि गोशाल' नामक बौद्ध भिक्षु को लक्ष्य कर पाणिनि ने उक्त सूत्र में निर्दिष्ट किया है। 'मक्खलि' प्राकृत पद का संस्कृत रूपान्तर करके 'मस्करिन्' रूपमें पाणिनि ने उल्लेख किया। इससे भी और अधिक वे विद्वान् कहते हैं–महाभारत [शा०, १७७] में जो यह 'मङ्कि' नाम का कोई प्राचीन मुनि वर्णित है, वह भी 'मक्खलि' भिक्षु का ही वर्णन है। ऐसा विचार रखने वाले विद्वानों के कथन का सार निम्नलिखित है—

(क) 'मस्करी' पद के विषय में जो कुछ पाणिनि ने कहा है, वह सब बौद्ध

साहित्य के आधार पर है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा है–"न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किन्तर्हि ? मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याह; अतो मस्करी परिव्राजकः।" यह सब मक्खलि गोसाल द्वारा प्रचारित कर्मापवादसिद्धान्त का ही उल्लेख कियागया है।

(ख) 'अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः' [४।४।६०] इस पाणिनि सूत्र में प्रतिपादित आस्तिक, नास्तिक, दैष्टिक पदों का विवरण भी बौद्ध साहित्य के आधार पर ही प्रस्तुत कियागया है।

(ग) महाभारत [शान्ति० ११७] में भी 'मङ्कि' नाम से 'मक्खलि गोसाल' का ही वर्णन है, यह निश्चित है।

(घ) 'मक्खलि' या 'मंखलि' यह उस भिक्षु का सांस्कारिक नाम है। 'गोसाल' यह गऊ शाला में उत्पन्न होने से व्यावहारिक नाम प्रचलित होगया। पाणिनि ने 'गोशाल' पद की सिद्धि, भिक्षु का स्मरण करके ही सूत्र [४।३।३५] द्वारा प्रस्तुत की है, यह समझना चाहिये।

पाणिनि काल का निर्धारण करने के लिये आधुनिक विद्वानों ने जो मक्खलि या मंखलि का आधार पकड़ा है; उसका यथाक्रम विवेचन प्रस्तुत है—

(क) सबसे प्रथम विचारणीय है–पाणिनि ने संस्कृत भाषा का व्याकरण लिखा ? अथवा पालि या प्राकृत का ? क्या यह सम्भव है ? कि 'मक्खलि' इस प्राकृत या पालि भाषा के पद को 'मस्करिन्' रूप में संस्कृतान्तरित करके पाणिनि उसकी सिद्धि के लिये विशेष सूत्र बनाता ? इसका यह तात्पर्य हुआ, कि यह पद प्राकृत या पालि भाषा से संस्कृत में आया। पर वस्तुतः यह यथार्थ का शीर्षासन करना है। पाणिनि ने 'मस्करी' पद को साधारण परिव्राजक अर्थ में निष्पादित किया है। प्रत्येक परिव्राजक या संन्यासी 'मस्करी' कहाजाता है, 'मक्खलि' नामक विशेष व्यक्ति का यह निर्देश कैसे मानाजासकता है ? यदि व्यक्ति-विशेष को लक्ष्य कर इस पद का निष्पन्न कियाजाना पाणिनि को अभिमत होता; तो वह सूत्र में 'वेणुपरिव्राजकयोः' के स्थान पर 'वेणुगोशालयोः, पद रखता। 'परिव्राजक' पद-अभिधेय अकेला 'मक्खलि' है; पाणिनि का ऐसा अभिप्राय बताना उसके साथ निर्लज्ज उपहास है।

वस्तुस्थिति यह है, कि साधारण परिव्राजक अर्थ में निष्पन्न 'मस्करी' पद, प्राकृत या पालि भाषा का प्रसार-प्रचार होने पर उसका अपभ्रंश रूप 'मक्खलि' होगया। बौद्ध सम्प्रदाय का मूल साहित्य क्योंकि प्राकृत या पालि आदि भाषा में है, उस समय की लोक व्यवहार भाषा यही थी, उसके अनुसार 'मस्करी' पद 'मक्खलि' बनगया। बौद्ध साहित्य में इस पद से जिसका उल्लेख हुआ है, वह यद्यपि विशेष व्यक्ति था; पर क्या उस समाज या साहित्य में इस पद

का प्रयोग उसी व्यक्ति के लिये सीमित है ? यदि ऐसा है; तो पाणिनि ने अपना सूत्र लिखते समय कदापि उसको लक्ष्य नहीं किया।

पाणिनि व्याकरण इतना दरिद्र नहीं है, कि व्यवह्रियमाण प्रसिद्ध पद को प्रक्रियानुसार सिद्ध करने में अक्षम हो। यदि पाणिनि काल में 'मक्खलि' पद प्रयुज्यमान रहा होता, तो वह उसी रूप में उस पद को सिद्ध करने का निर्देश कर देता। व्याकरण सदा सर्वसाधारण द्वारा प्रयोग में आती हुई भाषा का बनाया जाता है। जो भाषा जनता में जिस समय बोली नहीं जा रही हो, उसका व्याकरण बनाया जाना न अपेक्षित है, न सम्भव। आज उत्तर भारत में प्रयुक्त हिन्दी भाषा लगभग एक सहस्र वर्ष से जनता द्वारा प्रयोग में आ रही है; उसमें विविध साहित्य लिखागया है; परन्तु अभी तक भी उसका सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण अस्तित्व में नहीं आया। एक सहस्र वर्ष के अनन्तर वर्त्तमान काल में कतिपय[1] विद्वानों ने उसके लिये प्रयास किया है; पर अभी उसे आंशिक ही समझना चाहिये। किसी भी भाषा का व्याकरण उसके स्थायित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये निर्माण कियाजाता है। संस्कृत भाषा के ऐसे ही एक क्रान्तिकाल की सम्भावना पर पाणिनि ने इसके सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण की रचना की, यह आगे पंक्तियों में स्पष्ट होजायगा। फलतः पाणिनि ने अपने काल में जनसाधारण द्वारा व्यवहृत भाषा का व्याकरण लिखा। यह निश्चित है, उस समय जन-साधारण की भाषा पालि या प्राकृत नहीं थी, जिसमें 'मंखलि' या 'मक्खलि' आदि पद प्रयुक्त हैं। पाणिनि के पर्याप्त काल अनन्तर ये भाषा अस्तित्व में आईं। अतः 'मक्खलि' का संस्कृत रूपान्तर 'मस्करी' नहीं; प्रत्युत 'मस्करी' पद का कालान्तर में हुआ अपभ्रंश रूप 'मक्खलि' या 'मंखलि' है।

इस विषय में यह भी ध्यान देना आवश्यक है—वेणु [बांस] पर्याय 'मस्कर' पद से मतुबर्थ में 'इनि' प्रत्यय करने पर 'मस्करिन्' पद निष्पन्न मानाजाता है, जिसका साधारण अर्थ परिव्राजक [-संन्यासी] है। यदि पाणिनि की जानकारी में 'मक्खलि' पद का संस्कृत-रूपान्तर 'मस्करिन्' पद रहा होता; तो पाणिनि का यह विधान [मस्कर' से 'इनि' प्रत्यय करके 'मस्करिन्' पद बनाना] सर्वथा निरर्थक होता। फिर इसके अनुसार 'मस्कर' पद का कुछ भी सम्बन्ध 'मस्करिन्' पद के साथ नहीं मानाजासकता था। परन्तु समस्त आभिधानिक आचार्यों ने वेणु-वाचक 'मस्कर' पद से मतुबर्थ में 'इनि' प्रत्यय द्वारा 'मस्करिन्' पद को निष्पन्न हुआ स्वीकार किया है।

इस पद का विवरण प्रस्तुत करने के अवसर पर पतञ्जलि ने महाभाष्य में जो कहा है—"मा कृत कर्माणि" आदि; उसका प्रयोजन तो सूत्र में पठित

---

१. द्रष्टव्य, कनखल निवासी पं० किशोरीदास वाजपेयी द्वारा रचित हिन्दी भाषा का व्याकरण।

'मस्करिन्' पद के आनर्थक्य का प्रतिषेध करना है। 'मा कृत कर्माणि' इन पदों द्वारा कर्मानुष्ठान के निषेध का यह तात्पर्य नहीं है, कि हाथ-पाँव की हरकत को छोक्कर निश्चेष्ट बनकर पूर्ण आलसी हुआ पड़ा रहे। प्रत्युत उसका यही अभिप्राय है, कि परिव्राजक को अर्थसञ्चय आदि के लिये कोई कार्य नहीं करना चाहिये। वह शान्त होकर अध्यात्म चिन्तन में अथवा जिज्ञासु जनों को सदुपदेश आदि में ही अपना कल्याण समझे। यदि गृहस्थ के समान परिव्राजक भी अर्थसञ्चय आदि कार्यों में प्रवृत्त होजाता है, तो गृहस्थ और परिव्राजक में भेद ही क्या रहा ? वस्तुतः गृहस्थ और संन्यास [परिव्रज्या] आश्रम अनुष्ठान एवं व्यवहार की दृष्टि से परस्पर नितान्त भेद के क्षेत्र व आश्रय हैं। यदि संन्यासी होकर भी अर्थसञ्चय ही करना है, तो संन्यास व्रत का ग्रहण करना ही निरर्थक है। इसलिये भाष्यकार के पदों का यह अभिप्राय कदापि नहीं है, कि हाथ-पांव हिलाना छोड़कर आलसी बना हुआ निश्चेष्ट पड़ा रहे, यह संन्यास धर्म है।

संन्यास व्रत के ग्रहण का स्वरूप ही यह है, कि वह व्रती व्यक्ति–राग, द्वेष मोह आदि, तथा उनको पग-पग पर उभारने वाले अर्थ सञ्चय आदि कार्यों का पूर्ण परित्याग [सम्-न्यास] कर देता है। उसीके लिये भाष्यकार ने 'मा कृत कर्माणि' लिखा है। ऐसे अर्थ सञ्चय-परित्याग की भावना अति प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति का अङ्ग मानीजाती है। ऐसी भावना का उपज्ञ मक्खलि गोसाल को बताना अज्ञता का द्योतक ही कहाजासकता है।

(ख, ग) महाभारत में वर्णित मङ्कि नामक मुनि का आख्यान भी अर्थ सञ्चय की भावना को दोषपूर्ण, क्लेश का मूल तथा सारहीन बताता है। उस प्रसंग के वर्णन का तात्पर्य है–तृष्णा सदा कष्ट प्रदान करने वाली रहती है। तृष्णा का परित्याग परम सुख की प्राप्ति का हेतु है।[1] तृष्णा से परिभूत हुए मङ्कि ऋषि ने एक वार दो बछड़े [गाय के बच्चे] पाले। एक दिन रस्सी से उन दोनों बछड़ों की जोट बनाकर जंगल में चुगने के लिये छोड़ दिया। वे दोनों घास चरते हुए ऐसी जगह पहुँचे, जहाँ बड़े आराम के साथ हरी घास में अपनी लम्बी गर्दन बिछाये हुए एक ऊँट बैठा था। दोनों बछड़े घास चरते हुए बराबर चल रहे थे; एक बछड़ा ऊँट की गर्दन के एक ओर और दूसरा दूसरी ओर पहुँच गया। ऊँट आँख मींचे चुप पड़ा था, पर बछड़ों की खुरपट व चरचराहट से एकदम हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ। अचानक गर्दन में पड़े उस भार से घबरा कर वेग के साथ भाग पड़ा। उसकी गर्दन में दोनों ओर लटके बछडे अपना दम

१. यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

तोड़ बैठे । उनकी इस असह्य दुर्दशा को देखकर मङ्कि के मुख से यह उद्गार निकल पड़ा—

मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियो वत्सतरौ मम ।[1]
दैवं हि शुद्धमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम् ।।

दैव क्या है ? भाग्य ही दैव है । यह दैव अथवा भाग्य पहले किये कर्मों के अनुरूप सञ्चित होता है । इसप्रकार कोई भी दैववादी या भाग्यवादी अपने आगामी भाग्य के सम्पादन के लिये शुभ कर्मों के अनुष्ठान की ओर से उपेक्षा कैसे करसकता है ? इसलिये अपने आश्रम के अनुकूल कर्मों का अनुष्ठान करने वाले संन्यासी के लिये–जो आश्रमोचित कर्म नहीं हैं, उन्हींके–अनुष्ठान का निषेध 'मा कृत कर्माणि' इत्यादि पदों से कियागया है । संन्यासी के लिये तृष्णा लोभ आदि से अभिभूत होकर अर्थसञ्चय आदि कर्मों का करना अत्यन्त अनुचित है । महाभारत वर्णित मङ्कि मुनि के उपाख्यान का यही अभिप्राय है । इसको चाहे नियतिवाद कहाजाय, अथवा कर्मापवाद-सिद्धान्त; इसमें कोई भेद नहीं है । ऐसे ही दैववादी व्यक्तियों को पाणिनि सूत्र [४।४।६०] में 'दैष्टिक' पद से स्मरण कियागया है ।

भारतीय वैदिक परम्परा का साहित्य त्याग की भावनाओं से ओत-प्रोत है । यज्ञादि अनुष्ठान में भी त्याग की भावना निहित रहती है । भले ही वह त्याग भौतिक रूप हो । संन्यास आश्रम में भौतिक त्याग के साथ अध्यात्म में आसन जमाकर बैठे हुए अविद्याजनित राग, द्वेष, मोह आदि के पूर्णतः परित्याग को प्रधान धर्म मानागया है । भारतीय वैदिक साहित्य परम्परा में इन भावनाओं का सुविस्तृत वर्णन है । इसे बौद्ध वाङ्मय का उच्छिष्ट नहीं कहाजासकता । उसी परम्परा के आधार पर पाणिनीय व्याकरण में श्रमण, मस्करी आदि पदों का प्रयोग हुआ है ।

(घ) महाभारत में 'मङ्कि' नाम से 'मक्खलि' का वर्णन बताना दुस्साहस मात्र है । मुनि का 'मङ्कि' सांस्कारिक नाम प्रतीत होता है । इसके साथ 'मक्खलि' पद का सामञ्जस्य किसी प्रकार उपपादित नहीं कियाजासकता, जो 'मस्करी' पद का अपभ्रंश रूप है । इसका प्रयोग बौद्ध भिक्षु मात्र के लिये सम्भव है । प्रस्तुत व्यक्ति का नैमित्तिक [गोशाला में उत्पन्न होने के कारण] नाम 'गोसाल' था, जो व्यवहार में बोला जाता था । उस व्यक्ति का सांस्कारिक नाम क्या था ? यह आज किसी को ज्ञात नहीं । महाभारतकार को यदि 'मक्खलि गोसाल' नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति का वर्णन अपेक्षित होता, तो वह अपनी

---

१. मेरे अति प्यारे बछड़े मणि के समान ऊंट की गर्दन में लटक रहे हैं । इसको शुद्ध दैव [भाग्य] ही समझना चाहिये, पौरुष केवल हठमात्र है ।

रचना में उसी नाम का प्रयोग करता। रचना क्योंकि संस्कृत भाषा में है, तो 'मक्खलि' पद के संस्कृत रूप 'मस्करी' का प्रयोग करता। 'मक्खलि' पद को 'मङ्कि' इस रूप से विकृत करने में ग्रन्थकार का कोई प्रयोजन या अन्य कारण दिखाई नहीं देता।

मङ्कि और मक्खलि के अभिन्न व्यक्ति होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यत्किञ्चित् विचारसाम्य को दोनों की एकता का साधक नहीं कहाजासकता। विचारसाम्य अनेक आचार्यों का सम्भव है, जिनकी भिन्नता, काल-देश भेद आदि से सर्वथा निश्चित है। यदि ऐसी विचार समानता पर दो विभिन्न व्यक्तियों को एक मान लियाजाता है, तो किसी भी एक सम्प्रदाय के पूर्वापर-कालवर्ती आचार्यों की अनेकता खटाई में पड़ जायगी।

पाणिनि का चीवर-पद प्रयोग—कहाजाता है—चीर, चीवर आदि पदों का विशिष्ट प्रयोग बौद्ध वाङ्मय में हुआ है। पाणिनि द्वारा इन पदों का प्रयोग में उसीका प्रभाव समझना चाहिये।

यह कथन प्रामाणिक नहीं है। मुनिवेष के अनुरूप वस्त्रों को चीर, चीवर आदि पदों से व्यवहृत कियाजाता है। 'संचीवरयते[1] भिक्षुः' इत्यादि उदाहरण में 'भिक्षु' पद का प्रयोग साधारण संन्यासी मात्र का वाचक है। ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, कि 'भिक्षु' पद का प्रयोग केवल बौद्ध-संन्यासियों के लिये होता रहा हो। भगवान् बुद्ध के[2] प्रादुर्भाव काल से बहुत प्राचीन काल में सांख्य सम्प्रदाय के संन्यासियों के लिये 'भिक्षु' पद का प्रयोग होता रहा है। आदि परमर्षि कपिल के प्रशिष्य पञ्चशिख को महाभारत में अनेकत्र 'भिक्षु' पद से स्मरण कियागया है। जनक-सुलभा संवाद के अवसर पर जनक ने बड़े गौरव के साथ कहा है—

'भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः'[3]

महाभारत में अन्यत्र[4] भी कपिल मत के अनुयायी संन्यासियों के लिये 'भिक्षु' पद का प्रयोग देखाजाता है।

वाल्मीकि रामायण में राम आदि के वन-गमन के अवसर पर उनके धारण करने के लिये मुनिवेष के अनुरूप जो वस्त्र लाये गये, उन्हें 'चीर' पद से व्यवहृत

---

१. द्रष्टव्य, काशिकावृत्ति, ३।१।२०, पर वार्त्तिक—'चीवरादर्जने परिधाने वा'।
२. यह काल, विक्रमपूर्व अठारह सौ वर्ष के लगभग है। आधुनिक लेखकों द्वारा सम्भावित तथाकथित काल [खीस्ट पूर्व पांचवीं शती] नहीं।
३. महाभारत, शान्ति० ३२४।२५॥ गोरखपुर संस्करण।
४. महाभारत, १२।३०८।२४॥ १२।३०६।५८॥ भण्डारकर संस्करण; तथा १२।३१६।३॥ गोरखपुर संस्करण।

कियागया है। 'चीर और 'चीवर' दोनों सर्वसम्मत पर्यायवाची पद हैं। ऐसे वस्त्रों को 'मुनियों के धारण करने योग्य वस्त्र' कहाजाता था। रामायण के उस प्रसंग में वनवासी मुनियों के ऐसे वेष का उल्लेख हुआ है। भिक्षु, संन्यासी या मुनि यथावसर ऐसे वस्त्रों का अर्जन व परिधान करता है, यही पूर्वोक्त उदाहरण [संचीवरयते भिक्षुः] का अभिप्राय है। ऐसा भिक्षु चाहे वैदिक हो, या बौद्ध हो; वस्त्रों के अर्जन और परिधान में कोई भेद नहीं होता।

इस प्रकार उक्त विवेचन के अनुसार पाणिनीय व्याकरण में 'श्रमण' आदि पदों का उल्लेख बौद्ध वाङ्मय के आधार पर मानाजासकता है, यह कथन नितान्त असंगत है। इसी आधार पर जो यह कहाजाता है, कि पाणिनि का काल भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भावकाल के अनन्तर मानाजाना चाहिये; वह भी अप्रामाणिक होजाता है। पाणिनि का प्रादुर्भावकाल क्या है? इस पर अब विचार करना अपेक्षित है।

पाणिनि-प्रादुर्भाव का सम्भावित काल—

(१) **आधुनिक विचार**—पाश्चात्य और कतिपय भारतीय विद्वानों का कहना है—पाणिनि का काल खीस्टाब्द प्रारम्भ होने से पहले चौथी-पांचवीं शती के अन्तराल में मानाजासकता है। उसको प्रामाणित करने की कामना से अष्टाध्यायी के एक सूत्र[1] और अन्य सूत्रों में पठित मस्करी व श्रमण आदि पदों को प्रस्तुत कियाजाता है। मस्करी आदि पदों के विषय में गत पँक्तियों द्वारा विवेचन कर दियागया है; सूत्र [४।३।३४] पठित 'श्रविष्ठा' आदि नक्षत्रों के विषय में विवेचन प्रस्तुत है—

विद्वानों का विचार है—उक्त सूत्र में यद्यपि नक्षत्रों के पाठ में वास्तविक क्रम का आश्रय नहीं लिया गया; परन्तु सूत्र में श्रविष्ठा नक्षत्र का प्रथम पाठ किसी विशेष प्रयोजन से किया गया है। वह प्रयोजन है—पाणिनिकाल में श्रविष्ठा नक्षत्र में क्रान्ति-संपात होना। उसीको लक्ष्य करके पाणिनि ने उक्त सूत्र में श्रविष्ठा का प्रथम पाठ किया। खीस्ट संवत् आरम्भ होने से तेरह सौ बहत्तर [१३७२] वर्ष पहले श्रविष्ठा, सूर्य और चन्द्रमा उस वर्ष में एक ही स्थान पर थे। इसका अभिप्राय है—उस वर्ष श्रविष्ठा नक्षत्र में संक्रान्ति का प्रारम्भ हुआ। एक संक्रान्ति काल ९६३ [नौ सौ त्रेसठ] वर्ष तक रहता है। इसप्रकार श्रविष्ठा नक्षत्र का संक्रान्ति काल खीस्टाब्द से ४०९ [१३७२-९६३-४०९] वर्ष पहले पूरा होजाता है। खीस्टाब्द प्रारम्भ होने से लगभग

---

१. सूत्र है—'श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वातितिष्यपुनर्वसुहस्तविशाखाषाढा-बहुलाल्लुक्' [४।३।३४]

साढ़े पांच सौ वर्ष पहले भगवान् बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ। बुद्ध से अनन्तरवर्त्ती होने के कारण तथा श्रविष्ठा-संक्रान्ति काल के चालू रहते हुए—इस सीमित काल में ही पाणिनि का प्रादुर्भावकाल संभावित कियाजासकता है। अर्थात् ईसापूर्व ४०६ से ५५० वर्ष के मध्य में पाणिनि का होना संभव है। फलतः ईसापूर्व पाँचवीं शती के पूर्वार्द्ध में पाणिनि विद्यमान रहा।

उक्त कथन कहाँतक ठीक है, विचारना चाहिये। खीस्टाब्द प्रारम्भ होने से १३७२ [तेरह सौ बहत्तर] वर्ष पहले जो संक्रान्ति कहीगई है; वह भले ही अन्य किसी प्रकार की संक्रान्ति हो; पर वह नक्षत्रक्रान्तिवृत्त के अनुसार वसन्त-संपात संक्रान्ति निश्चित ही नहीं थी। इस समय बसन्तसंपात संक्रान्ति पूर्वाभाद्र नक्षत्र में चालू है, इस स्थिति को परिशोधित[1] सारिणियों के अनुसार अच्छी तरह जानाजासकता है। एक नक्षत्र में वसन्तसंपात काल प्रायः नौ सौ बावन [९५२] वर्ष रहता है। पूर्वाभाद्रनक्षत्र से श्रविष्ठा नक्षत्र का स्थान पच्चीसवें क्रम पर है। इसके अनुसार श्रविष्ठा में वसन्तसंपात अब से लगभग चौबीस सहस्र [२३८००] वर्ष पूर्व आता है। खीटाब्द से तेरह सौ बहत्तर [१३७२] वर्ष पूर्व श्रविष्ठा में वसन्तसंपात किसीप्रकार संभव नहीं। इसलिये पाणिनि सूत्र [४।३।३४] में श्रविष्ठा पद के प्रथम पाठ का कोई विशेष प्रयोजन नहीं कहा-जासकता। किसीं भी पद को प्रथम पढ़ाजासकता है। नक्षत्रों के वास्तविक क्रम की उपेक्षा करके उनमें केवल व्याकरण-प्रक्रिया दिखाने के लिये उनका पाठ है। उन पदों के पूर्वापर पाठ का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।

यदि सुजनतोष न्याय से कथञ्चित् यह स्वीकार कर लिया जाय; कि सूत्र [४।३।३४] में श्रविष्ठा नक्षत्र का प्रथम पाठ इसी प्रयोजन से हुआ, कि उस काल में सूत्रकार पाणिनि बिद्यमान था, तो इसका यह अभिप्राय होगा, कि पाणिनि का प्रादुर्भाव वर्त्तमान काल से लगभग चौबीस सहस्र वर्ष पूर्व माना-जाना चाहिये; जो सर्वथा असंभव है। फलतः पाणिनि का प्रादुर्भाव खीस्टाब्द पूर्व पाचवीं शती में हुआ, इस कथा को समाप्त कर देना ही भला होगा।

(२) **ग्रन्थकार का विचार**—पाणिनि की रचना में आन्तरिक साक्षियों के आधार पर उसका प्रादुर्भावकाल कब संभव है? यह विचारणीय है।

इसे प्रत्येक व्यक्ति जानता है—पाणिनि का व्याकरण संस्कृत भाषा का है, अन्य किसी भाषा का नहीं। यह भी किसी से छिपा नहीं, कि व्याकरण उसी

---

१. द्रष्टव्य, (क)—New hand book of The Heavens. By Bernhand-Bennett Rice, MENTOR BOOK, U.S.A, Star charts Pages 152-55.
(ख)—Astronomy. By Robert H, Baker, Chart On Pages-29,30,31,32, Princetion, New jersey, U.S.A

भाषा का बनायाजाता है, जो भाषा आ-बालवृद्ध सर्वसाधारण जनता में सदा व्यवहृत होती है। ऐसी भाषा के व्यवहारकाल में ही उस भाषा के व्याकरण की रचना संभव होती है। किसी भी भाषा का व्याकरण उस समय नहीं बनाया जासकता; जब उस भाषा का व्यवहार सर्वसाधारण जनता में विलुप्त हो-गया हो।

यह निश्चित है—ईसा-पूर्व पाँचवी शताब्दी में उत्तर भारत की साधारण जनता की व्यावहारिक भाषा संस्कृत नहीं थी, इसे प्रत्येक ऐतिहासिक जानता है। तब पाणिनि उसका व्याकरण कैसे लिखता ? उन शताब्दियों में पारस्परिक व्यवहार के लिये प्रादेशिक विभिन्न प्राकृत भाषाओं का प्रचलन था। इसलिये पाणिनि के द्वारा संस्कृत भाषा के व्याकरण की रचना उस शताब्दी में संभव नहीं। पाणिनि व्याकरण के आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। पाणिनि व्याकरण में ऐसे अनेक पदों को सिद्ध किया गया है, जिनका प्रयोग सर्वथा अनधीत खेतिहर, धोबी, रंगरेज, रसोईया, साग सब्जी बेचने वाले कुंजड़े आदि के द्वारा कियाजाता था। ऐसे प्रयोगों के कतिपय उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

(१) सब्जी बेचने वाले बिक्री की सुविधा के लिये मूली, पालक, धनियाँ, पोदीना, मेथी, सरसों आदि को समान परिमाण की गुच्छियाँ बनाकर रख लेते हैं। उनका मूल्य निर्धारित कर लेते हैं। मूल्य सहित उस सब्जी का नाम लेकर ऊँची आवाज में चिल्लाते रहते हैं—'शाकपणः, मूलकपणः, धान्यकपणः, इत्यादि। यह व्यवहार सब्जी बेचने वालों का आज भी देखा जाता है, जो आज की भाषा में होता है। पाणिनि काल में वह घोषणा संस्कृत पदों द्वारा कीजाती थी। सब्जी विक्रेताओं के इसप्रकार के पदों की सिद्धि के लिये पाणिनि ने नियम बनाया 'नित्यं पणः परिमाणे' [३।३।६३], इस सूत्र पर काशिकाकार ने लिखा है—सन्तुलित या समुचित व्यवहार के लिये मूली पालक आदि का जो परिमित मुट्ठा (गुच्छा या गुच्छी) बांध लिया जाता है, सूत्र में यह उसीका कथन है[1]। साग, सब्जी आदि बेचवे वाले प्रायः अपठित होते हैं। उनके द्वारा दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त पदों की सिद्धि के लिये पाणिनि का प्रयास इस तथ्य को अत्यन्त स्पष्ट कर देता है, कि वे लोग वाचिक व्यवहार में संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे। उस समय उत्तर भारत की सर्वसाधारण जनभाषा संस्कृत थी।

(२) इसीप्रकार पाकशाला में कार्य करने वाले पाचकों द्वारा अपने कार्य व व्यवहार के समय प्रयोग किये जाने वाले पदों की सिद्धि का प्रकार पाणिनि

१—'संव्यवहारार्थं मूलकादीनां यः परिमितो मुष्टिर्बध्यते, तस्येदमभिधानम्'। काशिका, [३।३।६६]।

ने अनेकों सूत्रों में बताया है। इसके लिये सूत्र द्रष्टव्य हैं—४।२।१६-२०॥४।४।३-४॥ ४।४।२२-२६॥

(३) ऐसे ही अपना कार्य करते समय अथवा अन्य व्यक्तियों से व्यवहार के समय वस्त्रों पर रंगाई करने वाले व्यक्तियों द्वारा प्रयोग किये जाते रहे पदों की सिद्धि के लिये पाणिनि ने अष्ठाध्यायी [४।२।१-२] में नियम बताये हैं।

(४) अन्यत्र पाणिनि ने कहा—जाति के एक होने से जातिवाचक पदों का प्रयोग एकवचन में होना चाहिये। परन्तु लोकव्यवहार में दोनों प्रकार [एकवचन, बहुवचन] का प्रयोग देखा-जाता है। उसीके अनुसार पाणिनि ने नियम का उल्लेख किया—'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' [१।२।५८] उदाहरण है—'यवः सम्पन्नः। यवाः सम्पन्नाः। सम्पन्नो ब्रीहिः। सम्पन्ना ब्रीहयः इत्यादि। खेत में खड़ी फसल के पकजाने पर ऐसे प्रयोग होते हैं। अब भी लोक भाषा में खेतिहरों का ऐसा ही व्यवहार होता है—"जौ पका खड़ा है, काट डालो। अथवा जौ पकगये हैं, काटलेने चाहिये" आज वर्त्तमान लोकभाषा में यह व्यवहार होता है। पाणिनि काल में उस समय की लोकभाषा-संस्कृत द्वारा यह व्यवहार होता था—'सम्पन्नो यवः, लूयतां केदारः:' अथवा='सम्पन्ना यवाः, लूयतां सस्यम्' इत्यादि। इस प्रकार कृषकों द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले पदों की सिद्धि के लिये पाणिनि ने नियम बनाये।

(५) पाणिनि का एक सूत्र है—"उदक् च विपाशः' [४।२।७४], व्यास नदी के उत्तर-किनारे की ओर बने कुओं के लिये-बनाने वाले व्यक्ति के नाम पद से 'अञ्' प्रत्यय करके प्रयोग सिद्ध किया है। जैसे-'दत्तेन निर्वृत्तः कूपः, दात्तः कूपः' अर्थ है-दत्त के द्वारा बनाया गया कूआ 'दात्तः' कहा जायेगा। परन्तु व्यास के दक्षिण किनारे की ओर कुएं का कथन करने पर निर्माता के नामपद से 'अण्' प्रत्यय का विधान किया है। 'अञ्' और 'अण्' प्रत्यय में दोनों जगह रूप 'दात्तः' समान बनेगा, परन्तु प्रत्यय भिन्न होने से स्वर में भेद हो-जायगा। उत्तर किनारे की ओर 'दात्तः' पद का उच्चारण अन्तोदात्त होगा। तात्पर्य है—अन्तिम अक्षर 'त्तः' के उच्चारण में अधिक बल दिया जायेगा। इसके विपरीत दक्षिण किनारे की ओर 'दात्तः' पद का उच्चारण आद्युदात्त होता रहा, अर्थात् आदि पद 'दा' के उच्चारण में अधिक बल दिया जाता रहा।

यह उच्चारण भेद का विवरण पाणिनि द्वारा दियाजाना तभी सम्भव हो सकता है, जब उसने स्वयं इसे वहाँ के निवासियों से सुना हो। उच्चारण के इस सूक्ष्म विवरण पर काशिकाकार ने आश्चर्य प्रकट किया है। वह लिखता है—'महती सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य'। इसप्रकार के उच्चारण का पाणिनिद्वारा सुनाजाना तभी संभव है, जब आचार्य पाणिनि का काल ऐसे समय मानाजाय,

जिस समय उत्तर भारत की साधारण जनता में वाचिक व्यवहार की सिद्धि के लिये संस्कृत भाषा का प्रचलन था।

यह किसी भी ऐतिहासिक प्रमाण अथवा अन्य साधन से सिद्ध नहीं है, कि ईसा पूर्व चौथी-पांचवी शताब्दी के अन्तराल काल में उत्तर भारत निवासियों की भाषा संस्कृत थी। उससे पूर्व यह अवसर कब रहा होगा; अनुसन्धान सापेक्ष है।

हमारा विचार है—भारत युद्ध से सौ-सवा सौ वर्ष के अनन्तर, युद्ध में समाज के प्रभावशाली नेतृत्वविनाश के परिणाम स्वरूप शनैः शनैः ऐसा समय आया, जब नियमित अध्ययनाध्यापन आदि में शैथिल्य से प्रबुद्ध समाज ह्रास की ओर जारहा था, तथा व्यवहार की भाषा में विकृति का आभास होने लगा था। ऐसे समय पाणिनि ने इसको भाँपा; तथा ऐसे व्याकरण की रचना कर दी, जिससे वह भाषा पूर्ण सुरक्षित हो गई। उसी व्याकरण के आधार पर आज भी उस भाषा को उसी काल के समान हम समझबोल सकते हैं। भारत युद्ध का काल द्वापर युग का अन्तिम समय है। कलियुग प्रारम्भ होने से लगभग चालीस वर्ष पूर्व।

प्राचीन आर्यों का राशिज्ञान—शीर्षक के नीचे कुछ नवीन विचार अभिव्यक्त करने की अभिलाषा थी; पर अनिवार्य बाधाओं के सन्मुख आजाने से इस समय कुछ भी लिखाजाना सम्भव नहीं। प्रभुकृपा बनी रही, तो यथावसर पुनः लिखाजासकेगा।

विषय-निर्देशिका

[वर्ण-क्रमानुसार]

श

ह

◆◆

आचार्य उदयवीर शास्त्री का जन्म ६ जनवरी १८९४ को बुलन्दशहर जिले के बनैल ग्राम में, मृत्यु १६ जनवरी १९९१ को अजमेर में ।

प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल सिकन्द्राबाद । १९१० में गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में प्रवेश यहाँ से विद्याभास्कर की उपाधि प्राप्त की । १९१५ में कलकत्ता से वैशेषिक न्यायतीर्थ १९१६ में सांख्य-योग तीर्थ की परिक्षाएँ उत्तीर्ण कीं । गुरुकुल महाविद्यालय में इनके वैदुष्य तथा प्रकाण्ड पाण्डित्य से प्रभावित होकर विद्यावाचस्पति की उपाधि प्रदान की । जगन्नाथ पुरी के भूतपूर्व शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्णतीर्थ ने आपके प्रौढ़ पाण्डित्य से मुग्ध होकर आपको शास्त्र-शेवधि तथा वेदरत्न की उपाधियों से विभूषित किया ।

स्वशिक्षा संस्थान गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्यापन प्रारम्भ किया । तत्पश्चात् नेशनल कॉलेज, लाहौर में और कुछ काल दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय में अध्यापक तथा बीकानेर स्थित शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ में आचार्य पद पर कार्य ।

अन्त में 'विरजानन्द वैदिक शोध संस्थान' में दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया ।